॥ श्रीः ॥

चौखम्भा प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

४

भोजदेवकृतम्

सरस्वतीकण्ठाभरणम्

रत्नेश्वरस्य 'रत्नदर्पणेन' जगद्धरस्य 'विवरणेन' जीवानन्दस्य च 'व्याख्यया' सम्वलितम्

तृतीयतः पञ्चमपरिच्छेदान्तं द्वितीयभागात्मकम् भूमिका-हिन्दी भाषान्तर-'स्वरूपानन्द' भाष्यपरिशिष्टादिसहितम्

व्याख्याकार

डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र

आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा सस्थान (मान्य विश्वविद्यालय)

सारनाथ, वाराणसी–२२१००७

चौखम्भा ओरियन्टालिया

प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

वाराणसी दिल्ली

CHAUKHAMBHA PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
NO. 4

SARASWATĪKAṆṬHĀBHARAṆAM

A WORK ON RHETORICS

BY

MAHĀRĀJĀDHIRĀJA BHOJA

WITH

Ratneśvara's 'Ratnadarpaṇam', Jagaddhara's 'Vivaraṇam, & Jīvānanda's 'Vyākhyā'

&

Hindi Introduction. translation, 'Swarūpānanda Bhāṣya Commentary & Appendices

By

Prof. Dr. KAMESHWAR NATH MISHRA
Deptt. of Sanskrit
Central Institute of Higher Tibetan Studies
(Deemed University)
Sarnath, Varanasi-221 007

Part II (Chapters III-V)

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
VARANASI DELHI

ज्योतिष्पीठ, बदरिकाश्रम तथा शारदापीठ, द्वारका के जगद्गुरुशङ्कराचार्य
अनन्तश्रीविभूषित स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती महाराज
के चरण-कमलों में समर्पित
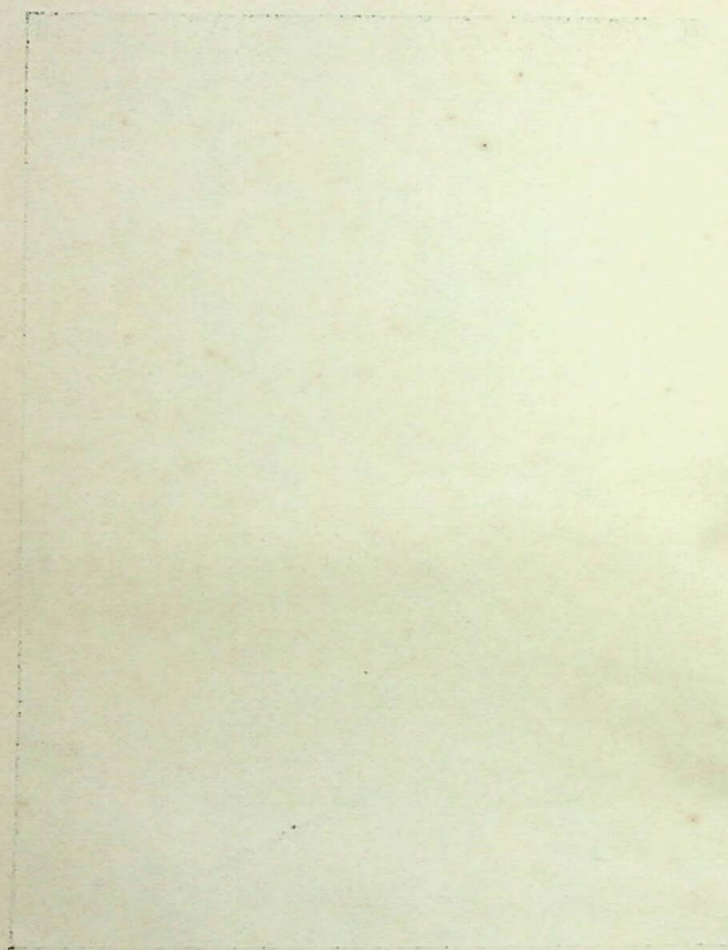
आमुख

प्रसन्नता है कि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का ३–५ परिच्छेदात्मक द्वितीय भाग भी प्रकाश में आ रहा है। प्रथम दो परिच्छेद प्रथम भाग के अन्तर्गत १९७६ ई० में ही प्रकाशित हो चुके थे। यद्यपि शेष अंश भी तब से ही प्रेस में था किन्तु अपरिहार्य कारणों से उसे इस स्थिति में आते–आते इतने वर्ष लग गये। पाण्डुलिपि १९७०–७२ में ही तैयार हो चुकी थी। उस समय साधन, समय और अभ्यास की स्वल्पता के कारण अनुवाद, व्याख्या, भूमिका आदि जैसे सम्भव थे, बने और वैसे ही रह गये। प्रकाशन की गति अतिमन्द होने के कारण अतिरिक्त परिश्रम का उत्साह बना न रह सका और अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र भी बदलता रहा। समय-समय पर ऐसा अनुभव हुआ कि पर्याप्त संशोधन किया जा सकता है, किन्तु दुःख है, वह किया नहीं जा सका। फलतः विषयवस्तु, शैली आदि सब कुछ २० वर्ष पुरानी है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' से सम्बद्ध कुछ नई सूचनायें भी मिली हैं। इस पर आजड की व्याख्या का सम्पादन हो चुका है और उस पर गुजरात के किसी शोध-छात्र को पीएच्. डी. दी जा चुकी है, यह सूचना उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० एम० सी० पाठक से मिली थी। स० क० के हस्तलेख की एक प्रति शारदा लिपि में आष्ट्रिया के वियना नगर में स्थित 'राष्ट्रीय ग्रन्थालय' में विद्यमान है। यह नहीं स्पष्ट हो सका कि कोई टीका भी साथ में है अथवा नहीं। इस ग्रन्थ का अनुवाद तिब्बती-भाषा में तो नहीं हुआ, किन्तु स-स्क्य पण्डित कुङ्गा ग्यलछन जैसे विद्वानों ने अपने ग्रन्थ 'विद्वत्तावतारद्वार' में इसकी चर्चा ग्रन्थारम्भ में की है। सि-तु पण्डित आदि भोट-काव्यशास्त्रियों ने भी इससे उद्धरण दिये हैं और नाम का भी उल्लेख किया है। इस सबका निरूपण कहीं अन्यत्र कभी किया जायेगा।

भोज के व्यक्तित्व, वंश, धर्म, परिषद्, कर्तृत्व आदि, स० क० के विभिन्न संस्करणों, टीकाकारों तथा चित्रकाव्य पर अपेक्षित सूचनायें प्रथम भाग की भूमिका में दे दी गयी हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है। तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम परिच्छेदों के विवेच्य विषयों की स्वतन्त्र-चर्चा यहाँ भूमिका में की जा सकती थी, किन्तु उसे यह सोच कर छोड़ रहा हूँ कि समस्त अपेक्षित शास्त्रीय सामग्री अनुवाद तथा व्याख्या में यथावसर उल्लिखित कर दी गयी है, अतः जिज्ञासुजन उन-उन प्रसङ्गों को तत्तत् सन्दर्भों में ढूँढ कर पढ़ लेंगे। सम्प्रति समय, परिश्रम और कागज नष्ट करने का औचित्य नहीं प्रतीत होता।

एक कार्य अपेक्षित होते हुये भी नहीं कर सका। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में तीन गाथायें (मेरे संस्करण की २।३४५, २।३४६ तथा ५।४०६) विना छाया तथा अर्थ के रह गयी हैं। अब तक के इस ग्रन्थ के प्रकाशित समस्त संस्करणों में पाठान्तर तो हैं, किन्तु कहीं भी छाया उपलब्ध नहीं है। द्वितीय परिच्छेद में रत्नेश्वर की 'रत्नदर्पण' टीका १३० वीं कारिका के बाद नहीं मिलती। ये दोनों गाथायें १३२ वीं कारिका के बाद आयी हैं। अतः उस टीका में भी इन पर प्रकाश नहीं पड़ सका। सामान्यतः आज नाटकों, सट्टकों अथवा महाकाव्यों में प्रयुक्त प्राकृत पाठों का अर्थ साथ-साथ छपी संस्कृत-छायाओं के ही आधार पर लगाया जाता है। पाँचवें परिच्छेद पर पं० जीवानन्द विद्यासागर की व्याख्या है। उन्होंने भी सम्बद्ध गाथा को यथावत् रहने दिया है। मैंने अर्थ तथा व्याख्या लिखते समय प्रो. राघवन्, प्रो. मिराशी, प्रो. पी. एल. वैद्य (सभी स्वर्गीय हो चुके हैं), प्रो. ए. एन. उपाध्ये, डा० भयाणी सदृश विद्वानों से पत्राचार किया था, किन्तु केवल स्व० मिराशी तथा स्व० वैद्य जी से ही उत्तर मिले, समाधान नहीं। स्व० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी से उनके अन्तिम दिनों में सम्पर्क हुआ। उन्होंने इन गाथाओं को अपभ्रंश बतलाया और छाया कर देने का वचन भी दिया था। दुर्दैव से कुछ ही समय बाद वह रुग्ण हो गये और महाप्रस्थान कर दिये। मैं आज भी इन गाथाओं को ज्यों का त्यों छोड़ रहा हूँ।

१—३ परिच्छेदों पर 'रत्नदर्पण', चतुर्थ पर 'विवरण' टीकायें थीं। पञ्चम पर जीवानन्द की 'व्याख्या' ही उपलब्ध रही। पाठकों की सुविधा के लिये उसका

समावेश यहाँ कर दिया गया है। पञ्चम परिच्छेद का मूल का पाठ भी जीवानन्द के ही संस्करण के अनुसार है। पहले के चारों परिच्छेदों में निर्णयसागर से छपे पाठ को ही लिया गया है। जीवानन्द की टीका की भाषा शिथिल है, सन्धि-नियम, विसर्ग, अनुनासिकत्व आदि पर बहुत ध्यान उन्होंने नहीं दिया था। विवशता के कारण वह भी ज्यों की त्यों रख दी गयी हैं। फिर भी आशा है जिज्ञासुओं को श्लोकार्थ-बोध में आसानी होगी।

चौखम्भा ओरियन्टालिया के स्वत्वाधिकारियों के धैर्य एवं लगन की मैं सराहना किये विना नहीं रह सकता जिन्होंने १५-१६ वर्षों में इतने पृष्ठों को किसी प्रकार छाप ही डाला। मुद्रण में आ गयी अशुद्धियों का उत्तरदायित्व भी मैं उन्हीं लोगों पर डालता हूँ।

अपनी अन्य कृतियों की भाँति इसको भी मैं अपने पूज्य अध्यात्मगुरु ज्योतिष्पीठ, बदरिकाश्रम तथा शारदापीठ, द्वारका के अधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती महाराज के चरणकमलों में श्रद्धापूर्वक समर्पित करता हूँ।

श्रावणी, २५-८-९१ ई०

—कामेश्वरनाथ मिश्र

विषयानुक्रम

चतुर्थ परिच्छेद—१३८-३३४

॥ श्रीः ॥

सरस्वतीकण्ठाभरणम्

सानुवाद 'स्वरूपानन्द' हिन्दीभाष्योपेत 'रत्नदर्पण' व्याख्याविभूषितम्

तृतीयः परिच्छेदः

क्षोभस्फुरितचूडेन्दुखण्डप्रकरविभ्रमाः ।
ताण्डवाडम्बरे शम्भोरट्टहासाः पुनन्तु वः ॥
विविच्यमानगम्भीरमूलग्रन्थाकुलान्प्रति ।
इतोऽप्यतः परं व्याख्या संक्षेपेण निगद्यते ॥

क्रमप्राप्तार्थालंकारलक्षणाय तृतीयपरिच्छेदारम्भः । तत्र विभागोपयुक्तं सामान्यलक्षणमाह—

अलमर्थमलंकर्तुं ये व्युत्पत्त्यादिवर्त्मना ।
ज्ञेया जात्यादयः प्राज्ञैस्तेऽर्थालंकारसंज्ञया ॥ १ ॥
जातिर्विभावना हेतुरहेतुः सूक्ष्ममुत्तरम् ।
विरोधः संभवोऽन्योन्यं परिवृत्तिर्निदर्शना ॥ २ ॥
भेदः समाहितं भ्रान्तिर्वितर्को मीलितं स्मृतिः ।
भावः प्रत्यक्षपूर्वाणि प्रमाणानि च जैमिनेः ॥ ३ ॥

व्युत्पत्ति—विशिष्ट उत्पत्ति—आदि के द्वारा जो अर्थ को सुशोभित करने में समर्थ हैं, विद्वानों को चाहिये कि वे उन जाति आदि को अर्थालंकार नाम से समझें। (जाति आदि ये हैं)– (१) जाति, (२) विभावना, (३) हेतु, (४) अहेतु, (५) सूक्ष्म, (६) उत्तर, (७) विरोध, (८) संभव, (९) अन्योन्य, (१०) परिवृत्ति, (११) निदर्शना, (१२) भेद, (१३) समाहित, (१४) भ्रान्ति, (१५) वितर्क, (१६) मीलित, (१७) स्मृति, (१८) भाव तथा जैमिनि ऋषि को मान्य, (१९) प्रत्यक्ष, ((२०) अनुमान, (२१) उपमान, (२२) शब्द, (२३) अर्थापत्ति (२४) अभाव) आदि प्रमाण ॥ १–३ ॥

स्व० भा०—चौबीस शब्दालंकारों का निरूपण करने के पश्चात् क्रम-प्राप्त अर्थालंकारों का प्रकरण प्रारम्भ हुआ है। भोज के अनुसार ये भी संख्या में चौबीस ही हैं। अन्य आलंकारिकों ने इनमें से कुछ को अस्वीकार भी किया है। किसी भी व्यक्ति की दृष्टि अर्थालंकारों में उपमा,

रूपक, अतिशयोक्ति, निदर्शना, संसृष्टि आदि को भी यहाँ ढूँढने लगती है। उनको यहाँ न पाना किञ्चित् आश्चर्य उत्पन्न करता है, किन्तु भोज ने परम्परागत अर्थालंकारों में संशोधन किया है और अपना स्वतन्त्र विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने इनमें से कुछ को उभयालंकार के अन्तर्गत रखा है और कुछ का यत्र-तत्र अन्तर्भाव कर दिया है।

भोज देव जैमिनि मुनि—मीमांसाचार्य—ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अभाव को प्रमाण माना है। उनको मान्य प्रमेयों की सिद्धि में ये सहायक हैं। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में उनके मान्य प्रमेय अथवा प्रमेयों की सिद्धि के लिये विभिन्न संख्या में प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। चार्वाक् मतानुयायी एक ही केवल प्रत्यक्ष को तथा पौराणिक लोग जैमिनिमुनि को मान्य छः प्रमाणों के साथ 'सम्भव' तथा 'ऐतिह्य' को भी प्रमाण की कोटि में रखते हैं।

दर्शन शास्त्र के इन प्रमाणों की साहित्यशास्त्र में आवश्यकता नहीं है। विषय केवल इतना है कि जिन परिस्थितियों में ये प्रमाण होते हैं, उन स्थितियों में साहित्य में चमत्कार का दर्शन होता है, जिससे अर्थ अलंकृत होता है। अलंकरण के कारण ही वहाँ अलंकार की मान्यता मिलती है जिनका नाम उनके अनुसार ही रख दिया जाता है।

यहाँ पर प्रथम कारिका के द्वारा भोज ने अपनी जो मान्यता छन्दोबद्धरूप में दी है उसी को वह शृङ्गार-प्रकाश में (पृ० ३९१) गद्य में इस प्रकार कहते हैं—"अर्थमेव ये व्युत्पत्त्यादिना भूषयन्ति तेऽर्थालंकाराश्चतुर्विंशतिः।"

अलमर्थमिति। **विशिष्टा उत्पत्तिर्व्युत्पत्तिर्जातेरवच्छेदकः प्रकारः। आदिशब्दाद्विविधशक्तिप्रतिबन्धादयो विभावनाद्यवच्छेदास्त्रयोविंशतिः।** अर्थालंकारसंज्ञयेति। **अर्थशोभानिवृत्तिहेतुर्विच्छित्तिरर्थालंकार इति स्फुटलक्षणम् ॥ १ ॥**

विभागान्दर्शयति—जातिरिति ॥ २ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यभावाख्यानि जैमिनेः प्रमाणानि षट्। तेनैव क्रमेण लक्षणान्याख्यातुं प्रत्यक्षपूर्वाणीत्युक्तम्। साहित्यस्य सर्वपारिषद्यत्वान्नानादर्शनरीत्युपजीवनमुचितमेव ॥ ३ ॥

नास्त्येवासावर्थालंकारो यः स्वरूपं नाश्रयत इति प्राथम्यं जातेरेवेत्याह—

तेषु—

नानावस्थासु जायन्ते यानि रूपाणि वस्तुनः।
स्वेभ्यः स्वेभ्यो निसर्गेभ्यस्तानि जातिं प्रचक्षते ॥ ४ ॥
अर्थव्यक्तेरियं भेदमियता प्रतिपद्यते।
जायमानमियं वक्ति रूपं सा सार्वकालिकम् ॥ ५ ॥
स्वरूपमाश्रयो हेतुरिति तद्भेदहेतवः।
ते सस्थानादयस्तेषु सा विशेषेण शोभते ॥ ६ ॥

वस्तुओं के विभिन्न अवस्थाओं में उनकी प्रकृति के अनुसार जो-जो रूप प्रकट होते हैं, उनको जाति कहते हैं। यह (जाति नामक अलंकार) अर्थ-व्यक्ति नामक गुण से इस रूप में

भिन्न सिद्ध होता है कि यह जायमान अर्थात् विभिन्न कारणों से विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित रूपों का निर्देश करता है तथा अर्थव्यक्ति पदार्थ के सार्वकालिक स्वरूप का चित्रण उपस्थित करता है। स्वरूप, आश्रय तथा हेतु ये जाति के भेद के कारण हैं। उनमें भी जो ये संस्थान आदि हैं उनसे जाति विशेषरूप से सुशोभित होती है ॥ ४–६ ॥

स्व० भा०—भामह जैसे कुछ आलंकारिक जाति अर्थात् स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं स्वीकार करते हैं। वह इसका उद्धरण अन्यमत के रूप में देते हैं—

स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो···॥ काव्यालंकार २।९३ ॥

दण्डी ने इसको सर्वप्रथम स्वभावोक्ति से अभिन्न घोषित किया था। उनके मतानुसार—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ॥ काव्यादर्श २।८ ॥

इनकी शब्दावली भोज से मिलती है, तथापि यह भोज से अधिक स्पष्ट हैं। दण्डी ने "साक्षात्" पद के द्वारा मात्र स्वभाव को ही नहीं अपितु चमत्कार-पूर्णता का भी समावेश कर दिया है। यह बात अवश्य है कि इन्होंने भोज की भाँति किसी वस्तु के सार्वकालिक एवं वैकल्पिकरूपों के वर्णनों में अन्तर नहीं समझा।

रुद्रट के जातिविवेचन से भी भोज का सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है। रुद्रट ने जाति की परिभाषा इस प्रकार दी है—

संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमन्यथा जातिः ॥ काव्यालंकार ७।३० ॥

जाति में विशेषता के कारण स्वरूप, आश्रय तथा हेतु हैं। इनके भी विभिन्न प्रकार हैं, जिन दशाओं में जाति सौन्दर्य-विशिष्ट हो जाती है। यदि कहीं यथावद्वस्तु-वर्णन में चमत्कार नहीं है तो, न तो वहाँ काव्यत्व होगा और न अलंकार। भोज ने स्वयं ही निरलंकारता दोष के प्रसङ्ग में यह स्पष्ट कर दिया है, कि किसी वस्तु का ज्यों का त्यों वर्णन करना ही पर्याप्त नहीं है, जैसा कि—

दीर्घपुच्छश्चतुष्पादः ककुद्मान् लम्बकम्बलः।
गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणमत्ति मुखेन सः ॥ स० क० १।४९ ॥

में चमत्कार न होने से जाति-अलंकार नहीं कहा जा सकता। संभवतः इसीलिये कुन्तक ने उपहास किया था कि—

अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥

भोजराज ने अपने शृङ्गार-प्रकाश के दशम-प्रकाश में अर्थालंकार के प्रसङ्ग में सरस्वती-कण्ठाभरण की इन्हीं कारिकाओं तथा उदाहरणों का यथासंभव शब्दशः अनुवर्तन किया है।

तेष्विति। कालकृतो विशेषोऽवस्था। तामधिकृत्य जायन्ते वस्तुस्वरूपाव्यभिचारीण्युत्पद्यन्ते। नन्वेवं 'य एते यज्वानः प्रथितमहसो येऽप्यवनिपा मृगाद्यो याश्चैताः कृतमपरसंसारकथया। अहो ये चाप्यन्ये फलकुसुमनम्रा विटपिनो जगत्येवंरूपा विलसति मृदेषा भगवती ॥' इत्यादावपि जातित्वं स्यादित्यत आह—स्वेभ्यः स्वेभ्य इति। स्वभावभूतानीत्यर्थः। कविप्रतिभामात्रप्रकाशनीयरूपोट्टङ्कनं जातिरिति लक्षणम्। लौकिकविकल्पविषयोऽपि प्रतिभया भासत एव। यदाह—'रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः

क्षणं विशेषस्पर्शोऽस्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः। सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते। येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥' इति॥

उक्तमेव विशेषमभिसंधायाह—

अर्थव्यक्तिरिति। वस्तुस्वरूपोल्लेखनरूपार्थव्यक्तिरर्थगुणेपूक्ता। तत्र सार्वकालिकं रूपमुपजनापायान्तरालव्यापकमित्यर्थः। अत्र तु जायमानमागन्तुनिमित्तं समवधानप्रभवं व्यभिचरितमित्यर्थः। विच्छित्तिप्रकारयोरसंकरात्पृथक् शोभार्पणाच्च युक्तो व्यतिरेकस्तेन स्वभावोक्तिरेवार्थव्यक्तिरिति यत्केनचिदुक्तं तदपास्तम्। अत एव जात्यन्तरप्रकाराणामपि पृथगलंकारता स्यादिति न युक्तमवान्तरवचसैव व्याघातात्। न हि सामान्यविशेषयोर्विभागो भवति॥ ५॥

स्वरूपमिति। आश्रयविशेषहेतुविशेषव्यतिरिक्तोऽवच्छेदकप्रकारः स्वरूपम्। एतदेव विभजते—ते संस्थानादय इति। ननु किमनेन प्रपञ्चेन पूर्वाभिहितरूपमात्रस्यैव जातित्वादित्यत आह— तेपु सेति। विशेषेण शोभाहेतुरेव ह्यलंकारः। अस्ति चात्र तथाभाव इति भावः॥ ६॥

(स्वरूप, आश्रय तथा हेतु के उपभेद)

तत्र स्वरूपं द्विधा। शरीरावयवसंनिवेशलक्षणमतादृशं च। आद्यमपि बुद्धिकारितमतथाभूतं च। तदेतदाह—

तत्र स्वरूपं संस्थानमवस्थानं तथैव च।
वेषो व्यापार इत्याद्यैः प्रभेदैर्बहुधा स्थितम्॥ ७॥
मुग्धाङ्गनार्भकस्तिर्यङ्नीचपात्राणि चाश्रयः।
देशः कालश्च शक्तिश्च साधनानि च हेतवः॥ ८॥

इनमें से संस्थान, अवस्थान तथा इसी प्रकार वेष, व्यापार आदि प्रभेदों के कारण 'स्वरूप' बहुत प्रकार से स्थित है अर्थात् 'स्वरूप' अनेक-विध हैं। मुग्धा नायिका, शिशु, तिर्यक् योनि के प्राणी, तथा नीचपात्र ये 'आश्रय' हैं। देश, काल, शक्ति, तथा साधन ये 'हेतु' हैं॥ ७-८॥

स्व० भा०—शृङ्गार-प्रकाश में सामान्य गद्य में इन भेदों का विवरण मिलता है। वहाँ के शब्द ये हैं—"तत्र संस्थानमवस्थानं वेषो, व्यापार इत्यादयः स्वरूपम्, मुग्धाङ्गनाः शिशवः तिर्यञ्चः हीनपात्राणीति आश्रयः, देशः कालः शक्तिः साधनमित्यादयो हेतुः।" पृष्ठ ३९१॥ आचार्य रुद्रट ने अत्यन्त सामान्यरूप से इसका निर्देश किया है, वह अत्यन्त सूक्ष्मता की ओर नहीं चले। उनका मत है कि—

शिशुमुग्धयुवतिकातरतिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम्।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या॥ काव्यालंकार ७।३१॥

तत्र स्वरूपमिति। आदिपदेन वृक्षादिस्वरूपपरिग्रहः॥
शक्तिः पदार्थानां सामर्थ्यम्। साधनानि कर्त्रादीनि षट्॥ ८॥

(अ) संस्थान

तेषु संस्थानं यथा—

'स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम्॥ १॥'

अत्र धनुर्धरेणैवमङ्गानि सम्यग्बुद्धिपूर्वकं स्थापनीयानीति संस्थानमिदं जातिभेदः ॥

इनमें से संस्थान का उदाहरण—

उन्होंने दाहिने नेत्रकोण से अपनी मुट्ठी को सटाये हुये, झुके हुये स्कन्धवाले, अपने बायें चरण को समेटे हुये, अपनी सुन्दर प्रत्यंचा को बलयाकार करके प्रहार करने के लिये तैयार कामदेव को देखा ॥ १ ॥

यहाँ पर 'धनुर्धर को इस प्रकार से अपने अङ्गों को भली-भाँति सोचकर जमाना चाहिये', इसका निरूपण होने से यह संस्थान नामक जाति भेद हैं।

स्व० भा०—यह श्लोक कुमारसम्भव (३।७०) का है। भोज ने शृङ्गारप्रकाश में भी संस्थान के उदाहरण के रूप में इसी श्लोक का ग्रहण किया है। किन्तु रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने इसको अवस्थान का उदाहरण स्वीकार किया है। (द्रष्टव्य-काव्यालंकार ७।३० ॥ पर नमिसाधु की टीका)। वस्तुतः रूढ रूप से 'संस्थान' का अभिप्राय शरीरावयव की रचना है। सामान्यतः व्युत्पत्तिगत अर्थ तो अनेक हो सकते हैं। यहाँ नमिसाधु की अपेक्षा भोज के ही टीकाकार अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार "तत्र स्वरूपं द्विधा। शरीरावयवसंनिवेशलक्षणमताद्दशं च। आद्यमपि बुद्धिकारितमतथाभूतं च।" (स० कं० ३।६)। यदि इस उदाहरण को शरीरावयवसंनिवेश का प्रथम भेद मान लें तो समस्या का समाधान हो जायेगा।

अत्र धनुर्धरेणेति। **तदुक्तम्—'अपाङ्गे दक्षिणां मुष्टिं वामां विन्यस्य मस्तके। पादमाकुञ्चयेद्वामं लक्ष्ये निश्चललोचनः॥' इति। अत्र सर्वस्यैव धनुर्धरस्यैवंविधशरीरावयवसंनिवेशो भवति न कामस्यैवेति नाश्रयविशेषो विवक्षितः। एवमुत्तरत्रापि॥**

(आ) अवस्थानभेद

अवस्थानभेदेन यथा—

'पादावष्टम्भनम्रीकृतमहिषतनोरुल्लसद्बाहुमूलं
शूलं प्रोल्लासयन्त्याः सरलितवपुषो मध्यभागस्य देव्याः।
विश्लिष्टस्पष्टदृष्टोन्नतविरलवलिव्यक्तगौरान्तराला-
स्तिस्रो वः पान्तु लेखाः क्रमवशविकसत्कञ्चुकप्रान्तमुक्ताः ॥२॥'

अत्र स्त्रियाः शूलप्रोल्लासनादौ व्यापारे बुद्धिकारितमपि शरीरावस्थानमीदृशं जायत इतीदमवस्थानं नाम जातिभेदः ॥

अवस्थान-भेद से होने वाली जाति का उदाहरण—

पैर जमा कर महिषासुर के शरीर को दबा देने वाली, स्कन्धों को उठा कर शूल को उल्लसित कर रही, भगवती काली की सीधे हो गये शरीर के मध्यभाग-कटिप्रदेश में-स्थित, परस्पर विभक्त हो जाने से स्पष्टरूप से दिखाई पड़ रही, उभरी हुयी वलियों-उदररेखाओं=के व्यक्त हो रहे गोरे-गोरे मध्यभाग वाली तीनों रेखायें जो क्रमशः विकसित हो रहे कञ्चुक के किनारों से मुक्त हैं, आप लोगों की रक्षा करें ॥ २ ॥

यहाँ पर स्त्री के शूल उठाने आदि के व्यापारों में बहुत सोचविचार कर सतर्कता बरतने पर भी शरीर की स्थिति इस प्रकार की हो ही जाया करती है। अतः यह अवस्थान नाम का जातिभेद है।

स्व० भा०—किसी कर्म को करते समय शरीर की वह दशा जो अत्यन्त सतर्क रहने पर भी दृष्टिगोचर हो ही जाती है, अवस्थान नामक जाति के रूप में जानी जाती है। यहाँ शूल-प्रोल्लासन के समय कञ्चुक के खिसकने से स्पष्ट दिखाई पड़ता है उनकी त्रिवलियों का उन्नत, गौर एवं सुन्दर मध्यभाग। सामान्यरूप से स्त्रियाँ कूटने के लिये मूसल लेकर हाथ को जब ऊपर उठाती हैं, उस समय बहुत ही सावधानी से अङ्गों को अनावृत्त नहीं होने देने की चेष्टा करती है, तथापि कुछ न कुछ अंश दृष्टि में आ ही जाता है। ऐसी दशा में अवस्थान जाति होगी।

पादावष्टम्भेति। उल्लसद्बाहुमूलमिति प्रोल्लसनक्रियाविशेषणम्। सरलितवपुष इति मध्यभागविशेषणम्। अत एव वलीनां विश्लेषो मिथो विभागः उपरिशरीराकर्षणात्कञ्चुक-प्रान्तापसरणम्। मुसलोल्लासनादौ दृष्टमिदमबुद्धिजमेव नारीणां रूपमिति भगवती-विषये प्रतिबिम्बनमतिस्फुटमेव। तदाह—पादाविति॥

(३) वेष

वेषो यथा—

'छणपिट्ठधूसरत्थणि महुमअअम्वच्छि कुवलआहरणे।
'कस्स कअ चूअमञ्जरि पुत्ति तुए मण्डिओ गामो॥ ३॥'
[क्षणपिष्टधूसरस्तनि मधुमदताम्राक्षि कुवलयाभरणे।
कस्य कृते चूतमञ्जरि पुत्रि त्वया मण्डितो ग्रामः॥]

अत्र वसन्तोत्सवे ग्रामतरुणीनामयं वेषो जनमनःप्रमोदाय जायत इति वेषो नामायं जातिभेदः॥

वेष का उदाहरण—

क्षणभर की पिसाई से धूसरित स्तनो वाली, मधुमद के कारण अरुणनयने, कमलों का आभूषण धारण करने वाली, अरी बेटी, चूतमञ्जरी, तूने पूरे गाँव को किसके लिये अथवा किसलिये सजा दिया है॥ ३॥

यहाँ पर वसन्तोत्सव में ग्रामीणस्त्रियों का यह वेष लोगों के मन को आनन्ददायी हो जाया करता है, अतः यह वेष नामक जातिभेद है।

स्व० भा०—वसन्त का समय तथा युवती रमणी इन दोनों का प्रसङ्ग यहाँ होने से, इस श्लोक को काल तथा पात्र का भी उदाहरण कहा जा सकता है, किन्तु सबका उद्देश्य वेष है, दर्शन का प्रधान आकर्षण भी वही है, अतः इसे वेष का उदाहरण माना गया।

अत्र वसन्तोत्सव इति। यद्यप्यत्र कालः पात्रं चास्ति तथापि 'संवाहलणमः उलिङ्गविवर-दराहङ्अम्बिर हुअउण तालङ्कम्। सिटिलाअन्तं सवणा अरम्भिसारेह एक्कावि॥' इत्यादौ न संकरः कादाचित्कत्वसौ गुण एव वेषस्य कथं रञ्जकतेत्यवशिष्यते। तत्राह—जनमनः-प्रमोदायेति। रुच्यर्थित्वमुत्पत्तीनां प्रतिपक्षगतानामक्षुण्णत्वादिति भावः॥

(ई) व्यापार

व्यापारो यथा—

'अग्रे गतेन वसतिं परिगृह्य रम्या-
मापात्य सैनिकनिराकरणाकुलेन।

यान्तोऽन्यतः प्लुतकृतस्वरमाशु दूरा-
दुद्बाहुना जुहुविरे मुहुरात्मवर्ग्याः ॥ ४ ॥'

अत्र तादृशि व्यापारे व्यापृतानामीदृशमेव स्वरूपं जायत इति व्यापार-नामायं जातिभेदः ॥

(२-क) आश्रयभेद में मुग्धयुवति

आश्रयेषु मुग्धयुवतिर्यथा—

'सहिआहि भम्ममाणा थणए लग्ग कुसुम्भपुप्फं ति ।
मुद्धवहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइम् ॥ ५ ॥'
[सखीभिर्भण्यमाना स्तनयोर्लग्नं कुसुम्भपुष्पं ते ।
मुग्धवधूर्हस्यते प्रोञ्छन्ती नखव्रणानि ॥]

अत्र मुग्धवध्वाश्रितक्रियास्वरूपभणनादियं मुग्धाङ्गनाश्रिता जातिः ॥

(२-ख) अर्भकाश्रित

अर्भकाश्रिता यथा—

'आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन्मण्डलं रुदन् ।
गाः कालयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारिणीः ॥ ६ ॥'

अत्रार्भकाश्रितव्यापारस्वरूपोक्तेरियमर्भकाश्रिता जातिः ॥

व्यापार का उदाहरण—

मनोहर घर को पाकर उसमें घुस कर सैनिकों के द्वारा निकाल दिये जाने से व्याकुल तथा आगे-आगे जा रहा व्यक्ति दूसरी ओर जा रहे स्ववर्गीय लोगों को जल्दी ही दूर से आवाज को ऊँची करके हाथ उठा-उठा कर पुकार रहा था ॥ ४ ॥

यहाँ पर 'उस प्रकार के कार्य में लगे हुये लोगों का रूप इसी प्रकार का हो जाता है,' अतः यह व्यापार नामक जातिप्रकार का उदाहरण है ।

आश्रयभेदों में मुग्धयुवती का उदाहरण—

सखियों के द्वारा कहने पर कि तेरे दोनों उरोजों में कुसुम्भ का फूल लगा हुआ है, मुग्धवधू अपने स्तनों पर लगे नखक्षतों को पोंछती है तथा वे स्त्रियाँ उसकी हँसी उड़ाती हैं ॥ ५ ॥

यहाँ पर मुग्धा वधू पर आश्रित क्रियाओं के रूपों का कथन होने से यह मुग्धाङ्गनाश्रित जाति का उदाहरण है ।

(मुग्धा नायिका साहित्यिकों की चिरपरिचिता है। इसमें अल्हड़ता स्वाभाविक होती है। इसके अनवेक्षित व्यापार मनोरम होते हैं। यहाँ एक मुग्धा नववधू का उल्लेख है जिसके स्तनो पर प्रिय द्वारा किये गये नखक्षतों को सखियाँ कुसुम्भ कण्टक कह कर हँसती है। वह भी न जान पाने से उनको सहलाती और पोंछती भी है।)

छोटे बालक पर आश्रित (जाति) का उदाहरण—

खीझता हुआ, साथियों को पुकारता हुआ, चारो ओर गोलाई मे दौड़ता हुआ बालक रो-रो कर अनाज के खेत में घुस गयी गायों को दण्ड से हाँक रहा है ॥ ६ ॥

यहाँ एक बालक के ऊपर आश्रित क्रियाओं के रूप का वर्णन होने से, यह अर्भकाश्रिता जाति का उदाहरण है ।

स्व० भा०—यहाँ एक छोटे से चरवाहे बालक का व्यापार देखने के योग्य ही है। इतना स्वाभाविक वर्णन दुर्लभ है। जिन लोगों ने खेतों में गायों के घुस जाने पर उनको चराने वाले बच्चों को देखा है, उनके अक्रोश को देखा है, उनको इस सूक्ति का अर्थ विशेष आनन्द देगा। भामह ने काव्यालंकार में (२।९४) इसी श्लोक को स्वभावोक्ति का उदाहरण दिया है।

अग्रे गतेनेति। अत्रोद्वाहुनेति यद्यप्यवस्थानमस्ति तथापि तत्परिहारेणोदाहरणमसंकीर्णम्। 'सहिआहि भण्णमाणा थणए लग्गं कुसुम्भपुप्फं ति। मुद्धवहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइम्॥' इत्यत्रैकस्याः कदाचिद्वितर्कायेदमपि वाक्यं बहूनां तु नेति बहुवचनस्वरसः। कुसुम्भकेसराग्युच्चेतुं वारंवारमसौ क्षेत्रं प्रविशतीति संभावना। मुग्धा अपरिशीलिताभिमानिकसुखा वधूः प्रथमपरिणीता। प्रस्फोट्यमानमपि त्वया नापसरतीत्यहो तव सौकुमार्यमिति चाटुगर्भं हसितम्। अत एव प्रियतया तस्यानुबन्धो वर्तमाननिर्देशेन व्यज्यते। एतदग्रिमोदाहरणव्याख्याने क्रियाव्यापारग्रहणमुपलक्षणमतो न व्यापारसंकरः। अन्ये त्वाहुः आश्रयावच्छेदेन बहिर्भावोऽत्र भेदहेतुरिति॥

(२-ग) तिर्यगाश्रया

तिर्यगाश्रया यथा—

'लीढव्यस्तविपाण्डुराग्रनखयोराकर्णदीर्णं मुखं
विन्यस्याग्रिमयोर्युगे चरणयोः सद्यो विभिन्नद्विपः।
एतस्मिन्मदगन्धवासितसटः सावज्ञतिर्यग्वल-
त्सृक्कान्ताहतिधूतलोलमधुपः कुञ्जेषु शेते हरिः॥ ७॥'

अत्र सिंहस्वरूपभणनादियं तिर्यगाश्रया जातिः॥

तिर्यगाश्रया का उदाहरण—

चाट लेने से रुधिर रहित तथा अत्यन्त चमकीले अगले नखों वाले दोनों अग्रिम चरणों के मध्य में अपने कान तक फैले हुये मुख को स्थापित करके, अभी-अभी हाथी को मारने वाला मद की गन्ध से अपनी केसरों को वासित किये हुये, तथा तिरस्कारपूर्वक घूमकर अपने मुख के किनारे के भाग से चञ्चल भ्रमरों को उड़ाता हुआ सिंह इस समय कुञ्जों में शयन कर रहा है॥ ७॥

यहाँ पर सिंह के स्वभाव का वर्णन करने से यह तिर्यगाश्रया जाति का उदाहरण है।

लीढेति। व्यस्तं (व्यस्तं) विगतरुधिरम्। सावज्ञं तिर्यक् वलन्ती ये सृक्किणी ताभ्यामाहता इति संबन्धः। यथैकत्र कुञ्जे स्वपतः स्वरूपं तथान्यत्रापीति बहुवचनरहस्यम्। अत एव न वेशहेतुशङ्का। अत्र सिंहेति। मदवासनया विशेषितत्वादिति भावः॥

(२-घ) नीचाश्रया

नीचाश्रया यथा—

'भद्रं ते सदृशं यदध्वगशतैः कीर्तिस्तवोद्घुष्यते
स्थाने रूपमनुत्तमं सुकृतिना दानेन कर्णो जितः।
इत्यालोच्य चिरं दृशा करुणया शीतातुरेण स्तुतः
पान्थेनैकपलालमुष्टिरुचिना गर्वायते हालिकः॥ ८॥'

अत्र हीनपात्रहालिकस्वरूपोक्तिरियं नीचाश्रया जातिः॥

नीचाश्रया का उदाहरण—

"यह कल्याणमयी वार्ता तो आपके अनुकूल ही है कि सैकड़ों राही तुम्हारी कीर्ति की

घोषणा करते हैं। आप का सर्वोत्कृष्ट रूप भी उपयुक्त ही है। आप जैसे सत्कर्मकर्ता ने दान से तो कर्ण को भी परास्त कर दिया है।" इन बातों से आलोचना करके बड़ी देर तक करुणापूर्ण दृष्टि से ठंडक से सिकुड़ रहे केवल मुट्ठी भर पुआल की इच्छा रखने वाले पथिक के द्वारा प्रार्थित किया गया हलवाहा घमण्ड का अनुभव करता है॥ ८॥

यहाँ हीनपात्र हलवाहे के स्वरूप का कथन होने से यह उक्ति नीचाश्रया जाति है।

स्व० भा०—बड़ी स्तुति करने के बाद एक मुट्ठी पुआल देने पर अपने प्रशंसा के शब्दों को सुनकर गर्व का अनुभव करना तुच्छता ही है। इसी से वह पात्र हीन कोटि का है। प्रायः यह क्षुद्रजनों का स्वभाव होता है कि वह कोई नगण्य सा उपकार करके किसी से अतुल प्रशंसा चाहते हैं।

भद्रं त इति। **करुणाकार्पण्यव्यञ्जकविशेषशालिनी। गर्वायते अगर्ववानेव गर्ववान्भवति। भृशादौ लक्षत्वादेर्मस्त्वर्थलक्षणत्वात्॥**

(३-१) देश

अथ हेतवः। तेषु देशो यथा—

'इमास्ता विन्ध्याद्रेः शुकहरितवंशीवनघना
भुवः क्रीडालोलद्विरदरदनारुग्णतरवः।
लताकुञ्जे यासामुपनदि रतक्लान्तशबरी-
कपोलस्वेदाम्भःपरिचयनुदो वान्ति मरुतः॥ ९॥'

अत्र विन्ध्याद्रेरीदृशेषु प्रदेशेष्वित्थंभूता वायवो वान्तीति हेतुत्वेनोक्तत्वाद्देशस्य देशहेतुर्जातिरियम्॥

अब हेतु का विचार प्रारम्भ किया जा रहा है। इसके भेदों में से देश का उदाहरण—

ये वे विन्ध्याचल के भूभाग है जहाँ पर शुक के सदृश हरे-हरे बांसो के सघन वन हैं, जहाँ पर सामान्य क्रीड़ा में लुढ़कते हुये हाथियों के दांतों से वृक्ष टूट गये हैं, तथा जिनके लताकुञ्जों में नदी के किनारे संभोग से थकी हुई शबरियों के कपोल के पसीनो का स्पर्श कर उन्हें सुखाने वाली हवायें चला करती हैं॥ ९॥

यहाँ पर विन्ध्यपर्वत के इस प्रकार के भू-भागों में इस प्रकार की हवायें चला करती हैं इनके हेतु के रूप में देश का कथन होने से यह देशहेतु जाति का उदाहरण है।

स्व० भा०—देश-विशेष की परिस्थिति का निरूपण होने से यहाँ देशहेतु का निदर्शन है।

इमास्ता इति। **देशविशेषमुद्दिश्य मरुतां विधानमुद्देश्यस्य च विधौ हेतुभावः। वंशीवनानां दुष्प्रवेशतया मरुतां मन्दीभावो द्विरदैस्तरुभङ्गादवकाशलाभे प्रगल्भत्वमतः क्लमस्वेदापनयनसामर्थ्यमेतत्सर्वमाह—**अत्र विन्ध्याद्रेरिति॥

(३-२) काल

कालहेतुर्यथा—

'कम्पन्ते कपयो भृशं जडकृशं गोजाविकं ग्लायति
श्वा चुल्लीकुहरोदरं क्षणमपि क्षिप्तोऽपि नैवोज्झति।

शीतार्तिव्यसनातुरः पुनरयं दीनो जनः कूर्मव-
त्स्वान्यङ्गानि शरीर एव हि निजे निह्नोतुमाकाङ्क्षति ॥ १० ॥'

अत्र हेमन्तहेतुकतिर्यगाद्याश्रयव्यापारस्वरूपोक्तेरियं कालहेतुर्नाम जातिः ॥

काल हेतु का उदाहरण—

बन्दर खूब कांप रहे हैं, गौ, बकरी तथा भेड़ें जड़ और अत्यन्त दुबली हो गई हैं। कुत्ता कोंचने पर भी एक क्षण के लिये भी चूल्हे के भीतरी भाग को नहीं छोड़ रहा है। ठण्डक के कष्ट से अत्यन्त व्याकुल यह वेचारा आदमी भी कछुये की भांति अपने अङ्गों को अपने शरीर में ही समेट कर छिपाने की इच्छा कर रहा है ॥ १० ॥

यहाँ पर हेमन्त ऋतु के कारण तिर्यक् आदि प्राणियों पर आश्रित व्यापार के स्वरूप का निर्वचन करने से यह कालहेतु नामक जाति का उदाहरण है।

स्व० भा०—इस श्लोक में हेमन्त ऋतु का सजीव वर्णन है। इसमें तिर्यक् योनि के साथ मानवीय व्यापारों का भी चित्रण है। इन सभी क्रियाओं का एकमात्र कारण है ऋतु विशेष का प्रभाव। अतः यहाँ तिर्यगाश्रया अथवा नीचाश्रया की शंका अनुपपन्न है।

गोजाविकमिति। 'विभाषावृक्षमृग २।४।१२' इत्यादिना पाक्षिक एकवद्भावः। अत्र हेमन्तेति। यद्यपि तिर्यगाश्रयेयं जातिः तथापि हेतोरधिकस्य प्रवेशात्पृथग्भावः। संकरस्तु न दुष्यति ॥

(३-३) शक्ति

शक्तिर्यथा—

'बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन्मनसि निर्वृतिम्।
नेत्रे निमीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्तते ॥ ११ ॥'

अत्र रोमाञ्चबन्धादिषु प्रियास्पर्शप्रवृत्तेर्निमित्तस्योक्तत्वादियं शक्तिहेतुर्नाम जातिः ॥

शक्ति का उदाहरण—

अङ्गों में रोमाञ्च बांधता हुआ, मन में परमानन्द करता हुआ तथा दोनों नेत्रों को मुकुलित किये दे रहा प्रेयसी का स्पर्श प्रवृत्त हो रहा है ॥ ११ ॥

यहाँ रोमाञ्च-बन्ध आदि में प्रियास्पर्श के प्रवृत्ति-रूप कारण को कह देने से यह श्लोक शक्ति हेतु नामक जाति का उदाहरण है।

स्व० भा०—यहाँ अनेक कार्य एक साथ हो रहे हैं जिनका कारण प्रियतमा का स्पर्श है। यदि स्पर्शगुण इसमें से निकाल दिया जाये तो प्रवर्तिका शक्ति का रूप स्वतः स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। अतः सम्पूर्ण क्रियाओं का प्रवर्तन-स्रोत शक्ति है।

रोमाञ्चबन्धादिष्विति। बध्नन्नित्यादौ शतृप्रत्ययेन कर्ताभिधीयते। स च सामानाधिकरण्यात्स्पर्श एव। स्पर्शत्वाविशेषे तु शक्तिरेव प्रयोजिका वाच्येत्यर्थः ॥

(३-४) साधनहेतु

साधनहेतुर्यथा—

'उपनिहितहलीषासार्गलद्वारमारा-
त्परिचकितपुरन्ध्रीसारिताभ्यर्णभाण्डम्।

पवनरयतिरश्चीर्वारिधाराः प्रतीच्छ-
न्विशति वलितशृङ्गः पामरागारमुक्षा ॥ १२ ॥'

अत्र जायमानक्रियाहेतुभूतयोः कर्तृकर्मणोः साधनयोः स्वरूपवर्णनादयं साधनहेतुर्नाम जातिभेदः ॥

साधनहेतु का उदाहरण—

रखी हुई हलीषा के द्वारा अवरुद्ध कर दिये गये द्वार वाले, तथा दूर से ही देख कर व्यग्र हो उठी स्त्रियों के द्वारा समीपवर्ती वर्तन खिसकाये जाते हैं जहाँ पर उस पामर के घर में वायुवेग से तिरछी हो गई जलधाराओं की प्रतीक्षा करता हुआ, घूमी हुई सींगो वाला बैल प्रविष्ट हो रहा है ॥ १२ ॥

यहाँ उत्पन्न हो रही क्रियाओं के कारणभूत कर्ता तथा कर्म दोनों साधनों के स्वरूप का वर्णन होने से यह साधनहेतु नामक जातिभेद का उदाहरण है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक को देखने से स्पष्ट है कि यहाँ कर्म है गृह—आगार तथा कर्ता है उक्षा—बैल—। यही दोनों 'प्रवेश' रूप क्रिया के निमित्त हैं। अतः यह श्लोक साधनहेतु का उदाहरण है।

उपनिहितेति। **अगारद्वारस्य हलीषावरुद्धतया दुष्प्रवेशत्वमत एव बहिश्चिरं विलम्बात् प्रत्येषणवेशनयोर्वर्तमानता। उपलक्षणं चेदम्। तेन करणादयोऽप्युदाहार्याः ॥**

पद्ये स्वभावपर्यवसानमस्तीति जातेः किञ्चिदपकृष्टां विभावनां विभावयितुमाह—

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकं वापि विभाव्यं सा विभावना ॥ ९ ॥
शुद्धा चित्रा विचित्रा च विविधा सा निगद्यते।
शुद्धा यत्रैकमुद्दिश्य हेतुरेको निवर्तते ॥ १० ॥
अनेको यत्र सा चित्रा विचित्रा यत्र तां प्रति।
तयान्यया वा गीर्भङ्ग्या विशेषः कश्चिदुच्यते ॥ ११ ॥

(२) विभावना

जहाँ पर किसी के भी विख्यात कारण का त्याग करके जो कोई भी दूसरा कारण स्वाभाविक अथवा कल्पित-निरूपित किया जाता है वह अलंकृति विभावना है। वह शुद्धा, चित्रा तथा विचित्रा इन अनेक प्रकारों की कही जाती है। शुद्धा वह है जहाँ एक वस्तु के प्रति एक ही हेतु निवर्तित होता है। जहाँ अनेक कारण निवर्तित हों वहाँ चित्रा विभावना होती है। जहाँ विभावना के प्रति विभावना के ही द्वारा अथवा किसी अन्य भावभङ्गिमा के द्वारा कोई विशेष कारण निर्दिष्ट किया जाता है वहाँ विचित्रा होती हैं ॥ ९-११ ॥

स्व० भा०—भामहकृत विभावना का लक्षण—

क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ॥ काव्यालंकार २।७७॥

यद्यपि मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि की विभावना कल्पना का उपजीव्य बना, किन्तु

वह भोज की परिभाषा से कुछ दूर है। दण्डी के शब्दों को भोज ने अक्षरशः अपना लिया है (द्रष्टव्य—काव्यादर्श २।१९९), केवल इन्होंने उसके भेदोपभेदों का निरूपण और भी जोड़ दिया है। रुद्रट का भी लक्षण भोज के अधिक निकट है, जैसे—

सेयं विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम्।
अभिधीयते यतः स्यात्तत्कारणमन्तरेणैव ॥ —काव्यालंकार ९।१६ ॥

वस्तुतः 'भावना' का अभिप्राय है 'कल्पना' तथा 'वि' का अभिप्राय है विशिष्ट। इस प्रकार विभावना का वास्तविक अर्थ हुआ 'विशिष्टकल्पना'। जब एक क्रिया का प्रसिद्ध कारण नहीं रहता और क्रिया हो जाती है, उस दशा में यह तथ्य स्वीकार करना ही पड़ता है कि किसी न किसी कारण से वह कर्म निष्पन्न हुआ ही है। यह गौण कारण कवि की कल्पना से संभूत है। ऐसी दशा में ही विभावना मानना उचित है। शृङ्गारप्रकाश में लक्षण के पदों में किञ्चित अन्तर है—

'प्रसिद्धहेतुत्यागेन हेत्वन्तरविभावनम्।' पृ० ३१५

प्रसिद्धेति। प्रसिद्धस्पर्शहेतोर्विभाव्यतया प्रसिद्धग्रहणं नियमेन तद्भावापत्तिमूलत्वं चास्यास्तेन विरोधः। तथा हि 'णमह अवट्ठिअतुङ्गं—' इत्यादौ वर्धनजन्यमन्यदेव तुङ्गत्वमन्यच्च पारमेश्वरमाजानिकमिति तयोरभेदाध्यवसायः। एतदेवाभिसंधाय काश्मीरकैरतिशयोक्तिरस्या मूलमुक्ता। यदिति निपातो यत्रार्थे। यद्यपि कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिरित्येत्र लक्षणं तथापि महासंज्ञाकरणप्रयोजनं किमित्याशङ्कायां द्वयं विभाव्यमाह। तदयमत्र संक्षेपः—यथोक्ता तावद्विभावना। सा द्वयी। कारणान्तरपर्यवसिता, स्वभावपर्यवसिता चेति ॥

प्रत्येकं च शुद्धादिभेदात्षोढा संपद्यत इत्येतावतैव विभावना शरीरनिष्पत्तेः। यथा वर्णो वर्णेन करम्बितं चित्रं तथा विभावनापि विभावनया तादृशी चित्रेत्याह—

अनेक इति। यथा च स्वरूपसंपादकातिरिक्तविशेषप्रवेशाद्विचित्राः स्रग्दामादयस्तथेयमपीति दर्शयति—विचित्रा यत्रेति। तां विभावनाम्। तया विभावनया। अन्ययेति अलंकारान्तररूपया ॥

तत्र कारणान्तरविभावनायां शुद्धा यथा—

'अपीतक्षीबकादम्बमसंमृष्टामलाम्बरम्।
अप्रसादितसूक्ष्माम्बु जगदासीन्मनोहरम्' ॥ १३ ॥

अत्रैकैकं कादम्बादिकमुद्दिश्य क्षीबतादेः पीतत्वादिरेकैकः प्रसिद्धहेतुर्व्यावर्तते। हेत्वन्तरं च शरत्प्रभावो विभाव्यते। सेयं शुद्धा नाम कारणविभावनायां विभावना ॥

इनमें से दूसरे कारण की कल्पना करने पर शुद्धा का उदाहरण—

जब मद्यपान के बिना भी हंसगण मत्त हो रहे थे, बिना साफ किये ही आकाश स्वच्छ हो रहा था, बिना शोधन किये ही जल सूक्ष्म अथवा शुद्ध हो जाया करता था (तब इनकी उपस्थिति में) सारा संसार मनोहर दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ १३ ॥

यहाँ पर एक एक करके 'कादम्ब'—हंस—आदि को लक्ष्य कर 'क्षीबता' आदि का 'पान' आदि प्रसिद्ध कारण एक-एक करके व्यावृत्त किया जा रहा है! तथा दूसरा कारण 'शरद् ऋतु

का प्रभाव कल्पित किया जा रहा है। यह शुद्धा विभावना है जो कि कारणान्तर की कल्पना से हुई है।

स्व० भा०—यहाँ पर शुद्धा का लक्षण पूर्णतः अन्वित होता है, क्योंकि उसके लक्षण में एक-एक कार्य के लिये एक-एक कारणान्तर का त्याग किया गया है। अर्थात् इसमें प्रत्येक घटित हो रही क्रिया के लिये पृथक्-पृथक् कारण निर्दिष्ट होता है और उसका ही अभाव प्रदर्शित किया जाता है। यहाँ क्षीवता, निर्मलता, सूक्ष्मता अथवा शुद्धता का कारण 'पान', 'मार्जन' तथा 'संशोधन' रूप प्रसिद्ध कारणों का तिरस्कार कर दिया गया है। साथ ही इन सब को निष्पन्न करने वाला 'शरत्प्रभाव' कारण के रूप में कल्पनीय है।

पीतं पानम्। सूक्ष्मं निर्मलम्। शरत्प्रभाव इति। प्रस्तावौचितीभ्यामभिव्यक्तः॥

स्वाभाविकत्वविभावनायां शुद्धा यथा—

'अनञ्जितासिता दृष्टिर्भ्रूरनावर्जिता नता।
अरञ्जितारुणश्चायमधरस्तव सुन्दरि॥ १४॥'

अत्रैकैकं दृष्ट्यादिकमुद्दिश्यासितत्वादेरनञ्जितत्वादिरेकैको हेतुर्व्यावर्त्यते। स्वाभाविकत्वं चासितत्वादि दृष्ट्यादेर्विभाव्यते। सेयं शुद्धा नाम स्वाभाविकभावनायां विभावना॥

स्वाभाविकत्व की कल्पना करने पर शुद्धा का उदाहरण—

हे सुन्दरी, विना काजल लगाये ही तुम्हारी आँखें काली हैं, किसी प्रकार का तनाव न डालने पर भी तुम्हारी भौंहें काफी झुकी हुई हैं और तेरे ये अधर तो विना रंगे ही लाल हैं॥१४॥

यहाँ एक-एक दृष्टि आदि का लक्ष्य करके असितत्व–कालापन–आदि का अनञ्जितत्व आदि पृथक्-पृथक् कारण व्यावृत्त किया गया हैं। यहाँ स्वाभाविक रूप से दृष्टि आदि की असितता–कृष्णता आदि की कल्पना की जा रही है। अतः स्वाभाविक कल्पना होने से यह श्लोक शुद्धा-विभावना का उदाहरण है।

स्व० भा०—इस श्लोक को भी, दण्डी ने अपने काव्यादर्श (२।१०१) में स्वाभाविकी विभावना के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। यहाँ पर प्रत्येक कार्य का कारण पृथक्-पृथक् बतला कर उसका निराकरण कर दिया गया है। अतः शुद्धा है। दण्डी ने उपर्युक्त दो ही उदाहरण विभावना के दिये हैं। उन्होंने इनमें विभावना कैसे होती है, इसको भी स्पष्ट कर दिया है तथा विरोधालंकार से इसका अन्तर बतला दिया है—

यदपीतादिजन्यं स्यात् क्षीबत्वाद्यन्यहेतुजम्।
अहेतुकं च तस्येह विवक्षेत्यविरुद्धता॥
वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुरव्याजसुन्दरम्।
अकारणरिपुश्चन्द्रो निर्निमित्तासुहृत् स्मरः॥
निसर्गादिपदैरत्र हेतुः साक्षान्निवर्तितः।
उक्तं च सुरभित्वादि फलं तत्सा विभावना॥ काव्यादर्श २।२०२-४॥

अर्थात् विभावना में कारणान्तर की कल्पना अपेक्षित होती है, जब कि विरोध में नहीं।

(२) चित्रा

कारणान्तरविभावनायां चित्रा यथा—

'असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साथ वयः प्रपेदे ॥१५॥'

अत्रैकमेव वयोलक्षणं पदार्थमुद्दिश्याप्यनेको मण्डनादेः प्रसिद्धो हेतुः संभृतत्वादिर्व्यावर्त्यते। कारणान्तरं च स्तनोद्भेदधातूपचयलावण्यलक्ष्मीलाभादिर्विभाव्यते। सेयं चित्रानाम कारणान्तरविभावना॥

कारणान्तर की कल्पना करने पर चित्रा का उदाहरण—

इसके पश्चात् बाल्यकाल के बाद आने वाली उस (जवानी रूप) आयु को पार्वती ने प्राप्त किया जो शरीर के लिये धारण न करने पर भी अलंकार है, जिसका मदिरा नाम तो नहीं है, किन्तु वह मद को उत्पन्न करने वाला है, जो पुष्प का न होने पर भी कामदेव का अस्त्र-बाण है॥ १५॥ (कु० सं० १।३१)

यहाँ एक ही आयुरूप पदार्थ को उद्दिष्ट करके भी मण्डन आदि के अनेक प्रसिद्ध कारण 'संभृतत्व'—धारणत्व—आदि निरस्त कर दिये गये हैं। इनका दूसरा कारण स्तनो का निकलना, शरीर के अङ्गों के घटक तत्वों का यत्र-तत्र एकत्र होना, लावण्य तथा शोभा की प्राप्ति आदि कल्पित होता है। अतः यहाँ कारणान्तर नाम की चित्रा विभावना है।

स्व० भा०—पार्वती की युवावस्था की प्राप्ति का चित्रण यहाँ है। शुद्धा में एक को उद्दिष्ट करके एक ही प्रसिद्ध कारण का निरसन किया जाता है, जबकि इसमें एक लक्ष्य के पूरक अनेक साधनों का। यहां लक्ष्य है केवल 'आयु' किन्तु अनेक-मण्डन, मदकरण आदि के 'संभृतत्व' आदि कारण व्यावृत्त किये गये हैं और साथ ही स्तनोद्भेद आदि दूसरे कारणों की कल्पना भी की गई है। यही इसकी चित्रता है।

असंभृतमिति। **ननु मण्डनस्य संभरणपूर्वकतया प्रसिद्धेरस्तु विभावना। 'अनासवाख्यं करणं मदस्य कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रम्' इत्यत्र तु कथम्। तथाहि। करणमिति करणे वा ल्युट्। आद्ये मदस्य करणमासवो वयस्तु ततो भिन्नमिति कदाचिद् व्यतिरेकः स्यान्नतु विभावना। द्वितीयेऽपि वयो मदस्य क्रिया आसवनाम्नी न भवतीति न संगतम्। एवं पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रमित्यत्रापि विकल्प्य यथायथं दूषणं वाच्यम्। तत्कथमेतत्। उच्यते। करणं क्रिया आसवमाख्यातीत्यासवाख्यम्। स्त्याख्यवत्प्रत्ययविधिः। न तथाभूतमनासवाख्यम्। हेतुतया न क्वचिदासवबोधक्षमम्। तथा हेतुप्रतिषेध एव भङ्ग्या दर्शितो भवति। अस्त्रमपि क्रियारूपं तत्पुष्पव्यतिरिक्तं पुष्पच्युतं विना पुष्पेभ्य इति पूर्ववदुन्नेयम्। स्तनोद्भेदेत्यादौ नार्थसंदेहः॥**

सैव स्वाभाविकत्वविभावनायां तथा—

'णमह अवट्ठिअतुङ्गं अविसरिअ विरयअणोणअं गहिरम्
अप्पलहुअपरिसण्हं अणाअपरमत्थपाअडं महुमहणम्॥ १६॥

[नमत अवस्थिततुङ्गमविसारिताविस्तृतमनवनतगभीरम्।
अप्रलघुमपरिश्लक्ष्णमज्ञातपरमार्थपारदं मधुमथनम्॥]

अत्रैकमेव मधुमथनमुद्दिश्यानेकस्तुङ्गत्वादेः प्रवृद्धत्वादिः प्रसिद्धो हेतुर्व्यावर्त्यते। स्वाभाविकत्वं च तं प्रत्येषां विभाव्यते। सेयं चित्रा नाम स्वाभाविकत्वविभावनायां विभावना॥

वही चित्रा ही स्वाभाविकता की कल्पना करने पर इस प्रकार होती है जैसे—उच्च स्थान

पर स्थित भगवान् शिव को प्रणाम करो जो प्रसाद के विना अविस्तृत हैं, जो न्यून न होने से गम्भीर हैं, जो अत्यन्त लघु न होने से पूर्णतः श्लक्ष्ण नहीं हैं तथा जो विना जाने भी परमार्थ के उस पार कर देते हैं ॥ १६ ॥

यहाँ पर एक ही शङ्कर को लक्ष्य करके 'तुङ्गत्व' आदि के अनेक 'प्रवृद्धता' आदि प्रसिद्ध कारण व्यावृत्त कर दिये गये हैं। उसके प्रति इनकी स्वाभाविकता भी कल्पित हो जाती है। यहां यह चित्रा नाम की विभावना स्वाभाविकता की कल्पना करने से हैं।

स्व० भा०—स्पष्ट है।

(३) विचित्रा

तथैव गीर्भङ्ग्या विचित्रा यथा—

'वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुरव्याजसुन्दरम्।
अकारणरिपुस्तस्या निर्निमित्तं सुहृच्च मे ॥ १७ ॥'

अत्रोत्तरयोर्विरहसमागमादिकारणान्तरविभावनयोः स्वाभाविकीभ्यां प्राग्विभावनाभ्यां यथासंख्यं विशेष उक्तः। सेयं विभावनयैव विभावनायां विशेषोक्तेस्तयैव गीर्भङ्ग्या विचित्रा नाम विभावना भवति ॥

इसी प्रकार से वाग्भङ्गिमा के द्वारा विचित्रता का उदाहरण—

उस सुन्दरी का स्वभावतः सुगन्धित मुख तथा विना किसी अलंकार के भी सुन्दर शरीर मेरा विना कारण का ही शत्रु है तथा विना कारण का ही मित्र है ॥ १७ ॥

यहां श्लोक में परवर्ती विरह, संयोग आदि दूसरे कारणों की स्वाभाविक रूप से रहने वाली पहले की कल्पनाओं द्वारा क्रमशः विशेषता कही गई है। यहाँ विभावना के द्वारा ही उक्ति में विशिष्टता की कल्पना करने से उसी वाग्भंगिमा के कारण विचित्रा नाम की विभावना होती है।

स्व० भा०—यहां 'निसर्ग' 'निर्व्याज' 'अकारण', 'निर्निमित्त' आदि पदों द्वारा सौरभ, सौन्दर्य आदि के कारणभूत कर्पूरधारण, भूषणग्रहण आदि कार्यों को व्यावृत्त कर दिया गया है। किन्तु इस पर भी इनके परिणाम निर्दिष्ट ही हैं। इन सुरभित्व आदि पूर्व विभावनाओं के कारण ही बाद में वियोग तथा संयोग-रूप कारण कल्पित किये गये हैं। कारण पूर्ववर्तियों के द्वारा ही उक्त हो सके हैं और विशिष्ट हो सके हैं, अतएव यहां वाग्भङ्गिमा के द्वारा सम्पन्न होने वाली विचित्रा विभावना का उदाहरण है।

दण्डी के काव्यादर्श में इस उदाहरण में पाठान्तर उपलब्ध होता है। उनके अनुसार उदाहरण तथा संगति को सिद्ध करने वाले श्लोक इस प्रकार हैं।

वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुरव्याजसुन्दरम्।
अकारणरिपुश्चन्द्रो निर्निमित्तासुहृत् स्मरः ॥
निसर्गादिपदैरत्र हेतुः साक्षान्निवर्तितः।
उक्तं च सुरभित्वादि फलं तत्सा विभावना ॥ काव्यादर्श २।२०३-४ ॥

भोज तथा दण्डी दोनों के भेदोपभेद निरूपण में किञ्चित् अन्तर होने के कारण उदाहरण तथा उनकी लक्षण-संगति में अन्तर होना स्वाभाविक ही है।

वक्त्रं निसर्गसुरभीति। **तस्या यथोक्ते वक्त्रवपुषी ममाकारणरिपुर्निर्निमित्तं सुहृच्चेत्यन्वयो विवक्षितप्रतीतिलाभाच्च नार्थान्तरैकवाचकत्वलक्षणो दोषः।** यथासंख्यमिति। **तयोरप्येकैकं प्रति संपादनलक्षणविशेषार्पणक्षमत्वात् ॥**

सैवान्यया गीर्भङ्ग्या यथा—

'वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १८ ॥'

अत्रातैलपूराः सुरतप्रदीपा इति स्वाभाविकत्वविभावनायां शेषपदार्थैरविभावनारूपैर्विशेष उक्तः । सेयमन्यया गीर्भङ्ग्या विचित्रा नाम विभावना भवति ॥

वह विचित्रा विभावना ही अन्य वाग्भङ्गिमा द्वारा भी व्यक्त होती है, जैसे—अपनी प्रियतमाओं के साथ रहने वाले वनवासियों के लिये हिमालय पर्वत पर गुफागृहों में अपनी कान्ति बिखेरने वाली ओषधियाँ संभोग के समय रातों में उनके लिये विनातेल से भरे हुये दीप हो जाते हैं ॥ १८ ॥ (कुमारसंभव १।१०)

यहाँ पर 'विना तेल से पूर्ण 'सुरत-प्रदीप' इस स्वाभाविकता की कल्पना होने पर विशेष कल्पना के रूप से रहित शेष पदार्थों द्वारा विशिष्टता का निर्वचन हो जाता है । यह दूसरी ही वाग्भङ्गिमा के कारण विचित्रा नाम की विभावना होती है ।

स्व० भा०—यहाँ 'अतैलपूरसुरतप्रदीप' कहने से स्वाभाविक विभावना स्पष्ट है क्योंकि मिट्टी के दीप तेल से भरे जाते हैं, ओषधियों के नहीं । उनकी प्रकाश-शीलता से ये उक्तियाँ संगत लगती हैं । इन पदों के अतिरिक्त शेष पदों के अर्थों से भी अनिर्वचनीय चमत्कार का अनुभव होता है । अतः यहां विभावना के अतिरिक्त अन्य पदों द्वारा भी विचित्रता का निर्वचन होने से, विचित्रता का दूसरा प्रकार है ।

शेषपदार्थैरिति । **वनितासखत्वादिभिः सुरताद्युपपादकैः ॥**

(३) हेतु अलंकार

क्रियायाः कारणं हेतुः कारको ज्ञापकश्च सः ।
अभावश्चित्रहेतुश्च चतुर्विध इहेष्यते ॥ १२ ॥

क्रिया का कारणहेतु है । वह यहाँ कारक, ज्ञापक, अभाव तथा चित्रहेतु रूप से चार प्रकार का अभीष्ट है ॥ १२ ॥

स्व० भा०—इस परिच्छेद के प्रारम्भ में ही अलंकारों की गणना के समय ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भामह ने हेतु, सूक्ष्म तथा लेश को चमत्कार से रहित मानकर इनको अलंकार परिवार से निरस्त कर दिया था । दण्डी ने इनको स्वीकार किया है और इन्हें वाणी का उत्तम भूषण कहा है—हेतुश्च सूक्ष्मलेशो च वाचामुत्तमभूषणम् ।
कारकज्ञापको हेतू तौ चानेकविधौ यथा ॥ काव्यादर्श २।२३५ ॥

भोजराज का विवेचन दण्डी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, वैज्ञानिक तथा विस्तृत है, यद्यपि अधिकांश उदाहरण तथा लक्षण उन्होंने दण्डी से ही ग्रहण करने की चेष्टा की है । रुद्रट ने काव्यालंकार में कारण तथा कार्य का अभेदनिरूपण होने पर हेतु माना है—

हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद्भवेद् यत्र ।
सोऽलंकारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः ॥ ७।८२ ॥

किन्तु भोज दण्डी के ही निकट हैं।

हेतुप्रतिषेधो विभावनायामुक्तः, अथ हेतुरेव क इत्यपेक्षायां हेतुलक्षणमाह—क्रियायाः कारणं हेतुरिति। उपपत्तौ क्रियायामेव सर्वस्य निमित्तभावो निरूप्यत इत्यभिसंधाय क्रियाया इत्युक्तमिति कश्चित्। तदसत्। द्रव्यगुणक्रियाविषयो हेतुः क्रियामात्रविषयञ्च कारकमिति प्रकीर्णप्रवृत्तौ विभागकरणात्क्रियाग्रहणं चेह निष्फलं स्यात्। तस्माद्यत्र क्रियां प्रत्यवधिभावो निरूप्यते तत्र द्वयीगतिनिमित्तत्वमात्रविवक्षा अवस्तुविवक्षा वा, द्वितीयेऽपि कारकत्वविवक्षा वा। आद्येऽप्याश्रितावधिभावस्य वस्त्वन्तरपरहेतुभावविवक्षा अवस्तुत्वविवक्षा वा। द्वितीयेऽपि कारकत्वक्रियानुबन्धिव्यापारत्वम्। प्रधानक्रियानुकूल-क्रियान्तरसमावेश इति यावत्। तद्द्विविधं शब्दाभिहितम्, अतथाभूतं च। आद्यं कारकविभक्तेर्विषयः, द्वितीयं हेतुविभक्तेः। द्वयमपि च क्रियाविषयमेव। षण्णामपि कारकाणां क्रियाघटितमूर्तित्वात्। अवस्तुभूतं तु निमित्तमभावात्मकतया न विक्रियते। विकाराभावाच्च न क्रियाविशिष्टमतथाभावे। न च कारकमिति तृतीय एव प्रकारः प्रसिद्धकार्यकारणभावविपर्यासेनोपनिबध्यमानो हेतुराश्चर्यकारितया चित्र आरोपितमपि च हेतुत्वं हेतुत्वमेवेति भवति चतुर्थः प्रकारः। बहिरसंभाव्यमानस्यापि कविप्रतिभासंरम्भोत्थाप्यतया चमत्कारविशेषार्पणादक्षुण्णैवालंकारता। यदाह—'को हि प्रतीतिमात्रकाव्ये वस्तुस्थितिं भावयेत्' इति। तदेतत्सर्वमभिसंधाय विभागमाह—कारक इत्यादि।

यः प्रवृत्तिं निवृत्तिं च प्रयुक्तिं चान्तरा विशन्।
उदासीनोऽपि वा कुर्वन्कारकं तत्प्रचक्षते ॥ १३ ॥

(१) कारक

जो प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा प्रयुक्ति (क्रिया) में, भीतर प्रवेश करते हुये अथवा उदासीन-तटस्थ रहकर (उसे) सम्पन्न करे वह कारक कहा जाता है ॥ १३ ॥

स्व० भा०—यहाँ कारक-हेतु की परिभाषा दी गई है और उसके भेदों का भी निरूपण किया गया है। यहाँ कारिका में प्रयुक्त प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा प्रयुक्ति पद विशेष व्याख्यापेक्ष्य हैं। जो है ही नहीं उसका अस्तित्व में आना ही प्रवृत्ति है। जो विद्यमान है उसका अपसरण हो जाना निवृत्ति है। इसी प्रकार जो प्रारब्ध है उसका ज्यों का त्यों सततप्रवाहशील रह जाना प्रयुक्ति है। इस प्रकार किसी अविद्यमान क्रिया को प्रारम्भ करने में, प्रारम्भ को समाप्त करने में तथा प्रचलित को प्रचलन में रहने देने के लिये जो तत्त्व इनके प्रति, विशेष क्रियाशील होकर अथवा दूर रहकर, कारण बनते हैं, उनको कारक-हेतु कहा जाता है। वस्तुतः कारक शब्द की सार्थकता ही क्रियासिद्धि से है।

असतः सत्ता प्रवृत्तिः। सतोऽपगमो निवृत्तिः। प्रवर्तमानस्य प्रवर्तना प्रयुक्तिः। अन्तरा विशन्नुपात्तयुक्तिः। उदासीनोऽतथाभूतः। तेन कारकस्य षट् प्रकाराः॥

तेषु प्रवर्तकः क्रियाविष्टो यथा—

'अयमान्दोलितप्रौढचन्दनद्रुमपल्लवः।
उत्पादयति सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुतः ॥ १९ ॥'

सोऽयं यथोक्तो मलयमारुतः प्रीत्युत्पादनक्रियासमावेशात्प्रवर्तको नाम कारक-हेतुभेदः॥

इनमें से हेतु के प्रवर्तक तथा क्रिया में आविष्ट होने का उदाहरण—

पूर्ण विकसित चन्दनवृक्ष के पत्तों को स्पन्दित करने वाला यह मलयाचल का पवन सबमें आनन्द की उत्पत्ति कर रहा है ॥ १२ ॥ (काव्यादर्श २।२३६)

ऊपरवर्णित स्वरूपवाला मलयपवन आनन्द उत्पादन की क्रिया में समाविष्ट है, अतः यहाँ प्रवर्तक नामक कारकहेतु का भेद है।

स्व० भा०—आचार्य दण्डी के काव्यादर्श (२।२३६) में भी हेतु अलंकार के एक उदाहरण के रूप में यही श्लोक उपलब्ध होता है। उन्होंने इसमें प्रवृत्तिमूलकहेतुत्व का निर्वचन भी इन शब्दों में किया है—

प्रीत्युत्पादनयोग्यस्य रूपस्यात्रोपबृंहणम्।
अलंकारतयोद्दिष्टं निवृत्तावपि तत्समम् ॥ २।२३७ ॥

अर्थात् मलयमारुत द्वारा आनन्दोत्पत्ति में सक्षम वायु का रूप चमत्कारकरूप में उक्त होने से यहाँ हेत्वलंकारता मानी जाती है। भोज ने भी इसमें प्रवृत्तिमूलकता ही स्वीकार की है, इसके साथ ही वह क्रियाविष्टता तथा क्रियानाविष्टता आदि भेद भी हेतु में यथावसर मानते हैं। दण्डी ने उपर्युक्त उदाहरण में हेतु अलंकार माना है, उसका 'प्रवर्तक' भेद भी स्वीकार किया है, किन्तु भोज इनसे एक पद और आगे बढ़कर विवेचन और अधिक सूक्ष्म बना देते हैं। वह यहाँ हेतु को क्रिया में आविष्ट भी स्वीकार करते हैं।

क्रिया में हेतु के समाविष्ट होने का अभिप्राय है वाक्य में वास्तविक कर्ता का क्रिया से साक्षात्सम्बन्ध होना। यह सम्बन्ध साक्षात् प्रायः तभी होता है जब कर्त्ता प्रथमा में ही हो और क्रिया का स्पष्ट ग्रहण हो। तृतीया आदि अवस्थाओं में कर्ता अप्रधान रहता है, अतः क्रिया में समावेश कर्त्ता से भिन्न स्थितियों में नहीं हो पाता। जहाँ कहीं दूसरी विभक्ति में होने पर भी हेतु क्रिया में समाविष्ट स्वीकार किया जाता है वहाँ उसी की प्रधानता स्वीकार करनी चाहिये।

यहाँ मलयमारुत प्रथमा में है और 'प्रीत्युत्पादन' क्रिया से साक्षात् सम्बद्ध है, अतः क्रिया में समाविष्ट है। सम्पत्ति का निरोधक न होने से प्रवर्तकता तो सिद्ध ही है।

स एव क्रियानाविष्टो यथा—

'तस्य राज्ञः प्रभावेण तदुद्यानानि जज्ञिरे।
आर्द्रांशुकप्रवालानामास्पदं सुरशाखिनाम् ॥ २० ॥'

अत्र प्रभावः क्रियायामनिविशमान एव हेतौ तृतीयायां प्रवर्तयति न कर्तरीति क्रियायामनाविष्टकारकहेतुभेदः ॥

उस हेतु की ही क्रिया में अनाविष्टता का उदाहरण—

उस राजा के प्रभाव से उसके उपवन सरस तथा चमकीले पल्लवों से युक्त कल्पवृक्षों के स्थान बन गये अर्थात् उसके उपवन के वृक्ष कल्पवृक्ष के सदृश हो गये ॥ २० ॥ (काव्यादर्श ३।१८०)

इस उदाहरण में 'प्रभाव' पद क्रिया में प्रविष्ट न होता हुआ ही हेत्वर्थ में तृतीया में प्रवृत्त रहा है, न कि कर्ता में, अतः यहाँ क्रिया में अप्रविष्टकारक हेतु का उदाहरण है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में यह स्पष्ट ही लक्षित हो रहा है कि उद्यान में कल्पतरुओं के उतर आने का कारण राजा का प्रभाव ही है, अतः क्रिया का वास्तविक कर्त्ता तो यही है। किन्तु कर्त्ता को अनुक्त करके उसे गौण कर दिया गया और कर्मवाच्य में कर्म 'उद्यानानि' को क्रिया में सीधे प्रविष्ट करा दिया गया है।

सामान्यतः 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' (१।४।५४) के अनुसार कर्त्ता ही प्रमुखतः क्रिया से सम्बद्ध होता है, किन्तु यहाँ "हेतौ" (२।३।२२) सूत्र के अनुसार कर्त्ता को प्रधान कारण के रूप में उपस्थित किया गया है। प्रभावातिशय होने पर भी क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण यहाँ कर्त्ता क्रिया में प्रविष्ट नहीं है।

तस्य राज्ञः प्रभावेणेत्यत्र सदपि कर्तृत्वमविवक्षितं, अतो हेतुमात्रविवक्षायां पाक्षिकी तृतीया भवतीत्याह—हेतौ तृतीयायामिति। **करणभावस्त्वसंभावित एव प्रभावमात्रस्य व्यभिचारात्॥**

निवर्तकः क्रियाविष्टो यथा—

'चन्दनारण्यमाधूय स्पृष्ट्वा मलयनिर्झरान्।
पथिकानां प्रमाथाय पवनोऽयमुपस्थितः॥ २१॥'

अत्रैवंविधस्य पवनस्य पथिकप्रमाथसाधनक्रियायां कर्तृत्वेनावेशान्निवर्तको नामायमाविष्टक्रियः कारकहेतुभेदः॥

निवर्तक हेतु की क्रिया में अविष्ट दशा का उदाहरण—

चन्दन के वनों को प्रकम्पित करके अर्थात् उनके स्पर्श से सुगन्धित होकर मलयगिरि के स्रोतों का स्पर्श करते हुये यह पवन पथिकों को मार डालने के लिए आ पहुँचा॥ २१॥

यहाँ पर इन गुणों से सम्पन्न पवन की पथिकों के प्रणाश को सिद्ध करने वाली क्रिया में कर्त्ता के रूप से प्रविष्टि होने के कारण यह श्लोक निवर्तक नामक आविष्टक्रिया कारकहेतु का उदाहरण है।

स्व० भा०—यहाँ पर प्रधान क्रिया क्तप्रत्ययान्त 'उपस्थितः' पद है। इसके कर्ता के रूप में 'पवनः' है जो पथिकों के प्रमाथ का कारण है। अनपेक्षित अथवा अनिष्टकर कृत्यों का साधक हेतु यहाँ निवर्तक कहा गया है। अतः पथिकप्रमाथरूप अनिष्ट-कर्म की सिद्धि करने के कारण पवन यहाँ निवर्तक है, तथा क्रिया से साक्षात् सम्बद्ध होने के कारण क्रियाविष्ट है। दण्डी के शब्दों में—

अभावसाधनायालमेवंभूतो हि मारुतः।
विरहज्वरसंभूतमनोज्ञारोचके जने॥ २।२३९॥

प्रमाथसाधनक्रियायां कर्तृत्वेनेति निष्ठाप्रत्ययेनोपात्तेनेति भावः॥

स एव क्रियानाविष्टो यथा—

'प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्नसमागमः।
वाष्पस्तु न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि॥ २२॥'

अत्र समागमनिवृत्तावनिविशमानः प्रजागरस्तृतीयार्थे पञ्चमीं प्रयोजयति। वाष्पः पुनर्दानक्रियावेशाद्दर्शनक्रियायामनाविशन्कर्मसंबन्धात्तामप्रधानभावेन चोपगृह्णातीत्यनाविष्टक्रियो नाम निवर्तकोऽयं कारकहेतुभेदः॥

निवर्तक कारकहेतु के ही क्रिया में अनाविष्ट होने का उदाहरण—

जाग पड़ने से प्रेयसी की स्वप्न में होने वाली प्राप्ति अधूरी रह गई तथा ये आंसू चित्र में लिखित भी उसको देखने नहीं देते॥ २२॥

इस श्लोक में समागम की निवृत्ति क्रिया में प्रविष्ट न होता हुआ भी प्रजागर तृतीया के अर्थ

में पञ्चमी विभक्ति में प्रयुक्त हो रहा है। पुनः 'बाष्प' पद 'दान' क्रिया में आविष्ट होने के कारण दर्शन क्रिया में आविष्ट न होता हुआ कर्म से सम्बद्ध होने से उसको अप्रधान रूप से ग्रहण करता है। अतः यह श्लोक अनाविष्टक्रिया नामक निवर्तक कारकहेतु के भेद का उदाहरण है।

स्व० भा०—इस उदाहरण की वृत्ति कुछ अधिक विस्तृत हो गई है। यह निवर्तक का उदाहरण तो है ही, अतः समागम का भङ्ग हो जाना और चित्रलिखित प्रेयसी का भी दर्शन न कर पाना ये दो अनिष्ट कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। यहाँ पूर्वार्ध में प्रयुक्त खिलीभूतत्व का कारण प्रजागर है जो पञ्चमी में है प्रथमा में नहीं। ऐसा होने से इसका साक्षात्सन्निवेश क्रिया में नहीं हो पाता। उत्तरार्ध में अदर्शन क्रिया का हेतु बाष्प ही है, जो प्रथमा में होने के कारण मुख्य क्रिया 'ददाति' का कर्त्ता है। अतः यह दर्शन क्रिया में आविष्ट नहीं हो सका। यहाँ लक्षणपूर्णतः उपयुक्त है, क्योंकि 'द्रष्टुं' का सम्बन्ध कर्म 'चित्रगतां ताम्' है, और बाष्प उस क्रिया को अप्रधान रूप से ही ग्रहण कर पा रहा है।

खिलीभावो निवृत्तिः। तृतीयार्थं इति। हेतावधित्वाप्रतीतेरपादानभावेन संभावितः। दानक्रियेति। स्यादत्र दर्शनक्रियासमावेशो यदि दानक्रियावेशः स्यात्। स एव तु नास्ति नञा निषेधादित्यर्थः॥

प्रयोजकः क्रियाविष्टो यथा—

> 'तस्मिञ्जीवति दुर्धर्षे हतमप्यहतं बलम्।
> हनूमत्युज्झितप्राणे जीवन्तोऽपि मृता वयम्॥ २३॥'

अत्र बलप्रत्युज्जीवनमरणक्रिययोः सप्तमीवाच्यनैमित्तिकाधिकरणकारकभावेन हनूमानाविशन्प्रयोजको भवतीति क्रियाविष्टोऽयं प्रयोजको नाम कारकहेतुभेदः॥

प्रयोजक क्रियाविष्ट का उदाहरण—

उस दुर्धर्ष हनुमान् के जीवित रहते हत हो जाने पर भी सेना अक्षत ही है, किन्तु उसके प्राण छोड़ देने पर तो जीवित रहते हुये भी हम मृत ही हैं॥ २३॥ (हनुमन्नाटक १३।८)

इस श्लोक में सेना के पुनरुज्जीवन तथा मरण दोनों क्रियाओं में, सप्तमी विभक्ति के द्वारा कथित नैमित्तिक अधिकरण कारक होने के कारण, हनुमान् प्रविष्ट होते हुये प्रयोजक बनते हैं। अतः यह क्रियाविष्ट-प्रयोजक नाम के कारक-हेतु के भेद का उदाहरण है।

स्व० भा०—भेद निरूपण प्रसंग में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रवर्तमान् की प्रवृत्ति होते रहना प्रयुक्ति है। यहाँ पर जीवित रहने पर जीवित रहने तथा प्राण त्याग देने पर मृत हो जाने के प्रसंग से भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों क्रियाओं की प्रयुक्ति है। हनुमान् पद पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में सप्तमी एकवचन में है, अतः उसकी अवस्था अधिकरण कारक है। यह सप्तमी विभक्ति की 'ङि' यहाँ 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्" (२।३।३७) के अनुसार न होकर "निमित्तात् कर्मयोगे, वार्तिक के अनुसार हुई है, यद्यपि हमें इस वार्तिक का साक्षात् अर्थ फलहेतुक ही नहीं लेना चाहिये, जैसा कि सिद्धान्तकौमुदी में—'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' आदि उदाहरणों में प्रदर्शित किया गया है।

सामानाधिकरण्य होने से हनुमान् ही जीवन तथा 'मृति' रूप क्रियाओं के प्रयोजक हैं और उनमें समाविष्ट भी हैं। अतः इस श्लोक को क्रियाविष्ट प्रयोजक नाम का कारक-हेतु-भेद समझना चाहिये। नैमित्तिक सप्तमी होने से हनुमान् में हेतुत्व सिद्ध हो जाता है।

तस्मिञ्जीवतीति । जीवनमरणयोर्बलस्यैव स्वातन्त्र्यं हनूमान्प्रयोजयति । प्रयोजकता चास्य ते एव 'जीवत्युज्झितप्राणे' इति पदाभ्यामुपात्ता । कतमत्कारकमिदं भवतीत्याह—सप्तमीवाच्येति । ननु च—'अङ्गुल्यग्रे मदकलघटांदर्शयन्तीव धूर्ता' इत्यादौ काल्पनिकादावपि सप्तमीभावात्कथं कारकतेत्यत आह—नैमित्तिकेति । अन्यस्यासंभवादिति भावः ॥

स एव क्रियानाविष्टो यथा—

'मानयोग्यां करोमीति प्रियस्थानस्थितां सखीम् ।
बाला भ्रूभङ्गजिह्माक्षी पश्यति स्फुरिताधरा ॥ २४ ॥'

अत्र मानाभ्यासक्रियाया भ्रूभङ्गजिह्माक्षिप्रेक्षणादिरूपाया आत्मन्येवात्मनः समावेशो न भवतीति क्रियानाविष्टोऽयमितिशब्दाभिधेयप्रयोजको नाम कारकहेतुभेदः ॥

प्रयोजक के ही क्रियानाविष्ट रूप का उदाहरण—

'मैं अपने को मान करने में समर्थ बनाती हूँ' ऐसा सोचकर (कोई मान करने का अभ्यास कर रही) नवोढ़ा प्रिय की जगह पर स्थित अपनी सखी को भौंहें मटका कर, नेत्रों को टेढ़ा करती हुई प्रकम्पित अधरों से युक्त होकर देखती है ॥ २४ ॥ (काव्यादर्श २।२४३)

इस श्लोक में भ्रूभङ्ग, कुटिल नयनों से देखना आदि मान के अभ्यास की क्रिया का अपने में ही अपना समावेश संभव न हो सकेगा । अतः यह क्रियानाविष्ट 'इति' शब्दाभिधेय प्रयोजक नामक कारकहेतु का भेद होगा ।

स्व० भा०—यहाँ पर सखी में क्रिया के कारण कोई विशिष्टता नहीं आई है । बाला मानाभ्यास करने में स्वतन्त्र है, वह भ्रूविक्षेप तथा कटाक्षपात आदि कर सकती है । प्रथमा में होने से तथा कर्तृवाच्य होने से 'बाला' 'पश्यति' क्रिया का कर्त्ता तो है, किन्तु प्रधान क्रिया 'करोमि' का नहीं । यह 'करोमि' की प्रयोजिका नहीं है, क्योंकि 'इति' शब्द से यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि यह किसी का कहा गया वाक्य है जो किसी सन्दर्भ की ओर संकेत करता है । वस्तुतः 'करोमि' का कर्ता तो 'निगूढ' 'अहं' है । अतः यहाँ क्रियावेश न होने पर भी बाला पद 'पश्यति' का हेतु है ।

मानयोग्यामिति । भ्रूभङ्गजिह्मास्फुरिताधरादिप्रेक्षणारूपायां मानाभ्यासक्रियायामपि बालायाः स्वातन्त्र्यं, तादृशीं तु तामिति शब्दनिर्देश्योऽभिप्रायविशेषः प्रयुङ्क्ते । तस्य तु न क्रियान्तरमुपात्तम् । उपात्तायास्तु मानक्रियायाः स्वात्मनि समावेशोऽनुपपन्नः । अभिप्रायोऽपि हि व्यापारप्रचयरूपक्रियान्तर्भूत एव । यदाह महाभाष्यकारः—'यत् किंचित्तदभिसंधिपूर्वकं प्रेषणमध्येषणं वा तत्सर्वं पच्यर्थं' इति । स्मरणादिकं चास्य व्यापारः संभवतीत्यतो नाकारकत्वं वाच्यम् । तदेतदभिसंधायाह—आत्मन्येवात्मन इति ॥

ज्ञापक हेतु

**द्वितीया च तृतीया च चतुर्थी सप्तमी च यम् ।
क्रियानाविष्टमाचष्टे लक्षणं ज्ञापकश्च सः ॥ १४ ॥**

द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी तथा सप्तमी विभक्तियाँ जिस क्रिया में अनाविष्ट लक्षण को प्रकट करें वह ज्ञापक हेतु है ॥ १४ ॥

स्व० भा०—हेतुओं के अन्य प्रकार आगे निरूपित किये जायेंगे। यहाँ ज्ञापक हेतु का निरूपण किया जा रहा है और कारक हेतु समाप्त हो चुका हैं। कारक तथा ज्ञापक का अन्तर स्वतः स्पष्ट है। किसी असिद्ध कार्य के प्रति कारकत्ता होती है, तथा किसी सिद्ध पदार्थ की स्पष्टता अथवा प्रकटता के लिये ज्ञापकता।

द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी तथा सप्तमी में कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनसे विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न पदार्थों का रूप स्पष्ट होता है। ये लक्षण स्वयं क्रिया में प्रविष्ट नहीं होते हैं। इन उपयोगी सूत्रों का विवरण यथावसर प्रस्तुत किया जायेगा।

स द्वितीयावाच्यो यथा—

'तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः॥ २५॥'

अत्र क्रियानाविष्टतयैवेन्दुमत्यां महीपतीनां शृङ्गारचेष्टा भवन्त्यो लक्ष्यन्ते। सोऽयं लक्षणहेतुः प्रतिना योगे द्वितीयामुत्पादयति॥

द्वितीया से वाच्य उस (ज्ञापक) का उदाहरण—

उस इन्दुमती के प्रति अपनी कामनाओं को व्यक्त करने वाले राजाओं की प्रेम की अग्रदूतियाँ वृक्षों की पत्रच्छटा की तरह, अनेक प्रकार की शृङ्गार की चेष्टायें होने लगी॥ २५॥

यहाँ पर क्रिया में प्रवेश किये विना ही इन्दुमती के लिये राजाओं की प्रेमव्यञ्जक क्रियायें होती हुई दिखाई गई हैं। यह लक्षण-हेतु 'प्रति' के योग में द्वितीया विभक्ति को उत्पन्न कर रहा है।

स्व० भा०—अनु, अभि, प्रति, आदि कुछ शब्द कर्म-प्रवचनीय कहे जाते हैं जिनका विशेष-परिस्थितियों तथा अर्थों में प्रयोग होता है। लक्षण का द्योतन करने पर 'अनु' शब्द की कर्म-प्रवचनीय संज्ञा होती है। इसका विधायकसूत्र है—'अनुर्लक्षणे' (१।४।८४।), कर्मप्रवचनीयों के योग में द्वितीया होती है, इसका विधायक सूत्र—'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (२।३।८।) है। यहाँ पर उदाहरण में 'प्रति' शब्द के योग में द्वितीया विभक्ति 'ताम्' में की गई है और यहाँ इस पद का अर्थ है 'वह इन्दुमती जिसके कारण विभिन्न प्रकार की चेष्टायें विभिन्न राजाओं ने की।' अतः इन्दुमती यहाँ पर ज्ञापक-हेतु हुई। हेतुत्व में वस्तुतः तृतीया की अपेक्षा होती है, किन्तु—

'लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" (१।४।९०) के कारण द्वितीया हुई।

इह पञ्चैव लक्षणे विभक्तयो विहिताः। तद्यथा। 'अनुर्लक्षणे १।४।८४', 'लक्षणेत्थंभूत १।४।९०' इत्यादिना कर्मसंज्ञां विधाय 'कर्मप्रवचनीययुक्ते २।३।८' इति द्वितीया। 'येनाङ्गविकारः २।३।२०', 'इत्थंभूतलक्षणे २।३।२१' इत्येताभ्यां तृतीया। 'उत्पातेन ज्ञापिते च १।४।४४ वा०' इति चतुर्थी। 'यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७' इति सप्तमी। 'षष्ठी चानादरे २।३।३८' इति षष्ठी। तदेतदाह—द्वितीया चेति। षष्ठीमग्रे वक्ष्यति। 'षष्ठी चानादरे २।३।३८' इति सूत्रे चकारस्य समुच्चेयतया न प्रधाना सेति नात्र तुल्यकक्षतया गणिता। क्रियानाविष्टं स्वव्यापारशून्यं तटस्थमेव यद्बुध्याप्रियते, तेन कारकाद्भेदः। अत्र हि क्रियानाविष्टस्यैव इन्दुमत्यामितीन्दुमतीमालम्बनविभावीकृत्य विधीयमानाः

शृङ्गारचेष्टास्तयैवावच्छिद्यन्ते, तदवस्था एव च लक्ष्यन्ते, ततो भवति हेतुत्वं लक्षणत्वमवधित्वं चेति। ननु कथमत्र द्वितीया, यावता हेतुत्वात्तृतीयया भवितव्यमित्यत आह—द्वितीयामिति। नाप्राप्तायां तृतीयायामियं विधीयमाना बलवती तां बाधत इत्यर्थः॥

तृतीयावाच्यमित्थंभूतलक्षणं यथा—

'कण्ठे कालः करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः।
जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीद्वृषध्वजः॥ २६॥'

अत्र कण्ठेकाल इत्यादीनि क्रियायामनिविशमानान्येव वृषध्वजं ज्ञापयन्ति यथा जटाभिस्तापस इति॥

तृतीया विभक्ति के द्वारा वाच्य इत्थंभूतलक्षण—यह ऐसा स्वरूप से ही है ऐसे लक्षण—का उदाहरण—

कण्ठ में काले, चिकनी एवं अरुण जटाओं से संयुक्त, मस्तक पर चन्द्रधारी भगवान् शिव हाथ में कपाल के साथ प्रकट हुये॥ २६॥ (काव्यादर्श २।१२)

यहाँ पर 'कण्ठेकाल' इत्यादि क्रिया में विना आविष्ट हुये ही वृषध्वज शंकर को लक्षित करते हैं, जैसे कि 'जटाभिस्तापसः'—"जटाओं से तपस्वी लगता है"—आदि (प्रसिद्ध प्रयोगों में देखा जाता है।)

स्व० भा०—उपर्युक्त उदाहरण में प्रथमा तथा तृतीया विभक्तियों के पद हैं। इनमें से जो प्रथमान्त 'कण्ठे कालः' आदि पद हैं वे वृषध्वज शिव की विशेषताओं को प्रकट करते हैं, साथ ही तृतीयान्त 'करस्थेन कपालेन' तथा 'जटाभिः स्निग्धताम्राभिः' आदि उनके स्वरूप का ही ज्ञापन कराते हैं। यहाँ तृतीया विभक्ति की प्राप्ति 'इत्थंभूतलक्षणे' (२।३।२१) से हुई है जिसका अर्थ है—'किसी विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त पदार्थ के लक्षणों में तृतीया विभक्ति होती है।'

वृत्ति में उदाहृत 'जटाभिस्तापसः' प्रयोग सिद्धान्तकौमुदी में इसी सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में है। अतः यह उदाहरण संस्कृतज्ञों में अत्यन्त प्रसिद्ध है। यहाँ कहने का अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार 'जटाभिस्तापसः' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध प्रयोगों में तृतीया तथावत् लक्षणों के ज्ञापन के लिये है, उसी प्रकार यहाँ भी तृतीयान्त आदि पदों का प्रयोग लक्षणद्योतनार्थ ही हुआ है। ये पद क्रिया में प्रविष्ट नहीं हैं। वस्तुतः क्रिया में प्रविष्ट पद तो विशेष्य 'वृषध्वजः' है।

कण्ठे काल इत्यादीनीति। यद्यपि कपालेन जटाभिरित्येवोदाहरणं तथापि प्रसङ्गादितरद्व्याख्यानं ज्ञापकत्वम्। उभयत्रापि तुल्यविभक्तिवाच्यतायां तु विशेषः। तेनान्योऽप्येवंजातीयो लक्षणप्रकारः स्वयमूहनीय इत्युक्तं भवति, यद्वक्ष्यति 'उपलक्षणं चैतत्' इत्यादिना। उक्तमेव प्रसिद्धोदाहरणेन द्रढयति—यथा जटाभिरिति। यथाहीत्थंभूतस्य तेनैव प्रकारेण प्रकारवतो लक्षणं जटा भवन्ति तथेहापि कपालादिकमिति भावः॥

तृतीयावाच्य एवाङ्गविकारलक्षणं यथा—

'स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः॥ २७॥'

अत्र वपुषा चतुर्भुजो, मुखेन त्रिलोचनस्तेजसा रविरित्यङ्गविकारैरङ्गिनो विकृतिर्लक्ष्यते यथाक्ष्णा काण इति॥

तृतीया विभक्ति के द्वारा ही अभिधेय अङ्गविकार-लक्षण का उदाहरण—

(नारद जी शिशुपाल के विषय में कह रहे हैं कि) वह जब बाल्यावस्था में था तभी शरीर से चतुर्भुजी लगता था और पूर्णचन्द्र के सदृश मुख से वह त्रिलोचन प्रतीत होता था। युवावस्था को प्राप्त होने पर वह अपने हाथ से बड़े-बड़े राजाओं को भी पटक दिया करता था। इस समय तो निःसन्देह वह प्रताप से सूर्य ही हो गया है ॥ २७ ॥ (शिशु० १।७०)

यहाँ पर श्लोक में 'वपुषा चतुर्भुजः', 'मुखेन त्रिलोचनः', 'तेजसा रविः' में अङ्ग के विकारों से अङ्गी अर्थात् शरीरी की विकृति लक्षित होती है जैसे 'आंख से काना'—अक्ष्णा काणः' उदाहरण में।

स्व० भा०—पाणिनि के सूत्र "येनाङ्गविकारः" (२।३।२०) से विकृत अङ्ग के द्वारा शरीरी (व्यक्ति) का विकार प्रकट करने का विधान है। पाणिनि के सूत्र में प्रयुक्त 'अङ्ग' पद अवयव का नहीं अपितु अवयवी का ज्ञापक है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अङ्गवाचक शब्द में तृतीया होनी चाहिये, न कि अङ्गीवाचक में, जैसे 'अक्ष्णा काणः' में। उपर्युक्त श्लोक में, 'मुखेन त्रिलोचनः' को ही किसी दशा में इसके अनुसार प्रयुक्त कह सकते हैं, 'वपुष्' स्वयं 'शरीर' का पर्याय है और 'तेजसा' अङ्गवाचक नहीं है। अतः यहाँ विकार अवश्य वर्णित है, किन्तु उस सूत्र के कारण तृतीया न समझ कर 'इत्थंभूत' ही समझना चाहिये। यहाँ उदाहरण में प्रयुक्त तृतीयान्त पद क्रिया में समाविष्ट नहीं हो रहे हैं। ये तृतीयान्त पदों द्वारा वाच्य पद गुण, लक्षण आदि के वाचक हैं. अतः विशिष्टताज्ञान के हेतु हैं।

तृतीयावाच्य एवेति। **सूत्रेऽङ्गपदेनाङ्गी लक्ष्यते। तस्य च संबन्धिनियमादङ्गवाचिनस्तृतीया भवति। अङ्गं च द्विविधमाजानिकमौपचारिकं च द्वयमपीह विवक्षितं विकारादिकं चेत्थंभूतलक्षणमेवेदम्। अत एव सूत्रक्रमो नादृत इत्याशयवान्व्याचष्टे**—अत्र वपुषेति। **विकृतिरवस्थान्तरप्राप्तिः ॥**

चतुर्थीवाच्यमुत्पातलक्षणं यथा—

'गोनासाय नियोजितागदरजाः सर्पाय बद्धौषधिः
कण्ठस्थाय विषाय वीर्यमहिते पाणौ मणीन्बिभ्रती।
भर्तुर्भूतगणाय गोत्रजरतीनिर्दिष्टमन्त्राक्षरा
रक्षत्वद्रिसुता विवाहसमये प्रीता च भीता च वः ॥ २८ ॥'

अत्र गौर्या विवाहमङ्गलानौचित्येनोत्पातरूपैरगदरजोनियोगादिभिर्भगवद्गता गोनासादयो ज्ञाप्यन्ते, यथा 'वाताय कपिला विद्युदिति'। ततश्चोत्पातेन ज्ञापिते चेति सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वात्तादर्थ्य इव लक्ष्यवाचिनश्चतुर्थी न लक्षणवाचिनः। तृतीयाविषयापहारादेकयैव च विभक्त्योभयगतस्यापि संबन्धस्य 'राज्ञः पुरुष' इतिवदुक्तत्वात्तृतीयापि न भवति ॥

चतुर्थी के द्वारा वाच्य उत्पात के लक्षणों का निदर्शन—

अपने पति शिव के साथ रहने वाले गोनास नामक विषधरों से बचने के लिये निर्विष करने वाली दवाइयों के कणों की व्यवस्था की हुई, सर्पों से बचाव के लिये ओषधियों को बाँधे हुई, कण्ठ में स्थित उग्र विष के लिये हाथ में मणियों को धारण करती हुई, भूतप्रेतादि के लिये कुल की वृद्धाओं द्वारा बतलाये गये मन्त्र के अक्षरों को जाननेवाली अपने पाणिग्रहण के समय प्रसन्नता के साथ ही डरी हुई भी पार्वती आप लोगों की रक्षा करें ॥ २८ ॥ (वि० शा० भ० १।३)

यहाँ पर गौरी के विवाहकालीन माङ्गलिक कृत्यों के प्रतिकूल धारण किये गये उत्पातरूपी विषहारी पदार्थों के कणादि के संचय अथवा लेप आदि के द्वारा शंकरगत गोनास आदि सूचित किये जाते हैं, जिस प्रकार कि "वाताय कपिला विद्युत्' आदि प्रसङ्गों में वातादि उत्पात विद्युत् की कपिलता आदि के द्वारा ज्ञापित होता है। इसके बाद उससे 'उत्पातेन ज्ञापिते च' इस सूत्र के अनुसार सम्बन्ध के दोनों ओर स्थित होने से तदर्थता की भाँति अर्थात् 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' के जैसी लक्ष्यवाचक पद को चतुर्थी हुई, न कि लक्षणवाचक पद को। तृतीया के विषय का प्रसङ्ग न होने से एक ही विभक्ति के द्वारा उभयगत सम्बन्ध का 'राज्ञः पुरुषः, के निदर्शन की भाँति, उक्त होने से तृतीया भी नहीं होती है।

स्व० भा०—कई सूत्रों का निर्देश होने से इस विषय का वृत्तिभाग कुछ अस्पष्ट हो गया है। उदाहरण में चतुर्थ्यन्त पदों के प्रयोग का आधार 'उत्पातेन ज्ञापिते च' वार्तिक को स्वीकार किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि 'वाताय कपिला विद्युत्' आदि उदाहरणों में जो चतुर्थी की गई है उससे यह ज्ञात होता है कि उत्पात के द्वारा जो ज्ञात होता है उसमें चतुर्थी होती है, ऐसी दशा में तो यह लक्षण ही उपर्युक्त श्लोक के चतुर्थ्यन्त पदों में प्रवृत्त नहीं हो पाता, क्योंकि उत्पातवाचक गोनास, रूप आदि ही में चतुर्थी प्रयुक्त हुई है। किन्तु ग्रन्थकार इस वार्तिक की परिभाषा को और भी शिथिल कर देते हैं जिसके अनुसार इनको इससे केवल लक्ष्यलक्षणभाव अभीष्ट है, अन्य बातें नहीं। इस सन्दर्भ में जिसके कारण विधान किया जाता है, वही लक्ष्य के रूप में अभीष्ट है। अब पुनः प्रश्न उठता है कि लक्षणवाचक में ही चतुर्थी हो यह कैसे सिद्ध होता है? इसका भी समाधान इस रूप में है कि जिस प्रकार 'तादर्थ्ये चतुर्थीवाच्या' वार्तिक के द्वारा कार्य तथा कारण दोनों के उपस्थित रहने पर, जैसे—कङ्कणाय कनकम् में—केवल कार्यवाचक में ही चतुर्थी होती है, न कि कारणवाचक पद में, उसी प्रकार लक्ष्यभूत लक्षण में ही यहाँ भी चतुर्थी अभीष्ट है, न कि कार्य में। अब पुनः शंका हो सकती है कि जब लक्षण में ही विभक्ति-विधान करना विहित है, तब तो कारण होने से तृतीया होनी चाहिये, न कि चतुर्थी। इसका समाधान इस प्रकार संभव है कि जिस प्रकार सम्बन्ध कारक में दोनों ही सम्बन्धी अभीष्ट होते हैं, किन्तु एक ही पद में षष्ठी करके—राज्ञः पुरुषः की भाँति—कार्य सम्पन्न कर लिया जाता है, उसी प्रकार उभयत्र सम्बन्ध होने पर भी केवल लक्षण में चतुर्थी कर ली जाती है और अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। यहाँ तृतीया इसलिये नहीं है, क्योंकि यहाँ 'कर्तृकरणयोः तृतीया' (२।३।१८) के ही द्वारा सम्भावना हो सकती थी, वह भी कर्ता के अनुक्त होने पर, किन्तु ऐसी दशा है नहीं। यहाँ कर्ता 'अद्रिसुता' उक्त है, अनुक्त नहीं। कर्ता के उक्त होने से तृतीया का विषय समाप्त हो जाता है।

अगदनियोजन, ओषधिबन्धन आदि पदार्थों का प्रयोग विवाह काल के उचित नहीं, वस्तुतः वह तो समय है, समस्त माङ्गलिक पदार्थों तथा आभूषणों को धारण करने का। इसीलिए इनको अनुचित कहा गया है।

गोनासायेति। **ननूत्पातेनाविष्टेन यज्ज्ञाप्यते तत्र चतुर्थीति लक्षणमेवास्यावाच्यं प्रतिभाति, नैतत्। लक्ष्यलक्षणभावोऽसावभिधीयते न तु लक्ष्ये। ततश्च यतो विधीयते तस्य लक्षणीयतामर्थादितरस्य लक्षणतां बोधयतीति। अगदरजःप्रभृतयस्तु कथममङ्गलरूपा इत्यवशिष्यते। तत्राह—अत्र गौर्या इत्यादि। ननु तथापि लक्षणवाचिन एवं चतुर्थीति कथमवसितमित्यत आह—ततश्चेति। यथा तादर्थ्यस्योभयनिष्ठत्वेऽपि कङ्कणाय कनकमित्यत्र कार्यवाचिन एव चतुर्थी न तु कारणवाचिनः, तथेहापि संबन्धस्योभयाश्रय-**

त्वेऽपि लक्ष्यवाचिन एव चतुर्थी न तु लक्षणवाचिन इत्यर्थः। तर्हि तृतीया कथं न भवतीत्यत आह—एकयैव चेति। संबन्धस्य संबन्धिनावेव विशेषस्तेन लक्षणमपि चतुर्थ्यैव प्रतिपादयत्यत आह—उक्तार्थत्वात्कथं तृतीया न भवतीति शुद्धप्रातिपदिकार्थाभिधाने प्रथमेति भावः॥

सप्तमीवाच्यं भावलक्षणं यथा—

'इति शासति सेनान्यां गच्छतस्ताननेकधा।
निषिध्य हसता किंचित्तस्थे तत्रान्धकारिणा॥ २९॥'

अत्र सेनान्यः पलायमानगणानुशासनक्रिययाऽन्धकारेः स्वप्रकाशनक्रिया लक्ष्यते। यथा—'गोषु दुह्यमानासु गतः' इति। उपलक्षणं चैतत्। तेनान्यदपि भावलक्षणं शत्राद्यभिधेयमुपलक्ष्यते, यथात्रैव हसता तस्थ इति॥

सप्तमी विभक्ति के द्वारा वाच्य भावलक्षण का उदाहरण—

उन भाग रहे सैनिकों को अनेक प्रकार से कार्तिकेय के द्वारा इस तरह अनुशासन देने के बाद वहीं हँसते हुये शिव जी कुछ क्षण के लिये सेना को रोक कर खड़े हो गये॥ २९॥

(किरात० १५।२९)

यहाँ सेनानी स्कन्द की भाग रही सेना को दी गयी आदेश क्रिया के द्वारा अन्धकारि शिव की अपने को प्रकट करने की क्रिया लक्षित हो रही है। जिस प्रकार कि—"गायों के दुह लिये जाने पर वह गया" में। यह तो मात्र निदर्शन है, इससे दूसरे भी भावलक्षण जो शतृ आदि प्रत्ययों के द्वारा भी प्रकट किये जाते हैं, उपलक्षित होते हैं। जैसे कि यहाँ 'हसता तस्थे'—हँसते हुये प्रकट हुये,—में।

स्व० भा०—उपर्युक्त उदाहरण में 'शासति सेनान्यां' सप्तमी विभक्ति में हैं। इनमें सप्तमी की प्रवृत्ति 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) सूत्र के अनुसार हुई है। इसका अर्थ है कि जिस क्रिया के द्वारा दूसरी क्रिया लक्षित होती है उसमें सप्तमी करनी चाहिये। अतः यहाँ 'भाव' पद का अर्थ क्रिया हुआ। उपर्युक्त उदाहरण में स्कन्द द्वारा भाग रही सेना को सम्बोधित करने के पश्चात् शिवजी ने अपना रूप प्रकट किया और उन भगेड़ुओं को रोक रखा। अतः अनुशासन क्रिया के बाद शिव का प्रकटन हुआ। इससे भी एक क्रिया के अनन्तर दूसरी क्रिया की सम्पन्नता ज्ञात होती है। किन्तु भोज ने वृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया है कि सप्तमी विभक्ति तो मात्र एक संकेत है, सप्तमी न होने पर भी यदि कहीं किसी क्रिया से दूसरी क्रिया का ज्ञान होता है तो वहाँ भी भावलक्षणता माननी चाहिये। जैसे कि शतृ आदि प्रत्ययों से बने पदों के द्वारा भी दूसरी क्रिया ज्ञात होती है। जैसे कि—'शयाना भुञ्जते यवना' 'अर्जयन्वसति' 'हरिं पश्यन्मुच्यते' आदि में। उदाहृत श्लोक में भी 'हसता अन्धकारिणा' में 'हसता' पद शतृप्रत्ययान्त है। 'हसता' पद भावबोधक होने से 'अन्धकारिणा' के माध्यम से 'तस्थे' की बाद में निष्पत्ति द्योतित करता है।

द्योतन कर्म होने से यहाँ हेतुत्व तथा लक्षणत्व दोनों ही एक साथ सिद्ध हो रहे हैं। भोज ने सप्तम्यन्त पद का निरूपण करते समय 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' के अत्यन्त प्रचलित उदाहरण को उपस्थित किया है। उनकी शतृप्रत्ययान्त वाली मान्यता—'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (३।२।१२६) सूत्र पर आधारित है। इस सूत्र का अर्थ है—क्रिया के लक्षण अर्थात् परिचायक तथा हेतु इन दोनों अर्थों में वर्तमान धातु से लट् के स्थान पर शतृ तथा शानच् प्रयुक्त होते हैं। यहाँ 'हेतु' शब्द फल तथा कारण दोनों का वाचक है। सिद्धान्त-कौमुदी में इनके उदाहरण भी दिये गये

हैं जो सप्तम्यन्त नहीं है। यद्यपि इस सूत्र का प्रसङ्ग तो आता है 'शतृ-शानच्' आदि के विधान के प्रकरण में, किन्तु आनुषङ्गिकरूप से भावलक्षण की प्राप्ति हो जाने से भोज ने उसका भी लाभ उठा लिया है। भारवि ने (किरात०, १५।२९) यह श्लोक निरोष्ठ्य के उदाहरणस्वरूप लिखा है।

'यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७' इत्यस्य सूत्रस्यार्थस्तु यस्य वस्तुनो भावेन क्रियया वस्त्वन्तरस्य भावः क्रिया लक्ष्यते तद्वचनात्सप्तमीत्यत आह—अत्र सेनान्य इति। 'हसता' तस्य इति लक्षणे शतृविधिः 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ३।२।१२६' इति सूत्रणात्॥

यथा वा—

'यज्वभिः संभृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः।
जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः॥ ३०॥'

इत्यनादरोपाधिके भावलक्षणे षष्ठ्यपि भवतीति॥

अथवा जैसे—

हो रहे यज्ञों में वह कपटी तारकासुर हम लोगों के देखते-देखते ही यजमानों द्वारा प्रदान किये गये द्रव्य को अग्नि के मुख से ही छीन ले जाया करता है—अर्थात् वह हम लोगों को कुछ समझता ही नहीं॥ ३०॥ (कुमारसं० २।४६)

इस प्रकार अनादर सूचक भावलक्षण में षष्ठी भी होती है।

स्व० भा०—तृतीय परिच्छेद की चौदहवीं कारिका में केवल द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी तथा सप्तमी में ज्ञापक लक्षण स्वीकार किया गया था। यहाँ षष्ठी का भी ग्रहण कर रहे हैं। अन्त में ग्रहण का कारण षष्ठी की प्रधान कारकों में गणना न होने से सम्भवतः हुआ है। जिस प्रकार सप्तम्यन्त क्रिया के द्वारा दूसरी क्रिया का ज्ञापन होता है, उसी प्रकार षष्ठ्यन्त पद 'मिषताम्' से भी उत्तरवर्ती क्रिया का ज्ञान होता है। इसीलिये वृत्ति में 'भावलक्षण' पद प्रयुक्त है।

यहाँ सप्तमी के साथ षष्ठी का कारण—"षष्ठी चानादरे" (२।३।३८) है। क्योंकि इसी सूत्र के अनुसार अनादराधिक्य द्योतित होने पर विकल्प से षष्ठी और सप्तमी दोनों विहित हैं। जैसे—'रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्।' आदि में।

अभाव हेतु

अभावः प्रागभावादिभेदेनेह चतुर्विधः।
घटाभावादिभेदात्तु तस्य संख्या न विद्यते॥ १५॥

यहाँ अभाव हेतु प्रागभाव आदि भेदों के अनुसार चार प्रकार का है। घटाभाव आदि के भेदानुसार तो उसकी संख्या ही नहीं है, अर्थात् वह असंख्य है॥ १५॥

स्व० भा०—'अभाव' वैशेषिकदर्शन में एक 'पदार्थ' के रूप में स्वीकृत है। न्याय ने भी उसको स्वीकार किया है। वेदान्त दर्शन के विविध सम्प्रदायों में वह प्रमाण के रूप में भी गृहीत है। विवरण-प्रस्थान के धर्मराज अध्वरीन्द्र आदि इसी के पर्याय के रूप में 'अनुपलब्धि' पद का प्रयोग किये हैं। जैमिनि का अभाव-प्रमाण प्रदर्शित ही किया जा चुका है।

सामान्यतः अभाव चार प्रकार का—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) अन्योन्याभाव, (४) अत्यन्ताभाव—माना जाता है। ये प्रकार अभाव की दशाओं के आधार पर हैं। यदि इनका विभाजन अभाव के प्रतियोगियों अर्थात् विभिन्न पदार्थों को लेकर किया जाये तो भेद

असंख्य हो जायेंगे, क्योंकि वस्तुयें असंख्य हैं। घट, पट, वृक्ष, लेखनी, मनुष्य, वानर, मत्स्य आदि अनन्त वस्तुयें हैं, इसी प्रकार इनके अभाव भी हैं।

अभावसामान्यमभावप्रमाणनिरूपणप्रस्तावे 'असत्ता या पदार्थानाम्' इत्यनेन वक्ष्यति। तेनात्र सामान्यलक्षणं न कृतवान्। स द्विविधस्तादात्म्यप्रतियोगिकः, संसर्गप्रतियोगिकश्च। द्वितीयस्त्रिधा प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावभेदात्। तदाह—प्रागभावादिति। ननु न प्रागभावादिरेकोऽस्ति प्रतियोगिभेदेन भेदादित्यत आह—घटाभावादीति। अनेन रूपेण संख्या नास्त्येव। सामान्यं तु प्रागभावत्वादिकमाश्रित्य चातुर्विध्यम्, सोऽयं तुशब्दस्यार्थः॥

प्रागभाव

तेषु प्रागभावो यथा—

'अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम्।
अनिग्रहेण चाक्षाणां व्यसनं जायते नृणाम्॥ ३१॥'

अत्र विद्यानभ्यासादेः प्रागभावस्य व्यसनादिकारणत्वम्॥

इनमें से प्रागभाव का उदाहरण—

विभिन्न शास्त्रों के अनभ्यास से, ज्ञानियों के असम्पर्क से तथा इन्द्रियों के असंयम से मनुष्यों में व्यसन उत्पन्न हो जाया करता है॥ ३१॥

यहाँ पर विद्या के अनभ्यास आदि प्रागभाव की व्यसन आदि के प्रति कारणता है।

स्व० भा०—जिसका आदि न हो किन्तु अन्त हो तथा जो कार्य की उत्पत्ति के पूर्व रहे उसको न्यायदर्शन में अभाव कहा गया है। अन्नम्भट्ट के शब्दों में—"अनादिः सान्तः प्रागभावः उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य"—(तर्कसंग्रह) है। उदाहृत श्लोक में व्यसनों की उत्पत्ति आदि कार्य हैं, उनके पूर्ववर्ती अनभ्यास आदि उनके कारण हैं। निषेधार्थक 'अन्' उपसर्ग अभाव का द्योतक है। यहाँ प्रागभाव हुआ। द्रष्टव्य काव्यादर्श (२।२४७)।

प्रध्वंसाभावो यथा—

'गतः कामकथोन्मादो गलितो यौवनज्वरः।
गतो मोहश्च्युता तृष्णा कृतं पुण्याश्रमे मनः॥ ३२॥'

अत्र कामकथोन्मादगमनादेः प्रध्वंसाभावस्य पुण्याश्रमानुसन्धानकारणत्वम्॥

प्रध्वंसाभाव का उदाहरण—

काम-कथा का पागलपन जाता रहा, जवानी का ताप भी गल गया, मोह समाप्त हो गया, इच्छाएं छूट गईं, अतः मैंने पुण्य संन्यासाश्रम में मन लगा दिया है॥ ३२॥ (काव्यादर्श २।२४८)

इस श्लोक में कामकथोन्माद का चला जाना आदि प्रध्वंसाभाव की पुण्याश्रम के चिन्तन के प्रति कारणता है, अर्थात् कामकथोन्माद आदि का निर्गमन संन्यासाश्रम में प्रवेश या चिन्तन का कारण है।

स्व० भा०—'सादिरनन्तः प्रध्वंसः। उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य'। यह प्रध्वंसाभाव की सामान्य परिभाषा है। इसका अभिप्राय है कि इस अभाव का आदि होता है किन्तु अन्त नहीं, और यह कार्य की उत्पत्ति के बाद होता है। स्पष्ट है कि यह प्रागभाव का विपरीतरूप है। उदाहरण में कामकथोन्माद की समाप्ति, यौवनज्वर का गलना, मोहभङ्ग, तृष्णाच्छेद आदि प्रध्वंसाभाव रूप है। उन्माद आदि की समाप्ति का प्रारम्भ तो हो गया किन्तु पूर्णविराम होने से अब उसका

अन्त नहीं होगा। यह उन्माद, ज्वर, आदि के समाप्तिरूप कार्य की उत्पत्ति के पश्चात् अथवा उन्माद, ज्वर आदि कार्यों के नाश के पश्चात् उत्पन्न होता है, अतः प्रध्वंसाभाव कहा गया हैं। वैसे प्रध्वंसाभाव का शाब्दिक अर्थ होता है वह अभाव जो कार्य के ध्वंस से अथवा ध्वंस के बाद उपस्थित होता है। इस अर्थानुसार भी प्रध्वंसता सिद्ध होती है। कार्यविशेष अथवा वस्तु-विशेष के अभाव में किसी कार्य अथवा वस्तु की उत्पत्ति होने से उसकी कारणता सिद्ध है।

अनभ्यासेनेति। **यावद्विद्यां नाभ्यस्यन्ति तावन्न धीमद्भिः संसृज्यन्ते, यावच्चाक्षाणि न निगृह्णन्ति तावद्व्यसनमिति विवक्षितम्। तेन नात्यन्ताभावसंकरः। आराध्यास्त्वाहुः-शिक्षापरस्यास्य श्लोकस्याप्यन्यप्रयोजनकतया नात्यन्ताभावसंकरः' इति॥**

अन्योन्याभाव

इतरेतराभावो यथा—

'वनान्यमूनि न गृहाण्येता नद्यो न योषितः।
मृगा इमे न दायादास्तन्मे नन्दति मानसम्॥ ३३॥'

अत्र वनानि अमूनि न गृहाणीत्यादेरितरेतराभावस्य मनःप्रमोदकारणत्वम्॥

इतरेतराभाव का उदाहरण—

ये वन हैं घर नहीं, ये नदियाँ हैं स्त्रियाँ नहीं, ये मृग हैं भागीदार नहीं, अतः मेरा मन प्रसन्न हो रहा है॥ ३३॥

यहाँ पर 'ये वन है गृह नहीं' इत्यादि इतरेतराभाव की मनःप्रमोद के प्रति कारणता सिद्ध है।

स्व० भा०—इस अभाव को अन्योन्याभाव भी कहते हैं। इसमें एक पदार्थ दूसरा नहीं है, इस प्रकार की प्रतीति विवक्षित होती है। पारिभाषिक शब्दों में "तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताकोऽन्योन्याभावः। यथा घटः पटो नेति" इस रूप में अन्नम्भट्ट ने कहा है। उपर्युक्त प्रसङ्ग में वन तथा घर का अन्तर ही मन में प्रसन्नता का कारण है। (द्रष्टव्य काव्यादर्श २।२४९॥)

वनान्यमूनीति। **इदमिदं न भवतीति प्रतीतिसाक्षिक एवान्योन्याभावः। वैधर्म्यं तु भेदाख्यमलंकारान्तरं किञ्चिद्धर्ममन्तर्भाव्यैव स्वरूपस्यापि भेदव्यवहारपात्रता॥**

अत्यन्ताभाव

अत्यन्ताभावो यथा—

'अत्यन्तमसदार्याणामनालोचितचेष्टितम्।
अतस्तेषु विवर्धन्ते निर्विबन्धा विभूतयः॥ ३४॥'

अत्रानालोचितचेष्टितस्यात्यन्ताभावो विभूतीनां निर्विघ्नवृद्धिहेतुः। एतेना-भावाभावोऽपि व्याख्यातः।

अत्यन्ताभाव का उदाहरण—

सज्जनों में अविचारित व्यापारशीलता का पूर्ण अभाव होता है, अतः उनमें अप्रतिहत रूप से सभी सम्पत्तियाँ बढ़ती हैं॥ ३४॥ (काव्यादर्श २।२५०)

इस श्लोक में अनालोचित चेष्टता का आत्यन्तिक अभाव विभूतियों की निर्विघ्न वृद्धि का कारण है। इससे अभावाभाव अर्थात् अभाव का भी अभाव स्पष्ट हो जाता है।

स्व० भा०—उदाहृत श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि विना विचार किये काम का न करना ही सज्जनों की सम्पन्नता का कारण है। न्यायवैशेषिक में—"त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकोऽत्यन्ताऽभावः। यथा भूतले घटो नास्तीति"—कहा गया है। सामान्य शब्दों में अत्यन्ताभाव का अर्थ होता है किसी पदार्थ का पूर्णतः न होना।

अभी तक अभाव का निरूपण किया गया। उपर्युक्त अभाव भाव के प्रतियोगी अर्थात् विपर्यय के बोधक थे। अब अभाव का अभाव निरूपित होगा। 'अभाव' पद संसक्त होने के कारण इनकी भी अभावता तो सिद्ध ही है। यद्यपि 'अभाव का अभाव' इस पदावली का अर्थ 'भाव' होगा, क्योंकि एकसाथ दो निषेधों का अर्थ विध्यात्मक हो जाता है, तथापि साहित्य में उस प्रकार के प्रयोगों से चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार अब तक जितने अभावों की चर्चा हुई है, उतने ही अभावाभाव भी हो सकते हैं। इनमें से कुछ का उदाहरण आगे दिया जा रहा है।

अत्र प्रागभावाभावो यथा—

'उद्यानसहकाराणामनुद्भिन्ना न मञ्जरी।
देयः पथिकनारीणां सतिलः सलिलाञ्जलिः ॥ ३५ ॥'

अत्र वस्तुन उत्पादः प्रागभावाभाव उच्यते। तेनेह सहकारमञ्जरीणामुद्भेदस्य पथिकनारीणां मरणे कारणत्वम् ॥

यहाँ प्रागभावाभाव का उदाहरण है—

उपवन के आम्रवृक्षों की कोई पुष्पगुच्छिका अनखिली नहीं रह गई। अब तो पथिकों की पत्नियों के लिये तिलयुक्त जलाञ्जलि देनी ही पड़ेगी ॥ ३५ ॥

यहाँ पर वस्तु की उत्पत्ति को प्रागभावाभाव कहा जाता है। इसी लिये इस श्लोक में आम्रमञ्जरियों के विकास की पथिकपत्नियों के मरण में कारणता है।

स्व० भा०—यहाँ मञ्जरियों का 'अनुद्भेद' प्रागभाव है तथा उसका न होना प्रागभावाभाव है। 'अनुद्भेद का न होना' उद्भेद का पर्याय है। अतः चतुर्दिक् आम्रमंजरियों का विकसित होना वैभव के साथ वसन्तावतार का सूचक है। ऐसी दशा में जिनके पति पथिक हैं अर्थात् विदेश के लिये प्रस्थान कर दिये हैं, उनका मरण सुनिश्चित है। मञ्जरियों के अनुद्भेद का अभाव विरहिणियों अर्थात् प्रोषितपतिकाओं के मरण का कारण है, अतः यहाँ हेतुत्व समीचीन है (द्रष्टव्य—काव्यादर्श २।२५१॥)।

वस्तुन उत्पाद इति। **भाव एवाभावाभावव्यवहारभूमिः। अभावव्यवहारविषयमात्रस्य च विभागः कृतोऽस्ति। प्रागभावादेः प्रध्वंसादिरूपतेति न न्यूनता विभागवाक्यस्याशङ्कनीया।** तेनेति। **भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायेति न्यायान्मञ्जरीणामुद्भेदस्य कारकतालाभोऽन्यथा वाक्यभेदे न किंचित्स्यात्। प्रागभावात्प्रागभावाभावभङ्ग्या च समस्तमञ्जरीसमुद्भेदेन वसन्तप्रौढिध्वननात्प्रकृतविप्रलम्भपोषः ॥**

प्रध्वंसाभावाभावो यथा—

'पीनश्रोणि गभीरनाभि निभृतं मध्ये भृशोच्चस्तनं
पायाद्वः परिरब्धमब्धिदुहितुः कान्तेन कान्तं वपुः।
स्वावासानुपघातनिर्वृतमनास्तत्कालमीलद्दृशे
यस्मै सोऽच्युतनाभिपद्मवसतिर्वेधाः शिवं ध्यायति ॥ ३६ ॥'

अत्र यथोक्तेन वपुषा योऽयमालिङ्गनेऽपि विधिनिवासनाभिपङ्कजानुपघातः, स इह वस्तुनोऽवस्थानमेव प्रध्वंसाभावाभाव उच्यते। स चेहाच्युतनाभिपङ्कजनिवासिनो विधेर्मनोनिर्वाणकारणं भवति।

प्रध्वंसाभावाभाव का उदाहरण—

सिन्धुपुत्री लक्ष्मी का उनके कान्त विष्णु के द्वारा आलिङ्गित विस्तृत-नितम्ब, गम्भीर-नाभि, कटिभाग में क्षीण और अत्यन्त उन्नत उरोजों से समन्वित सुन्दर शरीर आप लोगों की रक्षा करे, जिस आँख बन्द किये हुये शरीर का विष्णु के नाभिकमल पर निवास करने वाले ब्रह्मा अपने सदन की क्षति की शंका से विमुक्तचित्त होकर शिव अथवा कल्याण का चिन्तन करते हैं ॥ ३६ ॥

यहाँ पर वर्णित रूप वाले शरीर से जो यह आलिंगन करने पर भी ब्रह्मा के आवासभूत नाभिकमल की अक्षति है, वही यहाँ वस्तु का ज्यों का त्यों रह जाना प्रध्वंसाभावाभाव कहा जाता है, और वही यहाँ विष्णु के नाभिकमल में वास करनेवाले विधि के मन में निर्वाण का कारण बनता है।

स्व० भा०—प्रध्वंसाभाव का सीधा सा अर्थ है वह अभाव जो किसी पदार्थ के प्रध्वंस से हो, वैसा न होना तदभाव है। उपर्युक्त उदाहरण में विष्णु तथा लक्ष्मी दोनों के आलिङ्गनपाश में बद्ध हो जाने पर विष्णु के नाभिकमल में उपघात स्वाभाविक था, किन्तु वह यहाँ नहीं स्वीकार किया गया है। ऐसी अवस्था में प्रध्वंस के कारण होने वाला अभाव नहीं सम्पन्न हो रहा है। यही प्रध्वंसाभावाभाव है, क्योंकि स्वावास का अनुपघात ब्रह्मा के मनःप्रसाद का कारण बन रहा है। कारण होने से हेतुता तो सिद्ध ही है।

जिस प्रकार प्रागभावाभाव तथा प्रध्वंसाभावाभाव के उदाहरण दिये गये, उसी प्रकार अन्योन्याभावाभाव तथा अत्यन्ताभावाभाव के भी निदर्शन दिये जा सकते थे, किन्तु भोज ने उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया है। इसी ग्रन्थ की संस्कृत टीका में शेष दोनों के उदाहरण हैं। सामान्य-दर्शन हेतु उनको यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

अन्योन्याभावाभाव का उदाहरण—

अवनिरुदकं तेजो वायुर्नभः शशिभास्करौ
पुरुष इति यत्केचिद्भिन्ना वदन्ति तनूस्तव।
तदनघ वचोवैचित्रीभिर्निरावरणस्य ते
विदधति पयः पूरोन्मीलन्मृषा मिहिरोपमाम् ॥

अत्यन्ताभावाभाव का उदाहरण—

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥

इनके लक्षणादि का विन्यास पाठक स्वयं करें।

· पीनश्रोणीति। निभृतं दुर्लक्ष्यम्। अब्धिदुहितापि सर्वाङ्गीणमाश्लेषमभिलषति भगवानपीति कान्तेन कान्तमित्येताभ्यामभिव्यज्यते, उपलक्षणं चेदम्। तादात्म्यात्यन्ताभावाभावावप्युदाहरणीयौ। यथा—'अवनिरुदकं तेजो वायुर्नभः शशिभास्करौ पुरुष इति यत्केचिद्भिन्ना वदन्ति तनूस्तव। तदनघ वचोवैचित्रीभिर्निरावरणस्य ते विदधति पयःपूरोन्मीलन्मृषा मिहिरोपमाम् ॥' अत्र भिन्न इत्यन्योन्यभावमुपन्यस्य निरावरणस्य मृषेत्येताभ्यां निषेधः। यथा च—'न विद्यते यद्यपि सर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्। श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥' अत्र न विद्यत इत्यत्यन्ताभावमुपन्यस्य कमपीति प्रतिभासत्ताभिधानेन प्रतिषेधः ॥

चित्रहेतु

विदूरकार्यः सहजः कार्यानन्तरजस्तथा ।
युक्तो न युक्त इत्येवमसंख्याश्चित्रहेतवः ॥ १६ ॥
तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयाः ।
कार्याः काव्येषु वैचित्र्यं तथा ते कर्तुमीशते ॥ १७ ॥

विदूरकार्य, सहज, कार्यानन्तरज, युक्त, नयुक्त तथा इसी प्रकार से असंख्य चित्र-हेतु हैं । ये सभी गौणवृत्ति के आश्रित प्रकार, प्रयोग के आधार काव्यों में प्रयुक्त होने चाहिये । इस भांति ये काव्य में चमत्कार पैदा करने में समर्थ होते हैं ॥ १६-१७ ॥

स्व० भा०—जिस प्रकार प्रागभाव आदि अभाव हेतुओं में चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता निहित मानी गई है, उसी प्रकार कार्य तथा कारण में अत्यन्त दूरी होने पर, विभिन्न कालिक व्यवधान होने पर, युक्तता अयुक्तता आदि होने पर भी काव्य में विचित्रता की निष्पत्ति होती है । चित्रहेतु नाम देने का कारण यह है कि कार्यकारण का सम्बन्ध सामान्यतः असंभव प्रतीत होने पर भी यहाँ उनकी संगति सिद्ध कर दी जाती है ।

तेषु विदूरकार्यो यथा—

'अनश्नुवानेन युगोपमानमलब्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन ।
अस्पष्टखड्गत्सरुणापि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥ ३७ ॥'

सोऽयं बाल्य एव नवयौवनकार्यकरणाद्विदूरकार्यो नाम चित्रहेतुः ॥

इनमें से विदूरकार्य का उदाहरण—

(कालिदास रघुवंशी बालक राजा सुदर्शन के प्रताप का निरूपण करते हैं कि—) यद्यपि राजा सुदर्शन की भुजायें जुये की सदृशता नहीं प्राप्त कर सकी थी, वे अभी प्रत्यञ्चा की रगड़ से बनने वाले काले चिह्नों से युक्त भी नहीं हुई थीं, उन्होंने तलवार की मूठ भी नहीं पकड़ी थी, तथापि उनकी भुजा-मात्र से पृथ्वी सुरक्षित थी ॥ ३७ ॥ (रघु० १८।४८)

यह उद्धृत श्लोक विदूरकार्य नामक चित्रहेतु का निदर्शन है क्योंकि यहाँ बाल्यकाल में ही नवयौवन का कार्य सम्पन्न चित्रित है ।

स्व० भा०—विदूरकार्य शब्द उपर्युक्त उदाहरण के अनुसार कालिकदूरता को प्रकट करता है, स्थान की दूरता को नहीं । बाल्यकालीन तथा युवाकालीन कार्यों में बहुत दूरी है, बहुत अन्तर है, किन्तु पूर्वावस्थित कारण बाल्यकालीन प्रवृत्तियाँ युवाकालोचित कार्यों का सम्पादन किये दे रही हैं । इसी से रसिक के मन में चमत्कार का स्फुरण होता है ।

विदूरकार्य इति । **कालान्तरभाव्यवस्थासंपाद्यं प्रागवस्थावत एव कार्यमुपजायमानं यत्रोच्यते स विदूरकार्यस्तच्च कार्यं शक्तिविशेषाधीनमिति बाल्येऽपि प्रभावातिशयदर्शनाद्भुजेनैव रक्षा कृतेति गौणवृत्तिव्यपाश्रयता ॥**

सहजो यथा—

'सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ३८ ॥'

अत्र राज्याभिषेकरिपुमण्डलाक्रमणयोर्हेतुहेतुमद्भावेन सत्यपि पौर्वापर्ये

क्षिप्रकारित्वात्तुल्यमेव कार्यंकारणभावो विवक्षितस्तेन सहजो नामायं चित्रहेतुः॥

सहज का उदाहरण—

मत्तगजराज की भांति चलने वाले उस राजा रघु ने पिता के राज्यसिंहासन तथा सम्पूर्ण शत्रुसमूह दोनों पर एक साथ ही अधिकार कर लिया ॥ ३८ ॥

यहाँ हेतुहेतुमद्भाव—कारण-कार्यभाव—होने से राज्याभिषेक तथा शत्रुसमूह पर अधिकार इन दोनों में पौर्वापर्य होने पर भी अतिशीघ्रसम्पन्नता के कारण-कार्य तथा कारण की उपस्थिति समान अर्थात् समकालिक मान ली गई है। अतः यह सहज नामक चित्रहेतु का निदर्शन है।

स्व० भा०—कारण कार्य का पूर्ववर्ती तथा कार्य कारण का उत्तरवर्ती होता है। यही सामान्य सिद्धान्त है, किन्तु दोनों को एक साथ उपस्थित चित्रित करने पर विचित्रता की अनुभूति स्वाभाविक ही है। राज्य सिंहासन की प्राप्ति शत्रुविजय का कारण है, क्योंकि राजा बनने पर ही शत्रुजय का कर्त्तव्य प्राप्त होता है। इन दोनों में सामान्य स्वीकृत क्रम में पर्याप्त अन्तर होगा, किन्तु यहाँ एक साथ निरूपण होने से विचित्रता है।

सहजः कार्यं सहोत्पत्तिकतया निबद्धः। कारणशक्तिप्रकर्षात्समकालमिव कार्यं प्रतिभासते, तेन हेतुशक्तिप्रकर्षाभिव्यक्तिरत्र मूलम्। 'यदग्रे ददति यथा वा कर्तुमीशते' इति। एवमनन्तरजेऽपि किं कारणं पूर्वमुत कार्यमस्ति स एव व्यङ्ग्यः। युक्तेऽपि कारण-गुणानुविधायि कार्यमसदेवारोप्यते न प्रयुक्तेति तदेव विपरीतमिति गौणवृत्त्याश्रयता॥

कार्यानन्तरजो यथा—

'पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः॥ ३९॥'

अत्र चन्द्रोदयलक्षणाद्धेतोः पूर्वकालमेव रागसागर उदीर्ण इति कार्यस्योदय-लाभः। स इह गुणवृत्त्याश्रयणे हेतावतिशयं पुष्यतीत्ययं कार्यानन्तरजो नाम चित्रहेतुः॥

कार्यानन्तरज चित्रहेतु का उदाहरण—

किरणों को फैला कर चन्द्रबिम्ब तो बाद में उदीर्ण हुआ किन्तु मृगनयनियों का प्रेमसिन्धु तो उसके पूर्व ही उमड़ पड़ा ॥ ३९ ॥ (काव्या० २।२५७)

यहाँ पर चन्द्रोदय रूपी हेतु से पूर्व समय में ही रागसागर उमड़ पड़ना चित्रित है, अतः कार्य की निष्पत्ति प्राप्त है। वह गुणवृत्ति का आश्रय लेने से हेतु में अत्यन्त पुष्ट है। अतः यह कार्यानन्तरज नामक चित्रहेतु का उदाहरण है।

स्व० भा०—चन्द्रोदय सिन्धूदीर्णता का कारण है। सामान्यतः कारण को कार्य के पूर्व ही चित्रित होना चाहिये, किन्तु यहाँ तो क्रम में विपरीतता है। दूसरे रूप में भी चन्द्रबिम्ब के दर्शन से कामाकुलता के आधिक्य की अपेक्षा थी, किन्तु यहाँ भी क्रम विपरीत है। इस विपरीत दशाचित्रण में भी चामत्कारिक अनुभूति हो रही है। मुख्यावृत्ति से कारणकार्य का क्रमविपर्यय होने से अर्थ में अनुपपन्नता हो जाती है, संकेतित अर्थों की परस्पर आकांक्षता तथा आकांक्षापूर्ति की योग्यता दोनों ही बाधित हो जाती है। ऐसी दशा में चन्द्रोदय और चन्द्रमा के किरण-विस्तार को उद्दीपन का चरम विन्दु मान कर उसके उदय की पूर्वकालिक स्थिति को ही प्रेमान्दोलन में समर्थ कहा गया। मुख्यार्थ बाध होने पर भी तद्युक्त अर्थ की निष्पन्नता चित्रहेतुत्व की सिद्धि करती है।

युक्तो यथा—

गुणानुरागमिश्रेण यशसा ते प्रसर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्धकुङ्कुमम् ॥ ४० ॥'

अत्र दिग्वधूमुखेषु ते गुणानुरागः कुंकुमं, यशस्तु चन्दनमित्ययं युक्तो नाम गौणवृत्तिव्यपाश्रयश्चित्रहेतुः।

युक्त का उदाहरण—

गुण के अनुराग से मिश्रित तुम्हारे फैल रहे यश से एकाएक दिशारूपीनायिकाओं के मुख पर अर्धकुङ्कुम लग गया ॥ ४० ॥ का० मी० ६।२७)

यहाँ पर दिग्वधुओं के मुखों पर तुम्हारा गुणानुराग कुङ्कुम है और यश चन्दन है, इस प्रकार यह युक्त नामक गौणवृत्ति पर आश्रित रहने वाला चित्रहेतु है।

स्व० भा०—इस श्लोक में युक्तता का अभिप्राय विषय-सङ्गति से है, वह भी विध्यात्मिका से। कामिनी के शृङ्गार काल में चन्दन के साथ कुङ्कुम का योग समीचीन है। अनुराग की अरुणिमा तथा यश की चन्दन सदृश शुभ्रता दोनों ही परस्पर गुणाधायक हैं।

अनुराग की कुङ्कुमता तथा यश की चन्दनता मुख्यावृत्ति अर्थात् अभिधा व्यापार से सिद्ध होने में कठिनाई होगी। ऐसे स्थलों पर अनुपपत्ति दूर करने के लिये 'आयुर्घृतम्' अथवा 'गौर्वाहीक' की भांति गौणीवृत्ति अर्थात् लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। मुख्या वृत्ति तो जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य रूप अर्थों को एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् प्रकट करती है, किन्तु दूसरे शब्द के गुणाधान के लिये, मुख्यार्थ बाध करके गौणीवृत्ति सहायक होती है।

नयुक्तो यथा—

'न मीलयति पद्मानि न नभोऽप्यवगाहते।
त्वन्मुखेन्दुर्ममासूनां हरणायैव यास्यति ॥ ४१ ॥'

अत्र मुखेन्दोः पद्मनिमीलनादि न युज्यत इति नयुक्तो नाम चित्रहेतुभेदः॥

नन्‍ु व्यक्तिभेदेऽपि हेतोरसंख्यता चेद्विवक्षिता किमेवं शब्देनाधिकेनेत्यत आह—एवं शब्दस्येति।

नयुक्त का उदाहरण—

न तो यह कमलों को ही संकुचित करता है, और न तो आकाश में ही समाहित होता है, अपितु तुम्हारा मुखचन्द्र मेरे प्राणों को हरने के लिये ही उद्यत है ॥ ४१ ॥ (काव्या० २।८३)

यहाँ मुखचन्द्र से कमलोंका संकुचित होना आदि उपयुक्त नहीं हैं, इसी से यह नयुक्त नामक चित्रभेद (का उदाहरण है।)

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक किसी वियोगी के मुख से निकली हुई आह है। इसीलिये अनुपस्थिति में मुखेन्दु की कष्टकारिता सिद्ध होती है। वह विरही यह भूल जाता है कि चन्द्रमा से पद्मनिमीलन, आकाशावगाहन आदि कर्म सम्भव हैं, मुखेन्दु के द्वारा नहीं। अतः 'मुखेन्दु' को निश्चित कर्मों में असमर्थ घोषित करना अनुचित है। इसी अनौचित्य के कारण इस श्लोक में 'नयुक्तता' स्वीकार की गई है।

एव शब्दस्य प्रकारवाचित्वाद्व्यधिकरणादयः प्रयुज्यन्ते॥

व्यधिकरणो यथा—

'सा बाला वयमप्रगल्भवचसः सा स्त्री वयं कातराः
या पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम्।

साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥ ४२ ॥'

अत्राभिव्यक्तमेव व्यधिकरणत्वं कार्यकरणयोः प्रतीयत इत्ययं व्यधिकरणो नाम चित्रहेतुः ॥

'एवं' शब्द के प्रकारवाचक होने से व्यधिकरण आदि प्रयुक्त होते हैं।

व्यधिकरण का उदाहरण—

(किसी सुन्दरी को देखकर कुछ युवक परस्पर चर्चा कर रहे हैं कि) यह बात तो बड़ी ही विचित्र है कि अल्पवयस्का तो है वह सुन्दरी किन्तु अप्रगल्भ हैं वाणी हम लोगों की, नारी तो वह है, किन्तु भयातुर हम हैं, विस्तृत तथा उठे हुये दो-दो उरोजों को धारण वह करती है और थके हुये हैं हम; अत्यन्त गुरु नितम्बों से आक्रान्त वह है किन्तु चलने में असमर्थ हैं हम, इसी प्रकार दोष विद्यमान तो हैं दूसरों में, किन्तु अनिपुण हो गये हैं हम ॥ ४२ ॥ (अमरु० ३०)

यहाँ स्पष्ट ही रूप से कार्य तथा कारण दोनों की व्यधिकरणता प्रतीत होती है। अतः यहाँ व्यधिकरण नामक चित्रहेतु है।

स्व० भा०—इसी परिच्छेद की सोलहवीं कारिका में 'इत्येवमसंख्याश्चित्रहेतवः" कहा गया है। प्रयुक्त 'एवम्' पद की व्याख्या के रूप में ऊपर यह कहा गया है कि स्पष्ट भेद विदूरकार्य, सहज आदि का तो निरूपण हो चुका, अन्य असंख्य भेदों में व्यधिकरणता आदि का ग्रहण हो सकता हैं। 'एवं' पद यहाँ प्रकारवाची है अर्थात् उसका अर्थ है 'इसी प्रकार के असंख्य भेद हैं चित्रहेतुओं के'। उसी का उल्लेख ऊपर वृत्ति में हैं।

कार्य तथा कारण की भिन्नदेशता को व्यधिकरणता कहते हैं। दूसरे शब्दों में सामानाधिकरण्य—एक आधार का न होना ही व्यधिकरणता है। वह तो स्पष्ट ही है, क्योंकि अप्रगल्भता, कातरता, खिन्नता, गमनाशक्यता तथा 'अपाटव' दोष सुन्दरी में अपेक्षित थे, किन्तु उनकी उपस्थिति दूरस्थ युवकों में दिखलाई गई है। भिन्नदेशता होने पर भी कारणता होने से हेतुत्व तो है ही। व्यधिकरणता में भी हेतुत्व होने से चित्रता स्वतः उत्पन्न हो जाती है।

एवं शब्दस्येति। प्रकारस्योपाधेरेव भेदो विवक्षितो न तु व्यक्तिमात्रस्येति भावः। सा बालेति। बाल्यादीनां सामानाधिकरण्य एव प्रागल्भ्यादिकं प्रति हेतुभावः प्रतीतः स इह गौणवृत्तिव्यपाश्रयतयोपनिबध्यमानः कान्तिमावहति। तथाहि। अन्यत्प्रागल्भ्यं बालायाः सरलालोकितवाङ्मिश्रणाद्यसामर्थ्यलक्षणम्, अन्यच्च नायकप्रकाण्डे कथमेषां नियन्त्रणा स्यादित्यनध्यवसायलक्षणम्। तयोश्च तद्भावापत्तिरत्र व्यक्तैव। एवं कातरत्वादौ बोध्यम्। आदिग्रहणेन स्वहेतुकतया कार्यहेतुकतया चोपनिबध्यमानः संकलितो भवति ॥

हेतोरनन्तरं तद्विपरीतमहेतुं लक्षयन्नाह—

वस्तुनो वा स्वभावेन शक्तेर्वा हानिहेतुना।
अकृतात्मीयकार्यः स्यादहेतुर्व्याहतस्तु यः ॥ १८ ॥

(४) अहेतु अलङ्कार

वस्तु के स्वभाव के कारण अथवा शक्ति के हानिहेतु के कारण (जब कार्यसिद्धि नहीं होती है) तब अहेतु होता है। वह अकृतात्मीयकार्य तथा व्याहत (दो प्रकार) का होता है ॥ १८ ॥

स्व० भा०—हेतु के बाद अहेतु अलङ्कार का विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्, आदि नियमों के अनुसार तृतीया आदि विभक्तियों में अन्त

होने वाले पदों द्वारा हेतुता व्यक्त हो जाती थी, उसी प्रकार उनके होते हुये भी कार्यसिद्धि नहीं होने पर अहेतुता भी होगी।

वस्तुन इति। हेतुतया प्रतीतोऽपि कार्यं न करोतीत्यभिधीयमानोऽहेतुः। स द्विविधः। स्वरूपेण कार्यव्यभिचारी, व्यापारविरोधेन वा। तथाभूतोऽपि च कार्यं न करोति। तत्र द्वयं निबन्धनं यद्धुतं कार्यमुपजनयितव्यं तस्य वस्तुनः स्वभावो हेतुत्वाभिमतस्य शक्तिहानिर्वा। सापि द्विधा—आत्यन्तिकोऽभावः, प्रतिबन्धमात्रं वा। तत्र वस्तुस्वभावेन शक्तेरत्यन्तासत्त्वेन च द्विरूपस्वरूपाव्यभिचारीकृतात्मीकार्य इत्यनेनोक्तम्, वस्तुस्वभावेन शक्तिप्रतिबन्धेन च द्विप्रकारोऽपि च व्यापाराव्यभिचारी व्याहतः, इत्यनेन यद्यपि शक्तिरत्यन्तासत्त्वे हेतुभाव एव न भवति, तथापि गुणवृत्त्या हेतुभावाध्यासो बोद्धव्यः। सा च गुणवृत्तिः श्लेषोपहितान्यादृशी भवति।

ननु चात्र चेष्टाया हेतुत्वं तृतीयया प्रतीयत इति सा हेतुत्वेन वक्तुमुचितेत्यत आह—

अत्र वस्तुस्वभावेनाकृतकार्यो यथा—

'न विरचिता ललाटतटलास्यकरी भ्रुकुटि-
र्न परुषहुङ्कृतेन मधुरस्मितमन्तरितम्।
न तव निशुम्भसंभ्रमवशादपि दारुणया
भगवति चेष्टया कलुषितं वदनाम्बुरुहम्॥ ४३॥

अत्र निशुम्भसंभ्रमस्य हेतोरनुत्पादितभ्रुकुट्यादिदारुणचेष्टाद्वारेण भगवतीमुखाम्बुरुहकालुष्यस्य करणे यदसामर्थ्यं तत्र तन्मुखाख्यस्य वस्तुनः स्वभावो निमित्तमिति स्वभावादनुत्पादितकार्योऽयमहेतुः॥

इनमें से वस्तु के स्वभाव के कारण ही अकृत-कार्य का उदाहरण—

हे भगवती, निशुम्भ दैत्य के संभ्रम के कारण भीषण चेष्टायें करने पर भी तुम्हारा मुखकमल तनिक भी कलुषित नहीं हुआ, क्योंकि न तो भ्रुकुटि ही भालतट पर नाची और न कठोर हुङ्कारों से मृदु मुस्कान में ही बाधा आई॥ ४३॥

यहाँ पर निशुम्भ के संभ्रम रूप हेतु की अनुत्पन्न भ्रुकुटी आदि की कठोर चेष्टाओं के द्वारा भगवती के मुखकमल में कालुष्य उत्पन्न करने में जो असमर्थता है वहाँ उनके मुख रूप वस्तु का स्वभाव हां कारण है। इस प्रकार यह स्वभाव से अनुत्पादितकार्यरूप अहेतु अलंकार का निदर्शन है।

स्व० भा०—यहाँ पर यह स्पष्ट किया गया है कि कहीं-कहीं किसी कार्य का कारण उपस्थित होने पर भी विकार की अनुत्पत्ति का कारण वस्तु का प्राकृतिक स्वरूप ही होता है। ऐसी दशा में अहेतु नामक अलङ्कार होता है। निशुम्भ से युद्ध करते समय कठोर आघात करने के कारण भगवती के मुख पर भ्रुकुटि की वक्रता, कठोर हुङ्कार आदि अपेक्षित था, किन्तु सर्वदा सुप्रसन्नता देवी के मुखकमल का स्वभाव है। अतः स्वभाव के कारण विकृतिकार्य सम्पन्न नहीं हुआ। 'संभ्रमात्' में पंचमी विभक्ति कारणता का निर्देश करने के लिये ही प्रयुक्त हुई है।

अत्र निशुम्भेति। भ्रुकुट्यादिदारुणचेष्टाद्वारेणेति। अन्यथा निशुम्भसंभ्रमवशादिति पञ्चमी असंगता स्यादिति भावः।

स एव शक्तेर्हानिहेतुना यथा—

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ।। ४४ ।।'

अत्रानुरागवत्त्वतत्पुरःसरत्वयोः समागमहेत्वोः सामर्थ्यविघाते दैवगतिः कारणमिति शक्तेर्हानिहेतुनायमकृतस्वकार्यो नामाहेतुः ।।

उसी की 'शक्ति की हानि-हेतुता' का उदाहरण—

संध्या अनुराग से परिपूर्ण है और दिन भी उसके आगे ही है, किन्तु नियति की रीति कितनी विचित्र है कि इस पर भी दोनों का समागम नहीं होता ।। ४४ ।।

यहाँ पर प्रेमपूर्णता तथा पुरःसरता रूपी समागम के दोनों कारणों की सामर्थ्य क्षीण करने में दैव की गति कारण है। इस लिये यहाँ शक्ति की हानि का कारण होने से यह अकृतस्वकार्य नामक अहेतु का उदाहरण है।

स्व० भा०—प्रेमी तथा प्रेमिका के समागम में दोनों की परस्पर प्रीति तथा सन्निधि कारण हैं। यहाँ संध्या तथा दिवस दोनों में ये दोनों कारण विद्यमान है, किन्तु इन कारणों को मिला देने की शक्ति को समाप्त करने का हेतु 'दैवगति' विद्यमान होने से कार्यसिद्धि नही हो पाती। कारण के होने पर भी कार्य सिद्धि न होने से उसकी अकारणता-अहेतुता तो स्वतः सिद्ध है। जिससे कोई कार्य सम्पन्न ही नहीं होगा वह कारण कैसे हो सकता है।

अनुरागो लौहित्यं प्रीतिश्च । पुरःसरोऽग्रे गमनशीलः संनिधौ स्थितश्च ॥

वस्तुनः स्वभावेन व्याहतो यथा—

'नीवीबन्धोच्छ्वसनशिथिलं यत्र यक्षाङ्गनानां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु ।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखगतान्प्राप्य रत्नप्रदीपान्-
ह्रीमूढानां भवति विफलः प्रेरणाचूर्णमुष्टिः ।। ४५ ।।'

अत्र रत्नप्रदीपनिर्वापणे चूर्णमुष्टेरपत्यक्तस्वरूपस्यापि विघाते रत्नप्रदीपाख्यवस्तुस्वभावः कारणमित्ययं वस्तुस्वभावेन व्याहतो नाम अहेतुभूतः ।।

वस्तु के स्वभाव से ही व्याहतता का उदाहरण—

जहाँ पर प्रेमावेश के कारण काँपते हुये हाथों से प्रेमीजन जब नीवीबन्ध के खुलने से शिथिल क्षौमवस्त्र को हटाने लगते हैं, उस समय संकोच के कारण ऊँची-ऊँची लौ वाले, सामने रखे हुये रत्नदीपों पर उनको दबा देने के लिये यक्षांगनायें कुङ्कुम को मुट्ठी में भर कर उन पर फेकती हैं, किन्तु उनका ढकने का प्रयास विफल हो जाया करता है ।। ४५ ।। (मे०दू० २।५)

यहाँ पर रत्नों के दीपों को बुझाने में चूर्णमुष्टि को, अपना स्वरूप न छोड़ने पर भी निष्फल हो जाने में रत्नप्रदीप रूप वस्तु का स्वभाव ही कारण है। इस प्रकार यह वस्तु के स्वभाव से ही अवरुद्ध हो गये अहेतु नामक अलंकार का उदाहरण है।

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि चूर्णमुष्टि डाल देने पर रत्नप्रदीपों को ढक जाना चाहिये और ढकने से चारो ओर प्रकाश नहीं होना चाहिये किन्तु उनकी विफलता इस बात को द्योतित करती है कि रत्नदीप जलते ही रहे, उनका प्रकाश फैलता ही रहा। यहाँ प्रकाश फैलने की क्रिया रत्नों के स्वभावतः अत्यन्त ज्योतिष्मान होने से तथा कुङ्कुम कणों

से न बुझपाने से, होती जा रही है। अतः यहाँ व्याहतता होने पर भी प्रकाशविस्तार सम्भव होने से वस्तुस्वभावतः व्याहत का उदाहरण है।

स एव शक्तेर्हानिहेतुना यथा—

'शंभोरुद्धतनृत्यकर्मणि करे कङ्कालमाद्यं हरेः
संघट्टस्फुटितेन्दुमण्डलगलत्पीयूषसंजीवितम्।
तत्कालप्रणते मुरद्विषि नवे दृष्ट्वा विलासं श्रियः
कुर्वत्कोपकषायितेन मनसा मिथ्योत्प्लुतिः पातु वः॥ ४६॥'

अत्र कोपकषायितेन मनसस्तस्योत्प्लुतिकरणसमर्थस्यापीश्वरकरग्रहणान्मिथ्यापदाभिधीयमानः प्रतीतो व्याघातस्ततोऽयं शक्तेर्हानिहेतुना व्याहतो नाम हेतुभेदः॥

शक्ति की हानि के हेतु द्वारा होने वाले व्याहत का उदाहरण—

ताण्डवनृत्य के समय आदि हरि का शम्भु के हाथ में विद्यमान कङ्काल टक्कर के कारण स्फुटित चन्द्रबिम्ब से बह उठे अमृत से जीवित हो गया। उस समय लक्ष्मी की शृङ्गारपूर्ण चेष्टाओं को देख कर नवीन मुरारि के प्रणत हो जाने पर किये जा रहे क्रोध के कारण कलुषित मन से उनकी होने वाली झूठी कूदफांद आप लोगों की रक्षा करे॥ ४६॥

यहाँ पर कोप से कषायित मन वाले उनकी उछाल करने की शक्ति का भी शिव के हाथ में ग्रहण किये रहने के कारण मिथ्यापद से उक्त हो रहा व्याघात प्रकट हो रहा है। इससे यह शक्ति की हानि के हेतु से होने वाले व्याहत नाम का अहेतु का भेद है।

स्व० भा०—उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अकृतकार्य अहेतु में कार्य निष्पन्न ही नहीं होता है, जब कि व्याहत भेद के अन्तर्गत कार्य में व्याघात मात्र होता है, कार्य की पूर्ण असिद्धि नहीं। वस्तु के स्वभाव से होने वाली कार्यासिद्धि अथवा व्याहतता में किसी वस्तु का मौलिक स्वरूप ही बाधक होता है जब कि शक्ति की हानि की कारणता की दशा में कोई भिन्न वस्तु ही कारण की शक्ति की हानि कर देती है।

शम्भोरिति। अमृतसेकजीवितकङ्कालशक्तिप्रतिबन्धे को हेतुरत आह—

ईश्वरकरग्रहणादिति। ननु कोपकषायितमनस्त्वमुत्पादितकार्यमेव कथमन्यथा कुर्वदित्युच्यतेऽत आह—मिथ्यापदेति॥

इह कैश्चित्कारणमाला पृथगलंकार इत्युक्तम्, पूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति हेतुभावोक्तिस्तल्लक्षणम्। स द्विविधोऽभिधीयमानः प्रतीयमानो वा। उभयथापि नाहेतोर्व्यतिरिच्यत इत्याह—

यस्तु कारणमालेति हेतुसंतान उच्यते।
पृथक्पृथगसामर्थ्यात्सोऽप्यहेतोर्न भिद्यते॥ १९॥
एकोऽभिधीयमानेषु हेतुत्वेषु भवेत्तयोः।
प्रतीयमानेष्वपरः कारणत्वेषु जायते॥ २०॥

जो कारणों की परम्परा कारणमाला कही जाती है, वह भी पृथक्-पृथक् समर्थ न होने से

अहेतु से भिन्न नहीं है। इसके दो भेदों में से एक तो हेतुओं के अभिहित होने पर होता है और दूसरा हेतुओं के प्रतीयमान होने पर सम्पन्न हो जाता है ॥ १९-२० ॥

स्व० भा०—कारणमाला अलंकार में हेतुओं का संग्रह होता है और पूर्व-पूर्व को उत्तर-उत्तर का कारण बतलाया जाता है। ऐसी अवस्था में अन्तिम लक्ष्य के प्रति सभी कारणों की पृथक्-पृथक् हेतुता-साधनता—नहीं सिद्ध होती है। अतः उसे कारणमाला नहीं कहना चाहिये। यह हेतु संतान कहीं तो शब्दों द्वारा स्पष्ट उक्त होता है और कहीं केवल अनुमान का विषय होता है।

भोजराज अलङ्कार निरूपण में प्रायः दण्डी के अधिक निकट दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु भामह, दण्डी और वामन इन तीनों ने स्वतन्त्र अलंकार के रूप में कारणमाला को नहीं स्वीकार किया है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालङ्कार' में इसका उल्लेख किया है। उनके अनुसार—

कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्।
अर्थानां पूर्वार्थाद् भवतीदं सर्वमेवेति ॥ ७।८४ ॥

इसका उदाहरण भी उन्होंने जो दिया है वह भोज के प्रथम उदाहरण से अधिक मिलता-जुलता है—

विनयेन भवति गुणवान् गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः।
अभिगन्यतेऽनुरक्तः ससहायो युज्यते लक्ष्म्या ॥ ७।८५ ॥

भोजराज ने इसी कारणमाला का अन्तर्भाव अहेतु अलङ्कार में किया है।

यस्त्विति। यद्यपि प्रथमस्य प्रथमं हेतुभावो निवृत्त एव तथाप्युत्तरस्य प्रथममुखनिरीक्षणप्रवृत्तस्योत्तरं प्रति हेतुभावोऽभिधीयते। न हि स्वतन्त्रस्यैव हेतुभावे कारणमाला भासते ॥

तदिदमेकदेशद्वारा व्यञ्जयन्नाह—

तयोराद्यो यथा—

'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवाश्च संपदः ॥ ४७ ॥'

अत्र जितेन्द्रियत्वादीनामुत्तरोत्तरं प्रति हेतुभूतानामपि संपदुत्पत्तौ पूर्वपूर्वसव्यपेक्षायां समुदितानामेव कारणत्वं साधनादिपदैरभिधीयत इति सोऽयमभिधीयमानहेतुत्वं कारणमालेत्यहेतुभेदः ॥

इन दोनों—अभिधीयमानहेतुत्व तथा प्रतीयमानहेतुत्व—में से प्रथम का उदाहरण—

इन्द्रिय निग्रह विनय का कारण है, विनय से गुणाधिक्य की प्राप्ति होती है, अधिक गुणों वाले व्यक्ति में लोग अनुरक्त रहते हैं तथा लोगों के अनुरक्त रहने से सम्पत्तियाँ सम्भव होती हैं ॥ ४७ ॥

यहाँ पर जितेन्द्रियत्व आदि के उत्तरोत्तर कार्यों के प्रति कारण होने पर भी संपत्ति की उत्पत्ति में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा होने पर सबकी सम्मिलित रूप से ही कारणता का अभिधान 'साधन' आदि पदों से हो रहा है। इसी लिये यह अभिधीयमानहेतुत्व वाली कारणमाला अहेतु अलंकार है।

स्व० भा०—यहाँ ग्रन्थकार का आशय यह है कि प्रधान लक्ष्य सम्पत्ति की उत्पत्ति है। उसका कारण उदाहरण में प्रयुक्त सभी हेतुवाचक पद से अभिधीयमान पदार्थ सम्मिलित रूप से ही है। पृथक्-पृथक् उनकी कारणता कुछ कार्यों के प्रति सिद्ध हो सकती है, किन्तु प्रधान लक्ष्य

के प्रति पूर्वपूर्व कारणों का एक साथ संघटन आवश्यक होगा। यहाँ पर कारणमालात्व न होकर अनेकों का समुन्दित रूपेण हेतुत्व सिद्ध होता है। अतः जिन पूर्ववर्तियों को कारण कहा जाता है, उनकी अकारणता स्वतः सिद्ध हो जाती है। कारण न रहने पर स्पष्ट है कि वे अहेतु ही है।

द्वितीयो यथा—

'पीणत्तुण दुग्गेज्झं जस्स भुअआअन्तणिट्ठुरपरिग्गहिअम्।
रिट्ठस्स विसमवलिअं कंठं दुक्खेण जीविअं वोलीणम्॥ ४८॥'

[पीनत्वेन दुर्ग्राह्यं यस्य भुजयोरन्तर्निष्ठुरपरिगृहीतम्।
रिष्टस्य विषमवलितं कण्ठं दुःखेन जीवितमतिक्रान्तम्॥]

अत्र जीवितदुःखातिक्रमणे कण्ठस्य वलनं, वलनस्य निष्ठुरग्रहणं, निष्ठुरग्रहणस्यापि पीनत्वेन दुर्ग्राह्यत्वं हेतुरिति प्रतीयमानकारणत्वं कारणमालेत्यहेतुभेदः॥

दूसरे का—प्रतीयमान का उदाहरण—

बहुत मोटा होने के कारण आसानी से पकड़ा न जा सकने वाला, दोनों भुजाओं के बीच में कसकर पकड़ा हुआ कण्ठ बुरी तरह से मुड़ा हुआ था, जिससे उस अभागे घायल के प्राण बड़ी कठिनाई से निकले॥ ४८॥ (रा० व० १।३)

यहाँ पर प्राणों के कष्टपूर्वक निकलने में गले का मुड़ना, मुड़ने का कसकर पकड़ना, तथा कसकर पकड़ने का भी पीनता के कारण कष्ट ग्राह्यत्व हेतु है, इस प्रकार यह प्रतीयमान कारणता वाला कारणमाला नामक अहेतु का भेद है।

स्व० भा०—पूर्व उदाहरण में 'कारण' 'प्रभव' आदि पद तथा 'विनयाद्' आदि में पञ्चमी आदि विभक्तियाँ स्पष्ट रूप से हेतु का निर्देश कर देती हैं, किन्तु द्वितीय उदाहरण में कारण का अनुमान किया जा रहा है, वह साक्षात् कथित नहीं है अपितु प्रतीत होता है। अर्थात् उसके प्राण कष्ट से इसलिये निकले क्योंकि उसका गला मुड़ा हुआ था, वह मुड़ा इस लिये था क्योंकि उसे कसकर पकड़ा गया था, कस कर पकड़ने पर भी मोटाई के कारण दुर्ग्राह्यता थी। इन सभी प्रसङ्गों में कारणता प्रतीत तो हो जाती है किन्तु किसी का भी निर्देश शब्दतः अथवा विभक्तितः नहीं हो रहा है।

अत्र जितेन्द्रियत्वादीनामिति। अत्र जीवितदुःखातिक्रमण इति। यद्यत्र हेतुमाला न स्यात्तदा परस्परानपेक्षायामुपन्यासे वाक्यार्थपोषो(ऽपि) न स्यादिति॥

लक्षणात्मकहेतुविशेषस्य साधर्म्यादनन्तरं सूक्ष्मं लक्षयति—

इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सूक्ष्मः सूक्ष्मगुणात्तु सः।
सूक्ष्मात्प्रत्यक्षतः सूक्ष्मोऽप्रत्यक्ष इति भिद्यते॥ २१॥
वाच्यः प्रतीयमानश्च सूक्ष्मोऽत्र द्विविधो मतः।
इङ्गिताकारलक्ष्यत्वं लक्ष्मसामान्यमेतयोः॥ २२॥

तत्रेङ्गितलक्ष्यमभिधीयमानसूक्ष्मं यथा—

'तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः॥४९॥'

इति। अत्र स्वयंवरमिलितानां राज्ञां राजपुत्रीं प्रति प्राप्तिलक्षणस्य मनोरथस्याभिधीयमानः सूक्ष्मभेदः ॥

(५) सूक्ष्मालङ्कार

संकेत तथा आकार से अर्थ लक्षित होने पर सूक्ष्म अलंकार होता है। इसका सूक्ष्म नाम सूक्ष्मगुण के कारण है अर्थात् सूक्ष्म अर्थ की प्रतीति कराने से इसे सूक्ष्म कहा जाता है। प्रत्यक्ष सूक्ष्मालङ्कार अप्रत्यक्ष होने के कारण भिन्न है। यहाँ पर सूक्ष्म अलंकार वाच्य तथा प्रतीयमान दो प्रकार का माना गया है, यद्यपि इन दोनों का सामान्य लक्षण संकेत तथा आकार को लक्षित करना ही है ॥ २१-२२ ॥

इनमें से संकेत को लक्षित करने वाले वाच्यसूक्ष्म का उदाहरण—

उस इन्दुमती के प्रति अपनी कामनाओं को प्रकट करने वाले राजाओं की प्रेम की सूचना पहले ही देने वाली अनेक प्रकार की विलास चेष्टायें वृक्षों की नव कोपलों के सदृश प्रकट होने लगीं ॥ ४९ ॥ (र० वं० ६।१२)

यहाँ पर स्वयंवर में एकत्र हुये राजाओं के राजपुत्री (इन्दुमती) के पतिप्राप्ति रूप वाच्य मनोरथ के शृङ्गारचेष्टारूपी संकेत से व्यक्त हो जाने के कारण यह इङ्गितलक्ष्य अभिधीयमान नामक सूक्ष्म अलंकार का भेद है।

स्व० भा०—सूक्ष्म अलंकार में वस्तु लक्ष्य ही होता है, कहीं-कहीं संकेत का वाचक शब्द होता है और कहीं-कहीं वह भी नहीं। अर्थ केवल प्रतीत कर लिया जाता है। उदाहरणार्थ इसी उदाहृत श्लोक में शृङ्गार की विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं का वर्णन तो नहीं हुआ है, किन्तु 'शृङ्गारचेष्टा' पद का प्रयोग करके उनकी ओर संकेत अवश्य कर दिया गया है।

कुछ लोग सूक्ष्म अलंकार को 'भाव' नामक अलंकार में अन्तर्भूत कर देते हैं, किन्तु भोज दोनों में अन्तर स्वीकार करते हैं। 'भाव' में वेद्य सूक्ष्म अवश्य होता है किन्तु वह प्रत्यक्ष की भाँति प्रकट होता है, जब कि सूक्ष्म का विषय अप्रत्यक्ष होता है, उसे अनुमान से जाना जाता है, अथवा उसकी कल्पना कर ली जाती है।

भामह तो इसको अलंकार मानते ही नहीं है। रुद्रट के काव्यालंकार में सूक्ष्म की परिभाषा इस प्रकार है—

यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम्।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत्संजायते सूक्ष्मम् ॥ ७।९८ ॥

किन्तु इससे भी स्पष्ट है दण्डी की कारिका जो भोज से अधिक निकट है। उसे एक पाठान्तर भी माना जा सकता है—

इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थ सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ॥ २।२६० ॥

निर्णयसागर से प्रकाशित प्रति में उदाहरण का श्लोक पूरा नहीं दिया गया है, केवल एक ही पाद का उल्लेख है जब कि जीवानन्द विद्यासागर की प्रति में पूरा है। वैसे यह श्लोक इसी ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद (२५वाँ उदाहरण में) आ चुका है।

इङ्गितेति। इङ्गितमाकार इङ्गिताकारौ चेत्यर्थः। शरीरावयवव्यापार इङ्गितम्। रूपादेरन्यथात्वमाकारः। सूक्ष्मार्थदर्शनं सूक्ष्ममित्यर्थगुणेपूक्तं तेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्याह—सूक्ष्मगुणात्तु स इति। हृदयसंवादभागित्रिचतुरहृदयसंवेद्यस्य। अत एवातिसूक्ष्मार्थस्य प्रत्यक्षायमाणत्वात्सूक्ष्मो नामार्थगुणः। यथाहि कवेः प्रतिभा सूक्ष्मविशेषोल्लेखिनी तथा तन्मूलकः शब्दोऽपीति स्फुटाभतया प्रत्यक्षप्रमेयज्ञानमुत्पद्यते। तथाह्यन्योन्यसंवलितेत्यादौ

दम्पत्योर्मिथोऽनुस्मृतिलक्षणस्य प्रेम्णः कतिपयसंवेद्यस्यापि शब्दबलात्प्रत्यक्षायमाणत्वमनुभवसिद्धमेव। तदेतदाह—सूक्ष्मात्प्रत्यक्षत इति। सूक्ष्मालंकारे तु कविप्रतिभाया लिङ्गविषयत्वाच्छब्दोऽपि तद्विषय एव। लिङ्गाच्च प्रतीतिरुत्पद्यमाना सामान्यपुरस्कारेण प्रवृत्ता न प्रत्यक्षवत्तद्विशेषोल्लेखक्षमेति सूक्ष्मगुणवैधर्म्यम्। तदिदमुक्तम्—सूक्ष्मोऽप्रत्यक्ष इति। अत्र कैश्चित्प्रतीयमानस्य सूक्ष्मस्य भाव इति संज्ञां विधायालंकारान्तरमुक्तं तदसत्, सूक्ष्मसामान्यलक्षणेन क्रोडीकरणादित्याह—इङ्गिताकारलक्ष्यत्वमिति। एतेन लक्ष्यत्वपुनरुक्तताशङ्का परिहृता। अत्र स्वयंवरेति। न च शृङ्गारचेष्टाप्रत्यर्पितस्य मनोरथशब्देनाभिधीयमानमर्थं पुनरुक्तमिति वाच्यम्। नहि यथानुरागानुभावेन चित्तवृत्तयः स्फुटा उपस्थाप्यन्ते तथा स्वशब्देनेति विस्तरेण सप्रपञ्चमेव वक्ष्यामः। स्वशब्दस्तु किमर्थमित्यवशिष्यते तत्र ब्रूमः स्वयंवरसमाजप्रवेशादिना येषां सामान्यत उत्कण्ठा प्रतीतिपथमवतीर्णासीत्तेषामिन्दुमतीसंनिधौ तदनुभावबलेनासंख्यसूक्ष्मविशेषवती सैवाभिव्यक्तेति दृढानुबन्धलक्षणस्य प्रेम्णः प्रकर्षकाष्ठां पुष्णाति। एवमन्यत्रापि॥

तदेवाकारलक्ष्यं यथा—

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः॥ ५०॥'

अत्राभिलाषबन्धो रोमाञ्चलक्ष्येण गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदित्यनेनाभिधीयमान आकारलक्ष्यः सूक्ष्मभेदोऽभिहितः॥

सूक्ष्म के ही आकारलक्ष्य का उदाहरण—

वह इन्दुमती उस युवक में होने वाली अपनी आकांक्षाओं की आसक्ति को भद्रता के कारण कह न सकी किन्तु उसकी अभिलाषा उस कुटिल कुन्तलों वाली सुन्दरी की देहयष्टि का भेदन करके रोमाञ्च के बहाने निकल आई॥ ५०॥ (र० वं० ६।८१)

यहाँ पर अभिलाषा का समूह रोमाञ्च के बहाने शरीर को फोड़कर निकल पड़ा, इसवाक्य से अभिधीयमान आकारलक्ष्य नामक सूक्ष्म का भेद कह दिया गया है।

स्व० भा०—भद्रता के कारण जो बातें प्रत्यक्ष रूप से नहीं कही जा सकती हैं, उनको ही दूसरे प्रकार से लक्षित करा दिया जाता है। यहाँ पर ही अपनी प्राप्ति-कामना को इन्दुमती रोमाञ्च से प्रकट कर रही हैं, अर्थात् अपने प्रिय को देखते ही उनको रोमाञ्च हो गया। इस रोमाञ्च से उसका प्रेमातिशय प्रकट होता है। यह प्रकटन शरीर में उत्पन्न हुये व्यापारों से हुआ है, अतः इसको आकारगत लक्ष्यता कहा जायेगा। अभिलाषाओं के समूह का प्रकट होना; वह भी रोमाञ्च के बहाने इस सात्त्विक भाव का उल्लेख कर देने से अभिधीयमानता आ गई।

तदेवोभयलक्ष्यं यथा—

'त्वदर्पितदृशस्तस्या गीतगोष्ठ्यामवर्धत।
उद्दामरागपिशुना छाया कापि मुखाम्बुजे॥ ५१॥'

अत्र त्वदर्पितदृश इति इङ्गितच्छाया कापि मुखाम्बुज इत्याकारस्ताभ्यामुद्दामरागपिशुनेत्यनेनाभिधीयमानस्याननरागस्य सूक्ष्मरूपतया लक्ष्यमाणत्वादयमभिधीयमानोभयलक्ष्यः सूक्ष्मभेदः॥

उसी के इङ्गित तथा आकार दोनों को लक्षित करने का उदाहरण—

संगीत की सभा में तुम पर नयन टिकाए हुई उस नायिका के मुखकमल पर उत्कट अभिलाषा को प्रकट करने वाली एक विचित्र ही छटा थी॥ ५०॥

यहाँ पर 'त्वदर्पितदृश' पद से इङ्गित तथा 'छाया कापि मुखाम्बुजे' से आकार लक्षित है। उन दोनों से 'उद्दामरागपिशुना' इस पद द्वारा उक्त मुख की लाली के सूक्ष्मरूप से लक्षित होने से यह अभिधीयमान उभयलक्ष्य नामक सूक्ष्म का भेद है।

स्व० भा०—इसके पूर्व के उदाहरणों में इङ्गितलक्ष्य तथा आकारलक्ष्य को स्पष्ट किया गया। विभिन्न पदों के द्वारा वहीं उनका अभिधान भी हो चुका है। इस श्लोक में 'इङ्गित' तथा 'आकार' दोनों का उदाहरण एक साथ प्रस्तुत किया गया है। शेष वृत्ति के अनुवाद में ही स्पष्ट है। आगे प्रतीयमान सूक्ष्म के भेदों का निरूपण किया जा रहा है

लक्षणात्मकहेतुविशेषस्य साधर्म्यादनन्तरं सूक्ष्मं लक्षयति—

प्रतीयमानमिङ्गितलक्ष्यं यथा—

'वाहित्ता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एक्कमेक्कम्मि।
अज्जा कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे॥ ५२॥

[व्याहृता प्रतिवचनं न ददाति रुष्यत्येकैकस्मिन्।
आर्या कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे॥]

अत्र प्रतिवचनादानपरिजनप्रकोपाभ्यां प्रदीप्यमाने नदीकच्छे इति हेतुना प्रत्याय्यमानः संकेतकुडङ्गदावोद्भववधूमनस्तापो वाक्यार्थत्वेन लक्षित इत्ययमिङ्गितलक्ष्यः प्रतीयमानः सूक्ष्मभेदः॥

प्रतीयमान इङ्गितलक्ष्य का उदाहरण—

नदी के कूल में आग लग जाने पर कोई नायिका बुलकारने पर भी उत्तर नहीं देती और विना किसी काम के भी किसी सेवक पर रुष्ट हो जाती है॥ ५१॥ (गा. स. ५।१६)

यहाँ पर 'उत्तर के न देने' तथा 'सेवक पर बिगडने' इन दोनों द्वारा 'नदीपुलिन के जल जाने पर' इस कारण से प्रतीत कराया जा रहा संकेतकुञ्ज में दावानल लगने से उत्पन्न वधू के मन का संताप वाक्यार्थ के रूप में लक्षित होता है। अतः यह इङ्गितलक्ष्य प्रतीयमान नामक सूक्ष्म का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ इङ्गित प्रतीयमान है, अभिधेय नहीं, क्योंकि 'उत्तर न देने' तथा 'भृत्य पर रुष्ट होने' की क्रियाओं का कारण नदीकच्छ का जल जाना है। नदीकच्छ के जलने से नायिका के मन को दुःख हुआ और इस दुःख का कारण इस बात की ओर लक्ष्य करता है कि नदीपुलिन के प्रदेश मिलनस्थल हुआ करते थे। ये बातें केवल प्रतीत होती है, इनका अनुमान अथवा अभिव्यक्ति होती है, शब्दतः अभिधान नहीं। अतः यहाँ पर उपर्युक्त लक्षण सहज घटित होता है।

अत्र प्रतिवचनादानमिति। **नहि प्रतिवचनप्रदानाभावमात्रमत्र चमत्कारकारि, तस्मादन्यथापि संभवात्, अतः प्रतिवचनप्रदानाभिप्राया विपरीतचित्तवृत्तिविशेषोन्नायिकासमीपदेशापसरणादिलक्षणा क्रिया काचित्प्रतिवचनाप्रदानपदेनाभिमता। न च प्रकोपोऽप्यनुभवरूपतामनासादयन्स्वादनीयतामासादयतीति नूनं तेनापि भ्रूभङ्गादिरूपा क्रियैवाभिसंहितेत्याशयवतोक्तमिङ्गिताभ्यामिति। यद्येवं तर्हि काव्यशोभानिर्वाहात्किमन्येन लक्षितेनेति। नहि यथोक्तप्रतिवचनाद्यदानप्रकोपाभ्यां कश्चिद्विवक्षितार्थलाभ इति भावः॥**

प्रतीयमानमेवाकारलक्ष्यं यथा—

'सामाइ सामलीए अद्धच्छिप्पलोअमुहसोहा।

जम्बूदलकअकण्णावअंसे भमिरे हलिअउत्ते ।। ५३ ।।
[श्यामायाः श्यामलतया अर्धाक्षिप्रलोक(न)मुखशोभा ।
जम्बूदलकृतकर्णावतंसे भ्रमति हलिकपुत्रे ।।]

अत्रार्धाक्षिप्रलोकनमुखश्यामताभ्यामाकाराभ्यां जम्बूदलकल्पितावतंस इत्यनेन प्रत्याय्यमानः सकेतगमनभ्रंशसंभवः श्यामाया मनस्तापो लक्ष्यत इत्ययमाकारलक्ष्यः प्रतीयमानः सूक्ष्मभेदः ।।

प्रतीयमान का ही आकारलक्ष्य का उदाहरण—

सुन्दरी की, श्यामलता के कारण आधी आँख से देखते समय उद्भूत मुख की छटा जामुन की कोपलों का कर्णभूषण पहने हुये हलवाहे के पुत्र पर घूम रही है ।। ५३ ।।

यहाँ पर 'अर्धाक्षिप्रलोकन' तथा 'मुखश्यामता' रूप दोनों आकारों से जामुन के पत्तों से अवतंस बनाया गया है, इस कारण गुप्तमिलन स्थल पर जाने का काम ठप होने से सुन्दरी के मन का संताप लक्षित होता है । अतः यह आकारलक्ष्य प्रतीयमान नामक सूक्ष्म का भेद है ।

स्व० भा०—आधी आंख से देखना तथा मुख का म्लान पड़ जाना ये दो शारीरिक व्यापार है जिनसे श्यामा नायिका का मनस्ताप ज्ञात होता है । उसके मानसिक संताप का कारण जम्बूदल का अवतंस बनना है । जम्बूदल संकेत स्थल से ही आये होंगे, अतः अब पुनः हलिकपुत्र का वहाँ पहुँच पाना असंभव होगा । यह असंभावना ही दुःख का कारण है ।

किसी स्त्री के लिये निन्दार्थ में प्रयुक्त 'श्यामा' पद उसके काले कलूटेपन का भाव व्यक्त करता है और प्रशंसात्मक अर्थ में—

'शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ।।'

यह श्लोक गाथा सप्तशती के द्वितीय शतक (८०) में आया है, वहाँ पर पाठान्तर है । वही शुद्ध भी लगता है, क्योंकि अभीष्ट भाव की अभिव्यक्ति इसके अर्थ के अनुसार और भी अच्छी होती है । वहां का पाठ निम्नानुसार है—

सामाइ सामलिज्जइ अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा ।
जम्बूदलक अकण्णा अंसभरिए हलिअपुत्ते ।। २।८० ।।
[श्यामामाः श्यामलायतेऽर्धाक्षिप्रलोकनशीलाया मुखशोभा ।
जम्बूदलकृतकर्णावतंसभ्रमणशोले हलिकपुत्रे ।।]

तदेवोभयलक्ष्यं यथा—

'प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किंचिदूचे चरणेन केवल लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ।। ५४ ।।

अत्र चरणेन भूमिलेखनमिङ्गितं दृशोर्बाष्पाकुलत्वमाकारस्ताभ्यां गोत्रस्खलनाद्भवो मानिन्या मनस्तापः प्रतीयमान इतीङ्गिताकारलक्ष्यः सूक्ष्मभेदः ।।

उस प्रतीयमान के ही उभयलक्ष्य—इङ्गित तथा आकारलक्ष्य का उदाहरण—

ऊपर से फूलों को दे रहे प्रिय के द्वारा सपत्नी के नाम से सम्बोधित की गई मानिनी प्रियतमा कुछ बोली नहीं केवल नेत्रों में आँसू भर कर पाँव से धरती कुरेदती रही ।। ५४ ।।

यहाँ पर चरण से भूमि को कुरेदना इङ्गित है, दोनों नेत्रों में आँसू भर जाना आकार है, उन दोनों से गोत्रस्खलन के कारण उत्पन्न मानिनी के मन का संताप प्रतीत होता है। इस प्रकार यह इङ्गित तथा आकार दोनों को प्रकट करने वाला सूक्ष्म का भेद है।

स्व० भा०—स्पष्ट है। यह श्लोक किरातार्जुनीयम्। (८।१४) का है।

विभज्यमानस्य सरूपतया सूचमानन्तरमुत्तरलक्षणमाह—

पदार्थानां तु यः सारस्तदुत्तरमिहोच्यते।
स धर्मधर्मिरूपाभ्यां व्यतिरेकाच्च भिद्यते॥ २३॥

(६) उत्तर अलंकार

(सामान्य) पदार्थों में जो किसी की उत्कृष्टता का द्योतन है, वह काव्य में उत्तर अलङ्कार कहा जाता है। वह धर्म, धर्मी तथा व्यतिरेकरूप से (विभिन्न) प्रकार का है॥ २३॥

स्व० भा०—अनेक पदार्थों में किसी का उत्कृष्ट पदार्थ के रूप में निर्धारण करना 'उत्तर' अलंकार कहा जाता है। 'उत्तर' नाम स्वयं सार्थक है जो उत्कृष्ट से एक कोटि आगे की बात की ओर संकेत करता है। यह उत्तर अलंकार धर्मस्वरूप, धर्मी स्वरूप, धर्मव्यतिरेक, धर्मी-व्यतिरेक, धर्मधर्मीसामान्य तथा धर्मधर्मीविशेष रूप से सब छः प्रकार का आगे कहा गया है।

पदार्थानां त्विति। सारः सर्वस्वायमानमुत्कर्षशालि वस्तु। पदार्थानामिति निर्धारणे षष्ठी। उत्तरमित्यन्वर्थं नाम। उत्कृष्टत्वमुदोऽर्थस्तत्रैव प्रकर्षस्तरपः। धर्मधर्मिरूपाभ्यामिति। व्यस्तसमस्ताभ्याम्। धर्म उपसर्जनं परप्रवणतया प्रतीयमानं वस्तु। अतथाभूतं तु धर्मि-रूपम्। तदयमर्थः—प्रसिद्धवस्तुमध्ये कस्यचिदुत्कर्षतया निर्धारणमुत्तरम्। तत्त्रिधा। धर्मरूपे धर्मिरूपमुभयं च। आद्ययोः प्रत्येकं प्रकारद्वयम्। निर्धार्यमाणस्य शुद्धस्योपादानं, निर्धार्यानुत्तरव्यतिरेकिधर्मवत्तया वा। तदिदमाह—व्यतिरेकाच्चेति। अन्त्यस्यापि सामान्यविशेषरूपतया रूपत्वमिति षट्प्रकारमुत्तरमिति॥

तेषु धर्मस्वरूपं यथा—

'दानं वित्तादृतं वाचः कीर्तिधर्मौ तथायुषः।
परोपकरणं कायादसारात्सारमुद्धरेत्॥ ५५॥'

अत्र दानसत्यकीर्त्यादीनां वित्तादिवस्तुधर्माणां सारभूतानामुद्धारादयं धर्मरूपः सारः॥

इनमें से धर्मस्वरूप का उदाहरण—

धन से दान का, वाणी से सत्य का, आयु से यश तथा धर्म का, शरीर से दूसरों की भलाई का तथा असार से सार का ग्रहण करना चाहिए॥ ५५॥

यहाँ पर सारभूत दान, सत्य, कीर्ति आदि वित्त आदि वस्तुओं के धर्म का ग्रहण करने से यह धर्मरूप सार का उदाहरण है।

स्व० भा०—पदार्थों के आवश्यक गुणों को उनका धर्म भी कहा जाता है। यहाँ पर जिन-जिन पदार्थों की उत्कृष्टता निरूपित है वे सब पदार्थ-विशेष के धर्म ही हैं। अतः धर्मस्वरूप तत्त्वों की उत्कृष्टता यहाँ प्रदर्शित की गई है।

वित्तादिवस्तुधर्माणामिति। पञ्चम्या विभागः। प्रत्यायितः। स च संश्लेषपूर्वक एवेति दानादीनामुपसर्जनताप्रतीतिः॥

धर्मिरूपो यथा—

'मधु विकचसितोत्पलावतंसं शशिकरपल्लवितं च हर्म्यपृष्ठम् ।
मदनजनितविभ्रमा च कान्ता सुखमिदमर्थवतां विभूतयोऽन्याः ॥' ५६ ॥

अत्र मधुप्रभृतीनां विभूतिभ्यः सारभूतानामुद्धरणादयं धर्मिरूपः सारः ॥

धर्मीरूप उत्तर का उदाहरण—

प्रफुल्लित श्वेत कमलों से सुशोभित मधुमास, चन्द्रमा की किरणों से चमकता हुआ छत का ऊपरी भाग, मस्ती के कारण हाव-भाव प्रकट कर रही रमणी ही तो धनवानों के सुख हैं, शेष तो विभूतियाँ हैं ॥ ५५ ॥

यहाँ पर मधु आदि की विभूतियों की अपेक्षा उत्कृष्टता का उद्धरण करने से यह धर्मीरूप सारता है।

स्व० भा०—मधु, हर्म्यपृष्ठ तथा कान्ता ये धर्मी है, यहाँ प्रधान रूप से वर्णित हैं। इनके अतिरिक्त जो सुख के साधन हैं उनको विभूति की संज्ञा देकर उनकी अपकृष्टता सिद्ध की गई।

विभूतिभ्य इति। विभूतयः प्रथमानिर्दिष्टास्तेन पूर्ववन्नामूषां धर्मिभावेन प्रतीतिभा-स्रोऽस्तीति विशिष्टमध्वादिरूपं वस्तुनाङ्गभावेन गम्यत इति।

अथ व्यतिरेकेण धर्मरूपो यथा—

'पोढमहिलाणं जंजं सुसिक्खिअं तं रए सुहावेइ ।
जंजं असिक्खिअं णववहूणं तंतं रइं देइ ॥ ५७ ॥

[प्रौढमहिलानां यद्यत्सुशिक्षितं तद्रतौ सुखयति ।
यद्यदशिक्षितं नववधूनां तत्तद्रतिं ददाति ॥]

अत्र प्रौढानां सुशिक्षितं सुरतकर्म, अप्रौढस्त्रीणां पुनरशिक्षितं सुखयतीति कर्मान्तरलक्षणेभ्यो धर्मेभ्यः सुशिक्षिताशिक्षितरतकर्मलक्षणा धर्माः स्त्रीधर्मा-व्यतिरेकेण प्रतिपाद्यन्त इति धर्मव्यतिरेकरूपोऽयं सारः ॥

अब व्यतिरेक के साथ धर्मरूपता का उदाहरण—

प्रौढ़ रमणियों की जो सुन्दर शिक्षित शिक्षायें हैं वे भोगकाल में सुख देती हैं, तथा नवोढ़ाओं की जो बिना सिखाई पढ़ाई चेष्टायें हैं वे तो रति ही देती है ॥ ५७ ॥

यहाँ पर प्रौढ़ महिलाओं का सुशिक्षित रतिकर्म तथा अप्रौढाओं की अशिक्षित रति सुख देती है, इस निरूपण में सुशिक्षित तथा अशिक्षित रतिकर्मस्वरूप धर्म दूसरे कर्म रूपी धर्मों की अपेक्षा स्त्रीधर्म से बढ़चढ़कर नहीं प्रतिपादित किये जा रहे हैं। इस प्रकार यहाँ धर्मव्यतिरेकरूप सारता है।

स्व० भा०—यहाँ पर रतिकर्म को अन्य स्त्रीधर्मों की भांति ही स्वीकार किया गया हैं। सामान्य रूप से वह सुशिक्षित तथा अशिक्षित दोनों दशाओं में स्त्रीधर्म हैं। किन्तु इन दोनों में ही एक को दूसरे से उत्कृष्ट सिद्ध किया गया है। प्रौढ़ महिलाओं की अभ्यस्त चेष्टाओं से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह नववधुओं के अनभ्यस्त विलासों से भी मिलता ही हैं। इस दशा में तो नववधुओं के विलास प्रौढ़महिलाओं के विलास से उत्कृष्ट हुये। उस उत्कृष्टता के कारण ही यहाँ स्त्रीधर्म रूप आनन्दप्रदता में व्यतिरिक्तता आ जाती है।

अप्रौढस्त्रीणामिति । षष्ठ्या धर्मधर्मिभावोऽभिहितः । तर्हि निर्धारणं कस्मादित्यत आह—कर्मान्तरेति । रत इत्यनेन सामान्यत उपादानात् प्रौढस्त्रीसंबन्धिनो ललितस्य सुशिक्षितत्वं विशेषमुपादाय मुग्धस्त्रीसंबन्धिनोऽशिक्षितत्वं व्यतिरेको विशेष उपात्तः ॥

व्यतिरेकेण धर्मिरूपो यथा—

'राज्ये सारं वसुधा वसुधायां पत्तनं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥ ५८ ॥'

अत्र वसुधादयो धर्मिण उत्तरोत्तरक्रमेण पूर्वतः पूर्वतो व्यतिरिच्यन्त इत्ययं धर्मिव्यतिरेकः सारः ॥

व्यतिरेक के द्वारा धर्मीरूप उत्तर का उदाहरण—

राज्य में उत्कृष्ट पृथ्वी है. पृथ्वी में नगर है, नगरों में चूने से पुते हुये महल हैं, महलों में शय्या है तथा शय्या में कामदेव की सम्पूर्ण निधि स्वरूपिणी सुन्दरी रमणी है ॥ ५८ ॥

यहाँ पर 'वसुधा' आदि धर्मी बाद-बाद में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं, अतः यह धर्मी-व्यतिरेक नामक उत्तर अलंकार हैं ।

स्व० भा०—स्पष्ट हैं । यह श्लोक 'सार' अलंकार के उदाहरण के रूप में रुद्रट के काव्या-लंकार (७।९७) में भी उपलब्ध होता है ।

अत्र वसुधादय इति । निर्धारिताद्वसुधामात्रात्पत्तनवती वसुधा व्यतिरिच्यते । वसुधावत्पत्तनात्सौधवत्पत्तनम् । सौधात्तल्पवत्सौधात्तल्पाद्वराङ्गनावदिति तदिदमुक्तं उत्तरोत्तरक्रमेणेति ॥

एतेन धर्मधर्मिस्वरूपोऽपि व्याख्यातः । स द्विधा । सामान्यतो विशेषतश्च ॥

तत्र सामान्यतो यथा—

'गीतशीतांशुताम्बूलकर्पूरवनितादिभिः ।
असारोऽप्येष संसारः सारवानिव लक्ष्यते ॥ ५९ ॥'

अत्र गीतादीनां जगतः सारभूतानामविशेषेणैव सर्वेषामुपादानाद्धेतुतृतीयान्ततया च संसारसारवत्त्वेऽङ्गभावादयं सामान्यतो धर्मधर्मिरूपः सारः ॥

इस भेद निरूपण के द्वारा धर्मधर्मिस्वरूप भी स्पष्ट कर दिया गया । यह (उभयरूप धर्मधर्मि-स्वरूप उत्तर) दो प्रकार का होता है—सामान्यतः तथा विशेषतः ।

इनमें से सामान्यतः का उदाहरण—

गीत, चन्द्रमा, पान, कपूर, रमणी आदि के कारण निःसार होते हुये भी यह संसार सारयुक्त-सा प्रतीत होने लगता है ॥ ५९ ॥

यहाँ पर संसार के सारभूत गीत आदि का विना विशिष्टता के ही सभी का एक ही साथ ग्रहण होने से तथा कारणार्थ प्रयुक्त तृतीया विभक्त्यन्त प्रयोग होने के कारण जो संसार के सारभूत पदार्थ हैं उनके भी गौण हो जाने से यह सामान्यता को प्रदर्शित करने वाला धर्मधर्मिरूप सार अलंकार है ।

स्व० भा०—किसी भी कार्य की प्रधानता निरूपति करने के लिये प्रायः दो युक्तियाँ काम में लाई जाती हैं । यातो उसका असमस्त रूप से पृथक् निर्देश किया जाता है, अथवा उसे प्रथमा-विभक्ति में रखा जाता है । यहाँ पर गीत, चन्द्र आदि संसार के अत्युत्कृष्ट पदार्थ भी समस्त होने से विशेष न रह कर गौण हो गये हैं । दूसरे इनको तृतीया विभक्त्यन्त पद के रूप में रखा गया

है। तृतीया प्रथमा की अपेक्षा निःसन्देह गौणता द्योतित करती है। यह तो स्पष्ट ही है कि कर्ता की अपेक्षा साधन गौण होते हैं।

अत्र गीतादीनामिति। नहि गीतादौ कश्चिद्विशेष उक्तः। अत एवादिशब्दोऽपि सजीवस्तथापि दध्यादीनामङ्गभावः प्रतीयत इत्यत आह—तृतीयान्ततया चेति। तृतीयया हि कारकत्वमुक्तम्, कारकत्वं च क्रियोपसर्जनरूपमित्यर्थः॥

विशेषता यथा—

'अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः।
मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः॥ ६०॥'

अत्र गङ्गाप्रपातसप्तर्षिपादोदकयोर्विशेषेण सारभूतयोरुपादानाद्धिमवतः पूतत्वे चाङ्गभूतत्वादयं विशेषतो धर्मधर्मिरूपः सारः॥

विशेषतः का उदाहरण—

हे द्विजश्रेष्ठ ऋषियो, मैं अपने को दो ही पदार्थों से तो पवित्र समझता हूँ। (प्रथम तो) सिर पर गंगा के पड़ने से अथवा गंगा के प्रवाह से और (दूसरे) आप महात्माओं के चरणोदक से॥ ६०॥ (कु० सं० ६।५७)

यहाँ पर 'गङ्गाप्रपात' तथा सप्तर्षियों का पादोदक इन दोनों विशेष रूप से उत्कृष्ट पदार्थों का ग्रहण होने से तथा हिमालय की पवित्रता में सहायक होने से यह विशेषतः धर्मधर्मिरूप उत्तर का उदाहरण है।

स्व० भा०—'गंगा का प्रवाह' तथा 'सप्तर्षियों का चरणोदक' दोनों का पृथक्-पृथक् बल देकर अभिधान करने से उनकी उत्कृष्टता सिद्ध होती है। प्रवाह तथा 'अम्भस' का महत्त्व 'गङ्गा' तथा सप्तर्षियों के कारण और भी बढ़ गया है। दूसरी बात यह है कि इनको हिमालय जैसों को पवित्र करने वाला कहने से गरिमा विशिष्ट हो गई है।

अत्र गङ्गाप्रपातेति। प्रपातपादोदकयोर्गङ्गायाः सप्तर्षिभिश्च विशेषितत्वादङ्गतामुपपादयति—हिमवतः पूतत्वे चेति।

व्यतिरेकोत्तरे विरुद्धधर्माक्रान्तिरस्तीति सङ्गत्या विरोधलक्षणमाह—

विरोधस्तु पदार्थानां परस्परमसङ्गतिः।
असङ्गतिः प्रत्यनीकमधिकं विषमश्च सः॥ २४॥

(७) विरोध अलंकार

पद के अर्थों का परस्पर असङ्गत होना—अनन्वित होना—विरोध है। वह असङ्गति, प्रत्यनीक, अधिक तथा विषम (इस चार प्रकार का) होता है॥ २४॥

स्व० भा०—विरोध एक प्रसिद्ध अलंकार है जिसका प्रयोग चमत्कारपूर्ण अर्थ के प्रत्यायन के निमित्त किया जाता है। कारिका में प्रयुक्त 'असङ्गति' का अर्थ पदार्थों में परस्पर अपेक्षाओं की पूर्ति में असमर्थता है—'योग्यता' नामक तत्त्व का अभाव है। दूसरे शब्दों में इसे तात्पर्यानुपपत्ति कहा जा सकता है। जयदेव ने विरोध तथा विरोधाभास दोनों को पृथक्-पृथक् अलंकार माना है। दूसरे आलंकारिकों ने भी इसकी विभिन्न परिभाषायें दी हैं। उन प्राचीन आचार्यों में जिन से भोज प्रभावित दृष्टिगोचर होते है, विरोध विभिन्न अर्थों में आया है। भामह के शब्दों में—

गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियामिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधाः॥

उपान्तरूढोपवनच्छायाशीतापि धूरसौ ।
विदूरदेशानपि वः सन्तापयति विद्विषः ॥ काव्यालंकार ३।२५-६॥

दण्डी ने विरोध की परिभाषा इस प्रकार दी है—

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव स विरोधः स्मृतो यथा ॥ काव्यादर्श २।३३३॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने वस्तुगत, अवयवगत, विषम, असङ्गति तथा श्लेषमूलक विरोध को भी स्वीकार किया है।

आचार्य रुद्रट ने विरोध का लक्षण स्पष्ट दिया है—

यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम् ।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ॥ काव्यालंकार ९।३०॥

इसके अतिरिक्त विरोध के चार सजातीय तथा पाँच विजातीय भेदों को भी स्वीकार किया है। यह अधिक, असंगति तथा विषम को भिन्न अलङ्कार के रूप में मान्यता देते हैं।

विरोधस्त्विति। परस्परमसङ्गतिरसंबन्धः, सहानवस्थानमिति यावत्। तेन सहानवस्थाननियतयोः सहानवस्थानोक्तिर्विरोध इति तात्पर्यम्। संक्षेपः स च प्ररूढो दोषः। अप्ररोहस्तु द्विधा। श्लेषोपधानेनान्यथा चान्यथाभावस्त्रिधा। सहानवस्थितयोः प्रायोदर्शनमात्रेण नैयत्यारोपः। यथा—'क्व युवतिमार्दव' मित्यादौ। विरुद्धधर्मोक्तिविषयस्याचिन्त्यप्रभावातिशयत्वेन प्रसिद्धिर्वा। यथा 'दिग्वासा यदी'त्यादौ। विरोधस्यारोपमात्रेण सरूपतया प्रतिपत्तिमात्रं वा। यथा 'सा उप्पडी'त्यादौ। सर्वश्चायं विरोधोऽभिधीयमानः प्रतीयमानश्च। अथादिशब्देन योऽभिधीयते सोऽभिधीयमानः। प्रतीयमानस्तु तद्भिनाकृतो यथा भट्टबाणस्य 'यत्र मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च गौर्यो विभवरताश्च श्यामाः पद्मरागिण्यश्च धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदिश्वसनाः प्रमदाः' इति। इहान्यैरलंकारकारैरसंगतिप्रत्यनीकाधिकविषमाख्यमलंकारचतुष्टयं विरोधात्पृथग्लक्षितम्। तल्लक्षणानि—'विरुद्धकार्यसंप्राप्तिर्भवेत्तेनैव हेतुना। परिमाणादियोगेन व्यवस्थानमुपेयुषः॥ अव्यवस्थाभिधानं यदधिकं तत्प्रचक्षते। कारणेन विरूपं यत्कार्यमुक्तवदुच्यते॥ आश्चर्यकारि तत्प्राहुर्विषमं शब्दबुद्धयः।' इति। तदेतेषां लक्षणभेदाद्विरोध एवान्तर्भावो न, ह्यवान्तरभङ्गिभेदमात्रेण सामान्यान्तर्भावो न भवतीत्याशयवानाह—असङ्गतिः प्रत्यनीकमिति॥

तेषु विरोधः शुद्धो ग्रथितश्च। तयोराद्यो यथा—

'क्व युवतिमार्दवं क्व च महाहवदारुणता।
क्व च वलयी करः क्व करिदन्तजमुष्टिरसिः।
क्व च नवयौवनं क्व कुसुमायुधनिःस्पृहता
तव ललनाविचेष्टितविरुद्धमहो ललितम्॥ ६०॥

अत्र युवतिमार्दवादीनां महाहवदारुणतादीनां च शुद्धानामेव परस्परमसंगतत्वादयं शुद्धविरोधः॥

इनमें से विरोध शुद्ध तथा ग्रथित (दो प्रकार का है।) इन दोनों में से प्रथम का उदाहरण—

कहाँ तो रमणी की कोमलता और कहाँ महायुद्ध की भीषणता। कहाँ तो कंकण धारण करने वाला हाथ, कहाँ हाथी के दांत की बनी हुई मूठ वाली तलवार। कहाँ तो नई जवानी

और कहाँ कामदेव से तटस्थता ? बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हारे कार्य प्रमदोचित कार्यों से विपरीत हैं ॥६०॥

यहाँ पर युवति की मृदुता आदि तथा महायुद्ध की भीषणता आदि शुद्ध पदार्थों में ही परस्पर असंगति होने से यह शुद्धविरोध है।

स्व० भा०—एक पदार्थ का एक ही पदार्थ से विरोध प्रदर्शन शुद्धता है, और एक का ही अनेक से विरोधी सम्बन्ध स्थापित करना—एक को दूसरे से गूँथ देना-ग्रथितत्व है।

शुद्धानामेवेति। एकेनैव प्रतियोगिना सहानवस्थानोक्तौ विरोधनिर्वाहात् ॥

द्वितीयो यथा—

'दिग्वासा यदि तत्किमस्य धनुषा शस्त्रस्य किं भस्मना
भस्माथास्य किमङ्गना यदि च सा कामं परिद्वेष्टि किम्।
इत्यन्योन्यविरुद्धचेष्टितमिदं पश्यन्निजस्वामिनो
भृङ्गीसान्द्रशिरावनद्धपरुषं धत्तेऽस्थिशेषं वपुः॥ ६१॥'

अत्र दिग्वासस्त्वादीनामुत्तरोत्तरग्रथनादन्योन्यासंगतादयं ग्रथितनामा विरोधभेदः॥

द्वितीय अर्थात् ग्रथित का उदाहरण—

"यदि यह दिगम्बर हैं तो धनुष से इनका क्या प्रयोजन है ? यदि शस्त्र भी है तो भस्म से क्या लाभ ? यदि भस्म ही था तो फिर नारी क्यों हैं, यदि नारी भी है तो यह काम से द्वेष क्यों करते हैं ?" इस प्रकार से अपने स्वामी भगवान् शिव के परस्पर विरुद्ध प्रयत्नों को देख देख-कर सघन एवं स्निग्ध शिराओं से संघटित होने के कारण कठोर शरीर को धारण करने वाला भृङ्गी अब हड्डी-हड्डी रह गई देह को धारण कर रहा है ॥६१॥

यहाँ पर 'दिग्वासता' आदि के क्रमशः एक दूसरे से गुँथे होने तथा परस्पर असंगत होने से यह ग्रथित नामक विरोध का एक प्रकार है।

स्व० भा०—स्पष्ट है।

उत्तरोत्तरग्रथनादिति। यद्यप्येकेन विरोधिना सहोक्तौ विरोध्यन्तरेणापि तथा भाव-मासादयन्नेव ग्रथितस्तथाप्युत्तरग्रथनया शोभाविशेषार्पको भवतीत्यभिप्रायः॥

असङ्गतिर्यथा—

'सा उप्पडी गोट्ठउहि णोक्खी कावि विसगण्ठि।
भिडिय पचेल्लिउ सो मरइ ज्जस्स ण लग्गइ कण्ठि॥६२॥'
[सा उत्पन्ना गोष्ठभुवि नवीनैव कापि विषग्रन्थिः।
भिद्यते प्रत्युत स म्रियते यस्य न लगति कण्ठे॥]

अत्रायं विषग्रन्थिर्यस्य कण्ठे न लगति स म्रियत इत्येतयोः परस्परमसङ्ग-तेरयमसङ्गतिर्नाम विरोधः॥

असंगति का उदाहरण—

गोष्ठ में कोई नई ही विषग्रन्थि उत्पन्न हुई थी। उसके द्वारा वह व्यक्ति छिन्न भिन्न कर दिया जाता है अथवा वह मर ही जाता है जिसके गले में यह नहीं लगती है ॥६२॥

यहाँ पर "यह विषग्रन्थि जिसके गले में नहीं लगती है, वह मर जाता है" इन दोनों वाक्य-खण्डों की असङ्गति से यह असंगति नामक विरोध है।

स्व० भा०—ऊपर कहा ही जा चुका है कि दण्डी असङ्गति को भी विरोध का ही अंग मानते हैं, किन्तु अन्य आलंकारिकों में मतभिन्नता है। रुद्रट ने असंगति की परिभाषा इस प्रकार दी है।

विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र ।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासंगतिः सेयम् ॥ ९।४८ ॥

रुद्रट कार्य तथा कारण में स्थानभिन्नता को स्वीकार करते हैं, जब कि भोज के उदाहरण में क्रियाफल में विरोध है।

गोट्ठउहीति। गोष्ठे। णोक्खी अपूर्वा। कावि विसगण्ठि कापि विषग्रन्थिः। 'रोमाञ्चादयस्त्रियाम्' इति स्त्रीलिङ्गता। पचेल्लिउ प्रत्युत। विषग्रन्थेः कण्ठसंबन्धेन मारकत्वं प्रतीतम्। वर्ण्यमानाया रूपस्य तथाभूतस्यैवेति व्यक्तो विरोधः ॥

प्रत्यनीकं यथा—

'उत्कण्ठा संतापो रणरणको जागरस्तनोस्तनुता।
फलमिदमहो मयाप्तं सुखाय मृगलोचनां दृष्ट्वा ॥६३॥

अत्र मृगलोचनादर्शनस्यैव किल निर्वृतिः फलम्। मया तु तां दृष्ट्वान्तस्तापादिकं मयाप्तमिति प्रत्यनीकफलत्वादयं प्रत्यनीकाख्यो विरोधः ॥

प्रत्यनीक का उदाहरण—

मृगनयनी को देखकर मैंने उत्कण्ठा, संताप, कौतूहल, अनिद्रा और कृशता यही फल सुख के स्थान पर प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

यहाँ पर मृगनयनी के देखने का ही फल आनन्द है, किन्तु मैंने उसे देखने के बाद अन्तस्ताप आदि ही पाया, इस प्रकार विपरीत फल के कारण यह प्रत्यनीक नामक विरोध है।

स्व० भा०—वृत्ति स्पष्ट है। रुद्रट के द्वारा दिया गया प्रत्यनीक का लक्षण यद्यपि ऊपर के उदाहरण में समुचित रूप से लगता नहीं है, तथापि नाम का ग्रहण होने से तथा इसमें भी विरोध-मूलकता दृष्टिगत होने से उसको उद्धृत किया जा रहा है।

वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र ।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत् ॥ ८।९२ ॥

रुद्रट ने भोज द्वारा उदाहृत श्लोक में विषम अलंकार माना है। (काव्या ७।५५)

अत्र मृगलोचनादर्शनस्यैवेति। यद्यप्येकस्य विरुद्धं कार्यकारित्वं न विरुद्धं, तथापि यथैव प्रवृत्त्या किंचित्कार्यं कर्तुमुद्यतो न तथैव तद्विरुद्धं करोति तदेतत्सुखायेति चतुर्थ्या द्योत्यते।

अधिको यथा—

'एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः।
ते तु यावन्त एवाजौ तावद्भिर्ददृशे स तैः ॥६४॥'

अत्रैकस्य दाशरथेरनेकसंख्यैर्यातुधानैर्यत्समरकर्म तत्र तैरस्य तावद्धा दृश्यमानत्वेनैकसंख्याविरुद्धमाधिक्यं गम्यत इत्ययमधिकाख्यो विरोधः ॥

अधिक का उदाहरण—

(इधर तो, दशरथ पुत्र राम एक ही हैं और राक्षस हजारों हैं, किन्तु युद्ध में वे जितने ही हैं, उतने ही यह उनको दिखाई पड़े ॥ ६४ ॥

यहाँ एक ही दशरथ पुत्र का अनेक संख्यक यातुधानों के साथ जो युद्ध कर्म हुआ वहाँ पर उनको इनका उतनी ही संख्या में दिखाई पड़ने से एक संख्या के विपरीत आधिक्य का ज्ञान होता है । अतः यह अधिक विरोध है ।

स्व० भा०—पूरा विषय वृत्ति में स्पष्ट है । रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में अधिक नामक अलंकार का यह लक्षण दिया है—

यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत् क्रियाप्रसिद्धं वा ।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद्भवेदधिकम् ॥ ९।२६॥

अधिक का अभिप्राय एक से अनेकता बोध होने से है । यह अनेकता चाहे क्रिया की हो, चाहे संख्या की अर्थात् द्रव्य, गुण, क्रिया आदि में से कोई भी हो सकता है ।

विषमं यथा—

दिशामलीकालकभङ्गतां गतस्त्रयीवधूकर्णतमालपल्लवः ।
चकार यस्याध्वरधूमसंचयो मलीमसः शुक्लतरं भवद्यशः ॥६५॥'

अत्र मलीमसाध्वरधूमसंचयेन यद्यशसः शुक्लीकरणं तद्यद्यादृशादेव जायते तत्तादृगेव भवतीति प्रसिद्धेर्वैषम्यात्परस्परमसङ्गतेरयं विषमाख्यो विरोधः ॥

विषम का उदाहरण—

दिशावधू के ललाट पर पड़ी हुई लटों की भांति टेढ़ी मेढ़ी, तथा वेदत्रयी रूपी नवोढ़ा के कान में लटक रहे तमाल के कोमल पत्तों की भांति काली काली जिसके यज्ञ की धूमराशि आपके यश को और भी अधिक शुभ्र करती रही ॥ ६५ ॥

यहाँ पर मैली मैली यज्ञ की धूमराशि से जो यश को श्वेत करना है, वह जो जिस प्रकार के पदार्थ से उत्पन्न होता है, वह वैसा ही होता है, इस मान्यता के कारण विषमता होने से परस्पर असंगति होने से यह विषम नामक विरोध है ।

स्व० भा०—रुद्रट ने अनेक प्रकार का 'विषम' अलंकार माना है । उनके अनुसार इसका लक्षण इस प्रकार है—

विषम इति प्रथितोऽसौ वक्ता विघटयति कमपि सम्बन्धम् ।
यत्रार्थयोरसन्तं परमतमाशङ्क्य तत्सत्त्वे ॥ काव्या ७।४७॥

इन सभी उपभेदों के विवेचन से स्पष्ट है कि अन्य आलंकारिक उपर्युक्त प्रकारों को पृथक् अलङ्कार ही स्वतन्त्र रूप से क्यों न मानें, किन्तु उनकी विरोध-मूलकता तो स्पष्ट ही है ।

सामग्र्येकदेशसद्भावमात्रेण कार्यसद्भावे स्थिते विरोधच्छायामूलत्वमिति तदनन्तरं संभवः प्राप्तावसर इत्याह—

(८) संभव अलंकार

प्रभूतकरणालोकात्स्यादेवमिति संभवः ।
स विधौ वा निषेधे वा द्वये वा न द्वयेऽपि वा ॥२५॥

(किसी कार्य के) अनेक कारणों को देखकर 'यह ऐसा होगा' ऐसा समझना संभव अलङ्कार होता है। वह विधि, निषेध, उभय तथा अनुभय (विकल्प युक्त) होता है।

स्व० भा०—संभव अलंकार सन्देह, भ्रान्तिमान्, वितर्क आदि से भिन्न होता हैं। यह एक स्वतन्त्र अलंकार है। किसी कार्य के लिये प्रवृत्त करना विधि है, और उससे निवृत्त करना निषेध। इन्हीं दोनों के योग से शेष दो भेद भी सिद्ध होते हैं।

प्रभूतेति। भूयांसि कारणानि दृष्ट्वा कार्यमुत्पत्स्यते नापि दैवात्कदाचिन्न स्यादिति ज्ञानसंभवः। न चायं संशय एव नहि स्याद्वा नवेति दोलायते। नापि वितर्को व्याप्यारोपस्याभावात्। क्व तर्ह्ययमन्तर्भवति न क्वचित्, ज्ञानान्तरस्यैवोच्यमानत्वात्, अनिश्चयरूपतामात्रेण तत्रान्तर्भावेऽतिप्रसङ्गात्, नापि भ्रान्तिर्न्यग्भूतबाधपुरःसरत्वात्। भ्रान्तौ तु सिद्धायां बाधोत्पत्तिरिति वक्ष्यते 'स विधौ वा निषेधे वा' इति। संभवो विषयनियतो विधिनिषेधोभयानुभयरूपश्चतुर्विधो विषयः। अप्रवृत्तप्रवर्तनं द्विरूपम्। प्रयोजकगतं प्रयोज्यगतं च। आद्यं प्रत्युक्त्याख्ये शब्दालंकारे विधिद्वारेणेत्यनेनोक्तम्, द्वितीयं तु भूतभवनलक्षणमिहोच्यते। संप्रसक्तस्याभावो निषेधः। एतेनोभयानुभयरूपौ व्याख्यातौ॥

एषु विधिविषयो यथा—

'त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥६६॥'

अत्र त्वयि जलमादातुमवनते सति तस्याः सरितः प्रवाहो मध्यनिविष्टेन्द्रनीलमणिर्मुक्तागुण इव गगनगतिप्रेक्षणीयो भविष्यतीति विधेः संभाव्यमानत्वादयं विधिविषयः संभवः॥

इनमें से विधिविषयक का उदाहरण—

(यक्ष मेघ से कहता है कि) जब विष्णु का रूप चुराने वाले तुमको जल ग्रहण करने के लिये नीचे (चर्मण्वती नदी पर) झुका हुआ, आकाशचारी (सिद्ध आदि) देखेंगे, तब दूरी के कारण चौड़ी होने पर भी पतली धारवाली दिखलाई पड़ रही उस नदी में तुम उसी प्रकार दिखोगे मानों पृथ्वी के गले में पड़े हुए बड़े-बड़े मोती के दानों वाले हार के बीच मे गुथे हुये एक मात्र नीलमणि हो ॥ ६६ ॥

यहाँ पर जल लेनेके लिये तुम्हारे झुकते समय उस नदी का प्रवाह आकाशचारियों को बीच में नीलम से गुथी हुई मुक्ता की माला की भांति दिखलाई पड़ेगा, इस प्रकार का अर्थ होने से विधि की संभावना से यह विधिविषयक संभव है।

स्व० भा०—जलधारा के सम्पर्क से मेघ के एक रूप-विशेष में प्रकट हो जाने की संभावना व्यक्त होने से यहाँ विधिविषयक संभव अलंकार है।

अत्र त्वयि जलमिति। अप्रेक्षणीयस्य प्रेक्षणीयताभवनं विधिः॥

निषेधविषयो यथा—

परस्य भूयान्विवरेऽभियोगः प्रसह्य संरक्षणमात्मरन्ध्रे।
भीष्मेऽप्यसंभाव्यमिदं गुरौ वा न संभवत्येव वनेचरेषु ॥६७॥

अत्रेदं भीष्मद्रोणयोरसंभाव्यमानं धनुर्वेदकौशलमस्मिन्वनेचरे न संभवतीति निषेधविषयः संभवः ॥

निषेध-विषयक का उदाहरण—

(किरात को देखकर अर्जुन अनुमान करते हैं कि) विपक्षी की अल्पमात्र भी त्रुटि को देख कर उसके अधिक दोषों की संभावना करना तथा अपने अनेक दोषों को भी छिपा ले जाना ये दोनो गुण तो पितामह भीष्म तथा गुरुदेव द्रोणाचार्य के सदृश महारथियों में भी संभव नहीं, फिर वनेचरों में इनकी तो संभावना की ही नहीं जा सकती ॥ ६७ ॥

यहाँ पर "वह धनुर्वेद निपुणता तो भीष्म और द्रोण में भी संभव नहीं हैं अतः इस वनेचर में तो हो ही नहीं सकती" इस निरूपण से यह निषेध-विषय संभव है।

स्व० भा०—यहाँ पर वनेचर की असंभाव्यता के परदोष-ज्ञान तथा आत्मदोष-निगूहन आदि अनेक कारण हैं, अतः यहाँ संभव अलंकार है। वाक्यार्थ निषेधात्मक होने से निषेधरूपता तो सिद्ध ही है।

अस्मिन्वनेचर इति। **परविवराभियोगे स्वविवररक्षारूपबहुतरकारणालोकान्नायं वनेचर इति निषेध एव संभाव्यते ॥**

विधिनिषेधविषयो यथा—

'उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥ ६८ ॥

अत्र द्रुतमपि यियासोः कालक्षेपं तवोत्पश्यामीति विधिरूपः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येदिति निषेधरूपस्तदेवं विधिनिषेधयोरसंभाव्यमानत्वादयमुभयविषयः संभवः ॥

विधि-निषेध-विषयक अर्थात् उभयरूप संभव का उदाहरण—

हे मित्र मेघ, मेरे हित साधन के निमित्त तुम शीघ्र ही जाना चाहोगे तथापि कुटज पुष्पों से सुगन्धित पर्वतों पर तुम्हारे कालक्षेप की मैं संभावना करता हूँ। वहाँ पर निर्मल दृष्टि वाले मयूर प्रेमाश्रु भरकर तुम्हारा स्वागत करेंगे, फिर भी आप किसी प्रकार जल्दी करके चलने की व्यवस्था करना ही ॥ ६८ ॥

यहाँ पर 'शीघ्र जाने की इच्छा रहने पर भी मैं तुम्हारे विलम्ब की संभावना करता हूँ' यह विधिरूप है, तथा 'किसी भी प्रकार आप शीघ्र ही जाने की व्यवस्था करना' यह निषेधरूप है, इस प्रकार विधि तथा निषेध की (पृथक् पृथक्) संभावना न होने से यह उभय-विषय-संभव का उदाहरण है।

स्व० भा०—मेघदूत से उद्धृत उपर्युक्त श्लोक में कालक्षेप न करनेवाले व्यक्ति के कालक्षेप का निरूपण करने से विधि-विषयता है। श्लोक में प्रयुक्त पद 'कथमपि' इस बात की ओर संकेत करता है कि आप वहाँ रुकना मत। गमनाभाव का निषेध होने से निषेधविषयता भी है। विधि तथा निषेध दोनों की एक साथ उपस्थिति न तो विधिविषयता में ही है और न तो निषेधविषयता में ही। अतः यह एक पृथक् ही भेद हुआ।

कालक्षेपं तवो त्पश्यामीति । उत्पश्यामि संभावयामि । अकालक्षेपवतः कालक्षेपभवनं विधिः । कथमपीति काकूपस्थितो गमनाभावो निषेधः। न च वाच्यं द्वावत्र संभवौ। तथा च नैकोऽप्यु भयविषय इति। यतो यैव कालक्षेपसामग्री सैव शुक्लापाङ्गैरित्यादि कारणसहकृता निषेधमपि विषयीकरोति। अतः संभवभेदे न किंचित्प्रमाणमिति ॥

अनुभय विषयो यथा—

'तस्याः पातु ं सुरगज इव व्योम्नि पूर्वार्धलम्वी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छायया सा
स्यादस्थानोपगतयमुना संगमेनाभिरामा ॥ ६९ ॥'

अत्र यदि त्वमेवं कुर्यास्तदेवं स्यादिति विधिनिषेधयोरनवगतेरयमनुभय-विषयः संभवः ॥

अनुभयविषयक संभव का उदाहरण—

उस गंगा नदी का, आकाश में दिग्गजों की भांति अपने शरीर का अगला आधा भाग बढ़ा करके, निर्मल स्फटिक की भांति उज्ज्वल जल को तिरछे होकर पीना चाहोगे, तब आपकी जल-धारा में पड़ती हुई चञ्चल छाया से वह गंगा भिन्न स्थान पर ही यमुना के मिल जाने से संभूत छटा को प्राप्त कर लेगी। ॥ ६९ ॥

यहाँ पर 'यदि तुम ऐसा करोगे तो ऐसा होगा' इस प्रकार विधि और निषेध इन दोनों का पृथक्-पृथक् बोध न होने से यह अनुभय-विषयक संभव है।

स्व० भा०—पूर्व उद्धृत श्लोकों से विधि और निषेध का स्वरूप स्पष्ट हो चुका है। वहाँ पर कोई शर्त नहीं होती है। विधि तथा निषेध में हेतुहेतुमद्भाव के लिये स्थान नहीं है। यह हेतु-हेतुमद्भाव यहाँ है, अतः इसमें अनुभयरूपता है—न विधि ही है और न निषेध ही।

अत्र यदि त्वमेवं कुर्या इति। न यावदत्राभावः प्रतीयत इति न निषेधसंभवः। विधि-संभवोऽपि नास्ति। यो हि व्यवस्थितकारणदर्शनेन व्यवस्थितस्यैव भवनस्य संभवः स विधिसंभवशब्देनाभिधीयते, नचेह तथा। तदिदमुक्तं अनवगतेरिति ॥

एतेन विधिनिषेधयोर्विकल्पविषयोऽपि व्याख्यातः। यथा—

'यदि भवति मुखानां वाक्पटूनां सहस्रं
निरुपममवधानं जीवितं चातिदीर्घम्।
कमलमुखि तथापि क्ष्मापतेस्तस्य कर्तुं
सकलगुणविचारः शक्यते वा नवेति ॥७०॥'

तदेतन्निगदेनैव व्याख्यातम् ॥

इस प्रकार के निरूपण से तो विधि तथा निषेध के वैकल्पिक विषय का भी स्पष्टीकरण हो गया। जैसे—

हे कमलवदने, यदि बोलने में अत्यन्त निपुण हजारों मुख हों, अतुलनीय ध्यान भी दिया गया हो तथा जीवन भी काफी लम्बा हो, तब भी किसी व्यक्ति के द्वारा उस राजा के समस्तगुणों का विवेचन किया जा सकता है अथवा नहीं (यह निश्चित नहीं कहा जा सकता।) ॥ ७० ॥

यह तो कथनमात्र से ही स्पष्ट है।

स्व० भा०—उभयविध संभव का निरूपण पहले किया जा चुका है। यहाँ भी विधिनिषेध दोनों के वैकल्पिक स्वरूप का उदाहरण है। जिस प्रकार विधि, निषेध, विधिनिषेध, और अविधिनिषेध, भेद संभव हैं, वहीं वैकल्पिक स्थिति भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। अन्त में 'शक्यते वा न वेति' में दो 'वा' का प्रयोग विधिवाचक 'शक्यते' तथा निषेध वाचक 'न' (शक्यते)' दोनों की वैकल्पिकता को सिद्ध करता है।

तदेतन्निगदेनेति । **परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र संभाव्यमानत्वादिति व्यक्तौ विकल्प इत्यर्थः ॥**

पूर्वेषां संभवलक्षणमुपन्यस्य दूषयति—

द्रोणस्य संभवः खार्यां शते पञ्चाशतो यथा ।
तथान्ये संभवं प्राहुः सोऽनुमानान्न भिद्यते ॥ २६ ॥

भिद्यते तु यद्यनिश्चयः स्यात् ।

कुछ लोग उस प्रकार की स्थिति में संभव अलङ्कार मानते हैं जैसे खारी में द्रोण की तथा सौ में पचास की संभावना करना। किन्तु यह अनुमान से भिन्न नहीं है ॥ २६ ॥

(यह अनुमान से) भिन्न भी हो सकता है यदि अनिश्चय का भाव हो तो।

स्व० भा०—वेदान्त आदि कई दर्शनों में 'संभव' प्रमाण एक पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका स्वरूप ही वहाँ ऐसा है कि किसी भी बड़ी राशि, पदार्थ अथवा संख्या के होने पर उसी में उससे छोटी इकाइयों की उपस्थिति मान ली जाती है। जैसे एक रुपया यदि कहीं है तो इसे मान लेना पड़ेगा कि वहाँ अठन्नियाँ, चवन्नियाँ, दुअन्नियाँ आदि होगी, क्योंकि इनसे ही रुपया बनता है।

सांख्य आदि दर्शनों में जहाँ इसे प्रमा का साधन-प्रमाण-नहीं स्वीकार किया गया है, वहाँ यह अनुमान में अन्तर्भूत कर दिया गया है। यही बात भोजराज भी स्वीकार करते हैं। अनुमान से भिन्न तभी इसको मानते हैं जब कार्य ज्ञान में अनिश्चय हो। इस अनिश्चय की अवस्था में बहुत से कारण होने पर स्वतः वहाँ 'संभव' अलंकार हो जायेगा। अर्थात् यदि कार्य-ज्ञान निश्चित रहता है तब तो वहाँ अनुमान हो जायेगा और यदि नहीं तो उस दशा में तो संभव स्वयं सिद्ध ही है।

द्रोणस्येति । **समुदायज्ञानादेकदेशज्ञानसंभव इति प्राच्यानामभिप्रायः । तथा च समुदायस्य समुदायिव्याप्तत्वादियं खारी द्रोणवती, खारीत्वादिति सुलभम् । अनुमान एवास्यान्तर्भाव इत्यर्थः । कथं तर्हि तत्रापि संभवो भिद्यते सामग्री कार्यव्याप्तेति तत्राप्यनुमानमेव भविष्यतीत्यत आह—**भिद्यत इति। **नहि सामग्री दृष्टा यतः कार्यस्य ज्ञानमन्यदेवोत्पद्यत इति वक्तव्यम् । तथा चास्माकं दर्शने युक्तः पृथग्भावः ।**

यस्तूदाहरणविशेषं न प्रतिसंधत्ते तं बोधयितुमुदाहरणान्तरमाह—

यथा—

'रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनाक्षोभाकुलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ ७१ ॥'

अत्र यथा खार्यां द्रोणः शते पञ्चाशदिति नियमो नैवं विप्रलम्भेऽलकानामकल्पमनञ्जनमक्ष्णोर्मधुनो वा प्रत्यादेशः, सुहृदुदन्तलाभारम्भे वा नयनस्पन्दनानि संभाव्यन्ते च, प्रभूतकारणालोकादित्येषोऽपि विधिरूप एव संभव इति ॥

जैसे—तुम्हारे वहाँ पहुंच जाने पर कुन्तलों से अवरुद्ध नेत्रकोण वाले, अञ्जन न लगाने से रूखे रूखे, तथा मधुपान छोड़ देने से भ्रूविक्षेपों को भूल बैठे नयन ऊपर की ओर फड़क उठेंगे। उस समय उस मृगनयनी के नयन मछलियों के द्वारा प्रकम्पित किये गये नीलकमल की शोभा धारण करने लगेंगे ॥ ७१ ॥

यहाँ पर जैसे खारी में द्रोण, सौ में पचास यह नियम नहीं है। इसी प्रकार वियोगावस्था में काकपक्षों को सँवारना, नेत्रों में अञ्जन न लगाना अथवा मधु का परित्याग कर देना, अथवा प्रियजन के वृत्तान्त की प्राप्ति का प्रारम्भ होते ही नयनों का फड़क उठना आदि संभव होते हैं। अतः अनेक कारणो के दृष्टिगोचर होने से यह भी विधिरूप संभव ही हुआ।

स्व० भा०—यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कारण से कार्य ज्ञान निश्चयात्मक होता है तब तो वहाँ अनुमान ही होता है, क्योंकि वहाँ कार्य-कारण में व्यभिचार संभव नहीं। जहाँ पर व्यभिचार सम्भव है वहां तो संभव नामक अलंकार ही होगा। उपर्युक्त उदाहरण की वृत्ति स्पष्ट है। वहां विधिरूपता ही है जो 'संभव' का एक प्रकार है।

रुद्धापाङ्गेत्यादि। एवं विश्लेषदुःखेन कर्शिता यथाऽचेतनानामप्यलकानां करुणोत्पन्नैव लक्ष्यते यस्मादियं मा जलधरं द्राक्षीदिति निसर्गचपलस्यापाङ्गस्य प्रसरमवरुन्धन्ति। स्नेहपदेन नयनाञ्जनयोरनुपधिरनुबन्धो व्यज्यते। तेन मिथो मैत्रीयोग्यत्वम्। तेन तन्नयनादन्यत्र नाञ्जनं कान्तिमाप्नोतीति कोऽपि लावण्यप्रकर्षस्तथाभूतस्याप्यञ्जनस्य त्यागे यदेकतानतया नात्मानमपि प्रतिसंधातुं समर्थेति व्यनक्ति। एवं संपदान्तरेष्वपि स्वरसोऽनुसंधेयः। विप्रलम्भरूपकारणालोकाच्चोपरिनयनस्पन्दनं संभाव्यत इति संभवद्वयमत्रेति व्याख्यानेन स्फुटयति—अत्र यथा खार्यामिति।

परस्परोपकारकयोरेकस्य विशेषं दृष्ट्वापरस्य विशेषो ज्ञायत इति संभवसाम्यात्तदनन्तरमन्योन्यलक्षणमाह—

> अन्योन्यमुपकारो यस्तदन्योन्यं त्रिधा च तत्।
> वाच्यं प्रतीयमानं च तृतीयमुभयात्मकम् ॥ २७ ॥
> अन्योन्यचूलिकान्योन्यभ्रान्तिरन्योन्यमेकता।
> अन्योन्यालंकृतेरन्तस्त्रयमेतदिहेष्यते ॥ २८ ॥

(९) अन्योन्यालंकार

विषय की जो परस्पर उपकारिता है वह अन्योन्य अलंकार है। वह तीन प्रकार का होता है—(१) वाच्य (२) प्रतीयमान तथा (३) उभयात्मक। अन्योन्यचूलिका, अन्योन्यभ्रान्ति तथा अन्योन्यैकता ये तीनों भी इसी अन्योन्य-अलंकार के अन्तर्गत अभीष्ट हैं ॥ २७-२८ ॥

स्व० भा०—अन्योन्य नामक अलंकार का यहाँ से प्रारम्भ है। भामह तथा दण्डी इसके प्रति मौन हैं, किन्तु रुद्रट ने इसका लक्षण तथा उदाहरण दिया है। उनके अनुसार—

> यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया।
> संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम् ॥ काव्यालंकार ७.९१॥

भोज प्रायः इन्हीं तीन आलंकारिकों से, विशेष कर दण्डी से, प्रभावित हैं। संभव है अन्योन्यचूलिका आदि तीनों अलंकार किसी तत्कालीन आलंकारिक को मान्य रहे हों, किन्तु इनको दे पृथक् रूप से स्वीकार्य नहीं हैं।

इसके वाच्य, प्रतीयमान तथा उभयात्मक भेद शब्द के अर्थ की वाच्यता आदि पर आश्रित हैं। जहाँ वाच्य अर्थ ही प्रधान होगा वहाँ प्रथम, जहाँ प्रतीयमान की प्रधानता होगी वहाँ द्वितीय, तथा जहाँ पर विषय शब्द पर आश्रित हो सामान्य रूप से रहेगा किन्तु विशेष रूप से प्रधानता प्रतीयमान की होगी, वहाँ उभयात्मकता होगी।

अन्योन्यमिति। विशेषार्पणमुपकारो न चेयं परिवृत्तिः स्थितस्यानपनयनात् दानप्रतिदानाभावाच्च। विशेषस्तु नानारूपस्तद्वाक्यार्थीभूतरसानुगामितया तत्र तत्रोन्नीयते। विभागं दर्शयति—त्रिधेति। अभिधीयमानं विशेषतः शब्देनोपात्तं सामान्यतः शब्देन विषयीकृतं विशेषतस्तु प्रतीयमानमेवेत्युभयात्मकम्। द्वाभ्यामन्यतोऽप्रतीयमानम्। अन्यान्यचूलिकादिलक्षणानि ग्रन्थकार एव स्फुटीकरिष्यति॥

तेष्वभिधीयमानमन्योन्यमिह यथा—

'कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य।
अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः॥ ७२॥'

अत्रान्योन्यशोभाजननेत्यादिनोपकार्योपाकारकभावस्य द्वयोरप्यभिहितत्वादभिधीयमानमिदमन्योन्यम्॥

इनमें से वाच्य अन्योन्य का यहाँ यह उदाहरण है—

पार्वती के गोल-गोल कण्ठ में पड़ी हुई मोतियों की माला तथा उसके नत उरोजों के परस्पर शोभावृद्धि करने के कारण वहां पर उन दोनों के बीच सामान्य विशेषण-विशेष्य भाव उत्पन्न हो गया था। अर्थात् हार स्तनों की तथा स्तन हार की श्रीवृद्धि कर रहे थे॥ ७२॥

'यहां पर "अन्योन्यशोभाजनन' आदि पदों द्वारा उपकार्य-उपकारक भाव दोनों में कहने से यह अभिधीयमान अन्योन्य का उदाहरण है।

स्व० भा०—स्पष्ट है। यहाँ परस्परभूषणभूष्यभाव का कथन अनुमित नहीं करना पड़ता, अपितु स्वतः शब्दवाच्य है। अभिधा व्यापार अथवा वाचक शब्द से ही विवक्षित अर्थ स्वतः उपस्थित हो जाने से यहाँ वाच्यता है।

कण्ठस्येति। बन्धुरो नम्रः निस्तलो वर्तुलः॥

प्रतीयमानं यथा—

'उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलङ्गुली चिरं पहिओ।
पाआवलिआ वि तह तह धारं तणुअम्पि तणुएई॥ ७३॥'

[उद्धर्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुमपि तनूकरोति॥]

अत्र पथिकप्रपापालिकयोर्मिथोऽनुरागे यदेकस्य विरलाङ्गुलिना करेण पानीयपानमनन्यस्याः सुतरां वारिधारातनूकरणं तेन परस्वरमुपकार्योपकारकभावात्प्रतीयमानमिदमन्योन्यम्॥

प्रतीयमान का उदाहरण—

अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राही ज्यों ज्यों अपनी अँगुलियों को फैलाकर देर तक पानी पीता है, त्यों त्यों पौशाला की पालिका जल की पतली धारा को और भी अधिक पतली करती जाती है ॥ ७३ ॥

यहां पर पथिक तथा प्रपापालिका दोनों में परस्पर अनुराग होने से जो एक का अँगुली को फैलाकर हाथ से पानी पीना है और दूसरी का जलधारा को और भी पतली करना है, उससे परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव व्यक्त होने से यह प्रतीयमान अन्योन्य का उदाहरण हैं।

स्व० भा०—इस गाथा में पथिक तथा प्रपापालिका का प्रेम शब्दशः कहा नहीं गया है। वस्तुतः तो पथिक के पानी व्यर्थ में गिराने के कृत्य से उस प्रपापालिका को क्रुद्ध होकर जल पिलाना ही अनुचित था, किन्तु वह भी किसी कारण से पहले ही पतली जलधार गिरा रही थी और अब उसको भी विलम्ब करते देखकर स्वयं भी विलम्ब कर रही है। दोनो ही प्रसन्न हैं और उनकी प्रसन्नता का कारण उनका प्रेम ही हो सकता हैं, ऐसा अनुमान होता है।

अत्र पथिकेति। **मिथोऽनुराग इत्यनेन परस्परानुरागसंवर्धनमेवात्र विशेषार्पणमिति मतम्। तथा हि करस्य विरलाङ्गुलिकरणे कथमहमेतां चिराय पश्यामीति प्रपापालिका-भिप्राय एव वर्धितो भवति। एवमपि वारिधारातनूकरणे बोद्धव्यम्। न चायमेवंविधोऽर्थः केनापि शब्देनाभिहित इति भवति प्रतीयमानता वक्तृप्रतिपाद्यादिविशेषपर्यालोचनेनैव ध्वननमुन्मिषति ॥**

प्रतीयमानाभिधीयमानं यथा—

'गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को।
अणु अम्पाणिद्दोसं तेण वि सा गाढमुअऊढा ॥ ७४ ॥'

**[गोदाविषमावतारच्छलेन आत्मा उरसि अस्य मुक्तः।
अनुकम्पानिर्दोषं तेनापि सा गाढमुपगूढा ॥]**

अत्र गोदावरीविषमावतारव्याजेन तया तस्योरसि आत्मा क्षिप्तस्तेनाप्यनु-कम्पा-निर्दोषं सा गाढमुपगूढेत्यभिधीयमानः परस्परमनुरागादुपकार्योपारक-भावः प्रतीयत इत्युभयात्मकमिदमन्योन्यम् ॥

प्रतीयमानाभिधीयमान अर्थात् उभय का उदाहरण—

गोदावरी के अवतरणस्थान के विषम होने के बहाने सुन्दरी ने अपने को नायक के वक्षस्थल पर छोड़ दिया और दया के कारण निर्दुष्ट समझकर उसने भी उसका अत्यन्त प्रगाढ आलिंगन किया ॥ ७८ ॥

यहां पर गोदावरी के विषमावतार के बहाने उस नायिका के द्वारा उसके वक्षस्थल के ऊपर अपना शरीर डाल दिया गया, उसने भी उसे अनुकम्पा से दोष रहित समझकर उसका प्रगाढ़ आलिंगन किया, इससे अभिहित हो रहा परस्पर स्नेह के कारण उपकार्योपकारक भाव प्रतीत हो रहा है। अतः यह उभयात्मक अन्योन्य का उदाहरण है।

स्व० भा०—गोदावरी के विषम अवतरण होने से नायिका का अपने को नायक के वक्षस्थल पर छोड़ देना उनके परस्पर प्रेम की प्रतीति कराता है । उनका परस्पर अनुराग अभिहित न होकर प्रतीत ही हो रहा है, क्योंकि उनके सम्बन्धों की शब्देन उपस्थिति नहीं है। नायक का दया से निर्दोष समझना अवश्य ही अभिहित है। परस्पर उपकार के स्थान पर 'अनुकम्पा' तथा

'निर्दोष' शब्दों का ग्रहण करके नायक द्वारा किये जा रहे प्रगाढ़ आलिंगन का कारण निर्दिष्ट किया जा रहा है। अतः एक ओर प्रेम के प्रतीयमान होने से और दूसरी ओर कारण के अभिधीयमान होने से उभयात्मकता सिद्ध हो जाती है।

अत्र गोदावरीति । पूर्ववत्प्रतीयमानोऽपि परस्परमुपकारस्थलेनानुकम्पानिर्दोषशब्दाभ्यामभिधया स्पृश्यत इत्युभयरूपम् । न च शब्दोपात्ते किं ध्वननेनेति वाच्यम् । भिन्नविषयत्वात् ॥

अन्योन्यचूडिका यथा—

'शशिना च निशा निशया च शशी शशिना निशया च यथा गगनम् ।
भवता च सभा सभया च भवान् सभया भवता च तथा भुवनम् ॥७५॥'

अत्र निशाशशिनोः सभाभवतोश्च परस्परमुपकार्योपकारकभावे वर्तमानयोर्यदिदं गगनं जगतीं च प्रति द्वयोरुपकारकत्वं चूडिकेवोपर्युपरि लभ्यते सेयमन्योन्यचूडिका ॥

अन्योन्यचूडिका का उदाहरण—

जिस प्रकार चन्द्रमा से रात्रि, रात्रि से चन्द्रमा और चन्द्रमा तथा रात्रि दोनों से आकाश सुशोभित होता है, उसी प्रकार (हे महाराज) आप से सभा, सभा से आप तथा आप और सभा से सभी भुवन सुशोभित हो रहे हैं ॥ ७५ ॥

यहाँ पर 'निशा तथा शशि' और 'सभा तथा आप' इन दोनों के परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव में वर्तमान रहने पर जो यह आकाश तथा पृथ्वी के प्रति दोनों की उपकारिता है, वह चूडिका की भाँति ऊपर-ऊपर प्राप्त हो रही है। यही तो अन्योन्यचूडिका है।

स्व० भा०—लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही अत्यन्त स्पष्ट हैं। जिस प्रकार सुन्दरी की चूडिका (वेणी) परस्पर गुथी हुई होती है और परस्पर उपकारक होती है, उसी प्रकार यहाँ पर प्रयुक्त पद परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव से सम्बद्ध हैं।

अत्र निशाशशिनोरिति। चूडिका शिखा। सा यथा शरीरतदवयवेभ्यो भिन्नैवोपलक्ष्यते तथात्रापि निशाशशिनोः सभाभवतोः परस्परमुपकारकत्वमभिसंधाय द्वयोर्द्वयोर्गगनजगती प्रत्युपकारकत्वमन्यदेवाभिधीयते। न चैतावतैव विशेषेण पृथग्भावोऽन्योन्यालंकारकवलीकृतस्यैव तस्य संभवात् ॥

अन्योन्यभ्रान्तिर्यथा—

'जम्बूनां कुसुमोत्करे नवमधुन्यारब्धपानोत्सवाः
कीराः पक्वफलाशया मधुकरीश्चुम्बन्ति मुञ्चन्ति च ।
एतेषामपि नीलकिंशुकदलैरेभिः समानत्विषां
पुष्पभ्रान्तिभिरापतन्ति सहसा चञ्चूषु भृङ्गाङ्गनाः ॥७८॥'

अत्र जम्बूकुसुमकुञ्जस्थितमधुकरीषु शुकशकुन्तानां या पक्वजम्बूफलभ्रान्तिर्या च मधकरीणां शुकचञ्चुषु किंशुककुसुमभ्रान्तिः सेयमन्योन्यभ्रान्तिरन्योन्यस्मादपृथगेव ॥

अन्योन्यभ्रान्ति का उदाहरण—

जामुन के कुसुमकुञ्ज में, जिसमें नया पराग भरा हुआ था, बैठकर पानोत्सव मना रही

भ्रमरियों को पका फल समझकर तोते उन्हें पकड़ते हैं और छोड़ देते हैं। इसी प्रकार नीलेपन से संयुक्त पलाशदल के सदृश रंग वाले इन तोतों के भी चोंच को फूल समझ कर भ्रमवशात् भ्रमरियाँ उनके चोंचों पर एकाएक झपट पड़ती हैं ॥ ७८ ॥

यहाँ पर जम्बू के पुष्पों से भरे कुञ्ज में स्थित भ्रमरियों में शुकपक्षियों का जो पके जम्बूफल का भ्रम है, और मधुकरियों का शुकचञ्चुओं में जो किंशुककुसुम का भ्रम है, उससे यह अन्योन्य भ्रान्ति हुई, इस प्रकार यह अन्योन्य अलंकार से पृथक् नहीं है।

स्व० भा०—स्पष्ट है।

अत्र जम्बूकुसुमेति । **न हि तैमिरिककेशप्रत्ययवद् भ्रान्तेरलंकारतापि तद्भूतसादृश्यमूलाया एव। तथा चमत्कारिवस्त्वन्तरोपमापर्यवसायित्वमिति भ्रान्तिसंसर्ग एव विशेषार्पण उपकारः। अन्योन्यवचनेन परस्परगामिता तस्य तेनैव दर्शितेत्यन्योन्यलक्षणाश्लेषात्कथं पृथग्भवतीति। एतेनान्योन्यैकता व्याख्याता ॥**

अन्योन्यात्मकता यथा—

'प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तदेकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥७७॥'

अत्र श्यामपाण्डुतयोः परस्परव्यतिरेकेणैकवर्णकरणादन्योन्यमेकता नाम भ्रान्तिभेदोऽन्योन्यात्पृथगेव ॥

अन्योन्यात्मकता का उदाहरण—

खिले हुये तमाल पुष्पों के सदृश श्यामल वर्ण तथा सप्तपर्ण के फूलों के पराग के समान शुभ्र वर्ण के शरीर की मांगलिक किरणों से परस्पर रञ्जित कान्ति वाले भगवान् श्री कृष्ण तथा देवर्षि नारद जी मानों उस समय एक वर्ण के हो गये ॥ ७७ ॥

यहाँ पर श्यामता तथा पाण्डुता परस्पर भिन्न होने पर भी एक वर्ण का हो जाने से अन्योन्यैकता नामक भ्रान्ति अलंकार का एक भेद है जो अन्योन्य अलंकार से पृथक् हैं।

स्व० भा०—भोज स्वयं भ्रान्ति नामक एक पृथक् अलंकार स्वीकार करते है। उपर्युक्त श्लोक में उसी भ्रान्ति अलंकार का एक उपभेद संभव है। इस प्रकार अन्योन्यात्मकता का अन्योन्य के भीतर पूर्णतः अन्तर्भाव न हो पाने पर भी भ्रान्ति नामक एक भिन्न अलंकार का ही अंग बन जाने से उसकी पृथक् सत्ता नहीं सिद्ध होती।

परस्परनिरूप्यतासाम्यात्क्रमप्राप्तां परिवृत्तिं निरूपयति—

**व्यत्ययो वस्तुनो यस्तु यो वा विनिमयो मिथः।
परिवृत्तिरिहोक्ता सा काव्यालंकारलक्षणे ॥२९॥
सा त्रिधा व्यत्ययवती तथा विनिमयात्मिका।
तृतीया चोभयवती निर्दिष्टा काव्यसूरिभिः ॥३०॥**

(१०) परिवृत्ति अलंकार

जो वस्तु की विपरीतता है, अथवा जो उनका परस्पर आदान-प्रदान है, वह यहाँ काव्य तथा अलंकार के लक्षण प्रसङ्ग में परिवृत्ति कहा जाता है। वह तीन प्रकार की (१) व्यत्ययवती

(२) विनिमयात्मिका तथा (३) उभयवती काव्यशास्त्रियों के द्वारा निर्दिष्ट की गई हैं ॥ २९-३० ॥

स्व० भा०—परिवृत्ति का शाब्दिक अर्थ 'विनिमय', (बदलना) होता है। उसी का भाव परिवृत्ति अलंकार में भी रहता है। भामह ने इसके शाब्दिक अर्थ के भाव के साथ अर्थान्तरन्यास की भी आवश्यकता स्वीकार की है।—

विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।
अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा । काव्यालंकार ॥ ३।४१ ॥

दण्डी ने परिवृत्ति का उदाहरण तो अत्यन्त सुन्दर दिया है, किन्तु स्पष्ट परिभाषा नहीं। उनके उदाहरण से प्रतीत होता है कि अर्थान्तरन्यास आवश्यक नहीं। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में निम्नलिखित लक्षण दिया है।—

युगपद्दानादाने अन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत् ।
क्वचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः ॥ ७।७७ ।

इनके भी लक्षण में अर्थान्तरन्यास का समावेश नहीं है।

व्यत्यय इति। **वस्तुस्थितिविपर्यासवचनं परिवृत्तिरिति स्फुटमेव लक्षणम् ॥**

सा त्रिधा-एकस्थानस्थितस्य वस्तुनः स्थानान्तरप्राप्तिवचनेन, दानप्रतिदानवचनेन, उभयवचनेन वा। तदाह—सा त्रिधेति ॥

सर्वत्र मुख्यवृत्त्या गौणवृत्तिव्यपाश्रयेण वा तथाभावोक्तिरिति षट्प्रकारत्वं दर्शयति—

त्रिधापि चासौ मुख्यामुख्यभेदाद् द्विधाभूय षोढा संपद्यते।

तासु व्यत्ययवती मुख्या यथा—

'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः ॥७८॥

अत्र यत्कुमुदवनादीनामपश्रीकत्वादिकं यच्चाम्भोजखण्डादीनां श्रीमत्त्वादिकं मुख्यमेव प्रातरुपलभ्यते, सेयं व्यत्ययवती मुख्या नाम परिवृत्तिः ॥

तीन प्रकार का यह परिवृत्ति अलंकार मुख्य तथा अमुख्य भेद से दो-दो प्रकार का होकर छः प्रकार का हो जाता है।

इनमें से व्यत्ययवती मुख्या का उदाहरण—

कुमुदिनियों का समूह हतप्रभ हो गया है तथा कमलवन शोभा सम्पन्न। उल्लू पक्षी अपने आनन्द को गवाँ रहा है और चकवा पक्षी प्रसन्न है। सूर्य उदित हो रहा है और चन्द्रमा अस्त। क्योंकि दुर्दैव की कुचेष्टाओं का परिणाम विविध प्रकार का आश्चर्यजनक ही होता है ॥७८॥

यहाँ पर जो कुमुद वन आदि की श्रीविहीनता है, तथा जो कमलवन आदि की शोभा सम्पन्नता है वह प्रमुख रूप से ही प्रातःकाल प्राप्त होती है। अतः यह व्यत्ययवती मुख्या नामक परिवृत्ति का उदाहरण हैं।

स्व० भा०—व्यत्यय का अर्थ है विपर्यास, विरोध, विपरीतता आदि। उपर्युक्त श्लोक में दोनों परस्पर विरोधी दशाओं का वर्णन है। अतः व्यत्ययता तो स्पष्ट ही है। वर्णित विषय प्रातःकाल मुख्यरूप से उपलब्ध होते हैं अतः मुख्यता भी स्पष्ट है।

त्रिधापि चासावति । कुमुदवनमिति । कुमुदवनादुलूकाद्धिमरश्मेः श्रीमत्त्वं प्रीतिहृदयश्चापहृतानि प्राप्तानि पुनरम्भोजखण्डचक्रवाकीहिमांशूनामिति व्यक्तो व्यत्ययः । मुख्यत्वं ग्रन्थ एव व्यक्तम् ॥

व्यत्ययवत्यमुख्या यथा—

'जो तीअ अहरराओ रत्तिं उव्वासिओ पिअअमेणं ।
सोच्चिअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु सङ्कन्तो ॥ ७९ ॥'
[यस्तस्या अधररागो रात्रावुद्वासितः प्रियतमेन ।
स एव दृश्यते प्रातः सपत्नीनयनेषु संक्रान्तः ॥]

अत्र प्रियतमेनेति । रात्रावुद्वासितस्याधररागस्येयं सपत्नीलोचनेषु संक्रान्तिः प्रातरमुख्या तेन इयममुख्या व्यत्ययवती परिवृत्तिः ॥

व्यत्ययवती अमुख्या का उदाहरण—

प्रियतम ने रात्रि में उसके अधरों की जिस लाली को दूर किया था, वही प्रातःकाल सौतों के नेत्रों में उतरी हुई दृष्टिगोचर होती है ॥ ७९ ॥

यहाँ पर प्रियतम के द्वारा रात्रि में दूर किये गये अधर राग की जो यह सपत्नी के नयनों में संक्रान्ति है वह प्रातःकाल में अमुख्य है । इससे यह अमुख्या व्यत्ययवती परिवृत्ति का उदाहरण है ।

नायिका के अधरों की लाली सपत्नी के नयनों में दिखाई दे, यह उलटी सी बात है । अतः व्यत्ययता है । अमुख्यता इसलिये है कि कमल विकास की भाँति नायिकाओं के अधरों की लाली की समाप्ति तथा सपत्नियों के नयनों में रोष से लाली आ जाना मुख्य नहीं हैं । न तो सर्वत्र सपत्नियाँ ही हैं और न तो सबके अधर ही रागमुक्त किये जाते हैं । इनके अतिरिक्त दूसरे कार्य भी होते हैं जिनकी तुलना में ये कार्य अत्यन्त गौण हो जाते हैं ।

अत्र प्रियतमेनेति । ताम्बूलादिहेतुकोऽन्य एवाधररागोऽन्यश्च मत्सरहेतुकः कषायतालक्षणो नयनगामीति तयोरभेदाध्यवसायो यत्तत्पदाभ्यां प्रतीत इति गौणी वृत्तिः । प्रकाशते च शब्दवृत्त्याधरस्थानस्थितस्य नयनस्थानप्राप्तिरिति तावतैवालंकारनिर्वाहः ॥

विनिमयवती मुख्या यथा—

'प्रश्च्योतन्मदसुरभीणि निम्नगायाः
क्रीडन्तो गजपतयः पयांसि कृत्वा ।
किञ्जल्कव्यवहितताम्रदानलेखै-
रुत्तेरुः सरसिजगन्धिभिः कपोलैः ॥ ८० ॥

अत्र करिकपोलमदामोदस्याम्भोजरजःपरिमलस्य च सरित्सलिलद्विपकपोलपाल्योर्मुख्यत्वेनैव परस्परोपकरणादियं विनिमयवती मुख्या नाम परिवृत्तिः ॥

विनिमयवती मुख्या का उदाहरण—

जब कुछ हाथी गंगा के जल को अपने टपकते हुये मदवारि से सुगन्धित करते हुये जल से बाहर आये, उस समय उन हाथियों के कपोलों पर बनी हुई लाल लाल मदरेखा कमल के केसर से ढक गई थीऔर उन कपोलों से कमल की सुगन्ध आने लगी थी ॥ ८० ॥

यहाँ हाथी के गण्डस्थल के दानवारि के गन्ध का तथा कमल के परागगन्ध का नदी के जल

तथा हाथी के कपोल-मण्डल की मुख्यता के कारण ही एक दूसरे का उपकार करने से यह विनिमयवती मुख्या नामकी परिवृत्ति का उदाहरण है।

स्व० भा०—एक पदार्थ को देने के साथ ही दूसरे से दूसरी चीज ले लेना विनिमय है। यहाँ हाथियों में दानवारि देकर कमलपराग की गन्ध लेने से उक्त लक्षण घटित हो जाता है।

हाथियों के कपोलों से दानवारि का टपकना, उनका नदी में अवगाहन करना तथा कमलवन से परिपूर्ण जल में प्रवेश करने पर उसके पराग के लगने से सुगन्धित हो जाना मुख्य रूप से प्रसिद्ध है। मुख्य अथवा प्रधानतः लोक स्वीकृत मान्यताओं का प्रमुख रूप से वर्णन करना मुख्यता का प्रतिपादक हैं।

अत्र करिकपोलेति। **गजेन्द्राणां मदजलचन्द्रकयोः स्वाश्रितयोर्नदीपु संक्रामणं नदीस्थितयोश्च किञ्जल्काम्भोजपरिमलयोर्ग्रहणं तेन दानप्रतिदानवृत्त्या विनिमयो भवति॥**

विनिमयवत्यमुख्या यथा—

'तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिह शोच्यतेऽधुना।

येन जर्जरकलेवरव्ययात्क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः॥ ८१॥'

अत्र जर्जरकलेवरं दत्त्वा शशिकिरणशुभ्रं यशः क्रीतमित्यमुख्ययैव वृत्त्या विनिमयोक्तेरमुख्येयं विनिमयवती परिवृत्तिः॥

विनिमयवती अमुख्या का उदाहरण—

उस प्रकृष्ट मित्र अथवा अधिक आयु वाले स्वर्गगामी जटायु के लिये अब शोक क्यों किया जा रहा है, क्योंकि उसने तो अपने जीर्ण शरीर को व्यय करके चन्द्रकिरण सम शुभ्र यश को खरीद लिया है॥ ८१॥

यहाँ पर 'जर्जर कलेवर' को देकर 'चन्द्रकिरण के सदृश यश खरीद लिया है' इस निरूपण से अमुख्या वृत्ति के द्वारा ही विनिमद का कथन होने से यह अमुख्या विनिभयवती परिवृत्ति का उदाहरण हैं।

स्व० भा०—कलेवर प्रदान करके यश की प्राप्ति हुई है, अतः विनिमय का भाव है, किन्तु जर्जर शरीर के दाव से चन्द्रमरीचिगौर यश को पाना निश्चित नहीं है। वह इसका निर्धारित मूल्य नहीं हैं। निर्धारित मूल्यता का भाव न होने से यहाँ अमुख्यता अर्थात् गौणता है।

अत्र जर्जरेति। **मूल्यार्पणक्रयणयोरत्र बाधाद्व्यक्त एवोपचारः, शब्दवृत्तिस्तु पूर्ववदेव कुण्ठैवेति भवति विनिमयः॥**

उभयवती मुख्या यथा—

'लोचनाधरकृताहृतरागा वासिताननविशेषितगन्धा।

वारुणी परगुणात्मगुणानां व्यत्ययं विनिमयं च वितेने॥८२॥'

अत्र वारुण्या यदधराद्रागोऽपहृत्य चक्षुषोर्निक्षिप्तस्तेनेयं व्यत्ययवती, यच्च मुखामोदवासितया स्वामोदेन मुखामोदो विशेषितस्तेन विनिमयवती। तदियमुभयथापि मुख्यवृत्त्यैवोक्तेति मुख्येयमुभयवती परिवृत्तिः॥

उभयवती मुख्या का उदाहरण—

'मदिरा ने सुन्दरियों के नेत्रों को रञ्जित कर दिया था और उनके अधरों की रक्तिमा का

अपहरण कर लिया था। उसने उनके मुख को अपनी वास से सुगन्धित कर दिया था तथा वह उनके मुखसौरभ से स्वयं सुरभित हो गई थी। इस प्रकार उसने अपने गुणों से दूसरे के गुणों का विनिमय और उलटफेर दोनों ही कर लिया था॥ ८२॥

यहाँ पर मदिरा के द्वारा जो अधर से राग का अपहरण करके उसे नेत्रों में डाला गया, इससे यहाँ व्यत्ययवती है, और जो मुख की गन्ध से सुवासित होने के कारण अपनी सुरभि से मुख का गन्ध विशिष्ट किया गया इससे विनिमयवती है। यह दोनों ओर मुख्यावृत्ति से ही कही गई हैं, अतः मुख्या उभयवती परिवृत्ति का उदाहरण है।

स्व० भा०—वृत्ति में ही व्यख्या स्पष्ट है।

लोचनाधरेति। **लोचनाधरयोर्यथासंख्यं कृत आहृतो रागो यया तेन लोचने कृतोऽधरादपनीत इति व्यत्ययः। वासिते आनने विशेषितो गन्धो यस्याः सा तथा। तेन तया मुखं वासितं मुखेन च सेति भवति विनिमयः।** परगुणात्मगुणानामिति। **परगुणानामिति परगुणानां व्यत्ययः, आत्मगुणानां विनिमय इति संबन्धः। कर्तृत्वमुत्प्रेक्षितं तदेतद्दर्शयति—अत्रेति॥**

उभयवत्यमुख्या यथा—

किं चित्रं यदि देवेन भूभृतः करदीकृताः।
देवोऽपि दापितः किं तैर्न पुनः पृष्ठतः करम्॥८३॥'

अत्र भूभृतामकरदानां यत्करप्रदानं जिगीषोश्च यत्पृष्ठे हस्तनिक्षेपः स एव द्रव्यगुणादीनां स्थानादिपरिवृत्तौ व्यत्ययो, यच्च देवेन भूभृतः करदीकृताः देवोऽपि तैः पृष्ठतः करं दापित इति सोऽयं दानप्रतिपादनलक्षणोऽपि विनिमय इत्येतदुभयमपीह श्लिष्टपदाभिधेयत्वादमुख्यवृत्त्यैवोच्यमानमुपलभ्यत इत्युभयवतीयममुख्या परिवृत्तिः॥

उभयवती अमुख्या का उदाहरण—

इसमें कौन सी आश्चर्य की बात है यदि आप महाराज के द्वारा राजा लोग करद बना लिये गये? फिर क्या उनके द्वारा आपसे पीछे कर नहीं कराये गये॥ ८३॥

यहाँ राजाओं का, जो कर नहीं देते थे, जो कर देना हैं. तथा जिगीषु का पीठ पर जो हस्तनिक्षेप है वही द्रव्य, गुण आदि के स्थान आदि परिवर्तन से व्यत्यय है, तथा जो यह कहा गया है कि 'आप श्रीमान् के द्वारा राजा लोग करद बनाये गये और आप भी उनके द्वारा पीठ पर हाथ रखवाये गये' इस प्रकार वही यहाँ दानका प्रतिदान लक्षित होते हुये भी विनिमय ही है। इस तरह यहाँ दोनों ही श्लिष्टपद के द्वारा अभिहित होने से अमुख्यावृत्ति-गौणी-वृत्ति के द्वारा ही कथित उपलब्ध होता है। इस प्रकार यहाँ उभयवती अमुख्या परिवृत्ति का उदाहरण हैं।

स्व० भा०—अर्थ सम्बन्धी बातें वृत्ति में स्पष्ट हैं किन्तु 'मुख्या', तथा 'अमुख्या' पदों का अर्थ अवश्य विचारणीय है। भोज ने इनका अर्थ दो प्रकार का किया है। प्रथमतः तो विषय के महत्त्व की अथवा प्रधानता की दृष्टि से तथा द्वितीय वृत्ति की दृष्टि से। जहाँ पदार्थ निश्चित समय पर स्वाभाविक रूप से उपस्थित हो जाता हैं, उसे विषयगत मुख्यता के अन्तर्गत रखा गया है, यथा-मुख्या व्यत्ययवती में प्रातःकाल कुमुद आदि का मुरझाना तथा कमलवनों का विकसित होना आदि। वही अमुख्य रूप से उनकी उपस्थिति है अर्थात् मुख्यरूप से प्रस्तुत होने वाली वस्तुयें दूसरी हैं और ये उनके बाद गिनी जा सकती हैं, जैसे व्यत्ययवती अमुख्या में। इसके

अतिरिक्त जहाँ पर मुख्यार्थ-संकेतित अर्थ, अभिधेय अथवा वाच्य अर्थ—ही अभीष्ट होता है, किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती है, वहाँ मुख्यावृत्ति मानी जाती है, किन्तु जहाँ पर मुख्यार्थ बाध करके उससे सम्बद्ध कोई अर्थ निकाला जाता है, वहां अमुख्या अथवा गौणी वृत्ति होती है। भोजदेव के गौणी में लक्षणा तथा व्यञ्जना दोनों का ही समावेश है। विनिमयवती अमुख्या तथा उभयवती मुख्या मे इनका रूप देखा जा सकता है।

एकत्र प्रतीतस्यान्यत्र प्रत्ययः परिवृत्तौ, तथा निदर्शनेऽपीति तदनन्तरं निदर्शनं लक्षयति—

दृष्टान्तः प्रोक्तसिद्ध्यै यः सिद्धेऽर्थे तन्निदर्शनम्।
पूर्वोत्तरसमत्वे तदृजु वक्रं च कथ्यते ॥३१॥

(११) निदर्शना

अर्थसिद्ध होने पर प्राकरणिक प्रसंग के निश्चय के लिये जो दृष्टान्त है, वही निदर्शना है। पूर्व, उत्तर तथा समता होने पर वह ऋजु तथा वक्र भी कही जाती है ॥ ३१ ॥

स्व० भा०—भोज निदर्शना में दृष्टान्तता की अपेक्षा करते हैं, जबकि अन्य आचार्यों ने किञ्चित् भिन्नता स्वीकार की है। भामह भी सादृश्य मानते है—

क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात् ।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना ॥ ३।३१ ॥

आचार्य दण्डी कहते हैं कि—

अर्थान्तरप्रवृत्तेन किञ्चित् तत्सदृशं फलम् ।
सदसद् वा निदर्श्येत यदि तत्स्यान्निदर्शनम् ॥ २।३४८ ॥

इन लोगों ने ऋजुता तथा वक्रता की ओर संकेत नहीं किया है।

दृष्टान्त इति। प्रोक्तस्य प्राकरणिकस्य सिद्धिर्निश्चयः। नन्वनुमानाङ्गमपि दृष्टान्ताभिधानं पृथगलंकारः स्यादित्यत आह—सिद्धेऽर्थे इति। सिद्ध एवार्थे कंचिद्विशेषमावेदयितुं दृष्टान्तोक्तिर्निदर्शनम्, साध्ये स्वर्थेऽनुमानमिति विभागः। पूर्वं दार्ष्टान्तिकोक्तिं समाप्य पश्चाद् दृष्टान्तोक्तिरिति द्वितीयः। एकयैवोक्त्या दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरुक्तिरिति तृतीयः। तद्यथाह-पूर्वोत्तरसमत्व इति। यत्र शब्दत एव तुल्येतिवृत्तता दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरनुगम्यते तदृजु निदर्शनम्। यत्र तु पर्यवसितामुक्तौ सहृदयपर्यालोचनया तद्वक्रम्। तदेतदाह—ऋजु वक्रं चेति। तेन निदर्शनस्य षड् भेदाः ॥

तेषु पूर्वमृजु यथा—

'उदयन्नेव सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम्।
विभावयति भूतीनां फलं सुहृदनुग्रहः ॥८४॥'

अत्र ऋजूक्त्यैव पूर्वं दृष्टान्तः पश्चाद्दार्ष्टान्तिकं प्रदर्शितमितीदमृजुपूर्वं च निदर्शनं सूर्यदृष्टान्तेन विभूतीनां सुहृदनुग्रहः फलमिति ज्ञापयति ॥

इनमें से पूर्व ऋजु का उदाहरण—

सूर्य उदित होते ही कमलों में शोभा का विस्तार करता है। मित्रों पर अनुग्रह सम्पत्ति का फल विभावित करता है ॥ ८४ ॥

यहाँ पर ऋजु उक्ति के द्वारा ही पहले दृष्टान्त और बाद में दार्ष्टान्तिक—दृष्टान्त का विषय-

प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार यह ऋजुपूर्व निदर्शन सूर्य के दृष्टान्त से सम्पत्तियों का मित्रोपकार फल होता है, इसको स्पष्ट करता है।

स्व० भा०—यहाँ पर उद्धृत श्लोक ठीक बैठ नहीं रहा है क्योंकि कर्म का अभाव है। दण्डी के काव्यादर्श में इसका पाठ इस प्रकार मिलता है—

उदयन्नेष सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम्।
विभावयितुमृद्धीनां फलं सुहृदनुग्रहम् ॥ २।३४९ ॥

इस श्लोक का अर्थ ठीक बैठता है।

यहाँ सर्वत्र एक ही बात स्पष्ट रूप से कह दी गई है, अतः ऋजुता है और दृष्टान्त पूर्वार्ध में है, अतः पूर्वता भी। ऋद्धियों के द्वारा मित्र अनुगृहीत किये जाते हैं, यह एक स्वतः सिद्ध बात है। यह एक सामान्य तथ्य भी है। किन्तु सम्पत्ति का फल यही है, इस बात को दृष्टान्त के द्वारा प्रकट किया जा रहा है। ऋजुता का दूसरा कारण यह भी है कि समृद्धि का फल मित्रता तथा अनुग्रह दोनों को शब्दतः कह दिया गया है, इनको प्रतीयमान नहीं रखा गया है।

सूर्यदृष्टान्तेनेति। ऋद्धिभिः सुहृदनुगृह्यत इति सिद्धोऽर्थः, किंतु तदेतदेव तासां फलमिति विशेषमभिधातुं सूर्यदृष्टान्तोपन्यासः। अत्र समृद्धताफलं सुहृत्त्वमनुग्रहत्वं चेति शब्दत एव सूर्यादिषु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभिमतेषु प्रतीयत इति ऋजुत्वमित्यर्थः॥

तदेव वक्रं यथा—

'पाणउडी अवि जलिउण हुअवहो जलइ जण्णवाउम्मी।
णहु ते परिहरिअव्वा विसमदसासण्ठिआ पुरिसा ।।८५।।'

[पानकुटीमपि ज्वालयित्वा हुतवहो ज्वलति यज्ञवाटमपि।
नहि ते परिहर्तव्या विषमदशासंस्थिताः पुरुषाः ॥]

अत्रापि पूर्वं दृष्टान्तः पश्चाद्दार्ष्टान्तिकम्। किंतु यथा पूर्वत्रोदयमानः सविता सुहृत्पद्मेषु श्रियमर्पयतीति तुल्येतिवृत्तता ऋजूक्त्या शब्देनैवाभिधीयते। नैवमत्र। किं तर्हि, ज्वलनेतिवृत्तेन तुल्यं तत्तु तत्पुरुषाणामितिवृत्तमशाब्दं युक्तिचातुर्यात् प्रतीयते तदिदं पूर्वं च वक्रं निदर्शनम् ।।

(१) उसी पूर्व के ही वक्र का उदाहरण—

मदिरायतन को जलाकर अग्नि यज्ञशाला को भी जला देता है। अतः तुमको चाहिये कि तुम विषम दशा में पड़े हुये पुरुषों को छोड़ो मत ॥ ८५ ॥

यहाँ भी पहले दृष्टान्त और बाद में दृष्टान्त का विषय है। लेकिन जिस प्रकार पहले श्लोकमें निरूपित है कि उदित हो रहा सूर्य मित्रकमलों पर शोभा बिखेरता है, इसमें वृत्तान्त की समानता ऋजु उक्ति द्वारा शब्दतः अभिधा व्यापार द्वारा प्रकट कर दी गयी है, वैसी बात यहाँ नही है। तब क्या है ? अग्नि के वृत्तान्त से समरूप जो पुरुषों की बातें हैं वे बिना शब्द के ही युक्ति की चतुराई से प्रतीत हो रही हैं। अतः यहाँ पूर्व वक्र निदर्शन है।

स्व० भा०—ऋजु उक्ति में ज्ञाप्य विषय शब्दतः स्पष्ट कर दिया गया था। यहाँ पर कोई सखी नायिका से कह रही है कि जिस प्रकार अग्नि मदिरालय को जला सकती है, उसी प्रकार यज्ञशाला को भी, अतः यह पुरुष अव्यवस्थितचित्तता के कारण किसी ग्रामीण बाला से सम्बद्ध होने पर भी किसी नागरी से प्रेम कर सकता है। तुम्हें इसको छोड़ना नहीं चाहिये। यह रहस्य

इस श्लोक में स्पष्टरूप से शब्दतः नहीं कहा गया है, वह प्रतीयमान है, जिसे टेढ़े ढंग से सामने उपस्थित किया गया है। इस प्रकार वक्रता भी सिद्ध ही है।

पाणउडिति। पाणपदं म्लेच्छदेशीयम्। पाने कुटी शौण्डिककुटी वा। अत्रापीति। दृष्टान्तेऽपि पानकुटीज्वलनादिकं विशेषणमुपात्तम्। न च तद्दार्ष्टान्तिके संभवति शब्देन वा प्रत्याय्यते, किंतु बिम्बप्रतिबिम्बन्यायेनात्र भवति। तथा हि यथा पानकुट्यां हुतवहस्य ज्वलनं यज्ञवाटे च तथाऽव्यवस्थितचित्ततया ग्रामीणविदग्धयुवतिप्रसक्तो भूत्वान्यत्र नागरिकासु विदग्धासु रज्यते सोऽपि न त्याज्य इत्युक्तिचातुर्यात्तुल्येतिवृत्तता गम्यतेऽतो वक्रत्वमित्याह—किंतु यथेति॥

उत्तरमृजु यथा—

'हिअअ तिरच्छीयइ संमुहपच्छा गहिअकडक्खास्स।
पहिअ एक्केज्जे गोरडी णं चउहट्ट उवच्छ॥८६॥'

[हृदये तिरश्चीना संमुखे प्राप्ता पश्चाद् गृहीतकटाक्षास्य।
पथिकस्यैकैव गौरी ननु चतुष्पथे व्रजति॥]

अत्र ऋजूक्त्या शब्दतः एवाभिधीयमानसाधर्म्यं दार्ष्टान्तिकमभिधायोत्तरकालं दृष्टान्तोऽभिहितस्तदिदमुत्तरमृजु निदर्शनम्॥

(२) उत्तर ऋजु का उदाहरण—

हृदय में तिरछी, सामने में उपस्थित तथा पीछे से गृहीत कटाक्षों वाली पान्थ की एक ही गौरी चतुष्पथ पर जा रही है॥ ८६॥

यहाँ पर ऋजु उक्ति के द्वारा शब्द से ही वाच्य साधर्म्य वाले दार्ष्टान्तिक का अभिधान करके उत्तरकाल में दृष्टान्त कहा गया है। यह उत्तर ऋजु का निदर्शन है।

स्व० भा०—यह उत्तर ऋजु का उदाहरण है क्योंकि औपम्यभाव को पुष्ट करने वाला भाव उत्तरार्ध में है। जिस प्रकार किसी चौराहे पर कोई व्यक्ति सामने पड़ता है, कोई तिरछे और कोई पीछे हो जाता है, उसी प्रकार गौरी पथिक के समक्ष अकेली ही सर्वत्र विद्यमान है। यहाँ पर ऋजुता है, सम्पूर्ण अर्थ स्वतः प्रकट है, किसी की खींचतान नहीं करनी पड़ती और न तो अभिधा के अतिरिक्त किसी दूसरी शब्द-शक्ति का ही प्रयोग करना पड़ता है।

हिअएति। विच्छित्तिपथिकस्याभिलाषिता या योपित्सा एकैव। हृदये स्मरणारूढा सती लग्ना अतएव तिरच्छीयइ तिर्यक्शल्यायमाना पथिकसंमुखाभिमुखस्य तस्य चलितत्वात्। पश्चाच्च गृहीतकटाक्षा पश्चाद्भूतेन गृहीतश्चमत्कृतः कटाक्षो यस्याः। एक्केज्जे एकैव। जिरवधारणे। णं ननु चतुष्पथे कश्चित्संमुखतां कश्चित्तिरश्चीनतां कश्चित्पश्चाद्भावं धत्ते, गौरी तु पथिकस्यैकैव तथेति। अत्र ऋजूक्त्या शब्दत एवेति। तिर्यक्त्वादीनामुभयगामिनां शब्देनोपादानात्प्रतीतिमात्रेण चालंकारनिर्वाहः॥

तदेव वक्रं यथा—

'उपरि घनं घनपटलं दूरे दयिता किमेतदापतितम्।
हिमवति दिव्यौषधयः कोपाविष्टः फणी शिरसि॥८७॥'

अत्रापि दार्ष्टान्तिकमभिधायोत्तरकालमेव दृष्टान्तो विहितस्तदिदमुत्तरं ऋजु निदर्शनम्; किंतु यथा पूर्वस्मिन् हृदये तिर्यगित्यादिभिः शब्द एव ऋजूक्त्या

साधर्म्याभिधानम्, नैवमत्र तथा, अपि तु किमेतदापतितमित्युक्तिचातुर्येण विपर्ययेण च लिङ्गसंख्या यथासंख्यानाम् । तदेतदुत्तरं वक्रं च निदर्शनम् ।

उसी अर्थात् उत्तर वक्र का उदाहरण—

ऊपर ही सघन मेघ मण्डल है, प्रियतमा बड़ी दूर है । ऐसी दशामें भला यह क्या आ पड़ा ? यह तो वैसा ही हुआ कि दिव्य ओषधियाँ तो हिमालय पर हों और क्रोधान्ध सर्प सिर पर बैठा हो ॥ ८८ ॥

यहाँ भी दार्ष्टान्ति का अभिधान करके उत्तर काल में ही दृष्टान्त अभीष्ट है । इस प्रकार यह उत्तर ऋजु निदर्शन है, किन्तु जिस प्रकार पूर्ववर्ती श्लोक में 'हृदय में तिर्यक्' इत्यादि के द्वारा शब्द में ही ऋजु उक्ति के द्वारा साधर्म्य का अभिधान है यहाँ पर उस प्रकार की बातन हीं है, बल्कि 'किमेतदापतितम्' इस युक्तिचातुर्य से यथासंख्य की विपर्यय से लिङ्गसंख्या है ।

अतः यह उत्तर वक्र निदर्शन है ।

स्व०भा०—इस श्लोक के उत्तरार्ध की दृष्टान्तता तो स्पष्ट ही है । इसके पूर्ववर्ती श्लोक में जो कुछ भी कथनीय था, उसका शब्दतः अभिधान कर दिया गया था । प्रस्तुत में कुछ बातें तो यथासंख्य क्रम से शब्दशः कह दी गई है, जैसे मेघगर्जन तथा प्रिया-वियोग, सर्प का सिर पर तथा ओषधि का हिमालय पर होना, इन दोनों विपरीत पदार्थों की भिन्न-भिन्न स्थान पर स्थिति युक्तरूप से कह दी गई है । हर एक का विरोधी उसके साथ दिया गया है, इतनी सी ही यदि बात होती तो ऋजुता होती ही, किन्तु 'किमेतदापतितम्' से एक अस्पष्ट अनर्थ की सूचना दी गई है । यह अनर्थ बहुत अधिक हानिकर हो सकता है । 'सामान्ये नपुंसकम्' से नपुंसक लिंग होने के कारण पूर्वनिर्दिष्ट यथासंख्य विधानों के विपरीत है । इसमें पदार्थ तथा उनके विरोधियों का समावेश न करके यथासंख्य विधान का विपर्यय प्रकट किया गया है । यही इसकी विपरीतता है, और यही इसकी कुटिलता है—वक्रता है । अर्थात् 'किमेतदापतितम्' में घोर अनर्थ के आगमन का कथन अभिधेय नहीं है, अतः वक्रता है । यथासंख्यता का विरोध इसलिये है क्योंकि दो विषयों का तो शब्दतः कथन है, किन्तु यहाँ उन परस्पर विषयों का आख्यान नहीं ।

अपि तु किमेतदापतितमित्युक्तिचातुर्येणेति । **ननु च उपरीत्यनेन व्यवधानमुपात्तं दृष्टान्तेऽपि शब्द एव प्रतिफलति तत्कथं वक्रत्वमित्यत आह**—विपर्ययेणेति । **घनपटलं नपुंसकम्, फणी पुमान्, दयिता चैकवचनवती, ओषधयो बहुवचनालिङ्गिता । घनपटलं पूर्वं दार्ष्टान्तिकमुपक्रम्य दृष्टान्तोक्तौ न पूर्वं फणी निर्दिष्टः । ततो लिङ्गसंख्यानां विपर्ययो भवति, तदयमर्थेन शब्दत एवोपरि पर्यवस्थानं दूरत्वं च दृष्टान्तयोः प्रतीयते, शिरसि हिमवतीत्येताभ्यामन्यथाकारं बोधितत्वात् । फलतस्तु स एवार्थ इति वक्रतैवेति ।**

सममृजु यथा—

'याति चन्द्रांशुभिः स्पृष्टा ध्वान्तराजी पराभवम् ।
सद्यो राजविरुद्धानां दर्शयन्ती दुरन्तताम् ॥८८॥'

अत्र विरुद्धानामिति श्लिष्टपदेन दर्शयन्तीति वर्तमानकाललक्षणात्सद्य इति तद्धितेन च समकालमेत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः शब्दतो ऋजुवाक्यैवोक्तत्वादिदमृजु समं च निदर्शनम् ।

सम ऋजु का उदाहरण—

चन्द्रमा की किरणों से स्पृष्ट होकर अन्धकार समूह परास्त हो रहा है जिससे राजा के विरुद्ध लोगों की एकाएक दुःखान्तता प्रकट होती है ॥ ८८ ॥

यहाँ पर 'राजविरुद्धानां' इस श्लिष्टपद तथा 'दर्शयन्ती' इस पद में वर्तमान काल का चिह्न होने से तथा 'सद्यः' इस तद्धित पद से समानकाल में ही दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक इन दोनों का शब्दतः ऋजु उक्ति के द्वारा ही कथन होने से, यह ऋजु और सम निदर्शन है।

स्व० भा०—पूर्ववर्ती उदाहरणों में पूर्वता उत्तरता दृष्टान्त की स्थिति के आधार पर निर्धारित की गई थी, यहाँ प्रदर्शित किया जा रहा है कि जब पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में दृष्टान्तवद्भाव होता है, तब सम निदर्शन होता है। यहाँ पर 'राजा' शब्द श्लिष्ट है, इसका अर्थ 'राजा' तथा 'चन्द्रमा' दोनों होता है। यदि उत्तरार्ध में राजापद का अर्थ चन्द्रमा स्वीकार किया जाये तो दोनों अर्धभाग दृष्टान्त के रूप में ग्राह्य हो सकेंगे। इसी कारण यहाँ समता है। शतृप्रत्ययान्त पद 'दर्शयन्ती' द्वारा वर्तमान काल का बोध कराया जा रहा है और 'सद्यः' इस तद्धित पद के द्वारा भी। दोनों का सम्बन्ध दोनों वाक्यों से है। दृष्टान्त तथा काल दोनों का अभिधान स्पष्ट रूप से अभिधा व्यापार द्वारा शब्दतः हो रहा है। अतः ऋजुता है।

यातीति। राजा चन्द्रो नृपतिश्च। तदनयोः श्लिष्टोक्तिविषयतया न पूर्वापरभावो विभाव्यते। चन्द्रांशुपराभूतध्वान्तराजीनृपतिविरुद्धदुरन्तयोरपि दर्शयन्तीति शत्रा, सद्य इति तद्धितेन च समत्वम्। किंतु ध्वान्तराजी पराभवं यातीति दृष्टान्तोक्तौ सत्यां मध्ये राजविरुद्धानामिति दार्ष्टान्तिकमुक्त्वा पुनरपि दृष्टान्तविशेषणं दर्शयन्तीत्युक्तम्। अत एवोक्तिकवलीकृतत्वाद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः समत्वमित्याशयवान्व्याचष्टे—अत्र राजविरुद्धानामिति।

तदेव वक्रं यथा—

'ण उण वरकोअण्डदण्डए युतिमाणुसेवि एमेअ।
गुणवज्जिएण जाअइ वंसुप्पण्णे वि टङ्कारो ॥८९॥'

[न पुनर्वरकोदण्डदण्डके पुत्रि मानुषेऽप्येवमेव।
गुणवर्जिते न जायते वंशोत्पन्नेऽपि टङ्कारः ॥]

अत्र न केवलं कोदण्डदण्डके मानुषेऽप्येवमेवेतीतरेतरयोगवद्वक्रतया युगपदभिधानं गुणवर्जितवंशोत्पन्नेऽपि टङ्कारो न जायत इति श्लिष्टपदत्वेऽपि व्यतिरेकमुखेन गुणवृत्त्या चाभिधानाद्धनुषीव मानुषेऽपि गुणवत्येव महाञ्शब्दो भवतीति वक्रोक्त्या साधर्म्यावगतिः। तदिदमशब्दत्वादिभिः पूर्वाभ्द्रिद्यमानं समं वक्रं च निदर्शनम्।

सम के ही वक्र भेद का उदाहरण—

हे पुत्री, केवल सुन्दर धनुर्दण्ड में ही नहीं अपितु इसी प्रकार मनुष्यमें भी सद्वंश में उत्पन्न होने पर भी गुणरहित होने पर टङ्कार—महान् शब्द—नहीं होता ॥ ८९ ॥

यहाँ 'न केवल धनुर्दण्ड में अपितु मनुष्य में भी ऐसा ही होता है' इस कथन से इतरेतरयोगवक्रता के कारण एक साथ अभिधान होता है। 'गुणहीन वंश में उत्पन्न होने पर भी टङ्कार नहीं होती' इसमें पद की श्लिष्टता होने पर भी व्यतिरेक प्रदर्शित करके गौणीवृत्ति द्वारा अभिधान होने से 'धनुष् के सदृश मनुष्य में भी गुणवत्ता होने पर ही 'महान्' शब्द होता है।' इस प्रकार के साधर्म्य का ज्ञान वक्रोक्ति के द्वारा होता है। इस प्रकार यह शब्दतः वाच्य आदि न होने से पूर्व उदाहरण से भिन्न सम तथा वक्र नामक निदर्शन है।

स्व० भा०—इस श्लोक में गुण, वंश, टङ्कार पद श्लिष्ट हैं। गुण के धीरता आदि तथा सूत्र,

वंश के बाँस तथा सत्कुल, और टङ्कार के घोष तथा ख्याति अर्थ अभीष्ट हैं। इनकी श्लिष्टता के कारण ही धनुर्दण्ड तथा मनुष्य का साधर्म्य व्यक्त होता है। दोनों का दृष्टान्त भाव पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों अंशों में व्याप्त है। इन साधर्म्यव्यंजक पदों में धनुर्दण्ड तथा मानुष दोनों का एक साथ अन्वय सम्भव होने से पहले की भाँति यहाँ भी ऋजुता की भ्रांति संभव है, किन्तु यहाँ अर्थ का पर्यवसान केवल शब्दार्थ ग्रहण करने से ही नहीं हो जाता। वस्तुतः अभीष्ट तो है-धनुष् के सदृश ही मनुष्य में भी 'महान्' का योग। यह 'महत्ता' का भाव किसी भी शब्द का वाच्य अर्थ नहीं है। वाच्य न होने से यह अर्थ प्रकट न कराने के लिये गौणीवृत्ति का आश्रय लेना पड़ता है।

ण उण वरेति। गुणो धैर्यादिस्तन्त्री च, वंशः कुलं वेणुश्च, टङ्कारोऽव्यक्तानुकरणं ख्यातिश्च। इतरेतरयोगवदिति। तथाहि—'त्वन्मुखं पुण्डरीकं च फुल्ले' इत्यत्र फुल्लं चेतीतरेतरयोगेनैकशेषे एकयोक्त्या फुल्लेति द्वाभ्यां संबध्यते। तथा विनाप्येकशेषं गुणवज्जिएण वंसुप्पण्णे टङ्कार इति युगपदन्वीयन्ते। ननु यथा राजविरुद्धानामित्यत्र शेषेण ऋजुत्वं तथात्रापि भविष्यतीत्यत आह—श्लिष्टपदत्वेऽपीति। धनुषीव मानुषेऽपि महाञ्शब्दो भवतीति विवक्षितम्ः न च व्यतिरेकमुखेनोपनयेऽयमर्थः शब्दादवगम्यते, प्रतीयते चार्थ इति युक्तं वक्रत्वम्। ननु व्यतिरेकेणैव कथं न तुल्यवृत्तिता संमतेत्यत आह—गुणवृत्त्या चेति। सत्यमेतत्तथापि द्वयोर्वर्णनीययोर्गुणादिकयोरभेदाध्यवसायो वक्तव्यः। तथा गौणवृत्तिव्यपाश्रयेणैव वक्रत्वम्। तदिदमुक्तं व्यतिरेकमुखेन गुणवृत्त्या चेति॥

व्यतिरेकं विना दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावाभावाद् व्यतिरेकाभ्यां तल्लक्षणमाह—

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
भेदाभिधानं भेदश्च व्यतिरेकश्च कथ्यते ॥३२॥

विभागं दर्शयति—

स्वजातिव्यक्त्युपाधिभ्यामेकोभयभिदा च सः।
सादृश्याद्वैसादृश्याच्च भिन्नः षोढाभिजायते ॥३३॥

(१२) व्यतिरेकालंकार

दो वस्तुओं का सादृश्य शब्दतः अभिहित अथवा प्रतीत होने पर दोनों के वैधर्म्यकथन अथवा भिन्नता को व्यतिरेक कहा जाता है। स्वजाति तथा व्यक्ति की उपाधि से, एक तथा उभय भेद से और वैसे सादृश्य के कारण भिन्न होकर वह (व्यतिरेक) छः प्रकार का हो जाया करता है॥ ३२-३३॥

स्व० भा०—इसके पूर्व केवल व्यतिरेक का नाम वृत्ति में उल्लिखित हुआ था, यहाँ उसका सर्वाङ्गीण विवेचन हो रहा है। व्यतिरेक का वाच्य अर्थ है आधिक्य। भामह ने इसी अर्थ में इसका ग्रहण भी किया है—

उपमानवतोऽर्थस्य यद्विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद् यथा॥ काव्यालंकार २।७५॥

यह 'आधिक्य' उपमान की अपेक्षा उपमेय की उत्कृष्टता के प्रदर्शन में अभीष्ट है। उपमेय की अधिकता तब व्यक्त होती है जब उपमेय का उत्कर्ष और उपमान का अपकर्ष दोनों वर्णित हो, उपमान का अपकर्षमात्र ही, उपमेय का उत्कर्ष ही अथवा दोनों का ग्रहण ही न हो। रुद्रट

ने इसी भावना से प्रेरित होकर अपना व्यतिरेक का लक्षण दिया है—

यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने ।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः ॥ ७.८६ ॥

दण्डो के द्वारा दी गई परिभाषा को भोज ने किञ्चित् अन्तर के साथ स्वीकार किया है। इन दोनों द्वारा निरूपित लक्षणों में अधिक साम्य है ।—

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥ काव्या० २।१८०॥

'मुखमिव चन्द्रः' जैसे प्रतीप के उदाहरणों में भी वस्तुतः उपमान की उपमेयता स्वीकार करने पर उपमान की उत्कृष्टता ही प्रतीत होती है तथापि व्यतिरेक और प्रतीप में अन्तर यही है कि प्रथम में भेद बोधक कोई न कोई पद अवश्य होगा, जब कि द्वितीय में नहीं ।

भोज द्वारा निरूपित व्यतिरेक के भेदोपभेद भी दण्डी के भेदोपभेदों के अधिक निकट हैं। भोज ने जो स्वजाति, व्यक्ति, एक, उभय, सादृश्य तथा वैसादृश्य नामक भेद माने हैं, इनके परस्पर योग से कुछ और की भी संभावनायें हो जाती हैं, जिनका यथास्थान विवेचन होगा।

शब्दोपात्त इति । भेदाभिधानं वैधर्म्यकथनम् । एवं चेत् मेरुसर्षपयोरपि तथाभिधानमलंकारः स्यादत उक्तम्—सादृश्ये वस्तुनोरिति । उपमानोपमेययोरित्यर्थः । सादृश्यं द्विधा । शब्दोपात्तं प्रतीतं च । अशब्दोपात्तमपि ध्वननानुमानादिभिरवगम्यत इति न विरोधस्तदिदमुक्तम्—प्रतीते वेति । तदयमर्थः—उद्भूतचमत्कारिकसादृश्ययोर्वैरस्योक्तिर्व्यतिरेकः, स्वरूपाल्यस्तु पृथग् भेदो नास्त्येवेत्युक्तम् ॥

स्वजातीयेति । येन रूपेण वैयतिरेक्यमुपादीयते तद्रूपवन्तं व्यतिरेकप्रतियोगिनं परिकल्प्य ततो व्यतिरेकोऽपीति स्वजातिव्यतिरेकः प्रथमः प्रकार । द्वितीयस्तु सैव व्यक्तिर्विधर्मेति । एतत्प्रकारद्वयं यथासंख्यमभिधीयमानसादृश्ययोरिति मूलभेदद्वयं तथैवापरमेकानेकलक्षणं प्रकारद्वयं तत्रैवान्यत्सादृश्यवैसादृश्यरूपं द्वयमिति क्रमेण षोढा भेदो विवक्षितः । यथा च स्वजातिव्यतिरेकयोः प्रतीयमानाभिधीयमानसादृश्यगामिता न संभवति तथाग्रे वक्ष्यते ॥

तत्र शब्दोपात्तसादृश्ये स्वजातिव्यतिरेको यथा—

'अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः ।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः ॥९०॥'

अत्र यौवनप्रभवस्य तमसस्तमोजात्या सह दृष्टिरोधकरमिति सादृश्यमुक्त्वा, अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिरिति व्यतिरेको विहितः, सोऽयं स्वजातिव्यतिरेकः ॥

इनमें से शब्दोपात्त स्वजाति व्यतिरेक का उदाहरण—

जवानों का जवानी से उत्पन्न होने वाला तथा नेत्रों को ढक लेने वाला अन्धकार रत्नों के प्रकाश से नष्ट नहीं किया जा सकता, सूर्य की किरणों से अलग नहीं किया जा सकता ॥ ९० ॥

यहाँ पर यौवन से समुत्पन्न अन्धकार का अन्धकार जाति के साथ 'दृष्टिरोधकर' कहकर सादृश्य प्रकट किया गया है, और 'अरत्नालोक-संहार्य' तथा 'अवार्य सूर्यरश्मिभिः' यह कह कर व्यतिरेक भी विहित किया गया है। अतः यह स्वजाति व्यतिरेक हुआ ।

स्व० भा०—सामान्य अन्धकार तथा यौवनजन्य अन्धकार इन दोनों का सादृश्य 'दृष्टिरोध-

कता' से प्रकट है। किन्तु यौवनजनित अन्धकार सामान्य अन्धकार की अपेक्षा इसलिये विशिष्ट है क्योंकि वह रत्नज्योति तथा सूर्य-प्रकाश से दूर नहीं किया जा सकता। यही दोनों का भेद भी है। इस प्रकार सादृश्य-वाचक पद 'दृष्टिरोधकरम्' और भेदवाचक पद 'अरत्नालोक-संहार्य' तथा 'अवार्यं सूर्यरश्मिभिः' सभी उपात्त हैं। इनका अर्थग्रहण करने के लिये कोई कष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ रही है। दण्डी ने केवल एक श्लोक में यह सम्पूर्ण भाव व्यक्त कर दिया है—

'सजातिव्यतिरेकोऽयं तमोजातेरिदन्तमः ।
दृष्टिरोधितया तुल्यं भिन्नमन्यैरदर्शि यत् ॥ काव्यालंकार २।१९८॥

अत्र यौवनप्रभवस्येति। यौवनकृतमज्ञानलक्षणमन्यदेव तमोऽन्यच्चान्धकाररूपं तयोस्तद्भावापत्तिरियमेव कल्पनास्माभिरुक्ता। अनेन तु प्रकारेण रसः पुष्यतीत्यलंकारमध्ये गणनम् ॥

प्रतीयमानसादृश्ये स्वव्यक्तिव्यतिरेको यथा—

'अण्णोण्णेहिँ सुचरिअसएहिँ अणुदिण वड्ढिइअ माणु ।
अप्पणवि ण हु महुवि अह अप्पाणेण समाणु ॥९१॥'

[अन्योन्यैः सुचरितशतैरनुदिनं वर्धते मानः ।
अस्यापि न खलु महानपि अथात्मना समानः ॥]

अत्र प्रतीयमानोपमानसादृश्योपचरितभेदादात्मव्यक्तेरन्यैश्च सुचरितशतैः स्वव्यक्तित एव भेदोऽभिहितः। सोऽयं स्वव्यक्तिव्यतिरेकः ॥

दूसरे दूसरे सैकड़ों सुन्दर आचरणों से प्रतिदिन मान बढ़ता जाता है। किन्तु महान् होने पर भी इसका मान अपने समान नहीं है ॥ ९१ ॥

यहाँ पर प्रतीयमान उपमान के सादृश्य में आत्म व्यक्ति का उपचार भेद होने से अन्य-अन्य सदाचरणों के द्वारा स्वव्यक्ति से ही भेद अभिहित होता है। यह है स्वव्यक्ति-व्यतिरेक का उदाहरण।

स्व० भा०—जहाँ पर एक व्यक्ति के गुण-विशेष परस्पर समान होने पर भी भिन्न निरूपित होते हैं, वहाँ यह व्यतिरेक होता है। यहाँ व्यक्ति का अर्थ कोई मनुष्य नहीं अपितु कोई एक इकाई है। यहाँ अन्यान्य कर्मों द्वारा प्रवृद्ध मान का स्वाभाविक मान से भेद अभीष्ट है। भेद निरूपण के द्वारा ही दोनों मानों की समानता स्वतः सिद्ध है। वह समानता वाच्य नहीं अपितु प्रतीयमान ही है।

अण्णोण्णेहि अन्योन्यैर्मानोऽहंकारः पूजा वा। यौ तु कल्पितभेदाधिकरणत्वेनोपात्तौ विरोधिधर्मवत्तया शब्दात्प्रतीयेते तयोर्नियन्तृणत्वादिकमिति भवति सादृश्यं प्रतीयमानम् ॥

शब्दोपात्तसादृश्य एकव्यतिरेको यथा—

'प्रेयानेव वृषस्तवापि सततं भूतिस्तवापि स्थिरा
दुर्गाया भवतापि भूधरभुवः सम्यग्गृहीतः करः।
निर्व्याजं परमेश्वरत्वमियता नो यासि वक्तुं जनै-
र्हेलोल्लासितवाहिनीशमथने यन्नो विषादी भवान् ॥९२॥'

अत्र प्रियवृषत्वादिभिरभिहितसादृश्ययोरुपमानोपमेययोरुपमेयस्यैव यथोक्तसादृश्यविषये विषादित्वं युक्तमित्येकव्यतिरेकोऽयम् ॥

शब्दोपात्त सादृश्य के एक-व्यतिरेक का उदाहरण—

(शङ्कर से किसी राजा की तुलना करते हुये एक कवि उससे कह रहा है कि)—आपको भी शिव की भाँति वृष (-धर्म तथा बैल) प्रिय हैं, आपकी भूति (सम्पत्ति) निरन्तर स्थिर है (और शंकर की भूति (भस्म) स्थिर है)। शिव ने भूधरभू—गौरी-दुर्गा का भलीभाँति कर-ग्रहण किया था और आपने भी दुर्गम पर्वत प्रदेशीय भूमि का 'कर' भलीभाँति ग्रहण कर लिया है। निश्चल रूप से आपमें भी उन्हीं की भाँति परमेश्वरत्व है। बस इतना ही लोग आपको शिव के सामान नहीं कह पाते हैं कि बड़ी प्रसन्नता से उल्लासित सिन्धु के मन्थन के समय उन्होंने विष का पान किया था और 'विषादी' बने थे, किन्तु कोलाहल करते हुये उछल कूद रहे सेना के सेनापतियों को मारने में आपको कष्ट नहीं होता था—आप विषादी नहीं होते थे ॥ ९२ ॥

यहाँ पर 'प्रियवृषत्व' आदि द्वारा कथित सादृश्य वाले उपमान तथा उपमेय दोनों में से उपमेय की ही यथोक्त सादृश्य के प्रसंग में विषादित्व' की समानता युक्त थी। इस प्रकार यह एक व्यतिरेक है।

स्व० भा०—जहाँ पर एक ही का व्यतिरेक निरूपित हो, वहाँ एक-व्यतिरेक मान्य होता है। प्रस्तुत प्रसंग में उपमेय का ही सादृश्य निरूपित करके उसके सदृश 'विषादित्व' की भी उपयुक्तता सिद्ध होनी थी, किन्तु इस गुण की अनुपस्थिति दिखलाकर दोनों में भेद प्रदर्शित किया गया। यद्यपि सभी समानतायें अभिधेय अर्थ ग्रहण करने पर युक्त नहीं सिद्ध होती हैं, तथापि श्लेष के सहारे सबका शब्दतः कथन होने से उपयुक्तता स्वतः सिद्ध है। शब्दों का-वृषप्रियता, परमेश्वरत्व आदि का—ग्रहण होने से यहाँ शब्दोपात्तता है। वृष के धर्म तथा बैल, भूधरभू के पर्वतीय भूमि तथा हिमालय से उत्पन्न, दुर्गा के—गौरी तथा दुर्गम, कर के हाथ तथा राजदेय, परमेश्वरत्व के उत्कृष्ट स्वामित्व तथा महादेवत्व, वाहिनीश मथन के—सिन्धु के मन्थन तथा सेनापतियों के विनाश और विषादी के विषपायी तथा खिन्न ये दो दो अर्थ अभीष्ट हैं।

प्रेयानेवेति। **वृषो गौर्धर्मश्च। भूतिः सम्पद् भस्म च। दुर्गा गौरी विषमा च। भूधरभूर्गिरिजा पर्वतभूमिश्च। करो हस्तो राजदण्डश्च। वाहिनीशः समुद्रः सेनापतिश्च। विषादी विषभक्षकोऽवसादवांश्च। यद्यप्यत्रानुरूपं सादृश्यं नास्ति तथापि शब्दसादृश्येनाप्युपमा प्रवर्तत एव। यथा—'सकलङ्कं पुरमेतज्जातं संप्रति सितांशुबिम्बमिव' इति। अत एवोभयालंकारत्वमुपमायाः ॥**

स एव प्रतीयमानसादृश्यो यथा—

'सकलङ्केन जडेन च साम्यं दोषाकरेण ते कीदृक्।
अभुजङ्गः समनयनः कथमुपमेयो हरेणासि ॥९३॥'

अत्र प्रतीयमानसादृश्यस्य पूर्वार्धे चन्द्रोपमानस्य सकलङ्कतादिरुत्तरार्धेन वर्णनीयोपमेयस्याभुजङ्गत्वादिरेकस्यैव भेदकः स्वधर्मोऽभिहितः सोऽयमप्येकव्यतिरेक एव ॥

उसी अर्थात् एकव्यतिरेक का ही प्रतीयमान-सादृश्य का उदाहरण—

कलङ्की, जड़, तथा दोषों की खान चन्द्रमा से अपवाद स्वरूप और शीतल आपकी समता

कैसी ? सर्प लपेटे हुये तथा विषमनेत्र शिव से भी वेश्या से सम्पर्क न रखनेवाले तथा दो नेत्रों वाले आपकी तुलना कैसे हो सकती है ? ॥ ९३ ॥

यहाँ प्रतीयमान सादृश्य वाले चन्द्रमा रूपी उपमान का पूर्वार्ध में सकलङ्कता आदि तथा उत्तरार्ध के द्वारा वर्णनीय उपमेय का अभुजङ्गत्व आदि एक का ही भेदक स्वधम अभिहित है। अतः यह भी एकव्यतिरेक ही है।

स्व० भा०—इस श्लोक में पूर्वार्ध में चन्द्रमा से तथा उत्तरार्ध में हर से किसी व्यक्ति का वैधर्म्य सा स्पष्ट है। उपमेय की ही–केवल एक की ही-विशिष्टता वर्णित है, जिससे उपमेय उपमान की अपेक्षा उत्कृष्ट हो रहा है। यहाँ उपमेय उपमान के भेदक तत्त्व तो जरूर स्पष्ट हैं किन्तु सादृश्य का भाव शब्दतः उक्त नहीं, उसकी कल्पना अथवा अपनी ओर से योजना करनी पड़ रही है। अतः यह प्रतीयमान सादृश्य का उदाहरण हुआ।

सकलङ्केनेति। कलङ्कोऽपवादो लाञ्छनं च। जडो मूर्खः शीतलश्च। अभुजङ्गो न वेश्यापतिरविद्यमानसर्पश्च। समनयनो युगनयनः सर्वान् समं नयतीति च। आह्लादकत्वादिकं चन्द्रेणानिरुद्धैश्वर्यादिकं परमेश्वरेण सादृश्यं प्रतीयते॥

शब्दोपात्तसादृश्ये उभयव्यतिरेको यथा—

'अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि।
असावञ्जनसंकाशस्त्वं च चामीकरद्युतिः॥९४॥'

अत्र द्वयोरप्यभिधीयमानसादृश्ययोरुभयव्यतिरेकः॥

शब्दोपात्तसादृश्य में उभयव्यतिरेक का उदाहरण—

कोई कवि अपने राजाकी प्रशंसामें कहता है कि हे महाराज, आप तथा समुद्र दोनों ही अभिन्न-वेला तथा गम्भीर हैं, अर्थात् सागर अपना तीर नहीं छोड़ता तथा अगाध है और आप भी मर्यादा को तोड़ते नहीं और गूढाशय हैं, किन्तु यह तो अञ्जन की भांति है और आप सोने की तरह ॥ ९४ ॥

यहाँ पर दोनों के ही सादृश्य का शब्दतः कथन होने से उभयव्यतिरेक है।

स्व० भा०—यहाँ उभय-व्यतिरेक है, क्योंकि उपमान तथा उपमेय के सादृश्यवाचक तथा भेदक शब्दों का प्रयोग हुआ है। शब्दतः इनका कथन होने से शब्दोपत्तता तो है ही। यहाँ सादृश्यवाचक शब्द हैं 'अभिन्नवेला' तथा 'गम्भीर' किन्तु भेदबोधक हैं 'अंजनसंकाश' तथा 'चामीकरद्युति' (सुवर्ण की कांति वाले)। दण्डी ने एक श्लोक में ही यह सब कह दिया है।

उभयव्यतिरेकोऽयमुभयोर्भेदकौ गुणौ।
कार्ष्ण्यं पिशङ्गता चोभौ यत् पृथग् दर्शिताविह ॥ २।१८४ ॥

अभिन्नेति। वेला मर्यादा तीरं च। गम्भीरोऽतलस्पर्शोऽचलितचित्तवृत्तिश्च॥

त्वन्मुखं पुण्डरीकं च द्वयोरप्यनयोर्भिदा।
कमलं जलसंरोहि त्वन्मुखं त्वदुपाश्रयम्॥९५॥'

तदेतन्निगदेनैव व्याख्यातम्। सोऽयं प्रतीयमानसादृश्ययोरुभयोर्व्यतिरेकः॥

उभयव्यतिरेक वाले प्रतीयमान सादृश्य का उदाहरण—

तुम्हारे मुख तथा कमल इन दोनों में यही अन्तर है कि कमल जल में उत्पन्न होता है और तुम्हारा मुख तुम में ही आश्रित है॥ १९० ॥

यह तो पाठ से ही स्पष्ट है। अतः यह प्रतीयमान सादृश्य वाला उभय व्यतिरेक है।

स्व० भा०—वृत्ति में संकेत किया गया है कि इस श्लोक में लक्षण स्वयं स्पष्ट है। अर्थात् उपमेय तथा उपमान इन दोनों का भेद निरूपण तो शब्दतः किया गया है, किन्तु सादृश्य की अपनी ओर से कल्पना करनी पड़ेगी। 'मुख तथा कमल में यही अन्तर हैं' यह कहने का अभिप्राय ही यह है दोनों कोमलता, विकचता, सुगन्धता आदि में समान हैं। इनकी उद्भावना स्वयं करनी पड़ती है।

अभिधीयमानसादृश्ययोः सदृशव्यतिरेको यथा—

'त्वन्मुखं पुण्डरीकं च फुल्ले सुरभिगन्धिनी।
भ्रमद्भ्रमरमम्भोजं लोलदृष्टि मुखं तु ते॥९६॥'

अत्र मुखाम्भोजयोः 'फुल्ले सुरभिगन्धिनी' इति पदाभ्यामभिधीयमानसादृश्ययोः सदृशमेव भ्रमद्भ्रमरत्वं लोलदृष्टित्वं च भेदकमुपन्यस्तमिति सोऽयं शब्दोपात्तसादृश्ययोः सदृशव्यतिरेकः॥

अभिधीयमान सादृश्य वाले दोनों के सादृश्य व्यतिरेक का उदाहरण—

तुम्हारा मुख तथा कमल दोनों ही खिले हुये हैं और दोनों ही सुगन्ध से सुवासित हैं। अंतर यही है कि कमल में भौंरे भ्रमण करते हैं और तुम्हारे मुख में नयन चपल रहते हैं॥ ९६॥

यहाँ पर मुख तथा अम्भोज दोनों का 'फुल्ले सुरभिगन्धिनी' इन दो पदोंके द्वारा सादृश्य का अभिधान किया जा रहा है और समान ही 'भ्रमद्भ्रमरत्व' तथा 'लोलदृष्टित्व' दोनों के भेदक निरूपित किये गये हैं। अतः यह शब्दोपात्त सादृश्य वाले दोनों का सदृश व्यतिरेक का उदाहरण है।

स्व० भा०—यह उदाहरण स्वयं स्पष्ट है। यहाँ पर सादृश्य तथा भेद दोनों ही शब्दतः प्राप्त हैं। किसी भी अर्थ की अलग से प्रतीति नहीं करनी पड़ती। यहाँ सदृशव्यतिरेकता इसलिये है क्योंकि भेदकों-भ्रमर तथा नयन में भी सादृश्य निरूपित है।

स एव प्रतीयमानसादृश्ययोर्यथा—

'चन्द्रोऽयमम्बरोत्तंसो हंसोऽयं तोयभूषणम्।
नभो नक्षत्रमालीदमिदमुत्कुमुदं पयः॥९७॥'

अत्र पूर्वार्धे चन्द्रहंसयोः प्रतीयमानसादृश्ययोरम्बरोत्तंसत्वतोयभूषणत्वे, उत्तरार्धे तु नभःपयसोर्नक्षत्रमालित्वोत्कुमुदत्वे सदृशे एव भेदके। सोऽयं प्रतीयमानसादृश्ययोः सदृशव्यतिरेकः॥

उसी अर्थात् सदृश व्यतिरेक के ही प्रतीयमान सादृश्य का उदाहरण—

यह चन्द्रमा आकाश का भूषण है, यह हंस जल का अलङ्कार है, यह आकाश नक्षत्र समुदायों से युक्त है और इस जल में कमल खिले हैं।

यहाँ पूर्वार्ध में प्रतीयमान सादृश्य वाले चन्द्र तथा हंस इन दोनों का 'अम्बरोत्तंसत्व' तथा 'तोयभूषणत्व', उत्तरार्ध में 'नभ' तथा 'पय' इन दोनों का 'नक्षत्रमालित्व' तथा 'उत्कुमुदत्व' सदृश ही भेदक हैं, अतः यह प्रतीयमान सादृश्य वालों में सदृश व्यतिरेक का उदाहरण है।

स्व० भा०—चन्द्रमा और हंस को क्रमशः आकाश तथा तोय दो भिन्न पदार्थों का भूषण बतलाकर जहाँ एक ओर उनमें भिन्नता का द्योतन है वहीं भूषणत्व-सामान्य का सादृश्य भी है।

नभ तथा पय में क्रमशः नक्षत्रमालता तथा उत्कुमुदत्व जहाँ भिन्नता के बोधक हैं वहीं उनके शुक्लत्व या पूर्णत्व रूप सादृश्य के भी सूचक हैं। ये समस्त सादृश्य कल्पनीय हैं, शब्दतः कथित नहीं। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में एक ही कारिका में इनका निरूपण कर दिया है।—

प्रतीयमानशौक्ल्यादिसाम्ययोर्वियदम्भसोः ।
कृतः प्रतीतशुद्ध्योश्च भेदोऽस्मिंश्चन्द्रहंसयोः ॥ २।१९५॥

अभिहितसादृश्ययोरसदृशव्यतिरेको यथा—

'शशाम वृष्टिर्मेघानामुत्सङ्गे तस्य भूभृतः।
विरराम न रामस्य धारासन्ततिरश्रुणः ॥९८॥'

अत्र भूभृत इत्यनेन साक्षादुपात्तसादृश्ययो राममाल्यवतोर्योऽयमुत्सङ्गे समस्तोऽश्रुधारापातो यस्य मेघवृष्टेरभावस्तदिदमुभयोरसदृशमेव भेदकम्। सोऽयमभिधीयमानसादृश्ययोरसदृशव्यतिरेकः॥

अभिहित सादृश्य वाले दोनों में असदृश व्यतिरेक का उदाहरण—

उस पर्वत की गोद में मेघों की वर्षा तो शान्त हो गई, किन्तु उस राजा राम के उत्सङ्ग में आँसुओं का धारा-प्रवाह न रुका ॥ ९८ ॥

यहाँ 'भूभृत' पद के द्वारा साक्षात् कथित सादृश्य वाले राम तथा माल्यवान् का जो यह उत्सङ्ग में समस्त अश्रुधारा का पात है, तथा जिस मेघवृष्टि का अभाव है, यह दोनों का असदृश भेदक है, अतः यह अभिधीयमान सादृश्य वाले में असदृश व्यतिरेक है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में 'भूभृत' शब्द के द्वारा दोनों—माल्यवान् पर्वत तथा राजा—का सादृश्य उक्त है अर्थात दोनों ही 'भूभृत' हैं। इसलिये ये दोनों सदृश हुये। दोनों के योग से सादृश्य का अभिधान स्पष्ट ही है। इनकी असदृशता यही है कि एक ओर तो मेघवृष्टि रुक गई और दूसरे स्थान पर अश्रुप्रवाह न रुक सका।

शशाम वृष्टिरिति। भूभृतो राज्ञश्च ॥

स एव प्रतीयमानसादृश्ययोर्यथा—

'अभ्रूविलासमस्पृष्टमदरागं मृगेक्षणम् ।
इदं तु नयनद्वन्द्वं तव तद्गुणभूषितम् ॥९९॥'

अत्र कान्तामृगेक्षणयोः प्रतीयमानसादृश्ययोर्भ्रूविलासमदरागौ तदभावौ च विसदृशौ भेदकाविति सोऽयं प्रतीयमानसादृश्ययोरसदृशव्यतिरेकः॥

उसी का अर्थात् असदृश व्यतिरेक की दशा में प्रतीयमान सादृश्यों का उदाहरण—

मृगों के नयन तो भ्रूविलासों से रहित तथा मद की लाली से अस्पृष्ट होते हैं, किन्तु (हे प्रिये!) तुम्हारे तो ये दोनों नयन उन गुणों से युक्त हैं ॥ ९९ ॥

यहाँ पर कान्ता तथा मृग के नेत्रों के जिनका सादृश्य प्रतीयमान ही है, भ्रूविलास और मदराग तथा उनके अभाव असमान हैं और वे ही दोनों की भिन्नता के ज्ञापक हैं, अतः यह प्रतीयमान सादृश्यवालों का असदृशव्यतिरेक का उदाहरण हैं।

स्व० भा०—इस उदाहरण में कान्ता तथा मृग के नयनों की असदृशता भ्रूविलास तथा मदराग की उपस्थिति और अनुपस्थिति द्वारा उक्त है। अतः असदृशता का व्यतिरेक है। यहाँ सादृश्य का शब्दतः अभिधान नहीं हुआ है। उसकी कल्पना करनी ही पड़ेगी। इन दोनों का

सादृश्य इस उक्ति से ही कल्पित हो सकता है कि मृग के नयन गुणविशेष से रहित हैं और कामिनी के उनसे संयुक्त, अर्थात् यदि इन गुणों का अभाव होता तो दोनो के नयन समान होते।

सदृशासदृशव्यतिरेकाभ्यामेव तदुभयव्यतिरेकोऽपि व्याख्यातः। यथा—

'निर्मलेन्दु नभो रेजे विकचाब्जं बभौ सरः।
परं पर्यश्रुवदनौ मम्लतुर्भ्रातरावुभौ ॥१००॥'

अत्र नभःसरसोः प्रतीयमानसादृश्ययोर्निर्मलेन्दुत्वं विकचाब्जत्वं च प्राग्वदेव सदृशे भेदके, ताभ्यां च मुखचन्द्रमुखकमलाभ्यां मनोहराह्लादकत्वाभ्यां च प्रतीयमानसादृश्ययोरेव रामलक्ष्मणयोर्येयं मुखपर्यश्रुता, तनौ च म्लानिर्निर्मलेन्दुताविराजमानयोर्विकचाब्जत्वशोभमानत्वयोश्च सा विसदृशीति सोऽयं सदृशासदृशभेदकत्वकृतभेद एव तदुभयव्यतिरेकः॥

सदृश तथा असदृश व्यतिरेकों के द्वारा इनका उभयव्यतिरेक भी व्यक्त हो जाता है। जैसे—

निर्मल चन्द्रमा से युक्त आकाश सुशोभित था और सरोवर भी खिले कमलों से भर गये, किन्तु आँसू से मुँह भरे हुये दोनों भाई मुरझाते रहे॥ १००॥

यहाँ प्रतीयमान सादृश्य वाले नभ तथा सरोवर दोनों के 'निर्मलेन्दुत्व' तथा 'विकचाब्जत्व' पहले की भाँति सदृश-भेदक हैं, और उन मुखचन्द्र तथा मुखकमल और मनोहरत्व तथा आह्लादकत्व के द्वारा प्रतीयमान सदृश्यवाले राम और लक्ष्मण की जो यह मुखपर्यश्रुता—मुख का आँसुओं से भरा होना, तथा शरीर में मलिनता है वह निर्मलेन्दुता तथा विराजमानता और विकचाब्जत्व तथा शोभमानत्व के सदृश नहीं हैं। इसलिये सदृशासदृश भेदकत्व के द्वारा भिन्न किया गया उभयव्यतिरेक है।

स्व० भा०—भोज के मतानुसार जिस प्रकार सदृश तथा असदृश व्यतिरेक नामक भेद संभव थे वहीं दोनों के योग से सदृशासदृश व्यतिरेक भेद भी संभव हैं। यहाँ पर कही गई बात यह है कि निर्मल चन्द्रमा से युक्त आकाश विराजमान हो रहा था, और सरोवर में भी कमल खूब खिले थे, किन्तु अश्रुपरिपूर्ण राम और लक्ष्मण के मुख म्लान थे। मुख की उपमा चन्द्र तथा कमल से दी जाती है। इन दोनों के खिलने पर राम-लक्ष्मण के मुख भी प्रसन्न तथा विकचित होने चाहिये। यह सादृश्य का भाव प्रतीत होता है, शब्दतः अभिहित नहीं। किन्तु उन दोनों गुणों के अभाव में अब विसदृशता आ गई। अतः सदृशासदृशत्व का भाव समान रूप से यहाँ है।

विकचाब्जता तथा निर्मलेन्दुत्व जहाँ एक ओर मुख का सादृश्य प्रकट कर रहे हैं, वहीं उससे अन्तर भी। यह भाव वृत्ति में 'सदृशे भेदके' शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

ताभ्यां च मुखचन्द्रेति। मुखस्य चन्द्रकमलभावोऽनादिकविकल्पनासिद्ध इति तेनापि रूपेण प्रतीयमानसादृश्यत्वमुक्तम्॥

ननु मिथो व्यतिरेकभेद्गणनमनुपपन्नं सदृशासदृशव्यतिरेकस्यापि संभवादित्यत आह—

एतेनैकव्यतिरेकादिसंभेदोऽपि व्याख्यातः। यथा—

'मिथ्या देव भुजेन तेऽल्पविभवः कल्पद्रुमः स्पर्धते
नह्येनं भुवनत्रयाभयमहासत्री कृपाणोऽश्चति।

तुल्यस्तत्रभवान्प्रयागविटपी यस्यैतदेकार्णवे
कायान्तर्विनिवेश्य विश्वमखिलं शाखासु शेते हरिः ॥१०१॥'

अत्र वर्णनीयबाहुकल्पद्रुमयोरभिमतफलदायित्वादिभिः प्रतीतसादृश्ययोर्भुवनत्रयाभयप्रदायी वर्णनीयबाहौ कृपाणो भेदक इत्येकव्यतिरेकः। तथा वर्णनीयबाहोः प्रयागवटस्य च प्राग्वदेव प्रतीयमानसादृश्ययोरेकस्य भुवनत्रयाभयमहासत्री कृपाणः शाखासु शेते अन्यस्य तु महाप्रलये स्वकायान्तर्निवेशिताखिलविश्वो वैकुण्ठः। ताविमौ तयोः सदृशावेव भेदकौ हरिकृपाणयोर्वा श्यामतादिभिः प्रतीयमानसादृश्ययोरिमावेव धर्मौ भेदकौ। सोऽयमेवंप्रकारो व्यतिरेकसंकर उन्नेयः। स्वजातिव्यतिरेके प्रतीयमानसादृश्यम्, स्वव्यक्तिव्यतिरेके चाभिधीयमानसादृश्यं यद्युदाहरणं दृश्यते संभवति वा तदा तदप्युदाहार्यम् ॥

इससे एक व्यतिरेक आदि का भेद भी व्याख्यात हो जाता है—जैसे कोई कवि अपने आश्रयदाता की स्तुति के समय कहता है कि हे महाराज, यह अल्प वैभव वाला कल्पवृक्ष व्यर्थ में ही आपकी भुजाओं से स्पर्धा करता है। तीनों लोकों के लिये अभयदानरूप महासत्र करने वाला कृपाण भी इसको नहीं पा सकता। हाँ, वह श्रीमान् प्रयाग का वटवृक्ष अवश्य इसके तुल्य हो सकता है जिसकी शाखाओं पर एक ही समुद्र में अपने शरीर के भीतर निखिल विश्व को समाविष्ट कर लेने वाले भगवान् नारायण लेटे रहते है ॥१०१॥

यहाँ पर वर्णनीय बाहु तथा कल्पद्रुम दोनों का, जिनका अभिमत फल प्रदान करने की क्षमता आदि के द्वारा सादृश्य प्रतीत कराया गया है, वर्णनीय बाहु के प्रसङ्ग में तीनों भुवनों को अभय देने वाला कृपाण भेदक है। इस प्रकार यहाँ एकव्यतिरेक है। इसी प्रकार वर्णनीय बाहु तथा प्रयाग-वट का, पूर्व की तरह, दोनों प्रतीयमान सादृश्य वालों में एकके 'भुवनत्रयमहासत्री कृपाणः शाखासु शेते'—तीनों लोकोंके लिये अभयदान रूप महासत्र करने वाला कृपाण शाखाओं पर–अँगुलियों पर–सोता है,–तथा दूसरे में (शाखाओं) में महाप्रलय में अपने शरीर में निखिल ब्रह्माण्ड को समेटे नारायण सोते हैं। वे दोनों ही इन दोनोंके सदृश ही भेदक हैं अथवा श्यामता आदि के द्वारा जिनका सादृश्य प्रतीत हो रहा है उन हरि तथा कृपाण के ये ही दोनों धर्म भेदक हैं। वह यह इसी प्रकार से व्यतिरेक-संकर का उन्नयन किया जा सकता है। स्वजाति व्यतिरेक में प्रतीयमान सादृश्य तथा स्वव्यक्ति-व्यतिरेक होने पर अभिधीयमान सादृश्य का यदि उदाहरण दिखलाई पड़े अथवा संभव हो तो उसको भी उदाहृत किया जा सकता है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में यद्यपि भुजा उपमेय तथा कल्पवृक्ष उपमान में सामान्य अंतर प्रकट किया गया है तथापि दोनों में साम्य भी प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों ही अभीष्ट फल देने वाले है। इसके आगे कृपाण की चर्चा करके पूर्ववर्णित बाहु से उसकी भी भिन्नता प्रदर्शित की गई है। उसी भुजा को हरि के सदृश तथा विसदृश उपस्थित किया गया है। इस प्रकार एक का ही निरूपण होने से एकव्यतिरेक तो है, किन्तु उसके विभिन्न प्रकारों की एकत्र ही संभावना हो जाने से व्यतिरेक-संकर की स्थिति यहाँ कही जा सकती है।

इसी प्रकार व्यतिरेक के अन्य भेदों की भी उद्भावना करनी चाहिये, यदि उनके उदाहरण मिल सकें, अन्यथा केवल भेदोपभेद करने से लाभ ही क्या है? लक्ष्य के अभाव में लक्षण की अनावश्यकता तो स्वतः सिद्ध है।

एतेनेति। प्राग्वदेति । अभिमतफलदायित्वादिभिः। एवं प्रकार इति। न ह्येकवाक्यस्थतामात्रेण तथा चमत्करोति यथाङ्गाङ्गिभावादिभिः परस्परग्रथनयेति। सैव प्रकारपदेनाभिहिता। यद्युदाहरणं दृश्यते संभवति वेति। न हि स्वजातिव्यतिरेके द्वयोरभेदाध्यवसायः सादृश्यमन्तरेण चमत्कारमर्पयतीति कल्पितमेव वाच्यम्। न च कल्पनाशब्दमन्तरेण प्रतीयमानसादृश्यसंभवः, सादृश्यस्य भेदाधिष्ठानत्वात्। स्वव्यक्तिव्यतिरेकेऽप्यसंभवस्तथाभूतमेव तु शब्देनोपादीयत इति स्यादत उक्तं यदि दृश्यत इति ॥

सहकारित्वं व्यतिरेकनिरूप्यमतो व्यतिरेकानन्तरं समाहितलक्षणमाह—

कार्यारम्भे सहायाप्तिर्दैवादैवकृतेह या ।
आकस्मिकी बुद्धिपूर्वोभयी वा तत्समाहितम् ॥३४॥

तत्राकस्मिकी दैवकृता यथा—

'मानमस्या निराकर्तुः पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥१०२॥'

अत्र माननिराकरणोपक्रमे कालोत्पन्नस्याकस्मिकघनगर्जितस्य मानविध्वंसे सहकारित्वादाकस्मिकीयं दैवकृता सहायसंपत्तिः ॥

(१३) समाहित अलंकार

कार्य के प्रारम्भ में काव्य में जो दैवकृत, अदैवकृत, आकस्मिक, बुद्धिपूर्वक अथवा उभय रूप से सहायता की प्राप्ति है, वह समाहित है ॥३४॥

इनमें से आकस्मिकी दैवकृता (सहायता से संभव समाहित का उदाहरण)—

इस प्रेयसी का मान समाप्त करने के लिये उसके चरणों में मैं पड़ ही रहा था, कि मेरे उपकार के लिये भाग्य से मेघगर्जन प्रारंभ हो गया ॥१०२॥

यहाँ मान को दूर करने के लिये तैयारी करते ही समय से उत्पन्न आकस्मिक मेघगर्जन की मानविध्वंस में सहायता की प्राप्ति है।

स्व० भा०—समाहित अलंकार काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध है। भामह ने केवल उदाहरण दिया है, लक्षण नहीं (द्रष्टव्य-काव्यालंकार ३।१०)

दण्डी ने अपने काव्यादर्श में जो परिभाषा दी थी, भोज ने उसी में कुछ और जोड़ गांठ की है। दण्डी के अनुसार लक्षण इस प्रकार है—

किञ्चिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ॥ २।२९८ ॥

दण्डी का उदाहरण का श्लोक भी भोज ने आकस्मिकी दैवकृता सहायता वाले प्रसङ्ग में उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य काव्या० २।२९८॥) परवर्ती आलंकारिकों ने समाहित को 'समाधि' अलंकार के रूप में ग्रहण किया है।

कार्यारम्भ इति। सहायः प्रकृतकार्यकारणस्य सहकारी, तेनालंकारता आकस्मिक्यचिन्तितपूर्वा बुद्धिपूर्वाद्विपरीता। आकस्मिक्यादीनां प्रत्येकं दैवादैवकृतसंबन्धे षट्प्रकारं समाहितमित्यर्थोक्तम् ॥

आकस्मिक्येवादैवकृता यथा—

'अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।

स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥१०३॥'

अत्र भीमानुशासनकालोपक्रम एव व्यासागमनस्य तदुपकारित्वादाकस्मिकीयमदैवकृता सहायाप्तिः ॥

आकस्मिकी अदैवकृता का उदाहरण—

इस प्रकार नीतिमार्ग से विचलित हो रहे भीम को जब युधिष्ठिर शान्तभाव से उपदेश दे ही रहे थे कि स्वयमेव उपस्थित हो गये अभीष्ट पदार्थ की भाँति व्यास जी स्वयं वहाँ उपस्थित हो गये ॥१०३॥

यहाँ भीम को उपदेश देने के समय उपक्रम करते ही व्यास का आगमन उसके लिये उपकारी है अतः यह आकस्मिकी अदैवकृता सहायता की प्राप्ति का उदाहरण है।

स्व० भा०—स्पष्ट है।

व्यासागमनस्येति। **व्यासेन संपाद्यमानस्य**। तेनादैवकृतेति ॥

बुद्धिपूर्वा दैवकृता यथा—

'कल्पान्ते शमितत्रिविक्रममहाकङ्कालदण्डस्फुर-
च्छेषस्यूतनृसिंहवक्रनखरप्रोतादिकोलामिषः ।
विश्वैकार्णवताविशेषमुदितौ तौ मत्स्यकूर्मावुभौ
कर्षन्धीवरतां गतः स्यतु जगन्मोहं महाभैरवः ॥१०४॥'

अत्र प्रलयसमये महेश्वरेण समापयितुमुपक्रान्तानां त्रिविक्रमादीनां योऽयं तद्भुवा बडिशादिना मत्स्यकूर्मयोराकर्षणप्रकारः स भगवता भैरवेण बुद्धिपूर्वकमुपकल्प्यमानो दैवात्तथाभूतैरेव तैः संपद्यत इति बुद्धिपूर्वेयं दैवकृता सहायाप्तिः ॥

बुद्धिपूर्वा दैवकृता का उदाहरण—

कल्प के अन्त में शान्त किये गये त्रिविक्रम भगवान् के महान् कङ्कालदण्ड के अग्रभाग में हिल रहे शेषनाग से बंधे हुये नृसिंह के टेढ़े नखों में आदिवाराह के मांस को सटाये हुये, 'सम्पूर्ण विश्व एक महासिन्धु हो गया है' यह सोचकर अत्यन्त प्रसन्न हो रहे उन मत्स्य तथा कच्छप रूप-धारी दोनों को खींचते हुये, मल्लाह भाव को प्राप्त, भगवान् महाभैरव संसार के मोह को विनष्ट करें ॥ १०४ ॥

यहाँ पर प्रलय के समय महेश्वर के द्वारा समाप्त कराने के लिये उपक्रान्त त्रिविक्रम आदि का यह उनसे ही उत्पन्न कटिया आदि के द्वारा मत्स्य तथा कूर्म को खींचने का जो तरीका है वह भगवान् भैरव के द्वारा सोच विचार करके वैसे कार्यों का सम्पादन है। दैववशात् उन रूपों में विद्यमान रहने वाले ही उनसे कार्य सम्पन्न हो रहा है। इस प्रकार यहाँ बुद्धिपूर्वक दैवकृत सहायता की प्राप्ति है।

स्व० भा०—यहाँ जो कङ्काल की वंशी, शेष की रस्सी, नृसिंह के नाखूनों की कटिया तथा आदिवराह का 'चारा' है, वह दैवयोग से स्वयं ही इन रूपों में ग्राह्य हो सकता है। इन कार्यों के लिये इनकी उपयुक्तता दैवकृत है, स्वतः सिद्ध नहीं। दैवकृत संभावनाओं के साथ ही महाभैरव द्वारा कटिया का बनाया जाना एक सुविचारित कृत्य है। अतएव लक्षण पूर्णतः घटित हो रहा है।

दैवात्तथाभूतैरेवेति । नरसिंहनखादीनां बडिशाद्युचितमूर्तिशालिनां दैवमेव निमित्तम्, बडिशादिचिन्ता च विषयीकृतेति बुद्धिपूर्वता ॥

बुद्धिपूर्वाऽदैवकृता यथा—

'मूले पञ्च ततश्चतुष्टयमिति स्रक्संनिवेशैः शिरः-
पुष्पैरन्यतमावलोकनमितैरुच्छोणितैरर्चिते ।
हस्तस्पर्शवशेन मूर्ध्नि दशमं मूर्धानमारोपयन्
शंभोरद्भुतसाहसैकरसिकः कैर्न श्रुतो रावणः ॥१०५॥'

अत्र योऽयं दशवदनेन स्वयं छिन्नैः शिरोभिर्भगवतः शंभोरर्चनाप्रकार उपक्रान्तस्तत्र मूले पञ्च ततश्चतुष्टयमिति शिरोविरचनाप्रपञ्चो बुद्धिपूर्वकोऽदैवकृतः क्रियमाणोऽस्य कर्मणः समाप्तौ सहकारिकारणतामासादयतीत्ययमदैवकृतो बुद्धिपूर्वकः समाहितभेदः ॥

बुद्धिपूर्वा अदैवकृता का उदाहरण—

नीचे मूल में पाँच, उसके बाद चार' इस प्रकार से माला चढ़ाने के क्रम से देखने के लिये केवल एक रह गये, रक्त से आर्द्र शिर रूपी पुष्पों से हाथों से स्पर्श करके शिव के पूजित शिर पर अपने दशम शिर को चढ़ाते हुये विचित्र साहस करने में एकमात्र कुशल रावण किसके द्वारा नहीं सुना गया ॥ १०५ ॥

यहाँ पर जो यह रावण द्वारा स्वयं काटे गये शिरों द्वारा भगवान् शिव की पूजा की रीति उपक्रान्त है, वहाँ मूल में पाँच फिर (ऊपर) चार इस क्रम से किया गया शिरों की रचना का प्रपञ्च बुद्धिपूर्वक अदैवकृत है और यह इस कर्म का समाप्ति में सहकारी कारण का रूप ग्रहण करता है । इस प्रकार यह अदैवकृत बुद्धिपूर्वक नामक समाहित का भेद हैं ।

स्व० भा०—यहाँ पर पूजा प्रधान कार्य है और उसके विभिन्न विधान-कर्म शिर चढ़ाना आदि सहकारी हैं । यह सहायता बुद्धिपूर्वक है क्योंकि निश्चितक्रम में नीचे अधिक तथा ऊपर कम शिरों का सन्निवेश हैं । पाँच-चार की गणना पर ध्यान देने का अर्थ ही है विचार अथवा वितर्कपूर्वक कार्य करना । इन कार्यों का सम्पादन रावण द्वारा हुआ है किसी दैव द्वारा नहीं । अतः लक्षण उदाहरण में उपपन्न है ।

मूले पञ्चेति । अधोऽधः स्थूलपुष्पस्य संनिवेश उपर्युपरि तनुरिति दूर्वापूजाप्रकारः प्रसिद्धः । अन्यतमालोकननिमित्तैरारोपितैः । अत्र लोकप्रसिद्धपूजाप्रकारः कार्यभूतः। उपर्युपरि तनुसंनिवेशनिष्पादनं सहकारि । इदं च रावणप्रयत्ननिष्पाद्यत्वाददैवकृतं बुद्धिपूर्वं च भवतीत्यन्यतमेन मूर्ध्नान्यतमस्यारोपणं न नवमच्छेदपर्यन्तमासीत् । पूजास्वरूपेणैव भगवांस्तुष्यति न तथा विदितेनेत्थभिप्रायवतो निस्तरङ्गा भक्तिस्तेन साहसस्याद्भुतत्वम् ॥

आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा दैवकृता यथा—

'सा कौमुदी नयनयोर्भवतः सुजन्मा
तस्या भवानपि मनोरथबन्धबन्धुः ।
तत्सङ्गमं प्रति सखे नहि संशयोऽस्ति
यस्मिन्विधिश्च मदनश्च कृताभियोगौ ॥१०६॥'

अत्र योऽयं माधवस्य मालतीं प्रति समागमाभिलाषस्तत्रेयं मालत्या आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा च तथाप्रवृत्तिः सोभय्यपि दैवकृता च सहायाप्तिः समाहितभेदः ॥

आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा दैवकृता का उदाहरण—

वह मालती आपके नयनों के लिये चन्द्रिका है, तथा सत्कुलोत्पन्न आप भी उसके कामना-समूहों के बन्धु हैं। अतः हे मित्र इस मिलन में तो कोई सन्देह है ही नहीं, जिसमें दैव तथा कामदेव दोनों ही सहायतार्थ सन्नद्ध हैं ॥१०६॥

यहाँ पर जो माधव की मालती के प्रति मिलनोत्कण्ठा है, उसमें मालती की प्रवृत्ति आकस्मिकी तथा बुद्धिपूर्वा है। वह दोनों ही दैवकृत हैं। अतः सहायता की प्राप्ति होने से समाहित का भेद है। अथवा वे दोनों—आकस्मिकी और बुद्धिपूर्वा के साथ दैवकृत सहायता की प्राप्ति से समाहित का भेद भी है।

स्व० भा०—यहाँ मदन की सहायता होने से मालती का आकस्मिकरूप से प्रथम दर्शन में ही माधव की ओर आकृष्ट हो जाना निरूपित है। विधि की सहायता से दैवकृतत्व है। माधव की चेष्टायें अब सुविचारित रूप से हो रही हैं, अतः बुद्धिपूर्वता भी सिद्ध है।

अत्र योऽयं माधवस्येति। **विधिश्च मदनश्च कृताभियोगाविस्यनेन मालत्याः पूर्वानुभावाः कथ्यन्ते। ते च द्विधा भवन्तीत्याकस्मिकी दैवपूर्वा सहायसंपत्तिः ॥**

आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा चादैवकृता यथा—

'दृष्टिर्वन्दनमालिका स्तनयुगं लावण्यपूर्णौ घटौ
शुभ्राणां प्रकरः स्मितः सुमनसां वक्त्रप्रभा दर्पणः।
रोमाञ्चोद्गम एव सर्षपकणः पाणी पुनः पल्लवौ
स्वाङ्गैरेव गृहं प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मङ्गलम् ॥ १०७॥'

अत्रागच्छतः प्रियस्येयं वन्दनमालिकादिमङ्गलक्रिया मनःपरितोषहेतुस्तस्यास्तन्वङ्ग्या इङ्गितकारैरेव यन्निवर्तनं सोऽयमाकस्मिकः स्वबुद्धिपूर्वकश्च तत्सहकारिकारणत्वाददैवकृतश्च समाहितभेदः ॥

आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा अदैवकृता का उदाहरण—

प्रियतम के घर में प्रवेश करते समय सुन्दरी ने अपने अङ्गों से ही माङ्गलिक कृत्यों का सम्पादन कर दिया। उसकी दृष्टि ही वन्दनवार हो गई, और सौन्दर्यपूर्ण दोनों उरोज ही पूर्णघट हो गये। चमकते हुये पुष्पों की राशि उसकी मुस्कान हो गई और मुखच्छटा ही दर्पण। रोमाञ्चों का निकलना सरसों का काम करने लगा और उसकी भुजायें ही पल्लव बन गईं ॥१०७॥

यहाँ घर आ रहे प्रिय का मनस्तोष करने वाली यह वन्दनमालिका आदि माङ्गलिक क्रिया जो उस सुन्दरी के संकेत तथा आकारों से ही सम्पन्न हो गई, वह सब आकस्मिक, स्वबुद्धिपूर्वक, तथा उसके ही सहकारी कारण होने से अदैवकृत समाहित का भेद है।

स्व० भा०—प्रिय के आने पर वन्दनवारसजाना, जलपूर्ण कलश सजाना, फूल छिटकाना, दर्पण दिखाना, सरसो बिखराना, पल्लव लगाना आदि कर्म माङ्गलिक समझे जाते हैं। सुन्दरी ने इनका सम्पादन अपनी आङ्गिक चेष्टाओं से ही कर दिया। इनमें रोमाञ्च आदि कार्य बुद्धिपूर्वक नहीं हैं, किन्तु स्मिति आदि बुद्धिपूर्वक ही हैं। सभी कृत्यों को नायिका ने ही सम्पन्न किया है, अतः अदैवकृतत्व भी है। इस प्रकार यहाँ आकस्मिकी बुद्धिपूर्वा अदैवकृता समाहित है।

अत्रागच्छतः प्रियस्येति। मङ्गलक्रियामात्रं न चमत्कारास्पदमत उक्तं मनःपरितोषहेतुरिति। स्मितं बुद्धिपूर्वम्। रोमाञ्चो न बुद्धिपूर्वः। एवं दृष्ट्यादौ यथायथं वेदितव्यमिति॥

(१४) भ्रान्ति अलंकार

बुद्धिपूर्वायां सहायाप्तौ क्वचिद्भ्रान्तिरप्यस्ति ततस्तदनन्तरं तां लक्षयति—

भ्रान्तिर्विपर्ययज्ञानं द्विधा सापि प्रयुज्यते।
अतत्त्वे तत्त्वरूपा च तत्त्वे चातत्त्वरूपिणी॥ ३५॥
अतत्त्वे तत्त्वरूपा या त्रिविधा सापि पठ्यते।
अबाधिता बाधिता च तथा कारणबाधिता॥ ३६॥

विपर्ययज्ञान अर्थात् जो जैसा नहीं है उसको वैसा समझना भ्रान्ति है। यह भी दो प्रकार की प्रयोग में आती है। १. अतत्व में तत्त्वरूपा तथा २. तत्त्व में अतत्त्वरूपा। जो अतत्व में तत्त्वरूपा है वह भी १. अबाधिता, २. बाधिता तथा ३. कारणबाधिता इस तीन प्रकार की पढ़ी जाती है॥ ३५–३६॥

स्व० भा०—भ्रान्ति नामक अलंकार भी काव्यशास्त्र में बहुचर्चित है। सामान्य रूप से रुद्रट के द्वारा दी गई परिभाषा से इसका प्रचलित अर्थ प्रकट हो जाता है—

अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम्।
निःसंदेहं यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति॥ काव्यालंकार ८।८७॥

विभिन्न आचार्यों द्वारा इसका भिन्न प्रकार से नामकरण किया है, किन्तु सर्वत्र भाव लगभग समान ही है। अन्त में तो भोज ने इन समस्त नाम भेदों का एक ही में पर्यवसान कर दिया है।

भ्रान्तिरिति। अतस्मिंस्तदिति निश्चयो भ्रान्तिः। सैव विपर्ययः। न चैव संशयादय इत्युक्तपूर्वम्। सा द्विधा–यस्य यत्रासद्भावस्तस्य तत्र सद्भावारोपः, यस्य वा यत्र सद्भावस्तस्य तत्रासद्भावारोपः। सोऽयं भावाभावकृतो नियमो भ्रान्तेर्बाधनियमेऽपि क्वचिद्बाधोपन्यासो भवति। उपन्यासो द्विरूपोऽभिधया वृत्त्यन्तरेण च। यत्र बाधोपन्यासे बाधितानुपन्यासे वाऽबाधिता तस्मिन्नेव वाक्येऽविज्ञातबाधेत्यर्थः। उपन्यासेतरप्रकारेण ज्ञातबाधका बाधिता। बाधकारणोक्तेर्बाधपर्यवसानाभिप्रायत्वात् तदेतद्दर्शयति—अबाधिता बाधिता चेति॥

तत्रातत्त्वे तत्त्वरूपाऽबाधिता यथा—

'मोहविरमे सरोसं थोरत्थणमण्डले सुरवहूणम्।
जेण करिकुम्भसम्भावणाइ दिट्ठी परिट्ठविआ॥ १०८॥'
[मोहविरमे सरोषं स्थूलस्तनमण्डले सुरवधूनाम्।
येन करिकुम्भसंभावनया दृष्टिः परिस्थापिता॥]

अत्र सुरवधूस्तनमण्डले करिकुम्भत्वेन गृहीतेऽतत्त्वरूपे यन्मिथ्यैव तत्त्वारोपणं न चानन्तरं बाधकोपन्यासः कृतस्तेनेयमबाधिता अतत्त्वे तत्त्वरूपा भ्रान्तिः॥

इनमें से अतत्व में तत्त्वरूपा अबाधिता का उदाहरण—

जिसने मोह समाप्त होने पर बड़े रोष के साथ देवाङ्गनाओं के स्थूल स्तन मण्डल पर करिकुम्भ की संभावना से निगाह गड़ाई॥ १०८॥

यहाँ पर सुरवधुओं के स्तन मण्डल को करिकुम्भ के रूप में ग्रहण कर लेने पर उस रूप में न विद्यमान रहने वाले पदार्थ पर जो झूठे ही तत्त्व का आरोपण किया गया और बाद में उसके बाधक का निरूपण नहीं किया गया इसी से यह अबाधिता अतत्त्व में तत्त्वरूपा भ्रान्ति है।

स्व० भा०—जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसा समझ लेना भ्रान्ति है। कभी-कभी प्रतिबन्धक अथवा बाधक की उपस्थिति के कारण भ्रान्ति का निरास हो जाता है, और कभी-कभी नहीं। यहाँ पर देवाङ्गनाओं के स्तनमण्डल को करिकुम्भ समझ लेने का कार्य तो हुआ है, किन्तु उसका बाध नहीं हुआ है। उनका भेदक कोई तत्त्व उपस्थित नहीं।

मोहविरम इति। परिट्ठविआ सपल्लवं व्यवस्थापिता। तत्रैव परिपूर्वस्य तिष्ठतेः प्रसिद्धत्वात्। सरोषमिति समवायिविशेषणम्। न च तदन्तरेण क्रियासद्भावः तेन मोहेऽपि न प्रक्रान्तरसानुभावस्वरूपतामहासीदिति व्यज्यते। इत्थं च दृढानुबन्धोऽसौ रसो यद्बलवत्तरविरोधिसंपर्केऽपि न कार्कश्यमगादिति स्थूलमण्डलसुरवधूपदैः प्रकाश्यते संभावनया न तु पूर्वोत्पन्नज्ञानेन। करिकुम्भानां दृढतरवासनात्वात्। अबाधितेत्यत्र यथार्थाऽभिमततया दर्शयति—बाधकोपन्यास इति॥

अतत्त्वे तत्त्वरूपा बाधिता यथा—

> 'हसिअं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहि पहिएहि।
> पत्तप्फलसारिच्छे उड्डीणे पूसवंदम्मि॥ १०९॥'
>
> **[हसितं सहस्ततालं शुष्कवटमुपगतैः पथिकैः।**
> **पत्रफलसदृशे उड्डीने शुकवृन्देऽस्मिन्॥]**

अत्र पत्रफलिताऽयं न्यग्रोध इत्यतत्त्वरूपे तत्त्वबुद्धावुत्पन्नायां य उत्तरकालमपत्रतानिष्फलताप्रत्ययस्तेनेयमतत्त्वे तत्त्वरूपाख्या बाधिता भ्रान्तिः॥

अतत्त्व में तत्त्वरूपा बाधिता का उदाहरण—

शुष्कवटवृक्ष के नीचे आये हुये पथिक उसके पत्ते तथा फल के सदृश लगने वाले शुकवृन्द के उड़ जाने पर भी हाथ की ताली बजाकर हँसते रहे॥ १०९॥

यहाँ पर 'यह वटवृक्ष पत्रित तथा फलित है' इस अतत्त्वरूप विषय में तत्त्वबुद्धि उत्पन्न होने पर जो बाद के समय में पत्र तथा फल हीनता का विश्वास है उससे यह अतत्त्व में तत्त्वरूपा नाम की बाधिता भ्रान्ति है।

स्व० भा०—'तत्' से 'तत्त्व' शब्द बनता है। किसी वस्तु में उसका उसका मूलभाव बना रहना तत्त्वरूपता है। जो पदार्थ जैसा नहीं है उसको वैसा स्वीकार करना अतत्त्वरूपता है। सूखे हुये वट वृक्ष पर तोतों को बैठा देख कर पथिकों ने समझा था कि वे उसके फल तथा पत्ते होंगे, किन्तु बाद में उनके उड़ जाने पर ज्ञात हुआ कि वस्तुतः वे भ्रम में थे। अतः भ्रम का बाध हो जाने से बाधिता भ्रान्ति है।

हसिअमिति। पूसः शुकः। वन्दं वृन्दम्। शुकचञ्चुपुच्छानां पक्वन्यग्रोधफलनवपलाशसादृश्यम्। यद्यपि नात्र बाधोऽभिहितस्तथापि उड्डीण इत्यनेनार्थाभावविषया प्रतीतिः क्रियते। कथमन्यथा हसितहस्ततालरूपकार्यस्योपन्यासः स्यात्॥

अतत्त्वे तत्त्वरूपा कारणबाधिता यथा—

> 'कनककलशस्वच्छे राधापयोधरमण्डले
> नवजलधरश्यामामात्मद्युतिं प्रतिबिम्बिताम्।

असितसिचयप्रान्तभ्रान्त्या मुहुर्मुहुरुत्क्षिप-
न्नयति जनितव्रीडाहासः प्रियाहसितो हरिः ॥ ११० ॥'

अत्र श्यामायामात्मद्युतावसितसिचयप्रान्तवुद्धिरतत्त्वे तत्त्वरूपा प्रियाहसितेन च कारणेन यद्बाधिता सैषातत्त्वे तत्त्वरूपा कारणबाधिता भ्रान्तिः ॥

अतत्त्व में तत्त्वरूपा कारणबाधिता का उदाहरण—

स्वर्णघट के सदृश निर्मल राधा के उरोजमण्डल पर अपनी प्रतिबिम्बित नवमेघ के सदृश श्यामल छटा को काले वस्त्र का टुकड़ा समझ कर बार-बार उसे हटाते हुये प्रिया के द्वारा उपहास किये जाने पर लज्जा से हँसने वाले श्रीकृष्ण जी सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ ११० ॥

यहाँ पर काली-काली अपनी देहच्छटा पर काले वस्त्रखण्ड की बुद्धि होना अतत्त्व में तत्त्वरूपता है जो प्रिया के उपहास रूप कारण से बाधित हो रही है । अतः यह अतत्त्व में तत्त्वरूपा कारण बाधिता भ्रान्ति है।

स्व० भा०—यहाँ पर आत्मच्छवि को कृष्णाञ्चल समझना भ्रान्ति है। किन्तु यहाँ पर इस भ्रान्ति का बाध प्रेयसी का उपहास रूप कारण है। यदि वह हँसती नहीं, तो कृष्ण को अपने भ्रम का ज्ञान न होता। अतः इस 'कारण' से बाध होने के कारण यहाँ 'कारणबाधिता' है।

अत्र श्यामायामिति । नात्र पूर्वोदाहरणवच्छब्देन कयाचिदपि वृत्त्यार्थाभावो विषयीकृतः किंतु प्रकारान्तरेणोन्नीयते । तथाहि नायकेनांशुकापहरणलीलायितेऽपि यदिदं राधायाः सिचयावरोधाञ्चलनभ्रूक्षेपादि मुग्धाङ्गनोचितविभ्रमविरोधि हसितं तत्कारणं बाधस्येति ॥

अतत्त्वरूपा तत्त्वे या सापि त्रैविध्यसिद्धये ।
हानोपादानयोर्हेतुरुपेक्षायाश्च जायते ॥ ३७ ॥

तत्र तत्त्वेऽतत्त्वरूपा हानहेतुर्यथा—

'सो मुद्धमिओ मिअतण्हिआहिं तह दूमि तुह आसाहिं ।
जह संभावमईणवि णईण परंमुहो जाओ ॥ १११ ॥'
[स मुग्धमृगो मृगतृष्णिकाभिस्तथा दूनस्त्वदाशाभिः ।
यथा सद्भावमयीष्वपि नदीषु पराङ्मुखो जातः ॥]

अत्र पारमार्थिकीष्वपि नदीषु मृगतृष्णाप्रतारितः सन्यन्न मृगः पयः पातुं प्रतिपद्यते प्रत्युत त्यजति तेनेयं तत्त्वेऽप्यतत्त्वरूपा हानहेतुर्भ्रान्तिः ॥

जो तत्त्व में अतत्त्वरूपा भ्रान्ति कही गई है, वह भी त्रिविधता की सिद्धि के लिये—हानहेतु, उपादान हेतु तथा उपेक्षा हेतु के रूप में हो जाया करती है। (अर्थात् इन तीन प्रकारों के कारण तीन भेदों की होती जाती है।)

इनमें से तत्त्व में अतत्त्वरूपा हानहेतु का उदाहरण—

वह मुग्धमृग तुम्हारी आशा की मृगतृष्णाओं से इतना प्रतारित हुआ है कि अब वह सचमुच विद्यमान नदियों से भी विमुख हो गया है ॥ १११ ॥

यहाँ पर वस्तुतः विद्यमान नदियों में भी मृगतृष्णा से छला गया मृग जो जल पान करने

में प्रवृत्त नहीं होता है, अपितु उसे छोड़ देता है, इससे यह तत्त्व में अतत्त्वरूप वाली हानहेतु नामक भ्रान्ति है।

स्व० भा०—अतत्त्व में तत्त्व का ग्रहण करना तो भ्रान्ति है ही, तत्त्व में अतत्त्व का ग्रहण भी वही है। वास्तविक पदार्थ के परित्याग का कारण निरूपित होने से यहाँ हानहेतुता स्पष्ट है। यहाँ तात्त्विकरूप से विद्यमान नदियों का भी जल न पीने का कारण है उसका मृगतृष्णा से बारम्बार प्रताड़ित होना।

हानं द्विविधम्। प्रवृत्त्यभावो विपरीतश्च प्रयत्नः। द्विधाप्यत्राभिमतमिति व्याख्यानेन स्फुटयति—न प्रतिपद्यते प्रत्युत त्यजतीति॥

तत्त्वेऽतत्त्वरूपापादानहेतुर्यथा—

'समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा।
अतो विनिद्रे सहसा विलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः॥ ११२॥'

अत्राङ्गीकृतलतारूपोर्वशीपरिष्वङ्गसुखनिमीलिताक्षस्य पुरुरवसः शापान्ताविर्भूतसत्यरूपायामपि तस्यां येयं पूर्वानुभूतैवंविधानेकविधविप्रलम्भसंभावनया नयनयोरनुन्मीलनबुद्धिः सेयं तत्त्वेऽप्यतत्त्वरूपोपादानहेतुर्भ्रान्तिः॥

तत्त्व में अतत्त्वरूप के उपादान हेतु का उदाहरण—

पुरुरवा कहता है कि अपनी प्रेयसी के प्रति जिन बातों की मैं पहले कल्पना करता हूँ वे क्षत्रमात्र में ही मेरे लिये विपरीत दशा में परिवर्तित हो जाती हैं। अतः उसके प्रियस्पर्श का अनुभव करने वाला मैं एकाएक अपने निद्रारहित नयनों को खोलना नहीं चाहता॥ ११२॥

यहाँ पर लता का रूप स्वीकार करने वाली उर्वशी के आलिंगन के सुख से आँखें बन्द किये हुये पुरुरवा की शाप के अन्त में सत्यरूप में उर्वशी के प्रकट हो जाने पर भी जो यह पहले अनुभव की हुई इस प्रकार की अनेक प्रकार की वियोग कालीन सम्भावनाओं के कारण नेत्रों को न खोलने की इच्छा है, वही तत्त्व में भी अतत्त्वरूप की उपादानहेतुरूपा भ्रान्ति है।

स्व० भा०—उपादान का अर्थ ग्रहण होता है। तत्त्व में जब अतत्त्व का आरोप कर दिया जाता है तब उसी का ग्रहण होता है। यहाँ की भ्रान्ति उपादान के कारण ही है। शेष तो स्पष्ट ही है।

समर्थये इति। विभावितप्रिय इति युक्तः पाठः, प्रियादिषु पुंवद्भावप्रतिषेधात्। नात्राभावारोपः स्फुटोऽवगम्यत इति प्रकरणमादाय व्याचष्टे—अत्राङ्गीकृतेति। न च वाच्यं दोलायमानतया संशयरूपमिदं ज्ञानमिति। यतो नास्त्येवात्र प्रियतमा तथापि तदारोपेण मनस्तापातिवाहनमुचितमिति जानतः पुरुरवसोऽनुबन्धप्रकर्षः पुष्यति नान्यथेति सहृदयहृदयसाक्षिकमिदम्। तदेतन्मनाक् स्फुटयति—पूर्वानुभूतैवंविधेति॥

तत्त्वेऽप्यतत्त्वरूपोपेक्षाहेतुर्यथा—

'चिक्रंसया कृत्रिमपत्त्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम्।
मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्गं यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने॥ ११३॥'

अत्र तत्त्वरूपेऽपि मार्जारे कृत्रिमोऽयमिति बुद्धौ जातायां तस्यां प्रयोजकत्वेन यदुपेक्षणं सेयं तत्त्वेऽप्यतत्त्वरूपोपेक्षाहेतुर्भ्रान्तिः॥

तत्त्व में भी अतत्त्वरूपा उपेक्षा हेतु का उदाहरण—

द्वारकापुरी में गृहों को कपोतपालियों पर निर्मित कृत्रिम पक्षियों की पंक्तियों पर आक्रमण करने की इच्छुक झुकी हुई, निश्चल अंगो वाली बिल्लियों को भी उस नगरी के लोग कृत्रिम ही समझते थे ॥ ११३ ॥

यहाँ पर तत्त्वस्वरूप भी बिल्ली में यह कृत्रिम है इस प्रकार की बुद्धि होने पर उसमें प्रयोजक के रूप में जो उपेक्षा है वही यहाँ तत्त्व में भी अतत्त्वरूपा उपेक्षाहेतु नामक भ्रान्ति है।

स्व० भा०—यहाँ पर वास्तविक बिल्लियों को भी कृत्रिम समझ कर छोड़ देने का जो उपेक्षाभाव सामान्य लोगों में भी उभरा हुआ है, इस के कारण यहाँ उपेक्षा हेतु है। वृत्ति में प्रयुक्त 'प्रयोजकत्वेन यदुपेक्षणम्' का अभिप्राय यह है कि जहाँ लोगों को वास्तविक बिल्ली का पक्षियों पर प्रहार करने के लिये छिपी देख कर उसको भगाने अथवा दौड़ाने या कौतूहल भाव से देखने का ही कार्य करना चाहिये था, वहीं वे लोग उसे कृत्रिम समझ कर उपेक्षाभाव से अलग हो जाते हैं। यही प्रयोजक होते हुये भी उपेक्षा का भाव है।

प्रयोजकत्वेन यदुपेक्षणमिति । या प्रवृत्तिं निवृत्तिं वा न प्रसूतेऽपेक्षाबुद्धिं वेत्यर्थः ॥

भ्रान्तिमान्भ्रान्तिमाला च भ्रान्तेरतिशयश्च यः ।
भ्रान्त्यनध्यवसायश्च भ्रान्तिरेवेति मे मतम् ॥ ३८ ॥

जो भ्रान्तिमान्, भ्रान्तिमाला, भ्रान्त्यतिशय और भ्रान्त्यनध्यवसाय है वह सब भ्रान्ति ही हैं, ऐसा मेरा मत है ॥ ३८ ॥

स्व० भा०—विभिन्न आचार्यों ने भ्रान्ति को भिन्न भिन्न नामों से अभिहित किया है। उनमें 'भ्रान्ति' सर्वत्र जुड़ा हुआ है, केवल कुछ प्रत्ययों और उपपदों का ही अन्तर है। अतः भोज के मतानुसार इन सबका अन्तर्भाव 'भ्रान्ति' अलंकार में ही हो जाना चाहिये।

भ्रान्तिमानिति । भूम्नि मतुप् । भूमार्थो द्विविधः बहूनां भ्रान्तीनामेकविषयतो भिन्नविषयाणां वा समानकर्तृता । आद्यो भ्रान्तिमतो विषयः, द्वितीयो भ्रान्तिमालायाः । न हि भ्रान्तिमति मालाक्रमनियमोऽस्ति युगपदपि भिन्नकर्तृकाणां जायमानत्वात् । भ्रान्तेरतिशयः शब्दोपनीतवक्तर्या भ्रान्तिरिति स्वकार्यभूतं वितर्कमादाय प्रतीयमानो विपर्ययहेतुर्भ्रमान्तरानुबन्धी ॥

तत्र भ्रान्तिमान् यथा —

'कपाले मार्जारः पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी संकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति दयिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥ ११४ ॥'

अत्रेन्दुमरीचिषु पयःप्रभृतिभ्रान्तिभूम्नायं भ्रान्तिमान् नाम भ्रान्तेरेव भेदः ॥

इनमें से भ्रान्तिमान का उदाहरण—

अपनी ज्योत्स्ना से प्रमत्त चन्द्रमा इस सम्पूर्ण संसार को ही भ्रम में डाले दे रहा है। क्योंकि बिल्ली यह समझ कर कि यह तो कपाल में रखा हुआ दूध है अतः चन्द्रमा की किरणों को चाट रही है। वृक्षों के पत्ररंध्रो से नीचे छिटके हुये प्रकाश को मृणालतन्तु समझ कर हाथी

उसे बटोर रहा है, और सम्भोग के पश्चात् नायिका शय्या पर पड़ी हुई चाँदनी को अपना शुभ्र वस्त्र समझ कर उठा रही है ॥ ११४ ॥

यहाँ पर चन्द्रकिरणों में पय आदि का भ्रम सम्भव होने से यह भ्रान्तिमान् नामक अलङ्कार तो भ्रान्ति का ही भेद है।

स्व० भा०—विषय स्पष्ट है। किरणों में पय आदि विभिन्न पदार्थों का भ्रम होता है, अतः इसको भी भ्रान्ति का ही एकरूप समझना चाहिये, कोई पृथक् अलंकार नहीं।

भ्रान्तिमाला यथा—

'नीलेन्दीवरशङ्कया नयनयोर्बन्धूकबुद्ध्याधरे
पाणौ पद्मधिया मधूककुसुमभ्रान्त्या तथा गण्डयोः।
लीयन्ते कबरीषु बान्धवजनव्यामोहजातस्पृहा
दुर्वारा मधुपाः कियन्ति तरुणि स्थानानि रक्षिष्यसि ॥ ११५ ॥'

अत्र युवत्यवयवेषु नयनादिषु मधुव्रतानां येयं नीलोत्पलादिबुद्धिः सेयं मालाक्रमेणोपजायमाना भ्रान्तिमाला भ्रान्तेरेव भेदः ॥

भ्रान्तिमाला का उदाहरण—

नील कमल की शंका से दोनों नेत्रों में, दुपहरिया के पुष्प की भ्रान्ति से अधरों में, कमल के भ्रम से हाथों पर, महुआ के फूल की भ्रान्ति में दोनों कपोलों पर, तथा अपने प्रियजनों की आसक्ति से—भ्रम—से अत्यन्त उत्कण्ठित होकर ये दुर्वारणीय भ्रमर केशपाशों में लीन हो रहे हैं। अतः हे सुन्दरी, तुम किन-किन स्थानों की रक्षा कर सकोगी ॥ ११५ ॥

यहाँ पर युवती के अंगप्रत्यङ्ग नयन आदि में भ्रमरों की जो यह नीलकमलत्व आदि की भावना है, वही यह मालाक्रम से होने के कारण होने वाली भ्रान्तिमाला भ्रान्ति का ही भेद है।

भ्रान्त्यतिशयो द्वेधा—वितर्कहेतुर्विपर्ययहेतुश्च। तयोः पूर्वमुपमाभ्रान्तिमाचक्षते, द्वितीयं तु भ्रान्त्यतिशयमेव।

तत्रोपमाभ्रान्तिर्यथा—

'हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिर्निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम् ॥११६॥'

अत्र शाद्वलेऽपि समुत्पन्नस्तनांशुकभ्रमस्य पुरुरवसा योऽयं सादृश्यातिशयितो वितर्कः सेयमुपमाभ्रान्तिः ॥

भ्रान्त्यतिशय दो प्रकार का है—१. वितर्कहेतु तथा २. विपर्ययहेतु। इनमें से प्रथम को उपमाभ्रान्ति कहा जाता है और दूसरे को भ्रान्त्यतिशय ही कहा जाता है।

इनमें से उपमाभ्रान्ति का उदाहरण—

तोते के उदर जैसे हरे रंग वाली उसकी यह चोली है जिस पर उसके आंसुओं से धुल कर ओठों से गिरे हुये लाल रंग की बिन्दुयें दिखाई पड़ रही हैं। निःसन्देह यह चोली क्रोध के कारण जल्दी-जल्दी चलने से खिसक कर नीचे गिर गई होगी ॥ ११६ ॥

यहाँ पर घास के गुच्छे से युक्त भूमि पर स्तनांशुक का भ्रान्त होने वाले पुरुरवा का जो यह अत्यधिक सादृश्य के कारण वितर्क है वही उपमाभ्रान्ति है ।

स्व० भा०—प्रेमोन्मत्त पुरुरवा दूब के गुच्छों को नीला-नीला देखता है। उसी के सदृश उसकी प्रियतमा उर्वशी का कंचुक भी था। अतः अत्यधिक सादृश्य के कारण उसको शाद्वल में स्तनावरण की भ्रान्ति हो गई। यह भी भ्रान्ति का एक प्रकार ही हुआ।

तयोः पूर्वमिति। तत्त्वेन प्रतीयतो मध्ये मनाक्तद्व्यतिरेकमुल्लिखितो नूनं भेदाभेद-तुल्यतया मनसि सादृश्यं प्रवर्तत इति भावः। असंशयमिति पदेन प्रकर्षो वितर्कश्च प्रत्यायितः ॥

भ्रान्त्यतिशयो यथा—

'दिश्याद्धूर्जटिजूटकोटिसरिति ज्योत्स्नालवोद्भासिनी
शशाङ्की कलिका जलभ्रमिवशाद्द्रागदृष्टनष्टा मुदम् ।
यां चञ्चच्छफराभ्रमेण मुकुलीकुर्वन्फणालीं मुहु-
र्मुह्यँल्लक्ष्यमहिर्जिघृक्षतितमामाकुञ्चनप्राञ्चनैः ॥ ११७ ॥'

अत्र गङ्गाम्भःप्रतिफलितां रजनिकरकलामालोकयतो वासुकेर्येयं शफरी-भ्रमेण मुकुलीकुर्वन्फणालीं शफरीयमित्यध्यासिता विपर्ययबुद्धिः सोऽयं भ्रान्त्यतिशयो नाम भ्रान्तेरेव भेदः ॥

भ्रान्त्यतिशय का उदाहरण—

शिव की जटाओं के किनारे बहने वाली नदी में अपनी ज्योत्स्ना के कणों को उद्भासित करने वाली, तथा जल की भ्रमरी के कारण क्षणमात्र में देखते ही नष्ट हो जाने वाली चान्द्री कला मोद प्रदान करे, जिसको उछलती मछली के भ्रम से अपनी फन को सर्प वासुकि मुकुलित करता है, और पुनः मोहवश वह संकोचविकास के द्वारा उसी को अपना लक्ष्य समझ कर पकड़ना चाहता है ॥ ११७ ॥

यहाँ पर गंगा के जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रकला को देखने वाले वासुकि की जो यह शफरी के भ्रम से मुकुलित हो रही फणाली को ही यह शफरी है इस प्रकार की आरोपित विपर्ययबुद्धि है। अतः यह भ्रान्त्यतिशय नामक भ्रान्ति का ही भेद हुआ।

स्व० भा०—यहाँ पर भ्रान्ति का आधिक्य है। वह तो इस चरमसीमा तक भी पहुँच गई है कि सांप अपनी 'फन' को भी मछली समझने की गलती करता है।

जिघृक्षतितमामिति। 'तिङश्च ५।३।५६' इति तमपि किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११' इत्याम् ॥

भ्रान्त्यनध्यवसायोऽपि द्विधा—सालम्बनो निरालम्बनश्च। तयोः सा-लम्बनो यथा—

'विरहिणिहिअअकअन्तहिं णिण्णाअइ
तक्खणि छाइज्जइ अलिणिवहेहिं चैत्तेण चूअवणी ।
अह तासु वि मअरन्दहिं संदाणिअइ
जह ण कलम्ब ण अम्ब ण जम्बू जाणिअइ ॥ ११८ ॥'

[विरहिणीहृदयकृतान्तैर्निर्णीयते तत्क्षणे छाद्यतेऽलिनिवहैश्चैत्रेण चूतवनी।
अथ तास्वपि मकरन्दैर्बध्यते यथा न कदम्बो नाम्रो न जम्बूर्ज्ञायते॥]

न कदम्बो नाम्रो न जम्बूरिति ज्ञायत इति त्रयाणामेवावलम्बनभूतत्वात्सालम्बनो नामायं भ्रान्त्यनध्यवसायो भ्रान्तिभेदः॥

भ्रान्त्यनध्यवसाय भी दो प्रकार का हैं—१. सालम्वन तथा २. निरालम्बन। इन दोनों में से सालम्बन का उदाहरण—

चैत्रमास के द्वारा तत्काल ही विरहिणियों के हृदय के लिये कृतान्त स्वरूप भ्रमर-समुदायों द्वारा आम्रवनी ढक ली गई है, ऐसा निर्णय होता है। किन्तु उनमें भी इतना अधिक मकरन्द बँधता है कि न तो कदम्ब का वृक्ष पहचान मिलता है, न आम्र का और न जामुन का॥११८॥

न कदम्ब, न आम और न जामुन ही ज्ञात होता है इस प्रकार तीनों का ही सालम्बन भ्रान्त्यनध्यवसाय नामक भ्रान्ति का भेद है।

स्व० भा०—अध्यवसाय का अर्थ निर्धारण होता है। अतः जहाँ पर भ्रान्ति का निर्धारण हो जाता है वहाँ साध्यवसाय तथा जहाँ नहीं हो पाता है वहाँ निरध्यवसाय होता है। जहाँ पर भ्रान्ति के विषयों का कोई सहारा होता है, वहाँ सालम्बता होती है और जहाँ पर नहीं वहाँ निरालम्बता होती है। प्रस्तुत प्रसंग में भ्रान्ति के विषय कदम्ब, आम तथा जामुन का आश्रय आम्रवनी है। अतः सालम्बता है।

भ्रान्तेरनध्यवसायोऽनिर्धार्यमाणविषयता। विरहिणीजणण इति। विरहिणीजनस्य। 'अधीगर्थ–२।३।५२।' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी। दअन्तेण दयमानेन रक्षता। णावइ प्रतिभाति। तक्खणि तत्क्षणे। छाइज्जइ अलिणिवहेहिं छाद्यतेऽलिनिवहैः करणभूतैः। चैत्तेण चैत्रेण कर्त्रा। चूअवणी चूतवनी। तह तथा। तासु वि तस्या अपि। संदाणिअइ बध्यते। अनिर्धारितविषयतया कथमालम्बननिरालम्बनयोर्भेद इत्यत आह—त्रयाणामेवावलम्बनभूतत्वादिति। उक्तिभङ्ग्या विषयोपादानादित्यर्थः॥

निरालम्बो यथा—

'उभौ रम्भास्तम्भावुपरि विपरीतौ कमलयो-
स्तदूर्ध्वं रत्नाश्मस्थलमथ दुरूहं किमपि यत्।
ततः कुम्भौ पश्चाद् विसकिसलये कन्दलमये
तदन्विन्दाविन्दीवरमधुकराः किं पुनरिदम्॥ ११९॥'

अत्रोर्वादिषु युवत्यवयवेषूत्पन्नो रम्भास्तम्भभ्रान्तेर्योऽयमेतत्समुदाये किमिदमित्यालम्बनं विना कृतोऽनध्यवसायः स एष निरालम्बनो नाम भ्रान्त्यनध्यवसायो भ्रान्तेरेव भेदः॥

निरालम्ब का उदाहरण—

दोनों कमलों के ऊपर दो उलटे हुये कदली के स्तम्भ हैं, उसके ऊपर रत्न नामक पत्थरों को पहनने का स्थल है, और उसके पश्चात् कोई दुरूह चीज है, उसके भी बाद दो कुम्भ हैं, उनके पश्चात् कन्दलमय दो मृणाल के किसलय हैं, उसके भी बाद चन्द्रमा में नीलकमल के सदृश भौंरे हैं? भला यह क्या है?॥ ११९॥

यहाँ पर जघन आदि युवती अवयवों में उत्पन्न रम्भास्तम्भ की भ्रान्ति का जो यह इनके समुदाय होने पर भी 'किमिदम्'—यह क्या है? इस प्रकार का आलम्बन के बिना किया गया

अनध्यवसाय—अनिर्धारण है वही यह निरालंबन नाम का भ्रान्त्यनध्यवसाय भ्रान्ति का ही भेद है।

स्व० भा०—यहाँ पर सब कुछ कह देने के बाद 'भला यह क्या है?' इस प्रकार का कहना निरालम्बता का सूचक है। साथ ही इससे अनिश्चय का भी भाव व्यक्त होता है।

आलम्बनं विनेति। विषयानिर्धारणं व्यक्तीकृतम्।

(१५) वितर्कालंकार

ऊहो वितर्कः संदेहनिर्णयान्तरधिष्ठितः।
द्विधासौ निर्णयान्तश्चानिर्णयान्तश्च कीर्त्यते॥ ३९॥

प्रमितिविपर्ययरूपतया द्विविध इत्याशयवान्निर्णयार्थं विभजते—

तत्त्वानुपात्यतत्त्वानुपाती यश्चोभयात्मकः।
स निर्णयान्त इतरो मिथ्यामिथ्योभयात्मकः॥ ४०॥

सन्देह तथा निर्णय के मध्य में अवस्थित ऊह वितर्क है। यह वितर्क निर्णयान्त तथा अनिर्णयान्त दो प्रकार का कहा जाता है। इनमें से जो तत्त्वानुपाती, अतत्त्वानुपाती तथा उभयात्मक होता है वह निर्णयान्त कहा जाता है। इससे भिन्न अर्थात् अनिर्णयान्त मिथ्या, अमिथ्या तथा उभयात्मक है॥ ३९-४०॥

स्व० भा०—यह एक मौलिक अलंकार भोज द्वारा स्वीकार किया गया है। भामह, दण्डी और रुद्रट सदृश आलंकारिकों के यहाँ भी इसका विवेचन नहीं मिलता है।

मिथ्याप्रतीतिसामान्यादनन्तरं वितर्कलक्षणम्—ऊह इति। ऊह इति यस्य प्रसिद्धिः स इत्यर्थः। पर्यायशब्देनापि लक्षणं क्रियत एव। यथा—घटपदार्थतया व्यावृत्तौ संदिहानस्य कलशपदार्थतया निश्चयवतो यः कलशः स घट इति। कथमसौ संशयविपर्ययाभ्यां भिद्यत इत्यत आह—संदेहेति। संदेहो नानाकोटिकस्तथाभूतामेव जिज्ञासां प्रसूते, तर्कस्तु तदनन्तरभावी नियतकोटिकस्तथाभूतामिति। कालस्वरूपकार्यभेदात् संशयतो भेद इति। एवं विपर्ययतोऽपि। स हि तर्कान्तरभाविनिश्चयात्मकः प्रवृत्त्यादिहेतुभूतश्च। तदयं तर्काभासस्य विपर्ययापर्यवसायिनो विषयविभागः कृतः, स तु तर्कस्य विषयविभागः स्फुट एव संदेहनिर्णययोर्मध्यमधिष्ठितः स तद्वर्ती। विभागमाह—द्विधासाविति। निर्णयान्तरोपन्यस्तः फलभूतानिश्चयोऽतथाभूतो निर्णयान्तो निश्चयः॥

तत्त्वानुपातीति। निगदेनैव व्याख्यातम्॥

तेषु निर्णयान्तस्तत्त्वानुपाती यथा—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणं
आ ज्ञातं स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति॥ ८०॥

अत्र निरूपितलक्षणे वितर्के जटायुरेष इति तत्त्वानुपाती निर्णयान्तो वितर्कः॥

इनमें से निर्णयान्त तत्त्वानुपाती का उदाहरण—

क्या यह मैनाक पर्वत है जो मेरे अनवरुद्ध मार्ग को आकाश में रोक रहा है? भला उसकी

शक्ति कहाँ ? वह तो वज्रप्रहारी इन्द्र से भी डरता है। तो क्या यह तार्क्ष्य है ? वह भी तो अपने स्वामी के साथ ही मुझ रावण को जानता है। अच्छा, मालूम हो गया। यह तो जटायु है जो बुढापे से परेशान होकर मरना चाहता है ॥ १२० ॥

यहाँ पर उक्त लक्षण वाले वितर्कों के पश्चात् 'यह जटायु है' इस प्रकार का ज्ञान होने से यह तत्त्वानुपाती निर्णयान्त वितर्क का उदाहरण है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में विभिन्न प्रकार के ऊह दिये गये हैं। इन ऊहापोहों के अन्त में वास्तविक तथ्य पर पहुँच जाने से एक निश्चित विषय में निर्णय की समाप्ति हुई है। अन्त में जो निर्णयात्मक ज्ञान है वह वास्तविक पदार्थ को ही प्रकट करता है।

मैनाकः किमयमिति। **किमयमिति काक्वा पूर्वं दोलायमानचित्तस्य नियतकोटिस्पर्शी ज्ञानविशेष उपनीयते स एव तर्कः। एवमन्यत्रापि ॥**

स एवातत्त्वानुपाती यथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥१२१॥'

अत्र किमिदं रूपं निर्मातुं यथोक्तः पुराणो मुनिः प्रभवेत्, अतश्चन्द्रादिष्वन्यतमेन प्रजापतिना भवितव्यमित्यतत्त्वानुपातित्वादतत्त्वानुपात्ययं निर्णयान्तो वितर्कः ॥

उसी अर्थात् निर्णयान्त के अतत्त्वानुपाती का उदाहरण—

इसके निर्माणकाल में इसको बनाने का काम प्रभामय चन्द्रमा ने किया था, अथवा एकमात्र शृङ्गार से आनन्दित होने वाले कामदेव ने स्वयं ही उसका निर्माण किया था, अथवा ऋतुराज ने ही। भला वेदों को बार-बार रटते रहने से कुण्ठित बुद्धि वाले, समस्त विषय भोगों से अपनी उत्कण्ठा हटा लेने वाले बूढ़े मुनि ब्रह्मा इस प्रकार के रूप का निर्माण करने में कैसे समर्थ होंगे ॥ १२१ ॥

यहाँ पर 'क्या इस रूप का निर्माण करने में पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न मुनि समर्थ होंगे, अतः चन्द्रमा आदि में से किसी एक के द्वारा प्रजापति होना चाहिये' इस प्रकार से तत्त्व का ग्रहण न होने से यह अतत्त्वानुपाती निर्णयान्त वितर्क है।

स्व० भा०—यहाँ राजा इस निर्णय पर पहुँच चुका है कि लोकप्रसिद्ध ब्रह्मा जो समस्त संसार का निर्माण करते हैं, उर्वशी जैसी सुन्दरी का निर्माण नहीं कर सकते, क्योंकि उनके मतानुसार किसी भी सुन्दर पदार्थ का निर्माण कोई सुन्दर कलाकार ही कर सकता है। इसी कारण यहाँ निर्णयान्तता है। विभिन्न रचनाकारों की संभावना करने से वितर्क भी स्वयं सिद्ध है। विशिष्टता केवल यहाँ है कि अन्तिम निर्णय पर पहुँचने पर भी निश्चय अतत्त्व का ही हो रहा है, तत्त्व का नहीं, क्योंकि यह सत्य है कि किसी का भी निर्माण ब्रह्मा ही करते हैं, उनसे भिन्न पदार्थ या प्राणी नहीं।

स एवोभयात्मको यथा—

'चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा-
द्रूपोच्चयेन रचिता मनसा कृता नु।

स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ १२२ ॥'

सोऽयं तत्त्वानुपातित्वादतत्त्वानुपातित्वाच्चोभयात्मा निर्णयान्तो वितर्कः ॥

उसी अर्थात् निर्णयान्त के ही उभयात्मकरूप--तत्त्वातत्त्वानुपाती का उदाहरण—विधाता की सामर्थ्य तथा उसके शरीर के विषय में विचार करने से यही मुझे प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने समस्त प्राणिनिर्माण में अपेक्षित तत्वों को हृदय में रखकर केवल रूपराशि से ही उस शकुन्तला को रचा है, अथवा केवल मन से ही उसका घटन किया है, क्योंकि वह तो एक दूसरे ही प्रकार की, अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की, स्त्रीरत्न की रचना प्रतीत होती है ॥ १२२ ॥

यह तो तत्त्व तथा अतत्त्व का भी ग्रहण करने से उभयात्मक निर्णयान्त वितर्क है।

स्व० भा०—इस श्लोक में तत्त्व की बात यह कही गई है कि शकुन्तला स्त्रीरत्नसृष्टि है, और अतत्त्व की बात यह है कि उसे 'अपरा' कहा गया है, क्योंकि किसी को अद्वितीय घोषित कर देना विशेष बुद्धि की बात नहीं।

उभयात्मक इति। **स्त्रीरत्नसृष्टिरित्यनेन** तत्त्वानुपाती, अपरेत्यनेनातत्त्वानुपाती प्रकाशितः ॥

अनिर्णयान्तो मिथ्यारूपो यथा—

'अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोच्छ्रायश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥१२३॥'

अत्र किमिदमद्रेः शृङ्गं पवनो हरतीति मेघं प्रति कल्पनायां मिथ्यात्वा-द्वस्तुनश्चानिर्णयादनिर्णयान्तो मिथ्यारूपो वितर्कः ॥

अनिर्णयान्त मिथ्यारूप का उदाहरण—

"पर्वत के शिखर को हवा उड़ाये जा रही है क्या ?' इस भाव से ऊपर मुँह करके अत्यन्त आश्चर्यपूर्वक मुग्धासिद्धवधुओं के द्वारा देखे गये तुम (हे मेघ !) इस सरस बेंतो से भरे हुये स्थान से ऊपर की ओर उत्तर दिशा में आकाश में उड़ जाना, हाँ, मार्ग में दिग्गजों के मोटे शुण्डों के घमण्ड को अवश्य छोड़ते जाना ॥ १२३ ॥

यहाँ पर 'क्या पर्वतशिखर को यह वायु उड़ाये ले जा रही है" इस प्रकार की मेघ के प्रति कल्पना करने पर मिथ्यापन के कारण तथा वस्तु का निर्णय न होने से यह अनिर्णयान्त मिथ्यारूप वितर्क होगा।

स्व० भा०—यहाँ पर पर्वत के शिखर नहीं अपितु मेघखण्डों को पवन उड़ाये जा रहा था, अतः मिथ्यात्त्व है। कोई निश्चित निर्णय न करने से कि वस्तुतः कौन सी चीज उड़ी जा रही है, निर्णयान्तता नहीं है। अतः इस श्लोक में अनिर्णयान्त मिथ्यारूप वितर्क की सिद्धि स्वतः हो रही है।

मिथ्यामिथ्यारूपौ बाधिताबाधितविषयौ। अबाधितोऽपि तर्को भवत्येव। यथा यद्यस्य नीलं रूपं नीलोत्पलमिति ॥

स एवामिथ्यारूपो यथा—

'अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना।

समधिरूढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गुणैः ॥१२४॥'

अत्र भगवत्पार्थयोरमिथ्यारूपत्वेन वेगवत्त्वादेकस्यानिर्णयान्तोऽमिथ्यारूपो वितर्कः ॥

वहीं अर्थात् अनिर्णयान्त अमिथ्यारूप वितर्क का उदाहरण—

उस समय (मल्लयुद्ध में) प्रमथगणों का यह निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन था कि यह शिव हैं अथवा अर्जुन। नीचे मुनि अर्जुन हैं अथवा चन्द्रधर शिव। एक दूसरे के ऊपर स्थित होने पर भी यह पता नहीं हो पाता था कि वह किरीटी अर्जुन है अथवा अजन्मा शिव। इस प्रकार उनकी फुर्ती के कारण प्रथमगण मोह में पड़ गये ॥ १२४ ॥

यहाँ पर भगवान् शिव तथा पार्थ के अमिथ्यारूप से अर्थात् सच ही होने पर भी वेगशीलता के कारण एक का भी निर्णय न हो पाने से यह अनिर्णयान्त अमिथ्यारूप वितर्क का उदाहरण है।

स्व० भा०—शिव तथा अर्जुन ये दोनों तो सचमुच ही वास्तविक हैं। इनके वास्तविक होने से अमिथ्यात्व स्वतः सिद्ध है, किन्तु दोनों में से किसी एक का स्पष्ट निर्णय न हो पाने से अनिर्णयान्तता है।

अथ भगवत्पार्थयोरिति। **भगवत्पार्थयोरवस्थानयोः समधिरोहारोहयोश्च न किंचिद्बाधकमस्ति चक्षुर्ज्ञानस्य विशेषः प्रत्यक्षत इति ॥**

अनिर्णयान्त उभयात्मा यथा—

'माया स्विदेषा मतिविभ्रमो वा ध्वस्तं नु मे वीर्यमुताहमन्यः।

गाण्डीवमुक्ता हि यथापुरा मे पराक्रमन्ते न शराः किराते ॥ १२५ ॥'

अत्र मायादीनां विकल्पानां मिथ्यारूपत्वान्मम शराः किराते न व्याप्रियन्त इत्यस्या मिथ्यारूपत्वादनिर्णयान्तत्वाच्चायमनिर्णयान्त उभयरूपो वितर्कः ॥

अनिर्णयान्त के ही उभयात्मक अर्थात् मिथ्यामिथ्यारूप का उदाहरण—

(अर्जुन तर्क करते हैं कि) यह कोई माया है, अथवा मेरी ही बुद्धि भ्रान्त हो गई है, अथवा मेरा सम्पूर्ण पौरुष ही समाप्त हो चुका है, या मैं ही कोई दूसरा हो गया हूँ, क्योंकि गाण्डीव से छोड़े गये मेरे बाण पहले की भांति इस किरात पर अपना असर नहीं दिखा पा रहे हैं ॥ १२५ ॥

यहाँ 'माया' आदि विकल्पों की मिथ्यारूपता से तथा 'मेरे बाण किरात में नहीं व्याप्त हो रहे हैं' इस कथन की अमिथ्यता से अर्थात् सत्यता से और पूरे तौर से निर्णय न हो पाने से यह अनिर्णयान्त उभयरूप वितर्क है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक मिथ्यामिथ्यारूपता के साथ अनिर्णयान्तता का भी उदाहरण है। अर्जुन की जो परमेश्वर की माया, अपने मतिभ्रम आदि के विषय में विकल्पों की उद्भावना है वह सब मिथ्या है, क्योंकि उनमें से कुछ भी वहाँ नहीं था। उनके बाणों का किरात पर प्रभाव हीन होना एक सत्य है, अमिथ्या स्थिति है। बाणों की व्यर्थता की स्पष्ट स्वीकारोक्ति ही इस अमिथ्यात्व की प्रतीति कराती है कि अर्जुन निष्प्रभाव थे। इन सारी स्थितियों के होते हुये भी अर्जुन इस निर्णय पर नहीं पहुँच सके थे कि क्या है, अतः अनिर्णयान्तता भी रह ही जाती है। इस प्रकार इस श्लोक में मिथ्यामिथ्यारूप अनिर्णयान्तता का लक्षण समुचित रूप से घटित हो जाता है।

अत्र मायादीनामिति। **न परमेश्वरस्य माया छद्म, न शक्तौ मतिभ्रमः, न ध्वंसो वीर्यस्य, नवार्जुनादेवार्जुनस्मान्यत्वमिति विषयबाधात् ॥**

(१६) मीलित अलंकार

मीलिते भ्रान्तिरस्तीति भ्रान्त्यनन्तरं मीलितलक्षणमाह—

वस्त्वन्तरतिरस्कारो वस्तुना मीलितं स्मृतम् ।
पिहितापिहिते चैव तद्गुणातद्गुणौ च तत् ॥ ४१ ॥

एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का तिरस्कार मीलित नाम से स्मृत है । वह पिहित, अपिहित तद्गुण तथा तद्गुण (नाम से चार प्रकार का) होता है ॥ ४१ ॥

स्व० भा०—परवर्ती साहित्य शास्त्रियों के यहाँ एक ही रंग के दो पदार्थों में से अधिक प्रखर रङ्ग वाले के द्वारा कम तेज वाले को दबा ले जाना मीलित अलंकार माना गया है । रुद्रट ने भी अपने काव्यालंकार में इसका निरूपण इन शब्दों में किया है ।—

तन्मीलितमिति यस्मिन् समानचिह्नेन हर्षकोपादि ।
अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ॥ ७।१०६ ॥

आश्चर्य है कि भामह तथा दण्डी इस अलंकार के प्रति मौन हैं ।

वस्त्वन्तरेति । वस्तूनामिति श्लिष्टषष्ठी । वस्त्वन्तरेण तिरस्कारे इति कर्मणि । वस्त्वन्तरस्य तिरस्कार इति कर्तरि । फलतः स एवार्थः । तथा चोत्कृष्टगुणेनाकृष्टगुणस्य तिरस्करणं न्यग्भावनमिति लक्षणार्थः । पूर्वरूपतिरस्कारेणैकरूपतापत्तिर्मीलितमुच्यते । तथा च कातन्त्रम्—'मीलितं युक्तमुच्यते' इति । अभिप्रायपूर्वस्तिरस्कारो द्विविधः—सिद्धाभिप्रायफलोऽसिद्धाभिप्रायफलश्च यथाक्रमं पिहितापिहिते । न चैतावता विशेषेण पृथग्भावः, सामान्यलक्षणव्याप्तत्वादवान्तरभङ्गीनामानन्त्याच्च । स रूपगुणेन तिरस्कारस्तद्गुणो विरूपगुणेनातद्गुणः । एतावपि मीलितविशेषाविति स्फुटम् ॥

अत्र मीलितमभिधीयमानगुणेन प्रतीयमानगुणेन च वस्तुना संभवति । तयोराद्यो (ऽभिधीयमानगुणेन) यथा—

'एन्तावि ण सच्चविओ गोसे पसरत्तपल्लवारुणच्छाओ ।
मज्जणतंबेसु मओ तह मअतंबेसु लोअणेसु अमरिसो ॥ १२६ ॥'

[आगच्छन्नपि न दृष्टः प्रातः प्रसरत्पल्लवारुणच्छायः ।
मज्जनताम्रयोर्मदस्तथा मदताम्रयोर्लोचनयोरमर्षः ॥]

अत्र मज्जनताम्रयोर्लोचनयोर्मदरागो मदताम्रयोः कोपानुरागः साक्षादभिधीयमानेनैव गुणेन तिरस्क्रियमाणो निर्दशित इत्यभिधीयमानगुणेन वस्तुनैतन्मीलितम् ॥

यहाँ मीलित अलंकार अभिधीयमानगुण वाले तथा प्रतीयमानगुण वाले वस्तु के कारण सम्भव होता है । इन दोनों में आद्य अर्थात् अभिधीयमानगुण वाले वस्तु के कारण सम्भव मीलित का उदाहरण—

प्रातःकाल विकसित हो रहे पल्लव के सदृश लाल कान्ति वाला स्नान करने के कारण लाल नेत्रों का मद तथा मद के कारण लाल हो गये लोचनों का अमर्ष आता हुआ भी नहीं दिखाई पड़ा ॥ १२६ ॥

यहाँ पर स्नान के कारण लाल हो गये दोनों नेत्रों का मदराग तथा मद से ताम्र नेत्रों में

क्रोध की लाली साक्षात् अभिधीयमान गुण के द्वारा तिरस्कृत होता हुआ दिखाया गया है। अतः यह अभिधीयमानगुण वाली वस्तु के कारण यह मीलित है।

स्व० भा०—लाली से मिल कर लाली एक हो गई। दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान सम्भव न हो सका। मदराग तथा कोपानुराग इन दोनों का गुण 'अरुणिमा', 'ताम्र' तथा 'पल्लवारुण' पदों के द्वारा शब्दतः कह दिया गया है। गुण को शब्दतः कह देने के कारण यहाँ अभिधीयमानता है।

विभागमाह—अत्र मीलितमिति। एन्तोवीति। सच्चविओ दृष्टः। गोसे प्रातः। तस्याः मज्जनं स्नानम्। अत्र ताम्रपल्लवारुणरागपदाभ्यामभिधीयते गुणः॥

प्रतीयमानगुणेन यथा—

'पिअदंसणेण सुहरसमुउलिअ जइसे ण होन्ति णअणाइम्।
ता केण कण्णरइअं लक्खिज्जइ कुवलअं तस्सा॥ १२७॥'

[प्रियदर्शनेन सुखरसमुकुलिते यद्यस्या न भवेतां नयने।
तत्केन कर्णरचितं लक्ष्येत कुवलयं तस्याः॥]

अत्र प्रियदर्शनसुखेन मुकुलितयोरेव लोचनयोस्तस्याः कर्णकुवलयं लक्ष्यते नत्वमुकुलितयोरिति वस्तुना वस्त्वन्तरतिरस्कारः प्रतीयमानगुणतयोपपादित इति प्रतीयमानगुणेन वस्तुना मीलितमिदम्॥

प्रतीयमानगुण के द्वारा मीलित का उदाहरण—

यदि उस सुन्दरी के नयन अपने प्रियतम के दर्शन के आनन्द से मुकुलित न हो जाते तो भला कानों में रचा गया नीला कमल कैसे दिखाई पड़ता॥ १२७॥

यहाँ पर प्रियतम के दर्शन से प्राप्त आनन्द के कारण नयनों के संकुचित हो जाने पर ही उसके कान के नीले कमल दिखलाई पड़ते हैं, मुकुलित न होने पर नहीं। इस प्रकार वस्तु के द्वारा दूसरे वस्तु का तिरस्कार गुण की प्रतीति करा करके ही सम्पन्न किया गया है। इस प्रकार जिसका गुण प्रतीत भर हो रहा है उस वस्तु के कारण यह मीलित अलंकार का लक्षण है।

स्व०भा०—जिस प्रकार पूर्ववर्ती उदाहरण में अरुणता का अभिधान शब्दतः कर दिया गया था, उस प्रकार से नीलकमल का सौंदर्य यहाँ वर्णित नहीं है। नेत्रों के मुकुलित होजाने पर ही कर्णोत्पल के दिखाई पड़ने का अभिप्राय यह है कि नायिका के लोचन नीलकमल से अधिक सुन्दर हैं। जब नयन संकुचित हो जाते हैं और उनकी छटा का पूर्णविलास दब जाता है तभी कान के कर्णफूल की ओर दृष्टि जा पाती है। अर्थात् नयनों की कान्ति से कमलों की कान्ति दब जाती है। वे तिरस्कृत हो जाते हैं। किन्तु नीलनयनों का लावण्यातिशय शब्दतः उक्त नहीं है। उसकी अपनी ओर से कल्पना करनी पड़ती है। शब्दतः कथन न होने तथा गुण के प्रतीत हो जाने से यहाँ प्रतीयमान गुण वाले पदार्थ के द्वारा मीलित अलंकार सम्पन्न किया गया है।

ननु पिअदंसणेणेत्यादि कथं मीलितं, न ह्यत्र तिरस्कारः केनापि शब्देन प्रत्याय्यत इत्यत आह—नत्वमुकुलितयोरिति। यदि मुकुलिते न स्यातां कथं कुवलयं लक्ष्यत इति तर्कस्य तिरस्कारपर्यवसानादिति भावः। मूर्तिरूपादिकः प्रतीयमानो गुणः॥

पिहितं यथा—

'पअडिअसणेहसंभावविब्भमन्तिअ जह तुमं दिट्ठो।

संवरणवावडाए अण्णोवि जणो तह च्चेअ ॥ १२८ ॥'

[प्रकटितस्नेहसद्भावविभ्रमतया यथा त्वं दृष्टः।
संवरणव्यापृतया अन्योऽपि जनस्तथा चैव ॥]

अत्र प्रकटितस्नेहविभ्रमतया त्वामवलोक्य नैतदन्यो जनो जानात्विति सर्वत्र स्निग्धदृष्टिपातेन पिहितमप्येतन्मीलितभेद एव ॥

पिहित का उदाहरण—

प्रकट स्नेह तथा सद्भाव से पूर्ण होकर नायिका जिस प्रकार तुमको देखती है, उसी प्रकार प्रेम को छिपाने के लिये बाध्य हो कर वह अन्य लोगों को भी देख रही है ॥ १२८ ॥

यहाँ तुमको देखने से स्नेह का भाव प्रकट हो जाने पर कोई दूसरा व्यक्ति इसको न जान सके इसलिये सर्वत्र प्रेममयी दृष्टि डाल कर छिपा देने (ढक देने पर भी) यह मीलित का ही भेद है।

स्व० भा०—यहाँ पर गोपन का भाव व्यक्त है। किसी सभा में नायक अन्यजनों के साथ बैठा है। नायिका वहाँ पहुँचती है और नायक को देखते ही उसके नयन खिल उठते हैं। लोग कहीं एकव्यक्ति के प्रति होने वाले उसके लगाव को जान न जायें, अतः वह अपने प्रेम सम्बन्ध को छिपाने के लिये सभी वहाँ पर उपस्थित लोगों को स्नेहपूर्ण एवं विकसित वदन से देखती है। उसके परवर्ती अवलोकनों के द्वारा पूर्ववर्ती अवलोकन के भावों को दबा देना, छिपा ले जाना अभीष्ट है। अतः एक वस्तु के गुणों द्वारा दूसरी वस्तु के गुणों को छिपादेने से यहाँ गोपन का भाव होते हुये भी मीलित का ही भाव अभीष्ट है। इस प्रकार यह छन्द पिहित नामक मीलित का भेद है।

अपिहितं यथा—

'दिट्ठाइवि जण्ण दिट्ठो आलविआएवि जण्ण आलविओ।
उवआरो जण्ण कओ तेण अ कलिअं छइल्लेहिम् ॥ १२९ ॥'

[दृष्टयापि यन्न दृष्ट आलपितयापि यन्नालपितः।
उपचारो यन्न कृतस्तेन च कलितं छेकैः ॥]

अत्र दृष्टया यन्न दृष्टः सम्भाषितया यन्न संभाषितो न चाभ्यागतोपचारो विहितस्तेन तदनुरागः परं न पिहितः प्रत्युत छादनेन छेकानां प्रकटित इत्यपिहिताख्योऽयं मीलितभेदः ॥

अपिहित का उदाहरण—

देखने पर भी सुन्दरी ने जो प्रियतम को नहीं देखा, बात करने पर भी उसने बातें नहीं की और आने पर अभ्यागत का स्वागत भी उसने नहीं किया किन्तु बात विदग्धजनों को तो मालूम ही हो गई ॥ १२९ ॥

यहाँ देखी जाने वाली के द्वारा जो नायक नहीं देखा गया, बात की हुई के द्वारा भी जो बातचीत नहीं किया गया, तथा जो अभी-अभी आये हुए का स्वागत नहीं किया गया इससे प्रेम पूर्णतः छिप नहीं सका बल्कि छिपाने से वह सभी बातें बुद्धिमान लोगों को प्रकट हो ही गई। अतः यह अपिहित नाम का मीलित का भेद है।

स्व० भा०—किसी सभा में परदेश से आकर जब नायक बैठा, तब उसकी प्रेमिका भी वहाँ पहुँची। नायक ने उसकी ओर निगाहें उठाकर देखा, किन्तु उसने उलट कर देखा नहीं, इसने

उससे कुछ बातें भी कहीं, किन्तु उसने कोई जवाब न दिया, यहाँ तक कि उसने इनकी अगवानी तक नहीं की। उस नायिका की इन सभी चेष्टाओं से बुद्धिमान् लोगों को यह स्पष्ट हो गया कि इसके इन व्यवहारों का कारण उसका नायक के प्रति होने वाला प्रेम ही है, न कि प्रेम हीनता। अतः गोपन कृत्यों से भावों के स्पष्ट हो जाने से यहाँ अपिहित मीलित है।

ननु दृष्टयापि न दृष्ट इत्यपि कथमलंकारः। न ह्यत्र शक्तिरस्तीत्यत आह—प्रत्युतेति। छेका विदग्धास्तैरास्वाद्यमानत्वादावर्जकत्वं काव्यस्येत्यर्थः॥

तद्गुणो यथा—

'गोरङ्गउ तरुणिअणो जोह्लाइं अहिसरइ
सिअणेवच्छपडिच्छेंओ वल्लहवद्धरइ।
तच्छाआहिं पुण चलिअउ सामल-
गत्तो तह मअणु मन्ति अहिम्॥ १३०॥'

[गौराङ्गस्तरुणीजनो ज्योत्स्नायामभिसरति सितनेपथ्यपरिच्छन्नो वल्लभबद्धरतिः। तच्छायासु पुनश्चलितः श्यामलाङ्गस्तत्र मदनो मन्त्र्यभूत्॥]

अत्र गौराङ्गस्तरुणीजनः सितनेपथ्यो ज्योत्स्नायां श्यामस्तु नीलनेपथ्यस्तस्याश्छायासु गच्छतीति तद्गुणाश्रयमीलनात्तद्गुणाख्यं मीलितमिदम्।

तद्गुण का उदाहरण—

गोरे-गोरे अङ्गों वाली तरुणी अपने प्रिय से स्नेह लगाये हुये श्वेतवस्त्रादि धारण करके चाँदनी में प्रिय के पास रमण के लिये गमन करती है और उसकी छाया में श्यामल शरीरवाला चलता हुआ कामदेव उसका मन्त्री था॥ १३०॥

यहाँ पर गौर अङ्गों वाली युवती श्वेत परिधान पहन कर चाँदनी में, किन्तु साँवला कामदेव नीले-नीले वस्त्र पहन कर उसकी छाया में ही चलता है। इसलिये उस गुणविशेष से युक्त आश्रय में मिल जाने से यह तद्गुण नामक मीलित (का उदाहरण) है।

स्व० भा०—भाव स्पष्ट है। एक पदार्थ का अपने गुणों के साथ दूसरे के गुणों में मिल जाना, दूसरे पदार्थ के गुणों को धारण कर लेना तद्गुणत्व है। यहाँ पर अँधेरी रात के बदले में उजाली रात में ही गौराङ्गियों का अभिसरण निरूपित किया गया है। जिस प्रकार कृष्ण रात्रियों में नायिकायें काले वस्त्र पहन कर अपने को छिपाने में समर्थ होती हैं, उसी प्रकार गोरे-गोरे शरीरवाली स्त्रियाँ सफेद-सफेद कपड़े पहन कर चाँदनी में ही प्रियमिलन के लिये निकल पड़ती दिखाई गई हैं। नीली-नीली अथवा काली छाया में उसी रंग के वस्त्र धारण कर कामदेव का भी चलना प्रदर्शित है। इनके गुण उनके गुणों में मिल जाते हैं, यद्यपि सब के रंग में पारमार्थिक भेद है, फिर भी यह कार्य होता है। इसीलिये यहाँ तद्गुण नामक मीलित का भेद है।

गोरङ्गउ इति। गौराङ्गः। जोह्लाइं ज्योत्स्नायाम्। णेवच्छं नेपथ्यं वस्त्राङ्गरागादिपरिग्रहः। पडिच्छेंओ प्रतीच्छय गृहीत्वा। वल्लहवद्धरइ वल्लभबद्धरतिः। तच्छाआहिं तासां गौराङ्गीणां छायायाम्। चलिअउ चलितम्॥

अतद्गुणो यथा—

'कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकाङ्क्षिणी
क्रुद्धोलूककदम्बकस्य पुरतः काकोऽपि हंसायते।

कीर्त्या ते धवलीकृते त्रिभुवने क्ष्मापाल लक्ष्मीः पुरः
कृष्णं वीक्ष्य बलोऽयमित्युपहितव्रीडं शनैर्जल्पति ॥ १३१ ॥'

अत्र कर्कन्धूफलानामपगतनिजगुणत्वादतद्गुणत्वादतद्गुणाख्यं मीलितमिदम्॥

अतद्गुण का उदाहरण—

हे महाराज, आपके यश से तीनों लोकों के श्वेत कर दिये जाने पर शबरी मोती के दानों की इच्छा से बेर के फलों को चुन रही है, क्रुद्ध उल्लू पक्षियों के समूह के सामने कौआ भी हँस के सदृश हो रहा है। यहाँ तक कि लक्ष्मी भी अपने सामने स्थित कृष्ण को देख कर उन्हें 'यह बलराम है' ऐसा सोच कर कुछ-कुछ लज्जित होती हुई धीरे-धीरे बोल रही हैं ॥ १३१ ॥

यहाँ पर बेर के फलों के अपना गुण छोड़ देने से तथा अपने पूर्व गुण के साथ न रहने से अतद्गुण नामक मीलित अलंकार है।

स्व० भा०—अन्यत्र तद्गुण तथा अतद्गुण अलंकार पृथक्-पृथक् स्वीकार किये गये हैं। यहाँ पर वे मीलित के ही प्रभेद हैं। दूसरी जगहों पर अतद्गुण तब माना गया है जब कि एक पदार्थ अपने गुणधर्मों को दूसरे के प्रभाव से प्रभावित होते हुये भी नहीं छोड़ता है, किन्तु यहाँ पर अतद्गुण उस दशा में स्वीकार किया गया है जबकि एक पदार्थ अपने पूर्वगुण में नहीं रह पाता है। कर्कन्धू के अपने अरुणत्व आदि गुण दूर हो गये हैं और दूसरे के प्रभाव से मुक्ता सदृश श्वेत दिखने लगे हैं। यश की श्वेतता में वे अपना मौलिकगुण समाहित कर चुके हैं। इसी प्रकार कौओं का हँस सदृश हो जाना, श्यामल कृष्ण का गौराङ्ग बलराम के रूप में दिखाई पड़ना भी दूसरे रंग में रंग जाने का—अपना मौलिक रंग छोड़ देने का—निदर्शन हैं।

अत्र कर्कन्धूफलानामिति। विरूपगुणानामित्यर्थः॥

(१७) स्मरण अलंकार

सदृशादृष्टचिन्तादेरनुभूतार्थवेदनम्।
स्मरणं प्रत्यभिज्ञानस्वप्नाद्यपि न तद्बहिः ॥ ४२ ॥

सादृश्य, अदृष्ट (दैव), चिन्ता आदि के कारण पहले अनुभव में आई हुई वस्तु का ज्ञान हो जाना स्मरण अलंकार है। प्रत्यभिज्ञान, स्वप्न आदि भी उससे बाहर नहीं है अर्थात् उनका भी अन्तर्भाव हो जाता है ॥ ४२ ॥

स्व० भा०—स्मरण अलंकार को रुद्रट आदि कुछ आलंकारिकों ने 'स्मृति' नाम से भी अभिहित किया है। किन्तु यह तो मात्र शब्द का अन्तर है उनके अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। रुद्रट के अनुसार—

वस्तु विशेषं दृष्ट्वा प्रतिपत्ता स्मरति यत्र तत्सदृशम्।
कालान्तरानुभूतं वस्त्वन्तरमित्यदः स्मरणम् ॥ काव्यालंकार ८।१०९ ॥

किन्तु भोज का निरूपण अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म है। उन्होंने प्रत्यभिज्ञा तथा स्वप्न को भी इसी स्मरण अलंकार के अन्तर्गत ही स्वीकार किया है।

मीलिते ज्ञानमस्तीति साजात्यादनन्तरं स्मृतिं लक्षयति—सदृशेति। सदृशा ज्ञायमानसादृश्यात् प्रयत्नजा स्मृतिश्चिन्तादिर्यस्यार्थमग्रे कथयिष्यति—अनुभूतार्थवेदनं समानविषयानुभवनियतज्ञानविशेषरूपं स्मरणम्। प्रत्यभिज्ञानमपि पूर्वानुभूतविषयमेव। एवं स्वप्नोऽपि ॥

तत्र सदृशाद्यथा—

'अदृश्यन्त पुरस्तेन खेलत्खञ्जनपङ्क्तयः ।
असमर्यन्त विनिःश्वस्य प्रियानयनविभ्रमाः ।। १३२ ।।'

अत्र खञ्जनपङ्क्तिदर्शनात्तत्सदृशप्रियानयनविभ्रमस्मरणात्तत्सदृशदर्शनजं स्मरणमिदम् ।।

इनमें से सदृश पदार्थ के कारण स्मरण का उदाहरण—

उसने अपने सामने खेल रही खंजरीटों की पंक्ति को देखा और लम्बी श्वास लेकर वह अपनी प्रियतमा के नयनों के विलास का स्मरण करने लगा, अर्थात् उनकी याद हो आई ।। १३२ ।।

यहाँ खञ्जनपंक्ति को देखने से उसके सदृश ही प्रेयसी के नयनों के विलासों का स्मरग होने से उसके समान वस्तु को देखने से होने वाला स्मरण अलंकार यहाँ है ।

स्व० भा०—स्पष्ट है ।

अत्र खञ्जनेति । अत्र शब्देन खञ्जनपङ्क्तिश्चेदवलोकितानन्तरमेव प्रियास्मरणमासीदिति कार्यकारणभावोऽवगम्यते । स च कारणतासादृश्यमनन्तर्भाव्य खञ्जनज्ञानस्यास्तीति च प्रतीतं सादृश्यमिति भावः ।

अदृष्टाद्यथा -

मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना मम वियुक्तमिदं तमसा मनः ।
मनसिजेन सखे प्रहरिष्यता धनुषि चूतशरश्च निवेशितः ।। १३३ ।।'

अत्र मुनिसुताप्रणयस्मृतिराधिना तमसा मे मनो वियुक्तमित्यदृष्टकृतं स्मरणमिदम् ।

अदृष्ट के कारण (संभव स्मरण का उदाहरण)

(राजा दुष्यन्त अपने मित्र विदूषक से कहता है कि) मुनितनया शकुन्तला के प्रेम की याद को रोकने वाले अंधकार से मेरा यह मन अभी छूटा ही है, कि हे मित्र, प्रहार कर रहे कामदेव ने तो अपनी धनुष पर आम्रमंजरी का भी बाण चढ़ा लिया है ।। १३३ ।।

यहाँ पर 'मुनि पुत्री शकुन्तला के प्रेम की याद के बाधक अन्धकार के द्वारा मेरा मन मुक्त कर दिया गया है' (इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि) यह अदृष्ट के कारण—दैव के कारण होने वाला स्मरण है ।

स्व० भा०—अदृष्ट भी अनेक स्थानों में कारण माना गया है । उन स्थलों पर जहाँ अप्रत्याशित रूप से किसी का ज्ञान हो जाये, किसी वस्तु की प्राप्ति हो जाये, आदि तब वहाँ पर कारण अदृष्ट माना जाता है । यहाँ एकाएक अभिज्ञान-मुद्रिका के अप्रत्याशित रूप से दिखाई पड़ जाने तथा उसे देखते ही याद आ जाने से अदृष्ट के अतिरिक्त और कोई कारण समझ में नहीं आता है ।

अत्र मुनिसुतेति । तमोलक्षणस्य प्रतिबन्धकस्यापगमे स्मरणरूपं कार्यमावश्यकमित्यर्थः ।।

चिन्ताया यथा—

'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।

बहोर्दृष्टं कालादपरमिव जातं वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥ १३४ ॥'

अत्र प्रत्यक्षेष्वपि स्रोतस्तरुविपिनादिषु स्मरणस्य चिन्ताजन्यत्वादिदं चिन्तोद्भूतं स्मरणम् ॥

चिन्ता के कारण स्मरण का उदाहरण—

जहाँ पहले नदियों की धारा थी, वहीं आज किनारा हो गया है। वृक्षों की सघनता तथा विरलता भी बदल गई है। बहुत समय के बाद देखने से यह वन दूसरा-सा हो गया, फिर भी पर्वत मालाओं की उपस्थिति इस विचार को दृढ़ करती है कि यह वही है ॥ १३४ ॥

यहाँ पर प्रत्यक्ष रूप से जलप्रवाह, वृक्ष, वन आदि के दिखाई पड़ने पर भी इस समय की याद चिन्ता के कारण आई है, अतः यहाँ चिन्ता से उत्पन्न स्मरण है।

स्व० भा०—राम इस प्रकार का स्मरण 'भवभूति' के उत्तररामचरितम्' में पंचवटी में पहुँच कर करते हैं। उनकी यह स्मृति चिन्ता से उत्पन्न है।

आदिग्रहणात्परप्रयत्नाद्यथा—

'दर्शनपथमायाता साक्षादिव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥ १३५ ॥'

अत्र परकृतात्प्रयत्नविशेषाच्चिन्तायाः प्रवृत्तत्वादिदमपि स्मरणमेव ॥

(कारिका में प्रयुक्त) आदि पद से दूसरे के प्रयत्न से होने वाली याद (समझना चाहिये)। (उस प्रकार की दशा का) उदाहरण यह है—

चित्रावलोकन करते हुये राजा दुष्यन्त विदूषक से कहते हैं—तल्लीन चित्त से देखने के कारण मुझे ऐसा लग रहा था कि मानों मेरी प्रियतमा मेरे नयनों के समक्ष साक्षात् ही उपस्थित हो, किन्तु याद दिलाकर तुमने पुनः इसे चित्र ही कर दिया ॥ १३५ ॥

यहाँ पर दूसरे के द्वारा किये गये विशेष प्रयत्न से तथा चिन्ता के प्रवृत्त होने से यह भी स्मरण ही है।

स्व० भा०—स्पष्ट है।

स्वप्नाद्यथा—

'जाने स्वप्नविधौ ममाद्य चुलुकोत्केयं पुरस्तादभू-
त्प्रत्यूषे परिवेषमण्डलमिव ज्योत्स्नासपत्नं महः।
तस्यान्तर्नखनिस्तुषीकृतशरच्चन्द्रप्रभैरङ्गकै-
र्दृष्टा काप्यबला बलात्कृतवती सा मन्मथं मन्मथम् ॥१३६॥'

अत्र स्वप्नस्य चिन्तादिजन्यत्वात्स्वप्नस्मृतिरपि स्मरणमेव ॥

स्वप्न के कारण का उदाहरण—

आज स्वप्न में ऐसा लगा कि जो चन्द्रमा की किरणों से टक्कर लेने वाली ज्योति थी वह मात्र मेरे चुल्लू में आ सकती थी, वही बड़े ही प्रातःकाल परिवेषमण्डल की भाँति दिखाई पड़ी। उसी परिवेषमण्डल के भीतर नाखून से ऊपरी भूसी-आवरण-हटा दिये गये से चन्द्रमा की किरणों के सदृश चमकते हुये अङ्गों वाली कोई सुन्दरी मुझे दिखी, जिसने हठात् मुझे मथ डालने वाले कामदेव को मुझमें उत्पन्न कर दिया ॥ १३६ ॥

यहाँ पर स्वप्न के चिन्ता आदि से उत्पन्न होने के कारण स्वप्नस्मृति भी स्मरण ही है।

स्व० भा०—भोजराज के मतानुसार स्वप्न की स्मृति भी स्मरण अलंकार ही है, क्योंकि स्मरण तो स्मरण ही है, चाहे स्वप्न में हो, चाहे जागरण में। सामान्य लक्षण के अनुसार भी इसका अन्तर्भाव स्मरण में ही हो जाता है क्योंकि यह उदाहरण इस बात का सूचक है कि चिन्ता के कारण ही प्रियतमा की इस प्रकार की याद नायक को आई।

यदि स्वप्नस्मृतिरपि स्मरणमेव तदा कतमदत्र सादृश्यादिषु कारणमत उक्तम्—चिन्तादीति।

प्रत्यभिज्ञानं यथा—

'गृहीतो यः पूर्वं परिणयविधौ कंकणधरः
सुधामूर्तेः पादैरमृतशिशिरैर्यः परिचितः।
स एवाय तस्यास्तदितरकरौपम्यसुभगो
मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः ॥ १३७ ॥'

अत्र गृहीतो यः पूर्वं स एवायं तस्याः पाणिरिति प्रत्यभिज्ञानमपि स्मरणमेव ॥

प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण—

राम कहते हैं कि सीता के जिस कंकणयुक्त हाथ को मैंने पहले विवाह में ग्रहण किया था, जो चन्द्रमा की अमृत शीतल किरणों से पूर्ण परिचित है, उसका वही यह उसके दूसरे हाथ के सदृश सुन्दर तथा सुन्दर लवली के अङ्कुर के सदृश कोमल कर मैंने पा लिया ॥ १३७ ॥

यहाँ पर 'जिसे पहले पकड़ा था, वही यह उसकी भुजा है' इस प्रकार की पहचान प्रत्यभिज्ञान भी स्मरण ही है।

स्व० भा०—किसी भी वस्तु को देखकर 'यह वही है' इस प्रकार की धारणा प्रत्यभिज्ञान है। राम का सीता की भुजा को पूर्वपरिचित स्वीकार करना प्रत्यभिज्ञान है। भोज के मतानुसार यह भी स्मृति ही है, क्योंकि स्मरण के अभाव में प्रत्यभिज्ञान संभव ही नहीं है। अतः इसका भी अन्तर्भाव स्मृति में ही होना चाहिये।

प्रत्यभिज्ञानस्वरूपं दर्शयति—यः पूर्वं स एवायमिति। ननु सूत्रे स्वप्नात्पूर्वं प्रत्यभिज्ञानमुद्दिष्टं पश्चादुदाहियत इति कथमेतत्। अत्रोदाहरणक्रमेऽपि लिपिप्रमादोऽयमित्याराध्यपादाः ॥

(१८) भाव अलंकार

अभिप्रायानुकूल्येन प्रवृत्तिर्भाव उच्यते।
सोद्भेदोऽथ निरुद्भेदश्चैकतश्चाभितश्च सः ॥ ४३ ॥

अभीष्ट वस्तु के चिन्तन के अनुकूल क्रियाओं का सम्पादन 'भाव' कहा जाता है। यह सोद्भेद, निरुद्भेद दो प्रकार का एकतः तथा अभितः होता है (अर्थात् कहीं पर एक ही ओर पद का अन्तर सह्य है और कहीं अनेक ओर।) ॥ ४३ ॥

स्व० भा०—भामह और दण्डी तो मौन हैं, किन्तु रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में भाव अलंकार को स्वीकार किया है। उनके अनुसार भाव का लक्षण यह है—

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं न भावोऽसौ ॥ ७।३८ ॥

यह लक्षण तो कुछ अंश में, भोज से मिलता भी है, किन्तु भाव का दूसरा प्रकार कुछ दूर का पड़ता है।

अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम् ।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः ॥ वही ४० ॥

अपने अर्थ को प्रकाशित करता हुआ प्रकाश्यमान अभिप्राय कहीं पदान्तर की वृत्ति से युक्त होकर प्रकाशित होता है, और कहीं अकेले। यही सोद्भेद और निरुद्भेद रूप है। कहीं एक ओर से ही प्रकाशित होता है, कहीं अनेक।

अभिमतमुक्तादिवस्तुचिन्तननियमादनन्तरं भावलक्षणम् । तदाह—अभिप्रायेति । अभिमतवस्तुचिन्ता अभिप्रायः। तदनुकूलतया प्रवृत्तिः क्रियालक्षणाभावः। अत एव सूक्ष्माद्भेदः। प्रवृत्तिप्रतिपादकेन स्वार्थप्रकाशनद्वारा प्रकाश्यमानोऽभिप्रायः क्वचित्पदान्तर-वृत्तिसहकृतेन प्रकाश्यते, क्वचित्केवलेन। ताविमौ सोद्भेदनिरुद्भेदौ। मिथोऽनुबन्धविषय-श्चायं चमत्करोति। तत्र प्रवृत्तिरुच्यमानानेन तस्योच्यते तयोर्वा। तदिदमाह—एकत-श्चाभितश्चेति। अभिप्रायोद्भावनादशायां रूढः स्वादपदवीमासाद्य चमत्कारमावहति। अत एव तत्कार्ययोः प्रवृत्तेरनुभावरूपतया तद्यावानकुण्ठ इति हृदयम् (?)॥

तत्रैकतः सोद्भेदो यथा—

'गेह्ल पलोएह इमं विअसिअणअणा पिअस्स अप्पेइ ।
घरिणी सुअस्स पढमुब्भिण्णदन्तजुअलंकिअं बोरम् ॥ १३८ ॥'
[गृहाण पर्यालोकयेमं विकसितनयना प्रियायार्पयति ।
गृहिणी सुतस्य प्रथमोद्भिन्नदन्तयुगलाङ्कितं बदरम् ॥]

अत्र सुतस्य दन्तोद्गमादहमुपभोगयोग्यास्मीति गृहिण्या एवमभिप्रायः प्रकर्षविकासितनयनतयोद्भिद्यते, न पुनः पत्युरित्येकतः सोद्भेदोऽयं भावः ॥

इनमें से एक ओर होने वाले उद्भेद का उदाहरण—एकतः उद्भेद का उदाहरण—

'पकड़ो, इसे देखो' इस प्रकार कहती हुई घरनी ने प्रफुल्लित नयनों से पुत्र के प्रारम्भिक निकले हुये दो दांतों से चिह्नित बेर का फल अपने प्रिय को थमा दिया ॥ १३८ ॥

यहाँ पर 'पुत्र के दाँत निकल आने से मैं उपभोग के लायक हो गई हूँ' इस प्रकार का गृहिणी का अभिप्राय खूब अधिक फैले हुए नयनों से प्रकट हो जाता है, न कि पति का अभिप्राय। इसलिये यह एकतः सोद्भेद नामक भाव है।

स्व० भा०—सारी बातें तो स्पष्ट ही है। 'एकतः' का अभिप्राय एक पक्ष से भावों का प्रकाशन है, न कि दोनों पक्षों से। यहाँ पत्नी का अभिप्राय तो प्रकट है किन्तु पति की ओर से नहीं।

अभितः सोद्भेदो यथा—

'सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्सवि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥ १३९ ॥

[सालोक एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिनो गृहीत्वा ।
अनिच्छतोऽपि पादौ धावयति हसन्ती हसतः ॥]

अत्र सालोक एव सूर्ये गृहपतेर्गृहागमनं गृहिण्याश्च यत्पादधावनं तदावाभ्यामद्य वेश्मनो न निर्गन्तव्यमिति भावः । स च द्वयोरपि हासेनाभित उद्भिद्यत इत्यभितः सोद्भेदोऽयं भावः ॥

अभितः सोद्भेद का उदाहरण—

अभी सूर्य के प्रकाशयुक्त रहने पर ही हँसती हुई गृहिणी, न चाहने पर भी हँसते हुये गृहस्वामी के चरणों को पकड़ कर धुलाती है ॥ १३९ ॥

यहाँ पर सूर्य के प्रकाशयुक्तरहने पर ही अर्थात् 'दिन डूबने के पहले ही गृहस्वामी का घर आना' तथा 'गृहिणी के द्वारा जो पैरों का धोना है' उसका 'आज अब हम लोगों को घर से बाहर नहीं जाना है' यह अभिप्राय है । यह भाव दोनों की हँसी से दोनों ओर प्रकट हो जाता है । अतः यह अभितः सोद्भेद नामक भाव हैं ।

स्व० भा०—दोनों के भावों का प्रकाशन दोनों की क्रियाओं से होता है, अतः यह अभितः सोद्भेद का उदाहरण है ।

एकतो निरुद्भेदो यथा—

'सालिवणगोविआए उड्डीयन्तीअ पूसविन्दाइं ।
सव्वङ्गसुन्दरी एवि पहिआ अच्छीइ पेच्छन्ति ॥ १४० ॥'

[शालिवनगोपिकाया उड्डाययन्त्याः शुकवृन्दानि ।
सर्वाङ्गसुन्दर्या अपि पथिका अक्षिणी एव प्रेक्षन्ते ॥]

अत्रातिसौन्दर्येण देवीभ्रान्त्या शालिवनगोपिकामालोकयतां पथिकानां तदक्षिनिरीक्षणेऽयमभिप्रायः—'शालिवनतिरस्कारेण देवमानुषयोर्विशेषभूतः पद्भ्यामेव भूमिस्पर्शो भूम्यस्पर्शो वा न लक्ष्यत इति तदक्षिणी एव पश्यामो यदियं निमिषति तदा मानुषीयं यदि न निमिषति तदा देवीयम् ।' इति सर्वाङ्गसुन्दर्या अपि पथिकानामेव जायमानो भावो नेह केनचित्कर्मणोद्भिद्यत इत्येकतो निरुद्भेदश्चायं भावः ॥

एकतः निरुद्भेद का उदाहरण—

शुकों के झुंड को उड़ाती हुई धान की रक्षा करने वाली रमणी के दोनों नेत्रों को ही यात्री देखते रहे, यद्यपि उसका अंगप्रत्यंग सुन्दर था ॥ १४० ॥

यहाँ पर अत्यधिक सुन्दरता के कारण उसके देवी होने के भ्रम से शालिगोप्त्री को देखने वाले यात्रियों का उसकी आँखों के ही देखने का यह प्रयोजन था—"धान के पौधों से ढका होने के कारण देवता तथा मनुष्य दोनों का अन्तर बतलाने वाला दोनों पावों से ही धरती का स्पर्श अथवा अस्पर्श नहीं लक्षित होता है, अतः उसकी दोनों आँखों को ही देखते हैं, यदि यह पलक झपाती है तब तो मनुष्य जाति की स्त्री होगी, यदि पलकें नहीं झँपाती तब तो यह देवी होगी' । इस प्रकार सर्वाङ्गसुन्दरी के किसी कार्य से यहाँ भाव नहीं उद्भिन्न हो रहा है, अपितु पथिकों का ही भाव उत्पन्न हो रहा है । अतः यह एकतः निरुद्भेद भाव का उदाहरण है ।

स्व० भा०—यहाँ पर दूसरी ओर से सम्पन्न हो रही किसी भी क्रिया द्वारा कोई भाव नहीं

व्यक्त किया जा रहा है। अतः एक पक्ष से निरुद्भेदता है। इसमें एक ही पक्ष अर्थात् पथिकों की ओर से ही नेत्रदर्शनरूप व्यापार से उनका कौतूहल भाव द्योतित हो रहा है। इसमें तथा एकतः सोद्भेद में अन्तर दूसरे पक्ष की विशेष रूप से भावव्यक्ति के प्रति निष्क्रियता तथा एक पक्ष के भाव प्रकाशन के प्रति विशेष सक्रियता का है।

नेह केनचिदिति। **तथा चात्र शब्दान्तरस्य व्यापारो नास्तीत्यर्थः ॥**

अभितो निरुद्भेदो यथा—

'गोलाअडट्ठिअं पेच्छिऊण गइबइसुअं हलिअसोह्ला।
आढत्ता उत्तरिउं दुक्खुत्ताराइ पअवीए ॥ १४१ ॥'

**[गोदातटस्थितं प्रेक्ष्य गृहपतिसुतं हालिकस्नुषा।
आरब्धा उत्तर्तुं दुःखोत्तरया पदव्या ॥]**

अत्रागच्छन्तीं हालिकस्नुषां दृष्ट्वा गृहपतिसूनोर्गोदावरीतटे यदवस्थानम्, यश्च तमवलोक्य तस्या दुरुत्तरमार्गेणावतरणारम्भस्तत्रायं तयोरभिप्रायो हस्तावलम्बदानेनावयोरङ्गसङ्गमः संपद्यतामिति। स चाभितो द्वयोरपि जायमानो नेह केनचित्कर्मणोद्भिद्यत इत्यभितो निरुद्भेदश्चायं भावः।

अभितः निरुद्भेद का उदाहरण—

हलवाहे की पुत्रवधू ने गोदावरी के तट पर गृहस्वामी के पुत्र अर्थात् अपने पति को देख कर उत्तर दिशा की अथवा कष्ट के साथ उतराई के स्थान से जाने वाले मार्ग से उतरना शुरू किया ॥ १४१ ॥

यहाँ पर आती हुई हलवाहे की पुत्रवधू को देखकर गृहपति के पुत्र का जो गोदावरी के तट पर जाकर खड़ा होना है, और उसे देखकर उस वधू का कष्टतरणीय मार्ग से उतरने का प्रारम्भ है, उसका अभिप्राय यह है कि हाथ का सहारा देने के बहाने ही हम दोनों के अङ्गों का स्पर्श सम्पन्न हो। यह भाव दोनों ओर से दोनों के उत्पन्न हो रहे हैं, किन्तु यहाँ किसी कर्म के द्वारा उद्भिन्न नहीं हो रहे हैं। इस प्रकार यह उभयतः निरुद्भिन्न भाव है।

स्व० भा०—स्पष्ट है।

**हृद्यं सूक्ष्मं च भिद्येत न हि भावात्कथंचन।
हृद्योदाहरणं तत्र तैरिदं प्रतिपाद्यते ॥ ४४ ॥**

'हिअए रोसुग्घुण्णं पाअप्पहरं सिरेण पत्थन्तो।
णह उदओ(?) माणसिणीए अ थोरं सुअं रुण्णम् ॥ १४२ ॥'

अत्र हृदये रोषोद्घूर्णपादप्रहारं यदयं शिरसा प्रार्थितवान्, यच्च तयासौ न ताडितस्तत्र हृदये वल्लभा वसतीति भावः। स च प्रार्थनारोदनाभ्यामुद्भिद्यमानः सोद्भेदो भावो हृद्य इत्युच्यते ॥

'हृद्य' तथा 'सूक्ष्म' भाव से किसी भी प्रकार पृथक् नहीं हैं। (जो लोग उस को अलंकार स्वीकार करते हैं) उनके द्वारा हृद्य का उदाहरण यह दिया जाता है ॥ ४४ ॥

क्रोध के कारण उत्तेजित मानिनी के द्वारा हृदय पर उठाये गये पादप्रहार को नायक ने

सिरसे स्वीकार किया। उस मानिनी ने भी उसके हृदय पर लात नहीं मारा अपितु जोर-जोर से उसी का रोना सुना गया ॥ १४२ ॥

यहाँ हृदय पर क्रोध से उठाये गये पादप्रहार को जो नायक ने सिर से ग्रहण किया तथा नायिका के द्वारा भी प्रहार नहीं किया गया, उसका भाव यह है कि हृदय में इसकी प्राणेश्वरी निवास करती है। (अतः) यह प्रार्थना तथा रोदन दोनों के द्वारा उद्भिन्न हो रहा सोद्भेद नामक भाव ही 'हृद्य' कहा जाता है।

स्व० भा०—भोज ने पता नहीं किस आलंकारिक की 'हृद्य' की मान्यता का खण्डन किया है। दण्डी, वामन, भामह तथा रुद्रट जिनका विशेष प्रभाव इन पर पड़ा है, सभी इसके प्रति मौन हैं।

उदाहरण में यह तत्त्व निर्दिष्ट है कि जिन स्थलों पर दूसरे आलंकारिक हृद्य नामक अलंकार स्वीकार करते हैं, वहाँ वस्तुतः सोद्भेद नामक भाव ही होता है। पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं। जैसे कि उदाहृत छन्दमें व्यक्त है। यहाँ उदाहृत प्राकृत छन्द की संस्कृत छाया न तो निर्णयसागर प्रेस की प्रति में और न विद्यासागर जी की ही प्रति में उपलब्ध होता है। यहाँ उसका एक सामान्य रूप दिया जा रहा है—

हृदये रोषोद्घूर्णं पादप्रहारं शिरसा प्रार्थयन्तः।
न ह उदरे ? मानवत्याश्च स्थूलं श्रुतं रोदनम् ॥

वस्तुतः भोज की वृत्ति में आये हुये शब्दार्थ के आधार पर यह प्रयास किया गया है। इसके कई शब्द यहाँ अपेक्षित अर्थ में प्राकृत में प्रयुक्त ही नहीं होते।

हृद्यमिति। अभिमतस्य वस्तुनो हृदयावच्छेदेन वृत्तिमतिसंधाय प्रवृत्तिः। तत्र यद्यपि विशेषोऽस्ति तथापि भावसामान्यलक्षणाक्रान्तस्तत्रैवान्तर्भविष्यति ॥

निरुद्भेदस्तु यो भावः स सूक्ष्मस्तैर्निगद्यते।
इङ्गिताकारलक्ष्यात्स सूक्ष्मात्स्याद्भूमिकान्तरम् ॥ ४५ ॥

यथा—

'कदा नौ संगमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम्।
अवेत्य कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीमिलत् ॥ १४३ ॥'

अत्र वक्तुमक्षमतायामिङ्गिताकारयोरप्रतीयमानत्वाद् भावगतेर्भूमिकान्तरमिदं भवति।

जो यहाँ का निरुद्भेद भाव है उसे वे सूक्ष्म कहते हैं। उनका सूक्ष्म हमारे सूक्ष्म से भिन्न है क्योंकि हमारे सूक्ष्म का लक्ष्यार्थ इङ्गित तथा आकार से लक्षित होता है। यह भाव की भूमिका में अन्तर्भूत हो जाता है ॥ ४५ ॥

जैसे—

'हम दोनों का मिलन कब होगा' इस बात को कहने में जनसमूह में प्रिय को असमर्थ जानकर लीलापद्म को मूँद दिया ॥ १४३ ॥

यहाँ कहने में असमर्थ होने पर संकेत तथा आकार के प्रतीत न होने से यह भावगति की भूमिका के भीतर ही आ जाता है।

ननु च सूक्ष्मः कथं पूर्वोक्तात्सूक्ष्माद्भिद्यत इत्यत आह—इङ्गिताकारलक्ष्यादिति। कदा नौ संगमो भावीत्यभिप्रायस्य व्यञ्जकं नेङ्गितं न विकारो वा कान्तस्य कश्चिदुपात्तः, अवेक्ष्येत्यादिप्रकाशिताभिप्रायानुगुणा काचिदस्ति क्रिया वा। कथमन्यथा तमुद्दिश्य लीलापद्मनिमीलनं संगच्छते। तस्मादन्यमेवेदं सूक्ष्मं भावलक्षणाक्रान्तम्॥

'पद्मसंमीलनाच्चात्र सूचितो निशि सङ्गमः।
आश्वासयितुमिच्छन्त्या प्रियमङ्गजपीडितम्॥ १४४॥'

अत्रानुकार्यानुकरणेऽपि भूमिकान्तरिते एव भवत इति सोऽयं निरुद्भेदो भाव एव सूक्ष्म इत्युच्यते।

यहाँ पर कमल को संमीलित करने से रात्रि में मिलन की सूचना दी गई है। यह सूचना अपने कामपीड़ित प्रियतम को आश्वासन देने की इच्छा से नायिका ने दी॥ १४४॥

यहाँ पर अनुकार्य तथा अनुकरण दोनों ही भूमिका के भीतर ही हो जाते हैं, अतः यह निरुद्भेद भाव ही (उनका) सूक्ष्म कहा जाता है।

स्व० भा०—भोज ने यहाँ पर दण्डी से अपना वैमत्य प्रकट किया है तथा लक्षणों में प्रायः समानता होने पर भी उदाहरण में भेद माना है। इनके मत से दण्डी द्वारा दिये गये सूक्ष्म के उदाहरण का अन्तर्भाव इनको मान्य भाव अलंकार में ही हो जाता है। क्योंकि 'हमारा मिलन कब होगा' इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये इङ्गित तथा विकार में से कोई न कोई कान्त में अवश्य होना चाहिये था। यहाँ कान्त निश्चेष्ट हैं और कान्ता में भी कान्त के भावों को मालूम करने का कोई चिह्न या संकेत किसी क्रिया द्वारा ज्ञात नहीं हो पा रहा है। अतः यहाँ सूक्ष्मालंकार न मानकर भावालंकार ही मानना चाहिये वह भी, निरुद्भेद।

दूसरे श्लोक में दण्डी ने जो सूक्ष्मालंकार की संगति सिद्ध की थी, उसका भी अन्तर्भाव निरुद्भेद भाव में हो रहा है। भोज ने यहाँ स्वाभाविक पद्मसंकोच रूप अनुकार्य तथा कान्ता के द्वारा अङ्गुली से उसे बनाना रूप अनुकरण दोनों के भाव की ही भूमिका में समाहित किया है।

ये दोनों छन्द सूक्ष्म के इङ्गित भेद का निरूपण करते समय दण्डी ने दिये हैं। उन्हीं पर भोज को विशेष आपत्ति है।

उत्तरार्धस्योदाहरणं व्युत्पादयति—अत्र पद्मसंमीलनाच्चेति। एवं चेत प्राप्तमिङ्गितलक्षणत्वमत आह—तत्र चेति। आजानिकं पद्ममीलनमनुकार्यं कान्ताहस्ताङ्गुलीजनितमनुकरणं रात्रौ समागमो भविष्यतीति कान्तागतोऽभिप्रायः। न तु निमीलनमनुकार्याद्व्यभिचरितमेतमर्थमवबोधयतीत्यर्थः॥

(१९) प्रत्यक्ष अलंकार

प्रत्यक्षमक्षजं ज्ञानं मानसं चाभिधीयते।
स्वानुभूतिभवं चैवमुपचारेण कथ्यते॥ ४६॥

इन्द्रियों से उत्पन्न तथा मानस ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है। इसी प्रकार स्वानुभूति से उत्पन्न ज्ञान भी उपचार से (प्रत्यक्ष ही) कहा जाता है॥ ४६॥

स्व० भा०—भोज ने जैमिनि मुनि को मान्य प्रमाणों प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान

अर्थापत्ति और अभाव को भी अलंकार माना है। प्रत्यक्ष की न्याय आदि शास्त्रों में 'इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यं ज्ञानम्, आदि सामान्द परिभाषा दी गई है। किन्तु यहाँ भोज को नैयायिकों के योगज प्रत्यक्ष की भाँति मानस आदि ज्ञान भी प्रत्यक्ष के ही भीतर समाहित मान्य हैं।

ज्ञानसंगत्यनन्तरं प्रमाणरूपालंकारप्रस्तावस्तत्रान्येषां प्रमाणानां प्रत्यक्षमूलकत्वात् प्रथमं प्रत्यक्षलक्षणमाह—प्रत्यक्षमिति। साक्षात्कारः प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धं तस्य विभागमाह—अक्षजमिति। अक्षं बहिरिन्द्रियं तस्माज्जातम्, मानसं बाह्येन्द्रियानपेक्षेण मनसा जनितम्। स्वानुभूतिः सहजा चिच्छक्तिस्तस्या उत्पन्नम्। शरीराभिघाताद्यभिभूते प्रत्याहारतिरस्कृते वा मनसि यत् कदाचिदतिस्फुटाभं ज्ञानमुत्पद्यते न तस्य मनोनिबन्धनता शक्यतेऽभिधातुमिति चिच्छक्तिमेवाश्रयते। ननु इन्द्रियजन्य एव लोके साक्षात्कारिताप्रसिद्धेः कथमनुभूतिभवं तथेष्यत आह—उपचारेणेति। यदीन्द्रियजन्ये साक्षात्कारितानियमस्तदोपचारेण परिगणनम्। अथ भावनादिबलेन विनापीन्द्रियं भवतीति पक्षस्तदा मुख्यत एवेति भावः॥

तत्राक्षजं द्विधा। युगपदेकशश्च। तयोर्युगपद्यथा—

'कान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे मग्नबालसहकारसुगन्धौ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः॥ १४५॥'

अत्र मदिराश्रयाणां मुखप्रतिबिम्बसौगन्ध्यस्वादुताश्रव्यत्वशैत्यानां दृग्घ्राणरसनश्रवणत्वगिन्द्रियप्रत्यक्षता प्रतीयते॥

इनमें से अक्षज दो प्रकार का है—युगपद् तथा एकशः। इन दोनों में से युगपद् का उदाहरण—

प्रिय के मुख के प्रतिबिम्ब से युक्त, नवीन आम्रपल्लवों के लगने से सुगन्धित अत्यधिक स्वादिष्ट, भौरों की झनकार से झंकृत और शीतल मदिरा में उनकी इन्द्रियाँ खूब तृप्त हुईं॥ १४५॥

यहाँ पर मदिरा में आश्रित मुख का प्रतिबिम्ब, सुगन्धि, स्वादुता, श्रव्यता तथा शीतलता की नेत्र, घ्राण, रसना, श्रोत्र और त्वक् इन्द्रिय की प्रत्यक्षता प्रतीत होती है।

स्व० भा०—यहाँ किये गये वर्णन में चक्षु, श्रोत्र आदि सभी इन्द्रियों के विषय उपस्थित ही नहीं अपितु गृहीत प्रदर्शित हैं। क्योंकि प्रतिबिम्ब दर्शन आँखों से, आम्रपल्लवों की सुगन्धि के ग्रहण से नासिका, सुस्वादु से जिह्वा, भ्रमरों की गुञ्जार से श्रोत्र तथा शीतलता से त्वचा तृप्त हुई। सभी इन्द्रियों के विषय एकत्र उपस्थित होने से 'युगपद्' प्रत्यक्ष का उदाहरण है।

युगपदिति। एकस्मिन्वाक्ये घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणां पञ्चानामपि युगपत्प्रवृत्त्यभिधानाद्यौगपद्यं रसानुगुणतया यौगपद्याच्चमत्कारितामावहतीति द्विधाप्यलंकारकाण्डे परिसंख्यानमुचितम्॥

एकशो यथा—

'मन्दमन्दविगलत्त्रपमीषच्चक्षुरुल्लसितपक्ष्म दधत्या।
वीक्ष्यते स्म शनकैर्नववध्वा कामिनो मुखमधोमुखयैव॥ १४६॥'

तदेतच्चाक्षुषम्। एवं श्रावणादीन्यप्युदाहरणीयानि॥

एकशः का उदाहरण—

धीरे-धीरे लज्जा के दूर होने से विकसित नेत्रों को धारण करने वाली नवोढ़ा नीचे मुँह

किये हुये ही अपने प्रियतम के मुख का अवलोकन तिरछी नजरों से करने लगी ॥ १४६ ॥

तो यह चाक्षुष प्रत्यक्ष का उदाहरण है। इसी प्रकार श्रावण प्रत्यक्ष आदि का भी उदाहरण देना चाहिये।

स्व० भा०—केवल नेत्रों से ही प्रत्यक्ष करने का उदाहरण होने से एकशः प्रत्यक्ष का उदाहरण इसे मानना उचित है।

मानसमपि द्विधा। सुखादिविषयमनुभूतार्थविषयं च। तयोः सुखादिविषयं यथा—

'अस्तोकविस्मयमविस्मृतपूर्ववृत्तमुद्भूतनूतनभयज्वरजर्जरं नः।
एकक्षणत्रुटितसंघटितप्रमोदमानन्दशोकशबलत्वमुपैति चेतः॥ १४७॥'

एतन्निगदेनैव व्याख्यातम्॥

मानस भी दो प्रकार का होता है—सुखादि विषय से सम्बद्ध तथा अनुभूत अर्थ से सम्बद्ध। इन दोनों में से सुखादि विषयक का उदाहरण—

(मकरन्द कह रहा है कि) अत्यधिक आश्चर्य से युक्त, पूर्व आश्चर्यों को भूलने न देने वाला, नवोत्पन्न भयज्वर से जीर्णशीर्ण, एक ही क्षण में विनष्ट तथा उत्पन्न प्रमोह से युक्त मेरा चित्त आनन्द और शोक से मिश्रितभाव को प्राप्त हो रहा है ॥ १४७ ॥

यह तो छन्द के कथन मात्र से ही स्पष्ट है।

स्व० भा०—यहाँ सभी भाव मन में हो रहे हैं, अतः मानस प्रत्यक्ष है। छन्द का अर्थ ही मानसभाव स्पष्ट कर रहा है।

मानसमपि द्विधेति। **संयुक्तसमवायनियमितमेकमपरं तु संस्कारनियमितम्। संस्कारलक्षणया हि प्रत्यासत्त्या यथा स्मरणातिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं तथेदमपीति न किंचिदनुपपन्नम्।** निगदेनैवेति। **यदि विस्मयादीनयं न साक्षात्कृतवांस्तर्हि कथमुद्वेलतामाचक्षीतेत्यर्थः॥**

अनुभूतार्थविषयं यथा—

'पिहिते वासागारे तमसि च सूचीमुखाग्रसंभेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तामुखं व्यक्तम्॥ १४८॥'

इदमपि नातिदुर्बोधमिति न व्याख्यातम्॥

अनुभूतार्थ विषय का उदाहरण—

निवास भवन के बन्द होने पर और सूई के अग्रभाग से भेद्य अंधकार होने पर तथा मेरे द्वारा आँखे बन्द रखने पर भी प्रियतमा का मुख स्पष्ट हो रहा है ॥ १४८ ॥

यह भी बहुत कठिनाई से ज्ञेय नहीं है, अतः विशेष निरूपण नहीं किया गया है।

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ मानस प्रत्यक्ष ही है जिसके विषय का प्रत्यक्ष–उसकी अनुभूति–की जा चुकी है। घर बन्द होने पर भी, घनघोर अन्धकार होने पर भी और नेत्रों के भी बन्द होने पर भी प्रेयसी का मुखमण्डल दिखाई पड़ जाना अक्षज प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन दशाओं में कोई वस्तु देखी नहीं जा सकती।

इदमिति। **व्यक्तमित्यनेन साक्षात्कारो दर्शितः। नहि स्मरणेन व्यक्तता भवति किंतु आत्मन्येवावतिष्ठते। स्वानुभूतिमाश्रयत इत्यर्थः॥**

स्वानुभूतिभवं द्विधा। मिथ्यात्मकममिथ्यात्मकं च। तयोर्मिथ्यात्मकं यथा—

'अथ दीर्घतरं तमः प्रवेक्ष्यन्सहसा रुग्णरयः ससंभ्रमेण।
निपतन्तमिवोष्णरश्मिमुर्व्यां वलयीभूततरुं धरां च मेने॥ १४९॥'

तदिदमिन्द्रियेषु मनसि चानवतिष्ठमानमात्मन्येवावतिष्ठते॥

स्वानुभूति से उत्पन्न होने वाला भी ज्ञान दो प्रकार का होता है—मिथ्यात्मक तथा अमिथ्यात्मक। उन दोनों में से मिथ्यात्मक का उदाहरण—

उसके पश्चात् महानिद्रा में विलीन होते हुये उस वराह ने वेगरहित होकर भ्रमवश सूर्य को पृथ्वी पर गिरते हुये, तथा पृथ्वी के वृक्षों को घूमते हुये देखा॥ १४९॥

यह ज्ञान तो इन्द्रियों तथा मन में न रहकर आत्मा में ही विद्यमान है।

अमिथ्यात्मकं यथा—

'मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः।
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्ज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्॥ १५०॥'

अस्यात्मविषयता व्यक्तैव योगिभिरुद्गीयते॥

अमिथ्यात्मक का उदाहरण—

वायु को खींचकर नियमपूर्वक मन को प्रत्यगात्मा में स्थिर करके, रोमाञ्चित हो गये, प्रकृष्ट मदजल से नेत्रों को भरे हुये योगियों का अन्तस्तत्त्व जिसको देखकर ऐसे आनन्द का अनुभव करता है मानों यह अमृत सरोवर में स्नान किया हो, (हे महाराज) आप वही तत्त्व हैं॥॥ १५०॥

योगियों के द्वारा स्वीकार्य उस विषय की आत्मपरकता तो स्पष्ट ही है।

स्व० भा०—पूर्व छन्द में वर्णित विषय असत्य वस्तुस्थिति के अनुभव रूप में है, अतः मिथ्या विषयता है। अर्थात् पृथ्वी पर सूर्य का उतर आना, वृक्षों का एक वृत्त में स्थित हो जाना आदि मिथ्याविषय हैं जिसका अनुभव वाराह करता है।

परवर्ती छन्द का विषय योगियों के अनुभव का है, अतः यहाँ सत्यविषयता है। कोई भी बात असत्य नहीं कही जा सकती।

योगिभिरिति। निदिध्यासनबललब्धात्मनो ज्ञानस्य योगिमात्रे प्रसिद्धविषयत्वान्न ह्यस्मदादयस्तथा तं परिचिन्वन्ति यथा योगिन इत्यर्थः॥

(२०) अनुमान अलंकार का लक्षण

अनुमानलक्षणमाह—

लिङ्गाद्यल्लिङ्गिनो ज्ञानमनुमानं तदुच्यते।
पूर्ववच्छेषवच्चैव दृष्टं सामान्यतश्च यत्॥ ४७॥

लिङ्ग से जो लिङ्गी का ज्ञान है वह अनुमान कहा जाता है। वह पूर्ववद्, शेषवद् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद से (तीन प्रकार का होता है।)॥ ४७॥

लिङ्गादिति। यस्य येन सहाविनाभावलक्षणा व्याप्तिः संदिग्धसाध्यधर्मधर्मिरूपपक्षवृत्तितारूपा पक्षधर्मता च गृह्यते तस्मात्तस्य प्रतीतिरनुमानं यथा धूमाद्वह्नेः। स हि यथाविधे सिद्धस्तथाविधसंनिधानं सूचयति। तत्र यस्मात्प्रतीतिरुत्पद्यते तत् लिङ्गं चिह्नम्। व्याप्तिविशिष्टपक्षे धर्मतासंज्ञापकमित्यर्थः। इतरलिङ्गं ज्ञापकमस्यास्तीति कृत्वा। पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टभेदात्त्रिविधमनुमानमग्रे ग्रन्थकृतैव व्याख्यातमिति न वितन्यते॥

फलसामग्र्यभेदेन द्विधैतद्भिद्यते पृथक्।
उदाहरणमेवैषां रूपव्यक्त्यै भविष्यति॥ ४८॥

फल तथा सामग्री के अभेद से यह दो प्रकार का, भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। आगे के उदाहरण ही इनके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त होगा॥ ४८॥

स्व० भा०—प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने, चार्वाक् को छोड़कर, अनुमान को प्रमाण स्वीकार किया है। न्यायदर्शन में विशेषरूप से प्रमाणों पर अधिक बल दिया गया है। अपने-अपने प्रमेयों के अन्तर के कारण नाम एक होने पर भी सर्वत्र अनुमान के लक्षण में कुछ न कुछ अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है। इस अन्तर के रहने पर भी अनुमिति रूप प्रमाज्ञान के लिये लिङ्ग के—व्याप्य के—ज्ञान द्वारा व्यापक का ज्ञान रूप अर्थ सामान्यतः स्वीकृत ही है। उसी की एक सामान्य परिभाषा कारिका के द्वारा दी गई है। यहाँ अनुमान के जो भेद दिये गये हैं, उनमें अन्तर भी मिलता है, तथापि भोज को ये ही मान्य हैं। फल तथा सामग्री के आधार पर दो भेद भी माने जा रहे हैं।

फलसामग्र्येति। यद्यपि ज्ञानमनुमानमित्युक्तं तथापि तस्य साधारणमेव क्वचिदनुपन्यासप्रधानं वाच्यम्, क्वचित्करणीभूतलिङ्गपरामर्शोपन्यासप्रधानमिति भवति यथोक्तो विशेषः। अनुमानशब्दो हि भावल्युडन्तः करणे ल्युडन्तो वा। आद्ये फलं द्वितीये सामग्र्यकरणमित्यर्थः। उपन्यासप्रधानता दुरूहेत्यत आह—उदाहरणमेवेति॥

तेषु यत्र कारणं दृष्ट्वा कार्यमनुमीयते तत्पूर्ववद्यथा—

'अविरलविलोलजलदः कुटजार्जुननीपसुरभिवनवातः।
अयमायातः कालो हन्त हताः पथिकगेहिन्यः॥ १५१॥'

अत्र वर्षर्तोः कारणभूतात् कार्यभूतविरहिणीनां मरणमनुमीयते। तेनैतत्पूर्वं कारणमिहास्तीति पूर्ववदुच्यते॥

इनमें से जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान किया जाता है, वह पूर्ववत् कहा जाता है, जैसे—

सघन एवं चञ्चल मेघों से व्याप्त, कुटज, अर्जुन तथा कदम्ब की सुगन्धि से पूर्ण वन वायु के बहने के समय वाला यह वर्षाकाल आ गया है। हाय, अब तो पथिकों की पत्नियाँ मरीं॥१५१॥

यहाँ वर्षाऋतु के कारण बनने से कार्यरूप विरहिणियों की मृत्यु का अनुमान होता है। इसलिये यह कारण यहाँ पहले से ही होने से इसे पूर्ववत् कहते हैं।

स्व० भा०—कहने का अभिप्राय यह है कि जलदागम रूप कारण से प्रोषितपतिकाओं का मरणरूप कार्य सम्पन्न होने की सम्भावना है। कारण कार्य का पूर्ववर्ती वैसे भी होता है। अतः

उसी का वर्णन करके परवर्ती फल का अनुमान करने से इसे पूर्ववत् का उदाहरण मानना उचित होगा।

इस श्लोक में रुद्रट ने भी अनुमान माना है और जो अनुमान यहाँ घटित होता है, उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति।
भावीति वा तथान्यत् कथ्येत तदन्यदनुमानम् ॥ काव्यालंकार ७।५९॥

कार्यभूतविरहिणीनामिति। **पथिकगेहिनीनां दशम्यवस्था ज्ञायमाना वाक्यार्थः। अतः फलोपन्यासदत्तभरमेवेदं काव्यमित्यभिप्रायः। आयातश्चेज्जलदागमस्तदा पूर्वप्रवृत्त इव पथिकनारीविनाशो लक्ष्यत इति निष्ठाप्रत्ययेन द्योत्यते ॥**

यत्र कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते तच्छेषवद्यथा—

'सावज्ञमागमिष्यन्नूनं पतितोऽसि पादयोस्तस्याः।
कथमन्यथा ललाटे यावकरसतिलकपङ्क्तिरियम् ॥ १५२ ॥'

अत्र यावकरसतिलकपङ्क्तेः कार्यभूतायाः कारणभूतं पादपतनमनुमीयते। तेनैतच्छेषः कार्यमिहास्तीति शेषवदुच्यते ॥

जहाँ पर कार्य को देख कर कारण का अनुमान किया जाये वह शेषवत् होगा—

अत्यन्त तिरस्कार करने पर निश्चित ही तुम आकर उसके दोनों चरणों पर गिरे होगे, नहीं तो तुम्हारे ललाट पर ये महावर के रंग की पंक्तियाँ कैसे लगतीं ॥ १५२ ॥

यहाँ महावर के रस से बना तिलकावलि, जो कि कार्य है, के कारणभूत चरणपात का अनुमान हो रहा है। इससे यह शेष अर्थात् कार्य यहाँ है, अतः इसे शेषवत् कहा जाता है।

स्व० भा०—यहाँ कार्य से कारण का ज्ञान हुआ है। कार्य है मस्तक में लगा हुआ महावर का चिह्न तथा कारण है चरणपात। इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि ऐसी अवस्थाओं में अर्थापत्ति आदि अलंकार नहीं होंगे।

कथमन्यथेति। **नेयमर्थापत्तिः, किन्तु तथाभूता नायकस्य ललाटेऽलक्तकबिन्दुविशेषपङ्क्तिः प्रमदापदावपातप्रतिबद्धेति। न चालक्तकबिन्दुपङ्क्तिज्ञानं तथा स्वदते यथा विपक्षचरणावनमनानुमेयस्य ज्ञानं फलभूतम्, तत्किल विपक्षगोचरामीर्ष्यां व्यञ्जयद् विप्रलम्भप्रकर्षं पुष्णाति ॥**

यत्र न कार्यं न कारणं केवलमविनाभावमात्रं प्रतीयते तत्सामान्यतोदृष्टं, यथा—

'गज्जन्ते खे मेहा फुल्ला णीवा पणच्चिआ मोरा।
णट्ठो चन्दुज्जोओ वासारन्तो हला पत्तो ॥ १५३ ॥'

**[गर्जन्ति खे मेघाः फुल्ला नीपाः प्रनर्तिता मयूराः।
नष्टश्चन्द्रोद्द्योतो वर्षर्तुः सखि प्राप्तः ॥]**

अत्र वर्षर्तुरविनाभूतैर्मेघगर्जितादिभिः सामान्येनैवानुमीयत इति सामान्यतोदृष्टमिदम्। तान्येतानि भावसाधनेऽनुमानशब्दे फलपक्षे उदाहरणानि भवन्ति ॥

जहाँ पर न तो कार्य और न कारण अपितु केवल अविनाभाव—जिसके न रहने पर पदार्थों की स्थिति नहीं हो सकती—प्रतीत हो वहाँ सामान्यतोदृष्ट होता है। जैसे—

आकाश में बादल गरज रहे हैं। कदम्ब फूल गये हैं। मयूर नाच उठे हैं। चन्द्रमा का प्रकाश समाप्त हो गया है। अरी सखि, वर्षा ऋतु आ गई है। ॥ १५३ ॥

यहाँ पर वर्षा ऋतु समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध मेघगर्जन आदि के द्वारा सामान्य रूप से ही अनुमित हो रही है, अतः यह सामान्यतोदृष्ट है। ये सब भावरूप साधन अर्थ में प्रयुक्त अनुमानशब्द का ग्रहण करने पर फलपक्ष में उदाहरण सिद्ध होते हैं।

स्व० भा०—अविनाभाव शब्द न्यायदर्शन में समवाय सम्बन्ध के प्रसङ्ग में प्रयुक्त होता है। यह नित्य सम्बन्ध का सूचक है। जिस परस्पर सम्बन्ध के विना दो पदार्थ नहीं रह सकते उस सम्बन्ध को अविनाभाव सम्बन्ध कहा जाता है। इसी को अयुतसिद्धवृत्ति भी कहते हैं। इसमें केवल कार्यकारणभाव ही नहीं आता, अपितु अन्य दशाओं में भी यह भाव है। अन्नंभट्ट के अनुसार—"ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यत् तदवस्थमपराऽऽश्रितमेवाऽवतिष्ठते तावयुतसिद्धौ। यथा—अवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति।" (द्रष्टव्य तर्कसंग्रहः)

वृत्ति की अन्तिम पंक्तियों में भोज ने यह स्पष्ट किया है कि ये तीन भेद फलपक्षीय अनुमान के हैं। अनुमान भाव का साधन है, अभाव का नहीं। अब आगे सामग्रीरूप भेद का निरूपण होगा।

गज्जन्त इति। अत्र समसमये मेघगर्जितादिभिः कालोपाधिभिरनुमानं तेन कार्यकारणभावः। अत्र हि न पृथङ् मेघगर्जितादिज्ञानं तथा चमत्कारमावहति यथा वर्षारात्रिज्ञानप्रतिबद्धम्। स हि ज्ञातः केतककर्णपूरादिविदग्धनेपथ्यपरिग्रहौत्सुक्यं प्रवासिनायकागमनौत्सुक्यं वा जनयतीति फल एव भरः॥

यदा पुनः करणसाधनोऽनुमानशब्दस्तदानुमीयतेऽनेनेत्यनुमानशब्देन यथोक्तं लिङ्गमुच्यते। यदाह—

'अनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च यन्नास्ति तल्लिङ्गमनुमापकम्॥ १५४॥'

फिर जब करणरूप साधन के अर्थ में अनुमान शब्द का ग्रहण होता है, उस समय 'अनुमान किया जाता है जिसकी सहायता से, इस अर्थ में प्रयुक्त अनुमान शब्द से पूर्व निर्दिष्ट लिङ्ग का अभिधान किया जाता है। जैसा कहा गया है कि—

जो अनुमेय से सम्बद्ध होता है, और उसी साध्य से अन्वित होने पर ही जो प्रकृष्ट रूप से सिद्ध होता है तथा साध्य के अभाव में जिसकी स्थिति ही नहीं सिद्ध होती, उसको अनुमान कराने के कारण लिङ्ग कहा जाता है॥ १५४॥

स्व० भा०—यहाँ वृत्ति में 'करणसाधन' तथा इसके पूर्व 'भावसाधन' इन दो पदों को अनुमान शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसी के आधार पर अनुमान के 'फल' तथा 'सामग्री' के रूप में दो भेद किये गए हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अनुमान शब्द की 'अनुमीयते इति अनुमानम्' तथा 'अनुमीयतेऽनेन इति अनुमानम्' इन दो अर्थों में—फलवाचक तथा कारणवाचक अर्थों में—प्रसिद्धि हो सकती है। प्रथम अर्थबोधन के लिये 'भावे ल्युट्' का प्रयोग हुआ है और दूसरे के लिये 'करणे ल्युट्' का। अर्थात् एक स्थान पर वह कार्य, फल अथवा परिणामरूप में ग्राह्य है, तथा दूसरे स्थान पर कारण, व्यापार अथवा परिवर्तक के रूप में।

भोज ने इन्हीं दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर दोनों भेद किया था और उन्हें पुनः पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेदों में विभक्त किया । जिस प्रकार प्रत्यक्ष, आगम आदि शब्द भाव, अथवा फल तथा प्रमाण या साधन के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं उसी प्रकार अनुमान शब्द भी 'अनुमिति'—अनुमानजन्यज्ञान, साध्य—के साथ ही साधन, प्रमाण, लिङ्ग के अर्थ में भी ग्राह्य है ।

अनुमेयेनेति । अनुमेयेन पक्षेण तस्यैव साध्यवत्तयानुमेयत्वात् । यदाह—'स एव चोभयात्मायं गम्यो गमक इष्यते । प्रसिद्धेनैकदेशेन गम्यः सिद्धेन बोधकः ॥' इति । तदन्विते साध्यान्विते । प्रसिद्धं प्रकर्षेण सिद्धम् । व्याप्यतयाधिगतम् । तदभावे साध्याभावे । यतोऽनुमापकं ततो लिङ्गम् ॥

तत्पूर्ववति यथा—

'अइ सहि वक्कुल्लाविरि च्छुहिहिसि गोत्तस्स मत्थए छारम् ।
अच्चंतदत्तदिट्ठेण सामि वलिएण हसिएण ॥ १५५ ॥'

[अयि सखि वक्रालापैश्छादयिष्यसि गोत्रस्य मस्तके भस्म ।
अत्यन्तदत्तदृष्टेन सामि वलितेन हसितेन ॥]

अत्रैवंप्रकारया वक्रोक्त्या एवंविधेन हसितेनोपलक्षिता त्वमग्रतो गोत्रं दूषयसीति कारणतो यत्र कार्यानुमानं तदिदं सामग्रीपक्षे पूर्ववदित्युच्यते ॥

वही (साधन रूप अर्थ लेने पर) पूर्ववत् का उदाहरण—

अरी सखी ! तू तो अपनी वक्रोक्तियों तथा अत्यन्त दिखाई पड़ने वाली पूर्णतः वलित हँसी से आगे अपने कुल के मस्तक पर लग रही कालिख को छिपाने में समर्थ हो जायेगी ॥ १५५ ॥

यहाँ 'इस प्रकार की वक्रोक्ति से और इस प्रकार की हँसी से युक्त तुम आगे कुल को कलंकित करोगी' इस प्रकार के कारण से जहाँ कार्य का अनुमान किया जाता है, वह यह सामग्री के पक्ष में पूर्ववत् कहा जाता है ।

स्व० भा०—यहाँ बात स्पष्ट है । मुग्धा नायिका के वक्र वचन तथा उसकी विभिन्न वलित एवं स्पष्ट दिखाई दे रही हँसी से आगे चल कर व्यभिचारिणी होने के लक्षण प्रकट हो रहे हैं । यहाँ कार्य हैं 'कुल का कलंकित होना' और कारण, लक्षण, लिङ्ग, चिह्न, अथवा सामग्री के रूप में हैं वक्रोक्ति और हँसी ।

पूर्ववतीति । पूर्वं कारणमनुमापकं यस्यास्ति तत्पूर्ववल्लिङ्गं तस्मिन् । ननु मापयितव्ये लिङ्गज्ञानविषयतया पूर्वं कारणमाश्रयतीति पूर्ववत् । सोऽयमर्थः सप्तम्या द्योतितः । कारणत इति । यथाहि वक्र आलापो मुग्धाङ्गनाप्रकृत्यौचित्यागतं हसितं ध्वननशक्त्या विषयतया कान्तिमर्पयति न तथा शब्दाभिलपितं चारित्र्यखण्डनमिति साहित्यमुद्राविदामतिप्रकाशमेव ।

शेषवति यथा—

'दीसइ ण चूअमउलं अत्ता ण अ वाइ मलअगन्धवहो ।
एत्तं वसन्तमासो सहि जं उत्कण्ठिअं चेअम् ॥ १५६ ॥'

[दृश्यते न चूतमुकुलमद्य न च वाति मलयगन्धवाहः ।
एति वसन्तमासः सखि यदुत्कण्ठितं चेतः ॥]

अत्रोत्कण्ठालक्षणेन कार्येण वसन्तः कारणभूतोऽनुमीयत इति सामग्रीपक्षे इदं शेषवदित्युच्यते ॥

शेषवत् का उदाहरण—

हे सखी, आज आम्रमञ्जरी नहीं दिख रही है, और न तो सुगन्धित दक्षिणी पवन ही चल रहा है, तथापि वसन्त मास आ रहा है, क्योंकि चित्त उत्कण्ठित है ॥ १५६ ॥

यहाँ उत्कण्ठा से लक्षित कार्य के द्वारा कारणभूत वसन्त का अनुमान हो रहा है। इस प्रकार सामग्री के पक्ष में यह शेषवत् कहा जाता है।

स्व० भा०—कार्य से पूर्ववर्ती होने के कारण पूर्व पद से 'कारण' तथा उत्तरवर्ती होने से 'शेष' शब्द से कार्य व्यक्त हो रहा है।

एतमिति। चूतमञ्जरीमलयपवनयोरग्रे समुत्कण्ठितमत्र चमत्कारास्पदम्। तथाहि। यथा प्रियस्य सन्निधास्यतः सम्भावना लोकोत्तराभिमानप्रतिष्ठिता भवति न तथा संनिधानमिति सहृदयसाक्षिकोऽयमर्थः। एवं सामान्यतोदृष्टोदाहरणे बोध्यम् ॥

सामान्यतोदृष्टं यथा—

'आविर्भवन्ती प्रथमं प्रियायाः सोच्छ्वासमन्तःकरणं करोति।
निदाघसंतप्तशिखण्डियूनो वृष्टेः पुरस्तादचिरप्रभेव ॥ १५७ ॥'

सेयं विद्युदिव दृष्टि कामन्दक्यपि प्रथमत उपलभ्यमाना अविनाभावेन मालत्यागमनं गमयतीति सामग्रीपक्षे सामान्यतो दृष्टमेतत् ॥

सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण—

(माधव प्रसन्नतापूर्वक कहता है कामन्दकी को देखकर कि) प्रियतमा मालती से पहले ही प्रकट होती हुई यह कामन्दकी उसी भाँति मेरे चित्त को विकसित किये दे रही है जिस प्रकार ग्रीष्म में सन्तप्त युवा मयूर के मनको वर्षा से पहले विद्युत् चेतन कर देती है ॥ १५७ ॥

तो यह जैसे विद्युत् वर्षा को, उसी प्रकार कामन्दकी भी पहले से ही उपलब्ध होकर निश्चित रूप से मालती के आगमन को प्रकट करती है, इस प्रकार सामग्रीपक्ष में यह सामान्यतोदृष्ट का लक्षण है।

स्व० भा०—यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई हैं कि कार्यकारण आदि सम्बन्धों के अतिरिक्त लोक में सामान्यतः प्रचलित नित्य सम्बन्ध की दशा को सामान्यतोदृष्ट 'कहा जाता है। वस्तुतः सामान्यतोदृष्ट का अर्थ है प्रायः, सामान्यतः जो दिखाई पड़ता है।

(२१) आगमालंकार

यदाप्तवचनं तद्धि ज्ञेयमागमसंज्ञया।
उत्तमं मध्यमं चाथ जघन्यं चेति तत्त्रिधा ॥ ४९ ॥

जो आप्तवचन है उसी को आगम नाम से जानना चाहिये। वह उत्तम, मध्यम तथा जघन्य (अधम) भेद से तीन प्रकार का है ॥ ४९ ॥

स्व० भा०—शास्त्रों में आगम प्रमाण-यथार्थ शब्द के वक्ता-के शब्दों को कहा गया है। सामान्यतः आगमग्रन्थों से अभिप्राय वेद आदि और विशेष रूप से शिव के प्रतिपादक दर्शन ग्रन्थों से है। आप्तवचन ही प्रमाण माने जाते हैं, अतः इन शास्त्रों को प्रामाणिक मानकर इनके

प्रतिपाद्य को प्रमेय मानते हैं। उत्तम आगम वह है जो अवश्य आचरणीय है, मध्यम वह है जिसको लोक अनादि काल से मानता आ रहा है, किन्तु आचरण अनिवार्य नहीं। अधम अथवा जघन्य दोनों की मिश्रित कोटि में आ जाते हैं।

यदाप्तवचनमिति। आप्तो यथार्थशब्दवक्ता। उत्तमं श्रुतिमूलम्। अत एव तस्यावश्यानुष्ठेयत्वाभिधानम्। मध्यममनादिलोकव्यवहारमूलं तदेव नावश्यानुष्ठेयमित्यनेन प्रकाशयिष्यते। उभयविधाबहिःफलसंवादि जघन्यम्॥

तत्रोत्तमं द्विधा। विधिरूपं निषेधरूपं च। तयोर्विधिरूपं यथा—

'दमं दानं दयां शिक्षेः स्तनयित्नुर्वदत्यसौ।
ददध्व इति वाग्दैवी दयध्वं दत्त दाम्यत॥ १५८॥'

अत्र चैषा दैवी वागनुवदति, यत् स्तनयित्नुर्ददध्व इति दयध्वं दत्त दाम्यतेति 'तदेतत्त्रयं शिक्षेत दमं दान दयाम्' इति श्रुतेः, तदेतद्विधिरूपमाप्तवचनम्॥

इनमें से उत्तम दो प्रकार का है—विधिरूप तथा निषेधरूप। इन दोनों में से विधिरूप का उदाहरण—

मेघ गर्जन करता है कि दम, दान तथा दया को सीखना चाहिये। इसी प्रकार से प्रजापति की दैवी वाणी कहती है कि (हे असुरों) दया करो, (हे मनुष्यों) दान दो और (हे देवो) दमन करो॥ १५८॥

यहाँ दैवी वाणी वही कहती है जो मेघ ने गर्जना की थी। 'दया करो, दान दो और दमन करो। ये तीनों ही—दम, दान तथा दया-सीखी जानी चाहिये, इस श्रुति वाक्य से प्राप्त है, अतः यह विधिरूप आप्तवचन है।

स्व० भा०—बृहदारण्यक (५।२।३) उपनिषद् में यह उक्ति है। यहाँ उसी की ओर संकेत है। विहित होने से विधि रूपता है।

ददध्व इति। जलदध्वनितनानानादस्यानुकरणं तस्त्रितयव्याजेन जलधरो वदति। दयध्वं दत्त दाम्यतेति दैवी वागतो दमदानदयाः कर्तव्या इति विधिः पर्यवस्यति। बुद्धीन्द्रियनियमो दमः। दानदये प्रसिद्धे। मूलभूतां श्रुतिं दर्शयति—अत्र चैषेति।

निषेधरूपं यथा—

'निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्॥१५९॥'

अत्रोत्तरार्धोक्तनिषेधानुवादवर्धितव्युत्पत्तेर्वयस्याया योऽयमपवदमानवटुनिवारणोपदेशस्तस्य महान्तो नापभाषितव्या इति वाक्यार्थे तात्पर्यादियं निषेधरूप आगमः। तदेतदुभयमप्यवश्यानुष्ठेयत्वादुत्तमम्।

निषेध रूप का उदाहरण—

हे सखी, इसे मना कर दो। यह ब्रह्मचारी पुनः कुछ कहना चाहता है, क्योंकि इसके ओष्ठ हिल रहे हैं। जो बड़ों को अपशब्द कहता है केवल वही नहीं, अपितु जो उससे सुनता है, वह भी पाप का भागी होता है॥ १५९॥

यहाँ पर उत्तरार्ध में कहे गये निषेध कथन से बढ़ाये गये ज्ञान वाली सखी का जो यह निन्दा कर रहे ब्रह्मचारी को मना करने के लिये निवेदन है उसका—'महान् लोगों के प्रति अपभाषण

नहीं करना चाहिये' इस वाक्य के अर्थ में तात्पर्य होने से, यह निषेध रूप आगम है। इन दोनों अवश्य ही अनुष्ठेय होने से उत्तम (का उदाहरण) है।

स्व० भा०—स्पष्ट है।

ननु 'न केवलं यो महतोऽपभाषते' इत्यादि वर्तमानापदेशात्कथं विधित्वमत आह—अत्रोत्तरार्धेति। अपभाषणस्य निन्दार्थवादेन निषेधविधिः कल्प्यते, तेन महान्तो नापभाषितव्या इति वचनव्यक्तिरुन्नीयत इति॥

मध्यमं द्विधा, निर्दिष्टवक्तृकमनिर्दिष्टवक्तृकं च। तयोराद्यं यथा—

'कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मा।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥ १६०॥'

अत्र जीवन्नरः पश्यति भद्रमित्ययमेवार्थो निर्दिष्टवक्तृकस्तदेतत्सर्ववाक्यानां विधिनिषेधयोः पर्यवसानात् प्राणेषणायां यतितव्यमिति विधिरूपमाप्तवचनम्॥

मध्यम दो प्रकार का है। १-निर्दिष्टवक्तृक और २-अनिर्दिष्टवक्तृक। इनमें से पहले का उदाहरण—

यह मङ्गलमयी लौकिक गाथा मुझे प्रकट हो रही है कि यदि मनुष्य जीवित रहे तो सौ वर्षों के बाद भी आनन्द प्राप्त होता है॥ १६०॥

यहाँ 'जीवित रहने वाला मनुष्य कल्याण देखता है।' यही अर्थ निर्दिष्टवक्तृक है। इसी में सभी वाक्यों के विधि और निषेध की समाप्ति होने पर 'प्राणेषणा के प्रति प्रयत्न करना चाहिये' यह विधिरूप आप्तवचन प्राप्त होता है।

अत्र जीवन्नर इति। एषा चिरन्तनी लोकगाथा। तन्मूलत्वं 'एति जीवन्तम्—' इत्यादेरागमस्य। अत्रापि प्राग्वदेव स्तुत्यर्थवादेन 'जीवनाय यतितव्यमिति' विधिः कल्प्यते। तदिदमुक्तं सर्ववाक्यानामिति॥

द्वितीयं यथा—

'अक्षे वसति पिशाचः पिचुमन्दे दिनपतिर्वटे यक्षः।
विश्राम्यति पद्मे श्रीस्तिष्ठति गौरी मधूकतरौ॥ १६१॥'

तदिदमनिर्दिष्टवक्तृकमनादिलोकप्रसिद्धिपरम्परायातमैतिह्यम्। अत्रापि सर्ववाक्यानां विधिनिषेधयोः पर्यवसानात्—'तस्मादयं न सेवेत, पिचुमन्दं न कृन्तेत, वटं न छिन्द्यात्, पद्मं न मूर्ध्नि बिभृयात्, मधूकं न पदा स्पृशेत्' इत्यध्याहारो भवति। सोऽयं निषेधरूप आगमः। उभयमप्येतन्नावश्यानुष्ठेयमिति मध्यमम्॥

द्वितीय अर्थात् अनिर्दिष्टवक्तृक का उदाहरण—

बहेड़े में पिशाच बसता है, पिचुमंद पर सूर्य और वट पर यक्ष रहता है। लक्ष्मी कमल पर विश्राम करती है और गौरी महुये के पेड़ पर निवास करती हैं॥ १६१॥

तो यह अनिर्दिष्टवक्तृक—अर्थात् जिसके वक्ता का कोई पता नहीं है—तथा अनन्त काल से प्रसिद्धि की परम्परा में चला आ रहा ऐतिह्य हैं। यहाँ भी सभी वाक्यों के विधि और निषेध का पर्यवसान होने से "इस लिये इसका सेवन नहीं करना चाहिये, पिचुमन्द को नहीं काटना चाहिये, वट को भी छिन्न-भिन्न नहीं करना चाहिये, कमल को सिर पर नहीं धारण करना

चाहिये, महुये को पैर से नहीं छूना चाहिये' इस प्रकार का अध्याहार—दूसरे स्थान से लाकर जोड़ना—सम्पन्न हो रहा है। अतः यह निषेधरूप आगम है। ये दोनों अवश्य ही करणीय नहीं हैं, अतः मध्यम शब्द-प्रमाणता है।

स्व० भा०—इस प्रकार की उक्तियों में पौराणिकों ने ऐतिह्य नामक प्रमाण तथा कुवलयानंद ग्रन्थ में अलंकार पृथक् से स्वीकार किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्वकौमुदी' में इसका अन्तर्भाव शब्द-प्रमाण में ही कर दिया है। भोज भी सम्भवतः इसी मान्यता के हैं। इसीलिये उन्होंने उसका पृथक् उल्लेख न करके आगम में ही अन्तर्भूत कर दिया है।

तदिदं निर्दिष्टवक्तृकमिति। **एतेनैतिह्यमागम एवान्तर्भूतमिति दर्शितम्, अज्ञात-वक्तृकस्यागमस्यैव तथा प्रसिद्धेरिति।** अत्रापीति। **पिशाचवासादिभिरनुवादैः पूर्ववद्विधयः कल्प्यन्ते॥**

जघन्यं द्विधा। काम्यं निषिद्धं च। तयोः काम्यं यथा—

'मुण्डइआचुण्णकसाअसाहिअं पाणणावणविईणम्।
तेलं पलिअत्थणीणंवि कुणेइ पीणुण्णए थणए'॥ १६२॥'

[मुण्डितिकाचूर्णकषायसाधितं पाननावनवितीर्णम्।
तैलं पतितस्तनीनामपि करोति पीनोन्नतौ स्तनौ॥]

तदेतत्पूर्ववद्विधिरूपं काम्यमाप्तवचनम्॥

जघन्य दो प्रकार का है, काम्य तथा निषिद्ध। इन दोनों में से काम्य का उदाहरण—

अलम्बुसा के चूर्ण से बनाये गये क्वाथ से सिद्ध तैल का पान तथा नस्य में ग्रहण करने से ढले हुये स्तनों वाली स्त्रियों के भी दोनों स्तन अत्यन्त पीन और उन्नत हो जाते हैं॥ १६२॥

यह भी पहले की भांति विधिरूप काम्य आप्तवचन है।

स्व०भा०—यहाँ किसी प्रकार की विवशता नहीं है। उक्त क्वाथ से सिद्ध किये गये तेल का उपयोग करने से स्तनों का दृढीकरण होता है, किन्तु यह भी ऐच्छिक है। जिस पतितस्तनी की इच्छा होगी, वही इसका प्रयोग करे।

मुण्डइआ इति। **मुण्डितिका अलम्बुसा। कषायः क्वाथो जलम्। नावनं नस्यम्।** काम्यमिति। **पीनोन्नतस्तनकामनावतीभिरेव क्रियमाणत्वात्॥**

निषिद्धं यथा—

'वयं बाल्ये बालांस्तरुणिमनि यूनः परिणता-
वपीच्छामो वृद्धान्परिणयविधौ नः स्थितिरियम्।
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुमकाण्डेन विधिना
न नो गोत्रे पुत्रि क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत्॥ १६३॥'

तदेतन्निषेधरूपं निषिद्धमेवाप्तवचनम्। उभयमपि चैतन्मूलकारिभिः संसृज्ये-तेत्यादिदोषान्नानुष्ठेयमिति जघन्यम्॥

निषिद्ध का उदाहरण—

(कोई वेश्या अथवा पुंश्चली अपनी पुत्री के एकपतित्व व्रतपर खिन्न होकर कहती है)—हमारे विवाह अथवा प्रेम के विधान की यह मान्यता है कि हम बाल्यावस्था में बालकों को, युवावस्था में जवानों को तथा वृद्धावस्था में भी वृद्धों को भोगार्थ चाहती हैं। तूने तो इस न जाने

किस निरर्थक अथवा अपरिचित विधि से जीवन को बिताना प्रारम्भ किया है। अरी पुत्री, हमारे गोत्र में तो कहीं भी सतीनाम का कलंक कभी न लगा ॥ १६३ ॥

यह निषेधात्मक निषिद्ध ही आप्तवचन है। एतन्मूलक कार्यों को करने वाले लोगों द्वारा 'दोनों प्रकार के कर्मों को संसृष्टि होती है' इत्यादि दोषों के कारण इस कार्य को नहीं करना चाहिये, अतः यह जघन्य का उदाहरण है।

स्व०भा०—यहाँ निषेधरूप निषिद्ध की प्राप्ति हो रही है। "गणिका को सतीव्रता नहीं होना चाहिये," इस निषेध वाक्य में निषिद्धता है हो। प्रथम तो गणिका होना ही निषिद्ध विषय है, दूसरे उसमें सतीत्व लाञ्छन है। अत एव निषेधरूप निषेध की प्राप्ति होने से अनाचरणीयता है।

स्वयारब्धमित्यादौ गणिकया सतीचारिण्यवस्था न भवितव्यमिति स्फुटो निषेधविधिर्जघन्यत्वं व्याचष्टे—उभयमपि चैतन्मूलकारिभिरिति ॥

(२२) उपमानालंकार

सदृशात्सदृशज्ञानमुपमानं द्विधेह तत्।
स्यादेकमनुभूतेऽर्थेऽननुभूते द्वितीयकम् ॥ ५० ॥

सदृश से सदृश का ज्ञान उपमान है। वह यहाँ (काव्य में) दो प्रकार का होता है-(१) अनुभूत अर्थ के विषय में, (२) अननुभूत अर्थ के विषय में ॥ ५० ॥

स्व० भा०—बौद्ध तथा सांख्ययोग मतानुयायी उपमान प्रमाण नहीं स्वीकार करते हैं। न्याय, मीमांसा, उत्तरमीमांसा आदि में यह मान्य है। इसके माध्यम से उपमिति नामक प्रमा उत्पन्न होती है। सभी शास्त्रों में इस प्रमाण की विभिन्न परिभाषायें किञ्चित् अन्तर के साथ मिलती हैं, किन्तु सबका सार यही है कि इनका उद्देश्य सदृश से सदृश का ज्ञान है। मीमांसक इसको अनुभूतविषयक मानते हैं, अर्थात् जिस प्रकार की वस्तु कोई व्यक्ति देखे हुये है, पुनः कोई उसी से मिलती जुलती वस्तु को देखता है और तुलना करता है कि दोनों पदार्थों में सदृशता है। नैयायिकगण यह मानते हैं किसी पूर्व दृष्ट वस्तु के द्वारा शब्द के सहारे आगे किसी अननुभूत-पदार्थ का, अनुभव में न आये हुये वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना है।

सदृशादिति। इह मीमांसका वर्णयन्ति। उपमानमपि सादृश्यमसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति। अस्यार्थः। सादृश्यं सादृश्यज्ञानम्। ज्ञायमानसादृश्यमिति यावत्। तदेवोपमानं कुत इत्यत आह। असंनिकृष्टे सदृशान्तररूपेऽर्थे यतो बुद्धिमुत्पादयति तेन भवति सदृशात्सदृशप्रतिपत्तिरुपमानम्। न सदृशादननुभूतज्ञानमुत्पद्यते, अतिप्रसङ्गात्। तेनेदमनुभूतविषयमेव। नैयायिकानां तु अननुभूतविषयमेवोपमानम्। तथाहि—नागरिकेण यदा आरण्यकः पृष्ट आचष्टे 'यथा गौस्तथा गवयः' इति। तदा खलु नागरिकस्यातिदेशवाक्यार्थमनुस्मरतो गां च सादृश्यप्रतियोगिनं जानतो यद्गवये गोसादृश्यज्ञानं तदुपमानं प्रमाणं, तेनायं गवयशब्दवाच्य इति संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञानं पश्चादुपजन्यते सोपमितिरिति। तत्र सदृशाद्बुद्धौ विपरिवर्तमानाद् यत्सदृशज्ञानं सदृशे गवये संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञानमित्यर्थः। उदाहरणादिकं निगदव्याख्यातम् ॥

तयारनुभूतविषयं यथा—

'सर्वप्राणप्रवणमघवन्मुक्तमाहत्य वक्ष-
स्तत्संघट्टाद्विघटितबृहत्खण्डमुच्चण्डरोचिः।

एवं वेगात्कुलिशमकरोद्व्योम विद्युत्सहस्रै-
र्भर्तुर्वज्रज्वलनकपिशास्ते च रोषाट्टहासाः ॥ १६४ ॥'

अत्र रामकराकृष्यमाणभग्नधूर्जटिधनुर्विमुक्तज्योतिश्छटासहस्रसंकुलमाकाशं पश्यतो रावणदूतस्येयं स्वयं दृष्टेषु प्रभुवक्षःस्थलविदीर्णवज्रशकलविस्फूर्जथुषु तद्रोषाट्टहासेषु वियद्व्यापिषु तत्साहश्यबुद्धिस्तदिदमनुभूतविषयं नामोपमानं मीमांसका वर्णयन्ति ॥

इन दोनों मे से अनुभूतविषय का उदाहरण—

सम्पूर्ण शक्ति लगा कर इन्द्र के द्वारा छोड़े गये रावण के वक्षस्थल पर टकराने से बड़े-बड़े खण्डों में टूट कर बिखर गये, तीव्र प्रकाश से संयुक्त वज्र के लगने से वज्राग्नि के सदृश कपिश-वर्ण के स्वामी रावण आप के क्रोधपूर्ण अट्टहास के समान सारा आकाश हजारों चपलाओं से एकाएक भर गया था, (यही दशा राम के धनुर्भङ्ग के समय निकले हुये अग्निस्फुलिंग सदृश तेज से आकाश के भर जाने पर हुई।) ॥ १६४ ॥

यहाँ राम के हाथ से खींचे जाने पर टूट गई शिवधनुष् से निकलने वाली प्रभा की सहस्रों छटाओं से व्याप्त आकाश को देखते हुये रावण के दूत को स्वयं देखे हुये, अपने स्वामी रावण के वक्षः स्थल पर चूर चूर हो गये वज्रखण्ड की चिनगारियों को उत्पन्न करने वाले उसके क्रोधपूर्ण अट्टहास से आकाश के व्याप्त होने पर जो दशा थी उसमें उसी के सादृश्य का भाव उत्पन्न होता है। अतः यह अनुभूतविषय नामक उपमान है जिसका मीमांसक लोग वर्णन करते हैं।

स्व० भा०—भोज ने मीमांसकों के अनुसार दी गई परिभाषा के आधार पर उपमान का उदाहरण दिया। मीमांसक लोग उपमान को अनुभूत-विषयक मानते हैं। अर्थात् उनके मता-नुसार एक पूर्व अनुभूत पदार्थ के आधार पर उसके सदृश पदार्थ का ज्ञान होता है। 'गौरिवगवयः' कहने पर 'गौः' अनुभूत विषय है। जिज्ञासु उसे जानता है। इसके अतिरिक्त 'गवय' में विद्यमान गाय की सदृशता भी दृष्ट है। इस प्रकार वे इसकी दृष्ट-विषयकता यहाँ स्वीकार करते हैं।

अननुभूतविषयं यथा—

'तां रोहिणीं विजानीहि ज्योतिषामत्र मण्डले।
समूहस्तारकाणां यः शकटाकारमाश्रितः ॥ १६५ ॥'

अत्र यथाविधः शकटाकारस्तथाविधो रोहिणीतारकासमूहाकार इत्येवमवधारिताप्तोपदेशस्य तदाकारतारकाचक्रदर्शनादिदं तद्रोहिणीशकटमिति येयं संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिस्तदिदमननुभूतविषयमुपमानं नैयायिकाः समुन्नयन्ति ॥

अननुभूतविषय उपमान का उदाहरण—

इस नक्षत्र समूह में जो गाड़ी के सदृश आकार वाला तारों का पुञ्ज है उसे रोहिणी समझिये ॥ १६५ ॥

यहाँ जिस प्रकार गाड़ी का आकार है, उसी प्रकार का रोहिणीनक्षत्र समूह का भी आकार है इस प्रकार से ज्ञात आप्त उपदेश की जो उसके आकार के तारा-समूह के देखने से 'यही वह रोहिणीशकट है' इस प्रकार की संज्ञा और संज्ञी—नाम तथा द्रव्य—इन दोनों के सम्बन्ध की विज्ञप्ति है, वह यह अननुभूत उपमान है ऐसा नैयायिक लोग मानते हैं।

स्व० भा०—नैयायिकगण मीमांसको के विपरीत अपनी उपमान विषयक मान्यता पर बल

देते हैं। वे अनुभूतविषयक उपमान को स्वीकार करते हैं और ये अननुभूत। इनके मतानुसार उपमान प्रमाण के द्वारा ज्ञात विषय से सादृश्य के माध्यम से अज्ञात विषय का ज्ञान किया जाता है। ऊपर यही स्पष्ट किया गया है। जो व्यक्ति गाड़ी के आकार को जानता है उसे पूर्वज्ञात शकट के आधार पर तदाकार नक्षत्र समूह को ज्ञात कराया जाता है। इसमें नाम से तो जिज्ञासु पूर्वपरिचित होता है किन्तु नामी से नहीं।

तदाभूतार्थविज्ञानजनकत्वेन हेतुना।
नास्मादभिनयालेख्यमुद्राबिम्बादयः पृथक् ॥ ५१ ॥

तब इस उपमान अलंकार के भूतार्थ विज्ञानजनक होने के कारण, तथा अभूत अर्थज्ञान का जनक होने के कारण, अभिनय, आलेख्य, मुद्रा, बिम्ब आदि इससे भिन्न नहीं हैं ॥ ५१ ॥

स्व० भा०—कारिका के पूर्वार्ध में वर्णविन्यास इस प्रकार का है कि खण्डश्लेष के द्वारा स्वेच्छानुसार अनुभूत तथा अननुभूत अर्थ विषयक दोनों अर्थ स्पष्ट किये जा सकते हैं। "तथा भूतार्थ०" आदि पाठ से अनुभूत तथा "तदानुभूतार्थ० आदि पाठ से अनुभूत दोनों उपमानों का अर्थ समझना संभव है।

अन्य कुछ आलंकारिक, भोज को जिनका ज्ञान हैं, अभिनय, आलेख्य, मुद्रा, बिम्ब आदि अलंकार भी मानते हैं। किन्तु भोज के अनुसार इनका अन्तर्भाव उपमान में ही हो जाता है। उनको पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता नहीं।

तेष्वभिनयो यथा—

'वइविवरणिग्गअदलो एरण्डो साहइ व्व तरुणाणम्।
एत्थ घरे हलिअवहू एद्दहमेत्तत्थणी वसइ ॥ १६६ ॥'
[वृतिविवरनिर्गतदल एरण्डः साधयतीव तरुणेभ्यः।
अत्र गृहे हलिकवधूरेतावन्मात्रस्तनी वसति ॥]

अत्र पयोधरातिपरिणाहसूचकोत्तानप्रसारिताङ्गुलिहस्ताभिनयसन्निभैरण्ड-दलसंनिवेशनात्स्वयमुद्दिष्टेऽपि हालिकवधूस्तनपरिणाहे पूर्वानुभूतैवंविधस्तन-परिणाहसंबन्धप्रतिपत्तिः। तदिदमनुभूतार्थविषयमुपमानमेवाभिनय इत्युत्प्रेक्ष्यते॥

इनमें से अभिनय का उदाहरण—

वेष्टन के छिद्र से जिसका पत्ता निकल आया है वह एरण्ड वृक्ष मानों तरुणों के लिये इस बात को सिद्ध कर रहा है कि इस घर में इतने बड़े स्तनों वाली हलिकवधू बस रही है ॥ १६६ ॥

यहाँ पयोधरों के अत्यधिक फैलाव का सूचक उतान फैली हुई अंगुलियों वाले हाथ के अभिनय के सदृश एरण्ड के पत्र का सन्निवेश होने से हालिक-वधू के स्तन का विस्तार स्वयं ही उद्दिष्ट है, फिर भी इस प्रकार के स्तन-विस्तार से सम्बद्ध ज्ञान पूर्व अनुभूत है। यह अभिनय भी अनुभूतार्थविषयक उपमान ही है, ऐसी संभावना की जाती है।

स्व० भा०—भोज के मतानुसार अनुभूत-विषय उपमान में ही अभिनय अन्तर्भूत हो जाता है। हालिकवधू के विस्तृत उरोज ग्रामवासियों द्वारा पहले देखे गये होंगे, इसी से यह उत्प्रेक्षा भी संभव होती है कि ये एरण्डदल उसके स्तनों के अनुकारी हैं। एरण्ड के दल के निकले हुए लम्बे कोने सीधी फैली हुई अंगुलियों का तथा पूरा दल करपल्लव की अनुकृति प्रकट करते हैं।

वइविवरेति। ग्रामतरुणैरनन्यवद्धान्तःकरणैर्हालिकवधूस्तनाभोगो मुसलोल्लासनादौ वारंवारमनुभूतः स तुल्याकारधृतविवरप्रसूतैरण्डदलदर्शनादेव बुद्धिमारोहतीति सा बुद्धिर्मीमांसकोपमितिमध्यमध्यास्ते। कथमेरण्डदलसंनिवेशस्याभिनेयता। अनुकारो ह्यभिनयः। न चासौ तत्र संभवति। अत आह—हस्ताभिनयसन्निभेति। उत्तानप्रसारिताङ्गुलिहस्तसंनिवेशेन वस्त्वन्तरपरिणाहप्रतिबिम्बनं लोकप्रसिद्धं तदिहाप्येरण्डदलविस्तारदर्शनात्तदन्तरितमेव जायत इत्यर्थः॥

आलेख्यं यथा—

'तवालेख्ये कौतूहलतरलतन्वीविरचिते
विधायैका चक्रं रचयति सुपर्णासुतमधः।
अथ स्विद्यत्पाणिस्त्वरितमपमृज्यैतदपरा
करे पौष्पं चापं मकरमुपरिष्टाच्च लिखति॥ १६७॥'

अत्र यदानुभूतनायकसंदर्शनायास्तद्रूपालेख्यप्रदर्शनादेवंभूतः स इति विज्ञानमुत्पद्यते, गोपनार्थं च तथाभूतयोरेव देवकुलादिदृष्टविष्णुकामयोः प्रतीतिर्भवति, तदैतदनुभूतार्थविषयं भवति। यदा पुनरननुभूतनायकादिसंदर्शनाया इत्थमाप्तोपदेशः। एवंभूतः सुपर्णकेतुश्चक्रपाणिर्विष्णुर्भवति, एवंभूतो मकरध्वजः पुष्पचापः कामो भवति, यादृशाविमौ तादृशश्च ते मनोरथभूमिः, केवलमस्य गरुत्मदादयो न विद्यन्ते। तदा तदुत्तरकालमालेख्यगततदाकारदर्शनात् सोऽयं मम प्रेयानिति मद्विधया कयापि लिखितो भविष्यतीति तद्गोपायाम्येनं विष्णुचिह्नाभ्यामिति गरुत्मच्चक्रे अधःप्रदेशहस्तयोः केतुहस्तयोर्निवेशयति। अथापरा प्रतिविधित्सुर्गोपायन्ती प्रकाशयन्ती च प्रत्यासन्नोपमानं मन्मथाकारमाचिख्यासुः करे पौष्पं चापं मकरमुपरिष्टाच्च लिखति। अत्राकृतौ पदार्थे या इमास्तयोर्लोकानां सोऽयमिति विष्णुरिति काम इति च संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तयः। तदिदमननुभूतार्थविषयमुपमानमालेख्यमाख्यायते॥

आलेख्य का उदाहरण—

उत्कण्ठा से चञ्चल सुन्दरी के द्वारा बनाये गये तुम्हारे चित्र में एक नायिका ने (तुम्हारे हाथ में) चक्र बनाकर नीचे गरुड़ को चित्रित कर दिया। इसके पश्चात् शीघ्र ही पसीने से तर हाथों वाली दूसरी सुन्दरी इसको पोंछ कर हाथ में तो फूलों की धनुष तथा उसके ऊपर मकर को चित्रित करती है॥ १६७॥

यहाँ जब नायक के दर्शन का अनुभव रखने वाली सुन्दरी के द्वारा उसके रूप का चित्र अथवा उसके अनुरूप चित्र का प्रदर्शन करने पर "वह ऐसा है" इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, उस प्रकार से निष्पन्न उन दोनों को छिपाने के लिये देवसमुदाय आदि में देखे गये विष्णु तथा काम की प्रतीति होती है, उस समय यह अनुभूतार्थ विषय उपमान होता है। और जब नायक आदि के दर्शन का अनुभव न रखने वाली के लिये (इस प्रकार का कार्य होता है) तब वह आप्तोपदेश होता है। इस प्रकार के गरुडवाहन और चक्र को हाथ में लेने वाले विष्णु होते हैं, इस प्रकार से मकर को चिह्न रूप में धारण करने वाले पुष्प-धनुष को धारण करने वाले काम हैं। और जिस प्रकार ये दोनों हैं उसी प्रकार के तुम्हारे मनचाहे नायक भी हैं, बस अन्तर केवल

इतना है कि इसके पास गरुड़ आदि नहीं है। तब उसके पश्चात् चित्र में अंकित प्रिय की आकृति को देखने से 'यही है मेरा प्रिय', मेरी जैसी किसी सुन्दरी के द्वारा यह भी लिखा गया होगा, इसलिये छिपाती हूँ इसको विष्णु के दोनों चिह्नों द्वारा, इस प्रकार गरुड़ तथा चक्र को नीची जगह तथा हाथ में, केतु तथा हाथ में संनिविष्ट करती है। इसके पश्चात् दूसरी नायिका प्रतिविधान की इच्छा से छिपाती और प्रकाशित करती हुई उपस्थित उपमान को कामदेव के आकार में परिवर्तित करने की इच्छा से हाथ में पुष्प की धनुप् तथा ऊपर मकर को लिख देती है।

यहाँ आकृति पदार्थ में जो ये हैं उन दोनो को "लोक" में जो प्रसिद्ध है वह यह विष्णु हैं, काम हैं इस प्रकार का नाम और नामी का ज्ञान होता है। अतः यह अननुभूतार्थविषय उपमान ही आलेख्य भी है, ऐसा कहा जाता है।

स्व० भा०—आलेख्य नामक अन्यों को मान्य अलंकार का भोज ने उभयविध उपमान में अन्तर्भाव कर दिया है। किसी तन्वी के द्वारा बनाये गये चित्र को देखकर कोई सखी अनुभूतपूर्व नायक का ज्ञान प्राप्त करती है। सादृश्य में सामान्यता होने के कारण वह कृष्ण तथा काम में भी विश्वास प्रकट करती है। इस प्रकार मीमांसकों को मान्य लक्षण के अनुसार उपमान सिद्ध होता है जिसे भोज अनुभूतार्थविषय कहते हैं।

इसके अतिरिक्त उत्पन्न पूर्वानुराग वाली तथा अङ्ग प्रत्यङ्ग के सौन्दर्य को न जानने वाली सुन्दरी का 'इस प्रकार के कृष्ण तथा काम हैं और जिस प्रकार ये हैं उसी प्रकार के तुम्हारे प्रिय हैं' आदि आप्तवचन सुनने के पश्चात् चित्र का आकार ग्रहण करना तथा उन उन शब्दों का विशिष्ट विशिष्ट अर्थ समझना उपमान है, ऐसा नैयायिकों का मत है।

तदालेख्य इति। तदप्राप्तिकर्शिता चित्रप्रतिमादिना परिनोदनेन कथंचिदात्मानं धारयतीति तन्वीपदेन ध्वन्यते। न च जीवितमात्रार्थिनी सा किन्तु त्वदाकृतिदर्शनकुतूहलेनोद्विग्ना सती निगूढमप्यभिप्रायमालेख्यनिर्माणेन व्यनक्तीति कौतूहलतरलपदाभ्यां व्यज्यते। एकेति। या राधादिप्रणयपात्रं वशीकृतत्रिभुवनमाजानसुकुमारं देवकीनन्दनमागमेषु बहुधाश्रौषीत्। अथेति। सा निर्यन्त्रणप्रार्थनीयताविरोधिनं देवताभावमनुसंधत्ते, तया त्रैलोक्यातिशायिसौभाग्यप्रकर्षस्य पुष्पेषोश्चिह्नभूतौ चापमकरौ लिखिताविति, अथ स्विद्यत्पाणिस्त्वरितमित्येतैर्व्यज्यते। अत्रोदाहरणे द्विविधमप्युपमानं दर्शयति। तत्र मीमांसकपक्षे तावत्तन्व्यालेख्यमुन्मृदितं दृष्ट्वा काचिदनुभूतपूर्वं नायकं जानाति। सादृश्याविशेषाच्च कृष्णकामावपि प्रत्येति तदा सदृशाप्रतिपत्तिरुपमानं भवति। नैयायिकपक्षे यदा सामान्यतो नायकागमे उत्पन्नपूर्वानुरागाया विशेषतश्च प्रत्यङ्गलावण्यमजानन्त्या इत्थंभूताकारौ कृष्णकामौ यादृशौ तादृशस्तव प्रेयानित्याप्तोपदेशश्रवणानन्तरं गृहीत चित्राकारायास्तत्तच्छब्दाभिधेयताप्रतिपत्तिरुपमानमिति। कथं चित्रे कामादिपदप्रयोग इत्यत आह—आकृताविति। रेखोपरेखादिसन्निवेशे चित्रतुरगन्यायेनेति भावः॥

मुद्रा यथा—

'सचकितमिव विस्मयाकुलाभिः शुचिसिकतास्वतिमानुषाणि ताभिः।
क्षितिषु ददृशिरे पदानि जिष्णोरुपहितकेतुरथाङ्गलाञ्छनानि ॥१६८॥'

अत्र चक्रध्वजाङ्कितजिष्णुपादमुद्रादर्शनात्सेयममानुषी पादमुद्रा भवतीति संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिस्तदिदमननुभूतार्थविषयमुपमानमेव मुद्रेत्युच्यते

यदपि चादृष्टेऽपि जिष्णुपदे मृगीदृशामीदृशः स इत्यनुमानज्ञानं तदप्युपमानार्थनिबन्धनमेव। यदाह—

'अपि चास्त्यनुमानेऽपि सादृश्यं लिङ्गलिङ्गिनोः।
पदेन यत्र कुब्जेन कुब्जपादोऽनुमीयते ॥ १६६ ॥'

मुद्रा का उदाहरण—

आश्चर्यान्वित होकर उन सुरसुन्दरियों ने पवित्र बालुकामयी भूमि पर चकित सी होकर ध्वजा तथा चक्र से अङ्कित अतिमानवीय अर्जुन के पदों के चिह्नों को देखा ॥ १६८ ॥

यहाँ चक्र और ध्वज से अङ्कित अर्जुन के चरण चिह्न देखने से 'यह कोई मानवेतर के चरणों की छाप है।' इस प्रकार की संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। अतः यह अननुभूतार्थ विषय उपमान ही मुद्रा नाम से कहा जाता है। और भी जो अनदेखे अर्जुन के चरणों में मृगनयनियों का "इस प्रकार हैं वह" इस प्रकार का अनुमान ज्ञान है यह भी उपमान में अर्थ से सम्बद्ध ही है। जैसा कि कहा गया है—

अनुमान में भी लिङ्ग तथा लिङ्गी का सादृश्य है क्योंकि वहाँ पर कुब्ज शब्द से कुब्जपाद का अनुमान किया जाता है ॥ १६९ ॥

स्व० भा०—मुद्रालंकार का भी अन्तर्भाव भोज के मतानुसार उपमान में ही हो जाता है। भोज का मुद्रालंकार अथवा चित्र आदि विषयक अलंकार अन्यों के मुद्रालंकार से भिन्न है। जयदेव आदि परवर्ती आचार्यों ने जिसे मुद्रालंकार कहा है उसका पृथक् अर्थालंकार के रूप में ग्रहण भोज को अपेक्षित नहीं। इसका अन्तर्भाव अननुभूतार्थ विषय उपमान में होता है। शेष वृत्ति में स्पष्ट है।

सचकितेति। ननु चरणमुद्रया जिष्णुचरणानुमानमत्र प्रतिभाति तत्कथमुपमानेऽन्तर्भाव इत्यत आह—यदपि चेति। अत्राविशेषस्य चरणविशेषप्रतिबन्धे सत्यपि सदृशासदृशज्ञानमुत्पन्नं [स्फुटं] तादृशेन च व्यपदेशो भवतीत्यर्थः। एतदेव दार्वाचार्यसंमत्या द्रढयति—अपि चेति।

प्रतिबिम्बं यथा—

'दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कान्यपि चकार लज्जया ॥ १७० ॥'

अत्र यदा तावदेवं संबन्धग्रहः कीदृशं स्वं मुखं यादृशमादर्शे प्रतिबिम्बं तदालोकनाददृष्टेऽपि स्वमुखे येयमीदृशं मे मुखमिति प्रतिपत्तिस्तदिदमनुभूतार्थविषयम्। यदा पुनरित्थमाप्तोपदेशाद्यादृशं वस्तु तादृशमादर्शादौ प्रतिबिम्बं तदापि प्रियप्रतिबिम्बालोकनादिदं तन्मम प्रियप्रतिबिम्बमितीयं संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिस्तदप्यननुभूतार्थविषयम्। यदा तु चित्रादिष्वनुभूतस्वमुखदर्शनायाः प्रतिबिम्बदर्शनादनेन सदृशं मे मुखमिति प्रतिपत्तिर्दृष्टप्रियतमाकारायाश्च प्रतिबिम्बाकारदर्शनादेतदाकारो मम प्रेयानिति प्रतिपत्तिः प्रतिबिम्बसंनिधौ प्रतिबिम्बोदयो दृष्टस्तदिह संनिहितेन तेन भवितव्यमिति यो व्रीडाविकारभूतस्तदानुभूतविषयमेतदुपमानं प्रतिबिम्बमित्याचक्षते ॥

प्रतिबिम्ब का उदाहरण—

दर्पण में संभोग के चिह्न देखने वाली पार्वती के पीछे जब शंकर जी कहीं आ जाते थे तब अपनी छाया के पास उनके भी प्रतिबिम्ब को देखकर वह लज्जा के कारण क्या-क्या नहीं किया करती थीं ॥ १७० ॥

यहाँ जब इस प्रकार का सम्बन्ध ग्रहण होगा कि "मेरा मुख किस प्रकार का है, जिस प्रकार की दर्पण में छाया है" उसे देखने से अपना मुख न देखने पर भी जो यह—'इस प्रकार का मेरा मुख है' इस प्रकार का ज्ञान है, वह तो अनुभूतविषय ही है। और फिर जब इस प्रकार से आप्त-उपदेश के कारण "जिस प्रकार की वस्तु होती है उसी प्रकार का दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब भी होता है" तब भी प्रिय की छाया देखने से "यह मेरे प्रिय का प्रतिबिम्ब है" इस प्रकार का संज्ञासंज्ञी का सम्बन्ध ज्ञान होता है। ऐसी अवस्था में भी अननुभूतार्थविषयता होती ही है। जब चित्र आदि में अपने मुख के दर्शन का अनुभव रखनेवाली किसी सुन्दरी का प्रतिबिम्ब देखने से 'इसके समान मेरा मुख है' इस प्रकार का ज्ञान होता है, और अपने प्रियतम का आकार देख लेने वाली का प्रतिबिंब में आकृति देखने से 'इस प्रकार के आकार का मेरा प्रियतम है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। छाया के निकट ही प्रतिबिंब का उभरना देखा गया है अतः उसे निकट ही कहीं होना चाहिये, इसलिये जो लज्जा का विकार उत्पन्न होता है, वह अनुभूतविषय उपमान ही प्रतिबिंब नाम से कहा जाता है।

स्व० भा०—ऊपर वृत्ति में अनुभूतप्रियदर्शना, अननुभूतप्रियदर्शना, चित्र में अपना स्वरूप देखने वाली आदि के विभिन्न स्वरूपों और दशाओं का निरूपण करके भोज ने प्रतिबिंब का भी अन्तर्भाव उपमान के ही दोनों प्रकार के भेदों में ही कर दिया है। शेष वृत्ति में स्पष्ट है।

प्रतिबिम्बसंनिधाविति। **प्रसङ्गाद्यदर्थमनुमानं व्याख्यातं तद्दर्शयति**—व्रीडाविकार इति। **अतएव प्रधानमात्रस्योपसंहारः ॥**

(२३) अर्थापत्ति अलंकार

प्रत्यक्षादिप्रतीतोऽर्थो यस्तथा नोपपद्यते।
अर्थान्तरं च गमयत्यर्थापत्तिं वदन्ति ताम् ॥ ५२ ॥
सर्वप्रमाणपूर्वत्वादेकशोऽनेकशश्च सा।
प्रत्यक्षपूर्विकेत्यादिभेदैः षोढा निगद्यते ॥ ५३ ॥

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा प्रतीत अर्थ जब उस प्रकार उपपन्न नहीं होता है, तब जो अर्थान्तर का ज्ञान कराता है उसे अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ५२ ॥

सर्वप्रमाणपूर्वता होने के कारण अर्थापत्ति एकशः तथा अनेकशः होती है जो प्रत्यक्षपूर्विका आदि भेदों के आधार पर छः प्रकार की कही जाती है ॥ ५३ ॥

स्व० भा०—जब प्रत्यक्ष देखी जा रही अथवा अनुमित हो रही वस्तुओं में उपपत्ति नहीं सिद्ध होती तब, अन्य अर्थ का उपादान करके संगति बैठाई जाती है। जैसे "पीनो देवदत्तो, दिवा न भुंक्ते" में देवदत्त की स्थूलता देखी जाती है, किन्तु वह दिन में भोजन भी नहीं करता। ये दोनों बातें विरोधी हैं। बिना खाये कोई मोटा नहीं हो सकता, अतः उसका रात्रि-भोजन लक्षित होता है। वह उपपत्ति अर्थापत्ति के कारण संभव है।

जहाँ एक प्रमाण से प्राप्त ज्ञान की अर्थान्तर से उपपत्ति की जाती है, वहाँ एकशः तथा जहाँ

अनेक प्रमाणों से उपपादन होता है वहाँ अनेकशः नामक भेद माना जाता है। यह छह प्रकार का कहा गया हैं क्योंकि प्रमाण भी छह ही हैं। जिस प्रमाण से उपलब्ध ज्ञान की अर्थान्तर से उपपत्ति कराई जाती है, उसे तत्पूर्वक कहा जाता है।

अर्थापत्तिं लक्षयति—प्रत्यक्षादीति । प्रमाणप्रतीतस्यार्थस्यान्यथाकरणानुपपत्तिज्ञानेन प्रसूतं ज्ञानमर्थापत्तिः। अनुपपद्यमानार्थप्रत्यायकं च प्रमाणं प्रत्यक्षादिभेदात् षट्प्रकारम्। ततस्तत्पूर्वार्थापत्तिरपि षोढा संपद्यते, यदर्थान्तरं गमयति तामर्थापत्तिं वदन्तीति। अर्थान्तरगतिरेवार्थापत्तिरिति व्यक्तम्॥

एकश इति। एकश एकप्रमाणपूर्वा। अनेकशोऽनेकप्रमाणपूर्वा। कथं तर्हि षोढा। अत उक्तम्—प्रत्यक्षपूर्विकेत्यादिभेदैरिति। व्याख्यातमेतत्॥

तास्वेकशः प्रत्यक्षपूर्विका यथा—

'निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं तव नितम्बिनि।
अन्यथानुपपत्त्यैव पयोधरभरस्थितेः॥ १७१॥'

अत्र स्तनभरनितम्बयोर्मध्यं नोपलभ्यते, स्तनभरावस्थानं च दृश्यते, तत्र येयं पयोधरभरस्थितिः सान्यथानुपपद्यमाना धारकं मध्यमनुपलभ्यमानं बोधयति। सेयं प्रत्यक्षपूर्विकार्थापत्तिरेकश एवेह विवक्षिता। इयमपि ह्येवं बहुशो भवति यत्तदर्थापत्तिलब्धं मध्यं तदपि धारणशक्तिमन्तरेण तत्कर्मासमर्थमिति तस्यापि शक्तिः कल्प्यते। सेयमर्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिः। यश्चायमर्थापत्तिविकल्पस्य मध्यस्योपलम्भाभावः सोऽपि प्रकारान्तरेणासम्भवन् कान्तिकार्श्ययोरुत्कर्षं ब्रूते। सा चेयमभावपूर्विकानुपपत्तिर्भवति। न चैतदिह शाब्दमपि तु वाक्यार्थसामर्थ्याद्गम्यते॥

इनमें से एकशः प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति का उदाहरण—

हे पृथुनितम्बों वाली सुन्दरि, तुम्हारी कमर है यह निर्णय किया जा सकता हैं, यह बात उरोजभार के अस्तित्व की अन्यथा अनुपपत्ति से ही सिद्ध है; अर्थात् विपरीत दशा में विस्तृत पयोधरों की स्थिति ही अनुपपन्न होती॥ १७१॥

यहां स्तनों के भार तथा नितम्बों के बीच में कटि नहीं उपलब्ध हो रही है, किन्तु विशाल स्तनों की स्थिति दिखलाई पड़ती है। वहाँ जो यह पयोधरों के भार की उपस्थिति है उसे न मानने पर अनुपपन्न होने से अपने उपलब्ध न हो रहे धारणकर्त्ता का ज्ञान कराती हैं। वही यह प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति एकशः ही विवक्षित है। यह अर्थापत्ति भी इस प्रकार बहुशः भी हो सकती है। जो उसकी अर्थापत्ति से उपलब्ध मध्यप्रदेश है, वह भी धारणशक्ति के विना उस कार्य में असमर्थ है, इस प्रकार उसकी भी शक्ति की कल्पना की जाती है। तो यह अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति का भी (उदाहरण है।) और जो यह अर्थापत्ति के विकल्प मध्यभाग की प्राप्ति का अभाव है वह भी दूसरी रीति से संभव न होता हुआ कान्ति तथा कृशता का उत्कर्ष द्योतित करता है। वह है यह अभावपूर्विका अनुपपत्ति। यह यहाँ 'शाब्द' नहीं है अपितु यह तो वाक्यार्थ की सामर्थ्य से कहा जाता है।

स्व० भा०—यहाँ प्रत्यक्ष के आधार पर होने वाले ज्ञान के अनुपपन्न होने से अर्थापत्ति का सहारा लेना पड़ा। इसीलिये केवल प्रत्यक्ष की अनुपपन्नता होने से यहाँ एकशः अर्थापत्ति है। प्रत्यक्ष रूप से देखने पर सूक्ष्मता के कारण कटि दृष्टिगोचर नहीं होती थी, किन्तु विना उसका

अस्तित्व स्वीकार किये पृथुल नितम्बों के ऊपर विशाल स्तनों का होना ही असिद्ध हो रहा था। यही प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति से उपपन्न हो रही अर्थापत्ति है।

प्रकारान्तर से भोज ने इसे बहुशः एकपूर्विका का भी उदाहरण सिद्ध किया है। उनके अनुसार तो यहाँ अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति और अभावपूर्विका अर्थापत्ति की भी कल्पना की जा सकती है। वैसे तो दण्डी ने इसी श्लोक में निर्णयातिशयोक्ति माना है। इन भिन्न-भिन्न अलंकारों की पूर्वता के साथ अर्थापत्ति भी कैसे सम्भव है, इसका निरूपणवृत्ति में है।

अत्र स्तनभरेति। स्तनभरस्थितिः प्रत्यक्षगृहीता सा चाधारमन्तरेणानुपपद्यमाना मध्यं कल्पयति। सा च कल्पनार्थापत्तिः। अनुपलभ्यमानमिति। अन्यथा प्रत्यक्षगृहीतेऽर्थे किमर्थापत्त्या। अत्रैवोदाहरणेऽनेकशो व्याख्यातुं शक्यत इत्याह—इयमपीति। शक्तिमीमांसकनये नित्यातीन्द्रिया, अभावोऽभावेनैव गृह्यत इति मध्यानुपलम्भोऽभावप्रमाणपूर्वकः। कान्तीति। अद्भुतप्रभावतिरस्कृतं हि नयनमासन्नमपि न मध्यग्रहणसमर्थमिति भावः॥

प्रत्यक्षादिपूर्विका अनेकशः यथा—

> 'एतदालोक्य लोलाक्षि रूपमप्रतिमं तव।
> कल्पयामः कलातत्त्वगुरुतामादिवेधसः॥ १७२॥

तत्रेदं रूपमप्रतिमं तवेति प्रत्यक्षपूर्वता अभावपूर्वता च व्यक्तमेव प्रतीयते। तेनेयमनेकशः। अत्रापि येयं रूपस्याप्रतिमतान्यथानुपपद्यमाना कलातत्त्वगुरुविनिर्मितत्वमात्मनोऽवस्थापयति सोर्वश्यहल्यादिरूपोपमानज्ञानपूर्विका, या तत्कर्तुरर्थापत्तिकल्पिता कलातत्त्वगुरुता सापि तथाविधशक्तिकल्पनापूर्विकेत्युपमानपूर्विकार्थापत्तिपूर्विका चेयमर्थापत्तिः। सापि तत्कर्तुर्वेधसः कलातत्त्वगुरुता तथाभूतशक्त्याधारता वा, साप्यनुमानत आगमतो वाज्ञस्य कल्प्यत इत्यनुमानपूर्विका चेयमर्थापत्तिः। न चैतच्चतुष्टयमिहापि शाब्दमपि तु वाक्यार्थसामर्थ्याद्गम्यते॥

प्रत्यक्षादिपूर्विका अनेकशः अर्थापत्ति का उदाहरण—

हे चञ्चलनयने, तुम्हारे इस अद्वितीय रूप को देख कर हम आदि ब्रह्म के कलातत्त्व के परिपूर्ण ज्ञान की कल्पना करते हैं॥ १७२॥

यहाँ 'यह तुम्हारा रूप अद्वितीय है' ऐसा कहने से प्रत्यक्ष पूर्वता और अभाव पूर्वता स्पष्ट ही प्रतीत हो रही है। इससे वह अनेकशः अर्थापत्ति है। यहाँ भी जो यह रूप की अप्रतिमता अन्यथा अनुपपन्न होती हुई कलातत्त्व के गुरु द्वारा अपनी रचना की स्थापना करती है वह उर्वशी, अहल्या आदि के रूप के उपमान ज्ञान पर आधारित है, जो उसके निर्माता की अर्थापत्ति के द्वारा कल्पित कलातत्त्व की गुरुता है, वह भी उस प्रकार की शक्ति की कल्पना पर आधारित है। इस प्रकार यह अर्थापत्ति उपमानपूर्विका तथा अर्थापत्ति पूर्विका है। वह भी उसके निर्माता ब्रह्मा की कलातत्त्व की गुरुता उस प्रकार की शक्ति की आधारता जो है वह भी अनुमान से अथवा आगम से एक मूर्ख को ज्ञात हो जाती है, इससे यह अर्थापत्ति अनुमान पूर्विका है। ये चारों ही यहाँ पर शाब्द नहीं हैं अर्थात् किसी शब्द का अभिधेय अर्थ नहीं हैं, अपितु वाक्यार्थ की क्षमता से ज्ञात होते हैं।

स्व० भा०—उपर्युक्त उदाहरण में जो अर्थापत्ति की सिद्धि हो रही है वह प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अभाव, अर्थापत्ति और आगम इनमें से प्रायः सभी पर आधारित है। इसीलिये यहाँ अनेकशः अर्थापत्ति हुई है। रूप की अप्रतिमता साक्षात दृष्टिगोचर हो रही है, अतः प्रत्यक्ष मानना स्वाभाविक ही है। प्रतिमता भाव का तथा अप्रतिमता अभाव की द्योतक है। इस प्रकार विशेष्य 'रूप' प्रत्यक्ष से सम्बद्ध है और विशेषण 'अप्रतिम' अभाव से। यदि ब्रह्मा कलातत्त्व के मर्मज्ञ न होते तो ऐसा रूप नहीं बना सकते थे, इस प्रकार की बात सोचने पर रूप की जो अद्वितीयता सिद्ध हो रही है, वह अन्य महारूपवती नारियों उर्वशी, अहल्या, रम्भा आदि को भी पूर्वतः देखना तथा उनके रूप से सादृश्य-स्थापना अथवा तुलना करने के बाद ही उपपन्न होती है। जब तक किसी वस्तु के अन्य रूपों को नहीं देखलिया जाता तब तक उसकी तुलना ही असंभव है। अतः उर्वशी आदि के रूप का उपमान होने से यहाँ उपमान की भी पूर्वता सिद्ध होती है।

उस प्रकार के निर्माण में सक्षम विधाता की कलातत्त्वगुरुता अर्थापत्ति से सिद्ध होती है, और उस प्रकार की शक्ति की कल्पना करने से उपमानपूर्विका यह अर्थापत्ति पुनः अर्थापत्ति से युक्त हो जाती है। अर्थात यदि उसमें निर्माण की शक्ति न होती वह इस अतुल रूपसंभार की सृष्टि कैसे करता। सुन्दरी को बनाने वाले विधाता की कलातत्त्वगुरुता अथवा उस गुरुत्व का आधार होना भी अनुमान तथा आगम से सिद्ध होता है। विना कर्ता के कोई वस्तु नहीं होती। किसी भी विशिष्ट पदार्थ का निर्माता भी विशिष्ट ही होता है। इस नायिका का रूप विशिष्ट है अतः इसका निर्माता ब्रह्मा भी कला के तत्त्व का विशिष्ट ज्ञाता होगा। इस प्रकार अनुमान की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त शास्त्रों में तो सम्पूर्ण जगत का कर्त्ता ही ब्रह्मा को कहा गया है। पितामह होने से वह विशिष्ट हैं। इस सिद्धि से आगम द्वारा भी विधाता की विशिष्टकर्तृता प्रमाणित होती है।

भोज ने अन्त में वृत्ति में इनके शाब्द होने का निषेध किया है, अर्थात उन स्थानों पर अर्थापत्ति नहीं होती है जहाँ अर्थान्तर को भी बहर्थक पद के द्वारा ही अभिहित अथवा लक्षित किया जाता है। अर्थापत्ति पद या शब्द पर आश्रित न होकर वाक्यार्थ पर आश्रित होती है। इसके अतिरिक्त वह अभिधा आदि का विषय नहीं है। वह तो मात्र अभिप्राय से सम्बद्ध है।

अप्रतिममिति। प्रतिमाशून्यं रूपं विशिष्टमेव तत्र विशेषणांशेऽभावस्य व्यापारः, विशेष्यांशे प्रत्यक्षस्य। पूर्ववदिहापि व्याख्यानमाह—अत्रापीति। प्रतिमाभावज्ञानं प्रतिमाज्ञानपूर्वकम्, प्रतिमा च सादृश्यं, तच्च सहशब्दद्वयदर्शनवेद्यमित्यस्ति पूर्वमुपमानम्॥

एकशोऽनुमानपूर्विका यथा—

'कपोलपुलकेनास्याः सूचितो मदनज्वरः।
मनो निरन्तरासक्तं सख्यः कथयति प्रिये॥ १७३॥'

अत्र योऽयं कपोलपुलकानुमीयमानो मनोभवज्वरः स मनसः प्रिये निरन्तरासक्तिमन्तरेणानुपपन्न इत्यनुमानपूर्विकेयमर्थापत्तिः।

एकशः अनुमानपूर्विका का उदाहरण—

इसके कपोलों पर होने वाले रोमाञ्च से इसका कामज्वर सूचित होता है जो हे सखियों, प्रिय में इसके मन की निरन्तर आसक्ति को प्रकट करता है॥ १७३॥

यहाँ जो यह कपोलपुलक से अनुमित हो रहा कामज्वर है वह मन के प्रिय में लगातार

आसक्त न रहने पर उपपन्न ही नहीं होता। इस प्रकार यह अनुमान-पूर्विका अर्थापत्ति है।

स्व० भा०—नायिका के कपोलों पर पुलक देख कर उसके कामज्वर का अनुमान होता है। यदि इसकी प्रिय में आसक्ति न होती तो उसे कामज्वर न होता। इस प्रकार देवदत्त के रात्रि भोजन की भाँति यहाँ भी नायिका के मन की प्रिय में होने वाली आसक्ति अर्थापत्ति से उत्पन्न होती है। अनुमान का आधार लेकर चलने से यहाँ अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति है।

अनेकश उपमानादिपूर्विका यथा—

'त्वदास्येन्दू समौ दृष्ट्वा तदिदं कल्पयामहे।
अन्योन्यगामिलावण्यमनयोरेव केवलम् ॥ १७४ ॥'

अत्र त्वदास्येन्दू समौ दृष्ट्वेत्युपमानपूर्वकता अर्थापत्तेः प्रत्यक्षपूर्वता च शब्दत एव प्रतीयते। या च मिथः सादृश्यानुपपत्तिलभ्या लावण्यान्योन्यगामिता सापि तथाविधं विधातारमन्तरेण न संगच्छत इत्यादीहापि पूर्ववद्वाक्यार्थसामर्थ्यतोऽवगन्तव्यम् ॥

अनेकशः उपमान आदि पर आश्रित अर्थापत्ति का उदाहरण—

तुम्हारे मुख तथा चन्द्रमा दोनों को समान देख कर हम तो ऐसी कल्पना कर रहे हैं कि इन दोनों की छटा परस्पर संक्रान्त हुआ करती है ॥ १७४ ॥

यहाँ 'तुम्हारे मुख तथा चन्द्रमा को समान देखकर' यह कहने से अर्थापत्ति की उपमानपूर्वकता तथा प्रत्यक्षपूर्वता शब्दतः ही प्रतीत हो रही है। जो यह परस्पर सादृश्य की अनुपपत्ति से प्राप्त हो रही लावण्य की एक दूसरे में संक्रान्ति है वह भी उसी प्रकार के विधाता के बिना संगत नहीं होती, आदि आदि। अतः यहाँ भी पहले की भाँति वाक्यार्थ के ही सामर्थ्य से अर्थान्तर की प्राप्ति समझनी चाहिये।

स्व० भा०—यहाँ पर भाव वृत्ति में पूर्णतः स्पष्ट है। उपमान, प्रत्यक्ष और अनुमान से अर्थापत्ति का परिपोष होता है। वृत्ति की अन्तिम पंक्ति से पुनः उसी बात को पुष्ट किया गया है कि यहाँ अर्थापत्ति वाक्यार्थ के सामर्थ्य से सम्पन्न हो रही है, न कि शाब्दी वृत्ति से। इस प्रकार के निदर्शन पहले 'अनेकशः' भेदों के निरूपण के प्रसङ्ग में स्पष्ट किये गये हैं। उनकी ओर ही 'पूर्ववत्' कह कर संकेत किया गया है।

एकशोऽभावपूर्वा यथा—

'एतदास्यं विना हास्यं निवेदयति सुभ्रुवः।
प्रियापराधदण्डानां मनो भाजनतां गतम् ॥ १७५ ॥'

अत्र सुभ्रुव इत्यनेन विलासवत्याः समस्तप्रशस्तलक्षणयोगो लक्ष्यते। तथाविधायाश्च वक्त्रविलासहासस्याभावोऽनुपपद्यमानः शोकव्यतिरिक्तमात्मकारणं कल्पयतीत्यभावपूर्विकेयमर्थापत्तिः ॥

एकशः अभावपूर्वा का उदाहरण—

इस सुन्दर भौंहों वाली विलासिनी का हँसी के बिना मुख यह सूचित कर रहा है कि उसका मन प्रिय के अपराधों के दण्ड का पात्र हो गया है ॥ १७५ ॥

यहाँ 'सुभ्रुवः' इस पद के प्रयोग से विलासिनी सुन्दरी के सम्पूर्ण शोभन लक्षणों का योग लक्षित होता है। उस प्रकार की सुन्दरी के वक्त्र विलास से युक्त हास्य का अभाव अनुपपन्न

होता हुआ शोक से पृथक् किसी कारण की कल्पना कराता है। अतः यहाँ अभावपूर्विका अर्थापत्ति है।

स्व० भा०—यहाँ हास्यविहीन मुख अभाव द्योतित करता है। यह 'अभाव' हास्य विहीनता का कारण ढूँढने को प्रेरित करता है। इसी के आधार पर अर्थापत्ति से उसके प्रियापराधता का ज्ञान होता है, अन्यथा वैसी विलासवती रमणियों का मुख हास्यविहीन हो, यह तो असंभव है। यह कारण भी शोक के अतिरिक्त कोई अन्य ही है, अन्यथा शोक के व्यंजक अन्य ही अनुभाव चित्रित होते।

हास्यभावस्यान्यथाऽप्युपपत्तेः कथमर्थापत्तिरित्यत आह—अत्र भ्रुव इति ॥

अनेकशोऽर्थापत्त्यादिपूर्विका यथा—

'दृष्ट्वा विभ्रमिणीमेतां विद्मो लीलागुरुं स्मरम्।
स्मरं च मृगशावाक्ष्या मनस्यस्याः कृतास्पदम् ॥ १७६ ॥'

अत्र विभ्रमिणीमिति प्रशंसायां मत्वर्थीयस्तेन विभ्रमाणामुत्कर्षो लक्ष्यते। ते चान्योपदेशादसंभवन्तो मन्मथमुपाध्यायं बोधयन्ति। तस्याग्रतः पार्श्वतो वानुपलभ्यमानस्य तन्मनस्यवस्थानं लक्ष्यते। सेयमाद्या प्रत्यक्षपूर्विका द्वितीया चार्थापत्तिपूर्विकार्थापत्तिर्भवति। इयमेव च मनोभूर्मनसि कामिनीनां संभवतीत्याप्तोपदेशादागमपूर्विकापि भवति ॥

अनेकशः अर्थापत्ति आदि पर आश्रित अर्थापत्ति का उदाहरण—

इस विलासवती को देख कर हम समझते हैं कि इसके हाव-भावों का गुरु कामदेव ही है। उस कामदेव ने भी इस मृगनयनी के मन में ही अपना स्थान भी बना लिया है ॥ १७६ ॥

यहाँ 'विभ्रमिणाम्' इस पद में प्रशंसा के अर्थ में मत्वर्थीय (णिनि) प्रत्यय लगा है। इससे विभ्रमों की उत्कृष्टता लक्षित होती है। ये विभ्रम दूसरे के उपदेश से संभव न होने से कामदेव का गुरुत्व ज्ञात कराते हैं। आगे और बगल में उपलब्ध न होने से कामदेव की उसके मन में उपस्थिति लक्षित होती है। यह प्रथम वाली तो प्रत्यक्षपूर्विका और दूसरी अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति होती है। वही अर्थापत्ति 'कामदेव कामिनियों के मन में होता है' इस प्रकार के आप्त उपदेश के अनुसार होने से आगमपूर्विका भी सिद्ध होती है।

स्व० भा०—यह उदाहरण अनेकशः अर्थापत्ति आदि पूर्विका है। अतः यहाँ, प्रत्यक्ष, अर्थापत्ति और आगम इन तीनों की पूर्वता सिद्ध होती है। सर्वप्रथम तो विभ्रम के कारण की खोज होती है। बिना किसी विशेष गुरु की दीक्षा के उस कामिनी में उस प्रकार के विभ्रम संभव नहीं थे, ठीक उसी प्रकार जैसे बिना भोजन किये देवदत्त की पीनता असंभव है। उस उदाहरण में कल्पित अर्थान्तर 'रात्रि-भोजन' की भाँति कामदेव की गुरुता भी अर्थापत्ति से ही यहाँ प्रतीत होती है। इसके पश्चात् देखने पर भी आसपास न दिखना प्रत्यक्ष है और कहीं न पाकर, किन्तु कहीं न कहीं अवश्य होने से, उसका कामिनी के हृदय में होना कल्पित किया जाता है। यहाँ भी अर्थापत्ति ही है। शास्त्रों में कामदेव का निवासस्थल कामिनियों का हृदय निरूपित होने से, उसे प्रमाण मानने पर आगमप्रमाण भी सिद्ध हो जाता है।

इत्थमेवान्यथोपपत्तिमाशङ्क्याग्रे व्याचष्टे—विभ्रमिणीमिति। मत्वर्थीयार्थमाह—प्रशंसायामिति ॥

(२४) अभाव अलंकार

असत्ता या पदार्थानामभावः सोऽभिधीयते ।
प्रागभावादिभेदेन स षड्विध इहेष्यते ॥ ५४ ॥

पदार्थों की जो अनवस्थिति है, वह अभाव कहा जाता है। वह यहाँ (काव्य में) प्रागभाव आदि भेद से छः प्रकार का अभीष्ट है।

स्व० भा०—भोज अभाव का अर्थ असत्ता–'न होना–' मानते हैं। इस असत्ता का अभिप्राय पूर्णतः विनाश अथवा अनुत्पत्ति न होकर केवल–'न होना'–ही उचित है, जो कि प्रागभाव से लेकर अत्यन्ताभाव तक उपपन्न होता है। इसके केवल चार प्रकार के ही अभावों का उल्लेख हुआ था, किन्तु यहाँ सामान्याभाव तथा विशेषाभाव दो अभाव और जुड़ गये हैं। इस प्रकार इसके भेदों की संख्या चार से बढ़ कर छः हो गई है।

अभावं लक्षयति—असत्तेति । प्रागसत्त्वमुत्तरासत्त्वमित्यसत्तारूपेणैव प्रागभावादयो व्यवतिष्ठन्ते इतरेतराभावेऽप्यन्यरूपतयान्यस्याभाव इत्यसत्तात्मकत्वम् । प्रागभावादयः पूर्वोदिताश्चत्वारः । अत्यन्ताभावविशेषसामान्याभावाभ्यां सह षडभावाः । तयोर्विशेषमग्रे वक्ष्यामः ॥

तेषु प्रागभावो यथा—

'सग्गं अपारिजाअं कोत्थुहलच्छीविरहिअं महुमहअस्स उरम् ।
सुमरामि महणपुरओ अमुद्धचन्दं च हरअडापब्भारम् ॥ १७७ ॥'

[स्वर्गमपारिजातं कौस्तुभलक्ष्मीविरहितं मधुमथनस्योरः ।
स्मरामि मथनपुरतोऽमुग्धचन्द्रं च हरजटाप्राग्भारम् ॥]

इनमें से प्रागभाव का उदाहरण—

मथन (मन्दराचल) के द्वारा सागरमन्थन के पूर्व पारिजात रहित स्वर्ग, कौस्तुभमणि तथा लक्ष्मी से विहीन नारायण के वक्षःस्थल और चन्द्रमा के अभाव में असुन्दर शिव की जटाली के भार की याद करता हूँ (उसकी बातें सोचता हूँ।) ॥ १७७ ॥

स्व० भा०—यहाँ पर प्रागभाव का निरूपण है। इसका लक्षण यथास्थान पूर्व प्रसंगों में दिया जा चुका है। पारिजात, कौस्तुभमणि, लक्ष्मी, चन्द्रमा आदि का आगमन सागरमन्थन के बाद हुआ है। निकलने के भी पश्चात् वितरण करने पर विभिन्न रत्न विभिन्न स्थानों पर स्थित किये गये। अतः उसके पूर्व तो स्वर्ग पारिजात से रहित रहा होगा और हरि के वक्षःस्थल पर न तो कौस्तुभमणि रही होगी, न लक्ष्मी। भगवान् शिव का भी जटाजूट चन्द्रमा की छटा से रहित रहा होगा। इन दशाओं की कल्पना करने पर इन वस्तुओं का प्रागभाव ही दृष्टिगोचर होता है।

सग्गं अपारिजाअमिति । निगदव्याख्यातः प्रागभावः । यथा अभावपूर्विकायामर्थापत्तौ करणं भेदानुमानमुक्तं तथात्रापि बोद्धव्यम् । पारिजातप्रागभावस्य प्रमेयरूपता व्यक्तैव । अभावोऽभावेनैव प्रतीयत इति । दर्शने तत्करणतया शब्दानुपात्तोऽपि योग्यप्रमाणभावोऽवगम्यते । एवमुत्तरेष्वपि स्वयमूहनीयम् ॥

प्रध्वंसाभावो यथा—

'धृतिरस्तमिता गतिश्च्युता विगतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।

गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ १७८ ॥'

प्रध्वंसाभाव का उदाहरण—

(इन्दुमती के मरण पर अज विलाप में कह रहे हैं कि) आज मेरा धैर्य समाप्त हो गया, रति भी ढह गई, गाना-बजाना गया, ऋतुयें आनन्दहीन हो गईं। अलंकार धारण करने का अभिप्राय भी न रहा और मेरी सेज भी सूनी हो गई ॥ १७८ ॥

स्व० भा०—यहाँ विभिन्न प्रकार की उक्तियों से सिद्ध है कि प्रध्वंस के बाद अभाव अथवा प्रध्वंस के कारण अभाव विद्यमान है।

इतरेतराभावो यथा—

'कर्णोत्पल न चक्षुस्ते न चक्षुः श्रवणोत्पलम् ।
इति जानन्नपि जनो मन्यते नेत्रदीर्घताम् ॥ १७९ ॥'

इतरेतर अभाव का उदाहरण—

'कान में पहना गया कमल तुम्हारी आँख नहीं है और न तो नेत्र ही कर्णोत्पल हैं।' इस प्रकार से जानते हुये भी लोग नेत्रों की दीर्घता मानते ही हैं ॥ १७२ ॥

स्व० भा०—यहाँ इतरेतरता है। अर्थात् दोनों पदार्थ एक दूसरे से भिन्न हैं। यहाँ पर नेत्र सदृशता से कर्णोत्पल से तथा कर्णोत्पल नेत्र से पूर्णतः भिन्न निरूपित हैं।

अत्यन्ताभावो यथा—

'जं जस्स होइ सारं तं सो देइत्ति किमत्थ अच्छेरम् ।
अणहोत्तं वि हु दिण्णं तइ दोहग्गं सवत्तीणम् ॥ १८० ॥'

[यद्यस्य भवति सारं तं स ददाति किमत्राश्चर्यम् ।
अभवदपि खलु दत्तं तया दौर्भाग्यं सपत्नीनाम् ॥]

अत्यन्ताभाव का उदाहरण—

जिसका जो उत्कृष्ट पदार्थ है वह उसे दे सकता है, इसमें आश्चर्य की बात क्या है? किन्तु (उसके पास) न होने पर भी उसने सपत्नियों को दुर्भाग्य प्रदान किया।

स्व० भा०—यहाँ अत्यन्ताभाव है। यह अभाव तब माना जाता है जब कोई पदार्थ अस्तित्व हीन होता है। यहाँ नायिका के पास प्रियसन्निधि और उसकी प्रेमप्राप्ति होने से दुर्भाग्य का अभाव है, किन्तु अन्य प्रेमिकाओं को वञ्चित कर उनके प्रियतम का स्वयं उपभोग कर लेना स्वयं तो सौभाग्यशालिता है, किन्तु सपत्नियों के लिये दुर्भाग्य की बात है। जो सौभाग्यशालिनी है, जिसमें दुर्भाग्य का अभाव है, वह दूसरे को नियमतः सौभाग्य या दुर्भाग्य का अभाव ही दे सकती है। लेकिन वह दे रही है दुर्भाग्य जो उसके पास है ही नहीं। अतः यहाँ सौभाग्यवती के पास दुर्भाग्य का अभाव-निरूपण होने से अत्यन्ताभावता है।

अन्ये पुनरन्यथा अत्यन्ताभावमाचक्षते। यथा—

'प्रसीद सद्यो मुञ्चेमं चण्डि मानं मनोगतम् ।
दृष्टमात्रेऽपि ते तत्र रोषः खकुसुमायते ॥ १८१ ॥'

दूसरे लोग दूसरे प्रकार से अत्यन्ताभाव का वर्णन करते हैं। जैसे—हे क्रोधने, तुम प्रसन्न हो जाओ, तत्काल इस मन में समाये हुये मान को छोड़ दो, क्योंकि उसके दृष्टिगोचर होते ही

उनके प्रति होने वाला तुम्हारा क्रोध आकाशकुसुम हो जायेगा, (अर्थात् उसी प्रकार से नहीं रहेगा, सर्वथा समाप्त हो जायेगा जिस प्रकार आकाशकुसुम ही नहीं होता है ।) ॥ १८१ ॥

स्व० भा०—यहाँ पर दूसरे प्रकार का अत्यन्ताभाव का उल्लेख किया है । प्रथम उदाहरण के अनुसार किसी स्थान-विशेष पर किसी पदार्थ-विशेष का न होना अत्यन्ताभाव का लक्षण सिद्ध होता है, किन्तु दूसरे के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि किसी पदार्थ का सर्वथा अभाव—किसी भी लोक में अस्तित्व ही न होना—अत्यन्ताभाव है । खपुष्प वस्तुतः होता नहीं है, उसे तो मात्र शब्दों से ही व्यक्त किया जा सकता है ।

स्थानान्तरप्रमितस्य स्थानान्तरे त्रैकालिकोऽभावविशेषोऽत्यन्ताभाव इति दर्शनमाश्रित्य चतुष्टयमध्यपाती तावदत्यन्ताभाव उदाहृतः । इदानीं पञ्चमाभावोचितविशेषमत्यन्ताभावं दर्शयति—अन्ये पुनरिति । अन्ये सौगतादयः । अत्यन्तासत्प्रतियोगिकोऽभावोऽत्यन्ताभावः । यथा खपुष्पस्याभाव इत्युदाहरणं स्फुटम् ।

सामर्थ्याभावो यथा—

'मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातले ॥ १८२ ॥'

त एते षडपि निगदेरेव व्याख्याताः ।

सामर्थ्याभाव का उदाहरण—

(दुष्यन्त शकुन्तला की दिव्योत्पत्ति सुनकर आश्चर्यपूर्वक कहते हैं)—इस प्रकार के रूप की उत्पत्ति भला मानवीय स्त्रियों से संभव ही कैसे है, अथवा मनुष्यस्त्रियों में इस प्रकार के रूप की संभावना ही कैसे हो सकती है, क्योंकि विद्युत् ज्योति-चपला पृथ्वी में नहीं उगती है ॥ १८२ ॥

ये छहो अभाव के प्रकार मात्र कथन से ही स्पष्ट है ।

स्व० भा०— किसी पदार्थ या व्यक्ति का किसी कार्यविशेष के प्रति अयोग्य, (अक्षम) सिद्ध होना सामर्थ्याभाव का लक्षण है ।

सामर्थ्याभावो योग्यताभावः । अनेनैव रूपेण स रसतामासादयन्नुपात्तः ।

अभावाभावाऽप्यभाव एव । तत्र प्रागभावप्रध्वंसो यथा—

'उद्यानसहकाराणामनुद्भिन्ना न मञ्जरी ।
देयः पथिकनारीणां सतिलः सलिलाञ्जलिः ॥ १८३ ॥'

अभाव का अभाव भी अभाव ही है । इनमें से प्रागभाव का प्रध्वंस अर्थात् अभाव का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का ३।३५ श्लोक)

स्व० भा०—यहाँ अभाव 'अन्' तथा 'न' दो पदों से व्यक्त है । 'अनुद्भिन्नता' 'उद्भिन्नता' का अभाव है । इसका भी अभाव 'न' से द्योतित होता है । यद्यपि वस्तुजगत् में अभाव का अभाव अर्थात् निषेध का निषेध भाव का बोध कराता है, तथापि शब्दों के माध्यम से ऐसी स्थिति का वर्णन करने पर चमत्कार उत्पन्न होता है ।

अभाव एवेति । अभावव्यवहारमात्रमेव तथाभूतस्यैव लक्षणमित्युक्तं पुरस्तात् ।

प्रध्वंसप्रागभावो यथा—

'न मर्त्यलोकस्त्रिदिवात्प्रहीयते म्रियेत नाग्रे यदि वल्लभो जनः ।

प्रध्वंसध्वंसो यथा—

निवृत्तमेव त्रिदिवप्रयोजनं मृतः स चेज्जीवित एव जीवति ॥ १८४ ॥'

प्रध्वंसप्रागभाव का उदाहरण—

यदि अपने प्रियजन की मृत्यु आगे ही अथवा पहले ही न हो, तो मृत्युलोक स्वर्ग से निकृष्ट नहीं है।

प्रध्वंसध्वंस का उदाहरण—

स्वर्ग का तो प्रयोजन ही समाप्त हो गया यदि मृत व्यक्ति जीवित रहने पर जीवित ही रहता है ॥ १८४ ॥

स्व० भा०—यहाँ प्रध्वंस का प्रागभाव तथा प्रध्वंस का ध्वंस भी एक ही श्लोक के पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध द्वारा व्यक्त किया गया है। प्रियजन का मरण प्रध्वंस है, उसका निषेध कर देने से उसकी पूर्ववर्ती सत्ता का अभाव ही रहता है। अतः प्रध्वंसप्रागभाव सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मृतः' पद से मरण के बाद अभाव होता है अर्थात् होनेवाले का प्रध्वंस निरूपित होता है। इस प्रध्वंस का भी निषेध होने से उसकी भी असम्भावना ही व्यक्त होती है। अतः प्रध्वंस का ध्वंस स्वयं स्पष्ट है।

वल्लभजनमरणं प्रध्वंसः स नञा निषिध्यते स तु निषेधः प्रागसत्स्वरूप एव। मृतः स चेदिति मरणोत्तरमभावो भवत्प्रध्वंसो भवति स चासंभवन्नपिशब्देन संभाव्यमानः कान्तिकारणं भवतीत्यलंकारकक्षामारोहति।

प्रध्वंसप्रागभावप्रध्वंसो यथा—

'नामिलितमस्ति किंचित्काञ्चीदेशस्य सर्वथा नाथ।
प्रसरतु करस्तवायं प्रकृतिकृशे मध्यदेशेऽपि ॥ १८५ ॥'

प्रध्वंस तथा प्रागभाव के प्रध्वंस का उदाहरण—

हे नाथ! (अतिपृथुल) काञ्ची प्रदेश (जघन अथवा नितम्ब) की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आपको पूर्णतः प्राप्त न हुई हो, तथापि इस स्वभावतः पतली कटि पर भी आपका यह हाथ कृपया फैल जाये ॥ १८५ ॥

स्व० भा०—यहाँ पर उल्लिखित 'नामिलितम्' पद से प्रध्वंस का ध्वंस लक्षित है, क्योंकि 'मिलित' का ध्वंस है 'अमिलित'—प्राप्ति का ध्वंस। इसके भी निषेध से प्रध्वंस का भी ध्वंस स्पष्ट है। इसी प्रकार 'प्रकृतिकृश' के द्वारा हस्त प्रसरण के कारण का अभाव पूर्वतः सूचित होता है। यहाँ भी हस्तप्रसार की कामना करके पूर्वतः विद्यमान अभाव को ध्वस्त करना ही लक्ष्य है।

प्रध्वंसप्रागभावप्रध्वंस इति। **मरणेन प्रध्वंसनं तस्याभावः समस्तेन न जातस्याप्यभावो भिन्नेन प्रतिपादितः।**

प्रध्वंसस्य प्रध्वंसाभावो यथा—

'एषा प्रवास कथमप्यतीत्य याता पुनः संशयमन्यथैव।
को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तोर्द्वाराणि दैवस्यपिधातुमीष्टे ॥ १८६ ॥'

प्रध्वंस के भी प्रध्वंसाभाव का उदाहरण—

(मूर्च्छित मालती को उठाये हुये आकर माधव उसके विषय में कहता है कि) इसने परदेश-वास को तो किसी प्रकार सह कर व्यतीत कर लिया, किन्तु अब दूसरे प्रकार से जीवनसंशय में

पड़ गई है। कौन भला ऐसा है जो कर्मपरिपाक के लिये तत्पर दैव के द्वारों को ढक देने में समर्थ है ॥ १८६ ॥

स्व० भा०—यहाँ 'कथमपि' पद द्वारा काम की अन्तिम दशा 'मरण' को व्यक्त किया गया है। मरण स्वयं प्रध्वंसरूप है और उसका भी ध्वंस हो रहा है, क्योंकि उस दशा में पहुँच कर भी किसी तरह मालती जीवित रह ही गई। अतः इसमें प्रध्वंस का ध्वंस है।

प्रध्वंसस्य प्रध्वसाभाव इति। कथमपीत्यनेन प्रवासे दशम्यवस्था कटाक्षिता तस्याश्चयः प्रध्वंसप्रध्वंसः। पुनः संगममित्यनेन तस्यापि प्रध्वंसः। सुबोधमन्यत्।

इतरेतराभावाभावो यथा—

'शासनेऽपि गुरुणि व्यवस्थितं कृत्यवस्तुनि नियुङ्क्ष्व कामतः।
त्वत्प्रयोजनधनं धनंजयादन्य एष इति मां च मावगाः॥ १८७॥'

इतरेतराभाव के अभाव का उदाहरण—

कृष्ण युधिष्ठिर से कहते हैं कि अत्यन्त दुष्कर आदेशों में भी, करणीय कर्मों में लगे हुये, मुझको आप स्वेच्छानुसार नियुक्त करें। आप मुझको अपने प्रयोजनों का धन समझें अर्थात् आपके प्रयोजनों को सिद्ध करना ही मेरा धन है, अतः आप मुझको धनञ्जय से तनिक भी भिन्न न समझें।

स्व० भा०—वस्तुतः कृष्ण तथा अर्जुन परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, अतः इतरेतराभाव है। किन्तु 'प्रयोजनधनत्व' दोनों में समानरूप से विद्यमान है, अर्थात् भिन्नता होने पर भी दोनों में समानता का निरूपण होने से अन्योन्याभाव का अभाव हो गया है।

अत्यन्ताभावस्य सामर्थ्याभावस्य च प्रध्वंसाभावो यथा—

'अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री।
तुल्या भवद्दर्शनसंपदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः॥ १८८॥'

एते नातिदुर्बोधा इति न व्याकृताः॥

अत्यन्ताभाव तथा सामर्थ्याभाव के प्रध्वंसाभाव का उदाहरण—

पुण्यसंचय न किये हुये लोगों के लिये दुर्लभ, रजोगुण से विमुक्त, इच्छित फल को उत्पन्न करने वाली आपकी यह दर्शन-संपदा तो मेघहीन आकाश से वृष्टि की भाँति है॥ १८८॥

ये बहुत कठिन नहीं हैं इसलिये इनकी विशेष व्याख्या नहीं की गई।

स्व० भा०—'अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा' पद से अत्यन्ताभाव तथा "वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः" से सामर्थ्याभाव का ज्ञान होता है। किन्तु व्यास के दर्शन से इन दोनों का बाध हो जाता है, ध्वंस हो जाता है। अतः अन्ततः प्रध्वंसाभाव ही अवशिष्ट रहता है।

उक्तार्थालंकाराणां संख्यामाह—

अर्थालंकृतयोऽप्येताश्चतुर्विंशतिसंख्यया।
कथिता काव्यविज्ञानां चित्तप्रह्लादहेतवे॥ ५५॥

काव्य के मर्मज्ञों के हृदय को आह्लादित करने के लिये चौबीस संख्या के अलंकार कहे गये हैं॥ ५५॥

स्व० भा०—अन्त में महाराजाधिराज भोज ने परिच्छेद के उपसंहार के रूप में यह निर्दिष्ट किया है कि उनके मत में चौबीस ही अर्थालङ्कार हैं। काव्य के रसास्वादन से तो रसिकों

का अन्तःकरण प्रसन्न होता है किन्तु काव्यशास्त्रियों का हृदय तो काव्यशास्त्र की मान्यताओं की समालोचना से ही अनुरंजित होता है।

जहाँ अन्य आलंकारिकों ने अधिक से अधिक चार-छः शब्दालंकार या दो उभयालंकार तथा विपुल संख्या मे अर्थालंकारों को माना है, भोज ने इन तीनो की संख्या समान रूप से चौबीस-चौबीस ही मानी है।

अर्थालंकृतय इति। स्पष्टम्।

इति श्रीमहाराजाधिराजश्रीमद्भोजराजविरचिते सरस्वतीकण्ठा-
भरणनाम्न्यलंकारशास्त्रेऽर्थालकारस्तृतीयः परिच्छेदः।

श्रीरामसिंहदेवाज्ञामादाय रचितो मया।
दर्पणाख्यः सदा तेन तुष्यतां श्रीसरस्वती॥
रत्नेश्वरो नाम कवीश्वरोऽसौ विराजते काव्यसुधाभिषेकैः।
दुस्तर्कवज्राहतदुर्विदग्धां वसुंधरां पल्लवयन्नजस्रम्॥
अद्य स्फुरतु वाग्देव्याः कण्ठाभरणकौतुकम्।
मयि ब्रह्ममनोवृत्तौ कुर्वाणे रत्नदर्पणम्॥

इति श्रीमन्महाराजश्रीरामसिंहेन महामहोपाध्यायमनीषिरत्नेश्वरेण विरचय्य
प्रकाशिते दर्पणाख्ये सरस्वतीकण्ठाभरणविवरणेऽर्थालंकारस्तृतीयः
परिच्छेदः समाप्तः॥

चतुर्थः परिच्छेदः

इदानीमुभयालंकारविवेचनाय परिच्छेदमारभते—

शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालंक्रियाः प्रियाः ॥ १ ॥
उपमा रूपकं साम्यं संशयोक्तिरपह्नुतिः।
समाध्युक्तिः समासोक्तिरुत्प्रेक्षाप्रस्तुतस्तुतिः ॥ २ ॥
सतुल्ययोगितोल्लेखः ससहोक्तिः समुच्चयः।
साक्षेपोऽर्थान्तरन्यासः सविशेषा परिष्कृतिः ॥ ३ ॥
दीपकक्रमपर्यायातिशयश्लेषभाविकाः।
संसृष्टिरिति निर्दिष्टास्ताश्चतुर्विंशतिर्बुधैः ॥ ४ ॥

शब्दों तथा पदार्थों से जो उपमा आदि विशिष्ट अर्थ प्रतीत होता है वह कवियों की प्रीति का विषय उभयालंकार होता है। (१) उपमा (२) रूपक (३) साम्य (४) संशय (५) अपह्नुति (६) समाधि (७) समासोक्ति (८) उत्प्रेक्षा (९) अप्रस्तुत-प्रशंसा (१०) तुल्ययोगिता (११) उल्लेख (१२) सहोक्ति (१३) समुच्चय (१४) आक्षेप (१५) अर्थान्तरन्यास (१६) विशेषोक्ति (१७) परिकर (१८) दीपक (१९) क्रम (२०) पर्याय (२१) अतिशयोक्ति (२२) श्लेष (२३) भाविक (२४) संसृष्टि—ये चौबीस प्रकार के उभयालंकार विद्वानों द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं ॥ १-४ ॥

स्व० भा०—यह एक अत्यन्त विचित्र तथा आश्चर्यजनक निरूपण हमारे समक्ष है। भामह, दण्डी आदि आलंकारिकों ने जिन अलंकारों को प्रमुखता अर्थालङ्कार में दी थी, भोज उनको उभयालंकार कहते हैं। विश्वविख्यात उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, सन्देह, श्लेष, अतिशयोक्ति आदि अलंकार जो अन्य आचार्यों के यहाँ अर्थालङ्कार के रूप में शोभावृद्धि करते हैं, वही भोज के यहाँ उभयालंकार हैं।

सामान्यतः शब्द तथा अर्थ काव्य के प्रमुख शरीर माने गये हैं। इनमें से शब्द का शोभन शब्दालंकार है और अपेक्षाकृत स्थूल तथा बाह्य है। अर्थों का शोभनकर्म अर्थालंकार होता है। किन्तु जब शब्द और अर्थ दोनों के सहयोग से एक विशिष्ट चमत्कारपूर्ण अर्थ ग्रहण किया जाता है, तब शब्दार्थालंकार अथवा उभयालंकार होता है। अन्य आलंकारिकों के मत में केवल दो-एक उभयालंकार हैं, किन्तु भोज ने चौबीस माने हैं।

शब्देभ्य इति। यासूभयालंक्रियासु इवादिभ्यः शब्देभ्यो विशिष्ट उपमादिरूपोऽर्थो ज्ञायते ता उभयालंक्रियाः स्युः। कीदृश्यः। कवीनां प्रियाः प्रीतिविषयाः, उपमादीनां कविसर्वस्वायमानत्वात्। शब्दश्चार्थश्चेत्युभयम्। सह तुल्ययोगितया वर्तते इति सतुल्ययोगिता। एवमितरेष्वपि। परिष्कृतिः परिकरः। भाविकैरिति सहार्थे तृतीया।

अथोपमालंकारनिरूपणम् ।

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥ ५ ॥

(१) उपमालंकार

प्रसिद्धि के आधार पर (उपमान तथा उपमेय रूप) दोनों अर्थों का परस्पर अनेक अङ्गों में से जो एकदेशीय समानता का सम्बन्ध है, वह यहाँ काव्य में उपमा माना गया है ।

स्व० भा०—संस्कृत में उपमालंकार जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही इसका लक्षण विवादास्पद है । कोई 'सादृश्य' को, कोई 'साधर्म्य' को इसी प्रकार अन्यान्य विषयों को उपमा का विषय मानते हैं । जो उपमालंकार अन्यत्र शब्दालंकार में गणित है, उसे ही भोज ने उभयालंकार माना है । भोजराज के मतानुसार जिन दो अर्थों उपमेय तथा उपमान के विभिन्न अङ्गोपाङ्ग हो सकते हैं, वहाँ यह आवश्यक नहीं कि इन सब में साधर्म्य होने पर ही उपमा हो, अपितु इन अवयवों में से यदि एक आध में भी साधर्म्य हो तो भी उपमा समझी जायेगी । वह इस साधर्म्य को भी लोकप्रसिद्धि के आधार पर स्वीकार करना चाहते हैं । अर्थात् विश्व के ऐसे अनेक उपमान हो सकते हैं जिससे उपमेय का साधर्म्य अथवा वैधर्म्य प्रदर्शित किया जा सकता है, किन्तु यहाँ मान्य नहीं हैं । जो लोक मे प्रसिद्ध हो, लोकमान्य हो, 'कमलमिव मुखम्' की भाँति न कि 'कुमुदमिव मुखम' की ।

वामन ने उपमा को ही समस्त अलंकार प्रपञ्च का मूल माना है । उनकी दृष्टि में जिस प्रकार एक ही नटी होती है जो रङ्गमञ्च पर विभिन्न परिधान तथा कार्य के अन्तर से विभिन्न भूमिकाओं में प्रकट हुआ करती है, उसी प्रकार उपमा भी विभिन्न अलंकारों के रूप में समक्ष उपस्थित होती हैं । वामन के ही शब्दों में—"प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः' का० सू० ४।३।१॥ भोज के उपमालक्षण पर भी वामन का प्रभाव स्पष्ट है । वामन के अनुसार—"उपमाने योपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा" वही ४।२।१॥ । संभवतः इन्होंने लोकप्रसिद्ध का भाव वामन से ही लिया हो, क्योंकि उनके अनुसार भी—'तत्कृतं लोकप्रसिद्धिपरिग्रहार्थम् । यदेवोपमेयोपमानं च लोकप्रसिद्धं तदेव परिगृह्यते नेतरत । न हि यथा 'मुखं कमलमिव इति, तथा 'कुमुदमिव' इत्यपि भवति ।" (वही वृत्ति) ।

भामह के द्वारा प्रयुक्त 'गुणलेश' पद भी उपमेय के एकदेशीय साधर्म्य की ओर संकेत करता है । भामह के अनुसार—

विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।
उपमेयस्य यत्साम्यं गुणलेशेन सोपमा ॥ काव्यालंकार ॥ २।३० ॥

अप्पय दीक्षित प्रभृति कुछ आचार्यों के अनुसार भी—

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदान् ।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥ चित्रमीमांसा पृ० ४१

अप्पय दीक्षित ने भोज की इस परिभाषा का खण्डन किया है और इसमें अव्याप्तिरूप दोष दिखलाया है । उनके ही शब्दों में—

'यत्तु सरस्वतीकण्ठाभरणोक्तम् लक्षणम्—

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः ।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥ इति ।

तदपि गुणक्रियादीनां परस्परसादृश्यवर्णनात्मिकायाम्—

सतञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥

इत्याद्युपमायामव्याप्तम्—

उद्गर्भहूणरमणीरमणोपमर्दभग्नोन्नतस्तननिवेशनिभं हिमांशोः ।
बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारमेतद् विष्णोः पदं प्रथममग्रकरैर्व्यनक्ति ॥

"सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धिनारङ्गकम्" इत्यादौ प्रसिद्धिरहितोपमानायां कल्पितोपमायां चाव्याप्तम्" चित्रमीमांसा पृ० ६६-६७ ।

उपमालक्षणमाह—प्रसिद्धेरिति । अर्थयोरुपमानोपमेययोर्मिथो यो भूयसां प्रचुराणामवयवसामान्यानामेकदेशसाधर्म्याणां योगः सम्बन्धः, सा इह ग्रन्थे [शास्त्रे] उपमा मता । तर्हि मुखं कमलमिवेतिवत् कुमुदमिवेत्यपि स्यादत आह—प्रसिद्धेरिति । प्रसिद्धेर्लोकप्रसिद्धेरनुरोधेन पुरस्कारेण । तथा च कुमुदमुखयोरुपमा न लोकप्रसिद्धेति दोषः ।

एकाभिधीयमाने स्यात्तुल्ये धर्मे पदार्थयोः ।
प्रतीयमानेऽप्यपरा द्विविधापि च सा त्रिधा ॥ ६ ॥
पदवाक्यप्रपञ्चाख्यैर्विशेषैरुपपद्यते ।
पृथगष्टविधत्वेन ताश्चतुर्विंशतिः पुनः ॥ ७ ॥

एक प्रकार की उपमा दोनों पदार्थों के समान धर्म का अभिधान करने पर होती है और दूसरी प्रतीयमान होने पर । पद, वाक्य और प्रपञ्चों की विशिष्टता से दो प्रकार की उपमा होने पर भी तीन प्रकार की होती है । फिर से उनके अलग-अलग आठ भेद होने से वह चौबीस प्रकार की होती है ॥ ६–७ ॥

स्व० भा०—सर्वप्रथम अभिधेयता तथा प्रतीयमानता के आधार पर दो भेद उपमा के किये गये हैं । इसका अभिप्राय यह है कि कहीं सामान्यता का वाचन शब्दों द्वारा पृथक् रूप से कर दिया जाता है और कहीं यह भाव गम्य होता है । इसके पश्चात् पद, वाक्य तथा दोनों के सम्मिलित रूप आकारों के अनुसार भी उपमा के तीन भेद अलग से किये गये हैं । इनमें से प्रत्येक के आठ-आठ भेद होने से सब मिलकर चौबीस भेद होते हैं ।

इहाभिधीयमानार्थप्रतीयमानार्थविषयतयोपमा द्विधा । सापि पदवाक्यप्रपञ्चभेदात्त्रिधा । तासां त्रिधाभूतानां प्रत्येकमष्टविधत्वेन चतुर्विंशतिप्रकारोपमेत्याह—पदेत्यादि ॥

पदोपमाया अष्टविधत्वमाह—

समासात्प्रत्ययाच्चैव द्विविधा स्यात्पदोपमा ।
या समासोपमा तत्र चतुर्धा साभिपद्यते ॥ ८ ॥
इवार्थान्तर्गतेरेका सामान्यान्तर्गतेः परा ।
अन्तर्भूतोभयार्थान्या सान्या सर्वसमासभाक् ॥ ९ ॥

पदोपमा की अष्टप्रकारता को कहा जा रहा है—
पदोपमा (१) समास तथा (२) प्रत्यय के कारण दो प्रकार की होती है । इनमें जो समासो-

पमा हैं वह चार प्रकार की हो जाती है। इनमें एक तो 'इव' का अर्थ अन्तभूंत होने के कारण, दूसरी सामान्य का अन्तर्भाव होने के कारण, दूसरी उभयार्थ अन्तभूंत होने से और उसके अतिरिक्त सम्पूर्णसमास वाली है ॥ ८-९ ॥

समासादिति। समासोपमा इवार्थेत्यादिना चतुर्विधा।

तास्वन्तर्भूतेवार्था यथा—

'मुखमिन्दुसुन्दरं ते बिसकिसलयकोमले भुजालतिके।
जघनस्थली च सुन्दरि तव शैलशिलाविशालेयम् ॥ १ ॥'

अत्र इन्दुरिव सुन्दरमिन्दुसुन्दरमितीवार्थः 'उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५।' इति समासेनैवोक्तः। एवं बिसकिसलये इव कोमले शैलशिलेव विशालेति। सेयमन्तर्गतेवार्था नाम समासोपमासु पदोपमाभक्तिः ॥

इनमें से अन्तभूंत इवार्था का उदाहरण—

हे सुन्दरि, तुम्हारा मुख चन्द्रमा के सदृश सुन्दर है, दोनों लम्बी भुजायें मृणाल एवं पल्लव के सदृश कोमल हैं और यह जघनस्थली—नितम्ब, तो पर्वत की शिला की भाँति विशाल हैं ॥१॥

यहाँ 'चन्द्रमा के समान सुन्दर' 'इन्दुसुन्दर' है। इस प्रकार इव का अर्थ 'उपमानानि सामान्यवचनैः' २।१।५५॥ इस नियम के अनुसार समास के द्वारा कहा गया है। इसी भाँति 'विसकिसलय की भाँति कोमल' तथा 'शैलशिला की भाँति विशाल' भी है। यही है अन्तर्गतेवार्था नामक पदोपमा का विभाग जो समासोपमा में है।

स्व० भा०—इस श्लोक में 'इव' का अर्थ तो निकल रहा है, किन्तु पद कहीं दृष्टिगत नहीं होता। इसका अर्थ समास के कारण अन्तभूंत है। यह समास 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (२।१।५५) सूत्र के अनुसार हुआ है, जिसका अर्थ है कि उपमान वाचक सुबन्त का सामान्य—समान धर्म—वाचक शब्द के साथ समास होता है।

उदाहरण में 'इन्दु', 'विस-किसलय' और 'शैलशिला' ये उपमान हैं, क्रमशः 'सुन्दर', 'कोमल' तथा 'विशाला' साधारणधर्म हैं। इनका उक्त नियम के अनुसार समास हुआ है। मुख, भुजालता और जघनस्थली उपमेय हैं। उपमेय, उपमान तथा साधारणधर्म के होने पर समास के कारण वाचक अन्तभूंत हो गया है।

यह श्लोक रुद्रट के काव्यालंकार से उद्धृत है। (द्रष्टव्य, वही ८।१८॥) वहीं समासोपमा के प्रथम भेद के उदाहरण के रूप में इसका उल्लेख है। उस प्रथम भेद का लक्षण इस प्रकार है—

सामान्यपदेन समं यत्र समस्येत तूपमानपदम्।
अन्तर्भूतेवार्था सात्र समासोपमा प्रथमा ॥ वही ८।१७ ॥

उक्त लक्षण यहाँ भी पूर्णतः संगत है।

मुखमित्यादि। हे सुन्दरि, तव मुखं चन्द्रवत्सुंदरम्, तव भुजालतिके बिसकिसलयकोमले मृणालपल्लववत्कोमले, तव जघनस्थली शैलपाषाणवद्दीर्घा चेति पूर्वापेक्षया, वाक्यसमासौ वा। इवार्थस्तुल्यता। भक्तिर्विभागः। 'भक्तिर्विभागे सेवायाम्' इति मेदिनीकारः।

अन्तभूंतसामान्या यथा—

'चन्दसरिसं मुहं से अमअसरिच्छो अ मुहरसो तिस्सा।
सकअगहरहसुज्जल चुम्बणअं कस्स सरिसं से ॥ २ ॥'

[चन्द्रसदृशं मुखमस्या अमृतसदृक्षश्च मुखरसस्तस्याः।
सकचग्रहरभसोज्ज्वलचुम्बनकं कस्य सदृशं तस्याः॥]

अत्र चन्द्रेण सदृश चन्द्रसदृशं मुखम्, अमृतेन सदृक्षोऽमृतसदृक्षो मुखरस इति समासे सुन्दरमधुरादिसामान्यशब्दप्रयोगो न श्रूयते प्रतीयते च सदृगादेर्द्योतकादिति सामान्यधर्मस्य सौन्दर्यमाधुर्यादेरुपमानप्रसिद्धस्योपमेये समासेनैव प्रतिपादितत्वादियमन्तर्भूतसामान्या नाम समासोपमासु पदोपमाभक्तिः॥

अन्तर्भूतसामान्या का उदाहरण—

इस सुन्दरी का मुख चन्द्रमा के समान और अधररस अमृत के समान है। फिर भला केश पकड़कर वेगपूर्वक किया गया उसका उज्ज्वल चुम्बन किसके सदृश होगा?॥ २॥

यहाँ चन्द्रमा के सदृश को 'चन्द्रसदृश मुख' अमृत के सदृश को 'अमृतसदृक्ष' मुखरस कहा गया है। यहाँ किये गये समास में सुन्दर, मधुर आदि सामान्यवाचक शब्दों का प्रयोग सुनाई नहीं पड़ता, केवल सदृश आदि द्योतक पदों से प्रतीत भर होता है। इस प्रकार सामान्य धर्म सौन्दर्य, माधुर्य आदि का जो उपमान में प्रसिद्ध हैं, उपमेय में समास के द्वारा ही प्रतिपादन किये जाने से, यह अन्तर्भूतसामान्या नाम का समासोपमा में पदोपमा नामक भेद है।

स्व० भा०—यहाँ प्रतिपाद्यविषय पूर्णतः स्पष्ट है। पहले भेद की अपेक्षा इसमें अन्तर यह है कि वहाँ 'वाचक' पद का अभाव था और यहाँ साधारण धर्म का है।

चन्द्र इति। **'चन्द्रसदृशं मुखमस्या अमृतसदृक्षश्च मुखरसस्तस्याः। सकचग्रहरभसोज्ज्वलचुम्बनं कस्य सदृशं तस्याः॥'** कश्चिन्मनोविनोदार्थं वयस्याय कान्ताप्रकर्षं कथयति—चन्द्रेति। कचग्रहे केशपाशग्रहणे यो रभस आवेशस्तेन सहितमुज्ज्वलं मनोज्ञं चुम्बनम्। इहान्तर्भूतं समासेन बोधितं सामान्यसाधर्म्यं सौकुमार्यादिकमित्यन्तर्भूतसामान्या। न श्रूयते चेन्नास्त्येवेत्यत आह—प्रतीयत इति। द्योतकादितीति। सादृश्यस्य सप्रतियोगिकतया तत्प्रत्यायकत्वमेव द्योतकत्वमित्यर्थः। उपमानेति। उपमीयते सादृश्यमानीयतेऽनेनोत्कृष्टगुणेनान्यदित्युपमानमित्यर्थः। उपमेय इति। उपमीयते न्यूनगुणं यत्तदुपमेयमित्यर्थः।

अन्तर्भूतोभयार्था यथा—

'कमलकरा रम्भोरूः कुवलअणअणा मिअङ्कवअणा सा।
कहं णु णवचम्पअङ्गी मुणालबाहू पिआ तवइ॥ ३॥'

[कमलकरा रम्भोरूः कुवलयनयना मृगाङ्कवदना सा।
कथं नु नवचम्पकाङ्गी मृणालबाहुः प्रिया तपति॥]

अत्र कमलमिव ताम्रौ, रम्भे इव पीवरौ, कुवलयमिव श्यामे, मृगाङ्क इव प्रेक्षणीयं, नवचम्पकमिव गौरम्, मृणालमिव कोमलौ करौ, ऊरू, नयने, वदनम्, अङ्गम्, बाहू यस्याः सा तथोक्तेत्यन्यपदार्थेन समासेनैव द्योतकसामान्ययोरुक्तत्वादियमन्तर्भूतेव सामान्या नाम समासोपमासु पदोपमाभक्तिः॥

अन्तर्भूतोभयार्था का उदाहरण—

कमल के सदृश हाथों वाली, कदलीस्तम्भ के तुल्य जघनों वाली, नीलोत्पल सदृश नयनों

वाली, चन्द्रमा के सदृश मुख वाली वह नवचम्पक दल के अवयवों वाली और मृणाल की भाँति भुजाओं वाली प्रेयसी भला जलाती कैसे है ? ॥ ३ ॥

यहाँ कमल के सदृश लाल, रम्भा के सदृश मोटे, नीलोत्पल तुल्य श्यामल, चन्द्रमा के सदृश दर्शनीय, नवचम्पा के सदृश गोरे तथा मृणाल के सदृश कोमल, दोनों हाथ, दोनों जघन, दोनों नेत्र, मुख, अवयव तथा दोनों भुजायें हैं जिसकी वह उस प्रकार से वर्णित है। अतः यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान (बहुव्रीहि) समास के द्वारा ही वाचक तथा साधारण धर्म का कथन होने से यह अन्तर्भूत सी सामान्य नाम वाली समासोपमा में पदोपमा नामक विभाग है।

स्व० भा०—भोजराज ने उक्त श्लोक में अन्तर्भूतोभयार्था का उदाहरण दिया है। इसमें प्रयुक्त पदों—कमलकरा, रम्भोरू आदि में—केवल उपमान और उपमेय समस्त हुये हैं। 'वाचक' तथा 'साधारणधर्म' का अभिधान करने वाले पदों का अभाव है, यद्यपि उनका अर्थ बहुव्रीहि समास करने पर प्रकट हो जाता है। वृत्ति में प्रयुक्त 'अन्यपदार्थेन समासेन' द्वारा बहुव्रीहि समास ही अभीष्ट है। यह भाव 'अनेकमन्यपदार्थे' (२।२।२४॥) सूत्र से स्पष्ट है।

ऊपर तो अन्तर्भूतोभयार्था का उदाहरण कहा गया है, किन्तु अन्त में वृत्ति में 'अन्तर्भूतेव सामान्या नाम' कहा गया है। यह तो स्पष्ट है कि सामान्य-साधारणधर्म-अन्तर्हित-सा ही होता है क्योंकि वस्तुतः तो वह प्रकट हो ही जाता है, शब्दशः अभिहित न होने के कारण 'लुप्त'-सा प्रतीत होता है।

भोज की वृत्ति के इस अंश पर रुद्रट का प्रभाव स्पष्ट है। उन्होंने भी समासोपमा के एक भेद का लक्षण इस प्रकार दिया है।

उपमानपदेन समं यत्र समस्येव चोपमेयपदम्।
अन्यपदार्थे सोदितसामान्येवाभिधेयान्या ॥ काव्या० ८।२१ ॥

कमलेत्यादि। 'कमलकरा रम्भोरुः कुवलयनयना मृगाङ्कवदना सा। कथं नु नवचम्पकाङ्गी मृणालबाहुः प्रिया दहति ॥' इति। ईदृशी कान्ता कथं नु (न) दहति तापयति किंतु तापयत्येव। रम्भे कदल्याविवोरू यस्याः सा। नवचम्पकं चम्पककलिका। इह कमलमिव ताम्रौ करौ यस्याः सेत्यादाविवशब्दो द्योतकः सामान्यं ताम्रत्वादिकं तयोश्च समासेनैवोक्तयान्तर्भूतोभयार्थेयम्।

सर्वसमासा यथा—

'शरदिन्दुसुन्दरमुखी कुवलयदलदीर्घलोचना सा मे।
दहति मनः कथमनिशं रम्भागर्भाभिरामोरुः ॥ ४ ॥'

अत्रोपमानोपमेयधर्माणामिन्दुसुन्दरादिपदैरिवार्थस्य समासेनैवाभिधानम्, सर्वं समासेऽस्यामिति सर्वसमासोपमानामेयं समासोपमासु पदोपमाभक्तिः ॥

सर्वसमासा का उदाहरण—

शरच्चन्द्र के सदृश सुन्दर मुखवाली, नीलोत्पलदल की भाँति विशाल लोचनों वाली तथा कदली-स्तम्भों के समान अभिराम जघनों वाली वह सुन्दरी दिन रात मेरे मन को दग्ध कैसे करती रहती है ? ४ ॥

यहाँ उपमान, उपमेय तथा धर्म का इन्दु, सुन्दर आदि पदों द्वारा अर्थ का समास से ही अभिधान किया गया है। 'सब कुछ समास में ही है इसके' ऐसा विग्रह करने पर (अभीष्ट सिद्ध होने से) सर्वसमासोपमा नाम का यह समासोपमा में पदोपमा नामक भेद है।

स्व० भा०—भोज ने इसमें सर्वसमासा नाम का पदोपमाभेद माना है। इससे सामान्य अर्थ यह निकलता है कि चारो अपेक्षित तत्त्व-उपमेय, उपमान, वाचक तथा धर्म-समस्त होंगे। किन्तु यहाँ तो वाचक पद का सर्वत्र अभाव है। अतः यह लक्षण उपपन्न नहीं होगा। उसी का विवाद समाप्त करने के लिये भोज ने वृत्ति में इसका विग्रह-'सर्वं समासेऽस्याम्' किया है। इसके आधार पर 'शरदिन्दुरिव सुन्दरं मुखं यस्याः सा' इसके सदृश अर्थ होगा जो समास के कारण ही व्यक्त हो रहा है। यही प्रकार अन्यपदों के साथ भी लागू होता है। इसकी भी पूर्ण अभिव्यक्ति रुद्रट के द्वारा दिये गये लक्षण से हो जाती है—

पदमिदमन्यपदार्थे समस्यतेऽथोपमेयवचनेन।
यस्यां तु सा द्वितीया सर्वसमासेति संपूर्णा ॥ वही, ८।१९ ॥

शरदित्यादि। **ईदृशी सा स्त्री मम मनः कथमनिशं दहति। कीदृशी। शरच्चन्द्ररम्यमुखी नीलनलिनपत्त्रदीर्घनेत्रा कदलीमध्यसुन्दरोरुश्च। इहोपमानमिन्दुः, उपमेयं मुखम्, तुल्यधर्मः सुन्दरत्वम्। एवमन्यत्रापि। शरदिन्दुरिव सुन्दरं मुखं यस्याः सा इतीवार्थस्यापि समासाभिधेयता। सर्वः समासो यस्यामित्यादिविग्रहे विवक्षितार्थलाभ इत्यत आह**—सर्वमिति ॥

प्रत्ययोपमापि पदोपमाभेद एव न त्वधिकेत्याह—

या प्रत्ययोपमेत्युक्ता काव्यविद्भिः पदोपमा।
चतुर्धा भिद्यते सापि प्रत्ययार्थप्रभेदतः ॥ १० ॥

येति। **पदप्रत्यययोरनुबोधनेऽन्योन्यापेक्षिततयोपमायामपि तथेति न भिन्नता ॥**

प्रत्ययो ह्युपमेये स्यादुपमानेऽपि कश्चन।
तत्सामान्ये भवेत्कश्चिदिवार्थे कश्चिदिष्यते ॥ ११ ॥
तेषां वशात्तदुपमा भवेत्तद्व्यपदेशभाक्।
उदाहरणमेवास्या रूपव्यक्त्यै निदर्श्यते ॥ १२ ॥

काव्यरसिकों के द्वारा जो पदोपमा प्रत्ययोपमा नाम से कही गई है, वह भी प्रत्यय के अर्थभेद के कारण चार भागों में विभक्त है। कहीं कोई प्रत्यय उपमेय अर्थ में, कोई उपमान अर्थ में, कोई सामान्य अर्थ में तथा कोई 'इव' के अर्थ से अभीष्ट है। उनके कारण ही वह-वह उपमा उन-उन नामों से अभिहित होती है। इसके स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिये ही उदाहरण का निर्देश किया जा रहा है ॥ १०-१२ ॥

स्व० भा०—भोज ने प्रत्ययोपमा का सूक्ष्म निरीक्षण करके भेदोपभेद का निरूपण किया है। रुद्रट के अनुसार प्रत्ययोपमा का लक्षण यह है—

उपमानात्सामान्ये प्रत्ययमुत्पाद्य या प्रयुज्येत।
सा प्रत्ययोपमा स्यादन्तर्भूतेवशब्दार्था ॥ काव्या० ८,२३ ॥

तत्र प्रत्ययस्योपमेयस्यार्थे यथा—

'हंसो ध्वाङ्क्षविरावी स्यादुष्ट्रक्रोशी च कोकिलः।
खरनादी मयूरोऽपि त्वं चेद्वदसि वाग्मिनि ॥ ५ ॥'

अत्र 'कर्तर्युपमाने ३।२।७९' इत्यनेन यदोपमाने उपपदे ध्वाङ्क्ष इव विरौतीति सामानाधिकरण्येन कर्तर्येव प्रत्ययस्तदोपमेयस्यार्थे भवति। एवमुष्ट्रक्रोशीखरनादीत्येतयोरपि द्रष्टव्यम्। सेयमुपमेयार्थप्रत्ययानाम प्रत्ययोपमासु पदोपमाभक्तिः॥

इनमें से प्रत्यय के उपमेय के अर्थ में प्रयुक्त होने पर (प्रत्ययोपमा का उदाहरण)—

हे प्रशस्त वचनों वाली सुन्दरि, तुम्हारे बोल देने से (तुम्हारी वाणी की तुलना में) हंस की ध्वनि तो कौवे जैसी, कोयल की ऊँट के सदृश और मयूर की भी गधे की तरह लगती है॥ ५॥

यहाँ 'कर्तर्युपमान' (३।२।७९) इस नियम के अनुसार जब उपमान के उपपद रहते "ध्वांक्ष की भाँति आवाज करता है" इस प्रकार के अर्थ में सामानाधिकरण्य के कारण कर्त्ता अर्थ में ही प्रत्यय है, तब वह उपमेय के ही अर्थ में होता है। इसी प्रकार उष्ट्रक्रोशी, खरनादी इन दोनो में देखना चाहिये। तो यह उपमेयार्थप्रत्यया नामक प्रत्ययोपमा में पदोपमा का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ 'विरावी', 'क्रोशी' तथा 'नादी' पदों का प्रयोग है। इनमें 'णिनि' प्रत्यय लगा है। प्रायः यह प्रत्यय ताच्छील्य-स्वभाव-अर्थ में होता है, जिन स्थलों में दूसरे अर्थों में होता है, इनमें से प्रस्तुत उदाहरण एक प्रकार के हैं। कौवे, ऊँट तथा खर के सदृश आवाज़ करना हंस, कोकिल तथा मयूर का स्वभाव नहीं है। किन्तु 'णिनि' प्रत्यय का प्रयोग यहाँ विशिष्ट दशा में हुआ है। यह प्रयोग पाणिनि के 'कर्तरि उपमाने' (३।२।७९) सूत्र के अनुसार हुआ है। इसका अर्थ है कि जब उपमान उपपद के रूप में आता है तब णिनि प्रत्ययान्त पद उसी दशा में ताच्छील्य के अतिरिक्त अर्थ में प्रयुक्त होता है जब वह कर्त्ताकारक के अर्थ में हो। यहाँ तो स्पष्ट है कि ध्वांक्षपद उपमान है, वही उपपद के रूप में आ रहा है। 'विरावी' पद भी कर्त्ता में-प्रथमा विभक्ति में-है, इसलिये भी कर्त्ता में है। कर्त्ता में होने का कारण है इसका 'ध्वांक्ष' पद के सामानाधिकरण्य में होना। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कर्त्ता के लिये ही 'णिनि' का प्रयोग हुआ है। कर्त्ताकारक में यहाँ 'ध्वांक्ष' है जो उपमान है, यह उपमेय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। जहाँ कर्त्ता अर्थ में नहीं होता वहाँ णिनि का प्रयोग नहीं होगा—जैसे 'अपूपानिव भक्षयति माषान्' इसी प्रकार उपमान अर्थ न होने पर भी नहीं होगा जैसे—'उष्ट्रः क्रोशति' में। इस पद मे उपमान तो स्वयं शब्दशः कथित है, किन्तु उपमेय का अर्थ 'णिनि' प्रत्यय से ही प्रकट हो रहा है। अतः यहाँ प्रत्यय के द्वारा उपमेय का कथन होने से उपमानोपमेय अर्थात् औपम्य-भाव स्वयं प्रकट हो जाता है।

प्रत्यय इति। प्रत्ययार्थानां भेदादित्यर्थः। अस्फुटत्वेनाह—उदाहरणमिति। रूपव्यवस्थै स्वरूपज्ञानाय। हंस इत्यादि। हे वाग्मिनि, प्रशस्तं वचनं यस्याः। यदि त्वं वदसि तदा हंसो ध्वाङ्क्षविरावी काक इव विरौति, कोकिल उष्ट्रक्रोशी उष्ट्र इव क्रुश्यति शब्दायते, मयूरः खरनादी गर्दभ इव नदति। 'ध्वाङ्क्षात्मघोषपरभृद्बलिभुग्वायसा अपि।' इत्यमरः। 'रासभो गर्दभः खरः' इति च। इह ध्वाङ्क्ष इव विरौतीत्यादौ 'कर्तर्युपमाने ३।२।७९' इति णिनिप्रत्ययः उपमान उपपदे कर्तरि विहित उपमेयस्यार्थे भवति सामानाधिकरण्यानुरोधात्॥

प्रत्ययस्योपमानार्थे यथा—

'पूर्णेन्दुकल्पवदना मृणालीदेश्यदोर्लता।
चक्रदेशीयजघना सा स्वप्नेऽपि न दृश्यते॥ ६॥'

अत्र 'पूर्णेन्दुरिव पूर्णेन्दु'रित्यादिकयोपचारवृत्त्या यद्यपि पूर्णेन्दुप्रभृतय उपमानशब्दा अप्युपमेयेषु वदनादिषु वर्तन्ते, तेभ्यश्च यद्यपि स्वार्थ एव स्वार्थिकाः कल्पबादयो भवन्ति, तथापि ते शब्दशक्तिस्वाभाव्याद् गुणभूतनुपमानार्थमात्रं ब्रुवते यथा शुक्लादिभ्यस्तरबादयः। तथा ह्ययं च शुक्लोऽयमनयोः शुक्लतर इत्युक्त शौक्ल्यस्यैव प्रकर्षो गम्यते न शौक्ल्यवतः। सेयनुपमानार्थप्रत्यया नाम प्रत्ययोपमासु पदोपमाभक्तिः ॥

प्रत्यय के उपमान के अर्थ में होने पर (प्रत्ययोपमा का) उदाहरण—

पूर्णचन्द्र के सदृश मुखवाली, मृणालतन्तु के सदृश भुजलतावाली और चक्रसदृश जांघों वाली वह तो स्वप्न में भी नहीं दृष्टिगोचर होती है ॥ ६ ॥

यहाँ "पूर्णचन्द्र के सदृश पूर्णचन्द्र है", इत्यादि प्रकार की उपचारवृत्ति-गौणी सादृश्यवृत्ति से यद्यपि पूर्णेन्दु प्रभृति उपमान वाचक शब्द भी उपमेय वदन आदि में विद्यमान हैं और उनसे यद्यपि अपने अर्थ में ही स्वार्थिक प्रत्यय कल्पप् आदि हुआ करते हैं तथापि वे शब्दशक्ति के स्वाभाव्य से गुण के रूप में विद्यमान उपमान अर्थ को ही कहते हैं, जैसा कि शुक्ल आदि से तरप् आदि प्रत्यय लग कर करते हैं। जैसे कि 'यह शुक्ल है' और 'यह इन दोनों में शुक्लतर है' इस प्रकार कहने से शुक्लता की ही प्रकृष्टता ज्ञात होती है, न कि शुक्लतासम्पन्न गुणी की। अतः यह उपमानार्थप्रत्यया नामक प्रत्ययोपमा में पदोपमा का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ यह प्रदर्शित किया गया है कि इस प्रकार उपमान के अर्थ में प्रत्ययों का प्रयोग होता है। कल्पप्, देश्य तथा देशीयर् आदि कुछ प्रत्ययों से इस प्रकार का कार्यसम्पादन होता है। पाणिनि के 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' (५।३।६७ सूत्र के अनुसार ईषद् अर्थ में इनका प्रयोग होता है। जैसे 'विद्वत्कल्पः' का अर्थ है जो विद्वान् से बस थोड़ा-सा कम हो—अर्थात् पूर्णविद्वान् तो न हो किन्तु विद्वान् के सदृश अवश्य हो। इसी प्रकार 'विद्वद्देश्य' तथा 'विद्वद्देशीयः' पदों से भी अर्थ ज्ञात होता है। प्रस्तुत उदाहरण में इन्हीं तीनों प्रत्ययों का प्रयोग तथा वृत्ति में संगति दिखलाई गई है। वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि पूर्णचन्द्रमा के सदृश तो पूर्णचन्द्रमा ही होता है, कोई और पदार्थ नहीं तथापि लक्षणावृत्ति से, गौण रूप से—सादृश्य अर्थ में—इनकी उपस्थिति वदन आदि उपमेय शब्दों में देखी जाती है। इसी प्रकार यद्यपि स्वार्थिक प्रत्ययों का प्रयोग जिन शब्दों के साथ किया जाता है, उनसे उन्हीं का अर्थ अभीष्ट होता है, जैसे 'हरिण' के ही अर्थ में 'हरिणक' आदि, तथापि प्राकृतिकरूप से शब्दशक्ति के कारण वे गुण रूप अर्थ का उपमान के ही अर्थ में प्रकटन कराते हैं। जैसे किसी को यदि 'शुक्लतर' कहते हैं तो उसके गुण का ही उत्कर्ष ज्ञात होता है; न कि पदार्थ का। इसी प्रकार पूर्णेन्दु, मृणाली, चक्र आदि के साथ प्रयुक्त कल्पप्, देश्य तथा देशीयर् प्रत्यय उनकी उपमानता सिद्ध करते हैं। अर्थात् इनका अर्थ निकलता है कि वदन, दोर्लता और जघन क्रमशः चन्द्रसदृश आह्लादक, कोमल तथा पृथुल हैं। जो चन्द्र आदि पद चन्द्र आदि का ही अर्थ प्रकट नहीं करते उन्हीं से इन कल्प आदि प्रत्ययों के द्वारा सादृश्यभाव दिखलाकर उनकी उपमानता सिद्ध की गई है।

पूर्णेत्यादि। सा स्वप्नेऽपि न दृश्यते। कीदृशी। पूर्णेन्दोरीषदसमाप्तं वदनं यस्याः सा। मृणाल्या ईषदसमाप्ता दोर्लता यस्याः सा। चक्रादीषदसमाप्तं जघनं यस्याः सा। इह कल्पेत्यादावीषदसमाप्तौ 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५।३।६७' इति कल्प-

न्वादयः। इह पूर्णेन्द्वादय उपचारेणोपमेयवृत्तयस्तत्समभिव्याहृतरूपबादिना स्वार्थिकप्रत्ययेन चोपमानार्थातिशय एवाभिधीयत इति प्रत्ययस्योपमानार्थता। इदमेवाह—शब्देति। गुणभूतमिति। अतिशयस्य प्रत्ययार्थत्वेन तन्निरूपकत्वमेव गुणत्वमित्यर्थः॥

सामान्यार्थप्रत्ययेन यथा—

'सूर्यीयति सुधारश्मिर्मन्मथोऽतिमृतायते।
मृतस्य कान्ताविरहे स्वर्गोऽपि नरकीयति॥ ७॥'

अत्रोपमानादाचार (३।१।१०) इत्यादिभिः सूर्यादिभ्यः क्यजादय आचारलक्षणक्रियाविशेष उत्पद्यमाना उपमानोपमेययोः सामान्य एवोत्पद्यन्त इति सेयं सामान्यार्थप्रत्ययानाम प्रत्ययोपमासु पदोपमाभक्तिः॥

प्रत्यय द्वारा सामान्य अर्थ को प्रकट करने पर (सामान्यार्थप्रत्यया) का उदाहरण—

अपनी प्रियतमा से वियुक्त विरही के लिये तो चन्द्रमा सूर्य-सा तपता है, कामदेव उसके लिये और भी अधिक मृत की भाँति प्रहार करता है और वियोग में मर जाने पर तो स्वर्ग भी नरक के सदृश कष्टकारक है॥ ७॥

यहाँ 'उपमानादाचारे' (३।१।१०) इत्यादि सूत्रों द्वारा सूर्य आदि पदों से क्यच् आदि प्रत्यय आचार-लक्षण क्रियाविशेष में उत्पन्न होते हुये उपमान तथा उपमेय के साधारण धर्म के रूप में ही उत्पन्न हो रहे हैं। इस प्रकार यह सामान्य प्रत्यया नाम का प्रत्ययोपमा में पदोपमा का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ प्रत्ययों द्वारा 'साधारणधर्म'—सामान्य—के प्रत्यायन कर्म का उदाहरण दिया गया है। जहाँ आचार अर्थ में उपमान का भाव प्रकट करने वाले सूर्य से 'उपमानादाचारे' (३।१।१०) सूत्र से क्यच्, अतिमृत से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) सूत्र से क्यङ् और 'अधिकरणाच्च' वार्तिक से नरक पद से क्यच् प्रत्यय किये गये हैं। सभी उपमान अर्थ में संज्ञा पदों से लगकर क्रिया-विशेष का आचरण कराते हैं। ये सभी नामधातु प्रकरण के प्रत्यय हैं। ये जिनमें लगते हैं उनसे उनके सदृश आचरण करने का अर्थ प्रकट करते हैं। 'सूर्यीयति' का अर्थ होता है 'सूर्य के सदृश आचरण करता है'—सूर्य का गुण है तपाना, अतः 'वह तपाता है' यह भाव व्यक्त किया जा रहा है। चन्द्रमा 'तपता है' और दूसरों को 'तपाता है' यही प्रतिपाद्य है। इस प्रकार जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति-सा आचरण करते दिखलाया जाता है, प्रतिपाद्य विषय सामान्य अर्थात् साधारण धर्म ही होता है। अतः यहाँ चन्द्रमा को सूर्य के सदृश आचरण करता हुआ दिखलाकर उसके भी 'दाहकत्व' रूप साधारण धर्म का प्रकटन इन प्रत्ययों के द्वारा ही कराया गया है।

इवार्थप्रत्ययेन यथा—

'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ ८॥'

अत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः ५।१।११५' इत्यनेन चन्द्रशब्दाच्चन्द्रेण तुल्यं दृश्यत इतीवार्थ एव प्रत्ययो न तु तुल्यक्रियार्थः, अन्यथा दृश्यत इति इवार्थ इव तुल्यक्रियाप्रयोगोऽपि न स्यात्। तदप्रयोगेऽपि च गौरिव गवय इत्यादौ वतिः प्रसज्येत। सेयमिवार्थप्रत्ययानाम प्रत्ययोपमासु पदोपमाभक्तिः॥

इवार्थप्रत्यय के प्रयोग से प्रत्ययोपमा का उदाहरण—

एक ही परमात्मा प्राणी प्राणी में विशेष रूप से स्थित है। वही एकविध होते हुये भी जल में चन्द्रमा की भाँति अनेक दिखाई पड़ता है ॥ ८ ॥

यहाँ 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११५) सूत्र के अनुसार चन्द्रशब्द से 'चन्द्रमा के सदृश दिखाई देता है' इस प्रकार के प्रयोग में 'इव' के अर्थ में ही प्रत्यय है, न कि तुल्यक्रिया के अर्थ में। नहीं तो 'दृश्यते' इस पद का 'इव' के अर्थ की भाँति तुल्यक्रिया का प्रयोग भी नहीं होता। उसका प्रयोग न होने पर भी 'गौरिव गवयः'—गाय के सदृश ही नीलगाय है—इत्यादि में भी 'वति' प्रत्यय प्रसक्त हो सकता था। अतः यह इवार्थप्रत्यया नाम का प्रत्ययोपमा में पदोपमाभेद हैं।

स्व० भा०—कई प्रत्यय तथा अन्य प्रकार के शब्द हैं, जिनसे 'इव' का अर्थ प्रकट हो सकता है। दण्डी ने अपने काव्यादर्श में ऐसे शब्दों की एक अच्छी तालिका दी है—

इववद्वायथाशब्दाः समाननिभसन्निभाः।
तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ॥
प्रतिपक्षिप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनीकविरोधिनः।
सदृक्सदृशसंवादिसजातीयानुवादिनः ॥
प्रतिविम्बप्रतिच्छन्दसरूपसमसम्मिताः।
सलक्षणसदृक्षाभसपक्षोपमितोपमाः ॥
कल्पदेशीयदेश्यादिः प्रख्यप्रतिनिधी अपि।
सवर्णतुलितौ शब्दौ ये चान्यूनार्थवादिनः ॥
समासश्च बहुव्रीहिः शशाङ्कवदनादिषु।
स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति ॥
आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति।
विडम्बयति सन्धत्ते हसतीर्ष्यत्यसूयति ॥
तस्य मुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्तिं विलुम्पति।
तेन सार्द्धं विगृह्णाति तुलां तेनाधिरोहति ॥
तत्पदव्यां पदं धत्ते तस्य कक्षां विगाहते।
तमन्वेति अनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति ॥
तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यवाचकाः।
उपमायामिमे प्रोक्ता कवीनां बुद्धिसौख्यदाः ॥ २।५७-६५ ॥

दण्डी द्वारा निर्दिष्ट इन औपम्यवाचक शब्दों में से कुछ का निरूपण हो चुका है और कुछ का किया जायेगा। यहाँ पर 'वति' प्रत्यय का प्रयोग वाचक-पद 'इव' के अर्थ में किया गया है। यह प्रयोग पाणिनि के सूत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः (५।१।११५)' के अनुसार किया गया है। इसका अर्थ यह है कि यदि क्रिया समान हो तो उपमान के साथ 'वति' का संयोग होता है। किन्तु भोजराज के मतानुसार इस सूत्र के आधार पर ही उपर्युक्त उदाहरण में चन्द्रमा से तुल्यता दिखाना लक्ष्य है, उपमेय तथा उपमान में साधर्म्य या सामान्य को दिखाना अभीष्ट है, न कि क्रिया की समानता। यदि 'वति' का प्रयोग क्रिया में साम्य प्रदर्शित करने के लिये होता, तो क्रिया ग्रहण की आवश्यकता ही नहीं होती। यहाँ 'इव' का प्रयोग नहीं हुआ है, उसी के अभाव की पूर्ति 'वति' से हो रही है। इसी से सिद्ध होता है कि 'वति' का प्रयोग 'इव' के ही लिये हुआ

है क्रिया के लिये नहीं, अन्यथा 'दृश्यते' क्रिया का भी प्रयोग 'इव' की भाँति न होता। यदि यहाँ क्रिया का प्रयोग न किया गया होता, तो भी 'गौरिव गवयः' की भाँति 'वति' प्रत्यय के सहारे उपमानोपमेय भाव तथा वस्तुगुण प्रकट हो गया होता। 'हाँ, 'दृश्यते' क्रिया का प्रयोग न होने से उसकी उपस्थिति से होने वाला सौन्दर्य कुछ कम होता।

सूर्यीयतीत्यादि। चन्द्रः सूर्यीयति सूर्यं इवाचरति कामोऽतिमृतायतेऽतिमृतवद्भवति। प्रियावियोगे मृतस्य पुनः स्वर्गोऽपि नरकीयति नरक इवाचरति। सूर्यीयतीत्यत्र 'उपमानादाचारे ३।१।१०' इति क्यच्। अतिमृतायत इत्यत्राचारार्थे 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च ३।१।११' इति क्यङ्। नरकीयति इत्यत्र 'अधिकरणाच्च २६६४ सू. वा.' इति क्यच्। इहाचार आचरणक्रिया सा चोपमानोपमेयसाधारणीति सामान्यप्रत्यया। एक इत्यादि। एक एव भूतात्मा परमात्मा प्रतिदेहमवस्थितः सन् एकधा बहुधा चैकानेकप्रकारेण जलचन्द्रवद् दृश्यते। इह जलचन्द्रवद् दृश्यत इत्यत्रेवार्थे सादृश्ये वतिर्न तु तुल्यः क्रियते तदा दृश्यत इति पदेन वतिना च समर्थतया पौनरुक्त्यं स्यात्। न भवतु तुल्यक्रियाप्रयोगः, ततः किमनिष्टमत आह—तदिति। गौरिव गवय इत्यादौ क्रियाया अप्रयोगात्तुल्यक्रियाप्रयोगाभाव इति भावः॥

वाक्योपमाया अष्टविधत्वमाह—

वाक्योपमा तु या तत्र द्वैविध्यं सापि गच्छति।
एका पदार्थयोः साम्ये परा वाक्यार्थयोर्मिथः॥ १३॥
आद्या पूर्णा च लुप्ता च लुप्तपूर्णा तथैव च।
पूर्णलुप्तेति चाख्याता कविमुख्यैश्चतुर्विधा॥ १४॥
पूर्णा सामान्यधर्मस्य प्रयोगे द्योतकस्य च।
उपमानस्य च भवेदुपमेयस्य चैव हि॥ १५॥

वहाँ उपमा-भेदों में जो वाक्योपमा है वह भी दो प्रकार की हो जाती है। इनमें से एक भेद तो पदार्थ—पद तथा अर्थ दोनों के साम्य के होने पर तथा दूसरा परस्पर वाक्यार्थों के समान होने पर होता है। इनमें प्रथम प्रकार वाली वाक्योपमा कविप्रवरों द्वारा पूर्णा, लुप्ता, लुप्तपूर्णा तथा पूर्णलुप्ता नामों से चार प्रकार की कही गई है। जो पूर्णा नामक उपभेद है वह तब होगा जब कि साधारणधर्म, द्योतक, उपमान तथा उपमेय (इन चारों उपमा के घटक तत्त्वों) का पृथक् एवं स्पष्ट प्रयोग हो॥ १३–१५॥

वाक्येति। तत्रोपमायां मिथोऽन्योन्ये साम्य इति यावत्। 'मिथोऽन्योन्ये रहोर्थे च मिथोऽन्योन्यसमुच्चये।' इति मेदिनीकारः। आद्या पदार्थोपमा पूर्णा सामान्यधर्मादिसाकल्यवती। प्रयोग इति सर्वत्रान्वीयते॥

यथा—

'कमलमिव चारु वदनं मृणालमिव कोमलं भुजायुगलम्।
अलिमालेव सुनीला तथैव मदिरेक्षणे कबरी॥ ९॥'

अत्र कमलमृणालालिमालादीनामुपमानद्योतकतुल्यधर्मोपमेयवाचकानां चतु-

र्णामपि पदानां पृथक् पृथक् प्रयोगे पदार्थयोः सादृश्यस्याभिधीयमानत्वादियं पूर्णानाम पदार्थोपमासु वाक्योपमाभक्तिः ॥

जैसे—

हे अरुणनयनोवाली अथवा हे मादकनयनोवाली, तुम्हारा मुख कमल के समान सुन्दर है, तुम्हारी दोनों भुजायें बिसतन्तु की भाँति कोमल हैं और इसी प्रकार केशपाश भी भ्रमरावली की भाँति सुन्दर नीले हैं ॥ ९ ॥

यहाँ कमल, मृणाल, अलिमाला आदि उपमान, द्योतक, साधारणधर्म तथा उपमेय इन चारों के वाचक पदों का पृथक्-पृथक् प्रयोग होने से पद तथा अर्थ दोनों के सादृश्य का शब्दतः अभिधान होने से यह पदार्थोपमाओं में पूर्णा नाम का वाक्योपमा का भेद है ॥ १३–१५ ॥

स्व० भा०—इन्होंने पदार्थोपमा तथा वाक्यार्थोपमा दो भेद करके आगे इनके उपभेदों का निरूपण किया है।

रुद्रट के काव्यालंकार में भी यह उदाहरण वाक्योपमा के प्रथम भेद के प्रसङ्ग में उद्धृत है। वहीं उन्होंने लक्षण भी अत्यल्प शब्दों में दिया है—

वाक्योपमात्र षोढा तत्र त्वेका प्रयुज्यते यत्र।
उपमानमिवादीनामेकं सामान्यमुपमेयम् ॥ वही ८।५ ॥

लोपे सामान्यधर्मस्य द्योतकस्य च योपमा।
प्रतीयमानसादृश्ये द्वयोर्लुप्तेति तां विदुः ॥ १६ ॥

सामान्य धर्म का तथा द्योतक इन दोनों का लोप होने पर भी सादृश्य के प्रतीत हो जाने पर जो उपमा होती है, उसे 'लुप्ता' जाना जाता है ॥ १६ ॥

स्व० भा०— इस लुप्ता नामक उपमा के भेद के उदाहरण का पूर्वार्ध दण्डी के काव्यादर्श (२।३७) में भी मिलता है। वहाँ इस प्रकार की स्थिति में 'तत्त्वाख्यानोपमा' मानी गई है। किन्तु भोज ने इन दशाओं में लुप्तोपमा ही स्वीकार किया है। दण्डी के अनुसार पूरा श्लोक यों है—

न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे।
इति विस्पष्टसादृश्यात तत्त्वाख्यानोपमैव सा ॥ वही २।३७ ॥

कमलमित्यादि। हे मदिरेक्षणे रक्तनेत्रे, तव वदनं पद्ममिव चारु। बाहुद्वयं बिसमिव मृदु। कबरी केशवेशो भ्रमरपंक्तिरिव नीलोऽस्ति। मदिरावद्रक्तमीक्षणं नेत्रं यस्याः सा। 'कबरी केशवेशोऽथ' इत्यमरः। इह कमलमुपमानम्, इवपदं द्योतकम्, चारुपदं तुल्यधर्मोपस्थापकम्, वदनमुपमेयमिति पूर्णता, पदार्थयोः सादृश्यं वाक्यार्थः, सामान्यधर्मादीनां विरहे लोपे लुप्ता तर्हि सर्वलोपे उपमैव न स्यादत आह— प्रतीयमान इति। तथात्वेऽपि प्रसिद्धैव कान्त्यादितुल्यधर्मप्रतीतिरिति भावः॥

यथा—

न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे।
न केसराणि शान्ताया इमास्ता दन्तपङ्क्तयः ॥ १० ॥

अत्र कान्तामुखादावुपमेये पद्मादिविपर्ययज्ञानप्रत्याख्याने नेवादीनामभावेऽपि कान्त्यादिलुप्तधर्मप्रतीतेर्लुप्तानामेयं पदार्थोपमासु वाक्योपमाभक्तिः ॥

जैसे—

यह कमल नहीं, मुख ही है, ये दोनों भ्रमर नहीं, दो नेत्र हैं। ये केसर नहीं हैं अपितु सुन्दरी की दन्तावली है ॥ १० ॥

यहाँ कान्ता के मुख आदि उपमेयों का पद्म आदि विपर्ययज्ञान के द्वारा प्रत्याख्यान हो जाने से 'इव' आदि का अभाव होने पर भी कान्ति आदि लुप्त धर्मों की प्रतीति होने से पदार्थोपमा में यह लुप्ता नाम की उपमा है जो वाक्योपमा का एक भेद है।

स्व० भा०—इस श्लोक में न तो सादृश्यवाचक 'इव' आदि पद ही हैं और न साधारण धर्म के 'कान्ति' आदि पद ही। अतः वाचक तथा धर्म दोनों ही लुप्त हैं। लोप होने पर भी कान्ति आदि साधारण धर्म की प्रतीति हो जाती है, यद्यपि वाचक पद न होने से उनके ये अभिधेय अर्थ नहीं होंगे। वस्तुतः यहाँ पर जो भ्रान्तिमूलक अभिनिवेश है—कमल आदि को निर्णयात्मक स्तर पर मुख आदि समझना है—वह सादृश्यातिशय के कारण होता है। इस प्रकार लुप्त होने पर भी उनका सादृश्य जैसे प्रतीत होता है, वैसे ही सादृश्य का वाचक भी अध्याहृत हो जाता है।

नेत्यादि। इदं न पद्मं किन्तु कान्ताया मुखमेव। न भ्रमरौ किन्तु इमे नेत्रे। न केसराणि किन्तु इमास्ताः प्रसिद्धा दन्तपंक्तय एव। चक्षुषी इमे 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११' इति प्रगृह्यत्वम्। पद्ममिदं कान्तास्यमिति मिथ्याज्ञानं तस्य प्रत्याख्यानं निषेधो न पद्ममिति। एवंचेवाद्यभावेऽपि कान्त्यादेः प्रसिद्ध्यैव प्रतीतेरियं लुप्ता ॥

लोपे सामान्यधर्मस्य लुप्तपूर्णेति गद्यते।

यथा—

'राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव।
रम्भास्तम्भाविवोरू च करिकुम्भाविव स्तनौ ॥ ११ ॥'

अत्र सामान्यधर्मे लुप्ते प्रतीयमानसादृश्यत्वेन पदार्थयोरुपमानोपमेयभावस्य परिपूर्णत्वे लुप्तपूर्णानामेयं पदार्थोपमासु वाक्योपमाभक्तिः ॥

सामान्यधर्म का लोप होने पर लुप्तपूर्णा कही जाती है ॥ १७ अ ॥

जैसे—

हे सुन्दरी, कमल के सदृश तुम्हारा वदन है, दो नीले कमलों की भाँति तुम्हारे नयन हैं। दोनों जाँघे केले के खम्भे के सदृश हैं और दोनों स्तन तो हैं हाथी के दोनों कपोलों की तरह ॥ ११ ॥ (काव्यादर्श २।१६)

यहाँ साधारण धर्म का लोप हो जाने पर प्रतीत हो रहे सादृश्य के कारण पद तथा अर्थ दोनों के उपमान और उपमेय भाव के परिपूर्ण होने से पदार्थोपमा के भेदों में यह लुप्तपूर्णा नाम का वाक्योपमा का भेद है।

स्व० भा०—यह लुप्तपूर्णा का उदाहरण है। अर्थात् इसमें चार अवयवों में से एक का लोप है तथा शेष तीनों उपस्थित हैं। यहाँ मुख, नेत्र, ऊरु तथा स्तन उपमेय हैं और राजीव, नीलोत्पल, रम्भास्तम्भ तथा करिकुम्भ हैं उपमान। चारों स्थानों पर 'इव' वाचक है। इस श्लोक में इस प्रकार केवल कान्ति, श्यामलता आदि साधारणधर्म का ही लोप है। उसी का शब्दतः अभिधान नहीं किया गया है।

राजीवमित्यादि। हे प्रिये, तव मुखं पद्ममिव, नेत्रे नीलनलिने इव, ऊरू कदलीस्तम्भा-

विव, स्तनौ हस्तिकुम्भाविव स्तः। उत्पले इवेति 'ईदूदेद् १।१।११' इति प्रगृह्यसंज्ञा। इह सामान्यधर्मस्य कान्त्यादेर्लोपः, इतरेषां पूर्णतेति लुप्तपूर्णा ॥ ११ ॥

द्योतकस्य तु लोपे या पूर्णलुप्तेति सा स्मृता ॥ १७ ॥

यथा—

'त्वन्मुखं पुण्डरीकं च फुल्ले सुरभिगन्धिनी ।
कोमलापाटलौ तन्वि पल्लवश्चाधरश्च ते ॥ १२ ॥'

अत्र तन्त्रेण सदृशयोरनभिधानात्साहश्यस्य पुनरुपमानोपमेयभावविवक्षितेन श्लेषतोऽन्यत्वे सतीतरेतरयोगेनोपमानोपमेययोरेकशेषेण च तद्विशेषणयोः समुदायेनाभिधानादिवादिमन्तरेणाप्युपमानादीनां चतुर्णामपि पूर्णत्वे सत्युक्तार्थत्वादिवादिर्लुप्यत इति पूर्णलुप्तानामेयं पदार्थोपमासु वाक्योपमाभक्तिः ॥

द्योतक का लोप होने पर भी जो उपमा होती है वह पूर्णलुप्ता इस रूप में स्मृत होती है ॥१७॥

हे तन्वी, तुम्हारा मुख तथा कमल दोनों ही खिले हुये हैं और दोनों ही सुवास से पूर्ण हैं, तथा पल्लव और तुम्हारा अधर कोमल तथा पूर्णतः अरुण हैं ॥ १२ ॥ (काव्यादर्श २।१९३)

यहाँ प्रधानरूप से दोनों सदृशों का अभिधान न होने से तथा फिर सादृश्य के उपमान और उपमेय भाव से विवक्षित होने के कारण, श्लेष से भिन्नता होने पर इतरेतरयोग से उपमान और उपमेय दोनों की एकशेषता से उनके दोनों विशेषणों के समुदाय के कारण 'इव' आदि के बिना भी उपमान आदि चारों अवयवों के पूर्ण हो जाने पर भी अभिधान होने से इवादि का लोप हो जाता है। इस प्रकार पदार्थोपमा के भेदों में पूर्णलुप्ता नाम का वाक्योपमा का भेद है।

स्व० भा०—उक्त उदाहरण में मुख तथा पुण्डरीक और पल्लव तथा अधर दोनों क्रमशः उपमेय तथा उपमान हैं। इन दोनों का साधारण धर्म क्रमशः फुल्लता और सुरभिगन्धिता तथा कोमलता और पाटलता है। यद्यपि मुख की फुल्लता तथा कमल की फुल्लता में अन्तर है, दोनों की सुरभि में भी अन्तर है। इसी प्रकार पल्लव तथा अधर की भी कोमलता और पाटलता भिन्न-भिन्न है, किन्तु 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (१।२।६४) नियम के अनुसार एक-एक ही पद अवशिष्ट हैं। उनकी भिन्नार्थकता का ज्ञान श्लेष के द्वारा हो जाता है। इस प्रकार सामान्य उपमेयोपमानत्व सिद्ध हो जाने पर सादृश्य का 'वाचक' भी स्वतः प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार इस पूर्ति के कारण चारों तत्त्वों की उपस्थिति से यद्यपि यहाँ पूर्णता ही प्रतीत होती है, कोई कमी नहीं लगती, तथापि शब्दशः इन 'वाचकों' का अभिधान न होने से लुप्तता भी रहती है। इसी कारण दोनों भावों के होने से इसमें पूर्णलुप्तता स्वीकार करनी चाहिये। वृत्ति में प्रयुक्त 'उक्तार्थत्वात्' का अभिप्राय 'पूर्णलुप्ता' नाम से है।

त्वदित्यादि। इदं विवृतं सदृशव्यतिरेकस्थले। तन्त्रेण प्राधान्येन। 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' इति मेदिनीकारः। यद्वा तन्त्रेण एकार्थप्रयोजकेनेह सदृशयोर्मुखपद्मयोः प्रधानाङ्गभावेनाभिधानं तुल्यता च पदार्थः। एवं च मिथोऽन्वयेनोपमानोपमेयत्वाभिधानम्। फुल्ले इति विशेषणद्वयम्। एकशेषेण 'हेतूपमानोपमेयतुल्यधर्मद्योतकपूर्णता। इवादिलोपस्तूक्तार्थत्वादतः पूर्णलुप्तेयम्। यत्र समकक्षतया द्वयोरभिधानं तत्र श्लेष एवेत्यतिव्याप्तिरत आह—श्लेषत इति। वाक्यार्थस्य वाक्यसापेक्षतया तद्भेदता ॥

या तु वाक्यार्थयोः सापि चतुर्धैकेवशब्दिका ।
नैकेवशब्दिकेवादिशून्या वैधर्म्यवत्यपि ॥ १८ ॥

तास्वेकेवशब्दा यथा—

'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ १३ ॥'

अत्र हिमवत्पाण्ड्ययोर्निर्झरहारयोर्बालातपहरिचन्दनयोश्च परस्परमुपमानोपमेयविवक्षायां विशेषणविशेष्यभावपरिकल्पनेन वाक्यार्थयोर्द्वयोरपि कल्पितत्वादेकेनैवेवशब्देन तयोः परस्परमुपमानोपमेयभावोऽभिहितः इतीयमेकेवशब्दानाम वाक्यार्थोपमासु वाक्योपमाभक्तिः ॥

जो वाक्यार्थों की (उपमा है) वह भी चार प्रकार की है—(१) एकेवशब्दा (जिसमें एक ही 'इव' शब्द हो), (२) अनेकेवशब्दा (जिसमें कई 'इव' शब्द हों), (३) अनिवशब्दा (जिसमें 'इव' शब्द का अभाव हो), (४) वैधर्म्यवती ॥ १८ ॥

इनमें से 'एकेवशब्दा' का उदाहरण—

यह महाराज पाण्ड्य हैं जो अपने कन्धों पर लम्बी माला डाले हैं और अपने शरीर को हरिचन्दन से लिप्त किये हैं। (इन दोनों पदार्थों के कारण) यह प्रातःकालीन सूर्य की किरणों से अरुण शिखरों वाले तथा प्रवाहित प्रपात से संयुक्त पर्वतराज हिमालय के सदृश सुशोभित हो रहे हैं ॥ १३ ॥ (रघुवंश ६।६०)

यहाँ हिमालय तथा पाण्ड्य, निर्झर और हार, बालसूर्य की किरण तथा हरिचन्दन के परस्पर उपमानोपमेय भाव की विवक्षा होने पर विशेषण तथा विशेष्य भाव की कल्पना करने के कारण वाक्य और अर्थ दोनों की कल्पना हो जाने से एक ही 'इव' शब्द के द्वारा उन दोनों का एक दूसरे के प्रति उपमानोपमेय भाव अभिहित किया गया है। इस प्रकार वाक्यार्थोपमा में यह 'एकेवशब्दा' नाम का वाक्योपमा नामक भेद है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में केवल एक ही 'इव' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक ही वाचक 'इव' का प्रयोग दो विशेष्यों के उपमानोपमेय भाव का निरूपण करने के लिये हुआ है। विशेष्यों में औपम्य निरूपित करने से उनके विशेषणों का भी परस्पर उपमानोपमेयभाव स्वतः प्रकट हो जाता है। जैसे यहीं पाण्ड्य को हिमालय की भाँति कहा गया है। पाण्ड्य के दो विशेषण हैं—कन्धों पर लम्बे हार का पड़ा होना तथा हरिचन्दन से शरीर की लिप्तता। हिमालय के भी दो विशेषण हैं—बालातपरक्तसानुत्व तथा 'सनिर्झरोद्गारत्व'। इस प्रकार हारों का उपमान 'निर्झर' तथा हरिचन्दन का 'बालातप' है। वस्तुतः धर्मों को उपमान स्वीकार कर लेने पर उनके शब्दतः निरूपित गुणों अथवा धर्मों की परस्पर उपमानता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

एक इवशब्दो यस्यां सा ॥ पाण्ड्य इति। **अयं पाण्ड्यो राजभेदः शोभते। कीदृशः। अंसे स्कन्धेऽर्पितो दत्तो लम्बहारो येन सः। हरिचन्दनेन चन्दनभेदेन कृताङ्गानुलेपनश्च, अभिनवकिरणलोहितशृङ्गः प्रवहन्निर्झरश्च हिमवानिवाभाति। इह द्वयोर्वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयभाव एकेनैवेवपदेनोक्त इत्येकेवोपमेयम्** ॥

अनेकेवशब्दा यथा—

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।

पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥१४॥"

अत्र क्रियापदस्य वाक्यार्थद्वयैकतापत्तिहेतोः सकर्मकत्वात्कर्तुः कर्मणश्चोपमानात् पृथगिवशब्दप्रयोग इति सेयमभिधीयमानसादृश्या अनेकेवशब्दानाम वाक्यार्थोपमासु वाक्योपमाभक्तिः ॥

अनेकेवशब्दा का उदाहरण—

प्रतिदिन उदयप्राप्त (शुक्लपक्ष) की चन्द्रकला की भाँति बढ़ रही वह पार्वती उसी प्रकार अपनी सौन्दर्यपूर्ण विशिष्टताओं को पुष्ट करने लगी जिस प्रकार कि क्रमशः ज्योत्स्ना से समन्वित अन्यान्य चन्द्रकलायें अपनी विशिष्टताओं को पुष्ट किया करती हैं ॥ १४ ॥ (कुमारसम्भव १।२५)

यहाँ दो वाक्यार्थों की एकता को सिद्ध करने वाली क्रिया के सकर्मक होने से तथा कर्त्ता और कर्म के उपमान होने से अलग-अलग 'इव' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः यह अभिधीयमान सादृश्य वाली वाक्यार्थोपमा के भेदों में अनेकेवशब्दा नामक वाक्योपमा का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ केवल 'पुपोष' एक ही क्रिया है जो दो उपमेयों तथा उपमानों में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करती है। यह सकर्मक क्रिया है, 'सा' इसका कर्त्ता है तथा 'लावण्यमयान् विशेषान्' और सविशेषण 'कलान्ताराणि' कर्म है। यहाँ कर्ता तथा कर्म दोनों के पृथक्-पृथक् उपमान होने से केवल एक ही इव से काम नहीं चलता। इसीलिये एक ओर तो 'सा' का उपमान 'चान्द्रमसी लेखा' अपने साथ 'इव' को तथा दूसरी ओर 'लावण्यमयान् विशेपान्' के उपमान 'ज्योत्स्नान्तराणि' के साथ हैं। एक से अधिक 'इवों'का प्रयोग होने से यहाँ 'अनेकेवशब्दा' है।

दिन इति। सा गौरी दिने दिने प्रत्यहं परिवर्धमाना सती लावण्यमयान्कान्तिप्रधानान् विशेषानुत्कर्षान् पुपोष पुष्णाति स्म। कीदृशी। लब्धः प्राप्त उदय उपचयो यया सा। यथा चान्द्री लेखा कला प्राप्तोद्गमा प्रत्यहं वर्धमाना च सती कलान्तराणि अन्यान्या कला धत्ते ज्योत्स्नान्तराणि च धत्ते तथेत्यर्थः। लावण्यं ज्योत्स्नास्थानीयम्, विशेषः कलास्थानीयः। यद्वा कलान्तराणि कीदृशानि। ज्योत्स्ना अन्तरा गर्भे येषु तानि। यद्वा ज्योत्स्नाया अन्तरोऽवकाशो येषु तानि। 'लेखा स्याल्लिपिकलयोः' इति विश्वः। चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी। 'तस्येदम् ४।३। १२०' इत्यण्। 'लावण्यं चारुता मता' इति शाश्वतः। 'गर्भावकाशभेदेष्वन्तरं वाच्यलिङ्गवत्।' इति मेदिनीकारः। इह पोषणरूपक्रियया वाक्यार्थयोरेकवाक्यता, सा च सकर्मकेति कर्तृकर्मणोः पृथगिवपदप्रयोगादनेकेवोपमेयम् ॥

अनिवादिशब्दा यथा—

'दिवो जागर्ति रक्षायै पुलोमारिर्भुवो भवान्।
असुरास्तेन हन्यन्ते सावलेपा नृपास्त्वया ॥ १५ ॥

अत्र पुलोमारिवर्णनीययोर्द्यावाभूम्योरसुराणामवलिप्तपार्थिवानां च तुल्यक्रियासमावेशादिवादिमन्तरेणापि वाक्यार्थानां परस्परमुपमानोपमेयभावोऽवगम्यत इतीयमनिवादिशब्दानाम वाक्यार्थोपमासु वाक्योपमाभक्तिः।

अनिवादि शब्दा का उदाहरण—

स्वर्ग की रक्षा के लिये इन्द्र, पृथ्वी की रक्षा के लिये आप सचेष्ट हैं। वह इन्द्र तो असुरों का हनन करता है और आप गर्वोन्मत्त राजाओं का ॥ १५ ॥ (काव्यादर्श २।४९)

यहाँ इन्द्र तथा वर्ण्यविषय राजा, द्यावा तथा पृथ्वी, असुरों और मदमत्त राजाओं के समान

क्रिया में समाविष्ट होने से 'इव' आदि वाचकों के अभाव में भी वाक्यार्थों का उपमानोपमेयभाव प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार यह वाक्यार्थोपमा के भेदों में अनिवादिशब्दा नामक वाक्योपमा का भेद है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में वृत्ति में किये गये निर्देश के अनुसार उपमेय तथा उपमान पुलोमारि और राजा तथा असुर और सावलेप नृप हैं। साधारण धर्म सचेष्टता–'जागरण'–तथा 'हनन' है। 'इव', 'यथा' आदि वाचक पदों का सर्वथा अभाव है। किन्तु शेष तीनों अपेक्षित उपमा के तत्त्वों के उपस्थित होने से सादृश्य का भाव स्वयं प्रतीत हो जाता है। 'इव' का प्रयोग किये बिना भी पूरा अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'इव' का प्रयोग न होने से अनिवशब्द (अन् + इव शब्द) वाली उपमा है।

दिव इति। भवान् भूमे रक्षायै पुलोमारिरिन्द्रो दिवः स्वर्गस्य रक्षायै जागर्ति। तेनेन्द्रेणासुरा हन्यन्ते, त्वया नृपा हन्यन्ते। सावलेपाः सगर्वा इति नृपविशेषणम्। पुलोमनामा दैत्यभेदः स चेन्द्रेण हतस्तत्सुता पुलोमजेन्द्राणी च गृहीतेति पुराणम्। इह तुल्या समैकक्रिया जागरणरूपा हननरूपा च तद्द्वयघटित एवोपमानोपमेयभावः॥

वैधर्म्यवती यथा—

'प्रहितः प्रधनाय माधवानहमाकारयितुं महीभृता।
न परेषु महौजसश्छलादपकुर्वन्ति मलिम्लुचा इव॥ १६॥'

अत्र सत्युपमाने सत्युपमेये सत्यपि चेवशब्दे महौजसां मलिम्लुचानां च योऽय छलापकरणं नाम वस्तुधर्मः स उपमान एव नकारेण नियम्यत इति वैधर्म्यवतीनामेयं वाक्यार्थोपमासु वाक्योपमाभक्तिः॥

वैधर्म्यवती का उदाहरण—

दूत कृष्ण से कहता है कि तुम्हारी ओर के यदुवंशियों को युद्ध के लिये उत्तेजित करने के लिये राजा शिशुपाल ने मुझे भेजा है, क्योंकि वीर लोग चोरों की भाँति कपटपूर्वक लुकछिप कर शत्रुओं का अपकार नहीं करते॥ १६॥ (शिशुपालवध १६।५२)

यहाँ उपमान के रहने पर भी, उपमेय के रहने पर भी तथा 'इव' शब्द के रहने पर भी वीरों तथा चोरों का जो यह छलपूर्वक अपकार करना रूप वस्तुधर्म है वह उपमान में ही नकार के द्वारा नियमित हो जाता है। इस प्रकार वाक्यार्थोपमा के भेदों में वैधर्म्यवती नाम का वाक्योपमा भेद है।

स्व० भा०—यह वैधर्म्यवती उपमा का उदाहरण है। उपमेय, उपमान तथा वाचक ये तीन विशेष अपेक्षित तत्त्व इस उपमा में विद्यमान हैं। इनमें कोई अभाव नहीं किन्तु जो साधारण धर्म है, वह दोनों में समान रूप से चरितार्थ नहीं होता। यहाँ साधारणधर्म है "छलपूर्वक शत्रु का अपकार करना"। किन्तु यह धर्मवीर तथा चोर दोनों में समान रूप से नहीं मिलता। इसकी उपलब्धि 'मलिम्लुच' (चोर) में तो अवश्य होती है किन्तु वीर (महौजस्) में रंचमात्र भी नहीं। इसका केवल विपरीत भाव ही वीर में संगत होता है। अतः उपमेय महौजस् तथा उपमान 'मलिम्लुच' इन दोनों में इस साधारणधर्म की विपरीतयुक्तता है। अतः दोनों में साधर्म्य के स्थान पर वैधर्म्यभाव के कारण यहाँ वैधर्म्यवती उपमा हुई।

प्रहित इत्यादि। अयं विविध उच्यतासदृशोपमविशेषगुणे (?) इहान्यरूपैः साम्येऽपि वाच्यधर्म उपमान एव निषेधेन नियमित इति वैधर्म्यम्। तद्तृतीयमुपमा।

प्रपञ्चोपमाया अष्टविधत्वमाह—

यत्रोक्तिभङ्ग्या वाक्यार्थे साद‍ृश्यमवगम्यते ।
वाक्यार्थयोर्विस्तरतः सा प्रपञ्चोपमेष्यते ॥ १९ ॥

तस्या विभागमाह—

सा तु प्रकृतरूपा स्याद्रूपेण विकृता तथा ।
तयोः प्रकृतरूपा सा विज्ञेया च चतुर्विधा ॥ २० ॥
स्यात्समस्तोपमा तद्वदेकदेशोपमा परा ।
मालोपमा तृतीया स्याच्चतुर्थी रसनोपमा ॥ २१ ॥

प्रपञ्चोपमा

वाक्यार्थ में वचन की भङ्गिमा द्वारा जहाँ वाक्य तथा अर्थ दोनों का विस्तार से साद‍ृश्य ज्ञात हो वह प्रपञ्चोपमा है। यह प्रपञ्चोपमा तो प्रकृतरूपा तथा रूप से विकृत अर्थात् विकृतरूपा (दो प्रकार की) है। इन दोनों में से जो प्रकृतरूपा है उसे चार प्रकार का समझना चाहिये। उसमें समस्तोपमा होनी चाहिये, उसी प्रकार दूसरी एकदेशोपमा है। तीसरी मालोपमा होगी और चौथी होगी रसनोपमा ॥ १९-२१ ॥

यत्रेति। वाक्यार्थे वचनभङ्ग्या यत्र वाक्यार्थयोर्विस्तरेण साद‍ृश्यं ज्ञायते सा प्रपञ्चोपमा ॥

सेति। प्रकृतरूपं साहजिकं विकृतं रूपमौपाधिकम् ॥

तासु समस्तोपमा यथा—

'अलिवलयैरलकैरिव कुसुमस्तबकैः स्तनैरिव वसन्ते ।
भान्ति लता ललना इव पाणिभिरिव किसलयैरधिकम् ॥ १७ ॥'

अत्र वसन्तलक्ष्मीपरिष्कृतलतानां ललनानां च प्रतीयमानसाद‍ृश्यानामुपमानोपमेयभावविवक्षायां येयमलिवलयादिभिरलकादीनां प्रतीयमानसाद‍ृश्यानामेव पृथक्पृथगिवशब्दप्रयोगवतीति विस्तरेणावयविनोऽवयवानां चेति सामस्त्येन वाक्यार्थयोरौपम्योक्तिभङ्गिः। सेयं समस्तोपमानाम प्रकृतरूपोपमासु प्रपञ्चोपमाभक्तिः ॥

इनमें से समस्तोपमा का उदाहरण—

वसन्त ऋतु में भ्रमरसमुदाय के केशकलाप सद‍ृश, पुष्पगुच्छों के स्तनों के सद‍ृश तथा किसलयों के हाथों के सद‍ृश अत्यधिक प्रतीत होने से लतायें तो सर्वथा सुन्दरियों-सी सुशोभित होती हैं ॥ १७ ॥ (काव्यालङ्कार ८।३०)

यहाँ वसन्त की छटा से परिशोधित लताओं तथा ललनाओं के, जिनका अत्यन्त साद‍ृश्य प्रतीत होता है, उपमान तथा उपमेय भाव की विवक्षा होने पर जो यह भ्रमरमण्डल आदि के द्वारा प्रतीत हो रहे साद‍ृश्यवाले अलक आदि का अलग-अलग 'इव' शब्द का प्रयोग होने पर विस्तार के साथ अङ्गी तथा अङ्गों की समस्तरूप से वाक्य तथा अर्थ इन दोनों के औपम्य की भङ्गिमा है। यह है प्रकृतरूपा उपमा के भेदों में समस्तोपमा का प्रपञ्चोपमा का भेद।

स्व० भा०—यहाँ पूरा श्लोक अङ्गी तथा अङ्ग के सम्पूर्ण स्वरूप के पृथक्-पृथक् उपमानों द्वारा अत्यन्त भद्र निरूपण से पूर्ण हैं। यह श्लोक रुद्रट के काव्यालंकार का है। इसके तथा इसके बाद वाले उपमा के भेद के विषय में रुद्रट ने यह कहा है—

क्रियतेऽर्थयोस्तथा या तदवयवानां तथैकदेशानाम्।
परमन्या ते भवतः समस्तविषयैकदेशिन्यौ ॥ काव्यालंकार ८।२९ ॥

यहाँ लता तथा स्त्री अवयवी या अङ्गी हैं तथा पुष्पगुच्छ, स्तन आदि अवयव हैं। इनका समग्ररूप से उपमानोपमेयभाव निरूपित है।

अलीत्यादि। लता वसन्ते ललना इव स्त्रिय इवाधिकं शोभन्ते। कैः। अलकैरिव भृङ्गवृन्दैः, पुष्पगुच्छैः कुचैरिव, पल्लवैः पाणिभिरिव। इहावयविनोर्लतास्त्रीरूपयोरवयवानामेकदेशानामलिवलयालकादीनां सामग्र्येणोपमानोपमेयभावात् समस्तोपमेयम्। तेषां च प्रकृतत्वं प्रसिद्धमेव ॥

एकदेशोपमा यथा—

'कमलदलैरधरैरिव दशनैरिव केसरैर्विराजन्ते।
अलिवलयैरलकैरिव कमलैर्वदनैरिव नलिन्यः ॥ १८ ॥'

अत्र नलिनीनां विलासिनीनां च परस्परमुपमानोपमेयभावे वक्तव्ये विलासिनीलक्षणमुपमानार्थम्, एवमवयवान्तराणि च यानि स्तनाद्युपमेयानि, तानि परित्यज्य कमलमेवैकं तदवयवैर्दलादिभिः सहाधरादिभिरुपमानैः पृथक्पृथगिवप्रयोगाद्विस्तरेणोपमितम्। तेनेयमेकदेशोपमा नाम प्रकृतरूपोपमासु प्रपञ्चोपमाभक्तिः ॥

एकदेशोपमा का उदाहरण—

कमलिनियाँ कमलपत्रों से अधरोंवाली, केसर से दाँतोंवाली, भ्रमरपंक्तियों से केशोंवाली और कमलों से मुखोंवाली प्रतीत होती हैं ॥ १८ ॥ (काव्यालंकार ८।३१)

यहाँ कमलिनियों तथा विलासिनियों का परस्पर उपमानोपमेय भाव का कथन अभीष्ट होने पर विलासिनी के लक्षण उपमान के लिये हैं, इसी प्रकार जो भिन्न-भिन्न अवयव स्तन आदि उपमेय हैं, उन्हें छोड़कर केवल कमल ही अपने अवयवों दल आदि के साथ अधर आदि उपमानों द्वारा अलग-अलग 'इव' का प्रयोग करके उपमित हुआ है। प्रकृतरूपोपमाओं में यह एकदेशोपमा नामक प्रपञ्चोपमा का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ नलिनी उपमेय है और विलासिनी उपमान है। इसी प्रकार इनके पृथक् पृथक् अवयव भी उपमेय तथा उपमान हैं। अलग अलग एक-एक अंग का, एक एक अवयव का वाचक-पदों के द्वारा आंशिक वर्णन विस्तार से उपस्थित है। यहाँ कमलिनी यद्यपि अवयवी है, तथापि उसकी प्रधानता नहीं प्रकट होती। इसका भी लक्षण रुद्रट की उद्धृत की गई कारिका (८।२९) में ही स्पष्ट है। दोनों की तुलना से अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।

कमलेति। पद्मिन्यः शोभन्ते। कैः। अधरैरिव पद्मपत्त्रैः, दन्तैरिव किंजल्कैः, अलकैरिव भृङ्गसंघैः, मुखैरिव पद्मैः। इह विस्तरोपमया प्रपञ्चोपमा, हंसस्तनादित्यागात्कमलदलादिना सहाधरादेरेकदेशस्योपमया चैकदेशोपमेयम् ॥

मालोपमा यथा—

'सोहव्व लक्खणमुहं वणमालव्व विअडं हरिवइस्स उरम् ।
कित्तिव्व पवणतणअं आणव्व बलाइं से विलग्गइ दिट्ठी ॥ १९ ॥'
[शोभेव लक्ष्मणमुखं वनमालेव विकटं हरिपतेरुरः ।
कीर्तिरिव पवनतनयमाज्ञेव बलान्यस्य विलगति दृष्टिः ॥]

अत्र रामदृष्टेर्लक्ष्मणमुखादिविनिवेशिन्याः शोभाद्युपमानमालया प्रतीयमानसादृश्यया विस्तरेणोपमितेर्मालोपमा नामेयं प्रकृतरूपोपमासु प्रपञ्चोपमाभक्तिः ॥

मालोपमा का उदाहरण—

राम की दृष्टि लक्ष्मण के मुख को शोभा के सदृश, वानरराज सुग्रीव के कठोर वक्षःस्थल को वनमाला की भाँति, हनुमान् को यश के सदृश और सेनाओं को आदेश के सदृश लगती है ॥ १९ ॥

यहाँ लक्ष्मण के मुख आदि पर पड़ने वाली राम की दृष्टि का प्रतीत हो रहे सादृश्य वाले शोभा आदि उपमानसमूह के द्वारा विस्तारपूर्वक औपम्यनिरूपण होने से प्रकृतरूपा उपमा के भेदों में मालोपमा नाम का प्रपञ्चोपमा का भेद है ।

स्व० भा०—रुद्रट ने मालोपमा का लक्षण इस प्रकार दिया है—

मालोपमेति सेयं यत्रैकं वस्त्वनेकसामान्यम् ।
उपमीयेतानेकैरुपमानैरेकसामान्यैः ॥ काव्यालं० ८।२५ ॥

अर्थात् "जहाँ अनेक साधारण धर्मोंवाली एक वस्तु की उपमा एक-एक साधारण धर्मवाले अनेक उपमानों से हो जाये वहाँ मालोपमा होती है ।" स्पष्ट है कि यहाँ विभिन्न धर्मोंवाली राम की दृष्टि शोभा आदि विभिन्न उपमानों से उपमित है । आचार्य दण्डी ने जिसे मालोपमा कहा है, उसका लक्षण भोज की मालोपमा के साथ संगत नहीं बैठता । वस्तुतः दण्डी की मालोपमा भोज की रसनोपमा के सदृश है । उसको आगे उसी के प्रसंग में उद्धृत किया जायेगा ।

सोहेति । 'शोभेव लक्ष्मणमुखं वनमालेव विकटं हरिपतेरुरः । कीर्तिरिव पवनतनयमाज्ञेव बलान्यस्य विलगति दृष्टिः ॥' अस्य रामस्य दृष्टिर्लक्ष्मणमुखं विलगति सम्बध्नाति । शोभेव दर्शनानन्तरमेव मुखप्रसादात् । हरिपतेः सुग्रीवस्य विस्तीर्णमुरः सा विलगति वनमालेव पौरुषश्लाघ्यवलयनिमित्तम्, समस्तवक्षःस्थलविलोकनाद्धवलश्यामलया दृष्ट्या वनमालेव प्रमाणावसरे प्रभुणा सुग्रीवाय प्रसादीकृतेति भावः । पवनतनयं हनूमन्तं विलगति कीर्तिरिव, तस्य ज्ञातपौरुषस्य विकसितया धवलितगगनया दृष्ट्या निरीक्षणं कृतमिति भावः । बलानि विलगति आज्ञेव, तदनन्तरमेवातिबलानां तेषां गमनोद्योगात् । 'आपादप्रपणां मालां वनमालेति तां विदुः ।' इति शाश्वतः । मुखादेराधारस्यैव कर्मता । यद्वा 'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते ।' इति व्युत्पत्त्या विलगतेः सकर्मकता । इह रामदृष्टेः शोभाद्युपमानमालया सूत्रेण ग्रथनमेव, विस्तरेणोपमितेर्मालोपमेयम् । न चेयं बहूपमा, एकस्य धर्मस्य बहुभिरनुपस्थितत्वात् ॥

रसनोपमा यथा—

'चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥ २० ॥'

अत्र चन्द्रादीनां शौक्ल्यादिभिरभिधीयमानसादृश्यैर्हंसादिभिर्येयं रसनान्यायेन पश्चाद्वलनया विस्तरवती हेतुमती च प्रत्ययोपमापङ्क्तिस्तथैवैकवाक्यताकरणेन शरद्रमणीयतोयवर्णनमिति सेयं रसनोपमा नाम प्रकृतरूपोपमासु प्रपञ्चोपमाभक्तिः ॥

रसनोपमा का उदाहरण—

अपनी श्वेतच्छटा के कारण हंस चन्द्र हो रहा है, सुन्दर गमन के कारण कामिनी हंस हो रही हैं, स्पर्श के आनन्द के कारण जल कामिनी हो रहा है और स्वच्छता के कारण आकाश जल हो रहा है ॥ २० ॥

यहाँ चन्द्र आदि की शुक्लता आदि के द्वारा वर्ण्यमान सादृश्य वाले हंस आदि के साथ जो यह रसनान्याय से पीछे-पीछे संघटना के कारण विस्तारवती तथा हेतुमती प्रत्ययोपमा की पंक्ति है, उसी प्रकार यहाँ एक वाक्यता स्थापित करने से जो शरत्कालीन सुन्दर जल का वर्णन है, इसी से प्रकृतरूपा उपमा के भेदों में रसनोपमा नाम का प्रपञ्चोपमा का भेद है।

स्व० भा०—अनेक उपमेयोपमानों के होने से विस्तार स्पष्ट है। इसी प्रकार शुक्लरुचिता, चारुगति आदि कारणों के होने से हेतुमत्व भी है। सुन्दरियों के कटि में धारणीय काञ्ची की छोटी-छोटी घंटियाँ जिस प्रकार परस्पर आबद्ध एवं संसक्त होती हैं, उसी प्रकार शब्दों के भी एक दूसरे से सम्बद्ध रहना रसनान्याय है।

यह उदाहरण रुद्रट के काव्यालंकार (८।२८) में नमिसाधु की टीका में उद्धृत है। उक्त टीकाकार ने इसमें प्रत्ययरशनोपमा माना है, क्योंकि नामधातु में योज्य प्रत्यय के द्वारा ही परस्परसम्बद्धता सिद्ध की गई है। रुद्रट के अनुसार—

अर्थानामौपम्ये यत्र बहूनां भवेद् यथापूर्वम्।
उपमानमुत्तरेषां सेयं रशनोपमेत्यन्या ॥

दण्डी ने इसी को मालोपमा कहा है।

पूष्ण्यातप इवाह्नीव पूषा व्योम्नीव वासरः।
विक्रमस्त्वय्यधाल्लक्ष्मीमिति मालोपमा मता ॥ काव्यादर्श २।४२ ॥

चन्द्रेति। अथ हंसः श्वेतदीप्त्या चन्द्रायते चन्द्र इवाचरति। प्रिया मनोज्ञगमनेन हंस इवाचरति। वारि जलं स्पर्शसुखेन कान्तेवाचरति। विहायो गगनं निर्मलतया वारीयते जलमिवाचरति। 'वार्वारि जलम्' इत्यमरः। 'पुंस्याकाशविहायसी' इति च। इह पश्चाद्वलना पूर्वापेक्षतया क्षुद्रघण्टिकाक्रमः प्रपञ्चवत्त्वं रुचेत्यादिहेतुमत्त्वं प्रतीत्युपमाबाहुल्यं च स्फुटमेव। तर्हि प्रकृतरूपता कथं स्यादत आह तथेति। उपमापङ्क्त्या चैकवाक्यताविधानेन शरदृतुवर्णनेन प्रकृतरूपेति भावः। तुरीया चतुर्थी च, 'तुरणमत्ताद्यक्षरलोपश्च' इति (?) छः ॥

इतीमास्ताश्चतस्रोऽपि रूपेण प्रकृतेन याः।
उपमानां चतस्रोऽन्या विकृतेन प्रचक्ष्महे ॥ २२ ॥
विपर्यासोपमा तासु प्रथमाथोभयोपमा।
अथोत्पाद्योपमा नाम तुरीयानन्वयोपमा ॥ २३ ॥

तासु विपर्यासोपमा यथा—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥ २१ ॥'

अत्र नेत्रादीनामुपमेयत्वमिन्दीवरादीनामुपमानत्वमिति प्रसिद्धौ येयमत्यनुरागान्नेत्रादिष्वाधिक्यबुद्धिर्नात्यनुरागादिन्दीवरादिषु तदनुकारिबुद्धिस्तयेह रामेण विरहिणाभिधीयमानसादृश्यानाममीषां परस्परमुपमानोपमेयभावः प्रसिद्धेर्विपर्यासेन कल्पित इति सेयं विपर्यासोपमानाम विकृतरूपोपमासु प्रपञ्चोपमाभक्तिः ॥

इस प्रकार से प्रकृतरूप से जो ये चारों भेद हैं, इन्हीं को विकृतरूप से उपमा के भेदों के रूप में कह रहे हैं। उनमें पहली है विपर्यासोपमा, दूसरी है उपमेयोपमा, फिर तीसरी है उत्पाद्योपमा तथा चतुर्थ है अन्वयोपमा ॥ २२–२३ ॥

इनमें से विपर्यासोपमा का उदाहरण—

(हे प्रियतमे,) विधाता को यह भी मंजूर नहीं कि मैं तुम्हारे सदृश पदार्थों को ही देखकर प्रसन्नता प्राप्त कर सकूँ. क्योंकि जो तुम्हारे कजरारे नयनों की भाँति शोभा वाले नीलकमल थे वे जल में निमग्न हो गये। तुम्हारे मुख की छटा का अनुकरण करने वाला चन्द्रमा बादलों से ढँक दिया गया। जो तुम्हारी चाल के सदृश गति वाले राजहंस थे, वे भी यहाँ से चले गये ॥२१॥

यहाँ नेत्र आदि की उपमेयता तथा इन्दीवर आदि की उपमानता विख्यात होने पर भी जो यह अत्यधिक प्रेम के कारण नेत्र आदि में अतिशयता की भावना है और अत्यधिक अनुराग न होने से इन्दीवर आदि में उनके अनुकरणता की भावना है, उसी भावना के कारण वियोगी राम के द्वारा कथित सादृश्य वाले इनका एक दूसरे के प्रति उपमानोपमेयभाव सामान्यप्रसिद्धि के विपरीत रूप में कल्पित है, इसलिये विकृतरूपा उपमा के भेदों में यह विपर्यासोपमा नामक प्रपञ्चोपमा का भेद है।

स्व० भा०—प्रकृतरूपा में उपमेय तथा उपमान लोकप्रसिद्ध क्रम में ही रहते हैं, किन्तु विकृतोपमा में यह क्रम नहीं रह जाता। यही दोनों का अन्तर है।

यदिति। हे प्रिये, मम त्वत्सादृश्यहर्षमात्रमपि न दैवेन क्षम्यते। यस्मात्तदिन्दीवरं जले मग्नम्। कीदृशम्। त्वन्नेत्रसमशोभम्। चन्द्रो मेघैरन्तरितश्छन्नः। कीदृशः। त्वमुखप्रतिबिम्बसदृशः। तेऽपि राजहंसा गताः। ये त्वद्गतितुल्यगमनाः इह प्रसिद्धिविपर्ययेणोपमितेर्विपर्यासोपमा ॥

उभयोपमा यथा—

'तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम्।
निलीनां नलिनीखण्डे कथं नु त्वां लभेमहि ॥ २२ ॥'

अत्राप्यत्यन्तसादृश्यादेकस्मिन्पक्षे प्रसिद्धेर्विपर्यास इति सेयं प्रतीयमानसादृश्योभयोपमा नाम विकृतरूपोपमासु प्रपञ्चोपमाभक्तिः।

उभयोपमा का उदाहरण—

हे प्रिये, तुम्हारे मुख की भाँति कमल है और कमल की भाँति तुम्हारा मुख। अतः कमल समूह के बीच स्थित तुमको हम कैसे प्राप्त करें॥ २२॥

यहाँ अत्यधिक समानता के कारण एक पक्ष में प्रसिद्धि का विपर्यास है, अतः यह विकृतरूपा उपमा के भेदों में प्रतीत हो रहे सादृश्यवाली उभयोपमा नाम का प्रपञ्चोपमा का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ 'तवाननमिवाम्भोजम्' में लोक प्रसिद्ध औपम्य का विपर्यास है। वस्तुतः वास्तविक भाव पूर्वार्ध के उत्तरार्ध में निरूपित है। अतः क्रम के उलटे तथा सीधे दोनों के होने से यहाँ उभयोपमा है। दण्डी ने ऐसी दशाओं में अन्योन्योपमा माना है। जैसे—

तवाननमिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम्।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी॥ काव्यादर्श २।१८॥

तवेति। हे प्रिये, त्वां कथं नु लभेमहि। कीदृशीम्। पद्मिनीकदम्बे निलीनां स्थिताम्। मुखेनापि न लाभ इत्याह—तव मुखमिव पद्मम् पद्ममिव मुखम्। इह प्रथमपक्षे विपर्यासोऽथोभयोपमानोपमेयभावादुभयोपमेयम्।

उत्पाद्योपमा यथा—

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः॥ २३॥'

अत्रोपमानार्थमुत्पाद्योपमेयेन प्रतीयमानमभिधीयमानं च सादृश्यमभिहितमिति सेयमुत्पाद्योपमानाम विकृतरूपोपमासु प्रपञ्चोपमाभक्तिः॥

उत्पाद्योपमा का उदाहरण—

यदि आकाश में आकाशगंगा के जल की पृथक्-पृथक् दो धारायें प्रवाहित हो जायें तभी पड़े हुए मुक्तादाम से सुशोभित तमाल के सदृश श्यामल कृष्ण के वक्षस्थल की उपमा दी जा सकती है॥ २३॥

यहाँ उपमान के अर्थ को उत्पन्न करके उपमेय के द्वारा प्रतीत हो रहा तथा अभिधा से उक्त हो रहा सादृश्य अभिहित है। अतः विकृत रूपा उपमा के भेदों में उत्पाद्योपमा नामक प्रपञ्चोपमा का भेद है।

स्व० भा०— यहाँ विकृतरूपता इसलिये है क्योंकि उपमेय तो पूर्व सिद्ध है, किन्तु उपमान की उत्पत्ति कल्पना अपेक्षित है, वह पूर्वतः उपस्थित नहीं। अप्रस्तुत उपमान की उत्पत्ति साध्य होने से उत्पाद्या उपमा है।

उभाविति। उभावित्यादिविवृतोऽयं श्लेषगुणे। इह यद्येते पतेतामित्युपमानता तस्योत्पाद्यत इतीयमुत्पाद्योपमा। अनेकेषामुपमितेः प्रपञ्चोपमात्वम्॥

अनन्वयोपमा यथा—

'त्वन्मुखं त्वन्मुखमिव त्वद्दृशौ त्वद्दृशाविव।
त्वन्मूर्तिरिव मूर्तिस्ते त्वमिव त्वं कृशोदरि॥ २४॥'

अत्र त्वमेवेदृशी नान्या त्वत्सदृशीत्यनन्वये सति उपमानोपमेयभावविवक्षयैकस्यापि वस्तुनो भेदमुपकल्प्य प्रतीयमानसादृश्यमौपम्येनाभिहितमिति सेयमनन्वयोपमानाम विकृतरूपोपमासु प्रपंचोपमाभक्तिः॥

अनन्वयोपमा का उदाहरण—

(अर्थ इसी ग्रन्थ के २।२४१ में दिया गया है)

यहाँ तुम्हीं इस प्रकार की हो, तुम्हारे सदृश कोई दूसरी नहीं है, इस प्रकार का अनन्वय होने पर उपमानोपमेयमात्र की विवक्षा से ही एक वस्तु के भेद की कल्पना करके प्रतीत हो रहा सादृश्य औपम्यभाव से उक्त है। इस प्रकार यह विकृतरूपा उपमा के भेदों में अनन्वयोपमा नाम का प्रपञ्चोपमा का भेद है।

स्व० भा०—भाव स्पष्ट है।

त्वदित्यादि। विवृतोऽयं लाटानुप्रासे। इहान्या त्वत्सदृशी नेत्युपमानान्तरसंबन्धाभावोऽनन्वयः। तदुपमितिः कथं तस्या भेदगर्भत्वादत आह—एकस्यापीति। तथा चाभेदेऽपि भेदकल्पनाददोषः। औपम्येनोपमायाः, स्वार्थे कः प्रत्ययः। इत्युपमालंकारनिरूपणम्॥

रूपकालंकारनिरूपणम्।

(२) रूपक अलंकार

रूपकलक्षणमाह—

यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेये भवेद् वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः॥ २४॥

जब गौणीवृत्ति का आश्रय लेकर उपमान वाचक शब्दों की उपमेय में बोधकता हो तब उसे रूपक समझा जाता है॥ २४॥

स्व० भा०—मुख्यावृत्ति से उपमान का उपमेय के रूप में ज्ञान नहीं होता। अतः यहाँ पर दोनों—उपमान तथा उपमेय के अभेद ज्ञान के लिये गौणीवृत्ति का आश्रय अनिवार्य हो जाता है। उपमा से इसका अन्तर यही है कि उपमें केवल सादृश्य मात्र प्रतिपाद्य होता है और इसमें दोनों का अभेद विवक्षित है।

दण्डी के अनुसार उपमा का ही एक रूप रूपक है। उनके शब्दों में—

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपक मुच्यते।
यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः॥ काव्यादर्श २।६६॥

इनका लक्षण अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट नहीं है। 'तिरोभूतभेदा' पद से उपमेय तथा उपमान के अभेद की ओर अवश्य संकेत हैं। प्राचीन आलंकारिकों में रुद्रट की रूपक की परिभाषा दण्डी की अपेक्षा स्पष्ट है। उनके शब्दों में—

यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिधा।
अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम्॥ काव्यालं० ८।३८॥

अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'चित्रमीमांसा' में भोज द्वारा दिये गये रूपक के लक्षण को अतिशयोक्ति में अतिव्याप्त माना है।

"यत्तु सरस्वतीकण्ठाभरणोक्तं लक्षणम्—

यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात।
उपमेये भवेद् वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः॥ इति॥

तदप्यतिशयोक्तावतिव्याप्तम्। 'मुखं चन्द्रः" इति रूपके चन्द्रशब्दस्य मुखे गौणसारोप्यलक्षणा, 'चन्द्रः' इत्यतिशयोक्तौ साध्यवसानलक्षणा इत्यालङ्कारिकासिद्धान्तात।" पृ० १६६, चित्रमीमांसा॥

यदेति । यत्रोपमानपदानां पद्मादीनामुपमेयेषु मुखादिषु वृत्तिर्बोधकता भवेत्तदा रूपकम् । कथमन्यस्यान्यबोधकतातिप्रसङ्गात् । तत्राह—गौणेति । गौणवृत्तिर्गौणी तदाश्रयणात् । तथा च गौणान्यस्यान्यबोधकता । एवं च यत्रोपमानोपमेयपदाभ्यामभेदो गुणादिपुरस्कारेण बोध्यते तत्र रूपकं, यत्र सादृश्यमात्रं तत्रोपमेति तयोर्भेदः ॥

विभागमाह—

शब्दार्थोभयभूयिष्ठभेदात्त्रेधा तदुच्यते ।
शब्दभूयिष्ठमेतेषु प्रकृतं विकृतं तथा ॥ २५ ॥
अर्थभूयिष्ठमप्याहुः प्राधान्येऽङ्ग्यङ्गयोर्द्विधा ।
द्विधैवोभयभूयिष्ठं शुद्धसंकीर्णभेदतः ॥ २६ ॥

तत्र प्रकृतशब्दभूयिष्ठविभागमाह—

चतुर्धा प्रकृतं तेषु शब्दभूयिष्ठमुच्यते ।
समस्तं व्यस्तमुभयं सविशेषणमित्यपि ॥ २७ ॥

तेषु समस्तं यथा—

'पाणिपद्मानि भूपानां संकोचयितुमीशते ।
त्वत्पादनखचन्द्राणामर्चिषः कुन्दनिर्मलाः ॥ २५ ॥

अत्र 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २।१।५६' इति समासे पद्मानीव पद्मानि चन्द्रा इव चन्द्रा इत्यभेदोपचारेणोत्पन्नसादृश्यात्पाणीनां नखानां च पद्मचन्द्रादिभिरभिधाने सामान्येवादिशब्दाप्रयोगादुपमानार्थस्तिरोभूत इति सोऽयं गौणशब्दव्यपाश्रयः समासहेतुकः समस्तरूपं नाम प्रकृतरूपकेषु शब्दभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

(रूपक के) भेदों को कहा है—

शब्द, अर्थ तथा उभय की भूयिष्ठता के भेद से रूपक तीन प्रकार का कहा जाता है। इनमें से शब्द-भूयिष्ठभेद प्रकृत तथा विकृत (दो प्रकार) का होता है। अर्थ-भूयिष्ठ को भी अङ्गी तथा अङ्ग की प्रधानता के आधार पर दो प्रकार का कहा गया है। शुद्ध तथा संकीर्णभेद से उभय-भूयिष्ठ भी दो प्रकार का है। इनमें भी जो शब्द भूयिष्ठ है, उसका प्रकृत भेद चार प्रकार का—(१) समस्त (२) व्यस्त (३) उभय (४) सविशेषण—कहा जाता है ॥ २५-२७ ॥

इन प्रकृत के चार भेदों में से समस्त का उदाहरण—

कुन्द के फूल की भाँति स्वच्छ आपके चरणों के नखों रूपी चन्द्रों की किरणें राजाओं के करकमलों को संकुचित करने में समर्थ है ॥ २५ ॥

यहाँ 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ॥ २।१।५६ ॥" इस सूत्र के अनुसार समास करने पर 'कमल के सदृश कमल' तथा 'चन्द्रों के सदृश चन्द्र हैं' इस अभेदभाव का उपचारतः ग्रहण होने से सदृशता उत्पन्न होने के कारण हाथों तथा नखों का कमल तथा चन्द्रमा के साथ कथन होने से तथा सामान्य वाचक इव-आदि शब्दों का प्रयोग न होने से उपमान का अर्थ

तिरस्कृत हो गया है। अतः यही है गौणरूप से शब्द पर आश्रित, समास के कारण उत्पन्न प्रकृत रूपक के भेदों में समस्तरूप नामक शब्दभूयिष्ठ रूपक का भेद।

स्व० भा०—यहाँ वृत्ति में भाव स्पष्ट हैं। इस स्थान पर यह व्यक्त किया गया है कि उपमेय-वाचक शब्द व्याघ्र आदि आकृतिगण के शब्दों के साथ समस्त होते हैं, यदि वहाँ साधारण धर्म का प्रयोग न हो तो। ऐसी दशा में ही इस प्रकार का समास होगा, साधारण धर्म के रहते हुये नहीं—जैसे 'व्याघ्र इव शूरः पुरुषः' में 'शूरता' रूप सामान्य का ग्रहण होने से वाचक 'इव' भी है और समास भी नहीं हुआ।

वस्तुतः अभेद तो तब होता है जब उपमान तथा उपमेय दोनों एक ही हों, जैसे चन्द्रमा के सदृश चन्द्रमा आदि में, किन्तु यह मुख्या अथवा अभिधा वृत्तिके कारण होता है। जब गौणीवृत्ति का अवलम्ब लिया जाता है तब सामान्यवाचक पदों का तिरस्कार करके उपमान तथा उपमेय में अभेद की सिद्धि की जाती है। यह रूपक समास के द्वारा ही प्रायः सम्पन्न किया जाता है। समास होने से यह समस्त का उदाहरण है।

शब्देति। प्रथमं यावद्रूपकं त्रिधा—शब्दभूयिष्ठार्थभूयिष्ठतदुभयभूयिष्ठभेदात्। तत्र शब्दभूयिष्ठं प्रकृतविकृतभेदाद् द्विधा, अर्थभूयिष्ठमङ्गिप्रधानाङ्गप्रधानभेदाद् द्विधा, उभयभूयिष्ठमपि शुद्धसंकीर्णभेदाद् द्विधेति विभागः॥

चतुर्थेति। पाणीति। त्वत्पादनखचन्द्राणामर्चिपस्तेजांसि भूपानां करकमलानि संकोचयितुं निमीलयितुमीशते समर्था भवन्ति। अर्चिषः कीदृश्यः। कुन्दपुष्पवदमलाः। 'अर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्' इत्यमरः। पाणिः पद्ममिव नखश्चन्द्र इवेत्यत्र 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २।१।५६' इति समासः। इह सामान्यस्येवादेरप्रयोगेणाभेदोपचारादुपमानार्थस्तिरोभूत इति गौणीपुरस्कारः। तिरोभूतत्वं च परमार्थतः सन्नपि भेदो न भासत इति, तत्तु समासेनैव कृतम्, अत एव शब्दप्राचुर्याच्छब्दभूयिष्ठता॥

व्यस्तं यथा—

'अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन्कुसुमानि नखार्चिषः।
बाहू लते वसन्तश्रीस्त्वं नः प्रत्यक्षचारिणी॥ २६॥'

अत्रापि पूर्ववत्पल्लवकुसुमलतावसन्तश्रीशब्दानां गुणवृत्त्याश्रयेणाङ्गुलीनखार्चिर्बाहुवर्णनीयनामिकाभिः सह सामानाधिकरण्यात्सामान्येवादिशब्दाप्रयोगाच्च तिरोभूतेऽप्युपमानार्थे समासो न कृत इत्यसमस्तरूपं नाम प्रकृतरूपकेषु शब्दभूयिष्ठरूपकभेदः॥

व्यस्त का उदाहरण—

उँगलियाँ पल्लव हैं, पुष्प हैं नख की किरणें, और दोनों भुजायें हैं लतायें, इस प्रकार तुम तो हमारे लिये प्रत्यक्ष विचरण कर रही वसन्त शोभा हो॥ २६॥

यहाँ भी पहले की भाँति पल्लव, कुसुम, लता तथा वसन्त श्री शब्दों का गुणवृत्ति से आश्रय लेने के कारण अङ्गुली, नखार्चि, तथा बाहु रूप वर्णनीय नामवालियों के साथ सामानाधिकरण्य के कारण तथा सामान्य इव आदि शब्दों का प्रयोग न होने के कारण उपमान का अर्थ तिरोहित हो जाने पर भी समास नहीं किया गया। इस प्रकार प्रकृत रूपक के भेदों में यह असमस्त रूप नामक शब्दभूयिष्ठरूपक का भेद है।

स्व० भा०—श्लोक में स्पष्ट ही समास का अभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रयुक्त पदों से अभेद का भी प्रकटन होता है। इस प्रकार व्यस्त रूपक हैं।

अङ्गुल्य इत्यादि। हे सुन्दरि, त्वं नोऽस्माकं प्रत्यक्षचारिणी दृष्टिविषया पादविहारिणी वा वसन्तस्य श्रीरसि। अभेदोपचारे बीजमाह—नवाङ्कुरयः पल्लवान्यासन्। नखदीप्तयः पुष्पाण्यासन्। बाहू लते बाहुद्वयं च लताद्वयम्। 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः। उपमानोपमेयभेदमाह—सामान्येति। इह समासाभावाद्व्यस्तरूपता॥

समस्तव्यस्तं यथा—

'स्मितं मुखेन्दो ज्योत्स्ना ते प्रभाम्बु कुचकुम्भयोः।
दोर्लतापल्लवे पाणौ पुष्पं सखि नखार्चिषः॥ २७॥'

अत्र मुखेन्दोः स्मितमेव ज्योत्स्ना, कुचकुम्भयोः प्रभेवाम्बु, दोर्लतयोः पल्लवभूते पाणौ नखार्चिष एव पुष्पमिति समस्तानामसमस्तानां च गौणशब्दानामुपमातिरस्कारेण दर्शितत्वादिदं समस्तव्यस्तरूपं नाम प्रकृतरूपकेषु शब्दभूयिष्ठरूपकभेदः॥

समस्त-व्यस्त का उदाहरण—

हे सखि, तुम्हारे मुखचन्द्र में तो मन्द मुसकान ही चन्द्रिका है, तुम्हारे दोनों कुच रूपी कुम्भों में प्रभा का ही अम्बु हैं, हाथों में भुजलता का पल्लव तथा हाथ के नखों की किरणें ही पुष्प हैं॥ २७॥

यहां मुखचन्द्र की मुसकान ही ज्योत्स्ना, कुचकुम्भों की छटा ही जल, भुजलताओं के पल्लव बने हाथों में नखद्युति ही पुष्प है। इस प्रकार समस्त तथा असमस्त दोनों प्रकार के गौण शब्दों के सादृश्य-भाव का तिरस्कार करते हुये दृष्टिगोचर होने से यह प्रकृत रूपक के भेदों में समस्त-व्यस्त नामक शब्द-भूयिष्ठ रूपक का भेद है।

स्व० भा०—'स्मितज्योत्स्ना' आदि उपमेय तथा उपमान पद असमस्त रूपसे तथा 'प्रभाम्बु' 'कुचकुम्भ' आदि पदों में यहाँ समास है। दोनों प्रकार के तत्त्वों का दर्शन होने से इसमें समस्त-व्यस्तता मानी गई है।

स्मितमित्यादि। हे सखि, तव मुखेन्दौ स्मितमीषद्धासो ज्योत्स्नास्ति। कुचकुम्भयोः प्रभा दीप्तिरम्बु जलम्। बाहुलतायाः पल्लवभूते मणौ नखदीप्तयः पुष्पम्। 'नीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इत्यमरः। वादिव्यतिरेकादुपमातिरस्कारः। इह प्रथमं समस्तं ततोऽसमस्तमिति समस्तव्यस्तता॥

सविशेषणं यथा—

'हरिपादः शिरोलग्नजह्नुकन्याजलांशुकः।
जयत्यसुरनिःशङ्कसुरानन्दोत्सवध्वजः॥ २८॥'

अत्र यथोक्तविशेषणविशिष्टो यो हरिपादो यश्च हरिहतासुरेभ्यो निःशङ्कानां सुराणामानन्दोत्सवे ध्वजस्तयोः सविशेषणयोरेव प्रतीयमानसादृश्ययोः परस्परमुपमानोपमेयभाव इति सविशेषणं नाम प्रकृतरूपकेषु शब्दभूयिष्ठरूपकभेदः। तदेतच्चतुष्टयमपि प्रकृतसमासादिशब्दनिबद्धमिति प्रकृतमुच्यते॥

सविशेषण का उदाहरण—

(बलि-बन्धन के पश्चात) दैत्यों से निर्भय हो गये देवों के आनन्दध्वज के सदृश प्रतीत होने वाला विष्णु का चरण सर्वोत्कृष्ट है जिसके अग्र भाग में लगा हुआ गङ्गा का जल ध्वजा के वस्त्र की भांति दीखता था ॥ २८ ॥

यहाँ श्लोक में कहे गये विशेषणों से संयुक्त जो विष्णु का चरण है, तथा हरि के द्वारा मारे गये असुरों से निर्भय हो गये देवताओं के आनन्द पूर्वक किये जा रहे उत्सव के समय लगाया गया ध्वज है, इन दोनों के विशेषण से संयुक्त होने पर ही दोनों का सादृश्य प्रतीत होता है और उन्हीं में परस्पर उपमान तथा उपमेय भाव स्पष्ट होता है। इस प्रकार यह प्रकृत रूपक के भेदों में सविशेषण नामक शब्दभूयिष्ठरूपक का भेद है। ये चारों भेद प्रस्तुत समास आदि शब्दों से निरुद्ध हैं, इसलिये प्रकृत कहे जाते हैं।

स्व० भा०—यहाँ उपमेय तथा उपमान दोनों के विशेषणों के कारण ही उनमें सादृश्य अथवा अभेद सम्पन्न होता है। उपमेय है 'हरिपाद' तथा उपमान है 'ध्वज' इसके अतिरिक्त पद विशेषण हैं। इनके अभाव में कहाँ विष्णु का पद और कहाँ ध्वजा ?

दण्डी ने उक्त श्लोक में सविशेषणरूपकता का निरूपण एक ही श्लोक में कर दिया है।

विशेषणसमग्रस्य रूपं केतोर्यदीदृशम् ।
पादे तदर्पणादेतत्सविशेषण-रूपकम् ॥ काव्यादर्श २।८२ ॥

अर्थात जिस विशेषण से समन्वित ध्वज को निरूपित किया गया है, उसी का चरण पर भी आरोप है। चरण में ध्वजदण्ड को आरोपित किया गया है और उसमें अपेक्षित वस्त्र के स्थान पर गङ्गा का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार संपूर्ण विशेषणों से युक्त ध्वज का चरण पर आरोप है।

हरीत्यादि। शिरसि अग्रे लग्नं बलिवञ्चने त्रिविक्रमदशायां ब्रह्माण्डाग्नौ ब्रह्मणा पाद्यार्थमावर्जितं यज्जह्नुकन्याया गङ्गाया जलं तदेवांशुकं वस्त्रमिव यत्र तादृशो हरेर्वामनरूपस्य पादो बलिविजयादसुरेभ्यो निःशङ्कानां देवानां हर्षोत्सवे ध्वज एव जयति। अत एव जाह्नवीजलमंशुकत्वेन रूपितम्, तेन विना ध्वजानुपपत्तेः 'शिरोऽग्रे मस्तकेऽपि च' इति मेदिनीकारः। इह पादध्वजयोर्विशेषणवतोरेव रूपणात् सविशेषणरूपकता। प्रकृतत्वं प्रस्तुतत्वम्। तच्च समासादिभिरेवेति प्रकृतरूपकता ॥

विकृतशब्दभूयिष्ठं विभजते—

चतुरो विकृतस्यापि प्रभेदान्प्रतिजानते ।
परम्पराश्च रशनामालारूपकरूपकम् ॥ २८ ॥

शब्दभूयिष्ठ के विकृतरूप के भी चार भेद कहे गये हैं। वे हैं (१) परंपरा (२) रशना (३) माला (४) रूपक-रूपक ॥ २८ ॥

चतुर इति। विकृतस्यापि चतुरो भेदान् प्रतिजानते स्वीकुर्वन्ति। धीरा इति शेषः॥

तेषु परम्परा यथा—

'ववसाअरइप्पओसो रोसगइन्ददिढसिङ्खलापडिबन्धो ।
कह कह वि दासरहिणो जअकेसरिपञ्जरो गओ घणसमओ ॥२९॥'

[व्यवसायरविप्रदोषो रोषगजेन्द्रदृढश्रृङ्खलाप्रतिबन्धः ।
कथं कथमपि दाशरथेर्जयकेसरिपञ्जरो गतो घनसमयः॥]

अत्र दाशरथिसंबन्धिनो व्यवसायस्य रविणा, रोषस्य गजेन्द्रेण, जयस्य केसरिणा सहोपमानोपमेयभावकल्पनया यदेकं रूपणमथैतत्संबन्धितया प्रदोष-शृङ्खलाप्रतिबन्धपञ्जराणां द्वितीयं तत्र त्रयाणामपि घनसमयेन तृतीयं तेनेदं रूपकं परम्परानाम विकृतरूपकेषु शब्दभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

इनमें से परंपरा का उदाहरण—

राम के उद्योग रूपी सूर्य के लिये सायंकाल सदृश, क्रोध रूपी गजराज को रोकने के लिये मोटी सांकल की भांति तथा जय रूपी सिंह के लिये पिंजड़े की भांति वर्षा काल जैसे तैसे बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार व्यतीत हो पाया ॥ २९ ॥

यहाँ राम से सम्बद्ध व्यवसाय का सूर्य से, रोष का गजेन्द्र से, जय का केसरी से उपमान तथा उपमेय भाव की कल्पना करने से जो एक रूपण है (आरोप का कार्य है), इसके पश्चात् उसी से सम्बद्ध होने के कारण प्रदोष, शृङ्खला-प्रतिबन्ध तथा पञ्जरों का दूसरा (आरोपण है) और वहाँ भी इन तीनों का भी वर्षाकाल के साथ होने से तृतीय आरोपण हुआ, इसी के कारण विकृत रूपकों के भेदों में यह रूपक परम्परा नाम से शब्दभूयिष्ठरूपक का ही भेद है।

स्व० भा०—वृत्ति में सारा भाव स्पष्ट है कि यहाँ आरोप केवल एक ही बार न होकर तीन तीन बार हुआ है। अतः रूपकों की परस्पर एक परम्परा सी बन गई है। इसीलिये यहाँ परम्परा अथवा परम्परित रूपक है। इस भेद को विकृत के अन्तर्गत रखने का कारण है एक प्रधान सम्बन्धी से दूसरों का भी सम्बन्धित हो जाना। अर्थात् क्रमशः सम्बद्ध पदों का निरूपण होने से उनमें साक्षात् सम्बन्ध का अभाव हो जाता है।

ववसाअ इत्यादि। 'व्यवसायरविप्रदोषो रोषगजेन्द्रदृढशृङ्खलाप्रतिबन्धः। कथं कथमपि दाशरथेर्जयकेसरिपञ्जरो गतो घनसमयः॥' अत्र दाशरथे रामस्य कथं कथमपि कष्टसृष्ट्या घनसमयो वर्षर्तुरतीतः। कीदृशः। व्यवसायः कार्योद्योगः स एव रविस्तेजोमयत्वात्तस्य प्रदोषोऽस्तगमनकालः। रोष एव गजेन्द्रो दुर्निवारत्वात्तस्य दृढशृङ्खलाप्रतिबन्धः प्रतिबन्ध-कत्वात्। जय एव केसरी तस्य पञ्जरो गृहभेदो नियामकत्वात्। 'शृङ्खला निगडे त्रिषु' इति मेदिनीकारः। इह रामसंबन्धिसंबन्धिरूपणात्परम्परारूपकम्। संबन्धिसंबन्धित्वादेव विकृतत्वम् ॥

रशना यथा—

'किसलयकरैर्लतानां करकमलैर्मृगदृशां जगज्जयति।
नलिनीनां कमलमुखैर्मुखेन्दुभिर्योषितां मदनः ॥ ३० ॥'

अत्र किसलयकरैः, करकमलैः, कमलमुखैः, मुखेन्दुभिरिति रशनाक्रमेण शब्दानां संदर्भ उपलभ्यमानस्तदर्थानां मनोभुवो जगद्विजये लतादिसंबन्धात्क-रणभावमनुमापयतीति रशनानामैतद्विकृतरूपकेषु शब्दभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

रशना का उदाहरण—

नव कोंपल रूपी करों से लताओं के, कर रूपी कमलों से मृगनयनियों के, कमल रूपी मुखों से कमलिनियों के तथा सुन्दरियों के मुख रूपी चन्द्रमा से संसार को कामदेव जीत लेता है ॥३०॥

यहाँ किसलयकर, करकमल, कमलमुख तथा मुखेन्दु इस प्रकार रशना के क्रम से शब्दों का उपलब्ध होता हुआ संदर्भ उनके अर्थों की कामदेव के संसार-विजय के प्रसंग में, लता आदि

के सम्बन्ध से, करणत्व के भाव का अनुमान कराता है। इस प्रकार यह विकृत रूपकों में रशना नाम का शब्दभूयिष्ठ रूपक का भेद है।

स्व० भा०—रुद्रट के काव्यालंकार में भी (८।५०) यह श्लोक रशनारूपक के उदाहरण के रूप में मिलता है। इसे वह निरवयव रूपक के भेदों में एक मानते हैं। वृत्ति में जिस क्रम से शब्दों का उपन्यास किया गया है, वह दर्शनीय है। एक पद का अन्तिम अंश उत्तरवर्ती पद का आदि अंश होता है इस प्रकार उनकी परस्पर सम्बद्धता बनी रहती है।

किसलयेत्यादि। मदनः कामो हरिणाक्षीणां हस्तपद्मैर्लतानां किसलयकरैर्जगज्जयति। योषितां मुखचन्द्रैः पद्मिनीनां पद्ममुखैश्च जगज्जयति। इह रशना क्षुद्रघण्टिका तस्याः क्रमः पश्चाद्वलनयैकैकप्रथना शब्दगता प्रतीयत इति रशनारूपकमिदम् ॥

माला यथा—

'स्वामी दुर्नयवारणव्यतिकरे शौर्योपदेशे गुरु-
र्विस्रम्भे हृदयं नियोगसमये दासो भये चाश्रयः।
दाता सप्तसमुद्रसीमरशनादामाङ्किताया: क्षितेः
सर्वाकारमहो स्वयंवरसुहृत्को वा न कर्णो मम ॥ ३१ ॥'

अत्र स्वाम्यादीनां मालोपमादिक्रमेण निरूपितत्वान्मालारूपकं नाम विकृतरूपकेषु शब्दभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

माला रूपक का उदाहरण—

कर्ण दुर्नीति से हटाने के प्रसङ्ग में स्वामी है, वीरता की शिक्षा देते समय गुरु है, विश्वास के कार्यों के समय साक्षात् हृदय ही (अत्यन्त विश्वास का पात्र) है, कार्य में नियुक्ति के समय सेवक तथा भय की अवस्था में अवलम्ब है, सातों समुद्र की सीमा रूपी करधनी से संयुक्त पृथ्वी को देने वाला है। अहो, सभी रूपों में विद्यमान वह मेरा सहज मित्र है। अथवा वह मेरा क्या नहीं है ?॥ २१ ॥

यहाँ स्वामी आदि पदों का मालोपमा आदि के क्रम से निरूपण होने से यह विकृत रूपकों के भेदों में मालारूपक नाम का शब्द-भूयिष्ठरूपक का भेद है।

स्वामीत्यादि। को वा न, अपि तु सर्व एव। तदेवाह—दुर्नयस्य वारणे निवारणे व्यतिकर आसङ्गस्तत्र स्वामी प्रभुः। दुर्नयनिवारक इत्यर्थः। शौर्यस्योपदेशे गुरुरुपदेष्टा। विस्रम्भे हृदयं विश्वासपात्रम्। नियोग आज्ञा तत्काले दासः। भये आश्रयश्च। सप्तसमुद्रसीमान एव रशनादाम तच्चिह्नितायाः भूमेर्दाता। अहो आश्चर्यं सर्वाकारं यथा स्यादेवं स्वयंवरसुहृत् सहजमित्रं च, निहराश्रितं स्वयंवरशब्दार्थः। हृदयमित्यत्र हृल्लिङ्गव्यत्ययः। 'आज्ञा नियोग आदेशः' इत्यमरः। इह विस्तरेण रूपितत्वान्मालारूपकम् ॥

रूपकरूपकं यथा—

'मुखपङ्कजरङ्गेऽस्मिन्भ्रूलता नर्तकी तव।
लीलानाट्यामृतं दृष्टौ सखि यूनां निषिञ्चति ॥ ३२ ॥'

अत्र मुखमेव पङ्कजं तदेव रङ्गः, भ्रूरेव लता सैव नर्तकी, लीलैव नाट्यं तदेवामृतमिति रूपितानामपि रूपणेन समासेन रूपकरूपकं नामायं विकृतरूपकेषु शब्दभूयिष्ठरूपकभेदः। तदेतच्चतुष्टयमपि पदमात्रादिभिर्विकृतसमासादिशब्दैर्निबद्धमिति विकृतमुच्यते ॥

रूपक-रूपक का उदाहरण—

हे सखि, इस तुम्हारे मुख रूपी कमल के रङ्गमञ्च पर तुम्हारी भ्रूलता की नर्तकी युवकों के नयनों में विलास रूपी अभिनय का अमृत घोलती है ॥ ३२ ॥

यहाँ मुख ही कमल है और वही है रङ्गमञ्च, भ्रू ही है लता और वही है नर्तकी विलास ही अभिनय है और वही अमृत भी है, इस प्रकार आरोपितों का भी आरोप करने से, समास के माध्यम से, यह विकृत रूपकों के भेदो में रूपक-रूपक नाम का शब्दभूयिष्ठ रूपक का भेद है। ये चारो परम्परा आदि के साथ भेद विकृत समास आदि शब्दों से निबद्ध हैं, अतः विकृत कहे जाते हैं।

मुखेत्यादि। हे सखि, तव भ्रूलतास्मिन्मुखपद्मरङ्गे नर्तकी यूनां दृष्टौ नेत्रे लीलानाट्यामृतं निषिञ्चति। लीलाविलास एव नाट्यं नृत्यं तदेवामृतम्। इह मुखं पङ्कजेन रूपयित्वा रङ्गत्वेन रूपितम्. एवं भ्रुवौ लतात्वेन रूपयित्वा नर्तकीत्वेन रूपिते। लीलैव नाट्यं तदेवामृतमिति रूपितरूपणाद्रूपकरूपकम् ॥

अर्थभूयिष्ठरूपकेऽङ्गिप्रधानं विभजते—

समस्तं चासमस्तं च युक्तं चायुक्तमेव च।
चतुर्धाङ्गिप्रधानं स्यादर्थभूयिष्ठरूपकम् ॥ २९ ॥

तेषु समस्तं यथा—

ताम्राङ्गुलिदलश्रेणिनखदीधितिकेसरम् ।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम् ॥ ३३ ॥

अत्र समस्तोपमायामिव पादाख्यः पङ्कजाख्यश्चावयवी परस्परमुपमानोपमेयभूतः प्रतीयमानाभिधीयमानसादृश्यैरङ्गुलिश्रेणिनखदीधितिभिर्दलश्रेणिकेसरैश्च सह सामस्त्येन रूपितस्तद्योग्यस्थानविन्यासेन चार्थस्य प्राधान्यमभिहितमिति समस्तं नाम रूपकमिदमङ्गिप्रधानरूपकेऽर्थभूयिष्ठरूपकभेदः। न चैतद्वाच्यम्—'पाणिपद्मानि भूपाना'मित्यादेरुदाहरणादिदं न भिद्यत इति। तत्र हि नखार्चिषां क्रियासमावेशेन प्राधान्यमवगम्यते, न नखचन्द्राणां ततश्च न रूपकम्। पाणिपद्मेत्यस्य तु यद्यपि संकोचक्रियायामस्ति समावेशस्तथापि न तानि वर्णनीयत्वेनोपन्यस्तानि, अपि तु जिगीषुभाववर्णनाङ्गतया। अतः समावेशमात्रभणनान्न तत्र पाणिपद्मानां नापि नखचन्द्राणामर्थप्राधान्यमपि तु शब्दप्राधान्यमेव। इह तु चरणपङ्कजताम्राङ्गुलिदलश्रेण्यादिविशेषणविशिष्टस्य भूपालमौलिविनिवेशनेन प्राधान्यं प्रतीयत इत्युभयमपि निरवद्यम् ॥

अङ्गी की प्रधानता वाला अर्थभूयिष्ठरूपक (१) समस्त (२) असमस्त (३) युक्त तथा (४) अयुक्त रूप से चार प्रकार का होता है ॥ २९ ॥

इनमें से समस्त का उदाहरण—

आपके उस चरण कमल को जिसमें लाल अँगुलियाँ ही पंखुड़ियाँ हैं और नखों की किरणें ही केसर हैं, अन्य राजे-महाराजे अपने सिर पर धारण करते हैं। यहाँ समस्तोपमा के उदाहरण की भांति 'पाद' तथा 'पङ्कज' अवयवी हैं, जो परस्पर उपमान तथा उपमेय हैं। ये प्रतीयमान तथा

अभिधीयमान सादृश्य वाले अँगुलिश्रेणी, नखदीधिति तथा दलश्रेणी की केसरों के साथ समस्त रूप से आरोपित हैं। अपने समुचित स्थान पर पदयोजना से अर्थ की प्रधानता कही गई है। इस प्रकार अङ्गी-प्रधान रूपक के भेदों में यह समस्त रूपक नाम का अर्थभूयिष्ठ रूपक का भेद है। यहाँ यह नहीं कहना चाहिये कि—'पाणिपद्मानि भूपानाम्' इत्यादि उदाहरण से यह भिन्न नहीं है। यहाँ पर नखकिरणों का क्रिया में समावेश होने से उसकी प्रधानता प्रकट होती है, नखचन्द्रों की नहीं, अतः उसमें रूपक नहीं हैं। यद्यपि 'पाणिपद्म' इस शब्द का समावेश 'संकोचक्रिया' में है तथापि वे वर्णनीय रूप से वहाँ नहीं रखे गये हैं अपितु जीतने की इच्छा के भाव के वहाँ न तो 'पाणिपद्मों' का और न तो नखचन्द्रों के ही अर्थ का प्राधान्य है, अपितु शब्द की ही प्रधानता है। यहाँ तो 'चरणपङ्कज', ताम्राङ्गुलिदलश्रेणी आदि विशेषण से विशिष्ट ही 'भूपालमौलि' का विनिवेश होने से प्राधान्य प्रतीत होता है। इस प्रकार ये दोनों ही प्रसङ्ग निर्दोष हैं।

स्व० भा०—यहाँ अर्थभूयिष्ठ अङ्गीप्रधान समस्त रूपक का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। उसके पश्चात् शब्दभूयिष्ठ समस्त रूप प्रकृत रूपक के उदाहरण से इसका भेद निरूपित किया गया हैं। इसी प्रसंग में यह सिद्ध किया गया है कि वहाँ शब्दभूयिष्ठता कैसे है और यहां अर्थभूयिष्ठता कैसे है? वस्तुतः वहाँ शब्द प्राधान्य इसलिये है क्योंकि वहाँ 'अर्चिष' पद 'ईशते' क्रिया का कर्ता है अतः क्रिया से उसका साक्षात् सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त 'अर्चिष्' पद स्वयं समस्त नहीं हैं। असमस्त होने से भी अन्य पदों की अपेक्षा इसकी स्वतन्त्रता ही सिद्ध होती है। वाक्य में किसी पद की प्रधानता के लिये उसका केवल क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध-क्रिया में समावेश-ही आवश्यक नहीं है, अपितु उसी को सबका प्रतिपाद्य भी होना चाहिये। समस्तरूपक के शब्द-भूयिष्ठता के उदाहरण में 'पाणिपद्मानि' कर्म होने से 'संकोचयितुं' क्रिया में समाविष्ट है किन्तु प्रतिपाद्य 'अर्चिषः' के होने से, न कि उससे, वह अप्रधान है। यही दशा 'नखचन्द्राणाम्' की भी है। उपर्युक्त अर्थभूयिष्ठता के इस उदाहरण में निर्दिष्ट लक्षणों से विशिष्ट चरण आदि अर्थ की ही प्रधानता है। दण्डी ने इस श्लोक में सकलरूपकता माना है और उसकी सङ्गति इस प्रकार सिद्ध की है—

अङ्गुल्यादौ दलादित्वं पादे चारोप्य पद्मताम्।
तद्योग्यस्थानविन्यासादितत् सकलरूपकम्॥ काव्यादर्श २।७०॥

ऐसा लगता है कि भोज ने 'तद्योग्यस्थानविन्यासेन' पद का समावेश अपनी वृत्ति में दण्डी की उक्त कारिका से लेकर ही किया है। 'तद्योग्यस्थान विनिवेश' का अर्थ है कि सम्पूर्ण गुण-दल, केसर आदि से—संयुक्त कमल अपने योग्य ही राजाओं के शिर पर सुशोभित हो रहा है। यदि वह इन गुणों से विशिष्ट न होता तो राजाओं के सिर पर न रखा जाता। अतः यहाँ गुण विशिष्ट वस्तु की प्रधानता है—अर्थ का प्राधान्य है, शब्द का नहीं।

समस्तमिति। ताम्रेत्यादि। भवच्चरणपद्मं नृपैर्मस्तके ध्रियते। कीदृशम्। ताम्राङ्गुलयो दलश्रेणिः पत्रपङ्क्तिर्यत्र तत्। नखदीधितयः केसराणि यत्र तत्। समस्तेति। यथा समस्तोपमायामवयविनोः सामस्त्येनोपमा, तथात्राप्यवयविनोरेव प्राधान्येन सामस्त्येन रूपकमित्यर्थः। अङ्गुल्यादौ प्रतीयमानता दलादावभिधीयमानता। तर्हि शब्दभूयिष्ठत्वमेव स्यादत आह—तद्योग्येति। शब्दोपस्थापितानामर्थानामिह यथास्थानं विनिवेशादर्थप्राधान्यमित्यर्थभूयिष्ठत्वमुक्तमित्यर्थः। शब्दभूयिष्ठरूपकभेदे समस्तेऽतिव्याप्तिमाशङ्कते—नचेति। तत्रापि नानाशब्दोपस्थापितानामर्थानामवयविनोरेव प्राधान्यमतो नानयोर्भेद

इत्याशयः। परिहरति—तत्र हीति। तत्राचिषां प्राधान्यं साक्षात्क्रियान्वयात्, समर्थाना-मवयविनोरेव प्राधान्यमतोऽनयोर्भेद इत्याशयः। नखचन्द्राणां तदङ्गतयान्वयः। तह्यं-चिषामेव रूपकत्वमस्तु, तथापि स दोषस्तदवस्थ एवेत्यत आह—ताश्चेति। ता अर्चिषः। पाणिपद्मानीत्यत्र रूपकत्वे दोषतादवस्थ्यादाह—पाणीति। जिगीषुभाववर्णनायां मुख्यत्वे-नाङ्गतया पाणिपद्माद्यन्वय इति शब्दप्राधान्यमेव। प्रकृते तु चरणादेरवयविनः प्रधान-क्रियान्वय इत्यर्थप्राधान्यमिति भेदः॥

असमस्तं यथा—

'अकस्मादेव ते चण्डि स्फुरिताधरपल्लवम्।
मुखं मुक्तारुचो धत्ते घर्माम्भःकणमञ्जरीः॥ ३४॥'

अत्राप्येकदेशोपमाक्रमेणाधरपल्लवस्वेदाम्बुकणमञ्जरीणां सहजाहार्याव-यवानामभिधानादुपमानावयविनश्चानभिधानादिदमसमस्तं नाम रूपकमङ्गिप्र-धानेऽर्थभूयिष्ठरूपकभेदः। अत्रापि च स्फुरिताधरपल्लवमिति विशेषणविशि-ष्टस्य मुख्यवस्तुनः घर्माम्भःकणमञ्जरीधारणक्रियासमावेशः प्राधान्यं स्थापयति।

असमस्त का उदाहरण—

हे कोपशालिनि, एकाएक ही तुम्हारे मुख का अधरपल्लव हिलने लगा और स्वेद बिन्दु की मञ्जरियाँ मोती सी चमकती हुई वहीं उपस्थित हो गईं॥ ३४॥

यहाँ भी एक देशोपमा क्रम से अधरपल्लव और स्वेदाम्बुकण मञ्जरी का, सहज और आहार्य अवयवों का, अभिधान होने से तथा उपमानरूप अवयवी का अभिधान न होने से यह अङ्गिप्रधान रूपक के भेदों में असमस्त नाम का अर्थभूयिष्ठ रूपक का भेद है। यहाँ पर भी 'स्फुरिताधरपल्लवम्' इस विशेषण से विशिष्ट मुख्यवस्तु की ही, स्वेदबिन्दुमञ्जरी धारण रूप क्रिया में होने वाला समावेश प्रधानता की स्थापना करता है।

स्व० भा०—जिस प्रकार एक देशोपमा नामक भेद में भिन्न-भिन्न अवयवों का पृथक्-पृथक् सादृश्य निरूपित होता है उसी प्रकार यहाँ भी सहज तथा आहार्य अवयवों का पृथक रूप से वर्णन है। समस्त अङ्गों का निरूपण न होने से असमस्तरूपकता है। यहाँ पर मुख्य अवयवी मुख है। उसका भी किसी पद के साथ समास नहीं है। आचार्य दण्डी ने इस श्लोक में अवयव रूपकता का निरूपण एक ही कारिका में बड़े सुन्दर ढंग से किया है—

मञ्जरीकृत्य धर्माम्भः पल्लवीकृत्य चाधरम्।
नान्यथा कृतमत्रास्यमतोऽवयवरूपकम्॥ काव्यादर्श २.७२॥

अकस्मादित्यादि। हे चण्डि कोपने, तव स्फुरिताधरपल्लवं मुखं कर्तृ, अकस्मादेव कारणं विनैव मौक्तिकच्छाया घर्माम्बुकणमञ्जरीर्धत्ते बिभर्ति। अत्रापीति। यथैकदेशोप-माया मवयवानां प्राधान्यं तथात्राप्यवयवानामेव प्राधान्यादसमस्तरूपकत्वम्। एवं चाव-यविनो मुखस्य रूपकाभावादवयवरूपकमिदमिति भावः। सहजावयवताधरे आहार्या-वयवतौपचारिक्यवयवता घर्माम्भःकणस्यावयवाश्रयत्वात्। उपमानावयविनो लता-ख्यस्य। शब्दभूयिष्ठरूपकभेदासमस्तरूपकादस्य भेदमाह—अत्रापीति। इहोक्तवस्त्वर्थ-प्राधान्यमिति भेदः।

युक्तं यथा—

'स्मितपुष्पोज्ज्वलं लोलनेत्रभृङ्गमिदं मुखम्।

न कस्य नन्दनं सुभ्रु सुरभिश्वसितानिलम् ॥ ३५ ॥'

अत्र स्मितपुष्पोज्ज्वलं लोलनेत्रभृङ्गं सुरभिश्वसितानिलं ते मुखं न कस्य नन्दनमिति पुष्पभृङ्गादीनां परस्परं युक्त्युपपत्तेर्युक्तं नामायमङ्गाङ्गिप्रधानरूपकेऽत्वर्थभूयिष्ठो रूपकभेदः। अत्र यद्यपि नन्दनमिव नन्दनमिति गौणवृत्तिव्यपाश्रयः शब्द एव समस्तविशेषणैः परिष्क्रियते तथापि नन्दयतीति नन्दनमिति कृदभिहितक्रियासमावेशे मुखाख्यस्यैव वस्तुनः प्राधान्यमवगम्यते तस्य त्वपह्नियत इत्यर्थप्रधानमेवैतत् ॥

युक्त का उदाहरण—

हे सुन्दर भौहोंवाली, मुसकान रूप कुसुम से चमक उठा, चञ्चल नेत्र रूपी भ्रमर से संयुक्त और सुगन्धित श्वास रूप वायु से परिपूर्ण यह मुख किसको प्रसन्नता नहीं देता ? ॥ ३५ ॥

यहाँ 'स्मितपुष्पोज्ज्वल, लोलनेत्रभृङ्ग तथा सुरभिश्वसितानिल तुम्हारा मुख किसके लिये हर्षजनक नहीं होगा इस प्रकार पुष्प, भृङ्ग आदि के युक्ति से युक्त होने के कारण यह अङ्गाङ्गि प्रधान रूपक के भेदों में युक्तनाम का रूपक का भेद है। यहाँ पर यद्यपि 'नन्दन के सदृश नन्दन ही है' इस प्रकार से गौणवृत्ति का आश्रय होने से शब्द ही समस्त गुणों से परिष्कृत होता है तथापि 'आनन्दित करने वाला नन्दन है' इस प्रकार कृत् प्रत्यय के द्वारा क्रिया में समावेश का कथन होने से मुख नामक वस्तु की ही प्रधानता ज्ञात होती है और उस 'नन्दन' की प्रधानता का अपहरण हो जाता है, इस प्रकार यह भेद अर्थप्रधान ही है।

रत्न० भा०—जहाँ पर आरोप सङ्गत होता है [वहाँ युक्तता मानी जाती है और जहाँ पर आरोपण असङ्गत होता है वहाँ पर अयुक्तता होती है। यहाँ पर मुसकान को पुष्प, चञ्चलनेत्रों को भृङ्ग तथा सुरभित श्वास को वायु मानना युक्त है। ये विशिष्ट अङ्ग हैं जिनका निरूपण किया गया है। इसी प्रकार अङ्गी मुख को सब का हर्षद कहने से अङ्गी का भी निरूपण उचित है। वस्तुतः यहाँ मुख को उस नन्दन कानन की भाँति कहा गया है जिसमें फूल खिलते हैं, भ्रमर विचरते हैं और सुरभित पवन प्रवाहित होता है। 'नन्दन' शब्द यहाँ रूढ़ अर्थ में—देव-कानन के अर्थ में न प्रयुक्त होकर 'ल्युट्' प्रत्ययान्त कृदन्त पद के रूप में आह्लादक' अर्थ को प्रकट करता है। इस प्रकार अङ्गभूत स्मित, नेत्र और श्वास का ग्रहण होने से यहाँ अङ्ग की तथा मुखरूप अङ्गी की भी उत्तरार्ध में प्रधानता पूर्ण हो जाने से अङ्गी की। इस भांति दोनों को मिलाकर अङ्गाङ्गिप्रधानता की विवक्षा है। 'नन्दन' पद का भी रूढ़ प्रयोग न स्वीकार करके यौगिक—व्युत्पत्तिगत-अर्थ लेने से अर्थभूयिष्ठता भी सिद्ध हो रही है।

दण्डी के काव्यादर्श में उदाहरण का पूर्वार्ध ही योगरूपक के रूप में उदाहृत है, अतः उनके अनुसार लक्षण की सङ्गति इस प्रकार है

'स्मितपुष्पोज्ज्वलं लोलनेत्रभृङ्गमिदं मुखम्।
इति पुष्पद्विरेफाणां सङ्गत्या युक्तरूपकम् ॥ काव्यादर्श २ ॥७७॥

स्मितेत्यादि। हे सुभ्रु, तवेदं मुखं कस्य न नन्दनं हर्षजनकमपि तु सर्वस्यैव। नः शिरश्चालने। कीदृशम्। स्मितमेव पुष्पं तेनोज्ज्वलं दीप्तिमत्। लोलनेत्रे एव भृङ्गौ यत्र तत्। सुरभिः श्वासानिलो यत्र तत्। युक्तिर्योगः उपपत्तिश्चोभयमपि विवक्षितमिह। तथा हि पुष्पभ्रमरयोर्युक्तिर्योगः पुष्पैः सह भ्रमराणां मकरन्दपानकृतः सम्बन्धः। अत एवो-

पपद्यते पुष्पभ्रमरयोरेकत्रावस्थानम्, न हि पुष्पाणि भ्रमरैर्विना शोभन्त इति युक्तरूपक-तेत्याशयवानाह—परस्परमिति। नन्दनमिव नन्दनमिति शब्दप्राधान्येऽपि नन्दयतीति नन्दनमिति कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशत इति वचनादन्यप्राधान्यमेव विवक्षित-मिति शङ्कोत्तराभ्याम्।

अयुक्तं यथा—

'इदमार्द्रस्मितज्योत्स्नं स्निग्धनेत्रोत्पलं मुखम्।
जगन्नेत्रेन्दुरस्माकं कथं तापाय कल्पते ॥ ३६ ॥'

अत्र ज्योत्स्नोत्पलयोरयोगाज्जगन्नेत्रेन्दोश्च मुखस्य संतापकारणमिदमयुक्तं नामाङ्गिप्रधानरूपकभेदेष्वर्थभूयिष्ठरूपकभेदः। अत्रापि पूर्ववन्मुखाख्यवस्तुनो विशेषणैः परिष्करणमिति तस्यैव प्राधान्यमवगम्यते ॥

अयुक्त का उदाहरण—

प्रेम पूर्ण मुसकान रूप ज्योत्स्ना से युक्त, स्नेहपूर्ण नेत्र रूपी कमल से समन्वित यह तुम्हारा मुख संसार के नयनों के लिये तो चन्द्रमा है किन्तु हमारे लिये तापप्रद कैसे हो रहा है ॥ ३६ ॥

यहाँ ज्योत्स्ना तथा उत्पल इन दोनों का योग युक्त न होने से तथा संसार के नेत्र के लिये चन्द्रमा के सदृश होने पर भी मुख के संतापकारक होने से यह अङ्गि-प्रधान रूपक के भेदों में अयुक्त नाम का अर्थभूयिष्ठरूपक का भेद है। यहाँ भी पहले की भांति मुखनामक वस्तु का ही विशेषणों से परिष्कार किया गया है अतः उसी की प्रधानता द्योतित होती है।

स्व० भा०—विरोधी तत्त्वों की उपस्थिति एक स्थान पर होने से अनुपयुक्तता होती है। यहाँ एक ही मुख में ज्योत्स्ना तथा उत्पल दोनों विरोधी तत्त्वों का सन्निवेश है, अतः अयुक्तता है। इसी प्रकार चंद्रमा को शीतल के स्थान पर तापद कहा गया है। ये दोनों बातें युक्त नहीं हैं, अतः अयुक्तता तो स्वतः सिद्ध है। मुख रूपी वस्तु की प्रधानता होने से अर्थभूयिष्ठता भी है।

इदमित्यादि। हे कान्ते, तवेदं मुखं जगन्नेत्राणामिन्दुरस्माकं तापाय कथं कल्पते शक्तो भवति। कीदृशम्। आर्द्रस्मितं सरसेषद्धास एव ज्योत्स्ना यत्र तत्। स्निग्धं नेत्रोत्पलं यत्र तत्। स्मितस्यार्द्रत्वेन स्नेहजनितता लक्ष्यते, कोपस्मितस्य सूक्ष्मत्वात्। इह ज्योत्स्नाया उत्पलस्य च सहानवस्थानं तच्च मिथोऽनुपकार्योपकारकभावादित्ययुक्त-रूपकता। अर्थप्राधान्यं पूर्वोक्तयुक्त्यात्रापीत्याह—अत्रापीति।

अर्थभूयिष्ठरूपकेऽङ्गप्रधानं विभजते—

भेदानङ्गप्रधानस्य चतुरोऽवयवाश्रयान्।
सहजाहार्यतद्योगतद्वैषम्यैः प्रचक्षते ॥ ३० ॥

तेषु सहजावयवं यथा—

'पप्फुरिअउट्ठदलअं तक्खणविगलिअरुहिरमहुविच्छड्डम्।
उक्खडिदअण्ठणालं पडिअं फुडदसणकेसरं मुहकमलम् ॥ ३७ ॥

[प्रस्फुरितोष्ठदलं तत्क्षणविगलितरुधिरमधुविच्छर्दम्।
उत्खण्डितकण्ठनालं पतितं स्फुटदशनकेसरं मुखकमलम् ॥]

अत्रोष्ठादीनां दलादीनां च मुखाम्भोजावयवानां स्फुरितविगलितोत्खण्डि-

तस्फुटविशेषणविशिष्टानां परस्परमुपमानोपमेयभावरूपितानां मुखपक्षे कमलपक्षे च सहजत्वं गम्यत इति सहजावयवो नामायमङ्गप्रधानरूपकेष्वर्थभूयिष्ठरूपकभेदः नैतद्वाच्यम्—ताम्राङ्गुलिदलश्रेणीत्यादेरर्थप्रधानभेदादिदं न भिद्यत इति। तत्र हि भूपालमौलिधारणक्रियासमावेशेनावयविनः प्राधान्यं विवक्षितम्, इह तु पतनक्रियायामवयवानामत एव ते स्फुरितादिविशेषणैर्विशिष्यन्ते ॥

(अर्थभूयिष्ठ) अङ्ग प्रधान रूपक के अवयवाश्रित भेदों को सहज, आहार्य तद्युक्त तथा तद्विषम रूपों से चार प्रकार का कहते हैं ॥ १० ॥

इनमें से सहज अवयव का उदाहरण—

हिलरहे ओष्ठपुट रूपी पंखुड़ियों वाला, उस समय झर रहे रक्त रूपी मधुप्रवाह वाला, कटे हुये कण्ठ रूपी नाल वाला तथा स्पष्ट निकले हुये दन्त रूप केसर वाला मुख कमल गिर गया ॥ ३७ ॥

यहाँ ओष्ठ आदि तथा दल आदि की जो कि मुख तथा कमल के अवयव हैं और स्फुरित, विगलित, उत्खण्डित तथा स्फुट रूप विशेषणो से विशिष्ट है, तथा जो परस्पर उपमान तथा उपमेय भाव से निरूपित है, मुख के पक्ष में और कमल के पक्ष में सहजता ज्ञात होती है। इसलिये अङ्गप्रधान रूपकों में यह सहजावयव नाम का अर्थभूयिष्ठ रूपक का भेद हैं। यहाँ यह नहीं कहना चाहिये कि—'ताम्राङ्गुलिदलश्रेणीं (४।३३) इत्यादि अर्थप्रधान भेद से यह भिन्न नहीं है। क्योंकि यहाँ राजाओं के मस्तक पर धारण करने की क्रिया में समावेश होने के कारण अवयवी की प्रधानता अभीष्ट है, और यहाँ पर तो पतनरूप क्रिया में अवयवों की प्रधानता है। अत एव ये अवयववाचक पद स्फुरित आदि विशेषणों से विशिष्ट बनाये जाते हैं।

स्व० भा०—यहाँ अन्य बातें स्पष्ट हैं। उदाहरणों को देखने से अर्थभूयिष्ट अङ्गीप्रधान के समस्त भेद के सदृश प्रतीत होती है। उसी भ्रान्तिमूलक प्रतीति का निरसन करने के लिये वृत्ति में भोज ने उक्त उदाहरण का प्रारम्भ का कुछ अंश उद्धृत किया है। इसमें तथा उसमें भेद यह है कि जहाँ प्रथम में मुख रूप अवयवी प्रधान था, वहाँ इस प्रसंग में यहाँ विभिन्न अङ्गों की प्रधानता है। इसीलिये अङ्गों के साथ विभिन्न विशेषणों का योग किया गया है।

सहज तथा आहार्य शब्दों का तात्पर्य यहाँ उन अवयवों से है जो किसी पदार्थ के साथ स्वभावतः प्राकृतिक रूप से सम्बद्ध है अथवा उनका बाहर से आक्षेप किया गया है।

भेदानिति। तयोः सहजाहार्ययोर्योगस्तद्योगः, तयोर्वैषम्यं विषमावयवता। पप्फुरिअ इति। इह मुखमेव कमलं तत्पतितम्। कीदृशम्। प्रस्फुरितमोष्ठपुटमेव दलं पत्त्रं यत्र तत्। तत्कालविगलितरुधिरमेव मधुप्रवाहो यत्र तत्। विच्छर्दः प्रवाहः। उत्खण्डितकण्ठ एव नालो यत्र तत्। स्फुटद्दशना एव केसराणि यत्र तत्। इह मुखस्यौष्ठादीनि पद्मस्य पत्त्रादीन्यवयवास्ते च सहजा इति तत्प्राधान्यादिदं सहजावयवरूपकम्। न च ताम्राङ्गुलीत्यनेनावयविप्रधानेनास्याभेद इति वाच्यम्, तत्राङ्गिप्राधान्यस्य विवक्षितत्वादिहाङ्गप्राधान्यस्य तत्त्वादित्याह—न चेति।

आहार्यावयव यथा—

'ता कुंभअण्णपडिवअणदण्डपडिघट्टिआमरिसघोरविसो।
गलिअंसुअणिमोओ जाओ भीसणणरो दसाणणभुअओ ॥ ३८ ॥'

[ततः कुम्भकर्णप्रतिवचनदण्डपरिघट्टितामर्षघोरविषः।
गलितांशुकनिर्मोको जातो भीषणनरो दशाननभुजगः ॥]

अत्र कुम्भकर्णप्रतिवचनममर्षोऽशुकमिति दशाननपक्षे दण्डो घोरविषं निर्मोक इति भुजगपक्षे येऽवयवास्तेषामाहार्यत्वादिदमाहार्यावयवं नाम रूपकमङ्गप्रधानरूपकेऽवयर्थभूयिष्ठरूपकभेदः। अत्रापि कुम्भकर्णसंबन्धपरिघट्टितगलितविशिष्टानामवयवानामेव दशाननभुजगभीषणतरीकरणक्रियायां प्राधान्यमवगम्यते ॥

आहार्य अवयव का उदाहरण—

इसके पश्चात् कुम्भकर्ण के प्रत्युत्तर रूपी डण्डे से आलोडित अमर्षरूपी घोर विष वाला, गिरे हुये वस्त्र रूपी चुन्नी वाला रावणरूपी सर्प अत्यन्त भयानक मनुष्य बन गया ॥ ३८ ॥

यहाँ कुम्भकर्ण का प्रत्युत्तर, अमर्ष तथा अंशुक ये रावण के पक्ष में तथा दण्ड, घोर विष और केंचुली सर्प के पक्ष में जो अवयव हैं, उनके आहार्य होने से यह अङ्ग-प्रधान रूपकों में आहार्यावयव रूपक नाम का अर्थभूयिष्ठ रूपक का भेद है। यहाँ भी कुम्भकर्ण के सम्बन्ध से परिघट्टित गलित, आदि से विशिष्ट अवयवों का ही दशाननरूपी सर्प को और भी अधिक भयङ्कर करने वाली क्रिया में प्राधान्य ज्ञात होता है।

स्व० भा०—जिस प्रकार से मुख के ओष्ठ, दशन, कण्ठ आदि कमल के दल, केसर, पराग आदि सहज अवयव हैं, उसी प्रकार के प्रतिवचन, अमर्ष, अंशुक आदि न तो रावण के ही अवयव हैं और न दण्ड, घोर विष, निर्मोक आदि सर्प के ही। ये सब बाहर से कृत्रिम रूप से आयातित हैं। इनका आहरण किया गया है। अतः आहार्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

तो इत्यादि। 'ततः कुम्भकर्णप्रतिवचनदण्डपरिघट्टितामर्षघोरविषः। गलितांशुकनिर्मोको जातो भीषणतरो दशाननभुजगः ॥' ततोऽनन्तरं दशानन एव भुजगः सर्पः सोऽतिभयानको जातः। कीदृशः। कुम्भकर्णप्रतिवचनमेव दण्डस्तेन परिघट्टित उत्थापितोऽमर्ष एव घोरविषं यस्य सः। गलितश्च्युतोंऽशुकं वस्त्रमेव निर्मोकः कंचुको यस्य सः। 'समौ कंचुकनिर्मोकौ' इत्यमरः। इह प्रतिवचनादीनामवयवत्वाभावादाहार्यावयवता, तेषामेव प्राधान्यादाहार्यावयवरूपकमिदम्।

उभयावयवं यथा—

> 'यस्या बीजमहंकृतिर्गुरुतरो मूलं ममेतिग्रहो
> नित्यत्वस्मृतिरङ्कुरः सुतसुहृद्भृत्यादयः पल्लवाः।
> स्कन्धो दारपरिग्रहः परिभवः पुष्पं फलं दुर्गतिः
> सा मे त्वच्चरणार्हणापरशुना तृष्णालता लूयताम् ॥ ३९ ॥'

अत्र बीजं मूलमङ्कुरः पुष्पं फलमिति लतापक्षे सहजाः, तृष्णापक्षे पुनरहंकृत्यादय आहार्यावयवा इति तदिदं सहजाहार्याणामवयवानां परस्परमुपमानोपमेयभावरूपणेनोभयावयवं नाम रूपकमिदमङ्गप्रधानरूपकेऽवयर्थभूयिष्ठरूपकभेदः। अत्रापि चाहंकारममताध्रौव्यस्मरणसुतादिदारपरिग्रहपराभवदुर्गतीनामवयवानामेव बीजादिरूपेण रूपितानां भगवदाराधनकुठारेण तृष्णालता लूयतामिति प्रार्थनक्रियया समावेशेन प्राधान्यमवगम्यते।

उभयावयव (तद्युक्त) का उदाहरण—

जिसका बीज अहंकार है, अत्यन्त विशाल ममत्व का बन्धन जिसकी जड़ है, इनमें नित्यत्व की धारणा जिसका अङ्कुर है, पुत्र, मित्र, सेवक आदि जिसके पल्लव हैं, पत्नी का ग्रहण करना जिसका तना है, पराजय जिसका पुष्प है और नरक जिसका फल है, हे कृष्ण, तुम्हारे चरणों की की गई पूजा रूपी कुठार, मेरी उस तृष्णारूपी लता को काट डाले ॥ ३९ ॥

यहाँ बीज, मूल, अङ्कुर, पुष्प और फल ये लता के पक्ष में सहज हैं, पुनः तृष्णा के पक्ष में अहंकृति आदि आहार्य अवयव हैं। इसलिये यहाँ सहज तथा आहार्य अवयवों के परस्पर उपमान-उपमेयभाव का रूपण होने से यह अङ्ग-प्रधान रूपक के भेदों में उभयावयव नामक अर्थभूयिष्ठरूपक का भेद है। यहाँ भी अहङ्कार, ममता, ध्रुवता का स्मरण, पुत्र आदि, गृहपरिग्रह, पराभव तथा दुर्गति रूप अवयवों का ही जिनका बीज आदि के रूप में आरोपण हुआ है, 'प्रभु की आराधनारूपी कुठार के द्वारा तृष्णारूपी लता कट जाये' इस प्रकार की प्रार्थना की क्रिया द्वारा समावेश होने से प्राधान्य प्रतीत होता है।

स्व० भा०—सहज तथा आहार्य दोनों प्रकार के अवयवों का समावेश होने से यहाँ उभयावयवरूपक का होना समुचित है। यहाँ तृष्णालता के काटने के लिये प्रार्थना है अवश्य, किन्तु प्रधानता उन-उन अवयवों की ही है। सबका पृथक्-पृथक् निरूपण भी है।

यस्या इत्यादि। सा मम तृष्णैव लता हे कृष्ण, त्वत्पादपूजापरशुना लूयतां छिद्यताम्, त्वचरणार्हणैव परशुः कुठारः। यस्यास्तृष्णालतायाः अहंकृतिरहंकार एव बीजमादिकारणम्, गुरुतरो ममेतिग्रहो ममत्वनिश्चयो मूलम्, नित्यमिदमिति स्मृतिरङ्कुरः, पुत्रमित्रभृत्यादयः किसलयाः, दाराणां पत्नीनां परिग्रहोऽनुरागः स्कन्धः, परिभवः पराभवः कुसुमम्, दुर्गतिर्नरकः फलम्। सर्वत्र यस्या इत्यन्वयः। 'तरुप्रकाण्डे स्कन्धो ना' इति विश्वः। 'नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः। इह बीजादीनां सहजावयवता, अहंकृत्यादीनामाहार्यावयवता, तेषामेव च प्राधान्यं विवक्षितमित्युभयावयवप्रधानमिदम्। ध्रौव्यं नित्यता।

विषमावयवं यथा—

'मदरक्तकपोलेन मन्मथस्त्वन्मुखेन्दुना।
नर्तितभ्रूलतेनालं मर्दितुं भुवनत्रयम् ॥ ४० ॥'

अत्रेन्दुना मुखावयवी रूपितः, भ्रुवौ च तदवयवौ लतावयविभ्याम्, मदरक्तौ तु कपोलौ न केनापीति सर्वतो वैषम्याद्विषमावयवं नाम रूपकमिदमङ्गप्रधानरूपकेष्वर्थभूयिष्ठरूपकभेदः। अत्रापि मदरक्तनर्तितयोः कपोलभ्रुवोरेव मन्मथस्य जगत्त्रतयमर्दनक्रियायां प्राधान्यं साधकतमत्वमवगम्यते ॥

विषमावयव का उदाहरण—

हे प्रियतमे, मद से लाल कपोलों वाले तथा चंचल भौंहरूपी लता वाले तुम्हारे मुखचन्द्र से कामदेव तीनों लोकों को रौंद डालने में समर्थ है ॥ ४० ॥

यहाँ चन्द्रमा के द्वारा मुखरूपी अवयव आरोपित है, दोनों भौंहें उसके अवयव हैं और लतारूपी अवयवी से रूपित है, मद से रक्त कपोल किसी भी पद के द्वारा रूपित नहीं है।

इस प्रकार सभी ओर से विषमता होने के कारण अङ्गप्रधानरूपक के भेदों में यह विषमावयव रूपक नाम का अर्थभूयिष्ठरूपक का भेद है। यहाँ भी मद से रक्त तथा चंचल कपोल और

भौहों की ही, काम के तीनों लोकों के मर्दन की क्रिया में प्रधानता तथा अत्यन्त कारणता ज्ञात होती है।

स्व० आ०—यहाँ पर उपमानों मे विषमता है। मुख-रूप अवयवी के निरूपण के समय उसके अवयवभूत 'कपोल' तथा 'भ्रू' दो अवयव हैं। इन दोनों में से भ्रू रूपी उपमेय का लतारूपी उपमान से संयोग कराया गया है, किन्तु कपोलरूप अवयव उपमान से रहित है। मुख अवयवी है, उसका भी उपमान चन्द्र है। अतः सभी अवयवों के साथ समान व्यवहार न होने से यहाँ वैषम्य है।

इसके अतिरिक्त अवयवी की प्रधानता न होकर यहाँ अवयवों की ही प्रधानता है। यदि कपोल मदरक्त न होते, और भ्रूलता में नर्तन न होता तो मुखेन्दु-मात्र से काम त्रैलोक्यमर्दन करने में समर्थ न होता। दण्डी ने भी इस श्लोक में विषम रूपक माना था, और उसका लक्षण इस प्रकार दिया था—रूपणादङ्गिनोऽङ्गानां रूपणारूपणाश्रयात्।

रूपकं विषमं नाम ललितं जायते यथा॥ काव्यादर्श २।७९॥

मदेत्यादि। हे प्रिये, त्वन्मुखेन्दुना मन्मथो भुवनत्रयं मर्दितुं जेतुमलं समर्थोऽस्ति। कीदृशेन। मदरक्तौ कपोलौ यत्र तेन। नर्तिते भ्रूलते येन तेन। इह मुखमवयवि चन्द्रत्वेन रूपितम्, भ्रुवौ चावयवौ लतात्वेन, गण्डस्तु न केनापीति वैषम्यम्, प्राधान्यं चावयवानामेवेति विषमावयवरूपकता।

शब्दार्थभूयिष्ठरूपके शुद्धरूपकं विभजते—

आधारवन्निराधारं केवलं व्यतिरेकि च।
इति शब्दार्थभूयिष्ठं शुद्धमाहुश्चतुर्विधम्॥ ३१॥

तेष्वाधारवद्यथा—

'सोहइ विसुद्धकिरणो गअणसमुद्दम्मि रअणिवेलालग्गो।
तारामुत्तावअरो फुडविहडिअमेहसिप्पसम्पुडविमुक्को॥ ४१॥'

[शोभते विशुद्धकिरणो गगनसमुद्रे रजनीवेलालग्नः।
तारामुक्ताप्रकरः स्फुटविघटितमेघशुक्तिसंपुटविमुक्तः॥]

अत्र समुद्रत्वेन रूपितं गगनमाधारं परिकल्प्य रजनीमेघतारकौघानां वेलाशुक्तिमुक्ताफलप्रकराणां च प्रतीयमानाभिधीयमानसादृश्यानां शब्दप्राधान्यतोऽर्थप्राधान्यतश्च रूपकं कृतमित्याधारवन्नाम रूपकमिदं शुद्धरूपकेषु शब्दार्थभूयिष्ठरूपकभेदः।

शब्दार्थभूयिष्ठ का रूपक में शुद्ध रूपक का विभाग—

शुद्ध शब्दार्थभूयिष्ठ को—(१) आधारवत्, (२) निराधार, (३) केवल, (४) व्यतिरेक इन चार प्रकारों का कहा गया है॥ ३१॥

इनमें से आधारवत् का उदाहरण—

अत्यन्त स्वच्छ किरणों वाला, रात्रिरूपी तट पर लगा हुआ, स्पष्ट रूप से हुये मेघरूपी शुक्ति के सम्पुट से अलग हुआ यह तारारूपी मुक्ता का समूह आकाशरूपी समुद्र में सुशोभित हो रहा है॥ ४१॥

यहाँ समुद्र के रूप में आरोपित आकाश को आधार मानकर रात्रि, मेघ तथा नक्षत्र समूहों का और वेला, शुक्ति तथा मुक्ताफल समूह का सादृश्य या तो प्रतीत हो रहा है अथवा अभिधा से व्यक्त हो रहा है, शब्द की प्रधानता से तथा अर्थ की प्रधानता से रूपक किया गया है। इस प्रकार शुद्ध रूपक के भेदों में आधारवत् नाम का शब्दार्थभूयिष्ठ रूपक है।

स्व० भा०—यहाँ आकाश को रजनी, नक्षत्र तथा मेघ का आधार उसी प्रकार कहा गया है जिस प्रकार समुद्र वेला, मुक्ता तथा शुक्तिफलों का। उपमेय तथा उपमान दोनों पक्षों में आधार तथा आधेयभाव में परिपूर्णता होने के कारण आधारवत्ता है। गगन-समुद्र के वेला, मुक्ता, शुक्ति सम्पुट आदि शब्दतः सहजरूप से उपात्त हैं और रजनी, तारा, मुक्ता आदि प्रतीयमान हैं। अतः शब्द तथा अर्थ दोनों की उपस्थिति में उभयात्मकता है। शुद्धता उपमा आदि अन्य अलंकारों का अभाव होने से है।

आधारवदिति। सोहइ इत्यादि। इह गगनमेव समुद्रस्तत्र तारा एव मुक्तास्तासां प्रकरः समूहः शोभते। कीदृशः। विशेषेणातिशयेन शुद्धकिरणः। रजन्येव वेला तीरभूमिस्तत्र लग्नः संबद्धः। स्फुटविघटिता व्यक्तीभूय विदीर्णा मेघा एव शुक्तिसंपुटास्तैर्विमुक्तश्च। इह सादृश्ये रजन्यादीनां प्रतीयमानता वेलादीनामभिधीयमानता, शुद्धरूपकता उपमाद्यसंभेदात्। गगनस्याधारतयेदमाधारवद्रूपकम् ॥

निराधारं यथा—

'वणराइकेसहत्था कुसुमाउहसुरहिसंचरन्तधअवडा।
ससिअरमुहुत्तमेहा तमपडिहत्था विणेन्ति धूमुप्पीडा ॥४२॥'

[वनराजिकेशहस्ताः कुसुमायुधसुरभिसंचरद्ध्वजपटाः।
शशिकरमुहूर्तमेघास्तमःप्रतिहस्ता विज्ञायन्ते धूमोत्पीडाः ॥]

अत्र धूमोत्पाडानां वनराजिकेशहस्तत्वेन कुसुमायुधसुरभिसंचरद्ध्वजपटत्वेन शशिकरमुहूर्तमेघत्वेन च तमःप्रतिहस्तत्वेन च रूपितानां निराधाराणामेव शब्दप्राधान्यमर्थप्राधान्यं चावधार्यत इति निराधारं नाम रूपकमिदं शुद्धरूपकेषु शब्दार्थभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

निराधार का उदाहरण—

ये धूमसमूह वनपंक्ति के कलाप, कामदेव के सुगन्धित एवं चञ्चल ध्वजा के वस्त्र, चन्द्रकिरणरूपी मुहूर्त मेघ तथा अन्धकार के प्रतिनिधि प्रतीत होते हैं ॥ ४२ ॥

यहाँ निराधार धूमसमूहों का जो वनराजि के केशकलाप के रूप में, कामदेव के सुगन्धित एवं चञ्चल ध्वजपट के रूप में, चन्द्रकिरणों के मुहूर्त मेघ के रूप में तथा अन्धकार के प्रतिनिधि के रूप में रूपित हैं, शब्दप्राधान्य तथा अर्थप्राधान्य दोनों ही ज्ञात होता है। इस प्रकार यह शुद्ध रूपकों में निराधाररूपक नाम का शब्दार्थभूयिष्ठरूपक का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ केशकलाप, ध्वजपट, मुहूर्तमेघ आदि यों ही उठते हुये चित्रित किये गये हैं। इनका कोई आधार शब्दतः उक्त नहीं है। अतः निराधारता तो यहाँ है ही। यहाँ शब्द-प्राधान्य इसलिये है क्योंकि वनराजि आदि पद शब्दतः अभिहित हैं। इनके केशकलाप आदि अर्थों की भी प्रतीति सरलतापूर्वक हो ही जाती है, अतः अर्थ की भी प्रधानता है।

वणेत्यादि। इह धूमसमूहा एतादृशा विज्ञायन्ते। कीदृशाः। वनराज्या वनपङ्क्तेः केशहस्ताः केशकलापा एव, 'पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे।' इत्यमरः। कुसुमायुधस्य कामस्य सुगन्धिचलद्ध्वजपटा एव चन्द्रकिरणानां मुहूर्तमेघा एव तमसामन्धकाराणां प्रतिहस्ताः प्रतिनिधयः। 'प्रतिहस्तः प्रतिनिधौ' इति विश्वः। इह धूमोत्पीडस्य वनराजिकेशकलापादेराधारत्वानुपपत्तेर्निराधाररूपकमिदम् ॥

केवलं यथा—

'वेल्लितभ्रू गलद्धर्मजलमालोहितेक्षणम्।

विवृणोति मदावस्थामिदं वदनपङ्कजम् ॥ ४३ ॥

अत्रावयविन एव केवलस्य वदनं पङ्कजमिवेति रूपणादस्य शब्दप्राधान्यं वेल्लितभ्रूप्रभृतिविशेषणापादानाच्चार्थप्राधान्यमेव लक्ष्यते, तेन केवलं नाम रूपकमिदं शुद्धरूपकेषूभयभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

'केवल' का उदाहरण—

नाचती हुई भौंहों वाला, टपकते हुये पसीने से युक्त, अत्यन्त लाल-लाल आँखों से समन्वित तुम्हारा यह मुखकमल तो मद्यपान से होने वाली अवस्था को प्रकट कर रहा है ॥ ४३ ॥

यहाँ केवल अवयवी का ही 'मुख कमल के सदृश है' इस प्रकार का निरूपण होने से इसकी शब्दप्रधानता तथा 'वेल्लितभ्रू' जैसे विशेषणों का ग्रहण होने से अर्थप्रधानता ही लक्षित होती है। इसी से शुद्धरूपक के भेदों में यह 'केवल' नाम का उभयभूयिष्ठरूपक का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ श्लोक में प्रयुक्त शब्दों में केवल मुख ही एक ऐसा शब्द है जिसके लिये एक उपमान है। भ्रू आदि कुछ जो पद हैं उनके साथ वेल्लित आदि कुछ विशेषण हैं, उपमान नहीं। अतः केवल एक ही पद के लिये उपमान का प्रयोग होने से यहाँ केवलता भी सिद्ध है।

वेल्लितेति। तवेदं वदनपङ्कजं कर्तृ मदावस्थां मद्यपानजां दशां विवृणोति प्रकाशयति। कीदृशम्। वेल्लिते नर्तिते भ्रुवौ यत्र तत्। आलोहिते अतिरक्ते ईक्षणे यत्र तत्। इह मुख-पद्मरूपस्यावयविनः केवलस्य रूपणात्केवलरूपकमिदम् ॥

व्यतिरेकवद्यथा—

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥ ४४ ॥'

अत्र पुष्पकिसलयरत्नमधुपुण्यफलानामनाघ्रातमित्यादिविशेषणापादितव्यतिरेकाणां प्रतीयमानसादृश्येन शकुन्तलारूपेण रूपणादर्थतः शब्दतश्च प्राधान्यमवधार्यत इति व्यतिरेकवन्नाम रूपकमिदं शुद्धरूपकेषूभयभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

व्यतिरेकवद् का उदाहरण—

उसका निष्पाप रूप तो बिना सूँघा हुआ फूल है, नाखूनों से क्षत न किया गया पल्लव है, अनाविद्ध रत्न है, जिसका रस नहीं चखा गया वह नवीन मधु है, पुण्यों के अखण्ड फल की भाँति हैं। इस पृथ्वी पर पता नहीं किस भोक्ता को विधाता उसे उपस्थित करेगा ॥ ४४ ॥

यहाँ पुष्प, किसलय, रत्न, मधु, प्राप्य फल आदि, अनाघ्रात आदि विशेषणों से निष्पन्न व्यतिरेक वाले पदों का ही, प्रतीत हो रहे सादृश्य वाले शकुन्तला के रूप के साथ आरोपण होने से अर्थतः तथा शब्दतः प्राधान्य ज्ञात हो रहा है। इस प्रकार शुद्ध रूपकों में यह व्यतिरेकवत् नाम का रूपक उभयभूयिष्ठरूपक का भेद है।

स्व० भा०—शकुन्तला के रूप को पुष्प, मधु, रत्न आदि ही कहना उनके अतुल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त था, किन्तु इनको भी अनाघ्रात आदि विशेषणों से संयुक्त करने से रूप की अतिशयता सामान्य पुष्प आदि से भी बढ़ गई। अतः यहाँ उपमान व्यतिरेक से युक्त है।

अनाघ्रातमित्यादि। अनघमनवद्यं तस्या रूपमिह भुवि कं भोक्तारं समुपस्थितं करि-

ष्यति तदहं न जाने। कीदृशम्। अनाघ्रातमगृहीतगन्धं पुष्पमेव। कररुहैर्नखैरलूनम्-खण्डितं किसलयम्। अनामुक्तमपरिहितम्, अनास्वादितरसमगृहीतास्वादं नूतनं मधु, पुण्यानां चाखण्डं सकलं फलमपि। 'आमुक्तः परिहिते शुभ्रे' इति विश्वः। इह पुष्पादीना-मनाघ्रातादिना व्यतिरेकवतां रूपणाद्व्यतिरेकवद्रूपकमिदम्॥

शब्दार्थभूयिष्ठरूपके संकीर्णरूपकं विभजते—

> अथ संकीर्णभेदानां चतुष्टयमिहोच्यते।
> स्यात्सावयवसंकीर्णं तथानवयवाह्वयम्॥ ३२॥
> तथैवोभयसंकीर्णं श्लेषोपहितमित्यपि।
> सैषा रूपकभेदानां विंशतिश्चतुरुत्तरा॥ ३३॥

संकीर्णभेद—

इन भेद निरूपणों के पश्चात् अब यहाँ संकीर्णभेदों के चार प्रकार—१. सावयवसंकीर्ण, २. निरवयव नामक संकीर्ण, ३. उभयसंकीर्ण और ४. श्लेषोपहित संकीर्ण—कहे जा रहे हैं। इस प्रकार यह रूपक के भेदों का चौबीसा अर्थात् चौबीस प्रकार है॥ ३२-३३॥

स्व० भा०—रूपक के अन्तिम अंश संकीर्णरूपक के भेदों का उल्लेख करते हुये भोज ने उसके समस्त भेदों का संकलन कर दिया है और बतलाया है कि इस प्रकार सब मिलाकर चौबीस भेद हुये। बीस भेदों के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं, शेष चार के आगे दिये जा रहे हैं। आगे दिये जा रहे रेखाचित्र से रूपक के सभी भेद स्पष्ट हो जायेंगे—
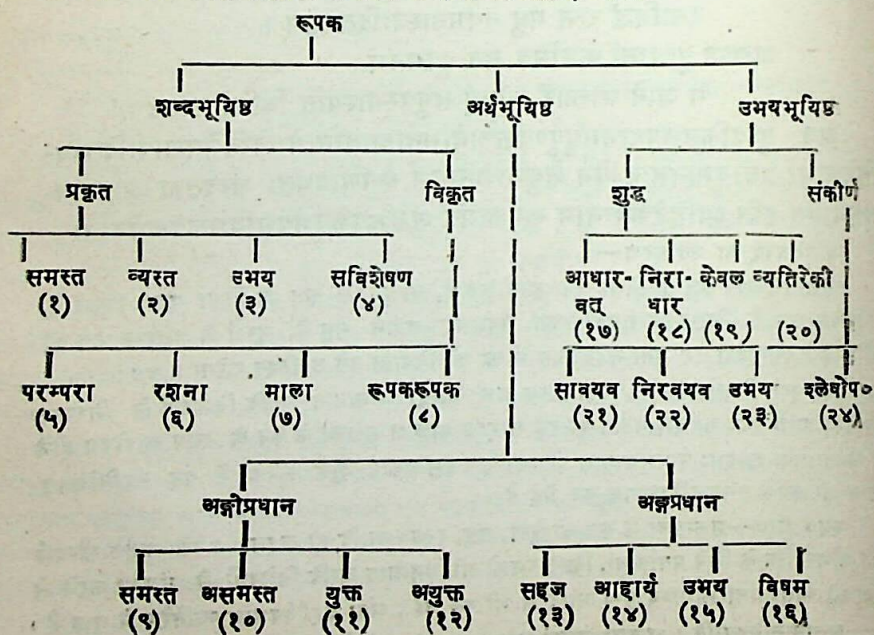
तेषु सावयवसंकीर्णं यथा—

'रइअरकेसरणिवहं सोहइ धवलब्भदलसहस्सपरिगअम् ।
महुमहदंसणजोग्गं पिआमहुप्पत्तिपङ्कअं व णहअलम् ॥ ४५ ॥'

[रविकरकेसरनिवहं शोभते धवलाभ्रदलसहस्रपरिगतम् ।
मधुमथदंशनयोग्यं पितामहोत्पत्तिपङ्कजमिव नभस्तलम् ॥]

अत्र पितामहोत्पत्तिपङ्कजमिव नभस्तलं शोभते इत्युपमानोपमेयभावेनावयवावयविनोरभेदस्याविवक्षायामुपमैव न रूपकम् । रविकरधवलाभ्रदलसहस्रयोः केसरनिकरदलसहस्रयोश्च प्रतीयमानाभिधीयमानसादृश्ययोश्च सहजाहार्यावयवभूतयोरभेदोपचारेण रूपणमिति सावयवरूपेणोपमायाः संकीर्णत्वादिदं सावयवसंकीर्णं नाम संकीर्णरूपकेषूभयभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

इनमें से सावयव संकीर्ण का उदाहरण—

सूर्य किरण रूपी परागराशि से भरा हुआ, श्वेतमेघरूपी सहस्र पंखुड़ियों से व्याप्त, विष्णु के देखने लायक अथवा भ्रमर के कवलन के योग्य पुष्ट, ब्रह्मा जी की उत्पत्ति के कमल की भाँति आकाशमण्डल सुशोभित हो रहा है ॥ ४५ ॥

यहाँ पर 'ब्रह्मा के उत्पत्ति-कमल के सदृश आकाशतल सुशोभित हो रहा है' इस प्रकार की उक्ति में उपमानोपमेय भाव से अवयव तथा अवयवी दोनों के अभेद की विवक्षा न होने से उपमा ही है रूपक नहीं। सूर्यकिरण तथा श्वेतअभ्र-सहस्र दोनों के तथा केसरनिकर और दलसहस्र इन दोनों के, जिनका सादृश्य प्रतीत तथा अभिहित हो रहा है और जो सहज तथा आहार्य अवयवों के रूप में आये हैं, अभेदोपचार के द्वारा आरोपण है इससे सावयव होने से आत्मा के संकीर्ण होने से यह संकीर्णरूपक के भेदों में सावयव संकीर्ण नाम का उभयभूयिष्ठ रूपक का भेद है।

स्व० भा०—जहाँ केवल रूपक ही होता है, अन्य अलंकार नहीं, वहाँ शुद्धता होती है, शेष स्थानों पर संकीर्णता। यहाँ उपमा भी होने से संकीर्णभेद है। यहाँ उदाहरण में अवयवी है पंकज तथा नभस्तल। इनके अवयव के रूप में विद्यमान हैं केसर तथा धवलाभ्र आदि। उन्हीं में उपमानोपमेय भाव होने से, प्रस्तुत श्लोक में सावयवत्व भी है।

अथेति । आह्वयो नाम । सर्वमेकीकृत्य गणयति सैषेति । चतुर्विंशतिरित्यर्थः ॥ रइअरेत्यादि । इह नभस्तलं शोभते पितामहस्य ब्रह्मण उत्पत्तिपद्ममिव तस्य पद्मयोनित्वात् । कीदृशम् । रविकराः सूर्यकिरणा एव केसरनिकरा यत्र तत् । धवलाभ्राणि श्वेतमेघा एव दलसहस्राणि तैः परिगतमन्वितम् । मधुमथस्य विष्णोर्दर्शनयोग्यम्, शरदि तस्य जागरणादस्य च रम्यत्वात्, पद्मत्वेऽपि नाभिकमलतया मधुरिपुदर्शनयोग्यता । यद्वा मधुमथस्य भृङ्गस्य दंशन कवलनं तद्योग्यम् । मधु मथ्नातीति मधुमथः मूलविभुजादित्वात्कः । 'मधुमथो हरिभृङ्गयोः' इति शाश्वतः । अत्र रविकरधवलाभ्रसहस्रयोः सहजाहार्यावयवयोः केसरनिवहत्वेन दलसहस्रत्वेन च रूपणात् पङ्कजनभस्तलयोरवयविनोरुपमानोपमेयत्वाच्च सावयवसंकीर्णरूपकमिदम् ॥

निरवयवसंकीर्णं यथा—

'दीहो दिअहभुअंगो रइबिम्बफणामणिप्पहं विअसन्तो ।
अवरसमुद्दमुवगओ मुञ्चन्तो कंचुअं व घम्मअणिवहम् ॥ ४६ ॥'

[दीर्घो दिवसभुजङ्गो रविबिम्बफणामणिप्रभां विकसमानः ।
अपरसमुद्रमुपगतो मुञ्चन्कञ्चुकमिव घर्मनिवहम् ॥]

अत्र दिवसावयविनो भुजङ्गावयविनश्चाभिधीयमानप्रतीयमानदैर्घ्यंदारुणादिधर्मयोरभेदोपचारेण रूपणमवयवानां चतुर्णां रविबिम्बातपफणामणिनिर्मोकाणां सत्यामप्यभेदोपचारयोग्यतायां द्वयोरिवशब्दप्रयोगेनोपमायां द्वयोस्तुल्यरूपणेऽप्यसामानाधिकरण्यान्नावयवावयविभावो विभाव्यत इति निरवयवस्योपमायां संकीर्णत्वान्निरवयवसंकीर्णं नाम संकीर्णरूपकेषूभयभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

निरवयवसंकीर्ण का उदाहरण—

बहुत बड़ा दिनरूपी सर्प सूर्यमण्डलरूपी फन की मणि-प्रभा को फैलाता हुआ, केंचुली की भाँति धूपराशि को छोड़ता हुआ अस्त समुद्र को चला गया ॥ ४६ ॥

यहाँ अभिहित किया जा रहा है तथा प्रतीत हो रहा है दीर्घता, दारुणता आदि धर्म जिन दोनों से उन दिवस तथा भुजङ्ग रूप अवयवियों का अभेदोपचार के साथ आरोपण है, रविबिम्ब, आतप, फणामणि तथा निर्मोक इन चारों अवयवों में अभेदोपचार की योग्यता होने पर भी, दो शब्दों में 'इव' शब्द का प्रयोग होने से तथा (शेष) दो में समान आरोप होने पर भी सामानाधिकरण्य न होने से अवयव-अवयवी का भाव नहीं प्रतीत होता है। इस प्रकार उपमा होने से निरवयव की संकीर्णता के कारण यह संकीर्णरूपकों में निरवयव संकीर्ण नामक उभय-भूयिष्ठरूपक का भेद है।

रत्न० भा०—कञ्चुक तथ धर्मनिवह इन दोनों का सम्बन्ध 'इव' इस वाचक पद से है, अतः उपमालंकार प्रकट होता है। उपमा के कारण यहाँ रूपक नहीं है और इसी के कारण अलंकारान्तर होने से संकीर्णता भी है। रविबिम्ब तथा फणामणिप्रभा इन दोनों में अभेदभाव है, इसीलिये रूपक भी है, किन्तु अवयवी दिवस तथा भुजङ्ग के समानविभक्तिक न होने से ये पद उन अवयवियों के अवयव नहीं हैं। अन्यत्र जहाँ कहीं भी सावयवता सिद्ध की गई है वहाँ सामानाधिकरण्य भी है। इस प्रकार सावयवता न होने से यहाँ निरवयवता मानी गई है।

दीहो इत्यादि। इह दिवस एव भुजङ्गः सर्पोऽपरसमुद्रं पश्चिमसमुद्रं गत इव। कीदृशः? दीर्घो महापरिमाणः। सूर्यबिम्बमेव फणामणिप्रभां विकासयन् आतपसमूहं कञ्चुकमिव त्यजन्। अत्रासामानाधिकरण्येनावयवावयविभावो न ज्ञायते, इवप्रयोगेण चोपमा ज्ञायत इति निरवयवसंकीर्णरूपकमिदम् ॥

उभयसंकीर्णं यथा—

'धुअमेहमहुअराओ घणसमआअड्ढिओणअविमुक्काओ।
णहपाअवसाहाओ णिअअट्ठाणं व पडिगआओ दिसाओ ॥ ४७ ॥

[धुतमेघमधुकरा घनसमयाकृष्टावनतविमुक्ताः।
नभःपादपशाखा निजकस्थानमिव प्रतिगता दिशः ॥]

अत्र पादपरूपेण रूपितस्य नभसो यदेतद्दिशां शाखारूपेण रूपणं मेघानां च मधुकरप्रकरेण तदुभयमप्यन्यपदार्थषष्ठीसमासयोरभिधीयमानेन सावयवं निरवयवं चेत्युत्प्रेक्षया च संकीर्यमाणमुभयसंकीर्णरूपकव्यपदेशं लभते। सोऽयं संकीर्णरूपकेषूभयभूयिष्ठरूपकभेदः।

उभयसंकीर्ण का उदाहरण—

मेघरूपी भ्रमर धुत हैं, वर्षाकाल के कारण समीप खिंच आई और बाद में छूटी हुई आकाशरूपी वृक्ष की शाखा रूपिणी दिशायें मानों अपने-अपने स्थानों पर चली गई हैं ॥ ४७ ॥

अथवा

निर्देशन करने वाली तथा अन्य नायिकायें हाथों में मथित मधु को लिये हुये (अथवा बुद्धि को झकझोर देने वाली मधु को हाथ में लिये हुये, या जिससे मेधा झकझोर दी गई है उस प्रकार के विदग्धजनो वाली), दृढ़तापूर्वक शपथ के साथ मदपिये पुरुष के द्वारा आकृष्ट और वश में की गई बाद में भोग कर छोड़ दी गई, मुक्ताहार से रहित, नखक्षतरूप प्रसाधनों से युक्त, नायिकायें मानो अपने-अपने स्थानों पर चली गई ।

यहाँ वृक्ष के रूप में निरूपित आकाश का, और जो दिशाओं का शाखा के रूप में तथा मेघों का भ्रमर समुदाय के रूप में आरोपण है, वह दोनों ही अन्य पदार्थ—बहुव्रीहि तथा षष्ठीतत्पुरुष समासों का अभिधान होने से सावयव तथा निरवयव हैं और उत्प्रेक्षा के कारण संकीर्णता है। इससे यह उभय संकीर्णरूपक की संज्ञा प्राप्त करता है। यहाँ संकीर्णरूपक के भेदों में उभयनिष्ठ रूपक का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ 'इव' पद उत्प्रेक्षा के अर्थ में है। रूपक के साथ उत्प्रेक्षा होने से संकीर्णता है। 'धुतमेघमधुकरा' पद अन्य पदार्थ प्रधान होने से बहुव्रीहि है—इसका विग्रह होगा—"धुताः मेघाः एव मधुकराः भ्रमराः यासु ताः" अतः जिसके लिये इसका प्रयोग हुआ है उसकी सावयवता द्योतित होती है। 'नभःपादपशाखा' पद में षष्ठीतत्पुरुष है। इसका विग्रह होगा—'नभः एव पादपो वृक्षः तस्य शाखाः'—इससे यह सिद्ध होता है कि यह किसी का अवयव नहीं, निरवयव है। सावयवत्व तथा निरवयवत्व दोनों ही होने से यहाँ उभयात्मकता है। संकीर्णता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है।

धुअ इत्यादि। इह दिशो निजस्थानं स्वकीयस्थानं प्रतिगता इव। इवपदमुत्प्रेक्षायाम्। कीदृश्यः। धुता मेघा एव मधुकरा भ्रमरा यासु ताः। घनसमयेन वर्षाकालेन घनावरणादाकृष्टाः संनिहितीकृता अवनता भूमिलग्नाः पश्चाद्विमुक्तास्त्यक्ताः। नभ एव पादपो वृक्षस्तस्य शाखाभूताः। अत्र धुतमेघपदे बहुव्रीहिः। नभःपादपपदे षष्ठीसमासस्ताभ्यां सावयवत्वं च निरवयवत्वं च यथाक्रममुक्तम्। अत एवोभयसंकीर्णरूपकमिदम्। स्कन्धके, ध्वनिस्तु दिशन्तीति दिशः प्रौढनायिकाः। अन्या अपि दिशो निजस्थानमिव गच्छन्ति। कीदृश्यः धुतमेधं (ध्यं) यन्मधु मद्यं तत्करे यासां ताः। यद्वा धुता मेधा बुद्धिर्येन तादृशं मधु करे यासां ताः, यद्वा धुता मेधा यस्मादेवंविधो मधुकरो विदग्धो यासां ताः। घनेन दृढेन समयेन शपथेन समदेन पुंसा वा आकृष्टा आहता अवनता वशीकृताः। उपभुक्ता इति यावत्। पश्चाद्विमुक्तास्त्यक्ताः, यद्वा विमुक्ता विगतमुक्ताहाराः पश्चात्कर्मधारयः। 'समयः शपथे काले' इति विश्वः। नखस्य पातः क्षतं तदेव प्रसाधः प्रसाधनं यासां ताः॥

श्लेषोपहितं यथा—

'पीणपओहरलग्गं दिसाणं पवसन्तजलअसमअविइण्णम्।
सोहग्गपढमइण्हं पम्माअइ सरसणहवअं इन्दधणुम् ॥ ४८ ॥'

[पीनपयोधरलग्नं दिशां प्रवसज्जलदसमयवितीर्णम्।
सौभाग्यप्रथमचिह्नं प्रम्लायति सरसनखपदमिन्द्रधनुः ॥]

अत्र सरसनखपदाकारस्येन्द्रधनुष उत्पन्नसादृश्यादभेदोपचारेण रूपेण योऽयं सरसे नभसि पदमस्येति व्युत्पत्त्या श्लिष्टरूपेण तद्विशेषणप्रकारो यश्च शोभायाः प्रथममग्र्यं चिह्नं सौभाग्यस्य च प्रथमं चिह्नं पीनपयोधरे मेघे स्तने वा लग्नमित्यादिविशेषणविशेष्यभावस्तेनेदं श्लेषेणापद्योयत इति श्लेषोपहितं नाम संकीर्णरूपकेषूभयभूयिष्ठरूपकभेदः ॥

श्लेपोपहित का उदाहरण—

बड़े-बड़े मेघखण्डों से लगा हुआ, व्यतीत हो रहे वर्षाकाल के द्वारा दिशाओं को दिया गया, सुन्दरता का आदि चिह्न, सरस आकाश में स्थान बनाये हुआ इन्द्र धनुष उसी प्रकार म्लान हो रहा है जिस प्रकार प्रौढ़ा प्रियतमा के उन्नत उरोजों पर लगा हुआ, परदेश जा रहे नायक के द्वारा दिया गया, मूर्खों को खण्डित करने वाले आचार से संयुक्त, सौभाग्य से प्रमुख चिह्न की भाँति इन्द्रधनुष् के आकार का लग रहा प्रेमपूर्ण लगाया हुआ नखक्षत प्रतीत हो रहा हो ॥४८॥

उत्पन्न सादृश्य वाले स्निग्धनखक्षत के आकारवाले इन्द्रधनुष् का अभेदोपचार के कारण निरूपण करने से जो यह 'सरस आकाश में स्थान है जिसका' इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा श्लिष्टरूप से उसका विशेषण ज्ञात होता है, और 'जो शोभा का प्रथम अग्रय चिह्न हैं' उसी को 'सौभाग्य का प्रमुख चिह्न' समझना, तथा जो पीनपयोधर में मेघ तथा स्तन में लगना है" आदि इस प्रकार का जो विशेषण विशेष्यभाव है, इससे यह सब श्लेष के ही द्वारा उपस्थित हो पाता है। अतः संकीर्ण रूपक के भेदो में यह श्लेषोपहित नाम का उभय भूयिष्ठ रूपक का भेद है।

स्व० भा०—उक्त श्लोक में श्लेष अलंकार का मिश्रण होने से संकीर्णता है। श्लेष के कारण ही यहाँ 'सौभाग्यप्रथमचिह्न', 'सरसनखपद' आदि के विशिष्ट अर्थों का बोध हो सका। अर्थ वृत्ति का अर्थ लिखते समय दे दिया गया है। श्लेष के कारण विशेषणविशेष्यभाव सम्पन्न होने से विशेष चमत्कार आ गया है।

पीणेत्यादि। इहेन्द्रधनुः प्रसाधयति……श्लिष्यति वा। कीदृशम्। पीने पयोधरे मेघे लग्नम्। प्रवसता गच्छता जलदसमयेन वर्षाकालेन दिशां वितीर्णं दत्तम्। सौभाग्यस्य श्रेष्ठं प्रथममाद्यं चिह्नम्। सरसे स्निग्धे नभसि गगने पदं स्थानं यस्य तत्। पक्षे सरसं नखपदं क्रमेण प्रमीयते (प्रम्लायति)। कीदृशम्। दिशां प्रौढाङ्गनानां सुन्दरीणां वा पीने मांसले पयोधरे स्तने लग्नम्। प्रवसता जलदसमयेन नायकेन वितीर्णं दत्तम्। अज्ञान् मूर्खान् द्यति खण्डयति जडद् ईदृशः समय आचारो यस्य सः। सौभाग्यस्य प्रथमचिह्नमिन्द्रधनुराकारं च। 'समयः स्यात्काल आचारे' इति शाश्वतः। प्रवासगमने स्मरणार्थं विदग्धेन नखक्षतं देयम्। तदुक्तं मद्रसिकसर्वस्वे—'प्रवासगमने देयाः स्नेहसंस्कारका नखाः। चिरोत्सृष्टेषु रागेषु प्रीतिर्गच्छेत्पराभवम्। रागायतनसंस्मारि यदि न स्यान्नखक्षतम्। रेखास्तिस्रश्चतस्रश्च वक्रा वक्राकृतिर्नखः॥' इति। अत्र श्लेषालंकारेणोपहितत्वादेवसंकीर्णरूपकता॥ इति रूपकालंकारनिरूपणम्।

साम्यालंकारनिरूपणम्।

साम्यलक्षणमाह—

द्वयोर्यत्रोक्तिचातुर्यादौपम्यार्थोऽवगम्यते।
उपमारूपकान्यत्वे साम्यमित्यामनन्ति तत्॥ ३४॥

तदानन्त्येन भेदानामसंख्यं तस्य तूक्तयः ।
दृष्टान्तोक्तिः प्रपञ्चोक्तिः प्रतिवस्तूक्तिरेव च ॥ ३५ ॥
तत्रेवादेः प्रयोगेण दृष्टान्तोक्तिं प्रचक्षते ।
इवादेरप्रयोगेण प्रपञ्चोक्तिं मनोषिणः ॥ ३६ ॥
वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः ।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूक्तिरुच्यते ॥ ३७ ॥
तत्र क्रियाजातिगुणद्रव्ययोगादिहेतुके ।
साम्ये पूर्वादिभेदेन दृष्टान्तोक्तिर्विधोयते ॥ ३८ ॥

(३) साम्यालंकार

जहाँ उक्ति की चतुराई से (उपमेय तथा उपमान) दोनों का औपम्यार्थ ज्ञात होता है, उसे उपमा तथा रूपक से भिन्न होने के कारण, साम्यालंकार मानते हैं। भेदों के अनन्त होने से उसकी भी उक्तियाँ—भेद—असंख्य हैं (तथापि प्रमुखतः) उसके भेद दृष्टान्तोक्ति, प्रपञ्चोक्ति तथा प्रतिवस्तूक्ति हैं। इनमें से 'इव' आदि के प्रयोग द्वारा (जहाँ साम्य प्रकट किया जाता है वहाँ) 'दृष्टान्तोक्ति' कही जाती है, और 'इव' आदि का प्रयोग न होने के कारण मनीषीजन उसे प्रपञ्चोक्ति कहते हैं। किसी वस्तु का वर्णन प्रारम्भ करके उसके समान धर्मवाले पदार्थ का भी उपन्यास कर देने से जहाँ साम्य की प्रतीति हो वहाँ प्रतिवस्तूक्ति कही जाती है। इनमें से क्रिया, जाति, गुण, द्रव्य आदि के योग के कारण साम्य प्रतीत होने पर पूर्व आदि भेदों के साथ दृष्टान्तोक्ति का विधान किया जाता हैं ॥ ३४–३८ ॥

स्व० भा०—साम्य पर आधारित दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों का विवेचन भोज के पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने पृथक् भेद के रूप में किया है, किन्तु यहाँ पर उनका अन्तर्भाव एक ही अलंकार में कर दिया गया है। उपमा तथा रूपक में भी साम्य ही—सादृश्य ही—विवक्षित होता है, किन्तु एक में उपमेय तथा उपमान का सादृश्य अपेक्षित होता है। यह सादृश्य भी अधिक से अधिक एक पूरे वाक्य में होता है, दो विभिन्न वाक्यों में नहीं। इसी प्रकार रूपक में भी उपमान तथा उपमेय का तादात्म्य—अभेद—निरूपण का विषय होता है, जब कि इन अलंकारों में उपमेय तथा उपमान के स्थान पर पूरा वाक्य तथा वाक्यार्थ अभीष्ट होता है। यही इन साम्यमूलक अलंकारों का परस्पर भेद है।

रुद्रट ने अर्थ के चार प्रकारों का उल्लेख अपने काव्यालंकार में किया है।—

अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः॥
जातिक्रियागुणानां पृथगाधारोऽत्र मूर्तिमत् द्रव्यम्।
दिक्कालाकाशादि तु नीरूपमविक्रियं भवति॥
नित्यानित्यचराचरसचेतनाचेतनैर्बहुभिः।
भेदैर्विभिन्नमेतद् द्विधा द्विधा भूरिशो भवति॥
द्रव्यादपृथग्भूत भवति गुणः सततमिन्द्रियग्राह्यः।

सहजाहार्यावस्थिकभावविशेषादयं त्रेधा ॥
नित्यं क्रियानुमेया द्रव्यविकारेण भवति धात्वर्थः।
कारकसाध्या द्वेधा सकर्मिकाकर्मिका चेति ॥
भिन्नक्रियागुणेष्वपि बहुषु द्रव्येषु चित्रगात्रेषु।
एकाकारा बुद्धिर्भवति यतः सा भवेज्जातिः ॥ काव्यालंकार ७।१-६॥

रुद्रट ने भी साम्यालंकार को अलग से स्वीकार किया है। उनके अनुसार—

अथ क्रियया यस्मिन्नुपमानस्यैति साम्यमुपमेयम्।
तत्सामान्यगुणादिककारणया तद्भवेत्साम्यम् ॥ वही ८।१०५॥

जिस दृष्टान्तोक्ति का भोज ने उल्लेख किया है, उसी के सदृश रुद्रट की दृष्टान्तालंकार की परिभाषा है—

अर्थविशेषः पूर्वं यादृङ्न्यस्तो विवक्षितेतरयोः।
तादृशमन्यं न्यस्येद्यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः॥ वही ८।९४॥

भोज के 'पूर्वादिभेदेन' कारिका में कहने का अभिप्राय यह है कि कहीं सामान्य पूर्व में होता है, कहीं विशेष, कहीं सामान्य बाद में होता है, कहीं विशेष।

सा क्रियायोगनिमित्तसाम्या दृष्टान्तोक्तिः सामान्यतः पूर्वा यथा—
'स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥४९॥'

अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरनाविष्टलिङ्गत्वादवश्याभिधेयत्वाच्च स्थित इत्यादिषु न लिङ्गभेददोषः। अभिधीयमानस्थानादिक्रियायोगजनितं साम्यं समस्तमूर्तिमत्साधारणश्च पूर्वमेव छायादृष्टान्तः। सेयं क्रियायोगनिमित्तसाम्या सामान्यतः पूर्वा नाम दृष्टान्तोक्तिः साम्यभेदः॥

क्रिया के योग से जिसका साम्य होता है उस दृष्टान्तोक्ति का सामान्य पूर्व होने पर का उदाहरण—

उस गौ के रुकने पर दिलीप रुक जाते थे, चलती थी तब चल पड़ते थे, उसके बैठने पर धैर्यपूर्वक आसन बाँध कर बैठ जाते थे, जब वह जल ग्रहण करती थी तभी जल के प्रति अभिलाषा करते थे। इस प्रकार छाया की भाँति राजा उस नन्दिनी का अनुगमन करते थे ॥ ४९ ॥

यहाँ दृष्टान्त तथा दृष्टान्त के विषय दोनों में लिङ्ग की विवक्षा न होने से तथा अवश्य ही कथनीय होने से 'स्थितः' आदि में लिङ्गभेद का दोष नहीं है। कही जा रही रुकने आदि की क्रियाओं के संयोग से साम्य उत्पन्न हुआ है। छाया का दृष्टान्त भी सभी मूर्तिमान् पिण्डों में सामान्य रूप से विद्यमान रहता है। यह विशेष कथन के पूर्व ही प्रयुक्त भी हुआ है, अतः यह क्रिया के योग के कारण साम्यवाली सामान्यतः पूर्वा नाम की दृष्टान्तोक्ति नामक साम्यालंकार का भेद है।

स्व० भा०—ऊपर जिन क्रियाओं में साम्य का निरूपण किया गया है उनके लिङ्ग में वैषम्य है। भूपति के लिये प्रयुक्त विशेषण के रूप में आयी क्रियायें 'स्थितः' 'उच्चलितः' आदि पुल्लिंग, कर्ता, एकवचन में हैं जब कि इसी की समानार्थक और नन्दिनी के लिये प्रयुक्त 'स्थिताम्' आदि क्रियायें स्त्रीलिंग, एकवचन तथा द्वितीया में है। इस प्रकार का वैषम्य होने पर साम्य की बातें करना अनुचित हैं, किन्तु यहाँ इस प्रकार की समलिङ्गता आदि अपेक्षित नहीं है। आगे भी

भूपति को छाया के सदृश जो बतलाया गया है, वहाँ भी इस प्रकार की समलिङ्गता अपेक्षित नहीं हैं। यहाँ जो सादृश्य भी विवक्षित है उसका भी उद्देश्य 'अपरिहार्यता' का निरूपण है। लोक में जितने भी पदार्थ हैं उनका अपनी छायाओं से अटूट सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध की सिद्धि करना ही कवि का उद्देश्य हैं।

यहाँ सामान्यता पहले निरूपित है। यदि बाद में 'भूपति' का उल्लेख न होता तो भी ये बातें किसी के लिये भी लागू हो जातीं।

द्वयोरिति। द्वयोरुपमानोपमेययोर्वचनरचनाभेदाद्यत्रौपम्यार्थतुल्यता ज्ञायते तत्साम्यमामनन्ति कथयन्ति। तदुपमारूपकयोरतिव्याप्तिः। अत उक्तम्—उपमेति। यद्यपि त्रिषु सादृश्यमस्ति तथापि प्रकारकृतो भेद इति भावः। तद्विभजते—तस्य त्विति। यद्यपि भेदानामानन्त्यादसंख्यं तथापि तत्साम्यं तिस्र उक्तयः प्रकारानुगमकास्तत्रेत्यर्थः॥ वस्त्विति। वस्तु वाच्यं किमप्युपनयस्य तत्सधर्मणस्तेन तुल्यगुणस्य न्यसनादुदाहरणात्साम्यज्ञानं प्रतिवस्तूक्तिरित्यर्थः। पूर्वादीत्यादिपदेनोत्तरग्रहणं क्रियायोग एव निमित्तं तत्कृतसाम्यात्। स्थितेत्यादि। स भूपतिर्दिलीपस्तां सुरभिमन्वगच्छदनुगच्छति स्म। अनुगमनमेवाह—स कीदृशः। स्थितोऽवस्थितः, उच्चलितः प्रस्थितः, आसनवानुपविष्टः, जलाभिलाषी जलेच्छायुतश्च। जलाभिलायीतिपाठे 'ला दाने' तच्छीलिके णिनि 'आतो युक्-७।३।३३' इति युकि अल्पपानशील इत्यर्थः। तां कीदृशीम्। स्थिताम्, प्रयातां कृतगमनाम्, निषेदुषीमुपविष्टाम्, जलमाददानां गृह्णन्तीं च। छायेव यथा छाया कमप्यनुगच्छति तथेत्यर्थः। एतासां क्रियाणामेकचित्ततयानुगमार्थं धीर इत्युक्तम्। ननु छायेव स इति लिङ्गभेददोषदुष्टमेवेदम्। अतः कुतोऽलंकारतेत्यत उक्तम्—अनाविष्टेति। अविवक्षितलिङ्गत्वात्। नहि लिङ्गविवक्षायामिह किंचित्प्रयोजनम्। इयं चोपमा लौकिकी। लोके च छायाया आवरकानुगमनैयत्यं नत्वन्यस्येति तावन्मात्रमेवोद्देश्यमिहेति न दोषः। तदिदमुक्तम्—अवश्येति। सर्वक्रियायाः प्रथमत एव साम्यात्पूर्वेयम्। उपमायामेक एव वाक्यार्थः, इह तु वाक्यार्थयोर्भेद इति भिन्नालंकारता॥

सैव क्रियागुणयोगनिमित्ता विशेषतः पूर्वा यथा—

'सअलुज्जोइअवसुहे समत्थजिअलोअवित्थरन्तपआवे।
ठाइ ण चिरं रविम्मि व विहाणपडिआ वि मइलदा सप्पुरिसे ॥५०॥'

[सकलोद्योतितवसुधे समस्तजीवलोकविस्तीर्यमाणप्रतापे।
तिष्ठति न चिरं रवाविव विधानपतितापि मलिनता सत्पुरुषे॥]

अत्र जगदुद्द्योतनक्रिया प्रतापगुणयोगहेतुसाम्यमसाधारणश्च सूर्यदृष्टान्त इति विशेषतः क्रियागुणयोगनिमित्तेयं पूर्वा नाम दृष्टान्तोक्तिः साम्यभेदः।।

उसी (साम्यालंकार के दृष्टान्तोक्ति रूप भेद) वाली क्रिया तथा गुण के योग के कारण होने वाली विशेषतः पूर्वा का उदाहरण—

समस्त पृथ्वी को उद्योतित कर देने वाले, अपने प्रताप से सम्पूर्ण प्राणिवर्ग को विस्तृत करने वाले सज्जन पुरुष पर विधिविधान से आने वाली कलुषता सम्पूर्ण पृथ्वी को प्रकाशित करने वाले, सम्पूर्ण प्राणिवर्ग पर अपने तेज को फैलानेवाले रवि पर प्रातःकाल के द्वारा डाली जाने वाली मलिनता की भाँति अधिक समय तक नहीं टिकती ॥ ५० ॥

यहाँ संसार के उद्योतन की क्रिया तथा प्रताप गुण के योग के कारण साम्य है और सूर्य का

दृष्टान्त भी असामान्य है। इस प्रकार क्रियागुणयोगनिमित्ता विशेषतः पूर्वा नाम का साम्य का भेद दृष्टान्तोक्ति है।

स्व० भा०—यहाँ असामान्यता ही विशेषता है। सूर्य तथा अन्य किसी को भी तुलना नहीं हो सकती।

सभलु इत्यादि। इह सत्पुरुषे मलिनता चिरं न तिष्ठति। कीदृशे। सकलोद्द्योतिता वसुधा येन तस्मिन्, समस्ते जीवलोके मर्त्यलोके विस्तीर्यमाणः प्रतापो यस्य तस्मिन्। मलिनता कीदृशी। विधानेन इतिकर्तव्यतया विधिना तापादिनोत्पादिता। रवाविव यथा सूर्ये मलिनता चिरं न तिष्ठति तथेत्यर्थः। कीदृशे। सकलोज्ज्वलीकृतवसुधे समस्तजीवलोके विस्तीर्यमाणः प्रतापः प्रतपनं यस्य तस्मिन्। मलिनता कीदृशी। विहाणं प्रातः तस्मात्पतितापि। इहासाधारण्यमेव विशेषः, पूर्वतापि समस्तक्रियया प्रथमतः साम्येन॥

गुणयोगनिमित्तसाम्या सामान्यत उत्तरा यथा—

'रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणत्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥ ५१॥'

अत्र रूपादिगुणयोगजन्मजनितं साम्यं सामान्यरूपश्च पश्चात्प्रदीपदृष्टान्त इति सामान्यतो गुणयोगनिमित्तेयमुत्तरा नाम दृष्टान्तोक्तिः साम्यभेदः॥

गुणयोगनिमित्तसाम्या के सामान्यतः उत्तरा का उदाहरण—

वही ओजस्वी रूप है, वही तेज है, वही प्राकृतिक उन्नति है। इस प्रकार वह बालक अज अपने कारणभूत पिता से तनिक भी भिन्न नहीं है, जिस प्रकार कि एक दीप से प्रवृत्त दीप भिन्न नहीं होता है॥ ५१॥

यहाँ रूप आदि गुणों से युक्त जन्म के कारण साम्य है। सामान्य के रूप में प्रदीप का दृष्टान्त भी बाद में है। इस प्रकार गुण के योग के कारण होनेवाला सामान्यतः उत्तरा नाम का दृष्टान्तोक्ति रूप वाला साम्य का भेद है।

स्व० भा०—'इव' पद के प्रयोग के कारण दृष्टान्तोक्ति लक्षण के अनुसार स्पष्ट है। इसी प्रकार 'दीप से प्रवृत्त दीप' की भाँति वाली सामान्य उक्ति सबके अन्त में होने से सामान्यतः उत्तरा दृष्टान्तोक्ति का भेद भी है।

रूपमिति। कुमारो बालकोऽजः स्वान्निजात्कारणात्पितुर्न बिभिदे न भेदं जगाम। अभेदे हेतुमाह—ओजस्वि दीप्तं तद्रूपं, सौकुमार्यं तदेव, वीर्यं तेजस्तदेव, नैसर्गिकं स्वाभाविकमुन्नतत्वमुच्छ्रितत्वं च। यथा दीपात्प्रवर्तित उत्पादितो दीपः स्वात्कारणाद्दीपान्न भिन्नो भवति। अत्रापि रूपादिकं तुल्यमेव। दृष्टान्तस्य प्रकृतवाक्यार्थपर्यवसाने सति पश्चादन्वय इत्युत्तरता॥

सैव क्रियागुणद्रव्ययोगनिमित्ता विशेषतो यथा—

'अव्वोच्छिण्णपसरिओ अहिअं उद्धाइ फुरिअसूरच्छाओ।
उच्छाहो सुभडाणं विसमक्खलिओ महाणईण व सोत्तो॥५२॥'

[अव्यवच्छिन्नप्रसृतोऽधिकमुद्धावति स्फुरितशूर (शौर्य)च्छायः।
उत्साहः सुभटानां विषमस्खलितो महानदीनामिव स्रोतः॥]

अत्राव्यवच्छिन्नप्रसृत इति क्रियायोगनिमित्तं स्फुरितशौर्यच्छाय इति गुणयोगनिमित्तं स्फुरितसूर्यच्छाय इति द्रव्ययोगनिमित्तं च साम्यं सामान्य-

विशेषरूपश्च विषमस्खलितमहानदीस्रोतोदृष्टान्त इति विशेषतः क्रियादियोगनिमित्तेयमुत्तरा नाम दृष्टान्तोक्तिः साम्यभेदः ॥

क्रिया, गुण और द्रव्य के योग के कारण संभव विशेषतः होने वाली (दृष्टान्तोक्ति) का उदाहरण—

निरन्तर फैल रहा, तथा जिसमें शूरवीरों की कीर्ति स्फुरित होती है वह योद्धाओं का उत्साह दुष्करता में पड़कर, अव्याहत गति से फैलने वाले, चञ्चल सूर्य के प्रतिबिम्ब से समन्वित तथा ऊँची-नीची भूमि पर गिरे हुये नदी के स्रोत की भाँति और भी अधिक तीव्रता ग्रहण करता है ॥ ५२ ॥

यहाँ 'अव्यवच्छिन्नप्रसृत' इसमें क्रियायोगनिमित्तक, 'स्फुरितशौर्यच्छाय' में गुणयोगनिमित्तका तथा 'स्फुरितसूर्यच्छाय' पर द्रव्ययोगनिमित्तक साम्य है तथा सामान्य और विशेषरूप वाला 'विषमस्खलितमहानदीस्रोत' का दृष्टान्त है। इस प्रकार यह विशेषतः क्रिया आदि के योग के कारण होने वाला दृष्टान्तोक्ति का उत्तरा नाम का साम्यभेद है।

स्व० भा०—श्लोक के प्रारम्भ में दी हुई वृत्ति में 'विशेषतः उत्तरा' नाम न देकर केवल 'विशेषतः' नाम दिया गया है। वहीं पर गृहीत 'सैव' से सम्भवतः पूर्वचर्चित उत्तरा का ही क्रम प्राप्त कराया गया है। किन्तु अन्त में शब्दतः 'उत्तरा' का उल्लेख होने से विषय स्पष्ट हो जाता है। 'नदीरूप' पदार्थ विशेष का उल्लेख कर देने से 'विशेषतः उत्तरा' का उदाहरण इसको मान जा सकता है।

अव्वोच्छिण्णेति। इह सुभटानामुत्साहो विषमे दुष्करे स्खलितः सन्नधिकं यथा स्यादेवमुद्धावति प्रकाशते। कीदृशः। अव्यवच्छिन्नो निरन्तरः सन् प्रसृतः, स्फुरिता शूरस्य सुभटस्य शौर्यस्य वा छाया ख्यातिः कान्तिर्वा यत्र सः। यथा महानदीनां स्रोतः प्रवाहो विषमे देशे स्खलितः सन्नधिकमुद्धावति उद्गच्छति सोऽपि निरन्तरं प्रसृतः, स्फुरिता सूरस्य छाया कान्तिः प्रतिबिम्बो वा यत्र सः। 'प्रतिबिम्बे च कान्तौ च ख्यातौ छायार्कयोषिति।' इति मेदिनीकारः। ('कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।' इति भरतः।) अत्र तादृशनदीस्रोतसो विशेषरूपता ॥

द्रव्यजातिनिमित्तसाम्या सामान्यतः पूर्वा दृष्टान्तोक्तिर्यथा—

'विसवेओ व्व पसरिओ जं जं अहिलेइ वहलधूमुप्पीडो।
सामलइज्जइ तं तं रुहिरं व महोअहिस्स विद्दुमवेण्टम् (ढम्) ॥५३॥'

[विषवेग इव प्रसृतो यं यमभिलेढि (लीयते) बहलधूमोत्पीडः।
श्यामलयति (लायते) तं तं (तत्तद्) रुधिरमिव महोदधेर्विद्रुमवेष्टम् (पीठम्) ॥]

अत्र धूमविषयोर्विद्रुमरुधिरयोश्च द्रव्यजातियोगकृतं प्रतीयमानं श्यामलायत इति धूमविषद्रव्ययोगजनितमभिधीयमानं सामान्यरूपं च साम्यम्। सेयं दृष्टान्तस्य पूर्वमेवोपन्यासाद् द्रव्यजातियोगनिमित्तसाम्या सामान्यतः पूर्वा नाम दृष्टान्तोक्तिः साम्यभेदः ॥

द्रव्य तथा जाति के योग से होने वाले साम्य के सामान्यतः पूर्वा दृष्टान्तोक्ति का उदाहरण—

विष के वेग के सदृश फैलता हुआ धूमसमूह जिस-जिस महासमुद्र के विद्रुमपीठ का ग्रहण करता है उस-उस को रक्त की भाँति काला कर देता है ॥ ५३ ॥

यहाँ धूम तथा विष और विद्रुम तथा रुधिर दोनों का द्रव्य और जाति से होने वाला रूप प्रतीत हो रहा, तथा 'श्यामलायते' इस पद के द्वारा धूम और विष रूप द्रव्य के योग से उत्पन्न किन्तु अभिधीयमान सामान्य रूप का साम्य है। यह दृष्टान्त से पूर्व ही सन्निवेश होने से द्रव्य, जाति के योग के कारण उत्पन्न साम्य वाला सामान्यतः पूर्वा नामक दृष्टान्तोक्ति रूप साम्यालंकार का भेद है।

विसेति। इह बहलधूमोत्पीडो महाधूमसमूहो विषवेग इव प्रसृतो यद्यद्विद्रुमपीठम-भिलीयतेऽभिलाति गृह्णाति वा तत्तन्महोदधेर्विद्रुमपीठं श्यामलायते कज्जलीभवति। कीदृशम्। रुधिरमिव, इयं पूर्वदिशा। अभिलीयत इति अभिपूर्वात् लीङ् आश्लेषे दैवादिकः...। 'स्यादुत्पीडः समूहेऽपि' इति रत्नकोषः। अत्र जातेर्द्रव्यस्य सामान्यत एव साम्यमिति सामान्यरूपता दृष्टान्तस्य पूर्वमुपन्यासात्पूर्वता च॥

सैव द्रव्ययोगनिमित्तसाम्या विशेषतो यथा—

'संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥ ५४॥'

अत्र दीपशिखादिद्रव्ययोगकृतं साम्यं सामान्यविशेषरूपौ संचारिणी दीपशिखेति च राजमार्गाट्ट इति च दृष्टान्तौ पूर्वमेवोपन्यस्तौ। सेयं विशेषतो द्रव्ययोगनिमित्तसाम्या पूर्वा नाम दृष्टान्तोक्तिः साम्यभेदः॥

वही द्रव्ययोग के कारण संभव साम्य वाली दृष्टान्तोक्ति के 'विशेषतः' का उदाहरण—पति का वरण कर रही इन्दुमती रात में चलती-फिरती दीपशिखा की भाँति जिस-जिस को छोड़कर आगे बढ़ती थी वही महाराज लोग राजमार्ग के ऊँचे महलों की भाँति बदरंग हो जाया करते हैं॥ ५४॥

यहाँ दीपशिखा आदि द्रव्य का योग होने से साम्य है। सामान्य तथा विशेषरूप से 'संचारिणी दीपशिखा' तथा 'नरेन्द्रमार्गाट्ट'—आदि दोनों दृष्टान्त पहले ही उपन्यस्त हो गये हैं। अतः यह विशेषतः द्रव्य के योग के निमित्त साम्यवाली दृष्टान्तोक्ति का पूर्वा नामक साम्य का भेद है।

संचारिणीत्यादि। सा पतिंवरा इन्दुमती यं यं भूमिपालं व्यतीयाय तत्याज स स भूमिपालो विवर्णभावं विवर्णत्वं प्रपेदे लेभे। यथा रात्रौ सञ्चारिणी दीपशिखा यं यं राजमार्गाट्टं व्यतिक्रामति स स राजमार्गाट्टो वैवर्ण्यं प्राप्नोति तथेत्यर्थः। व्यतीयायेति व्यतिपूर्वात् 'इण् गतौ' इति धातोर्लिटि रूपम्। अट्टो अटारीति प्रसिद्धः। 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः। इह संचरणत्वसामान्ययोगात्सामान्यरूपता, राजमार्गाट्ट इति विशेषरूपता॥

द्रव्ययोगनिमित्तसाम्यैव सामान्यत उत्तरा यथा—

'उज्ज्वलालोकया स्निग्धा त्वया त्यक्ता न राजते।
मलीमसमुखा वर्तिः प्रदीपशिखया यथा॥ ५५॥'

अत्र द्रव्ययोगकृतं साम्यं सामान्यरूपश्च प्रदीपः पश्चात्प्रदीपशिखावर्तिदृष्टान्तः। सेयं यथोक्तरूपोत्तरा नाम दृष्टान्तोक्तिः साम्यभेदः॥

द्रव्य के योग के कारण सम्भव साम्य के 'सामान्यतः उत्तरा' का उदाहरण—

(नायक अपनी प्रियतमा के विषय में उसकी सखी से कहता है कि) निर्मल दर्शनवाली

तुम्हारे द्वारा त्यागी गई प्रेम से भरी होने पर भी म्लानमुखी वह उसी प्रकार नहीं सुशोभित होती हैं जिस प्रकार उज्ज्वल प्रकाश से युक्त दीपक की लौ के बिना काले मुखवाली तैलाक्त वत्ती नहीं सुशोभित होती ॥ ५५ ॥

यहाँ द्रव्य का योग होने से सम्भव साम्य है, दीपक भी सामान्य रूपवाला ही है। सबके बाद में दीपशिखा की बत्ती का दृष्टान्त है। अतः यह कहे गये रूप के अनुसार दृष्टान्त उक्ति का उत्तरा नाम का साम्यभेद है।

स्व० भा०—नायिका तथा शिखा दोनों ही द्रव्य हैं। उन्हीं दोनों के योग से यहाँ द्रव्ययोग है। दृष्टान्त का भी रूप सामान्य है, क्योंकि दीपशिखा कोई सूर्य सी विशिष्ट वस्तु नहीं। बाद में उस दृष्टान्त का ग्रहण स्पष्ट ही है। 'इव' के स्थान पर यहाँ यथा का प्रयोग हुआ है।

उज्ज्वलेत्यादि। त्वया त्यक्ता स्निग्धा स्नेहवती सखी न राजते इति प्रियायाः सखीं प्रति पत्युर्वचनम्। त्वया कीदृश्या। उज्ज्वलो निर्मल आलोको दर्शनं यस्यास्तया। स्निग्धा कीदृशी। मलीमसं म्लानं मुखं यस्याः सा। यथा प्रदीपशिखया त्यक्ता वर्तिर्न शोभते तथेत्यर्थः। प्रदीपशिखया कीदृश्या। उज्ज्वल आलोक उद्द्योतो यस्यास्तया। वर्तिः कीदृशी। स्निग्धा स्नेहवती, स्नेहस्तैलम्। म्लानमुखी च। 'मलीमसं तु मलिनम्' इत्यमरः। इह नायिकाशिखयोर्द्रव्ययोर्योगः। दृष्टान्तस्य सामान्यरूपता पश्चादुपादीयमानता च व्यक्तैव ॥

सैव क्रियागुणयोगनिमित्तसाम्या विशेषतो यथा—

'तो ताण हअच्छाअ णिच्चललोअणसिहं पउत्थपआवम्।
आलेक्खपईवाणं व णिअअं पइइचडुलत्तणं पि विअलिअम्॥ ५६॥'

[ततस्तेषां हतच्छायं निश्चललोचनशिखं प्रोपितप्रतापम्।
आलेख्यप्रदीपानामिव निजकं प्रकृतिचटुलत्वमपि विगलितम्॥]

अत्र हतच्छायमित्यादीनामन्तर्गतगुणत्वेन क्रियाविशेषणत्वात् क्रियागुणयोगनिमित्त निज प्रकृतिचटुलत्वमपि विगलितमिति गुणयोगनिमित्तं च साम्यं सामान्यविशेषरूपश्चालेख्यप्रदीपदृष्टान्त इति क्रियागुणयोगनिमित्तेयं विशेषत उत्तरा नाम दृष्टान्तोक्तिः साम्यभेदः। अथ दृष्टान्तोक्तेर्दृष्टान्तालंकारस्य च को विशेषः? उच्यते। 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' इत्यर्थं प्रति तु न कश्चिद्विशेषः। उक्तिं प्रति पुनरनेको विद्यते। तद्यथा—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्भिन्ने वाक्ये निर्देशो दृष्टान्तालंकारः। एकवाक्ये निर्देशो दृष्टान्तोक्तिः / साध्यधर्मसिद्धये दृष्टान्तालंकारः, साधर्म्य [निमित्त] सिद्धये दृष्टान्तोक्तिः। इवाद्यप्रयोगे दृष्टान्तालंकारः, इवादिप्रयोगे तु दृष्टान्तोक्तिः। अत एवेयमुभयालंकारः स पुनरर्थालंकार इति ॥

उसी का क्रिया तथा गुण के योग के कारण उत्पन्न साम्य की विशेषतः (उत्तरा) का उदाहरण—

उसके पश्चात् उन वानरों की प्रतिष्ठा या शोभा, उसी प्रकार नष्ट हो गई, नयन रूप शिखा शान्त हो गई, पौरुष समाप्त हो गया और स्वयं की स्वाभाविक चञ्चलता भी समाप्त हो गई जिस प्रकार से नष्ट छायावाले, शान्त नयनशिखावाले, ज्वलन से रहित दीपक के चित्र की भी अपनी सहज चञ्चलता समाप्त हो जाती है ॥ ५६ ॥

यहाँ 'हृतच्छायम्' इत्यादि का गुणों का अन्तर्भाव होने से क्रियाविशेषण होने के कारण क्रिया तथा गुण दोनों के योग से होनेवाला तथा 'अपना स्वाभाविक चपलत्व भी समाप्त हो गया' इस प्रकार गुणयोग के कारण होने वाला साम्य है, और सामान्य तथा विशेष दोनों रूपों वाला आलेख्य प्रदीप का दृष्टान्त है। इस प्रकार क्रिया तथा गुण के योग के निमित्त से विशेषतः उत्तरा दृष्टान्तोक्ति साम्य का भेद हैं। फिर दृष्टान्तोक्ति तथा दृष्टान्तालंकार में क्या विशिष्टता है (अर्थात् दोनों में अन्तर क्या है ? । (उत्तर) बतलाया जाता है कि 'लोक के आधार पर परीक्षण करने वालों को जिस पदार्थ में साम्य का ज्ञान होता है वह दृष्टान्त है। इस प्रकार अर्थ के विषय में तो कोई अन्तर नहीं है। उक्ति के विषय में तो अनेक अन्तर है। वे हैं जैसे—दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक दोनों का भिन्न भिन्न वाक्यों में निर्देश होने से दृष्टान्तालंकार होता है तथा एक ही वाक्य में निर्देश होने से दृष्टान्तोक्ति होती है। साध्य-उपमान के धर्मों की सिद्धि के लिये दृष्टान्त अलंकार होता है और साधर्म्य-सादृश्य, साम्य—अथवा साम्य के निमित्तों की सिद्धि के लिये दृष्टान्तोक्ति होती है। इसीलिये यह उभयालंकार है और वह अर्थालंकार है।

स्व० भा०—यहाँ दृष्टान्तोक्ति नामक साम्यभेद का अन्य आचार्यों को मान्य दृष्टान्तालंकार से भेद निरूपित किया गया है। भोज इसकी गणना उभयालंकारों में करते हैं, जब कि अन्य आलंकारिक दृष्टान्त को अर्थालंकार ही मानते हैं। वृत्ति में दोनों का अन्तर स्पष्ट रूप से उल्लिखित है।

प्रारम्भ में 'हृतच्छायं', 'निश्चललोचनशिखं' तथा 'प्रोषितप्रतापम्' को क्रियाविशेषण मानने से विशेषता बोधक गुणों का अन्तर्भाव उनमें हो ही जाता है।

तो ताणेत्यादि। इह ततस्तेषां वानराणामालेख्यप्रदीपानामिव निजकमात्मीयं प्रकृतिचञ्चलत्वमपि विगलितमपगतम्। हृता छाया प्रतिष्ठा कान्तिर्वा यत्र तत्। पक्षे हृता छाया आतपाभावरूपा यत्र तत्। निश्चलं लोचनमेव शिखा यत्र तत्। प्रोषितोऽन्तर्गतः प्रतापः पौरुषं प्रतपनं च यत्र तत्। क्रियाविशेषणत्रयमिदम्। 'निजमात्मीयनित्ययोः' इति विश्वः। स्वार्थिकः कन्। अत्र छायादेर्गुणस्य क्रियाविशेषणतया क्रियाया गुणायोगः। प्रदीपस्य दृष्टान्त इति विशेषः। उत्तरा च व्यक्तैव। अथेति। उभयत्र साम्यमात्रस्योपजीवनादिति भावः। लौकिका लोकविदिताः, परीक्षकाः प्रमाणेन व्यवहारिणः। बुद्धिसाम्यस्योभयत्र तुल्यत्वादाह—न कश्चिदिति। अभेद एवेत्यर्थः। तर्ह्यभेद एव, नेत्याह—उक्तिमिति। वचनरचनयानेके भेदास्तयोरित्यर्थः। साध्येति साध्यो धर्मः सिसाधयिषितः। साधर्म्येति। साधर्म्यं समानधर्मता तस्या निमित्तं गुणादि तयोः सिद्धिरित्यर्थः। इवादिप्रयोगपुरस्कारेण शब्दालंकारता, साम्यादिपुरस्कारेण चार्थालंकारतेत्युभयालंकारतेत्याह—अत इति।

प्रपञ्चोक्तिं लक्षयति—

साम्योत्कर्षापकर्षोक्तेरुपमानोपमेययोः।
प्रकृता विकृता चेति प्रपञ्चोक्तिः प्रदर्श्यते ॥ ३९ ॥

सोपमानोपमेययोः साम्येन प्रकृता यथा—

'अरण्यबीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात्पुरः सखीनाममिमीत लोचने ॥ ५७ ॥'

अत्र मृगलोचनोपमानानां तल्लोचनोपमेययोश्च साम्यमविकृतानामेव प्रतीयते। सेयं सामान्येन प्रकृता नाम प्रपञ्चोक्तिः साम्यभेदः ॥

प्रपञ्चोक्ति

उपमान तथा उपमेय दोनों के साम्य के उत्कर्ष तथा अपकर्ष को कहने से 'प्रकृता' तथा विकृता दो प्रकार की) प्रपञ्चोक्ति प्रदर्शित की जाती है ॥ ३९ ॥

उसी के उपमान और उपमेय के साम्य से होने वाले प्रकृता भेद का उदाहरण—

वन्य बीजों की अंजली देकर पाले-पोसे गये मृग उस पार्वती में इतना विश्वास करते थे कि कौतूहल के कारण अपनी सखियों के सामने ही वह उनके नेत्रों से नेत्रों को नापा करती थी ॥५७॥

यहाँ विकृत न होने वाले ही अर्थात् सहज एवं स्वाभाविक मृगलोचन आदि उपमानों का उसके लोचन और उपमेयों का साम्य प्रतीत हो रहा है। इसलिये सामान्य से समर्थित प्रपञ्चोक्ति का 'प्रकृता' नामक साम्यभेद है।

स्व० भा०—'इव' आदि का प्रयोग न होने से 'प्रपञ्चोक्ति' है। मृगलोचन तथा नारीलोचन इन दोनों के परस्पर उत्कृष्टता का भाव प्रकट होने के साथ ही इन दोनों में मृगलोचन रूप उपमान का साम्य भी प्रतीत होता है। अन्यथा अनुत्कृष्ट पदार्थ से उत्कृष्ट पदार्थ की तुलना करना ही व्यर्थ होता। 'प्रकृता' यहाँ इसलिये है क्योंकि उपमान 'मृगलोचन' सहज भाव से उत्कृष्ट प्रदर्शित किये गये हैं।

साम्येति—उपमानोपमेययोः साम्येनोत्कर्षेणापकर्षेण च प्रपञ्चोक्तिः। सा च क्वचित्प्रकृता स्वभावसिद्धा, क्वचिद्विकृतौपाधिकी ॥ अरण्येत्यादि। तस्यां गौर्यां च तथा तेन प्रकारेण हरिणा विशश्वसुः विश्वासं जग्मुः। कीदृशाः। अरण्यबीजस्य अंजोरीति ख्यातस्याञ्जलिदानेन अलिका विलासिताः। तदञ्जलिस्थनीवारधान्यभक्षका इत्यर्थः। यथा सा गौरी तदीयैर्मृगसंबंधिभिर्नेत्रैरग्रे सखीनां लोचनेऽमिमीत समीचकार कौतुकात्। अरण्ये बीजानि यस्य तदरण्यबीजम्। विशश्वसुरिति विपूर्वात् 'श्वस प्राणने' इत्यस्माल्लिट्युसि रूपम्। अमिमीतेति 'माङ् माने' णिचि लुङि चङि रूपम्। इहाविकृतता मृगलोचनानां सहजसौकर्यात्। अत एव प्रकृतता प्रपञ्चोक्तिरिवादेरप्रयोगात् ॥

प्रकृतैवोपमानोत्कर्षेण यथा—

'गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन वहसि किं मुग्धे।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि ॥ ५८ ॥'

अत्र तव द्वे लोचनोत्पले एव, सरसां पुनर्बहूनि नीलोत्पलानीत्युपमानोत्कर्षः प्रकृत एव प्रतीयते। सेयमुपमानोत्कर्षेण प्रकृता नाम प्रपञ्चोक्तिः साम्यभेदः ॥

उपमान के उत्कर्ष के कारण होने वाली 'प्रकृता' का ही उदाहरण—

अरी मूर्खे! तू अपने दोनों नयनों से इस अमर्दनीय गर्व को क्यों धारण कर रही है जब कि प्रत्येक दिशा में सरोवरों में इनके समान अनेक नीलकमल हैं ही ॥ ५८ ॥

यहाँ (यह प्रदर्शित है कि) तुम्हारे तो केवल दो ही नेत्र-कमल हैं, किन्तु सरोवरों में तो बहुत से नीलकमल हैं, इस प्रकार उपमान का उत्कर्ष वाला प्रकृत ही प्रतीत हो रहा है। अतः यह उपमान के उत्कर्ष से संभव प्रकृता नाम वाली प्रपञ्चोक्ति रूप साम्य का भेद है।

स्व० भा०—दो नेत्रों की अपेक्षा अनेकों की उपस्थिति तो उत्कृष्टतर मान्य ही है। इस प्रकार उपमेय की अपेक्षा उपमान का उत्कर्ष प्रकट करने से एक सहज क्रम बना हुआ है। इस

क्रम के कारण प्रकृतता का भाव है। सारी उत्कृष्टता के होने पर भी दोनों की परस्पर समानता तो स्पष्ट हो ही रही है। अतः साम्य भी है।

गर्वमित्यादि—ननु हे नायिके, लोचनद्वयेनासंवाह्यं गर्वं त्वं किं वहसि। न वोढुम· र्हसीत्यर्थः। दिशि दिशि प्रतिदिशं सरःसु तडागेषु ईदृशानि त्वन्नेत्रतुल्यानि नीलोत्पलानि सन्ति। अत एव गर्वभङ्गः। 'स्यान्मर्दनं संवाहनं' इत्यमरः। इह नीलोत्पलानामुत्कर्षः साहजिक एव। नेत्रद्वयापेक्षया तेषां बहुत्वात्॥

सैवोपमानापकर्षेण यथा—

'अन्यतो नय मुहूर्तमाननं चन्द्र एष सरले कलामयः।
मा कदाचन कपोलयोर्मलं संक्रमय्य समतां नयिष्यति॥ ५९॥'

अत्रोपमानस्य मलिनताकृतोऽपकर्षः प्रकृत एव प्रतीयते। सेयमुपमानापकर्षेण प्रकृता नाम प्रपञ्चोक्तिः साम्यभेदः।

वही (प्रकृता ही) उपमान के अपकर्ष के कारण जब होती है, उसका उदाहरण—

हे भोली-भाली सुन्दरि, तू एक क्षण के लिये अपने मुख को कहीं और ले जा। (तू नहीं जानती) यह चन्द्रमा बड़ा भारी कलाबाज है। कहीं ऐसा न हो कि यह तुम्हारे दोनों कपोलों में कालिमा का संक्रमण कराकर उसमें भी अपनी समता ला दे—अर्थात् स्वयं तो कलंकी है ही तुम्हारे भी कपोलों को वैसा ही कर दे॥ ५९॥

यहाँ उपमान का मलिनता के द्वारा किया गया अपकर्ष स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। यह है उपमान के अपकर्ष से होने वाला प्रपञ्चोक्ति रूप साम्य के भेद का 'प्रकृता' नामक प्रकार।

स्व० भा०—उक्त उदाहरण में यह प्रतिपादित किया गया है कि चन्द्रमा कलंकी है, मुख निष्कलंक है। अतः अपकृष्ट उपमान कलंकी चन्द्रमा की अपेक्षा उत्कृष्ट है निष्कलंक मुख। किन्तु चन्द्रमा में सहज कालुष्य होने के कारण प्रकृतता अक्षुण्ण है, यद्यपि उसको अपकृष्ट निरूपित करने से विकृतता की संभावना-शंका हो सकती है।

अन्यत इत्यादि। हे सरले ऋजुप्रकृतिके, आननं मुखं मुहूर्तमन्यतोऽन्यत्र नय प्रापय। अत्र हेतुः। एष चन्द्रः कलामयः कदाचन कपोलयोर्मलं संक्रमय्य मेलयित्वा मा समतां साम्यं नयिष्यति प्रापयिष्यति। अन्यस्यान्यत्र संक्रमणे कलामयत्व हेतुः। अन्यत इति सप्तम्यां तसिः। इह चन्द्रस्योपमानस्य कलङ्करूपमलसंबन्धकृतोऽपकर्षः साहजिक एव ज्ञायते॥

सैवोपमानस्य किंचिदुत्कर्षेण यथा—

'आपातमात्ररसिके सरसोरुहस्य
किं बीजमर्पयितुमिच्छसि वापिकायाम्।
कालः कलिर्जगदिदं नकृतज्ञमज्ञे
स्थित्वा हरिष्यति तवैव मुखस्य शोभाम्॥ ६०॥'

अत्रोपमानस्योपमेयादीषदुत्कर्षः प्रकृत एव प्रतीयते। सेयमीषदुत्कर्षेण प्रकृता नाम प्रपञ्चोक्तिः साम्यभेदः॥

उसी प्रकृता का ही उपमान के थोड़ा उत्कर्ष निरूपणके कारण होने वाले भेद का उदाहरण—

एकाएक इसी समय रसावेश में हो जाने वाली हे सुन्दरि! तू वापी में कमलों का बीज क्यों

सोना चाहती है। (तू नहीं जानती क्या, कि) यह कलियुग का समय है, सारे संसार में कृतघ्नता नहीं है। अरी मूर्खे, उग कर स्थित होने पर यही कमल तुम्हारे मुख की शोभा का अपहरण कर लेंगे ॥ ६० ॥

यहाँ उपमान का उपमेय की अपेक्षा थोड़ा-सा उत्कर्ष स्वाभाविक ही प्रतीत हो रहा है, तो यह थोड़ा सा उत्कर्ष के कारण प्रकृता नाम की प्रपञ्चोक्ति है जो कि स्वयं साम्य का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ पद्मरूप उपमान की मुखरूप उपमेय से थोड़ा सी उत्कृष्टता स्वाभाविक ही रूप में विवक्षित है। अतः यहाँ प्रकृतता है। 'इव' आदि का अभाव होने से प्रपञ्चता भी है।

आपातेत्यादि। हे आपातमात्ररसिके एतत्क्षणमात्ररसवशे हे नायिके, सरसीरुहस्य पद्मस्य बीजं वापिकायामर्पयितुं चेतुं किमिच्छसि। किं तु नेदमर्हमित्यर्थः। अत्र हेतुः। अयं कालः कलियुगाख्यः, अत एवेदं जगत्कृतघ्नममर्यादम्। ततो हे अज्ञे, स्थित्वा कालान्तरं इदं सरसीरुहं तवैव मुखस्य शोभामथ च संपदं हरिष्यति ग्रहीष्यति। जेऽप्रतीति यावत्। 'आपातः पुंसि तत्कालं' इति मेदिनीकारः। 'मर्यादावान्कृतज्ञः' इति च। इह पद्मस्योपमानस्य मुखादुपमेयात्किंचिदुत्कर्षः साहजिक एव विवक्षितः ॥

उपमानोपमेययोः साम्यापत्त्या विकृता यथा—

> 'घरिणाए महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्थेण।
> छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा ॥ ६१ ॥'
> [गृहिण्या महानसकर्मलग्नमसीमलिनितेन हस्तेन।
> स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थां गतं पत्या ॥]

अत्रोत्कृष्टोपमेयस्य मसीमालिन्यवैकृतेनोपमानसाम्यमापद्यमानं प्रतीयते। सेयमुपमानोपमेययोः साम्यापत्त्या विकृता नाम प्रपञ्चोक्तिः साम्यभेदः ॥

उपमेय तथा उपमान में साम्य ला देने से संभव विकृता का उदाहरण—

रसोई घर में काम करते समय कालिख लग जाने से मलिन हाथ से छू जाने पर गृहिणी के चन्द्रमा के सदृश हो गये मुख का पति उपहास कर रहा है ॥ ६१ ॥

यहाँ उत्कृष्ट उपमेय का मसि की मलिनता से उत्पन्न विकार के द्वारा उपपन्न हो रहा उपमान से समानता का भाव प्रतीत होता है, तो वह उपमान और उपमेय में साम्य आ जाने से विकृता नाम की प्रपञ्चोक्ति है जो साम्य का भेद है।

स्व० भा०—उपमान चन्द्र तथा उपमेय मुख है। उपमान की सहज उत्कृष्टता तथा उपमेय की सहज अपकृष्टता भी स्वभाव सिद्ध ही है किन्तु यहाँ कालिख से युक्त होने पर ही जो मुख को चन्द्रमा के सदृश कहा गया, इसका अभिप्राय हुआ कि जब वह हीन हो गया तब उपमान के सदृश हुआ, अन्यथा तो वह उससे अत्यन्त ही श्रेष्ठतर था। यह बात सामान्य मान्यता के प्रतिकूल पड़ती है, अतः विकृता है।

घरिणीत्यादि। 'गृहिण्या महानसकर्मलग्नमसीमलिनितेन हस्तेन। स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थां गतं पत्या ॥' इह कयाचिन्नायिकया चन्द्रेण स्पर्धमानया पाकासक्तया श्यामितहस्तेन मुखे स्पृष्टे सति नायकस्तन्मुखस्य चन्द्रसमत्वं सूचयन्नुपहसतीत्येकापरस्यै कथयति—गृहिण्या इति। गृहिण्याः पाकक्रियालग्नश्यामभागश्यामितेन करेण स्पृष्टं मुखमत एव चन्द्रावस्थां गतं पत्या हस्यते। 'पाकस्थानमहानसे' इत्यमरः। अत्र मसीमालिन्यं वैकृतं तत एव मुखचन्द्रयोः साम्यापत्तिः ॥

विकृतैवोपमेयस्योत्कर्षापत्त्या यथा—

'रत्तुप्पलदलसोहा तीअ वि चसअम्मि सुरहिवारुणीभरिए ।
मअतम्बेहि मणहरा पडिमापडिएहिँ लोअणेहिँ लहुइआ ॥ ६२ ॥'

[रक्तोत्पलदलशोभा तस्या अपि चषके सुरभिवारुणीभरिते ।
मदताम्राभ्यां मनोहरा प्रतिमापतिताभ्यां लोचनाभ्यां लघ्वीकृता ॥]

अत्रोपमेयस्य मधुमदताम्रत्ववैकृत उत्कर्षः प्रतीयते । सेयमुपमेयोत्कर्षेण विकृता नाम प्रपञ्चोक्तिः साम्यभेदः ॥

उपमेय के ही उत्कर्ष के निरूपण से विकृता का ही उदाहरण—

सुगन्धित मदिरा से भरे हुये प्याले में प्रतिबिम्बित मधुमद से लाल हो गये नायिका के दोनों नयनों के द्वारा चित्ताकर्षक रक्तकमल दल की छटा तिरस्कृत कर दी गई ॥ ६२ ॥

यहाँ उपमेय का—मधु के मद के कारण आई ताम्रता से युक्त विकार का उत्कर्ष प्रतीत होता है । अतः यह उपमेय के उत्कर्ष से विकृता नाम की प्रपञ्चोक्ति है जो साम्य का भेद है ।

स्व० भा०—मदताम्र नयनों की तुलना प्रायः उपमान रक्तोत्पल से दी जाती है । किन्तु उसी रक्तोत्पल की अपकृष्टता उपमेय मदताम्र नयनों की तुलना में सिद्ध की गई है । अतः विकृतता तो है ही ।

रत्तुप्पलेत्यादि । इह कयापि नायिकया लोचनाभ्यां चषके सुगन्धिमद्यभृते प्रतिमया प्रतिबिम्बेन पतिताभ्याम् । अत एव मदेनाताम्राभ्यामतिलोहिताभ्यां मनोज्ञा रक्तोत्पलदलस्य शोभा लघ्वीकृतात्यल्पा कृता । जितेति यावत् । 'चषकं पानपात्रं स्यात्' इति हारावली 'सुरा ··· वरुणात्मजा' इत्यमरः । भरित इत्यत्र बाहुलकात्पाक्षिक इडागमः । यद्वा भरितः संजातभरः । तारकादित्वादितच् । 'प्रतिबिम्बं प्रतिमा' इत्यमरः । अत्र नेत्रयोरुपमेययोर्मदताम्रत्वं वैकृत उत्कर्षः स्फुट एव ॥

सैवोपमेयापकर्षापत्त्या यथा—

'मृगं मृगाङ्कः सकलं सदाङ्के बिभर्ति तस्यास्तु मुखं कदाचित् ।
कपोलदेशे मृगनाभिपत्त्रमियान्सखे तस्य ततोऽपकर्षः ॥ ६३ ॥'

अत्र मृगाङ्कः सकलं मृगं सदाङ्के बिभर्ति, तन्मुखं च कदाचिन्मृगनाभिमात्रजपत्त्रमेवेत्युपमेयस्य वाचनिक्यपकर्षापत्तिः प्रतीयते । सेयमुपमेयापकर्षापत्त्या विकृता नाम प्रपञ्चोक्तिः साम्यभेदः ॥

उसी विकृता का उपमेय में अपकर्ष की आपत्ति होने पर उदाहरण—

चन्द्रमा पूर्ण मृग रूप लाञ्छन को सदा अपने अङ्क में धारण करता है, किन्तु उस सुन्दरी का मुख तो कभी ही कभी अपने कपोलों पर कस्तूरी से बनी रचना को धारण करता है । हे मित्र, यही उसके मुख की चन्द्रमा से अपकृष्टता है ॥ ६३ ॥

यहाँ चन्द्रमा सम्पूर्ण मृग को सर्वदा अपने अङ्क में धारण करता है और उसका मुख कभी-कभी कस्तुरी मात्र से चित्रित पत्राली को ही, इसमें इस प्रकार से उपमेय का कथित अपकर्ष आ जाता प्रतीत होता है, तो यह उपमेय के अपकर्ष की आपत्ति से विकृता नामक प्रपञ्चोक्ति है जो साम्य का भेद है ।

स्व० भा०— यहाँ पर उपमेय को उक्त कारणों से उपमान की अपेक्षा हीन घोषित किया गया

है। निश्चित ही उपमेय की अपेक्षा उपमान उत्कृष्ट तथा अधिक गुणशाली होता है, किन्तु वस्तुतः अपेक्षित तो साम्य होता है। हीनावस्था का द्योतन यदि किसी की ओर से किया गया तो साम्य नहीं हो सकता। यही विकृति है। पूरा साम्य न होने से मात्र कस्तूरी का पत्र ही धारण करने से हीनता का ज्ञापन होता है, अतः यहाँ विकृतता है।

मृगमित्यादि। हे सखे, तस्य मुखस्य ततश्चन्द्रादियानेतावान्प्रकर्षः। तमेवाह। मृगाङ्कश्चन्द्रोऽङ्के क्रोडे सदा सकलं मृगं बिभर्ति। तस्याः पुनर्मुखं (कर्तृ), कपोलदेशे मृगनाभेः कस्तूरिकायाः पत्रं पत्रावलीं कदाचिद्वहति। इह मुखस्योपमेयस्य वाचनिकी वचनतात्पर्यपर्यवसन्नापकर्षापत्तिः। कलङ्किना सममनयोरत्र एवोत्कर्ष इति हि वचनमपकर्षबोधकमेव। विकृतता च कस्तूरीपत्राधानात्॥

सैवोपमेयस्य साम्यापत्त्योपमानोत्कर्षेण च यथा—

'न मर्त्यलोकस्त्रिदिवात्प्रतीयते म्रियेत नाग्रे यदि वल्लभो जनः।

निवृत्तमेव त्रिदिवप्रयोजनं मृतः स चेज्जीवत एव जीवति॥ ६४॥'

अत्रोपमेयस्य यथोक्तधर्मयोगे सत्युपमानेन पूर्वार्धे साम्यमुत्तरार्धे तु किंचिदुत्कर्षो भवति। सेयं यथोक्ता विकृता नाम प्रपञ्चोक्तिः साम्यभेदः॥

उसी (अर्थात् विकृता का ही) उपमेय की साम्यापत्ति से उपमान के उत्कर्ष की स्थिति का उदाहरण—(अर्थ के लिए द्रष्टव्य परिच्छेद ३।१८४)

यहाँ उपमेय का ऊपर, उक्त धर्मों का संयोग होनेसे, पूर्वार्ध में उपमान से साम्य है तथा उत्तरार्ध में कुछ उत्कर्ष है। इसलिये यह कथित लक्षणों के अनुसार विकृता नाम की प्रपञ्चोक्ति है जो साम्यालंकार का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ उपमेय है 'मर्त्यलोक' तथा उपमान है 'त्रिदिव'। आगे ही वल्लभ के मरण का अभाव होने से, इस धर्म को उभयनिष्ठ मानने पर दोनों में तुल्यता प्रतीत होती है, किन्तु आगे उत्तरार्ध में स्वर्ग का प्रयोजन समाप्त हो जाने से उपमेय उपमान की अपेक्षा कुछ अधिक उत्कृष्ट है। अतः एक ओर तो साम्य है और दूसरी ओर है उत्कर्ष। 'वल्लभ के समक्ष ही मरण का' वृत्तान्त वर्णित होने से विकृतता है।

न मर्त्येत्यादि। विवृतोऽयमभावालंकारे। इहोपमेयस्य मर्त्यलोकस्य यथोक्तधर्मस्याग्रे वल्लभमरणाभावरूपस्य योगे सत्युपमानेन त्रिदिवेन तौल्यमग्रे त्रिदिवप्रयोजननिवृत्युक्तेरुत्कर्ष एव ज्ञायते। वल्लभस्याग्रे मरणाभावाशंसनया विकृतता॥

प्रतिवस्तूक्तेर्भेदप्रकारानाह—

प्रतिवस्तूक्तिरप्यस्मिन्नृज्वी वक्रा च कथ्यते।

दृष्टान्तोक्तेश्च सा छायां प्रपंचोक्तेश्च गाहते॥ ४०॥

प्रतिवस्तूक्ति भी यहाँ ऋज्वी तथा वक्रा कही जाती है। वह दृष्टान्तोक्ति तथा प्रपञ्चोक्ति की छाया धारण करती है॥४०॥

स्व० भा०—प्रतिवस्तूक्ति में दृष्टान्तोक्ति तथा प्रपञ्चोक्ति दोनों के धर्म रहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार दृष्टान्तोक्ति में 'इव' आदि का प्रयोग होता है और दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव होता है वही इसमें होता है और 'इव' आदि के अभाव में भी साम्य का भाव प्रपञ्चोक्ति की भाँति भी होता है।

सा दृष्टान्तोक्तिच्छायया विधावृजुः पूर्वा च यथा—

'तन्मन्ये हिमभासस्तारानिकरेण कान्तिरुच्छेद्या ।
यत्तस्या (एतस्या) मुखमेतद्यदि युवतिमुखानि विजयन्ते ।। ६५ ।।

अत्र तदिन्दोस्तारकौघेन कान्तिरुच्छेद्या इति पूर्वमृजूक्त्या दृष्टान्तरूपं पश्चाद्यदेतन्मुखं युवतिमुखानि विजयन्त इति ऋजूक्त्यैव दार्ष्टान्तिकरूपं प्रतिवस्तूपन्यस्तमिति सेयं दृष्टान्तोक्तिच्छायया विधावृज्वी पूर्वा च प्रतिवस्तूक्तिः साम्यभेदः ।।

प्रतिवस्तूक्ति दृष्टान्त की छाया से युक्त होकर विधिवाचक स्थिति में ऋजुभाव से जब पूर्व आती है, उसका उदाहरण—

यदि इस सुन्दरी के मुख को इन युवतियों के मुख जीत लेते हैं तो मैं समझता हूँ कि नक्षत्र-पुञ्ज के द्वारा चन्द्रमा की भी कांति उच्छिन्न की जा सकती है ।। ६५ ।।

यहाँ तो चन्द्रमा की कान्ति नक्षत्र समूह के द्वारा उच्छिन्न की जा सकती है, इसमें पूर्व ही ऋजु उक्ति के द्वारा दृष्टान्त का रूप है, इसके बाद 'यदि इसके मुख को युवतियों के मुख जीत लेते हैं' इस प्रकार की ऋजु उक्ति के द्वारा ही दार्ष्टान्तिक रूप वाली प्रतिवस्तु उपन्यस्त हो रही है, इसलिये यह दृष्टान्तोक्ति की छाया से संयुक्त विधिवाचक दशा में ऋजु तथा पूर्व में रहने वाली प्रतिवस्तूक्ति है जो साम्य का भेद है ।

स्व० भा०—दृष्टान्त का भाव प्रदर्शित करने वाला खण्ड पहले ही श्लोक में आ गया है, उसके बाद भी ऋजु उक्ति के ही द्वारा स्पष्ट शब्दों में उससे मिलती प्रतिवस्तु का उपन्यास हो रहा है । 'स्वर्गकामो यजेत्' की भाँति यहाँ विधि है । दृष्टान्त वाला अंश पूर्वार्ध में ही उपन्यस्त हो चुका है । इस प्रकार यहाँ उक्त अपेक्षाओं के साथ ही दृष्टान्त की छाया भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है ।

प्रतीति । **सा प्रतिवस्तूक्तिर्दृष्टान्तोक्तिप्रपञ्चोक्त्योश्छायां धर्मं गाहते बिभर्ति तयोश्छायावाहिनीत्यर्थः** ।। तन्मन्ये इत्यादि । **एतस्या एतन्मुखं यदि युवतिमुखानि (कर्तृणि) विजयन्ते तत्तदा हिमभासश्चन्द्रस्य कान्तिस्तारानिकरेणोच्छेद्येत्यहं मन्ये । इह कर्मानुमितिरध्याहार्या । विजयन्त इत्यत्र 'विपराभ्यां जेः १।३।१९।' इति तङ् । अत्र प्रथममृजूक्त्या दृष्टान्तः, पश्चाद्दार्ष्टान्तिकमृजूक्त्यैव प्रतिवस्तूपन्यासः । तथा च दृष्टान्तोक्तिच्छाया व्यक्तैव, विधिमुखतापि व्यक्तैव ।।**

संवोत्तरा वक्रा च यथा—

'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ।। ६६ ।।'

अत्र शुद्धान्तदुर्लभमिति वक्रोक्त्या पूर्वं दार्ष्टान्तिकरूपं वस्तूपन्यस्य पश्चाद्दूरीकृताः खलु गुणैरिति वक्रोक्त्यैव दृष्टान्तरूपं प्रतिवस्तूपन्यस्तमिति सेयं दृष्टान्तोक्तिच्छायया विधौ वक्रोत्तरा च प्रतिवस्तूक्तिः साम्यभेदः ।।

(दृष्टान्तोक्ति की छाया से समन्वित) उत्तरा वक्रा प्रतिवस्तूक्ति का उदाहरण—

तपोवन में रहने वाले जनों का यदि इस प्रकार का रनिवासों में भी कठिनाई से मिलने

वाला रूप हो सकता है, तब तो जंगली लताओं के द्वारा उपवनों की लतायें गुणों से बहुत दूर कर दी गयी ॥ ६६ ॥

यहाँ, 'रनिवासों में दुर्लभ' इस प्रकार की वक्रोक्ति के द्वारा पहले ही दार्ष्टान्तिक रूप वस्तु का उल्लेख करके, उसके बाद 'गुणों से दूर कर दिया' इस वक्रोक्ति के द्वारा ही दृष्टान्त रूप प्रतिवस्तु उल्लिखित की गई है। इस प्रकार दृष्टान्तोक्ति के धर्मों से युक्त विधिवाचक अवस्था में वक्रा तथा उत्तरा नाम की साम्यालंकार का भेद प्रतिवस्तूक्ति है।

स्व० भा०—'शुद्धान्तदुर्लभ' पद का प्रयोग करके दुष्यन्त ने यह स्पष्ट किया है कि 'रनिवासों में भी इस प्रकार का रूप नहीं मिलता' इससे विधि के रूप में कही गई बात का निषेधात्मक अर्थ होने से वक्रता निश्चित होती है। दृष्टान्त के रूप में जो बात कही गई है वह उत्तरार्ध में है, एक विषय का कथन करने के बाद में है, अतः उत्तरता भी स्वतः सिद्ध है। उत्तरार्ध में भी वक्रोक्ति का ही भाव है। 'वन लताओं ने अपने गुणों से उद्यानलतिकाओं को तिरस्कृत कर दिया' यह कहने का अर्थ होता है कि समस्त देखरेख के होने पर भी उद्यान की लतायें वनलताओं की गुण में तुलना नहीं कर सकतीं। अतः उदाहरण अपेक्षित लक्षण के अनुकूल ही है।

शुद्धेत्यादि। यद्याश्रमवासिनो जनस्य वपुरिदं शुद्धान्तेऽन्तःपुरे दुर्लभमस्ति तदा खलु निश्चयेन वनलताभिरुद्यानलता गुणैर्दूरीकृताः सन्ति। 'शुद्धान्तश्चावरोधश्च' इत्यमरः। अत्र शुद्धान्तदुर्लभपदेनेदृशं रूपमन्तःपुरेऽपि नास्तीति वक्रोक्त्या प्रतिपादितपूर्वं दार्ष्टान्तिके। उत्तरार्धेऽपि वक्रोक्त्यैव दृष्टान्तकथनमिति दृष्टान्तोक्तिच्छायत्वविधिता तु स्फुटैव ॥

दृष्टान्तोक्तिच्छायया निषेधे ऋजुः पूर्वा यथा—

'न मालतीदाम विमर्दयोग्यं न प्रेम नव्यं सहतेऽपराधान्।
म्लानापि न म्लायति केसरस्रग्देवी न खण्डप्रणया कथंचित् ॥६७॥'

अत्र न मालतीदाम विमर्दयोग्यमिति, म्लानापि न म्लायति केसरस्रगिति च ऋजूक्तिभ्यामेव पूर्वं दृष्टान्तरूपे वस्तुनी प्रतिषिध्योत्तरकालं न प्रेम नव्यं सहतेऽपराधानिति, देवी न खण्डप्रणया कथंचिदिति च दार्ष्टान्तिकरूपे प्रतिवस्तुनी ऋजूक्त्यैव प्रतिषिद्धे। सेयं निषेधे ऋज्वी पूर्वा च दृष्टान्तोक्तिच्छायया प्रतिवस्तूक्तिः साम्यभेदः।

दृष्टान्तोक्ति की छाया के साथ निषेध अर्थ होने पर ऋजु तथा पूर्वा प्रतिवस्तूक्ति का उदाहरण—

(अर्थ परिच्छेद २। २०५ में देखिये) ॥ ६७ ॥

यहाँ "मालती की माला विमर्द के योग्य नहीं है," "मुरझा जाने पर भी केसर की माला मुरझाती नहीं" इन दोनों ऋजु उक्तियों के द्वारा ही पहले दृष्टान्त रूप वाली दो वस्तुओं का प्रतिषेध करके, बाद में "नया प्रेम अपराधों को नहीं सह सकता" "कहीं देवी का प्रेम खण्डित न हो जाये" ये दोनों दार्ष्टान्तिक रूप वाली प्रतिवस्तुयें ऋजु उक्ति के द्वारा ही प्रतिषिद्ध हो गई हैं। इस प्रकार यह निषेध की स्थिति में ऋजु तथा पूर्वा दृष्टान्तोक्ति की छाया से युक्त साम्य का एक भेद प्रतिवस्तूक्ति है।

स्व० भा०—नकार का प्रयोग होने से निषेध व्यक्त है। औपम्य भाव दृष्टान्तोक्ति की सर्जना कर ही रहा है। अतः उसकी भी छाया है। प्रथम तीन चरण चतुर्थ से पूर्ववर्ती हैं ही,

इसलिये निरूपणीय विषय के पूर्व उनकी स्थिति स्वयं स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों के प्रतिपाद्य विषय को विशिष्ट मानने से भी प्रथम तथा तृतीय चरण की पूर्णता ही सिद्ध होती है। स्पष्ट निरूपण होने से ऋजुता के भी विषय में अस्पष्टता नहीं है।

न मालतीत्यादि। मालतीमाला विमर्दयोग्या नास्ति। अतिमृदुत्वात्। तद्वन्नव्यं नवीनं प्रेम अपराधान्न सहते। केसरस्रक् बकुलमाला ग्लानापि सती न ग्लायति अतिमलिना न भवति तद्वद्देवी कथंचिन्न खण्डप्रणया न खण्डितप्रश्रया भवति। 'नव्यो नवीनो नूतनो नवः' इत्यमरः। अत्र दृष्टान्तोक्तिच्छायया निषेधः। पूर्वत्वमृजुत्वं च स्फुटमेव॥

सैवोत्तरा च वक्रा च यथा—

'मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ ६८॥'

अत्र कथं वा स्यादिति वक्रया निषेधोक्त्या दार्ष्टान्तिकमभिधाय पश्चान्न वसुधातलात्प्रभातरलं ज्योतिरुदेतीति वैयधिकरण्यवक्रयैव निषेधोक्त्या दृष्टान्तोऽभिहितः। सेयं निषेधे वक्रोत्तरा च दृष्टान्तोक्तिच्छायया प्रतिवस्तूक्तिः साम्यभेदः॥

उसी का उत्तरा तथा वक्रा का रूप जैसे—

मनुष्य योनि की स्त्रियों में इस प्रकार के रूप की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? चञ्चल छटा वाली विद्युत् पृथ्वीतल से नहीं उदित होती॥ ६८॥

यहाँ 'कथं वा स्यात्' इस वक्रतापूर्ण निषेधोक्ति के द्वारा दार्ष्टान्तिक का अभिधान करके बाद में 'न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्' इस प्रकार की असमान आधार की वक्रता से युक्त निषेध की उक्ति द्वारा दृष्टान्त अभिहित किया गया है। यह निषेधदशा में वक्रा तथा उत्तरा दृष्टान्तोक्ति की छाया से साम्य के भेद प्रतिवस्तूक्ति का उदाहरण है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक के अंश "कथं वा स्यात्" पदों के प्रयोग से निषेध की अभिव्यक्ति की गई है क्योंकि इसका स्पष्ट अर्थ होगा "इस प्रकार के रूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।" "विद्युत पृथ्वीतल से नहीं उदित होती" इस वाक्य द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों का आधार भिन्न भिन्न है। इस प्रकार की वस्तु का उत्पत्तिस्थल कोई दूसरा ही हो सकता है। इस वैयधिकरण्य अर्थात् असमान आधारता के कारण भी निषेध ही प्रकट होता है।

मानुषीष्वित्यादि। विवृतोऽयमभावालंकारे। अत्र कथं वा स्यादिति वितर्कोत्थतया वक्रोक्तिर्निषेधरूपा, उत्तरार्धे तादृशज्योतिषो भूमावसंभवेऽतिरूपवत्या भूमावसंभव उक्त इति वैयधिकरण्यं वक्रता च॥

प्रपञ्चोक्तिच्छायया विधावृज्वी यथा—

'तरङ्गय दृशोऽङ्गने पततु चित्रमिन्दीवरं
स्फुटीकुरु रदच्छदं व्रजतु विद्रुमः श्वेतताम्।
क्षणं वपुरपावृणु स्पृशतु काञ्चनं कालिका-
मुदञ्चय मुखं मनाग्भवतु च द्विचन्द्रं नभः॥ ६९॥'

अत्र प्रथमचतुर्थपादयोरुपमानोपमेयसाम्यं वैकृतम्, द्वितीयतृतीयपादयोरु-

पमानापकर्षः प्रकृत इति। सेयं प्रपञ्चोक्तिच्छायया विधावृज्वी नाम प्रतिवस्तूक्तिः साम्यभेदः ॥

प्रपञ्चोक्ति की छाया से समन्वित विधिभाव में ऋजु प्रतिवस्तूक्ति का उदाहरण—

हे सुन्दरि ! तुम अपने नयनों को चञ्चल करो जिससे विभिन्न नीलकमल बरसने लगें। अपने अधरों को स्पष्ट करो, खोलो, और मूंगे श्वेत हो जायें। एक घड़ी अपने शरीर को उघाड़ दो जिससे सोना श्यामल वर्ण का हो जाये। जरा सा अपने मुख को तो ऊपर उठाओ जिससे आकाश में दो चन्द्र हो जायें॥ ६९ ॥

यहाँ प्रथम तथा चतुर्थ पादों में उपमान तथा उपमेय का साम्य विकृत है, द्वितीय तथा तृतीय पादों में उपमान का अपकर्ष प्रकृत है। इस प्रकार प्रपञ्चोक्ति की छाया से युक्त विधि अर्थ में साम्य का भेद ऋजु प्रतिवस्तूक्ति है।

स्व० भा०—यहाँ प्रथम तथा चतुर्थ चरणों में वैकृतभाव है। वे सहज नहीं, क्योंकि दृष्टि को तरङ्गित कर देने से नीले कमल नहीं झड़ने लगते, मुखके ऊपर उठ जाने से आकाश में दूसरा चन्द्र नहीं उगता, ये तो मात्र ऋजु कल्पनायें हैं। द्वितीय तथा तृतीय चरणों में निरूपित "ओठों के खुलने से दाँतों की स्वच्छ प्रभा का रक्त अधरों पर छा जाना और उनको श्वेत कर देना", "स्वर्ण से चमकते अंगों का नीले आकाश के सम्पर्क से श्यामल हो जाना, संभव है, क्योंकि रंगों के तालमेल से ऐसा हो सकता है। इनकी सहज सिद्धि हो जाने से प्रकृतता का भी भाव है ही। इस प्रकार 'इव' का प्रयोग न होने पर भी साम्य है तथा प्रपञ्चोक्ति के विकृत और प्रकृत दोनों भेदों का समावेश है।

तरङ्गयेत्यादि। हे अङ्गने रूपवति, दृशो नेत्राणि तरङ्गय चञ्चलानि कुरु। ततो नीलमिन्दीवरं पद्मं पततु भङ्गवद्भवतु। रदच्छदं दशनाच्छादकमधरं स्फुटीकुरु व्यक्तीकुरु। ततो विद्रुमः प्रवालवृक्षः श्वेततां व्रजतु यातु। क्षणं मुहूर्तमात्रं वपुः शरीरमपावृणु निरावरणं कुरु। ततः कांचनं कनकं (कर्तृ) कालिकां श्यामिकां स्पृशतु। मनाक् अल्पं यथा स्यादेवं मुखमुदञ्चयोत्तोलय च। ततो नभ आकाशं द्विचन्द्रं चन्द्रद्वयान्वितं भवतु। तरङ्गयेति तरङ्गशब्दात् 'तत्करोति—' इति णिचि लोटि रूपम्। 'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ' इत्यमरः। 'विद्रुमो ना प्रवालेऽपि' इति मेदिनीकारः। 'कालिका श्यामिका चण्ड्याः'(?) इति शाश्वतः। द्वौ चन्द्रौ यत्र तद्द्विचन्द्रम्। अत्र विकृततया प्रकृततया च प्रपञ्चोक्तिच्छाया वैकृतमसाहजिकम्। प्रकृतः सहजः। विधिता तु व्यक्तैव ॥

सैव विधौ वक्रा यथा—

> 'एक्कोण्णमिअभुअभङ्गे विमलकवोले
> वअणम्मि तुइ मिअच्छि तिरिञ्छणअणे।
> एहु ससिबिम्बउ कलङ्कगारउ पण्डरउ खित्तउ
> उप्परेण भमाइअ णिमञ्छणखप्परउ ॥ ७० ॥'

[एकोन्नामितभ्रूभङ्गे विमलकपोले वदने तव मृगाक्षि तिर्यङ्नयने।
एतच्छशिबिम्बं कलङ्कागारं पाण्डरमुत्क्षिप्तमुपरि भ्रामयित्वा निर्मञ्छनकर्परम् ॥]

अत्रोपमेयोत्कर्षो वैकृतः, उपमानापकर्षः प्राकृतः प्रकाशत एव। या पुनरियमुत्तरार्धेन रूपकेणोपमानापकर्षस्योक्तिभङ्गिस्तयेयं प्रपञ्चोक्तिच्छायया विधौ वक्रा नाम प्रतिवस्तूक्तिः साम्यभेदः ॥

उसी (प्रपञ्चोक्ति की छाया से युक्त प्रतिवस्तूक्ति) का विधि अवस्था में वक्रता का उदाहरण—
हे मृगनयनी, उठी हुई एक भ्रूतरङ्ग से युक्त, निर्मल कपोलों वाले, तिरछे नयनों से समन्वित तुम्हारे मुख के होते हुये यह चन्द्रमण्डल कलङ्करूपी अलात से युक्त, कुछ कुछ श्वेत घुमा कर ऊपर फेंक दिया गया विलेपन का पात्र है ॥ ७० ॥

यहाँ उपमेय का उत्कर्ष वैकृत तथा उपमान का अपकर्ष प्राकृत प्रकाशित ही हो रहा है। जो पुनः उत्तरार्ध में रूपक के द्वारा उपमान के अपकर्ष की उक्ति की वक्रता है, इसी से यह प्रपञ्चोक्ति की छाया से संयुक्त विधि अर्थ में वक्रा नाम की प्रतिवस्तूक्ति है जो साम्य का भेद है।

स्व० भा०—'वदन' उपमेय है, उपमान है चन्द्रबिम्ब। उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष दिखलाने से विकृति का भाव है। उपमान अपकर्ष भी यद्यपि वैकृत ही है तथापि साम्यस्थापना के लिये उसका नीचे चला आना और तुल्यता का भाव प्रकट करा देना उसके लिये स्वाभाविकता ही है। निषेध का भाव न होने से विधिभाव स्पष्ट है।

एको इत्यादि। 'एकोन्नामितभ्रूभङ्गे विमलकपोले वदने तव मृगाक्षि तिर्यङ्नयने। एतच्छशिबिम्बं कलङ्काङ्गारं पाण्डरमुत्क्षिप्तमुपरि भ्रामयित्वा निर्मञ्छनकर्परम् ॥' इह हे मृगाक्षि, तव वदन एतच्छशिबिम्बं निर्मञ्छनकर्परमुपरि भ्रामयित्वोत्क्षिप्तम्। कीदृशे वदने। एक उन्नामित उत्तोलितो भ्रूभङ्गो यत्र तस्मिन्। विमलौ कपोलौ यत्र तस्मिन्। तिर्यग्नयने यत्र तस्मिन्। एतादृशस्य निर्मञ्छनमुचितमेव। शशिबिम्बे निर्मञ्छनकर्परधर्ममाह—कलङ्क एवाङ्गारो यत्र तत्पाण्डरं श्वेतं च। 'अङ्गारोऽलातमुल्मुकम्' इत्यमरः। 'कर्परोऽस्त्री कपालेऽपि' इति मेदिनीकारः। अत्रोपमेये वदने भ्रूभङ्गादेर्विकृतत्वप्रकाशः स्फुटः। उत्तमस्य निर्मञ्छनं क्रियत इत्युक्तिभङ्गी ॥

सैव निषेधे ऋज्वी यथा—

> 'दातारो यदि कल्पशाखिभिरलं यद्यर्थिनः किं तृणैः
> सन्तश्चेदमृतेन किं यदि खलास्तत्कालकूटेन किम्।
> किं कर्पूरशलाकया यदि दृशोः पन्थानमेति प्रिया
> संसारेऽपि सतीन्द्रजालमपरं यद्यस्ति तेनापि किम् ॥ ७१ ॥'

अत्रोपमेयोत्कर्ष ऋजूक्त्यैव च निबद्ध इति सेयं प्रपञ्चोक्तिच्छायया निषेधे ऋजुर्नाम प्रतिवस्तूक्तिः साम्यभेदः ॥

उसी (प्रतिवस्तूक्ति) के निषेधात्मकता की स्थिति में ऋजुता का उदाहरण—
यदि दाता लोग हैं तो कल्पवृक्षों से क्या लाभ? यदि याचक हैं तो तिनकोंसे क्या लाभ? यदि सज्जन हैं तो अमृत से क्या लाभ? यदि दुर्जन लोग हैं तो कालकूट से क्या प्रयोजन? यदि प्रियतमा नयनों के सामने आ जाये तो फिर कपूर की सलाई से क्या लाभ? और जब यह संसार ही विद्यमान है तब यदि दूसरा इन्द्रजाल नाम का कौतुक हैं तो उससे क्या लाभ? ॥ ७१ ॥

यहाँ उपमेय का उत्कर्ष ऋजु उक्ति के द्वारा ही ग्रथित है। इस प्रकार यह प्रपञ्चोक्ति की छाया से युक्त निषेधभाव होने पर ऋजुनाम की प्रतिवस्तूक्ति है जो साम्य का भेद है।

स्व० भा०—यहाँ उपमेय की उत्कृष्टता उपमानों की अपेक्षा प्रदर्शित की गई है, क्योंकि उनकी उपस्थिति में इनकी निरर्थकता सिद्ध की गई है। अतः यहाँ भी प्रपञ्चोपमा ही सिद्ध होती है। ऋजुता तथा निषेध दोनों का भाव स्पष्ट है।

दातार इत्यादि। यदि दातारः सन्ति तदा कल्पशाखिभिः कल्पवृक्षपंचकैरलं निष्फलम्। दानस्य दातृभिरेव निष्पादनात्। यद्यर्थिनो याचकाः सन्ति तर्हि तृणैः किम्। याचकानामेव तृणकार्यकरत्वात्। एवमन्यत्रापि। चेद्यदि सन्तः सज्जनास्तदा अमृतेन किम्। खला दुर्जना यदि तदा कालकूटेन विषेण किम्। दृशोर्नेत्रयोः। पन्थानं मार्गं यदि प्रिया एति आयाति तदा कर्पूरशलाकया किं कर्पूरघटितकाष्ठिकया किम्। कर्पूराञ्जन्या वा किम्। संसारेऽपि सति विद्यमाने तस्मादपरमिन्द्रजालमस्ति तेनापि किम्। सकलेन्द्रजालात्संसारस्य महत्त्वात्। 'चन्द्रादिकाष्ठयञ्जनयोः शलाका' इति मेदिनीकारः। अत्र दातृप्रभृतेरुत्कर्ष उपमाने च निषेध ऋजूक्त्यैव॥

सैव निषेधे वक्रा यथा—

'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत्स्मितं का सुधा
तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्ताश्चेद्गिरो धिङ्मधु।
धिक् कंदर्पधनुर्भ्रुवौ च यदि ते किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः॥ ७२॥'

अत्रोपमानापकर्षो वक्रोक्त्या च निषेधः। शेषं पूर्ववत्। ते इमे द्वे अपि मालोपमाच्छायया प्रपञ्चोक्तिपूर्वे, पुनः उपमाच्छाययेति मन्तव्यम्॥

उसी का निषेधावस्था में वक्रा का उदाहरण—

यदि उस सुन्दरी का मुख विद्यमान है तब तो चन्द्रमा की वार्ता ही समाप्त है। यदि उसके मुख की स्मिति है तो फिर अमृत क्या है? यदि उसके नयन हैं तो नीलोत्पल उनसे हार गये। यदि उसकी वह वाणी है तो मधु को धिक्कार है। यदि उसकी वे दोनों भौंहें हैं तो फिर कामदेव की धनुष को धिक्कार है। अथवा अब और अधिक क्या कहें, जब कि सच बात तो यह है कि वार बार एक सी ही वस्तु का निर्माण करने से विधाता का रचना विधान ही नीरस है॥ ७२॥

यहाँ उपमान का अपकर्ष है और वक्रोक्ति के द्वारा निषेध भी स्पष्ट हैं। बाकी बातें पहले जैसी श्लोक ७१ जैसी) हैं। ये दोनों ही मालोपमा की छाया से युक्त प्रपञ्चोक्ति को पहले प्रकट करती हैं, उसके बाद उपमा की छाया से संयुक्त होती हैं। ऐसा समझना चाहिये।

स्व० भा०—'शेष' का अर्थ प्रपञ्चोक्ति छाया आदि का वाचक है और 'पूर्ववत्' ऋजु प्रतिवस्तूक्ति की। बाकी वृत्ति स्पष्ट है।

तद्वक्त्रमित्यादि। तस्यास्तत्प्रसिद्धं मुखं यद्यस्ति तदा शशिकथा मुद्रिता लुप्ता। तन्मुखस्यैव चन्द्रत्वात्। एवमन्यत्रापि। सर्वत्र तच्छब्दः प्रसिद्धौ। चेद्यदि तत्स्मितमीषद्धासस्तदा का सुधा किममृतम्। यदि तन्नेत्रं तदा हारितं नीलनलिनैः। यदि ता गिरो वाण्यस्तदा धिङ्मधु। यदि ते भ्रुवौ च तदा कंदर्पधनुर्धिक्। यद्वा किं बहुब्रूमहे वदामो यत्सत्यं निश्चितं वेधसो धातुः सृष्टिक्रमः पुनरुक्तवस्तुषु द्विरुक्तपदार्थेषु विमुख एव। तथा च तद्वक्त्रादौ सति तच्चन्द्रादिसर्गो न स्यादिति भावः। 'ऊर्ध्वे दृग्भ्यां भ्रुवौ स्त्रियाम्' इत्यमरः। अत्र कथामुद्रणादिना चन्द्रादेरेव निषेध इति वक्रोक्तिः। शेषं प्रपञ्चोक्तिच्छायत्वादिकं पूर्ववत् ऋजुप्रतिवस्तूक्तिवत्। अनयोः प्रपञ्चोक्तिच्छाया कथमित्यत आह—मालेति। यथा मालोपमायां विस्तरेणोपमितिस्तथात्र प्रपञ्चोक्तिरपि विस्तरेणेत्यर्थः॥ उपमेति यथोत्पाद्योपमायामुपमानार्थमुत्पाद्योपमेयेन प्रतीयमानमभिधीयमानं च सादृश्यमुक्तं

तथा पूर्वयोरपीति प्रपञ्चोक्तिच्छायत्वमित्यर्थः ॥ इति सामान्यालंकारनिरूपणम् ॥

संशयोक्त्यलंकारनिरूपणम् ।

संशयलक्षणमाह—

अर्थयोरतिसादृश्याद्यत्र दोलायते मनः ।
तमेकानेकविषयं कवयः संशयं विदुः ॥ ४१ ॥
तत्रैकविषयोऽनेको यस्मिन्नेकत्र शङ्क्यते ।
यस्मिन्नेकमनेकत्र सोऽनेकविषयः स्मृतः ॥ ४२ ॥

(४) संशयोक्ति अलंकार का निरूपण

जहाँ अर्थों में अत्यधिक सादृश्य के कारण मन इधर-उधर हुआ करता है, अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता, उस एकविषयक तथा अनेक विषयक अलंकार को कवियों ने संशय के नाम से जाना है। इन दोनों में से एक विषय संशय वहाँ होता है जहाँ अनेक बातों की संभावना एक ही स्थान पर शङ्कित की जाती है। जिसमें एक ही विषय अनेक स्थानों पर सम्भावित होता है, वह अनेक विषय संशय के नाम से याद किया जाता है ॥ ४१–४२ ॥

स्व० भा०—यह तो स्पष्ट ही है कि भ्रान्तिमान तथा संशय या सन्देह में अन्तर होता है। प्रथम में एक मिथ्या वस्तु को, जो पदार्थ नहीं है, उसको वही निश्चित रूप से समझ लिया जाता है और इसमें ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता। वह विषय "यह है या वह है" इसी वितर्क में पड़ा रह जाता है।

अर्थयोरिति। अर्थयोर्वाच्ययोरतिसाम्याद्यत्र मनो दोलायते नैकत्र स्थिरं भवति इदं चेदं वेति कृत्वा तं संशयमाहुः। स चैकविषयोऽनेकविषयश्च। यत्रैकस्मिन्धर्मिण्यनेकः शङ्क्यते स एकविषयः। यस्मिन्नानाधर्मिण्येकः शङ्क्यते सोऽनेकविषयः॥

तयोराद्योऽभिधीयमानसादृश्यो यथा—

'आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयनं यदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमखिलं यद्विश्वमाभाति ते
तद्ब्रूयाः सखि योगिनी किमसि भोः किं वा वियोगिन्यसि ७३'

अत्रैकस्मिन्वस्तुनि वस्तुद्वयस्याभिधीयमानसामान्यप्रत्यक्षं तद्विशेषप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मरणाच्च यो विमर्शः सोऽयमेकविषयः संशयः॥

इन दोनों में से प्रथम अर्थात् अभिधीयमान सादृश्य का उदाहरण—

भोजन के प्रति वैराग्य हो गया है, सभी विषय-समूहों के प्रति चरम अनासक्ति का भाव है, नेत्र नासिका के अग्रभाग पर हैं, जो यह दूसरी बात भी है कि मन पूर्णतः एकाग्र है, तुम्हारा जो यह मौन धारण है तथा जो यह समस्त विश्व तुमको सूना-सूना प्रतीत हो रहा है, इसलिये हे सखि, बताओ तो कि तुम कोई योगिनी साधिका हो अथवा कोई विरहिणी हो ॥७३॥

यहाँ एक ही वस्तु में दो वस्तुओं का अभिधा व्यापार से स्पष्ट ही व्यक्त हो रहा है सामान्य धर्म। उस प्रत्यक्ष सामान्य की विशेषता का प्रत्यक्ष होने से तथा दोनों ही पदार्थों की विशिष्टता का स्मरण होने से जो ज्ञान होता है वह एक विषयवाला संशय है।

स्व० भा०—यहाँ जो लक्षण 'भोजन में वैराग्य' आदि प्रदर्शित किये गये हैं वे एक योग की साधिका तथा पतिवियुक्त या प्रियवियुक्त प्रेयसी में भी घटित हो जाते हैं। 'सखी' एक विषय है। उसमें योगिनी तथा वियोगिनी दोनों के लक्षण समान रूप से दृष्टिगोचर हो रहे हैं। उन दोनों के लक्षण ऐसे हैं जो किसी एक विशेष की ही विशेषता नहीं बतलाते। दोनों में एक ही लक्षण घटित होने से एकाएक देखने वाले को यह स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता कि वह नायिका योगिनी है अथवा वियोगिनी है।

आहार इत्यादि। हे सखि, तद्ब्रूयास्त्वं वद। किं योगिन्यसि योगवत्यसि किं वा वियोगिन्यसि वियोगवत्यसि। उभयसाधर्म्यमाह—आहारे भक्ष्ये विरतिर्विरागः समस्ते विषयग्रामे स्रगादौ परास्त्यर्थं निवृत्तिः। नासाया अग्रे नयनं नासिकाग्रनिरीक्षणमित्यर्थः। एतद्यदपरं यच्च मन एकतानमचञ्चलं ध्येये पत्यौ च। इदं च मौनमवचनम्। इदमखिलं विश्वं यच्छून्यमाभाति। सर्वत्र तवेति योज्यम्। 'आहारलाघवं मौनं नासाग्रस्य च वीक्षणम्। मनःस्थैर्यं वशित्वं च योगिनां विश्वशून्यता ॥' इति योगशास्त्रम्। 'भक्ष्ये विरागो नयनाग्रवीक्षा मौनं मनोनिश्चलता वशित्वम्। विश्वस्य शून्यत्वविभावनं च वियोगिकृत्यं मुनयो वदन्ति ॥' इति भरतः। अत्रैकस्मिन्वस्तुनि सखीविषये वस्तुद्वयस्य योगवियोगरूपस्याभिधीयमानं यत्साम्यं तस्य प्रत्यक्षाद्दर्शनात्। समानधर्मदर्शनादिति यावत्। विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषादर्शनादुभयविशेषयोगवियोगयोः स्मरणाद्विमर्शः संशयः। इह साधारणधर्मदर्शनं विशेषादर्शनमारोप्य कोटिद्वयस्मरणकारणमिति संशयकारणमुक्तम्॥

स एव प्रतीयमानसादृश्यो यथा—

> 'किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किं ते लोलेक्षणं मुखम्।
> मम दोलायते चित्तं पश्यतस्त्वां घनस्तनि ॥ ७४ ॥'

अत्र मुखलक्षणे लोचनलक्षणे चैकस्मिन्नेव पद्मलक्षणं भ्रमरलक्षणं चापरमपि वस्तु प्रतीयमानसादृश्यमाशङ्क्यते सोऽयमप्येकविषय एव संशयः ॥

उसी का प्रतीयमान सादृश्य का उदाहरण—

अरी पृथुल उरोजों वाली सखि, तुम्हें देखने से तो मेरा मन संशय में पड़ गया है कि यह तुम्हारा चञ्चल नयनों वाला मुख है अथवा भीतर मँडराते हुये भ्रमर से युक्त कमल है ॥ ७४ ॥

यहाँ मुख के लक्षण में तथा लोचन के लक्षण में एक ही स्थान पर पद्म के लक्षण तथा भ्रमर के लक्षण का जो कि प्रतीत हो रहे सादृश्य वाली दूसरी ही वस्तु है, संशय हो जाता है। अतः यह एकविषय ही संशय का उदाहरण है।

स्व० भा०—कमल तथा भ्रमर एक ही मुख तथा लोचन के क्रमशः सदृश हैं। अतः भ्रमर यद्यपि विषय दो-दो लग रहे हैं तथापि उनका एक ही उपमान होने से एक विषयत्व है।

दण्डी ने इस श्लोक में संशयोपमा स्वीकार किया है।—उनके अनुसार—

> किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किं ते लोलेक्षणं मुखम्।
> मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा ॥ काव्यादर्श २।२६॥

किमित्यादि। हे घनस्तनि कठिनकुचे, त्वां पश्यतो मम चित्तं दोलायते संशयारूढं भवति। तदेवाह—अन्तर्मध्ये भ्रान्तः कृतभ्रमणोऽलिर्भ्रमरो यत्र तत्किं पद्मम्। लोलमीक्षणं चक्षुर्यत्र तादृशं तव मुखं किमिति दोलायते दोलेवाचरति। क्यङ् क्यष् वा। दोलाचित्तयोरुभयकोटियोगित्वेन साम्यम्। अत्र सादृश्यं प्रतीयमानं प्रत्यक्षेण। सुगममितरत्॥

अनेकवस्तुविषयो द्विधा शुद्धो मिश्रश्च। तयोः प्रतीयमानसादृश्यः शुद्धो यथा—

'वाली भंभुरभोली (भम्भलभेली) उल्लसिअणिअंसिणी
गहणं सुणिअ विनिक्कन्ता णिद्दाए भे(भ)म्भली।
राहुवि तीअ मुहु जोहई पुण जोहई
गअगु भुल्लल्लेओ ण हु अ.णई दोण्हवि चन्दु(न्द)कं वणु(णे) ॥७५॥'

[बाला मूर्खचेटयुल्लसितनिवसना
ग्रहणं श्रुत्वा विनिष्क्रान्ता निद्रया जडा।
राहुरपि तस्या मुखं पश्यति पुनः पश्यति
गगने भ्रान्तिमान् न खलु जानाति द्वयोश्चन्द्रः कः ॥]

अत्र द्वयोः प्रतीयमानसादृश्ययोर्बालिकामुखचन्द्रयोरेकश्चन्द्र एव विशङ्क्यत इति सोऽयमनेकविषयः शुद्धः संशयः॥

अनेक वस्तु विषय संशय दो प्रकार का हैं—(१) शुद्ध, (२) मिश्र। इन दोनों में से प्रतीयमान सादृश्य वाले शुद्ध का उदाहरण—

निद्रा से विह्वल, मूर्ख चेटी के द्वारा हटा दिये गये वस्त्रों वाली अथवा नितम्बों पर खिसक आये हुये वस्त्रों वाली मुग्धा नायिका चन्द्रग्रहण का समाचार सुनकर घर से बाहर (कौतूहलवश) निकली। आकाश में घूमता हुआ राहु भी उसके मुख को देखता है और फिर देखता है, (बार-बार देखता है) लेकिन निश्चित रूप से जान नहीं पाता कि कान्ता के मुख तथा चन्द्रमा इन दोनों में से वास्तविक चन्द्रमा कौन है॥ ७५॥

यहाँ प्रतीत हो रही समानता वाले मुग्धा के मुख तथा चन्द्रमा इन दोनाँ में से अकेले चन्द्रमा के ही विषय में शङ्का की जा रही है। अतः यह अनेक विषय शुद्ध संशय हैं।

स्व०भा०—यहाँ शुद्धता इसीलिये है क्योंकि किसी अन्य विषय का समावेश नहीं किया गया है अपितु केवल एक ही विषय चन्द्रमा है, जिसकी दूसरे के रूप में शङ्का की गई है।

वालीत्यादि। 'बाली(ला) भुम्भुरभोली(?) स्खलितनिवसना ग्रहणकं श्रुत्वा विनिष्क्रान्ता निद्रया भेम्भली(जडा)। राहुरपि तस्या मुखं विलोकते पुनर्विलोकते गगने भ्रान्तो न खलु जानाति द्वयोश्चन्द्रः कः॥' इह बालिका भुम्भुरभोली अज्ञा। उल्लसितं स्खलितं नितम्बोपरि निवसनं यस्याः सा। उपरीति योग्यतया वक्तव्यम्। निद्रया भेम्भली विह्वला ग्रहणं चन्द्रोपरागं श्रुत्वा विनिष्क्रान्ता। अर्थात् गृहात्। राहुरपि तस्या मुखं विलोकते पुनर्विलोकते। गगने भ्रान्तः संशयानः सन् नैव जानाति कान्तामुखचन्द्रयोर्द्वयोर्मध्ये कश्चन्द्र इति। खलु एवार्थे। अत्र संशयशुद्धतान्यामिश्रणेन॥

अभिधीयमानसादृश्यो मिश्रो यथा—

'द्वावप्येतावभिनवजपापुष्पभासां निवासौ
तिष्ठत्यन्ते द्वयमपि वियन्मण्डलस्योपसंध्यम्।
अस्तं को यात्युदयति च कः को रविः कः शशाङ्कः
का च प्राची तदिह न वयं का प्रतीचीति विद्मः॥७६॥'

अत्र द्वयोरभिधीयमानसादृश्ययोः सूर्याचन्द्रमसोः प्राचीप्रतीच्योर्वा तदन्यत-

ममेकमेव वस्तु पर्यायतो विशङ्क्यत इत्यनेकविषयोऽयं मिश्रः संशयः। उपलक्षणं चैतत्। तेन वितर्कोक्त्यादयोऽपि संशयोक्तावेव द्रष्टव्याः॥

अभिधीयमान सादृश्यवाले मिश्रभेद का उदाहरण—

(सूर्य और चन्द्र) ये दोनों ही नवीन जपाकुसुम की दीप्ति के आधार हैं, इस समय जब कि सायंकाल निकट है दोनों ही आकाशमण्डल की छोर पर विद्यमान हैं, अतः कौन अस्त हो रहा है कौन उदित हो रहा है, कौन सूर्य है? कौन चन्द्रमा है? कौन सी पूर्व दिशा है और कौन सी पश्चिम यह हमें मालूम ही नहीं पड़ रहा है॥ ७६॥

यहाँ पर कथित हो रहे सादृश्यवाले सूर्य तथा चन्द्रमा इन दोनों में अथवा प्राची और प्रतीची इन दोनों में अन्यतम एक ही वस्तु की शङ्का पर्यायतः की जाती है। इस प्रकार अनेक विषय होने से यह मिश्र संशय है। यह तो मात्र निदर्शन है। अतः वितर्कोक्ति आदि को भी संशयोक्ति के ही अन्तर्गत देखना चाहिये।

स्व० भा०—सूर्य तथा चन्द्र इन दोनों में रक्तता, गगनान्तगमन आदि धर्म सामान्यरूप से विद्यमान हैं। अनेक विषयता होने से यहाँ मिश्रता है। अनेक विषय रवि तथा चन्द्रमा में से तथा प्राची और प्रतीची में से एक का भी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो रहा है। भोज के मत से वितर्कोक्ति आदि अलंकारों का अन्तर्भाव संशयोक्ति में ही हो जाता है।

द्वावित्यादि। द्वावप्येतौ रविशशाङ्कौ नवीनजपाकुसुमदीप्तीनामाश्रयौ स्तः। उपसंध्यं सन्ध्यासमीपे द्वयमपि रविचन्द्ररूपं वियन्मण्डलस्याकाशमण्डलस्यान्तेऽवसाने तिष्ठति। तदिह कोऽस्तं याति, को वोदयति। कः सूर्यः, कश्चन्द्रः, का प्राची पूर्वा दिक्, का प्रतीची पश्चिमा दिगिति न वयं विद्मः। अत्र रक्तरूपतया गगनान्तगमनेन चाभिधीयमानं सादृश्यम्। अनेकविषयतयैव मिश्रता। तर्हि वितर्कोक्तिः पृथक् कथं नोक्तेत्यत आह— उपलक्षणमिति। संशयोक्तावेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ता सेत्यर्थः॥

तद् यथा—

'सराजपत्रे परिलीनषट्पदे विशालदृष्टेः स्विदमू विलोचने।
शिरोरुहाः स्विन्नतपक्ष्मसंततेर्द्विरेफवृन्दं नु निशब्दनिश्चलम्॥७७॥'
'अगूढहासस्फुटदन्तकेशरं मुखं स्विदेतद्विकचं नु पङ्कजम्।
इति प्रलीनां नलिनीवने सखीं विदाम्बभूवुः सुचिरेण योषितः॥७८॥'
(युग्मम्)

वह इस प्रकार से—

भीतर बैठे हुये भ्रमरों से युक्त ये कमलदल हैं अथवा दीर्घनयना के ये दोनों नेत्र हैं। लम्बी भौंहों वाली के ये केश हैं अथवा चुपचाप और निश्चिन्त बैठे हुये भ्रमरों का समूह है। स्पष्ट हँसी से व्यक्त दन्त रूपी केशर से संयुक्त यह मुख है अथवा खिला हुआ कमल है। इस प्रकार कमलिनी समूह में प्रविष्ट सखी को वे स्त्रियाँ बहुत देर के बाद जान सकीं॥ ७७-७८॥

स्व० भा०—यद्यपि किरातार्जुनीयम् के इस युग्मक में 'स्वित्' 'नु' आदि प्रयोगों से वितर्क का भाव जाग्रत होता है, किन्तु उसका स्थान संशय से बाहर नहीं है। अन्त में स्त्रियों को निश्चयात्मक ज्ञान यद्यपि हो जाता है कि वही उनकी सखी है तथापि उसके पूर्व चमत्कारपूर्ण संशय का भाव होने से, ऐसी स्थितियों में भी संशय ही मान्य है।

सरोजेत्यादि । निलीनाः संबद्धाः षट्पदा भ्रमरा ययोस्ते पद्मपत्त्रे नु । इमे विशालदृष्टेर्नायिकाया अमू नेत्रे । स्वित् । वितर्के । शिरोरुहाः केशाः स्वित् । नता पदमसंततिर्यस्य तत् । निशब्दं शब्दशून्यं निश्चलं स्थिरं च भ्रमरवृन्दं नु ॥ अगूढेत्यादि । एतन्मुखं स्वित् । कीदृशम् । अगूढेन प्रकाशेन हासेन स्फुटो व्यक्तो दन्त एव केसरो यत्र तत् । एतद्विकचं प्रफुल्लं पङ्कजं नु । इत्यनेन प्रकारेण नलिनीवने पद्मिनीमध्ये प्रलीनामवस्थितां सखीं योषितः स्त्रियो बहुकालेन विदाम्बभूवुर्ज्ञातवत्यः । विदाम्बभूवुरित्यत्र 'उपविद ३।१।३८' इति लिट्याम् ॥

यथा च—

'मुहे मअखलिउल्लावे ण्हाणोल्लए चिउरे
वेणी अंसणसारे समोत्तिअहारे उरे ।
कालान्तरे तरलाच्छिहुमअण समुल्लसइ
माहउ पुण त्थणगुडरे ण मुणइ कहिं वसइ ॥ ७९ ॥'

[मुखे मदस्खलितोल्लापे स्नानोत्प्लुते चिकुरे
वेणीनिवसनसारे समौक्तिकहारे उरसि ।
कालान्तरे तरलाचणोर्मदनः समुल्लसति
माघे पुनः स्तनगृहे न ज्ञायते कुत्र वसति ॥]

कः पुनर्वितर्कसंशययोर्विशेषः । उच्यते । निर्णयासन्नो वितर्कः, वितर्कासन्नश्च संशयः । संशयानो हि वितर्कस्य कोटिमारुह्य ततो विभ्रष्टस्तत्त्वमभिनिविशते । यथा पूर्ववाक्ये विदाम्बभूवुरिति । संशयमेव वा विगाहते यथा— 'माहउ पुण त्थणगुडरे ण मुणइ कहिं वसइ ।' इति । शब्दाश्च किंस्विदादयस्तुल्यरूपा एव संशयविपर्यययोरिति दुरवबोधस्तद्विशेषः । नन्वेवं वितर्कादयोऽप्युभयालंकाराः स्युः । सत्यम् । किंतूक्तिपक्षे परार्थानुमानवत्, स्वरूपपक्षे स्वार्थानुमानवदिति । अयमेव चोक्तिशब्दस्यार्थः, तेन स्वरूपमात्रोक्तौ संशयवितर्कादयोऽप्यर्थालंकाराः । उक्तिप्राधान्ये तूभयालंकाराः ॥

और जैसे—

माघ मास से अतिरिक्त समयों में तो मदिरा के कारण लड़खड़ा रहे वार्तालाप वाले मुख में, स्नान से भींगे हुये केशपाशों में, जूड़े की उपस्थिति ही जिसका सार है अथवा कंचुकवस्त्र को सार रूप में ग्रहण करने वाले, मोती की माला से संयुक्त वक्षःस्थल पर तथा चंचल नयनों में कामदेव दीप्त होता रहता है, किन्तु माघ महीने में स्तनरूपी गृह में वह कहाँ रहता है, पता नहीं चलता ॥ ७९ ॥

फिर वितर्क तथा संशय में अन्तर ही क्या है ? कहा जा रहा है—वितर्क ऐसा होता है जिसमें निर्णय निकट होता है, तथा संशय ऐसा होता है जिसमें वितर्क-ऊह-प्रत्यूह निकट होता है । संशय में पड़ा हुआ व्यक्ति पहले वितर्क की कोटि पर आरूढ़ होकर तब उससे विशिष्ट रूप से भ्रष्ट होकर तत्त्व की उपलब्धि करता है । जैसे कि पूर्ववाक्य में 'विदाम्बभूवुः' इस पद से ज्ञात हुआ है । अथवा संदेह में ही डूबा रह जाता है जैसे—माहउ पुण त्थणगुडरे ण मुणइ कहिं वसइ"—(माघ में स्तनरूपी गृह में, पता नहीं, कहाँ निवास करता है) इसी प्रकार 'किं' 'स्वित्'

आदि शब्द भी समानरूप वाले ही हैं संशय तथा विपर्यय में, इसलिये इन दोनों में भी अन्तर जानना बहुत कठिन है। "तो इसी प्रकार वितर्क आदि भी उभयालंकार ही हों" (ऐसा क्यों न माना जाये ?) बात तो सही है, किन्तु उक्ति पक्ष में तो वह परार्थानुमान के सदृश है तथा स्वरूप के पक्ष में स्वार्थानुमानवत है। यही तो उक्ति शब्द का अर्थ है। इसलिये केवल स्वरूप की उक्ति होने पर संशय, वितर्क आदि भी अर्थालंकार ही हैं। उक्ति की प्रधानता होने पर तो उभयालंकार ही होते हैं।

स्व० भा०—भोज ऊपर उदाहृत दोनों स्थितियों में ही संशय मानते हैं, चाहे निश्चयात्मक गुणविवेचन से संशय में पर्यवसान हो—जैसा उदाहरण संख्या ७७-७८ में है, और चाहे विभिन्न निर्णयों के बाद वितर्क पर पहुँचा जाये—जैसा श्लोक ७९ में है। इसके अतिरिक्त वितर्क तथा संशयोक्ति दोनों में अन्तर यह है कि एक अर्थालंकार है और दूसरा उभयालंकार। अतः प्रथम में मात्र प्रतिपाद्यविषय की प्रधानता होती है, उक्ति-प्राधान्य नहीं, किन्तु उभयालंकार में तो अर्थ की अपेक्षा उक्ति की भी प्रधानता होती है। अतः संशय तथा वितर्क या विपर्यय को एक नहीं माना जा सकता। संशय में जिस प्रकार दूसरे को अनुमान कराते समय प्रतिज्ञा, हेतु, आदि की अपेक्षा होती है और पंचाङ्गन्याय द्वारा बड़े विस्तार से निरूपण किया जाता है, वही बात इधर उक्ति पक्ष के विषय में है। जहाँ तक विषयवस्तु के रूप का प्रश्न है, वह अधिकतर स्पष्ट ही रहता है और उसमें निश्चयात्मकता भी होती है। जिस प्रकार स्वार्थानुमान में केवल तीन अंगों वाले न्याय का ग्रहण करना पड़ता है, थोड़े से वितर्क के बाद विषय का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है. उसी प्रकार यहाँ भी थोड़े ही प्रयास से विषय ज्ञान हो ही जाता है।

न्यायदर्शन में अनुमान दो प्रकार का निरूपित किया गया है—स्वार्थ तथा परार्थ। अन्नम्भट्ट के शब्दों में—"अनुमानं द्विविधम् स्वार्थं परार्थं च। स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथा हि—स्वयमेव भूयो दर्शनेन 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतः। तद्गते चाग्नौ संदिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति—"यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्श इत्युच्यते। तस्मात् 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमुत्पद्यते तदेतत् स्वार्थानुमानम्।

यत्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पंचावयववाक्य प्रयुज्यते, तत्परार्थानुमानम्। यथा—पर्वतो वह्निमान् १। धूमवत्त्वात् २। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसम् ३। तथा चायम् ४। तस्मात्तथा ५ इति। अनेन प्रतिपादिताद् लिङ्गात्परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते।
(तर्कसंग्रहः।)

इस प्रकार भोज के मत में अर्थालंकारों के साथ 'उक्ति' आदि पद संयुक्त करने का यही प्रयोजन है कि कोई उनको अर्थालंकार न समझ ले।

मुहे इत्यादि। 'मुखे मदस्खलितोल्लापे स्नानार्द्रे चिकुरे वेणीनिवसनसारे समुक्ताहारे उरसि। कालान्तरे तरलाक्षिण मदनः समुल्लसति माघे पुनः स्तनगृहे न ज्ञायते कुत्र वसति॥' इह कालान्तरे माघातिरिक्तकाले मदस्खलितोल्लापे मुखे स्नानार्द्रे केशे वेणीनिवसनेन कञ्चुकवस्त्रेण सारे मुक्ताहारसहिते वक्षसि तरलनेत्रे च मदनः कामः समुल्लसति दीप्यते। माघे पुनः स्तन एव गृहं तत्र न ज्ञायते कुत्र वसतीति। उभयत्र विरुद्धकोटिद्वयविषयतयैकामाशङ्क्य पृच्छति—क इति। निर्णयासन्नो निर्णयाव्यवहितपूर्वः, वितर्कानन्तरं निर्णयात्। वितर्कासन्नो वितर्काव्यवहितपूर्वः। संशयानन्तरं वितर्कात्। एतदेवाह—संशयेति। संशयानो वितर्ककोट्यवलम्बी वितर्कानन्तरमुक्तमेव जानाति।

अत एव विदाम्बभूवुरिति संशय उक्तः। तथा माहह्नु इत्यादावपि शब्दकारितोऽनयोर्भेद इत्याह—शब्दाश्चेति। तर्ह्युभयालंकारता वितर्कादीनामित्याशङ्क्य समाधत्ते—उक्तीति। यथा परार्थानुमाने शब्दप्रयोगकारितो विशेषस्तथा शब्दपक्षे स्वरूपमर्थस्तत्पक्षे स्वार्थानुमानवत्प्रवृत्तिः। साम्योक्तादावुक्तिशब्दस्यायमेवार्थो यदुक्तिनिबन्धनं नाम। तथा च स्वरूपमात्रस्योक्तौ निर्वचनेऽर्थालंकारता संशयतर्कादेरुक्तिप्राधान्ये पुनरुभयालंकारतेति॥

इति संशयोक्त्यलंकारनिरूपणम्॥

(५) अपह्नुत्यलंकारनिरूपणम्।

अपह्नुतिलक्षणमाह—

अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्।
औपम्यवत्यनौपम्या चेति सा द्विविधोच्यते॥ ४१॥
वाच्ये प्रतीयमाने च सादृश्ये प्रथमा तयोः।
तथाभूते द्वितीया स्यादपह्नोतव्यवस्तुनि॥ ४२॥
अनौपम्यवती भूयः पूर्वापूर्वा च कथ्यते।
तासामुदाहृतिष्वेव रूपमाविर्भविष्यति॥ ४३॥

(५) अपह्नुति अलंकार

किसी (प्रसिद्ध धर्मी अथा धर्म) को छिपा कर उसका अपलाप करके किसी अन्य पदार्थ का देखना उपस्थित करना–अपह्नुति अलंकार है। वह औपम्यपवती तथा अनौपम्या दो प्रकार की कही जाती है। उन दोनों में से प्रथम अर्थात औपम्यवती तब होती है जब सादृश्य वाच्य हो अथवा प्रतीयमान हो। अपह्नव के विषय के वैसा न होने पर दूसरे प्रकार वाली होती है। फिर से अनौपम्यवती पूर्वा तथा अपूर्वा कही जाती है। उनका रूप उदाहरणों में ही प्रकट होगा। (४१-४३)

स्व० भा०—अपह्नुति तथा आक्षेप में अन्तर है। आक्षेप में केवल प्रतिषेध ही अभीष्ट होता है, जब कि इसमें प्रतिषेध के बाद किसी दूसरे अर्थ की स्थापना भी होती है।

अपह्नुतिरिति। किंचित्प्रसिद्धं धर्मिणं धर्मं वापह्नुत्यापलप्यान्यस्यार्थस्य प्रसिद्धस्य धर्मादेर्दर्शनं प्रकटनमपह्नुतिः। न चास्या आक्षेपादभेद इति वाच्यम्। तत्र हि प्रतिषेधमात्रमर्थोऽत्र तु प्रतिषेधपूर्वकमन्यार्थकथनमिति भेदः। औपम्यमुपमातद्वतीति वाच्येऽभिधीयमाने। अपह्नोतव्यवस्तुन्यपह्नुतिविषयपदार्थे॥

तत्राभिधीयमानौपम्यवती यथा—

'गिम्हे दवग्गिमसिमइलिआइं दीसन्ति विज्झसिहराइं।
आससु पउत्थवइए ण होन्ति णवपाउसब्भाइं॥ ८०॥'

[ग्रीष्मे दावाग्निमसीमलिनानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि।
आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि॥]

अत्र नवप्रावृडभ्राणां विन्ध्यशिखरैरभिधीयमानसादृश्यैरपह्नुतत्वादभिधीयमानौपम्यवत्यपह्नुतिः॥

इनमें से अभिधीयमाना औपम्यवती का उदाहरण—

ग्रीष्म काल मे दावानल से दग्ध होने के कारण मसी के सदृश काले-काले दिखलाई पड़ रहे ये विन्ध्याचल के शिखर है, ये नवागत पावस के मेघ नहीं छा रहे हैं। अतः हे विरहिनि, तुम आश्वस्त हो जाओ ॥ ८० ॥ (गा० स० १।७०)

यहाँ नववर्षा के मेघों का अभिहित हो रहे सादृश्य वाले विन्ध्य के शिखरों के द्वारा अपलाप करने से यह अभिधीयमाना औपम्यवती अपह्नुति है।

स्व० भा०—मसीमलिनतारूप साधारणधर्म शब्दतः अभिहित है जो विन्ध्यशिखर तथा 'नवप्रावृडभ्र' दोनों में सामान रूप से व्याप्त है। इसी कारण यहाँ अभिहितत्व है। दूसरी बात यह है कि इसमें नवमेघों का प्रतिषेध करके विन्ध्यशिखररूप अन्य वस्तु को उपस्थित किया गया है।

गिम्हे इत्यादि। 'ग्रीष्मे दावाग्निमसीमलिनितानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि। आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि॥' इह विरहिणी दावाग्निना दिग्धे विन्ध्ये मेघभ्रान्त्या आर्ता सख्या समाश्वास्यते—ग्रीष्म इति। हे विरहिणि, विन्ध्यशिखराणि ग्रीष्मे वनाग्निना श्यामितानि दृश्यन्ते। ननु नूतनवर्षाकालीन(लिङ्ग)मेवा अमी भवन्तीति समाश्वासं कुरु। अत्र श्यामिकया विन्ध्यशिखरनवमेघयोः साम्यमभिहितमत औपम्यवतीयम् ॥

प्रतीयमानौपम्यवती यथा—

'न केतकीनां विलसन्ति सूचयः प्रवासिनो हन्त हसत्ययं विधिः।
तडिल्लतेयं न चकास्ति चञ्चला पुरः स्मरज्योतिरिदं विजृम्भते ॥८१॥'

अत्र केतकीसूचीनां विधिविहसितैः प्रतीयमानसादृश्यैस्तडिल्लतायाश्च स्मरज्योतिषापह्नुतत्वादियं प्रतीयमानौपम्यवत्यपह्नुतिः ॥

प्रतीयमान औपम्यवती का उदाहरण—

ये केतकी की सूचियाँ नहीं विकसित हो रही हैं। बड़े खेद की बात है कि यह विधाता विरहियों को हँस रहा है। यह चञ्चल चपला नहीं चमक रही है, यह तो काम की दीप्ति है जो प्रकाशित हो रही है ॥ ८१ ॥

यहाँ केतकी-सूचियों का समान प्रतीत हो रहे विधि के हासों के द्वारा तथा तडिल्लता का स्मरज्योति के द्वारा प्रतिषेध होने से यह प्रतीयमान औपम्यवती अपह्नुति है।

स्व० भा०—किसी का प्रतिषेध करते समय यह कहना कि "यह यह नहीं वह है" तभी संभव है जब दोनों में सादृश्य का भाव हो। ऐसी दशा में शब्दतः सादृश्य का कथन न होने पर भी उन दोनों में विद्यमान साम्यभाव स्वतः प्रतीत हो जाता है। यहाँ भी एक का प्रतिषेध तथा दूसरे की स्थापना ही है, दोनों में पूर्व श्लोक सा सामान्यव्यंजक पद नहीं, किन्तु उसकी प्रतीति तो हो जाती कि केतकी पुष्पों की सूची और विधि के उपहास दोनों में प्रवासियों के प्रति तिरस्कार का भाव अथवा दीपन का भाव सामान्य रूप से विद्यमान है। ऐसे ही 'तडिल्लता' और 'स्मरज्योति' में भी साम्य है।

नेत्यादि। केतकीनां सूचयोऽग्राणि न विलसन्ति। शोभन्ते। हन्त विषादे। अयं विधिः स्रष्टा प्रवासिनः पान्थान् हसत्युपहसति। केतकीसूचीरूपेण। इयं चञ्चला तडिल्लता न शोभते। पुरोऽग्रे इयं स्मरदीप्तिर्विजृम्भते प्रकाशते। 'सूच्यग्रे सीमनद्धच्ये' इति

विभ्रमः। अत्र किंचित्प्रकाशेन केतकीसूचीविधिहसितयोः साम्यप्रतीतिरेवमितरत्र। औपम्यमप्युभयत्र व्यक्तमेव।

अनौपम्याभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तुः पूर्वा यथा—

'राजकन्यानुरक्तं मां रोमोद्भेदेन रक्षकाः?
अवगच्छेयुरां ज्ञातमहो शीतानिलं वनम्॥ ८२॥'

अत्र राजकन्यानुरागलक्षणस्य रोमाञ्चकारणस्य रक्षकावगतिहेतोः पूर्वमेवाभिहितस्य च वनानिलशैत्यलक्षणेन कारणान्तरेणापह्नवः। न चैतयोः सादृश्यमस्ति सेयमनौपम्याभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तुः। कार्यात्पूर्वं कारणोपन्यासेन पूर्वेत्युच्यते।

जब अनौपम्य का अभिधान हो उस समय प्रतिषेध्य वस्तु वाली पूर्वा अपह्नुति का उदाहरण—

रोमाञ्च के कारण रक्षकगण मुझे राजकुमारी में अनुरक्त समझ सकते हैं। अरे हाँ, वन में शीतल वायु बह रही है॥ ८२॥ (काव्याद० २।२६६)

यहाँ कन्या के अनुराग के सूचक रोमांच के कारण रक्षकों को ज्ञात हो जाने का जो पहले ही कहा गया है, वन की वायु की शीतलता रूप दूसरे कारण से प्रतिषेध हो रहा है। इन दोनों में सादृश्य भी नहीं है। यह अनौपम्य अभिहित हो रहा है जिसमें उस प्रकार का प्रतिषेध विषय वाला अपह्नुति का भेद है। कार्य से पूर्व ही कारण का उल्लेख होने से यह पूर्वा कही जाती है।

स्व० भा०—उक्त श्लोक में राजकन्या के प्रेम से होने वाले रोमाञ्चरूप कार्य को पहले तथा शीतलवनवातता रूप कारण का बाद में उल्लेख है। किन्तु भोज ने कार्य के पूर्व कारण है इस प्रकार की बात कही है। संभवतः इनका अभिप्राय 'प्रतिषेध वचन' रूपी कार्य तथा पूर्वलक्षण वाले को कारण बतलाना है। अर्थात् यदि रोमाञ्च से प्रेमज्ञान रूप कारण का ज्ञान नहीं होता तो दो प्रतिषेध वचन न कहा जाता। अथवा रोमोद्भेद कारण तथा 'ज्ञातम्' कार्य है। इस प्रकार से कारण-कार्य भाव में पूर्वोत्तरता सिद्ध हो जाती है। दण्डी ने इसमें लेशालंकार माना है। (द्रष्टव्य २२।६६)

राजेत्यादि। रोमोद्भेदेन रोमांचेन राजकन्यानुरक्तं भूपकन्यानुरागिणं मां रक्षकारतद्वेक्षका अवगच्छेयुर्ज्ञायेरन्। आं स्मरणे, ज्ञातम्। अहो वनं शीतलानिलम्। अतो रोमाञ्चः। 'आं ज्ञाननिश्चयस्मृत्योः' इति मेदिनीकारः। अत्र पूर्वाभिधानेन पूर्वावमुभयोरसादृश्यादनौपम्यता॥

सैवापूर्वा यथा—

आनन्दाश्रु प्रवृत्तं मे कथं दृष्ट्वैव कन्यकाम्।
अक्षि मे पुष्परजसा वातोद्धूतेन पूरितम्॥ ८३॥

अत्रानन्दाश्रुप्रवृत्तमिति पूर्वं कार्यस्य, पश्चात् दृष्ट्वैव कन्यकामिति कारणस्योपन्यासः। शेषं पूर्ववत्। सेयमभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तुरनौपम्यापह्नुतिरपूर्वेत्युच्यते।

उसी के अपूर्वा भेद का उदाहरण—

उस कन्या को देखते ही कैसे मेरे आनन्द के आँसू बहने लगे। हवा से उड़ाये गये पराग से मेरी आँख भर गई है॥ ८३॥ (काव्याद० २।२६७)

यहाँ 'आनन्दाश्रुप्रवृत्तम्' यह कह कर पहले कार्य का, तथा बाद में 'दृष्ट्वैव कन्यकाम्' इस कारण का उल्लेख किया है। शेष बातें पूर्व जैसी है। इस प्रकार यह अभिधीयमानापह्नोतव्यवस्तु अनौपम्यापह्नुति अपूर्वा कही जाती है।

स्व० भा०—यहाँ शेष बातें पूर्वा वाले भेद के सदृश हैं। केवल कारण का अभिधान कार्य से पहले न होने के कारण अपूर्वता है।

आनन्देत्यादि। कन्यकामेव दृष्ट्वा कथं ममानन्दाश्रु प्रवृत्तमस्ति। वातोद्धूतेन रजसा वायुचालितधूलया ममाक्षि पूरितम्। शेषमपह्नवादिकं पूर्ववत्पूर्वापह्नुतिवत्। अभिधान-अनौपम्यमपि पूर्ववदेव पूर्वं कारणानुपन्यासेनापूर्वत्वम्।

अनौपम्यैव प्रतीयमानापह्नोतव्यवस्तुः पूर्वा यथा—

उरपेल्लिअवइकारिल्लआइं उच्चेसि दइअवच्छलिए।
कण्टअविलिहिअपीणुण्णअत्थणि उत्तम्मसु एत्ताहे॥ ८४॥

[उरःप्रेरितवृत्तिकारवेल्लीफलान्युच्चिनोषि दयितवत्सले।
कण्टकविलिखितपीनोन्नतस्तनि उत्ताम्येदानीम्॥]

अत्र नैतस्याः स्तनयोरुपपतिना नखक्षतं कृतमपि तु कण्टकैरिति प्रतीयमानापह्नोतव्यं वस्तु प्रकाशते। पूर्ववदेव च पूर्वार्धे कारणस्योपन्यासः, पश्चिमार्धे तु कार्योपदेशो दृश्यते। सेयमनौपम्या प्रतीयमानापह्नोतव्यवस्तुः पूर्वा नाम—'अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्' इति लक्षणयोगाज्जायते।

प्रतीयमान है प्रतिषेध्यविषय जिसका उस अनौपम्या का ही पूर्वा भेद का उदाहरण—

अरी प्रिय की प्रियतमे, काँटों से विक्षत पृथुल उरोजों वाली, इस समय तो तू उद्विग्न हो जा। तू वक्षःस्थल पर प्रेरित वेष्टन में कारवेल्ली के फल चुन-चुन कर रख रही है॥ ८४॥

यहाँ 'इसके दोनों स्तनों पर उपपति ने नखक्षत नहीं किये हैं अपितु कण्टकों ने किया है' इस प्रकार से प्रतीत हो रही छिपाने की बात प्रकट हो रही है। पहले की ही भाँति पूर्वार्ध में कारण का उपन्यास किया गया है, उत्तरवर्ती आधे में तो कार्य का उपदेश दिखाई पड़ता है। अतः यह अनौपम्या प्रतीयमानापह्नोतव्यवस्तु पूर्वा नाम की अपह्नुति "जहाँ किसी का प्रतिषेध करके अन्य अर्थ का दर्शन किया जाता है वहाँ अपह्नुति होती है" इस लक्षण के कारण है।

स्व० भा०—यहाँ दोनों में औपम्य भाव नहीं है। पूर्वार्ध में कारवेल्लीचयन रूप कारण का उल्लेख है। अतः यहाँ पूर्वता है। यद्यपि आरोप सहज नहीं है, नखक्षति तथा कण्टकक्षति दोनों परस्पर सहज क्रियायें नहीं हैं तथापि उसी आरोप के द्वारा कण्टकक्षति के आरोप के द्वारा लक्षण के अनुसार अपह्नुति है ही।

उर इत्यादि। 'उरःप्रेरितवृत्तिकारवेल्लीफलान्युच्चिनोषि दयितवत्सले। कण्टकविलिखितपीनोन्नतस्तनि, ताम्य इदानीम्॥' इह हे दयितवत्सले प्रियप्रेमवति कण्टकलिखितपीनोन्नतस्तनि, इदानीं ताम्योद्विग्ना भव। किं कृत्वा। उरसा वक्षसा प्रेरिता या वृतिर्वेष्टनं तत्र कारवेल्लीफलानि उच्चिनोषि त्रोटयसि। कारवेल्ली करवेल्ली। अत्र पूर्वार्धे कारणकथनात्पूर्वता। उक्तयोरनौपम्यं व्यक्तमेव। ननु नात्र साहजिकोऽपह्नवस्तत्कथमपह्नुतिरत आह—अपह्नुत्येति। आरोपेणापह्नवलक्षणयोगादपह्नुतिरित्यर्थः॥

सैवापूर्वा यथा—

'कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरम्।

सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हिम् ॥ ८५ ॥[1]

[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवाम्ये सहस्वेदानीम् ॥]

अत्रापि नास्या उपपतिनाधरो व्रणितः किं तर्हि भ्रमरेणेति प्रतीयमानापह्नोतव्यं वस्तु । पूर्वार्धे तु सव्रणमधरमिति कार्यमुपन्यस्य, पश्चिमार्धे सभ्रमरकमलाघ्रायिणीति कारणमुपन्यस्तम् । सेयमनौपम्या प्रतीयमानापह्नोतव्यवस्तुरपूर्वा च यथोक्तलक्षणयोगाज्जायते ।

उसी के अपूर्वा रूप का उदाहरण—

(कोई सखी नायिका से कह रही है कि) अपनी प्रियतमा के अधरों को सक्षत देखकर किस नायक को रोष नहीं होगा ? हे भौंरे के साथ ही कमल को सूँघ लेने वाली, दाक्षिण्यवती नायिके, अब उसको सहो ॥ ८५ ॥

यहाँ भी 'इसका अधर उपपति के द्वारा नहीं घायल किया गया' 'तब क्या है ?' 'भ्रमर के द्वारा (घायल किया गया है) ।' इस प्रकार प्रतीत हो रही प्रतिषेध्य वस्तु वर्णित है । पूर्वार्ध में तो 'घाव से युक्त है अधर' इस प्रकार से कार्य का उपन्यास करके, उत्तरार्ध में 'सभ्रमरकमलाघ्रायिणि' यह पद कहकर कारण का उल्लेख किया गया है । अतः यह औपम्यरहित प्रतीयमान प्रतिषेध्य वस्तु वाली अपूर्वा नाम की अपह्नुति नियमानुसार कहे गये लक्षण का योग होने से सम्पन्न हो जाती है ।

स्व० भा०—'कारण' के 'कार्य' से बाद में होने से यहाँ अपूर्वता सिद्ध है । प्रिया के अधरों की सव्रणता कार्य है तथा 'भ्रमर सहित कमल सूँघना' कारण है । शेष विषय पहले जैसे ही हैं ।

कस्स व इत्यादि । 'कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् । सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवाम्ये सहस्वेदानीम् ॥' इह प्रियाया अधरं सक्षतं दृष्ट्वा कस्य रोषो न भवति । ततो हेतोर्भ्रमरसहितपद्मस्याघ्राणकारिके, हे वारितवाम्ये दाक्षिण्यवति, संप्रति त्वं सहस्व सहिष्णुर्भव । अत्रोत्तरार्धे कारणोपन्यासादपूर्वता । पूर्ववदाशङ्कासमाधाने इत्याह—यथोक्तेति । इत्यपह्नुत्यलंकारनिरूपणम् ।

समाध्युक्त्यलंकारनिरूपणम् ।

समाधिलक्षणमाह—

समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः ।
निरुद्भेदोऽथ सोद्भेदः स द्विधा परिपठ्यते ॥ ४४ ॥

(६) समाध्युक्ति अलंकार

दूसरे के धर्मों का दूसरे पर आरोप करना समाधि जाना गया है । वह निरुद्भेद तथा सोद्भेद दो प्रकार से पढ़ा जाता है ॥ ४४ ॥

स्व० भा०—अपह्नुति में एक का निषेध करके दूसरे का आरोप किया जाता है । यद्यपि धर्मों का ही आरोप समाध्युक्ति में भी होता है तथापि यहाँ निषेध नहीं होता ।

समाधिरिति । अन्यधर्मस्यान्यत्र विशेषे य आरोपः स समाधिः । निरुद्भेदोऽव्यक्तः, सोद्भेदः स्फुटः ॥

तयोर्निरुद्भेदो यथा—

'दूरपडिबद्धराए अवऊहत्तम्मि दिणअरे अवरदिसम् ।
असहन्तिव्व किलिम्मइ पिअअमपच्चक्खदूसणं दिणलच्छी ।।८६।।'

[दूरप्रतिबद्धरागेऽवगूहमाने दिनकरेऽपरदिशम् ।
असहमानेव क्लाम्यति प्रियतमप्रत्यक्षदूषणं दिनलक्ष्मीः ॥]

अत्र दिनकरदिनलक्ष्मीप्रतीचीनां समारोपितनायकनायिकाप्रतिनायिकाधर्माणां दूरप्रतिबद्धराग इत्यादिभिः श्लिष्टपदैरनुद्भेदः । एवमन्यधर्माध्यारोपादयं निरुद्भेदः समाधिभेदः ।।

उसके दोनों भेदों में से निरुद्भेद का उदाहरण—

अत्यधिक लाल रंग धारण किये हुए सूर्य के द्वारा दूसरी दिशा—पश्चिम दिशा से सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर अपने प्रियतम के दोषों को साक्षात देखकर से न सहपाती हुई दिनशोभा उसी प्रकार म्लान हो जाती है, जैसे अत्यधिक प्रेम करने वाले नायक के द्वारा दूसरी नायिका का आलिङ्गन करने पर प्रिय द्वारा आँखो के सामने किये जा रहे अपराध को न सह पाती हुई प्रेयसी अत्यधिक म्लान हो जाती है ॥ ८६ ॥

यहाँ दिनकर, दिनलक्ष्मी तथा प्रतीची का जिन पर नायक, नायिका तथा प्रतिनायिका के धर्मों का आरोप किया गया है 'दूरप्रतिबद्धराग' इत्यादि पदों के श्लिष्ट होने से अनुद्भेद है। इसी प्रकार अन्य धर्मों का भी अध्यारोप होने से यह निरुद्भेद नाम का समाधि का भेद है।

स्व० भा०—इस उदाहरण में सूर्य, दिनशोभा तथा पश्चिम दिशा पर नायक, नायिका तथा प्रतिनायिका के 'दूरप्रतिवद्धराग', 'अवगूहमान', 'पियतमप्रत्यक्षदूषण' पदों द्वारा प्रत्यारोपण किये गये हैं। इनका आरोप अभिधीयमान न होकर श्लेष के कारण व्यक्त है। श्लिष्टता होने से ही आरोप अधिक उद्भिन्न न हो सका।

दूर इत्यादि । 'दूरप्रतिबद्धरागेऽवगूहमान एव दिनकरेऽपरदिशम् । असहमानेव क्लाम्यति प्रियतमप्रत्यक्षदूषणं दिनलक्ष्मीः ॥' इहात्यर्थघृतलौहित्येऽत्यर्थकृतानुरागे च दिनकरे सूर्ये वल्लभे चापरदिशं प्रतीचीमपरनायिकां चावगूहमाने सम्बध्नात्याश्लिष्यति च सति दिनशोभा वल्लभस्फुटदूषणमसहमानेन क्लाम्यति म्लाना भवति। अत्र च नायकत्वाद्यारोपणं रागादिपदैः श्लिष्टैः क्रियत इति निरुद्भेदता ॥

सोद्भेदो यथा—

'वल्लहे लहु वोलन्तइ एत्तइ पुणु बहु बलि
किज्जमि तामरसिणि तुज्झ रोसहु थिरहु ।
जेण णिरग्गलु जम्पइ किम्पि ण जाव जणु(ण)
ताव हिमेण विसित्ति झत्थि(त्ति) पुलुट्ठतणु ।। ८७ ।।'

[वल्लभे लघु व्यपक्रामत्यागच्छति पुनर्बहु बलिः
क्रिये तामरसिनि तव रोषस्य स्थिरस्य ।
येन निरर्गलं जल्पति किमपि न यावज्जन-
स्तावद्धिमेन विशीर्णा झटिति प्लुष्टतनुः ॥]

अत्रापि प्रियतमव्यलीकासहिष्णुः कापि कामिनी हिमानीप्लुष्टां कमलिनीमालोक्य तस्यामात्मधर्मान्, प्रिये च सूर्यधर्मानारोपयति । ते च बलिः क्रियेऽहं

तत्र रोषस्येत्यादिभिः पदैरुद्भिद्यमाना इह प्रतीयन्त इत्ययं सोद्भेदः समाधिभेदः। अन्यश्चान्यधर्माश्चान्यधर्मा इति व्युत्पत्त्या धर्मिणोऽप्यध्यासे समाधिरिष्यते।

सोद्भेद का उदाहरण—

हे कमलिनि, प्रिय सूर्य के शीघ्र ही चले जाने पर (हिमकाल में रात्रि के बड़ी होने से) बहुत समय के बाद पुनः लौटने पर तुम्हारे स्थायी रोष की बलि मैं हो रही हूँ (इस प्रकार की बात कोई खण्डिता नायिका कमलिनी के प्रति कहती है) और इसी कारण आश्वस्त प्राणी जब तक कुछ कह भी नहीं पाता है तब तक ही शीत के द्वारा विशीर्ण का गई तुम्हारी देह जलभुन जाती है ॥ ८७ ॥

यहाँ पर भी प्रियतम के अप्रिय व्यवहार को न सह पाती हुई कोई कामिनी हिमराशि से गल गई कमलिनी को देखकर उसमें अपने धर्मों को तथा प्रिय में सूर्य के धर्मों को आरोपित करती है। वे धर्म 'बलिः क्रियेऽहं तव रोषस्य' आदि पदों से उद्भिन्न होकर यहाँ प्रतीत हो रहे हैं। इस प्रकार यह सोद्भेद नामक समाधि का भेद है। 'अन्य' तथा 'अन्य के धर्म' दोनों अर्थों को जो प्रकट करता है उसके लिये 'अन्यधर्मा' इस पद की इस प्रकार की व्युत्पत्ति करने से धर्मी का भी आरोप करने पर समाधि अलंकार अपेक्षित होता है।

स्व० भा०—अनुद्भिन्न अथवा निरुद्भेद तथा सोद्भेद इन दोनों में ही एक के धर्मों का, अथवा एक धर्मी का ही दूसरे के धर्मों अथवा दूसरे धर्मों पर आरोप होता है। दोनों में विशेष अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम में आरोप का कार्य श्लेष आदि के द्वारा होता है, वहीं यहाँ किसी न किसी पद द्वारा संकेतित होता है। यद्यपि यह संकेत करने वाले पद बहुत स्पष्ट रूप से पृथकता अथवा समानता का ज्ञान नहीं कराते तथापि उनसे आरोप स्पष्ट अवश्य हो जाता है।

यहाँ समाधि अलंकार में धर्म तथा धर्मी दोनों का दूसरे के धर्म अथवा धर्मों पर आरोप होता है। दोनों का भाव वृत्ति के अन्तिम वाक्य में 'अन्यधर्मा' पद की दी गई व्युत्पत्ति के अनुसार व्यक्त हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में 'प्लुष्टता' आदि धर्मों का तथा सूर्यरूपी धर्मों का आरोप है।

वल्लहे इत्यादि। 'वल्लभे लघु व्यपक्रामति पुनरागच्छति चिरेण बलिः क्रिये तामरसिनि तव रोषस्य स्थिरस्य। येन निराकुलं जल्पति किमपि न यावज्जनस्तावद्धिमेन विशीर्णा झटिति प्लुष्टतनुः॥' इह हे तामरसिनि पद्मिनि, वल्लभे सूर्ये लघु शीघ्रं व्यपक्रामत्यपगच्छति सति हिमसमये रात्रेर्दीर्घत्वाच्चिरेण पुनरागच्छति सति तव रोषस्य स्थिरस्य बलिरुपहारोऽहं क्रिये इति काचित्खण्डिता पद्मिनीमुद्दिश्य वदति। येन हेतुना निराकुलो जनो यावदेव किमपि न जल्पति तावदेव हिमेन विशीर्णा झटिति त्वं दग्धतनुरसि। व्यलीकमप्रियम्। 'हिमानी हिमसंहतिः' इत्यमरः। प्लुष्टां दग्धाम्। ते धर्माः। धर्मारोपरूपे समाधावध्यासिरत आह—अन्य इति। अन्यो धर्मीह विवक्षितो धर्मपदसंनिधेः॥

सधर्माणां धर्मिणश्च यथा—

'चन्द्रज्योत्स्नाविशदपुलिने सैकतेऽस्मिन्सरय्वा
वादद्वंद्वं सुचिरमभवत्सिद्धयूनोः कयोश्चित्।
एको ब्रूते प्रथमनिहतं केशिनं कंसमन्यः
स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम् ॥ ८८ ॥

अत्र संबोध्य वर्णनीये विष्णुस्वरूपस्य धर्मिणस्तद्धर्माणां चाध्यासादयं धर्मिधर्माध्यासरूपः समाधिः ॥

समानधर्मों तथा धर्मी के आरोप का उदाहरण—

चन्द्रमा की किरणों से प्रकाशित सरयू नदी के इस बालुका-पुलिन पर किन्ही दो सिद्ध युवकों के बीच बड़ी देर तक वादविवाद होता रहा। उनमें से एक तो पहले केशी को मारा गया बतलाता था और दूसरा कंस को। हे प्रभो, तुम तो वही प्रसिद्ध विष्णु हो, अतः तुम्हीं बतलाओ कि तुमने उन दोनों में पहले किसको मारा था ॥ ८८ ॥

यहाँ सम्बोधन करके वर्णनीय विषय पर विष्णु के स्वरूप रूप धर्मी तथा उसके धर्मों का आरोप करने से यह धर्मी तथा धर्म के अध्यास से युक्त समाधि अलंकार है।

स्व० भा०—'स त्वं' पद के प्रयोग से विष्णु के पूर्वप्रसिद्ध रूप तथा उनके गुणों का स्मरण आ जाता है। इस प्रकार धर्मी तथा धर्म दोनों की उपस्थिति प्रतीत होती है।

चन्द्रेत्यादि। कयोश्चित् सिद्धयूनोः सरय्वा नदीभेदस्यास्मिन् सैकते बहुकालं वादद्वैतं वचनविवादोऽभवत्। 'वादद्यूतम्' इति पाठे वादो विवाद एव द्यूतमित्यर्थः। सैकते कीदृशे। चन्द्रज्योत्स्नया विशदं स्वच्छं पुलिनं तोयोत्थितभागो यत्र तत्र। अनेन रम्यतोक्ता। वादस्वरूपमाह—एकः केशिनं प्रथमनिहतं ब्रूते, अन्यः कंसं प्रथमनिहतं ब्रूते। हे भगवन्, स प्रसिद्धस्त्वं तत्त्वं यथार्थं कथय। भवता तत्र तयोः केशिकंसयोर्मध्ये कः पूर्वं हत इति। सिद्धौ च तौ युवानौ चेति सिद्धयुवानौ। केशी असुरभेदः। कंसोऽप्यसुरभेदः। अत्र विष्णोस्तद्धर्माणां च चक्रधरत्वादीनामारोपः स्फुट एव "

धर्मिण एवाध्यासो यथा—

'प्राप्तश्रीरेष कस्मात्पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।
सेतुं बध्नाति कस्मात्पुनरयमखिलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥ ८९ ॥'

अत्र प्राप्तश्रीरेष कस्मादित्यादिभिर्मन्थखेदादिधर्माणां निवर्तितत्वात् प्राप्तश्रीरित्यादीनां च श्लेषेणैवाभिधानात् त्वयीति वर्णनीयपदे विष्णुस्वरूपस्य धर्मिण एवाध्यासात् तद्धर्माणां चानध्यासादयं धर्म्यध्यासरूपः समाधिः ॥

केवल धर्मी के अध्यास का उदाहरण—

श्री—लक्ष्मी तथा चौदह रत्न आदि—को प्राप्त कर लेने पर भी यह व्यक्ति क्यों पुनः मुझे मथने का कष्ट धारण करेगा। अत्यन्त आलस्य रहित इस व्यक्ति की पूर्वकालिक निद्रा की भी सम्भावना नहीं करता। अखिल द्वीपों के स्वामी रावण की ओर जाता हुआ, अथवा विभिन्न द्वीपों के शासकों से अनुगत होने पर भी यह सेतु क्यों बाँध रहे हैं। हे राम, तुम्हारे यहाँ आ जाने से समुद्र में तरंगे मानों इन्हीं भावों के रूप में उठ रही हैं ॥ ८९ ॥ (ध्वन्या० २।३०)

यहाँ 'प्राप्तश्रीरेष कस्मात' इत्यादि तथा 'मन्थखेदादि', धर्मों का निरास कर देने से, तथा 'प्राप्तश्रीः' इत्यादि का श्लेष के द्वारा ही अभिधान होने से 'त्वयि' इस वर्णनीय पद में विष्णु स्वरूप धर्मी का ही अभ्यास होने से तथा उनके धर्मों का अध्यास न होने से यह धर्मी का अध्यास रूप समाधि अलंकार है।

प्राप्तेत्यादि। हे रामदेव, समुद्रस्य कम्प आभाति। कीदृशस्य। त्वय्यायाते सति इति

वितर्कान् दधत इव। एष प्राप्तलक्ष्मीः कोऽपि कस्मात्पुनरपि मद्विषये मन्थेन मन्थनदण्डेन खेदं विदध्यात्कुर्यात्। अनलसमनस आलस्यहीनस्यास्य निद्रामप्यपूर्वां नैव सम्भावयामि। अखिलद्वीपनाथो रावणस्तमनुलक्ष्यीकृत्य यातः प्रयातः पुनरयं कस्माद्धेतोः सेतुबन्धं बध्नाति। मथ्यतेऽनेनेति मन्थः। करणे 'हलश्च ३।३।१२' इति घञ्। अत्र प्राप्तश्रीरित्यादिश्लिष्टपदैर्धर्मिण एव विष्णुरूपस्यारोपो न तु तद्धर्माणामसुरघातकत्वादीनाम्।

समाधिमेलितयोरभेदमाह—

समाधिमेव मन्यन्ते मे(मी)लितं तदपि द्विधा।
धर्माणामेव चाध्यासे धर्मिणां वान्यवस्तुनि ॥ ४५ ॥

समाधि को ही (लोग) मीलित (मेलित) अलंकार मानते हैं। वह भी दो प्रकार का है। १—धर्मों का ही अध्यास होने पर तथा २—अन्य वस्तु पर धर्मी का आरोप होने पर ॥ ४५॥

स्व० भा०—कुछ आचार्य मीलित को एक पृथक् अलंकार मानते हैं, किन्तु भोज उसका अन्तर्भाव समाधि में कर रहे हैं क्योंकि इनके मतानुसार दोनों में ही धर्म अथवा धर्मी का आरोप होता है। जयदेव के अनुसार—

'मीलितं यदि सादृश्यात् भेद एव न लक्ष्यते।
रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे ॥ चन्द्रालोक

रुद्रट की परिभाषा इनसे भिन्न है। सभी आलंकारिकों में इसके लक्षण के विषय में मतैक्य नहीं है इसी से भोज ने धर्म तथा धर्मी का आरोप माना है।

समाधिरेव मेलितमुभयत्रापि धर्माध्यासात्॥

अत्रान्यधर्माणामेवान्यवस्तुन्यध्यासान्मेलितं यथा—

'पल्लविअं विअ करपल्लवेहिं पप्फुल्लिअं विअ णअणेहिं।
फलिअं विअ पीणपओहरेहिं अज्जाए लावण्णम् ॥९०॥'

[पल्लवितमिव करपल्लवाभ्यां प्रफुल्लितमिव नयनाभ्याम्।
फलितमिव पीनपयोधराभ्यामार्याया लावण्यम्]

अत्र पल्लवितमिव पुष्पितमिव फलितमिवेत्युत्प्रेक्षया लताधर्माणां लावण्यधर्मिणि धर्माध्यारोपो दृश्यते। करपल्लवादीनां चानुपात्तव्यापारहेतुत्वेन साधकतमत्वेन वा प्राधान्यं लक्ष्यते। सोऽयमन्यवस्तुनि पुनरन्यधर्माणामेवारोपेण मेलितं नाम समाधेरेव भेदो भवति। स तूद्देशे समाध्युक्तिरित्युक्तिग्रहणाल्लभ्यते।

यहाँ दूसरों के धर्मों का ही अन्य वस्तु पर आरोप करने से होने वाले मेलित का उदाहरण—

इस सुन्दरी का लावण्य दोनों करपल्लवों से मानों पल्लवित हो उठा है, दोनों नयनों से फूल-सा उठा है और पृथुल दोनों उरोजों से फलित सा हो गया है ॥ ९० ॥

यहाँ पर 'पल्लवितमिव' 'पुष्पितमिव' 'फलितमिव' इत्यादि उत्प्रेक्षाओं से लता के धर्मों का लावण्य रूपी धर्मी पर धर्म का अध्यारोप दिखलाई पड़ता है। करपल्लव आदि की अध्यास के विषय के अनुक्त कारण होने से अथवा अत्याज्य कारण होने से प्रधानता लक्षित होती है। यह तो अन्य वस्तु पर, फिर से, अन्य धर्मों का ही आक्षेप होने से मेलित नाम का अलंकार समाधि

का ही भेद होता है। इस उद्देश्य में जो समाधि नाम लिया गया है वह समाध्युक्ति इस पद के 'उक्ति' शब्द के ग्रहण से ही उपलब्ध होता है।

स्व० भा०—यहाँ कर, नयन, पयोधर पर पल्लवत्व, पुष्पत्व तथा फलत्व का आरोप किया गया है। कर, नयन और पयोधर पल्लवन, प्रफुल्लन तथा फलन क्रियाओं के वस्तुतः कर्ता हैं, किन्तु इन पदों के 'क्तप्रत्ययान्त' होने से इनका कर्तृत्व अनुक्त है। इनकी यही अनुक्तता 'अनुपात्तव्यापारहेतुत्वेन' आदि पदों से व्यक्त है। अनुक्त होकर कर्त्ता तृतीया में हो जाता है—"अनुक्ते कर्तरि" सूत्र के अनुसार। यदि तृतीयान्त होने से इनको करण ही माना जाये—उपकरण ही माना जाये तो भी "साधकतमं करणम्" के अनुसार वह अन्य साधनों में भी बहुत प्रमुख है। उधर कर्तृत्व तथा इधर मुख्योपकरणत्व दोनों दशाओं में इनकी प्रधानता ही व्यक्त होती है।

पल्लविअमित्यादि। 'पल्लवितमिव करपल्लवाभ्यां प्रफुल्लितमिव नयनाभ्याम्। फलितमिव पीनपयोधराभ्यामार्याया लावण्यम्॥' इहार्याया गृहपतिपुत्र्या नायिकाया लावण्यं सौकुमार्यं हस्तपल्लवाभ्यां पल्लवितमिव नेत्राभ्यां फुल्लितमिव पीनस्तनाभ्यां फलितमिवास्ति। अध्यारोपे बीजमाह—उत्प्रेक्षयेति। तर्हि करपल्लवादीनामध्यारोपाद् बहिर्भाव एव भवेदत आह—करेति। अनुपात्तोऽनुक्तो यो व्यापारोऽध्यासविषयस्तद्धेतुत्वेन तदुपस्थितिकारणत्वेन तत्करणत्वेन वा। अत एव कर्त्रपेक्षया प्रधानतया स्वातन्त्र्येणान्वयस्तेषामित्यर्थः। तर्हि समाध्युद्देशेऽनुद्देशः कथमस्यत आह—स त्विति। समाध्युक्तिरित्यत्र समाधिरिति कर्तव्ये उक्तिग्रहणमधिकार्थसूचकमित्युक्तिपदेनैव मेलितोद्देशः कृत इत्यर्थः॥

धर्माणां धर्मिणश्च यथा--

'देहो व्व पडइ दिअहो कण्ठच्छेओ व्व लोहिओ होइ रई।
गलइ रुहिरं व्व संझा घोलइ केसकसणं सिरम्मिअ तिमिरम् ॥९१॥'

[देह इव पतति दिवसः कण्ठच्छेद इव लोहितो भवति रविः।
गलति रुधिरमिव संध्या घूर्णते केशकृष्णं शिर इव तिमिरम्॥]

अत्र देहादयो यथोक्तक्रियावन्तो जन्तुवधक्रियायां निबद्धा दिवसादिभिरुपमेया दिवसावसानक्रियायां मेलितास्तदेतत् गुणक्रियावतां द्रव्याणां प्रधानक्रियाध्यारोपे धर्मिधर्माध्यासे मेलितं नाम समाधेरेव भेदो भवति।

धर्म तथा धर्मी के आरोप से होने वाले (मेलित का उदाहरण)—दिन अङ्ग की भाँति गिर रहा है, कण्ठच्छेद सा सूर्य लाल लाल हो रहा है, संध्या रक्त की भाँति गल रही है और केश के कारण काले शिर की भाँति अन्धकार इधर-उधर फैल रहा है॥ ९१॥

यहाँ देह आदि कही गयी रीति से क्रियायुक्त होकर प्राणिवध की क्रिया में निबद्ध किये गये हैं जो दिवस आदि के साथ उपमित होकर दिवसावसान को क्रिया में मेलित किये गये हैं। इसलिये यह गुण तथा क्रिया से युक्त द्रव्यों का प्रधान क्रिया में अध्यारोप होने से धर्म तथा धर्मी का आरोप होने के कारण मेलित नाम का अलंकार तो समाधि का ही भेद सिद्ध होता है।

स्व० भा०—उक्त प्रसङ्ग में पतन आदि क्रियायें हैं, लौहित्य आदि गुण हैं तथा प्रधान क्रियायें हैं 'पतति' आदि। इनका दिवस आदि पर अध्यारोप है। इस प्रकार का अध्यारोप होने से यहाँ समाधि उक्ति ही है।

देहो व्व इत्यादि। 'देह इव पतति दिवसः कण्ठच्छेद इव लोहितो भवति रविः।

गलति रुधिरमिव सन्ध्या घूर्णते केशकृष्णं शिर इव तिमिरम् ॥' इह दिनमङ्गमिव पतति, रक्तः सूर्यः कण्ठच्छेद इव भवति, रक्तमिव सन्ध्या गलति, तिमिरं केशश्यामं शिर इव घूर्णते इतस्ततो याति। अत्र पतनादयः क्रियाः, लोहित्यादयो गुणाः, प्रधानक्रियाः पततीत्यादिकाः, तदध्यारोपो दिवसादिषु। इति समाध्युक्त्यलंकारनिरूपणम्।

(७) समासोक्त्यलंकारनिरूपणम् ॥

समासोक्तिं लक्षयति—

अत्रोपमानादेवैतदुपमेयं　　प्रतीयते।
अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः ॥ ४६ ॥
प्रतीयमाने वाच्ये वा सादृश्ये सोपजायते।
श्लाघां गर्हामुभे नोभे तदुपाधीन्प्रचक्षते ॥ ४७ ॥
विशेष्यमात्रभिन्नापि तुल्याकारविशेषणा।
अस्त्यसावपराप्यस्ति तुल्यातुल्यविशेषणा ॥ ४८ ॥
संक्षेपेणोच्यते यस्मात्समासोक्तिरियं ततः।
सैवान्योक्तिरनन्योक्तिरुभयोक्तिश्च कथ्यते ॥ ४९ ॥

(७) समासोक्ति अलंकार

जहाँ उपमान से ही अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण उपमेय प्रतीत हो जाता है उसे रसिक लोग समासोक्ति कहते है। सादृश्य के प्रतीत अथवा अभिहित होने पर वह होती है। श्लाघा, गर्हा, दोनों (श्लाघागर्हा), अनुभय (अश्लाघागर्हा) उसके उपाधि कहे जाते हैं। विशेष्यमात्र से भिन्न होती हुई भी यह तुल्याकार विशेषणा तथा दूसरी तुल्यातुल्यविशेषणा भी होती है। चूँकि यह संक्षेप के कारण कही जाती है, अतः यह समासोक्ति है। वही अन्योक्ति, अनन्योक्ति तथा उभयोक्ति भी कही जाती है ॥ ४६–४९ ॥

स्व० भा०—समासोक्ति अलंकार मर्मज्ञलोक में अत्यन्त प्रसिद्ध है। अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न शब्दों में किन्तु लगभग एक से अर्थ में इसकी परिभाषायें दी हैं। विस्तार के कारण उनका उल्लेख यहाँ अनपेक्षित है।

यत्रेति। यत्रातिप्रसिद्धतयोपमानादेवैतस्योपमेयस्य ज्ञानं सा समासोक्तिः। समसनं समासः संक्षेपस्तदुक्तिरित्यन्वर्थतापि। प्रतीयमाने ज्ञायमाने वाच्येऽभिधीयमाने च सादृश्ये। श्लाघां प्रशंसाम्, गर्हां निन्दाम्। उभे श्लाघागर्हे च, नोभे अश्लाघागर्हे चैतानुपाधीन्प्रयोजकान् समासोक्तौ वदन्ति। विशेष्यमात्राभ्यां युक्तायुक्ताभ्यां भिन्नापि विशेषणद्वयभेदवती एका तुल्याकारविशेषणा, अपरा तुल्यातुल्यविशेषणा। संक्षेपोक्तौ च प्रकारद्वयं भवति, तदाह—अन्येत्यादि।

तत्र प्रतीयमानसादृश्या श्लाघावती यथा—

'उत्तुङ्गे कृतसंश्रयस्य शिखरिण्युच्चावचग्रावणि
　न्यग्रोधस्य किमङ्ग तस्य वचसा श्लाघासु पर्याप्यते।

बन्धुर्वा स पुराकृतः किमथवा सत्कर्मणां संचयो
मार्गे रूक्षविपत्त्रशाखिनि जनो यं प्राप्य विश्राम्यति ॥९२॥'

अत्र न्यग्रोधेनैवोपमानेन प्रतीयमानसादृश्यस्य वर्णनीयवदान्योपमेयस्योक्तत्वात्तच्छ्लाघयैव तच्छ्लाघा प्रतीयत इति सेयं प्रतीयमानसादृश्या श्लाघावती समासोक्तिः ॥

इनमें से प्रतीयमान सादृश्या श्लाघावती का उदाहरण—

अरे भद्र, ऊँचे-नीचे पत्थरों से युक्त, पर्वत की ऊँची चोटी पर स्थित उस वटवृक्ष की प्रशंसा करने में क्या वाणी पर्याप्त हो सकेगी ? (अर्थात् नहीं) वह पहले बनाया गया साथी है, अथवा लोगों के सत्कर्मों की राशि है जिसे रूखे तथा पत्तों से रहित वृक्ष वाले मार्ग पर पा कर लोग विश्राम करते हैं ॥ ९२ ॥

यहाँ न्यग्रोध रूप उपमान के द्वारा ही जिसका सादृश्य प्रतीत हो रहा है उस वर्णन के विषय परोपकारी रूप उपमेय के उक्त हो जाने से उस वृक्ष की प्रशंसा से ही उस उपकारी पुरुष की भी प्रशंसा प्रतीत हो जाती है । अतः यह प्रतीयमानसादृश्या श्लाघावती समासोक्ति है ।

स्व० भा०— यहाँ परोपकारिता के कारण वटवृक्ष तथा दानी दोनों की समानता प्रतीत हो रही है । इसी से दोनों की प्रशंसा भी व्यक्त होती है । वट उपमान है तथा दानी है उपमेय । उस उपमान का वर्णन होने से अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण दानी का बोध स्वयं प्रतीत हो जाता है ।

उत्तुङ्ग इत्यादि । तस्य न्यग्रोधस्य वटवृक्षस्य श्लाघा स्वप्रशंसा स्ववचसोक्त्या किं समाप्यते । किंतु न । तस्य श्लाघा वक्तुमशक्येत्यर्थः । अङ्गेति सानुनयसम्बोधने । कीदृशस्य । उत्तुङ्गे उच्छ्रिते । उच्चावचा निम्नोन्नता ये ग्रावाणः पाषाणास्तद्युक्ते च शिखरिणि गिरौ कृतावासस्य । श्लाघाहेतुमाह—स वटो बन्धुर्मित्रं वा पुरा पूर्वं कृतः । अर्थार्जनेन । अथवा सत्कर्मणां श्रेष्ठव्यापाराणां संचय उपचयः किम् । अर्थार्जनस्य । रूक्षा अस्निग्धा विपत्त्राः पत्त्रशून्याः शाखिनो वृक्षा यत्र तादृशे मार्गे यं वटवृक्षं प्राप्य जनो विश्राम्यति । उच्चावचेत्यत्र बहुव्रीह्यनन्तरं मतुबिति भ्रमो न कार्यः । उच्चावचग्रावाणोऽत्र सन्तीति विशिष्टस्यैव मत्वर्थसम्बन्धाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्त इतिवत्केवलाद्विशिष्टस्य भिन्नबुद्धिविषयत्वात् । अत एवादण्डीत्यादयो निस्तरङ्गं प्रयोगा इत्यवधेयम् । 'ग्रावोपलाश्मानः' इत्यमरः । अत्र परोपकारितया न्यग्रोधवदान्ययोः सादृश्यं प्रतीयमानं तत एवोभयोः श्लाघापि ।

सैव गर्हावती यथा—

'किं जातोऽसि चतुष्पथे यदि घनच्छायोऽसि किं छायया
संपन्नः फलितोऽसि किं यदि फलैः पूर्णोऽसि किं संनतः ।
हे सद्वृक्ष सहस्व संप्रति शिखाशाखाशताकर्षण-
क्षोभोन्मोटनभञ्जनानि जनतः स्वैरेव दुश्चेष्टितैः ॥ ९३ ॥'

अत्रोपमानभूतस्य सद्वृक्षस्य व्याजगर्हणया तदुपमेयः कोऽपि सत्पुरुषो विगर्ह्यत इति सेयं प्रतीयमानसादृश्या गर्हावती नाम समासोक्तिः ।

(प्रतीयमानसादृश्या) गर्हावती का उदाहरण—

हे सद्वृक्ष, यदि तुम चौराहे पर उगे तो उससे तुम्हें क्या लाभ ? यदि तुम्हारी छाया अत्यन्त

सघन हैं, तो वह छाया भी व्यर्थ है। यदि तुम खूब अधिक फले हो तो उन फलों से क्या ? यदि तुम खूब भरेपूरे हो तो झुक क्यों गये ? अतः अब अपने ही दुष्कर्मों के कारण लोगों द्वारा किये गये अग्रभाग में सैकड़ों सैकड़ों शाखाओं की खिंचान, हिलाव, मोड़ तथा तोड़ों को सहो ॥ ९३ ॥

यहाँ उपमान रूप सद्वृक्ष की निन्दा से उसका उपमेय होने से कोई सत्पुरुष निन्दित किया जा रहा है। अतः यह प्रतीयमान सादृश्या गर्हावती नाम की समासोक्ति है।

किमित्यादि। हे सद्वृक्ष, चतुष्पथे किमर्थं जातोऽस्युत्पन्नोऽसि। यदि त्वं घना निविडा छाया यस्य तादृशोऽसि तदा छायया किं वृथा। यदि सम्पन्नः समृद्धः सन् फलितोऽसि तदा फलभरैस्तव किम्। किंतु न तव किमपि। यद्याढ्योऽसि महानसि तदा सम्यक्प्रकारेण ततः किम्। संप्रत्यधुना स्वैर्निजैरेव दुश्चेष्टितैर्जनतो लोकात्त्वं शिखाया-मग्रभागे शाखाशतस्याकर्षणमाकृष्टिः, क्षोभश्चालनम्, आमोटनं सङ्कोचनम्, भञ्जनं छेदनमेतानि सहस्वानुभव। 'आढ्य इभ्ये महत्यपि' इति विश्वः। सहस्वेति 'षह मर्षणे' इति लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपम्। 'अग्रमात्रे शिखा मता' इति धरणिः। जनत इति पञ्चम्यन्तात्तसिः। व्याजगर्हणा कपटनिन्दा वटवृक्षनिन्दां व्याजीकृत्य सत्पुरुषनि-न्दोपक्रमात्॥

सैवोभयवती यथा—

'निष्कन्दामरविन्दिनीं स्थपुटितोद्देशां स्थलीं पल्वले
जम्बालाविलमम्बु कर्तुमपरा सूते वराही सुतान्।
दंष्ट्रायां चतुरर्णवोर्मिपटलैराप्लावितायामियं
यस्या एव शिशोः स्थिता विपदि भूः सा पुत्रिणी पोत्रिणी ॥ ९४ ॥'

अत्र पूर्वार्धे गर्हा, उत्तरार्धे श्लाघा गम्यते, सेयं प्रतीयमानसादृश्योभयवती समासोक्तिः।

उसी (प्रतीयमानसादृश्या) के उभयवती (श्लाघागर्हावती) का उदाहरण—

दूसरी शूकरियाँ तो अपने बच्चों को केवल कमलिनी को उन्मूलित करने, पृथ्वीतल को खोद-खाद कर ऊँची-नीची करने तथा गड्ढों में जल को कीचड़ से गन्दा करने के लिये पैदा करती हैं। वस्तुतः वही शूकरी प्रशस्त पुत्र वाली है जिसके छोटे से छौने की चारों समुद्रों की तरङ्ग समूहों से व्याप्त दाढ़ पर प्रलय काल में यह पृथ्वी स्थित रह सकी ॥ ९४ ॥

यहाँ पूर्वार्ध में निन्दा, उत्तरार्ध में प्रशंसा प्रतीत होती है। अतः यह प्रतीयमान सादृश्यवाली उभयवती समासोक्ति है।

स्व० भा०—उपर्युक्त दोनों श्लोक सरल हैं। उनमें लक्षण की संगति भी घटित होती है। दूसरे श्लोक में—उभयवती में—पूर्वार्ध में पृथ्वी के भारभूत मनुष्यों तथा उत्तरार्ध में पृथ्वी का भार उतारने वाले मनुष्यों की क्रमशः निन्दा तथा प्रशंसा है।

निष्कन्दामित्यादि। इतरान्या वराही सूकरी सुतान् सूकरान् सूते जनयति। किं कर्तुम्। अरविन्दिनीं निष्कन्दामुन्मूलितमूलां कर्तुं, स्थपुटितो निम्नोन्नतीकृत उद्देशो यस्यास्तादृशीं स्थलीं कर्तुं, पल्वलेऽल्पसरसि अम्बु जलं जम्बालेन कर्दमेनाविलमनच्छं कर्तुम्। सा पोत्रिणी वराही पुत्रिणी प्रशस्तपुत्रवती। यस्याः शिशोरेव बालकस्यैव दंष्ट्रायामियं भूर्विपदि प्रलये स्थिता। दंष्ट्रायां कीदृश्याम्। चतुर्णामर्णवानां समुद्राणा-मूर्मिपटलैः कल्लोलसमूहैराप्लावितायां पूरितायाम्। व्याप्तायामिति यावत्। 'जम्बालः

पङ्कोऽस्त्री' इत्यमरः। वराहीति 'पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८' इति ङीष्। पुत्रिणीति प्रशंसायामिनिः। 'वराहः सूकरो गृष्टिः कोलः पोत्री' इत्यमरः। अत्रोभयोः सादृश्यं वराहत्वादिना प्रतीयमानम् ॥

अनुभयवती यथा—

'इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषा-
मितश्च शरणार्थिनः शिखरिपक्षिणः शेरते।
इतोऽपि वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै-
रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥ ९५ ॥'

अत्र गर्हा श्लाघा वा विस्मयोक्तावेवास्तमयते। सेयं प्रतीयमानसादृश्यानुभयवती नाम समासोक्तिः।

अनुभयवती का उदाहरण—

इधर विष्णु सोते हैं, और यहीं उनके शत्रु असुरों का भी निवास है, यहीं पर आश्रय चाहने वाले पंखों वाले पर्वत मैनाक आदि भी सो रहे हैं। उस ओर भी सभी संवर्तक आदि प्रलयकालीन मेघ भी हैं और बड़वानल भी जल रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है कि सागर का शरीर इतना विस्तृत, बलवान् तथा भारवहन में सक्षम है ॥ ९५ ॥

यहाँ पर निन्दा तथा प्रशंसा आश्चर्य के कथन में ही अस्त हो जाते हैं। अतः यह प्रतीयमान सादृश्यवाली अनुभयवती नाम की समासोक्ति है।

स्व० भा०—स्पष्ट ही है कि यहाँ न तो किसी की निन्दा ही है, न प्रशंसा, अपितु यही आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि किस प्रकार विभिन्न प्रतिकूलताओं को अपने भीतर महापुरुष भी समुद्र की भांति समाहित किये रहते हैं।

इत इत्यादि। सिन्धोः समुद्रस्य वपुराशयो विततं विस्तीर्णमूर्जितं बलवत् भारवहनक्षमं च। अत्रैवाश्चर्यम्। इतोऽत्रैव हरिर्वसति, अत्रैव केशवरिपूणामसुराणां पुरं नगरमस्ति। अत्रैव शरणं प्राप्ताः शिखरिणां पर्वतेषु मध्ये पक्षिणः सपक्षा मैनाकादयः शेरते स्वपन्ति। नच शिखरिपक्षिण इत्यत्र 'न निर्धारणे २।२।१०' इति षष्ठीसमासनिषेध इति वाच्यम्। तन्निषेधस्यानित्यत्वान्निर्धारणस्याविवक्षणाद्वा निर्धारणद्योतकजात्यादेरभावेन तदुन्नयनात्, यद्वा शिखरिणश्च ते पक्षिणश्चेति विशेषणसमासः। पूर्वनिपाते तु बहुष्वेकत्र नियम इति व्यवस्थितिः। अत्रैव वडवानलोऽस्ति सकलमेघैः सह। 'पुष्करावर्तसंवर्तकालकान्तिजलप्लवाः। इति वारिमुचां वंशश्चतुर्धा परिकीर्तितः॥' इति पुराणम्। अत्र श्लाघागर्हयोरस्तमनादनुभयवतीयम् ॥

अभिधीयमानसादृश्या श्लाघावती तुल्याकारविशेषणा यथा—

'नालस्य प्रसरो जलेष्वपि कृतावासस्य कोषे रुचि-
र्दण्डे कर्कशता मुखेऽतिमृदुता मित्रे महान्प्रश्रयः।
आमूलं गुणसंग्रहव्यसनिता द्वेषश्च दोषाकरे
यस्यैषा स्थितिरम्बुजस्य वसतिर्युक्तैव तत्र श्रियः ॥ ९६ ॥'

अत्राम्बुरुहसत्पुरुषयोः परस्परमुपमानोपमेयभावस्यातिशयप्रसिद्धेरुपमाने-

नेव श्लेषवत्तुल्यविशेषणपदाभिधीयमानसादृश्यमुपमानमुपमेयमेवावगम्यते । सेयमभिधीयमानसादृश्या श्लाघावतो तुल्यविशेषणा नाम समासोक्तिः ॥

अभिधीयमानसादृश्या श्लाघावती तुल्याकारविशेषणा का उदाहरण—

जिसकी नाल का विस्तार है, जल में भी निवास करने वाले, कली में भी कान्ति वाले, नालदण्ड में कठिनाई वाले, मुख में माधुर्य भरे हुये, सूर्य में अत्यधिक प्रेम रखने वाले, जड़ से लेकर ऊपर तक तन्तुओं को एकत्र करने में लगे हुये तथा चन्द्रमा के प्रति द्वेष भाव रखने वाले जिस कमल की यह स्थिति है कि वह आलस्य के फैलाव से रहित, मूर्खों में भी निवास करने वाले, धनराशि के प्रति इच्छुक, शासन में कठोर, मुख में मधुरता वाले, सुहृदों में अत्यन्त प्रीतियुक्त, जड़ अर्थात् विष्णु से लेकर यहाँ तक गुणों को एकत्र करने वाले तथा दुष्टताओं के निधानस्वरूप व्यक्ति से द्वेष रखने वाले (सज्जन की भाँति है), वहाँ लक्ष्मी का निवास उचित ही है ॥ ९६ ॥

यहाँ कमल तथा सत्पुरुष दोनो में परस्पर उपमेय तथा उपमान भाव के अत्यन्त प्रसिद्ध होने से उपमान मात्र के द्वारा ही श्लेषवत् तुल्यविशेषण पद के द्वारा जिसका सादृश्य अभिहित हो रहा है वह उपमान उपमेय ही प्रतीत होता है। अतः यह अभिधीयमानसादृश्या श्लाघावती तुल्यविशेषणा नाम की समासोक्ति है।

स्व० भा०—यहाँ अभिधीयमानता इसलिये है क्योंकि सादृश्यशब्दतः उक्त है। यह श्लाघावती है क्योंकि कमल को लक्ष्मी का युक्त स्थान कहा गया है। दोनों कमल तथा सत्पुरुष में 'नालस्य प्रसरः' आदि विशेषण समान रूप से संगत हैं। इनका श्लेष के सदृश अर्थ निकलता है। होता तो यहाँ श्लेष ही, किन्तु उपमेय तथा उपमान शब्दतः पृथक् पृथक् अभिहित नहीं हैं। अतः वह नहीं हो सका, केवल श्लेषवत् प्रतीति होती रही।

नालस्येत्यादि । यस्याम्बुजस्य पद्मस्यैवमनेनाकारेण स्थितिरवस्थितिस्तत्राम्बुजे श्रियो लक्ष्म्या वसतिर्वासो युक्त एव । तदाह—नालस्य नालायाः प्रसरो विस्तारः, अथ च न आलस्यस्यालसतायाः प्रसर आधिक्यम् । जलेष्वपि तोयेषु कृतावासस्य, अथ च मूर्खेष्वपि कृतावासस्य । कोषे कुड्मले रुचिः कान्तिः, अथ च कोषे पात्रेऽर्थलाभे वा रुचिः प्रीतिः । दण्डे प्रकाण्डे कर्कशता काठिन्यम्, अथ च दण्डे शासने कर्कशता कार्कश्यम् । मुखे उपक्रमे मृदुता कोमलता, अथवा मुखे वदने मृदुता मधुरवाणीकता । मित्रे सूर्ये महान् प्रश्रयः प्रीतिः, अथ च मित्रे सुहृदि महाप्रीतिः । आमूलं मूलादारभ्य गुणस्य तन्तोः संग्रहे ग्रहणे व्यसनिता आसङ्गः, अथ चामूलमादिपुरुषादारभ्य गुणानां शीलादीनां संग्रहे वर्तुलीकरणे व्यसनिता प्रयत्नः । दोषाकरे रजनिकरे द्वेषोऽसूया, अथ च दोषाणामाकरे उत्पत्तिस्थाने जने द्वेषोऽप्रीतिः । 'नालो नालमथास्त्रियाम्' इत्यमरः । 'जलं नीरे च मूर्खे च' इति विश्वः । 'कोषोऽस्त्री कुड्मले पात्रे ह्यर्थसंघातदिव्ययोः ।' इति मेदिनीकारः । 'दण्डं प्रकाण्डे शास्तौ चः' इति । 'मुखमास्ये च प्रारम्भे' इति । 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति । 'शिफायां कारणे मूलम्' इति । 'गुणस्तन्तौ च शीलादौ' इति । 'दोषः स्याद् दूषणे दोषा रात्रौ बाहौ च कीर्तिता ।' इति । 'वसतिः स्यादवस्थाने' इति विश्वः । अत्र पद्मसज्जनयोः प्रसिद्धिसिद्धमुपमानोपमेयत्वमत उभयार्थकविशेषणपदैश्श्लेष इव सादृश्यमभिधीयते । प्रशंसापरतया च श्लाघावत्त्वम् ॥

प्रतीयमानाभिधीयमानसादृश्या श्लाघागर्हावती तुल्यातुल्यविशेषणा यथा—

'उपाध्वं तत्पान्थाः पुनरपि सरो मार्गतिलकं
यदासाद्य स्वेच्छं विलसथ विलीनक्लमभराः ।

इतस्तु क्षाराब्धेर्जरठकमठक्षिप्तपयसो
निवृत्तिः कल्याणी न पुनरवतारः कथमपि ॥ ९७ ॥'

अत्र पूर्वार्धेऽभिधीयमानसादृश्ययोः श्लाघा, पश्चिमार्धे तु प्रतीयमानसादृश्ययोर्गर्हावगम्यते, सेयमुभयवती तुल्यातुल्यविशेषणाभिधीयमानप्रतीयमानसादृश्या समासोक्तिः ॥

प्रतीयमान तथा अभिधीयमान सादृश्यवाली श्लाघा तथा गर्हा दोनों से युक्त तुल्य तथा अतुल्य विशेषण वाली समासोक्ति का उदाहरण—

हे पथिको, रास्ते के अलंकार स्वरूप उस सरोवर का आपलोग सेवन करें जिसे प्राप्त कर आप स्वेच्छानुसार समस्त थकानों को दूर करके विलसित हो सकते हैं। वृद्ध कछुये से मथ दिये गये जल वाले इस खारे समुद्र से तो दूर हट जाना ही श्रेयस्कर है, किसी भी भाँति उसमें अवतरण नहीं ॥ ९७ ॥

यहाँ पूर्वार्ध में अभिहित सादृश्य वाले दोनों की श्लाघा है, उत्तरार्ध में तो प्रतीयमान सादृश्य वाले दोनों (उपमान और उपमेय) की गर्हा प्रतीत होती है। अतः यह तुल्य तथा अतुल्य विशेषणों वाली, अभिधीयमान तथा प्रतीयमान सादृश्यवाली समासोक्ति है।

स्व० भा०—पूर्वार्ध में सरोवर की प्रशंसा होने से श्लाघा है और उत्तरार्ध में क्षाराब्धि की निन्दा होने से गर्हा है। इनसे ही सज्जन तथा दुर्जन की भी प्रशंसा तथा निन्दा व्यक्त होती है। 'मार्गतिलक' आदि विशेषण शब्दतः उक्त हैं अतः अभिहित है, और सरोवर तथा सत्पुरुष में दोनों ओर संगत होने से तुल्य हैं। उत्तरार्ध में "जरठकमठक्षिप्तपयस्कता" आदि से केवल अशान्ति आदि का भाव प्रतीत होता है, शब्दतः अभिहित नहीं, क्योंकि दुर्जन के पास "वृद्ध कच्छप का जल को मथना" यह विशेषण शब्दतः महत्त्व नहीं रखता। इस प्रकार के अर्थ के प्रतीत होने से प्रतीयमानता तथा विशेषण के तुल्य न होने से अतुल्यता भी है।

उपाध्वमित्यादि। हे पान्थाः, तत्सरस्तडागमुपाध्वं सेवध्वम्। कीदृशम्। मार्गस्य तिलकभूतमलंकारीभूतम्। यत्सर आसाद्य गतश्रमभरा यूयं स्वेच्छं विलसथ यथेच्छं क्रीडध्वम्। इतोऽस्मात्क्षाराब्धेर्निवृत्तिरेव कल्याणी कुशलदा न पुनः कथमप्यवतारोऽत्र कुशलदः। अत्रावतरणं न कर्तव्यमिति भावः। क्षाराब्धेः कीदृशात्। जरठेन जीर्णेन कमठेन कच्छपेन क्षुण्णं पयो जलं यस्य तस्मात्। उपाध्वमिति उपपूर्व 'आस उपवेशने' लोण्मध्यमपुरुषबहुवचने 'धि च ८।२।२५' इति सकारलोपः। 'कमठकच्छपौ' इत्यमरः। कल्याणीति गौरादित्वान्ङीप्। अत्र पूर्वार्धे सरःसज्जनयोः परोपकारत्वादिगुणैस्तुल्यैरेव सादृश्यमभिहितम्। श्लाघा तु व्यक्तैव। उत्तरार्धे तु क्षाराब्धेस्तादृशस्यानुपकारकतया गर्हा व्यक्तैव ज्ञायते, इहासज्जनगता निन्दापि प्रतीयते, किंतु सा विशेषणद्वारा नेत्यतुल्यविशेषणता ॥

अन्योक्तिर्द्विधा स्वजातौ जात्यन्तरे च। तयोः स्वजातौ यथा—

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः ॥ ९८ ॥

अत्र हरिशब्देन बलिशब्देन वा कश्चित् समानेतिवृत्तः पुंविशेष एवोच्यते, सेयं स्वजातिविषयान्योक्तिः संक्षेपोक्तिरूपत्वात्समासोक्तिरेव।

अन्योक्ति दो प्रकार की होती है—अपनी जाति में तथा दूसरी जाति में। इन दोनों में स्वजाति वाली अन्योक्ति का उदाहरण—

यह तो वह बलि ही था जिसने लक्ष्मी के उन्नत उरोजों पर लगे हुये कुङ्कुम से लाल लाल हो गये विष्णु के हाथों को अपने सामने भिक्षा का पात्र बनाया ॥ ९८ ॥

यहाँ हरि शब्द से अथवा बलि शब्द से कोई समान घटना वाला पुरुष विशेष ही उक्त है। अत एव यह स्वजातिविषया अन्योक्ति है जो संक्षेप में कहे जाने से समासोक्ति ही है।

स्व० भा०—'हरि' अथवा 'बलि' कहने का अभिप्राय है कि उक्त उदाहरण में जिसको सदृश कहा गया है, वह या तो हरि के जैसा याचक होगा अथवा बलि सा दानी होगा। तुल्यजातित्व का अभिप्राय यहाँ समान कर्म से है, समान साधारणधर्म से है, जन्म, वर्ण आदि से नहीं।

लक्ष्मीत्यादि। स बलिरेव वदान्यः। येन बलिनास्य हरेर्विष्णोः करौ हस्तौ भिक्षापात्रीकृतौ भिक्षापात्रत्वमापादितः। कीदृशः करः। लक्ष्मीस्तनक्रोडकुङ्कुमेनारुणिताः लोहितीकृतः। अत्रस्वजातित्वं तुल्यचरितत्वम्। हरिबल्योरपेक्षयान्यत्वमपि ॥ तर्हि समासोक्तिता कथमत आह—संक्षेपेति। संक्षेपेणोपस्थापनादेव समासोक्तित्वमित्यर्थः ॥

जात्यन्तरे यथा—

'पिबन्मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपङ्कजे।
अप्यसन्नद्धसौरभ्यं पश्य चुम्बति कुड्मलम् ॥ ९९ ॥'

अत्र भ्रमरशब्देन कश्चित् कामी, फुल्लपङ्कजशब्देन कापि प्रौढाङ्गना, कुड्मलशब्देन कापि मुग्धाङ्गनाभिधीयते, सेयमन्यजातिविषयान्योक्तिः समासोक्तिरेव भवति।

दूसरी जाति में अन्योक्ति का उदाहरण—

देखो तो, यह भौंरा खिले हुये कमल में जी भर कर मधुपान करता हुआ भी अभी सुरभि प्राप्त न कर पाने वाली कली का चुम्बन कर रहा है ॥ ९९ ॥ (काव्याद० २।२०६)

यहाँ 'भ्रमर' पद से कोई कामी, फुल्लपङ्कज शब्द से कोई प्रौढ़ा सुन्दरी तथा कुड्मल शब्द से कोई मुग्धा सुन्दरी अभिहित की जा रही है, अतः यह अन्य जातिविषयक अन्योक्ति भी समासोक्ति ही है।

स्व० भा०—यहाँ 'फुल्लपङ्कज का यथेच्छ पान' तथा 'कुड्मलचुम्बन' भिन्न जातीय हैं। अतः जात्यन्तरत्व स्पष्ट है।

पिबन्नित्यादि। भ्रमरो यथाकामं यथेच्छं प्रफुल्लपङ्कजे मधु पिबन् सन् असन्नद्धसौरभ्यमप्राप्तसौगन्ध्यमपि कुड्मलं चुम्बति। तत्पश्य। अत्र वाक्यार्थस्यैव कर्मता। अत्र भिन्नभिन्नजातितयान्यजातिता ॥

अनन्योक्तिशब्देनेहाध्यासविषया तद्भावापत्तिरुच्यते। यथैष ब्रह्मदत्त इति। सा द्विधा शुद्धा चित्रा च।

तयोः शुद्धा यथा—

'सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैरनुसृतां
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां नवलवलिपाकप्रणयिनीम्।

उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥ १०० ॥'

अत्र कस्याश्चिन्मुखे चन्द्रमसमध्यास्य कश्चिदेवं ब्रूते। सा चेयं पूर्वार्धेऽभिधीयमानतुल्यविशेषणा, पश्चिमार्धे पुनरनाकाशे कोऽयं गलितहरिण इत्यत्र तुल्यविशेषणा समासोक्तिरेवानन्योक्तिः। एकस्यैव चाध्यासादियं शुद्धेत्युच्यते।

यहाँ अनन्योक्ति शब्द से अध्यासविषयक उसके ही भाव का आरोप उक्त है। जैसे—'यही ब्रह्मदत्त है' आदि में। वह दो प्रकार की है शुद्धा तथा चित्रा। इन दोनों में से शुद्धा का उदाहरण—

प्राकार के अग्रभाग के समीप अपने नयनों को डालो (देखो) और जरा सोचो तो कि अमृत के कारण कवलन में आसक्त उपवन के चकोरों से अनुगत तथा नवीन लवलीलता को पका देने के प्रणयी स्वच्छ किरणों को फैलाता हुआ मृगहीन कौन सा चन्द्रमा विना आकाश के ही निकला हुआ है ॥ १०० ॥

यहाँ किसी सुन्दरी के मुख में चन्द्रमा का आरोप करके कोई व्यक्ति ऐसा कह रहा है। यह पूर्वार्ध में अभिहित तुल्यविशेषण वाली है और उत्तरार्ध में पुनः 'विना आकाश में ही कौन सा यह हरिणरहित चन्द्रमा है' इसमें अतुल्यविशेषणा समासोक्ति ही अनन्योक्ति है। एक ही का आरोप होने से यह शुद्धा कही जाती है।

स्व० भा०—यहाँ किसी अन्य के धर्मों का आरोप न होकर वर्ण्यमान विषय के ही विशेषण उक्त हैं। चन्द्रमा पर चन्द्रमोचित उसी के विशेषण 'ज्योत्स्ना' तथा ज्योत्स्ना के विशेषण 'अच्छा' आदि दिये गये हैं। शेष बातें स्पष्ट हैं।

नान्यस्योक्तिरनन्योक्तिः। तथाचानन्योक्तिपदेन तद्भावापत्तिस्तत्ता विषयतैवोच्यते। एषोऽयमित्याकारस्तस्याः। सुधेत्यादि। हे सखे, उपप्राकाराग्रं प्राकाराग्रसमीपे नयने नेत्रद्वयं प्रहिणु देहि। मनाक् त्वं तर्कय। अनाकाशे आकाशातिरिक्तदेशे गलितहरिणस्त्यक्तलाञ्छनः कोऽयं शीतकिरणश्चन्द्र इति। कीदृशः। ज्योत्स्नां किरन् विक्षिपन्। कीदृशीम्। सुधा मिथ्या बद्धोऽनुबद्धो ग्रासः कवलो यैरेवंभूतैरुपवनस्थितचकोरैरनुसृतामनुगताम्। स्वच्छाम्। नवा नूतना या लवली लताभेदस्तस्याः पाकस्य प्रणयिनीं प्रश्रयवतीं च। 'लवली च लताभिदा' इति विश्वः। लवलीवाचको लवलिशब्दोऽपि। 'लवलिः श्वेतपार्थपी (?) इति शब्दभेदः। उपप्राकाराग्रमित्यत्र सामीप्येऽव्ययीभावः। अत्र अध्यास आरोप्य। पूर्वार्धे तुल्यविशेषणत्वमुक्तम्, उत्तरार्धेऽतुल्यविशेषणत्वम्। तस्यैवाभिधानादनन्योक्तिरेकस्यैवाभिधानाच्छुद्धता च।

चित्रा यथा—

'कमलमनम्भसि कमले कुवलये तानि च कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥ १०१ ॥'

अत्राध्यासः पूर्ववद्वैचित्र्यं च विगदेनैव व्याख्यातम्। सेयमनन्योक्तिः समासोक्तिरेवानेकाध्यासवैचित्र्याच्चित्रेत्युच्यते ॥

चित्रा का उदाहरण—

बिना जल के ही अर्थात् निर्जल स्थान में कमल हैं, कमल में भी दो नीले कमल हैं, तथा वे

कमल तथा नील कमल भी स्वर्ण की लता में है और जो स्वर्ण की लता है वह भी कोमल और रमणीय है। भला यह कौन सी अनर्थों की शृङ्खला है ॥ १०१ ॥

यहाँ आरोप पहले के ही जैसा है। विचित्रता तो उक्ति से ही स्पष्ट है। यह अनन्योक्ति समासोक्ति ही है जो अनेक आरोपों की विचित्रता के कारण चित्रा कही जाती है।

कमलमित्यादि। अनम्भसि जलशून्ये देशे कमलमस्ति। कमले पुनः कुवलये नीलनलिनद्वयम्, तानि च कमलकुवलयानि कनकलतिकायां सुवर्णलतायाम्, सा च कनकलतिका सुकुमारा कोमला सती सुभगा रम्येत्यनेन प्रकारेण केयमुत्पातपरम्परारिष्टपङ्क्तिः। 'उत्पातोऽरिष्टमित्यपि' इत्यमरः। पूर्ववदिति। कस्याश्चिन्मुखादौ कमलाद्यारोपः, विचित्रता च कमलादौ कुवलयाद्यभिधानेनैवोक्ता तस्या एवाभिधानादनन्यतयोक्तिः॥

उभयोक्तिर्यथा—

'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥ १०२॥'

अत्रापूर्वेयं लावण्यसिन्धुरित्यन्योक्तिः, यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्त इत्यादिरनन्योक्तिः, सेयमुभययोगादुभयोक्तिरुपदिश्यते। उपलक्षणं चैतत्। तेनान्यापि योपमानोपमेयविषये संक्षेपोक्तिः सापि समासोक्तिरेव भवति।

उभयोक्ति का उदाहरण—

यह भला कौन सी एक विचित्र प्रकार की सुन्दरता की नदी है जिसमें चन्द्रमा के साथ ही कमल भी आ मिले हैं, जहाँ हाथी के कुम्भ रूपी तट ऊपर उठे हुए हैं तथा जहाँ पर दूसरे ही प्रकार के कदलीखण्ड तथा बिसदण्ड भी हैं ॥ १०२ ॥ (का० सू० ३१४)

यहाँ 'अपूर्व है यह सौन्दर्य की नदी' इस कथन में अन्योक्ति है 'जहाँ कमल चन्द्रमा के साथ आ मिले हैं' में अनन्योक्ति है, अतः यह दोनों का योग होने से उभयोक्ति कही जाती है। यह तो मात्र एक निदर्शन है। इसलिये जो दूसरी भी उपमान तथा उपमेय के विषय में संक्षेप में उक्ति है, वह भी समासोक्ति ही होती है।

स्व० भा०—चित्रा समासोक्ति के प्रसंग में प्रथम कमल मुख को, नील कमल द्वय नेत्रों को तथा कनकलता सुन्दरी के शरीर को कहा गया है। उभयोक्ति में सुन्दरी का शरीर ही सौन्दर्य की नदी है, उत्पल नेत्र तथा चन्द्रमा मुख है। द्विरदकुम्भ उसके दोनों उरोज है और कदलीकाण्ड उसके जघन तथा मृणालदण्ड भुजायें है। शेष बातें स्पष्ट हैं।

लावण्येत्यादि। अत्र देशेऽपरैवापूर्वैव केयं लावण्यसिन्धुः सौकुमार्यनदी। यत्र चन्द्रेण सह पद्मानि संप्लवन्ते संमिलितानि भवन्ति। यत्र कुम्भिकुम्भतटी उन्मज्जति उत्थिता भवति। यत्रापरेऽन्ये कदलीप्रकाण्डबिसदण्डाः सन्ति। 'सिन्धुरब्धौ पुमान्नद्यां स्त्रियाम्' इति मेदिनीकारः। 'तीरदेशे तटी मता' इति च। अत्र सिन्धूक्तस्यान्योक्तिता, यत्रेत्यादिना सिन्धुरेवोक्तेत्यनन्योक्तिता। अन्यानन्यातिरिक्तसमासोक्तिं संगृह्णाति—उपलक्षणमिति।

यथा—

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा।

'पारुष्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥१०३॥'

अत्र संक्षेपतः सीताशब्दवाच्यस्य मुखादेरवयवसमूहस्याश्रयत इन्दुरञ्जनेनैव लिप्तः, जडितेव मृगीणां दृष्टिः, प्रम्लानमिवारुण्यं विद्रुमस्य, श्यामेव हेमकान्तिः, परुषा इव कोकिलालापाः, सगर्हा इव शिखिनां बर्हा इत्युत्प्रेक्षाभ्यामनुक्तान्यपि तदुपमेयानि मुखादीनि प्रतीयन्ते, सेयमपि संक्षेपोक्तिः समासोक्तिरेव भवति। कः पुनः समासोक्तेः समाध्युक्तेर्वा विशेषः। उच्यते। यत्र प्राकरणिकेऽप्राकरणिको धर्मोऽध्यास्यते सा समाध्युक्तिः यथा—'असहन्तिव्व किलिम्मइ पिअअमपच्चक्खदूसणं दिणलच्छी।' इति। यत्र पुनरप्राकरणिके प्राकरणिकधर्मः सा समासोक्तिः। यथा—'पिबन्मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपङ्कजे।' इति। ननु धर्मिणाऽध्यासे समानमिति चेत्। न। 'स त्वं तत्त्वं कथय भवता को हतस्तत्र पूर्वम्—' इत्यादिषु 'अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः' इत्यादिषु च प्रव्यक्त एवाध्यासविशेषो दृश्यते। एकत्र मनसान्यत्र तु वचसेति सोऽयं समाध्युक्तः समासोक्तेश्च भेदो भवति।

जैसे—सीता के आगे तो चन्द्रमा कालिख से पुता हुआ सा लगता है, हरिणियों की आँखें जड़ सी प्रतीत होती हैं मूँगे ऐसे लगते हैं मानों उनकी लाली मलिन हो गई हो। सोने की छाया काली सी लगती है, निपुणता के साथ उपस्थित करने पर भी कोयलों के कण्ठ में कठोरता लगती है तथा मयूरों के पिच्छ निन्दित से मालूम होते है ॥ १०३ ॥

यहाँ संक्षेप में सीता शब्द से वाच्य मुख आदि अंग समूह का आश्रय होने से, चन्द्रमा अंजन से लिप्त सा, जड़ सी हो गई मृगियों की निगाहें, मूँगे की लाली मलिन सी, सोने की प्रभा काली सी, परुष सी कोयल की ध्वनियाँ तथा निन्दित सी मयूर की पिच्छावली आदि में उत्प्रेक्षा होने से अभिहित न होने पर भी उसके उपमेय मुख आदि प्रतीत होते हैं। अतः यह भी संक्षेप में की गई उक्ति समासोक्ति ही होती है। फिर भला समासोक्ति तथा समाध्युक्ति में अन्तर क्या है? बतलाया जा रहा है—जहाँ प्राकरणिक पर अप्राकरणिक धर्म का अध्यास किया जाता है वहाँ समाध्युक्ति होती है जैसे—'प्रियतम के प्रत्यक्ष दोष को न सह पाती हुई दिनलक्ष्मी' आदि प्रसङ्ग में है। और फिर जहाँ अप्राकरणिक पर प्राकरणिक के धर्मों का अध्यास किया जाता है, वह समासोक्ति है। जैसे 'खिले कमल में स्वेच्छानुसार मधुपान करता हुआ भी भौंरा" वाले प्रसङ्ग में। तो क्या धर्मी के आरोप विषय में दोनों समान हैं? नहीं। 'वह तुम सच सच कहो आपने वहाँ पहले किसको मारा' आदि में तथा "बिना आकाश के ही कौन सा यह कलङ्करहित चन्द्रमा है" आदि में भी विशेष रूप से अध्यास से विशिष्ट धर्मों को व्यक्त ही किया गया है ऐसा दिखलाई पड़ता है। कहीं तो केवल मन से तथा कहीं वाणी से आरोप होता है, यही समाध्युक्ति तथा समासोक्ति का भेद है।

स्व० भा०—उक्त उदाहरण में पूर्वप्रसङ्ग के अनुसार यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार अन्य अलंकारों के रहते भी संक्षेप में कथन होने से समासोक्ति अलंकार हो जाता है। 'स त्वं तत्त्वम्' इत्यादि श्लोक में धर्मी तथा धर्म का अध्यास किया गया है तथा 'अनाकाश' इत्यादि वाले श्लोक में धर्मी का ही आरोप है। पूर्व में मन से तथा दूसरे में वचन से अध्यास निष्पन्न हुआ है।

इन्दुरित्यादि। सीतायाः पुरतोऽग्रेऽञ्जनेन कज्जलेन लिप्त इव चन्द्रः। हरिणीनां दृष्टिर्जडितैव जडीभूतैव। प्रवालदलं विम्लानलौहित्यमिव। कलकोकिलवधूकण्ठेषु पारुष्यमतिक्रमवचनमिव प्रस्तुतमुपक्रान्तम्। हन्त हर्षे विषादे वा। शिखिनां मयूराणां बर्हाश्च सगर्हा इव जाताः। 'पारुष्यमतिवादः स्यात्' इत्यमरः। अत्र सीतापदेन मुखाद्यवयवसमूह उक्तस्तदग्रे उपमानानां तत्तद्दशा उत्प्रेक्षाभिधानादनुक्तान्यपि तदुपमेयानि मुखादीनि ज्ञायन्त इत्युपमानोपमेयविषये संक्षेपोक्तिरियम्। समाध्युक्तिसमासोक्त्योरभेदं मन्वानो भेदकं पृच्छति—क इति। उत्तरम्—यत्रेति। यत्र प्रकरणपरिप्राप्ते विशेष्येऽप्रकरणपरिप्राप्तधर्माध्यासः सा समाध्युक्तिः। [यथा—] असहमानेव क्लाम्यतीत्यादि। अत्र प्रियतमप्रत्ययवदूषणाध्यारोपोऽप्राकरणिकः। यत्राप्रस्तुते प्रस्तुतधर्माध्यासः सा समासोक्तिः। यथा—पिबन्मधु यथाकाममिति। अत्र भ्रमरेऽप्रकृते प्रकृतस्य कामिनोऽध्यासः तर्हि धर्म्यध्यासतुल्यतैवास्येत्याह—नन्विति। प्राकरणिकाप्राकरणिकत्वाभ्यामेव विशेषस्तयोरिति धर्म्यध्यासेऽपि न दोष इत्याह—नेति। स त्वं तत्त्वमित्यादौ धर्मिधर्मयोरध्यासः, अनाकाश इत्यादौ धर्मिण एवाध्यास इति भेद इत्यर्थः। स त्वं तत्त्वमित्यादौ मनसा, अनाकाश इत्यादौ च वचनेनाध्यासः॥ इति समासोक्त्यलंकारनिरूपणम्॥

उत्प्रेक्षालंकारनिरूपणम्।

अन्यथावस्थितं वस्तु यस्यामुत्प्रेक्ष्यतेऽन्यथा।
द्रव्यं गुणः क्रिया चापि तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते॥ ५०॥

(८) उत्प्रेक्षालङ्कार

जिसमें प्रकारान्तर से स्थित द्रव्य, गुण तथा क्रिया रूप वस्तु दूसरे ही प्रकार से परिकल्पित होते हैं उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं॥ ५०॥

स्व० भा०—उपमा की भाँति उत्प्रेक्षा भी अत्यन्त प्रख्यात अलंकारों में से ही है। भोज द्वारा प्रदत्त लक्षण दण्डी से प्रभावित है, यद्यपि अधिक सूक्ष्म है। दण्डी के अनुसार—

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा॥ काव्यादर्श २।२२१॥

रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में उत्प्रेक्षा को तीन प्रकार का कहा है। वहाँ वह द्रव्य, गुण, क्रिया आदि के आधार पर विभाजन नहीं करते हैं।

उत्प्रेक्षालक्षणमाह—अन्यथेति। प्रकारान्तरेणावस्थितं वस्तु यत्र प्रकारान्तरेणोत्प्रेक्ष्यते परिकल्प्यते सोत्प्रेक्षा। असदारोपणमुत्प्रेक्षेति लक्षणम्। किंरूपं वस्त्वित्याकांक्षायामाह—द्रव्यमिति। द्रव्यं पृथिव्यादि, गुणो रूपादिः, क्रिया पाकादिः॥

तासु द्रव्योत्प्रेक्षा यथा—

'देहस्था दर्पणे यस्य पश्यति प्रतिमामुमा।
अस्यार्धर्घमिवोत्पन्नमर्धनारीश्वरान्तरम्॥ १०४॥'

अत्र प्रतिबिम्बरूपेण दर्पणेऽन्यथावस्थितस्यार्धनारीश्वररूपलक्षणस्य द्रव्यस्य यदपरार्धोत्पन्नार्धनारीश्वररूपान्तरेण द्रव्यान्तररूपेणोत्प्रेक्षणं सेयमुत्प्रेक्षा द्रव्योत्प्रेक्षेति भवति।

इनमें द्रव्योत्प्रेक्षा का उदाहरण—

जिसके दर्पण में देह में स्थित उमा प्रतिबिम्ब देखती है तो ऐसा लगता है मानो दूसरे ही किसी आधे-आधे अंश से एक दूसरा ही अर्धनारीश्वर रूप प्रकट हो गया हो ॥ १०४ ॥

यहाँ प्रतिबिम्ब के रूप से दर्पण में दूसरे रूप से स्थित अर्धनारीश्वर के लक्षण से युक्त द्रव्य का जो दूसरे आधे से ही उत्पन्न दूसरे अर्धनारीश्वर की दूसरे ही द्रव्य के रूप में सम्भावना है, वही यह उत्प्रेक्षा द्रव्योत्प्रेक्षा होती है।

स्व० भा०—किसी भी शब्द के चतुर्विध द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति रूप अर्थ होते हैं, यह स्पष्ट ही है। उक्त प्रसंग में जो दूसरे ही अर्धनारीश्वर रूप की कल्पना है वह द्रव्य रूप है। इव शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक है, औपम्य का नहीं। आचार्य दण्डी ने उत्प्रेक्षा के वाचक शब्दों का बड़े ही सुन्दर ढंग से संकलन किया है—

> मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
> उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ काव्यादर्श २।२३४ ॥

देहस्थेत्यादि। यस्य दर्पणे प्रतिमां प्रतिबिम्बं देहस्था गौरी पश्यति अन्यार्धाभ्यामुत्पन्नमर्धनारीश्वरान्तरमिव। अत्रेवशब्द उत्प्रेक्षाव्यञ्जकः। अर्धनारीश्वरान्तररूपं द्रव्यमिह कल्प्यत इत्युत्प्रेक्षा द्रव्यगता ॥

गुणोत्प्रेक्षा यथा—

> 'पल्लविअं विअ करपल्लवेहिं पप्फुलिअं विअ णअणेहिं।
> फलिअं विअ पीणपओहरेहिं अज्जाए लावण्णम ॥ १०५ ॥'
> [पल्लवितमिव करपल्लवाभ्यां प्रफुल्लितमिव नयनाभ्याम्।
> फलितमिव पीनपयोधराभ्यामार्याया लावण्यम् ॥]

अत्र करपल्लवादिरूपेणान्यथावस्थितस्याङ्गलावण्यलक्षणस्य यदेतत् पल्लवितत्वादिरूपेणान्यथोत्प्रेक्षणं सेयमुत्प्रेक्षा गुणोत्प्रेक्षेति भवति।

गुणोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का ४।९०) ॥ १०५ ॥

यहाँ करपल्लव आदि रूप से अवस्थित अङ्गलावण्यरूप दूसरे प्रकार से स्थित वस्तु की जो यह पल्लवितत्व आदि रूप से दूसरे ही प्रकार में सम्भावना है वह यह उत्प्रेक्षा गुणोत्प्रेक्षा होती है।

स्व० भा०—यहाँ लावण्य स्वयं गुण है। कर, नयन आदि में पल्लवितत्व, फुल्लत्व आदि गुणों का आरोप किया गया है, पल्लव आदि का नहीं, अतः यहाँ गुणोत्प्रेक्षा है।

पल्लविअमित्यादि। विवृतेयं समाध्यलंकारे। अत्र सौन्दर्यस्य गुणस्य पल्लवितत्वादिना कल्पनं गुणोत्प्रेक्षा।

क्रियोत्प्रेक्षा यथा—

> 'सेनागजाः स्वकरपुष्करलेखनीभि-
> गण्डस्थलान्मदमषीं मुहुराददानाः।
> मन्ये नरेन्द्र तव तोयधितीरताली-
> पत्त्रोदरेषु विजयस्तुतिमालिखन्ति ॥ १०६ ॥'

अत्र सेनागजानां गण्डस्थलेभ्यो लेखन्याकारैः करैर्मषीरूपस्य मदपयसो यदादानम्, यश्चास्य तीरतालपत्रादरेषु महावर्णतया निक्षेपः स उक्तरूपेणान्यथोत्प्रेक्ष्यत इति सेयमुत्प्रेक्षा क्रियोत्प्रेक्षा भवति ।

क्रियोत्प्रेक्षा का उदाहरण—

हे महाराज, आपकी सेना के हाथी अपने शुण्डाग्र रूपी लेखनी से अपने कपोलप्रदेश से मदरूपी स्याही को बार-बार ले लेकर मानो समुद्र के तटवर्ती ताल के पत्तों पर आपके विजय की स्तुति लिख रहे हैं ॥ १०६ ॥

यहाँ सेना के हाथियों का कपोलों से लेखनी के आकार वाले अपने शुण्डादण्डों से जो मसी रूपी मद वारि का ग्रहण है और बड़े-बड़े अक्षरों के होने से जो तटवर्ती तालवृक्षों के बीच में उनको डालना है वह कही गई रीति से ही दूसरे प्रकार से सम्भावित हो रहा है। इस प्रकार उक्त लक्षणों वाली यह उत्प्रेक्षा क्रियोत्प्रेक्षा होती है ।

स्व० भा० —यहाँ सूँड़ के अग्रभाग आदि की लेखनी आदि के रूप में जो सम्भावना है वही क्रियोत्प्रेक्षा है । यहाँ द्रव्योत्प्रेक्षा की शंका इसलिये नहीं करनी चाहिये क्योंकि सबका उद्देश्य 'लिखना' रूप क्रिया ही है ।

सेनेत्यादि । हे नरेन्द्र, सेनागजास्तव विजयस्तुतिमालिखन्तीति मन्ये । कीदृशाः । स्वकराणां हस्तिहस्तानां यानि पुष्कराण्यग्राणि तान्येव लेखन्यः काप इति ख्यातास्ताभिर्गण्डस्थलात् मदमेव मषीं वारंवारमाददाना गृह्णन्तः । कुत्र लिखन्तीत्यत आह—समुद्रतीरतालपत्रमध्येषु । मन्येशब्द उत्प्रेक्षाव्यञ्जकः । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे' इति विश्वः । न च लिखेः कुटादिपाठात् ङित्वे गुणाभावे लिखनीति स्यादिति वाच्यम् । 'रद विलेखने' इति निर्देशेन ङित्वविधेरनित्यत्वबोधनात् । अत एव 'लेखनीकृतकर्णस्य कायस्थस्य न विश्वसेत् ।' इत्यादिप्रयोगाः । 'लेखनी लिपिसाधिका' इति रत्नकोषः । ('करिणां बन्धनस्तम्भ आलानम्' इत्यमरः । 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इति च ।) अत्र पुष्करादेर्लेखन्यादित्वेनोत्प्रेक्षणं क्रियोत्प्रेक्षा । न चेह द्रव्योत्प्रेक्षैवेति वाच्यम्, लिखनरूपक्रियायामेव सर्वेषां तात्पर्यात् । तस्या एव सर्वैर्निर्वाहात् यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायात् ॥

उत्प्रेक्षावयवो यश्च या चोत्प्रेक्षोपमा मता ।
मतं चेति न भिद्यन्ते तान्युत्प्रेक्षास्वरूपतः ॥ ५१ ॥

जो उत्प्रेक्षावयव है तथा जिसे उत्प्रेक्षोपमा माना गया है, जो मत नाम से कहा जाता है वे सब उत्प्रेक्षा के लक्षणों से भिन्न नहीं हैं ॥ ५१ ॥

उत्प्रेक्षावयवादीनामुत्प्रेक्षातो न भेद इत्याह—उत्प्रेक्षेति ॥

तत्रोत्प्रेक्षावयवो यथा—

'अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥१०७॥'

अत्राङ्गुलीभिः केशेषु गृहीत्वा प्रियामुखं चुम्ब्यते सा च लोचने निमीलयतीति प्रायोवादः । तत्र मुखचुम्बनादिक्रिया प्रधानमङ्गिभूता प्रतीयते, केशग्रहणाक्षिनिमीलने चाङ्गभूतेऽप्रधाने । तत्राङ्गिभूतायाः क्रियाया उत्प्रेक्षणेनावयवभूता क्रियोत्प्रेक्षिता भवति । यथा हि 'कुड्मलीकृतसरोजलोचनम्' इत्यत्र नोत्प्रे-

क्षापदम्, एवं 'अङ्गुलीमरीचिभिस्तिमिरकेशसंचयं सन्निगृह्य' इत्यत्रापि तन्न प्राप्नोति, मरीच्यङ्गुलिसन्निगृहीततिमिरकेशसञ्चयमित्येव वा वक्तव्यं भवति। तत्र योऽयमवयवक्रियायामप्यन्यपदार्थोक्तद्वितीयावयवक्रियाविलक्षण इव प्रयोगेण पृथक्पदतया वाक्यकल्पः, स इवास्यापि व्याख्यानपरत्वेनाप्यनुयोज्यमानः कविभिरुत्प्रेक्षावयव इत्युच्यते। अन्ये पुनर्यत्र प्रधानक्रिया नोत्प्रेक्ष्यते, अवयवक्रिया तूत्प्रेक्ष्यते तमुत्प्रेक्षावयवं वर्णयन्ति।

उनमें से उत्प्रेक्षावयव का उदाहरण—

अंगुली के सदृश किरणों से तिमिररूपी केशपाश को मानों पकड़कर संपुटितकमलरूपी नयनों वाले रात्रि के मुख को चन्द्रमा चूम सा रहा है॥ १०७॥ (कुमार-सं० ८।६३)

यहाँ अँगुलियों से केशों को पकड़कर प्रियतमा का मुख चूमा जाता है, और वह दोनों नयनों को बन्द कर लेती है, इसमें अधिकतर लोकप्रयुक्त परम्परा वर्णित है। वहाँ 'मुख चूमना' आदि क्रिया प्रधान रूप से अङ्गी प्रतीत होती है, केश-ग्रहण तथा आँखों को मूँद लेना अङ्गभूत, अतः अप्रधान हैं। यहाँ अङ्गीभूता क्रिया की सम्भावना करने से अवयवभूता क्रिया स्वयं उत्प्रेक्षित हो जाती है। जैसे कि 'सम्पुटित हो गये सरोज रूपी लोचन वाला' यहाँ यह उत्प्रेक्षा का पद नहीं है, इसी प्रकार "अँगुली रूपी किरणों से अन्धकाररूपी केशपाश का संग्रह करके' इसमें भी वह नहीं प्राप्त होता है। अथवा उसे ही 'किरणरूपी अँगुली से पकड़ लिया गया है अन्धकार रूपी केशपाश जिसका" इस प्रकार कहना चाहिये। वहाँ जो यह अवयवक्रिया में भी अन्यपदार्थ के द्वारा उक्त द्वितीय अवयवक्रिया से विलक्षण 'इव' के प्रयोग से पृथक् पद होने के कारण वाक्य की सदृशता है, वह 'इव' इसके भी व्याख्यानपरक होने से भी बाद में युक्त किया जाता हुआ कवियों के द्वारा उत्प्रेक्षावयव कहा जाता है। दूसरे लोग कहते हैं जहाँ प्रधान क्रिया की परिकल्पना नहीं होती है अपितु अवयव क्रिया की उत्प्रेक्षणा की जाती है उसका उत्प्रेक्षावयव के रूप में वर्णन होता है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में लोग उत्प्रेक्षावयव मानते हैं। भोज के अनुसार उसका क्रियोत्प्रेक्षा में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उक्त श्लोक में 'चुम्बति' क्रिया प्रधान है। उसी प्रधान क्रिया में उत्प्रेक्षण होने से अन्य अङ्गभूत क्रियाओं में उत्प्रेक्षा स्वतः हो जाती है। कुछ लोग पूर्वार्ध में विद्यमान अवयवभूत क्रियाओं का ही जहाँ उत्प्रेक्षण होता है, वहाँ उत्प्रेक्षावयव मानते हैं। इस प्रकार भोज के मतानुसार तो दोनों दृष्टियों से क्रियोत्प्रेक्षा में ही उनका अन्तर्भाव हो जाता है।

यहाँ उत्प्रेक्षावयव की ओर संकेत करके भोज ने भामह की मान्यता को निरस्त किया है। उनके अनुसार इसके लक्षण तथा उदाहरण ये हैं—

> श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किञ्चिदुत्प्रेक्षयान्वितः।
> रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा॥
> तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रति भास्वति।
> वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगृहम्॥ काव्यालंकार ३।४७-८॥

भोज ने जिस 'मत' अलंकार का उल्लेख किया है, वह रुद्रट को मान्य था। उनके अनुसार उसका लक्षण तथा उदाहरण यह है—

> तन्मतमिति यत्रोक्त्वा वक्तान्यमतेन सिद्धमुपमेयम्।

ब्रूयादथोपमानं तथा विशिष्टं स्वमतसिद्धम् ॥
मदिरामदभरपाटलमलिकुलनीलालकालिधम्मिल्लम् ।
तरुणीमुखमिति यदिदं कथयति लोकः समस्तोऽयम् ॥
मन्येऽहमिन्दुरेष स्फुटमुदयेऽरुणरुचिः स्थितैः पश्चात् ।
उदयगिरौ छन्नपरैर्निशातमोभिर्गृहीत इव ॥

काव्यालंकार ॥ ८।६९–७१ ॥

अङ्गुलीभिरित्यादि। शशी रजनीमुखं चुम्बतीव। कुड्मलीकृतानि सरोजान्येव लोचनानि यत्र चुम्बने तद्यथा स्यादेवम्। किं कृत्वा। मरीचिभिरङ्गुलीभिस्तिमिरं केशसंचयं सन्निगृह्य गृहीत्वेव। प्रायोवादो भारतादौ दर्शनात्। अत्र द्वितीयेनेवपदेन भिन्नपदतया वाक्यकल्पनमितरपदस्यापि तच्छून्यपदस्यापि तदर्थपरत्वमित्युत्प्रेक्षावयवत्वम्। अत एवोत्प्रेक्षाभेदत्वम्। अवयवक्रियामात्रस्यावयविक्रियोत्प्रेक्षणादवयवावयविभावः। तत्राङ्गाङ्गिभाव एव। यद्वा अवयवमात्रक्रियोत्प्रेक्षणमेवावयवित्वोत्प्रेक्षेत्याह—अन्य इति।

यथा—

'लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥१०८॥'

तेषां मते पूर्वोदाहरणमुत्प्रेक्षावयवो न भवति ।

जैसे—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य इसी ग्रन्थ का २।२५८ ॥) ॥ १०८ ॥

उनके मत में पूर्व उदाहरण में उत्प्रेक्षावयव नहीं होता है।

स्व० भा०—जो लोग प्रधान क्रिया को नहीं अपितु अवयवक्रिया की उत्प्रेक्षा होने पर अवयवोत्प्रेक्षा मानते हैं उनके अनुसार "अंगुलीभिरिव" आदि पूर्वोक्त श्लोक में अवयवोत्प्रेक्षा नहीं है। उनके अनुसार उसमें उत्प्रेक्षोपमा होती है। किन्तु इस "लीनेव" आदि श्लोक में उनके मत से अवयवोत्प्रेक्षा है, क्योंकि इसमें अनेक अवयवभूत क्रियाओं में उत्प्रेक्षण है।

लीनेवेत्यादि । विवृतोऽयमनुप्रासे । एतन्मते पूर्वोदाहरणम् 'अङ्गुलीभिरिव—इत्यादि, उत्प्रेक्षोपमायामन्तर्भवतीत्याह—तेषामिति।

उत्प्रेक्षोपमा यथा—

'किंशुकव्यपदेशेन तरुमारुह्य सर्वतः ।
दग्धादग्धामरण्यानीं पश्यतीव विभावसुः ॥ १०९ ॥'

अत्र व्यपदेशशब्देन किंशुककुसुमानामग्निसादृश्यमभिधाय दर्शनक्रियोत्प्रेक्ष्यत इति सेयमुत्प्रेक्षोपमा। पूर्वस्मिन्नप्युदाहरणे मरीचिभिरङ्गुलीभिरिव तिमिरं केशसंचयमिव सन्निगृह्येत्युपमानार्थानुप्रवेश उत्प्रेक्षायां द्रष्टव्यः। सेयमुत्प्रेक्षावयव उत्प्रेक्षोपमा चोत्प्रेक्षैव भवति ॥

उत्प्रेक्षोपमा का उदाहरण—

सेमर के पुष्प के बहाने वृक्ष पर चढ़कर अग्नि सभी ओर जली तथा अनजली वनाली को मानों देख रहा है ॥ १०९ ॥

यहाँ व्यपदेश शब्द से किंशुक के फूलों की अग्नि से समानता कह कर दर्शनक्रिया की उत्प्रेक्षा की जा रही है। यही पूर्वोक्त उत्प्रेक्षोपमा है। पहले वाले भी उदाहरण में 'किरण अंगुलियों के सदृश' 'अन्धकार को केशकलाप की भाँति पकड़ कर' इसमें उपमानार्थक सन्निवेश उत्प्रेक्षा में देखा जा सकता है। यह उक्त लक्षणों वाला उत्प्रेक्षावयव तथा उत्प्रेक्षोपमा दोनों ही उत्प्रेक्षा ही होते हैं।

स्व० भा०—यह श्लोक उत्प्रेक्षोपमा के उदाहरण के रूप में उदाहृत है। इसे मानने वाले लोग इसमें उपमा का भाव भी मानते हैं। अतः उनके अनुसार उपमागर्भित उत्प्रेक्षा उत्प्रेक्षोपमा होती है। भोज के मतानुसार वह किसी से गर्भित हो, आखिर उत्प्रेक्षा तो है ही।

किंशुकेत्यादि। विभावसुरग्निररण्यान्या महारण्यस्य दग्धादग्धं दग्धमदग्धं च भागं पश्यतीव। किं कृत्वा। किंशुकव्यपदेशेन किंशुककुसुमव्याजेन सर्वत्र वृक्षमारुह्य। 'महारण्यमरण्यानी' इत्यमरः। 'चित्रभानुर्विभावसुः' इति च। अत्र व्याजपदेन किंशुककुसुमाग्न्योः सादृश्यमभिप्रेतमतः उपमागर्भोत्प्रेक्षेयम् ॥

मतं यथा—

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा।
अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम् ॥११०॥'

अत्र कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुमिन्दुमहं मन्ये इत्यनेन स्वमतद्वारकमुत्प्रेक्षायाः समर्थनं कृतमित्ययं मताभिधानमुत्प्रेक्षाया एव प्रकारः ॥

मत का उदाहरण—

यह जो चन्द्रमा के भीतर मेघखण्ड की शोभा धारण कर रहा है, उसे लोक 'शशक' इस नाम से कहता है, किन्तु मेरे लिये वह वैसा नहीं है। मैं तो यह मानता हूँ कि यह है तो चन्द्रमा ही किन्तु तुम्हारे शत्रुओं की विरह से दबी हुई युवती सुन्दरियों के कटाक्षरूपी उल्कापात से उत्पन्न घाव के चिह्न रूप कलङ्क से उसका शरीर चिह्नित हो गया है ॥ ११० ॥

यहाँ "मैं तो कटाक्षरूपी उल्कापात से हुये घाव के चिह्न रूप कलङ्क से युक्त हो गया है शरीर जिसका ऐसा चन्द्रमा को मानता हूँ" इससे अपने मत के द्वारा उत्प्रेक्षा का ही समर्थन किया गया है। इस प्रकार यह मत नाम का अलंकार उत्प्रेक्षा का ही एक प्रकार है।

स्व० भा०—यहाँ अपना मत व्यक्त करने का प्रसंग होने से अन्य किसी आलंकारिक ने मतालंकार माना होगा, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि अपने मत का समर्थन करने से परिकल्पना का ही भाव उदित होता है और इस प्रकार यहाँ भी उत्प्रेक्षा ही होती है।

यदेतदित्यादि। यदेतच्चन्द्रस्यान्तर्मध्ये मेघकणविलासं कुरुते लोकस्तच्छशक इत्याचष्टे वदति। मां प्रति तथा नैतत्। अहं पुनरिन्दुं मन्ये। कीदृशम्। त्वदीयशत्रुविरहग्रस्ताया युवत्याः कटाक्ष एवोल्कापातस्तस्य व्रणकिण एव कलङ्कस्तेनाङ्किता तनुः शरीरं यस्य तादृशम्। 'लवलेशकणाणवः' इत्यमरः। 'अमानोनाश्च प्रतिषेधवचनाः' इति

-च। अत्र निजमतोपन्यासादुत्प्रेक्षासमर्थनमिति मतोत्प्रेक्षेयम् ॥ इत्युत्प्रेक्षालंकारनिरूपणम्।

अप्रस्तुतप्रशंसालंकारनिरूपणम्।

अप्रस्तुतस्तुतिलक्षणमाह—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादस्तोतव्यस्य या स्तुतिः।
कुतोऽपि हेतोर्वाच्या च प्रत्येतव्या च सोच्यते ॥५२॥
सा तु धर्मार्थकामानां प्रायोऽन्यतमबाधया।
स्वाभिप्रायप्रसिद्ध्या च जायमानेह दृश्यते ॥ ५३ ॥

(९) अप्रस्तुत प्रशंसालंकार

किसी भी कारण से जो अस्तोतव्य की स्तुति है वह अप्रस्तुतप्रशंसा है। वह वाच्या तथा प्रत्येतव्या दो प्रकार की कही जाती है। यह अपने अभिप्राय की सिद्धि के कारण अधिकतर धर्म, अर्थ तथा काम में से एक की बाधा से उत्पन्न देखी जाती है ॥ ५२-५३ ॥

स्व० भा०—भामह ने अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण इस प्रकार दिया था—

अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैवं कथ्यते यथा ॥ काव्यालंकार ३।२९॥

इसी प्रकार का भाव दण्डी के भी लक्षण में है—

अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या स्तुतिः ॥ काव्यादर्श २।३४०॥

यहाँ स्तुति शब्द का अर्थ प्रशंसा से लेकर सामान्य उक्ति तक है।

अप्रस्तुतेति। अस्तोतव्यस्य निन्दितस्य कुतोऽपि कारणात्स्तुतिः प्रशंसा अप्रस्तुतस्तुतिः अत एव समासोक्तेर्भेदः। तत्र ह्युपमानोपमेयता, अत्र तु निन्दितमर्थान्तरम्, अन्यस्य स्तुतिरिति। सा स्वभिधीयमाना प्रतीयमाना चेत्याह—वाच्येति। तत्र हेतुद्वारकमपि विभागमाह—सा त्विति। धर्मश्चार्थश्च कामश्च तेषामन्यतमस्य प्रायो बाहुल्येन बाधया सर्वत्र स्वाभिप्रायस्य प्रकृष्टसिद्ध्या सोत्पद्यमाना प्रतीयत इत्यर्थः ॥

तासु धर्मबाधया वाच्या तथा—

'मेदच्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्साहयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥ १११ ॥'

अत्र यथोक्तैर्हेतुभिः स्वाभिप्रायसाधनेन यदिदमीदृग्विनोदः कुत इति साक्षात्मृगयाभिनन्दनं सेय वाच्या नामाप्रस्तुतस्तुतिः 'अहिंसा परमो धर्मः' इति धर्मं बाधते।

इनमें से धर्म की बाधा के साथ वाच्या का उदाहरण—

मेदा के छटने से उदर में कृशता आ जाती है और शरीर हल्का तथा उत्साह के योग्य बनता है। भय तथा क्रोध में हिंस्र पशुओं का विकृत मनोभाव भी देखने को मिलता है। यही तो धनुर्धरों की महत्ता है कि मृगया में चलते हुये लक्ष्य पर बाण सफलतापूर्वक लगते हैं। लोग

आखेट को झूठे ही अकर्त्तव्य समझते हैं। भला इसके जैसा मनोरंजन कहाँ ? ॥ १११ ॥

यहाँ कही गयी रीति के अनुसार अपना अभिप्राय सिद्ध होने से जो यह 'ईदृग् विनोदः कुतः" यह कह कर प्रत्यक्ष ही आखेट का स्वागत किया गया है, वह यहाँ वाच्या नाम की अप्रस्तुत की स्तुति 'अहिंसा परम धर्म है' इस धर्म का बाध करती है।

स्व० भा०—यहाँ अमात्य दुष्यन्त के सामने मृगया का गुणवर्णन कर रहा है। मृगया में हिंसा होती है, अतः इसमें धर्म की बाधा निरूपित है, जब कि अहिंसा ही परमधर्म कहा जाता है। शब्दतः वाचन होने से यह वाच्या है।

मेद इत्यादि। सन्तो मृगयामाखेटकं व्यसनमकर्तव्यं वदन्ति यत्तन्मिथ्या। ईदृग्विनोद उत्साहः कुतः कुत्र। किन्तु न कुत्रापि। हि यतो वपुर्लघु भवति निन्दितमिव भवति। कीदृशम्। मेदसो बलस्य छेदेन सञ्चलनेन कृशमुदरं यत्र। मेदसां स्थित्या स्थौल्यं भवति। कृशोदरतयैवोत्साहयोग्यम्। अत एव तुन्दिलेष्वनुत्साहः। सत्त्वानां प्राणिनां भयक्रोधयोर्विकारयोगि चित्तमपि लक्ष्यते। भये चित्तमीदृक्, क्रोधे चेदृगिति। स च धन्विनां धनुर्धराणामुत्कर्षो यदिषवश्चले लक्ष्ये सिध्यन्ति च भेदका भवन्ति। 'मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः। अत्रोक्तहेतुद्वारा निजाभिप्रायस्य सिद्ध्या मृगयाभिनन्दनं धर्मबाधनयाभिधीयमानमत इयमप्रस्तुतस्तुतिः॥ धर्मबाधनामाह—अहिंसेति। मृगया हिंसाजनिका। अतो धर्मबाधात्रेत्यर्थः॥

धर्मबाधयैव प्रत्येतव्या यथा—

'कालक्खरदुस्सिक्खिअ बालअ रे लग्ग मज्झ कण्ठम्मि।
दोण्ह वि णरअणिवासो समअं जइ होइ ता होउ ॥ ११२ ॥'

[कालाक्षरदुःशिक्षित बालक रे लग मम कण्ठे।
द्वयोरपि नरकनिवासः समकं यदि भवति तद्भवतु ॥]

अत्र कालाक्षरदुःशिक्षितेत्यनेन लिपिज्ञानादिभिरधीतधर्मशास्त्राभिमतरूपकपोगण्डः कोऽपि कयाप्यविनयवत्या सोपालम्भमेहि रे कण्ठे लगेत्यभियुज्यते। तत्र ते मतमेवं कृते यदि नरकः स्यात्, स यद्यावयोः सहैव, नासौ नरक इति, किं तर्हि स्वर्ग इति। सोऽयं स्वाभिप्रायसाधनान्महासाहसे नियोगस्तस्येह साक्षादस्तुतस्यास्तोतव्यस्य स्तुतिः प्रतीयते। सेयं प्रत्येतव्या नामाप्रस्तुतप्रशंसा। 'परस्य दारान्मनसापि नेच्छेत्' इति धर्मं बाधते॥

धर्म की ही बाधा से प्रत्येतव्या का उदाहरण—

अरे काले अक्षरों को दुष्ट रूप से पढ़ाये गये छोकरे, मेरे गले लग। इससे हम दोनों को समान रूप से यदि नरक की प्राप्ति हो, तो होती रहे॥ ११२ ॥

यहाँ 'कालाक्षरदुःशिक्षित' इस पद से लिपि ज्ञान आदि के द्वारा धर्मशास्त्र पढ़े हुये अभीष्ट सौन्दर्ययुक्त षोडश वर्षीय बालक को कोई विनम्रता से रहित वेश्या उपालम्भ के साथ "आ रे छोकरे गले लग" इस प्रकार से पुकारती हैं। वहाँ "जो तुम्हारा यह मत है कि इस प्रकार करने से यदि नरक होगा, और वह यदि हम दोनों को साथ ही साथ होगा तो वह नरक नहीं होगा, "तब वह क्या होगा ?" "स्वर्ग" होगा। अतः यह अपना अभिप्राय सिद्ध करने से महान् साहस—रतिरूप अपराध—में नियुक्ति है उस प्रत्यक्ष रूप से यहाँ स्तुत न हो रहे अथवा स्तुति के अयोग्य की स्तुति प्रतीत हो रही है। अतः वह उक्त लक्षणों वाली प्रत्येतव्या नाम की

अप्रस्तुतप्रशंसा है जिससे "दूसरे की पत्नियों की मन से भी इच्छा न करनी चाहिये" इस धर्म का बाध होता है।

स्व० भा०—यहाँ किसी वेश्या के द्वारा कोई कुमार आलिंगन के लिये आमन्त्रित किया जाता है। वह कहता है कि धार्मिक विधानों के अनुसार ऐसा करने से नरक होगा। फिर वह कहती है कि चूँकि दोनों ही समान रूप से पाप के भागी होने से एक साथ नरक जायेंगे, अतः साथ-साथ रहने से हमारे लिये नरक भी स्वर्ग होगा। यहाँ स्तुति अथवा प्रशंसा के अयोग्य है नरक, वह किसी को अभीष्ट नहीं, किन्तु उसके भी प्रति इच्छा प्रकट करके, उसे भी स्वर्ग सा मानकर उसकी प्रशंसा ही की गई है। अतः इस संदर्भ में अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होगा।

कालाक्खरेत्यादि। 'कालाक्षरदुःशिक्षित बालक रे लग मम कण्ठे। द्वयोरपि नरकनिवासः समको यदि भवति तदा भवतु॥' इह रे कालाक्षरेषु दुःशिक्षित दुरुपदेश बालक षोडशवर्षवयस्क, मम कण्ठे लग मामालिङ्गयेत्यर्थः। द्वयोरावयोस्तथा सति नरकनिवासः समकस्तुल्यो यदि भवति तदा भवतु। तत्राप्यावयोः समान एवेति नरकोऽपि स्वर्गः। कालाक्षरेति लौकिकी संज्ञा। रे इति नीचसंबोधनम्। 'बाल आषोडशाद्वर्षात्' इति मनुः। समक इति स्वार्थे कन्। पोगण्डो व्यवहारानभिज्ञः। पोगण्डस्तु ततःपरम्।' 'परतो व्यवहारज्ञः' इति मनुः। अधीतेति। अधीतं धर्मशास्त्रं मन्वादिस्मृतिर्येन सः। अभिमतमाकाङ्क्षितं रूपं सौन्दर्यं यस्य सः। तादृशश्चासौ पोगण्डश्चेति कर्मधारयः। रूपक इत्यत्र 'शेषाद्विभाषा ५।४।१५४' इति कप्। अविनयवती वेश्या। अत्र निजाभिप्रायसिद्धया महासाहसे सुरतरूपे नियोगस्य साक्षादनभिधानात्प्रतीयमाने वा प्रस्तुतस्तुतिः। धर्मबाधामाह—परस्येति। दारान् पत्नीम्॥

अर्थबाधया वाच्या यथा—

'पङ्गो वन्द्यस्त्वमसि न गृहं यासि योऽर्थी परेषां
धन्योऽन्ध त्वं धनमदवतां नेक्षसे यन्मुखानि।
श्लाघ्यो मूक त्वमपि कृपणं स्तौषि नार्थाशया यः
स्तोतव्यस्त्वं बधिर न गिरं यः खलानां शृणोषि॥११३॥'

अत्र स्तोतव्यानां षङ्ग्वन्धमूकबधिराणां वन्द्यधन्यश्लाघ्यस्तोतव्यपदैः साक्षादभिनन्दनादियं वाच्या नामाप्रस्तुतप्रशंसाभिमानिनोऽर्थसिद्धिं बाधते॥

अर्थ की बाधा से वाच्या का उदाहरण—

हे लंगड़े महाशय, तुम वन्दना के पात्र हो, क्योंकि तुम धन की कामना से दूसरे के घर नहीं जाते। हे अन्धे, तुम धन्य हो, क्योंकि तुम धन के गर्व से युक्त लोगों का मुँह नहीं देखते। अरे मूक, तुम भी प्रशंसनीय हो, क्योंकि धन की इच्छा से तुम कंजूसों की वन्दना नहीं करते। हे बधिर, तुम भी स्तुत्य हो, जो कि दुष्टों के शब्दों को सुनते नहीं॥ ११३॥

यहाँ स्तोतव्य पंगु, अन्ध, मूक तथा बधिर का वन्द्य, धन्य, श्लाघ्य, स्तोतव्य पदों से साक्षात् स्वागत करने से यह वाच्या नाम की अप्रस्तुतप्रशंसा है जो अभिमानियों के अर्थ की सिद्धि का बाध करती है।

पङ्गो इत्यादि। हे पङ्गो खञ्ज, त्वं वन्द्योऽसि, यस्त्वमर्थी सन् परेषां गृहं न यासि। हे अन्ध दृष्टिशून्य, त्वं धन्यः, यद्धनगर्ववतां मुखानि त्वं नेक्षसे न पश्यसि। हे मूक, त्वं

श्लाघ्योऽसि, यस्त्वं कृपणं जनमर्थाशया न स्तौषि । हे बधिर श्रवणशून्य, त्वं स्तोतव्योऽसि यस्त्वं खलानां दुर्जनानां गिरं वाणी न शृणोषि । 'पङ्गुः खञ्ज इति स्मृतः' इति हारावली । 'अवाचि मूकः' इत्यमरः । अत्र पङ्गत्वादीनां वन्द्यादिपदैः साक्षादभिनन्दनादभिधीयमानता । अर्थबाधामाह—अमोति । अनेन मानिनामर्थसिद्धिबाध एवोक्तः ॥

अर्थबाधयैव प्रत्येतव्या यथा—

'कामं वनेषु हरिणास्तृणानि खादन्त्ययत्नसुलभानि ।
विदधति धनिषु न दैन्यं ते किल पशवो वयं सुधियः ॥११४॥'

अत्र ते किल पशवो वयं सुधिय इति मृगाणामसाक्षादभिनन्दनं तेनेयमस्तोतव्यानाममीषां वाक्यार्थत्वेन स्तुतिप्रतीतेः प्रत्येतव्या नामाप्रस्तुतप्रशंसा मनस्विनोऽर्थसिद्धिं बाधते ।

अर्थ की बाधा द्वारा ही प्रत्येतव्या का उदाहरण—

वन में मृगगण स्वेच्छानुसार विना प्रयत्न के ही प्राप्त होने वाले तृणों को जी भर कर खाते हैं तथा धनवानों के समक्ष दीनता नहीं प्रदर्शित करते । फिर भी वे पशु कहे जाते हैं और हम लोग बुद्धिमान् मनुष्य ॥ ११४ ॥

यहाँ 'ते किल पशवो वयं सुधियः' इस उक्ति से मृगों का परोक्ष में अभिनन्दन किया गया है। इससे यह इन अस्तोतव्यों की वाक्यार्थ के रूप में स्तुति प्रतीत होने से प्रत्येतव्या नाम की अप्रस्तुतप्रशंसा है, जो मनस्वी के अर्थलाभ का बाध करती है ।

स्व० भा०—यहाँ शब्दतः स्पष्ट अभिधान नहीं किया गया है कि वे मृग धन्य हैं, उनको पशु कहना अनुचित है । ये भाव केवल प्रतीत होते हैं ।

कामभित्यादि । हरिणा वनेष्वप्रयत्नतः सुलभेन काममत्यर्थं जीवन्ति । धनिषु धनिकेषु दैन्यं न विदधति न कुर्वन्ति । तथापि ते हरिणाः पशवो वयं पुनः सुधियः पण्डिताः । किल प्रसिद्धौ निश्चये वा । 'अत्यर्थेऽनुमतौ कामम्' इति विश्वः । अत्र मृगाणां न साक्षादभिनन्दनम्, किन्तु तत्प्रतीयत इतीयं प्रत्येतव्या । अत्राप्यर्थबाधा मनस्विन एव ॥

कामबाधया वाच्या यथा—

'ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति ण होन्ति विरहकिसिआओ ।
धण्णाओ ताओ जाणं बहुवल्लह वल्लहो ण तुमम् ॥११५॥'

[न मुञ्चन्ति दीर्घश्वासं न रुदन्ति न भवन्ति विरहकृशाः ।
धन्यास्ता यासां बहुवल्लभ वल्लभो न त्वम् ॥]

अत्र धन्यास्ता यासां त्वं न बल्लभ इति येयमतिरक्तायाः साक्षादस्तोतव्यस्तुतिः सेयं वाच्या नामाप्रस्तुतप्रशंसा तस्या एव कामसिद्धिं बाधते ।

काम की बाधा से वाच्या का उदाहरण—

हे बहुतों के प्रिय, वे सुन्दरियाँ धन्य हैं जिनके तुम प्रिय नहीं हो । इससे वे विरह के कारण लम्बी साँस नहीं छोड़ती, दुःख से रोती नहीं, और विरह के कारण दुबली नहीं होती ॥ ११५ ॥

यहाँ वे धन्य हैं जिनके तुम वल्लभ नहीं हो इस प्रकार की जो यह प्रत्यक्ष रूप से अत्यन्त

प्रेम करने वाली अरतोतव्य की स्तुति है वह यह वाच्या नाम की अप्रस्तुतप्रशंसा है जो उसकी ही काम की सिद्धि को बाधित करती है।

स्व० भा०—यहाँ वाच्यता 'धन्या' पद से स्पष्ट है।

णेत्यादि। 'न मुञ्चन्ति दीर्घश्वासं न रुदन्ति न भवन्ति विरहकृशाः। धन्यास्ता यासां बहुवल्लभ वल्लभो न त्वम् ॥' नायिकां नायकविशेषवर्तीं दृष्ट्वा तत्सखी नायकमुपगम्य तस्या अनुरागं दशां चाह—न मुञ्चतीति। हे बहुवल्लभ, सा नायिका धन्या दीर्घश्वासं विरहजं न त्यजन्ति, न रुदन्ति, विरहकृशाश्च न भवन्ति। यासां त्वं वल्लभो नासि। अत्र धन्या इत्यादिना अनुरागिण्याः साक्षात्स्तुतिरभिहिता तस्या एव कामसिद्धिबाधिका ॥

कामबाधयैव प्रत्येतव्या यथा—

'सुहउच्छअं जणं दुल्लहं वि दूराहि अम्ह आणन्त।
उअआरअ जर जीअं वि णेन्त ण कआवराहोसि ॥ ११६ ॥'

[सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरादस्माकमानयन्।
उपकारक ज्वर जीवमपि नयन्न कृतापराधोऽसि ॥]

अत्र पूर्वोक्तास्मदभिप्रायसिद्धयैवंनाम त्वयास्माकमुपकृतं येन जीवितमपि हरन्नापराध्यसीति ज्वरं प्रति यदतिरक्ततया वाक्यं तेनेहास्तोतव्यस्य ज्वरस्य स्तुतिः प्रतीयते, सेयं प्रत्येतव्या नामाप्रस्तुतप्रशंसा तस्या एव शरीरबाधया सर्वानपि कामान् बाधते ॥

कामबाधा से ही प्रत्येतव्या का उदाहरण—

हे ज्वर, तुम मेरे बड़े उपकारक हो, क्योंकि मेरे अलभ्य तथा सुख का हाल पूँछने वाले व्यक्ति को दूर से ला दिया है। इस प्रकार मेरे प्राणों को भी ले जाते हुए तुम अपराधी नहीं सिद्ध होगे ॥ ११६ ॥

यहाँ हमारे पूर्वकथित अभिप्राय की सिद्धि होने से तुमने मेरा इतना बड़ा उपकार किया कि जीवन का भी हरण करने पर भी तुम अपराधी नहीं होंगे, इस प्रकार से ज्वर के प्रति जो अति प्रेम से कथन है उससे यहाँ अस्तोतव्य ज्वर की स्तुति प्रतीत होती है। अतः यह पूर्व लक्षणों से युक्त प्रत्येतव्या नाम की अप्रस्तुतप्रशंसा है जो उसके शरीर की बाधा करने से सभी कामों का बाध कर देती है।

स्व० भा०—यहाँ काम बाधा इसलिये है क्योंकि यदि शरीर की ही समाप्ति हो गई और ज्वर जीवन को ही लेकर चला गया तो सभी काम यहीं रखे रह जायेंगे।

सुहेत्यादि। "सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरान्ममानयमान। उपकारक ज्वर जीवमपि गृह्णन्न कृतापराधोऽसि ॥": काचिदत्यनुरागिणी नायकमन्यानुरक्तमपि वार्ताकरणायातं दोषगर्भमाह—सुखेति। हे ज्वर, सुखपृच्छकं तवाङ्गे सुखमधुनेति प्रश्नकारकं जनं दुर्लभमपि मम कृते दूरदेशादानयमान प्रापक, अत एवोपकारक, जीवमपि गृह्णन् त्वं न कृतापराधोऽसि। सुखं सुष्ठु पृच्छति सुखपृच्छकः। 'क्रियासमभिहारे वुन्' इति योगविभागाद् वुन्। अत्र सुखपृच्छकेत्यादिना स्वाभिप्रायसिद्धयानुरक्ताया ज्वरं प्रति वाक्यम्। तेनाप्रस्तुतस्तुतिर्जायते न त्वभिधीयत इति। कामबाधामाह—शरीरेति। इत्यप्रस्तुतप्रशंसालंकारनिरूपणम्।

(१०) तुल्ययोगितालंकारनिरूपणम् ।

तुल्ययोगितालक्षणमाह—

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत्समीकृत्य कस्यचित् ।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता तुल्ययोगिता ॥ ५४ ॥

विवक्षितेति । विवक्षितो वक्तुमिष्टो यो गुणस्तेनोत्कृष्टा अधिका ये तैः सह स्तुत्यर्थं निन्दार्थं वा कस्यचित्स्तुत्यस्य निन्द्यस्य वा तेन गुणेन तस्य यत्समीकृत्य कीर्तनमभिधानं सा तुल्ययोगिता । गुणोऽत्र धर्मः साधुरसाधुर्वा । अत एव स्तुतिर्वा निन्दा वा स्यात् ।

सा अभिधीयमानतुल्यगुणत्वेन स्तुत्यर्था यथा—

'शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः ।
इमां लङ्घितमर्यादां चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ॥ ११७ ॥'

अत्राभिधीयमानमहत्त्वादिगुणोत्कृष्टाभ्यां शेषाहितुषारशैलाभ्यां सह स्तुत्यर्थं तुल्ययोगेन क्षितिपतेरभिहितत्वादियं स्तुत्यर्था तुल्ययोगिता ॥

(१०) तुल्ययोगिता अलंकार

अभीष्ट गुण के कारण उत्कृष्ट वस्तु के साथ समानता दिखला कर स्तुति अथवा निन्दा के लिये किसी का अभिधान किया जाता है, वहाँ तुल्ययोगिता मानी जाती है ॥ ५४ ॥

स्व० भा०—भोजराज ने यह लक्षण शब्दशः दण्डी के काव्यादर्श से लिया है । (द्रष्टव्य काव्यादर्श २।३३०) । वामन की भी परिभाषा इनसे साम्य रखती है । 'गुणोत्कृष्टैः' पद में जो बहुवचन का प्रयोग है उसका अभिप्राय यह नहीं है कि वहाँ गुण कई हैं तभी तुल्ययोगिता होगी ।

अभिधीयमान समानगुण के कारण स्तुत्यर्था तुल्ययोगिता का उदाहरण—

शेषनाग, हिमालयपर्वत तथा तुम ये ही तीन तो महान्, गुरु तथा स्थिर हैं जो कि इस मर्यादा का उल्लंघन करने वाली चञ्चल पृथ्वी को धारण किये रहते हैं ॥ ११७ ॥

यहाँ अभिधीयमान महत्त्व आदि गुणों से उत्कृष्ट शेषनाग तथा हिमालय पर्वत इन दोनों के साथ स्तुति के अर्थ में समानयोग के द्वारा क्षितिपति का भी कथन होने से यह स्तुत्यर्था तुल्ययोगिता है ।

स्व० भा०—महत्त्व, गुरुत्व तथा स्थिरत्वगुण शेष और हिमालय में विशेष थे किन्तु इन्हीं के साथ राजा का भी क्षितिपति होने से योग कर दिया गया ।

शेष इत्यादि । शेषः सर्पभेदो हिमालयस्त्वं च सर्वे यूयमिमां क्षितिं बिभृथ धारयथ । कीदृशाः । महान्तो महत्त्ववन्तः गुरवो गुरुत्वाश्रयाः स्थिराः स्थैर्यवन्तश्च । कीदृशीम् । लङ्घितातिक्रान्ता मर्यादा यया तामत एव चलन्तीमितस्ततो गामिनीं च । अत्र महत्त्वादिकमभिहितम् । भूपस्य च शेषहिमाद्रिभ्यां तुल्यताख्यापनेनोत्कृष्टसाम्यकथनात्स्तुतियोगः ॥

अभिधीयमानतुल्यगुणत्व एव निन्दार्था यथा—

'संगतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितान्यपि ।
क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम् ॥ ११८ ॥'

अत्र घनारब्धान्यपीत्यादिभिरभिधीयमानतुल्यगुणानां मृगाक्षीसंगतानां तडिद्विलसितानां च निन्दार्थं तुल्ययोगेनाभिधानादियं निन्दार्था तुल्ययोगिता ॥

समान गुण के अभिहित होने पर ही निन्दार्था का उदाहरण—

स्वयं ही निरन्तर आरम्भ किये जाने पर भी मृगनयनियों के संगम तथा मेघों से आरब्ध होने पर भी बिजली की चमक क्षण के लिये भी नहीं ठहरतीं ॥ ११८ ॥

यहाँ 'घनारब्धान्यपि' इत्यादि पदों के द्वारा कहे जा रहे समान गुणवाले मृगाक्षी की संगति तथा विद्युत् की चमक का विकास के लिये समानयोग करके अभिधान होने से यह निन्दार्था तुल्ययोगिता है।

स्व० भा०—यहाँ 'घनारब्ध' पद विद्युत् की ओर भी समान रूप से वैसे ही लगता है जैसे स्त्रीसंगति के साथ। इनके स्थिर न रह पाने रूप दुर्गुण का वर्णन होने से यह एक निन्दा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

संगतानीत्यादि। मृगाक्षीणां संगतानि संगमाः स्वयं घनं निरन्तरमारब्धान्यपि कृतान्यपि, तथा तडितां विद्युतां विलसितानि च घनैर्मेघैरारब्धान्यपि क्षणद्वयमारम्भ-क्षणादूर्ध्वमपरमपि क्षणं न तिष्ठन्ति, कुतो दीर्घकालम्। अत्र प्रसिद्धचापलया विद्युता स्त्रीणां संगमस्य चपलता समीकृत्योच्यत इति निन्दातुल्ययोगितेयम् ॥

प्रतीयमानतुल्यगुणत्वे स्तुत्यर्था यथा—

'यमः कुबेरो वरुणः सहस्राक्षो भवानपि।
बिभ्रत्यनन्यविषयां लोकपाल इति श्रुतिम् ॥ ११९ ॥'

अत्र यमादयः पञ्च भवन्तो लोकपाला इत्युक्तमपि तुल्यवस्तुयोगितयैव स्तुत्यर्थमेषां मिथः सादृश्यं प्रतीयते, सेयं प्रतीयमानतुल्यगुणत्वे स्तुत्यर्था तुल्ययोगिता ॥

समान गुण के प्रतीत होने पर स्तुत्यर्था का उदाहरण—

यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र तथा आप ही अनन्यविषय 'लोकपाल' नाम को धारण करते हैं ॥ ११९ ॥

यहाँ पर यम आदि पाँच आप लोग लोकपाल हैं यह उक्त न होने पर भी समान वस्तु का योग होने से ही स्तुति के लिये इनका परस्पर सादृश्य प्रतीत होता है। यहाँ समानगुण के प्रतीत होने से यह स्तुत्यर्था तुल्ययोगिता है।

स्व० भा०—यहाँ उत्कृष्ट गुण आदि के साथ तुलना करने से राजा के सम्मान में वृद्धि हुई, अतः यह श्लोक स्तुत्यर्थक है।

यम इत्यादि। यमादयो भवन्तोऽनन्यविषयामनन्यगामिनीं लोकपाल इत्यनेनाकारेण श्रुतिं ख्यातिं बिभ्रति धारयन्ति। सहस्राक्ष इन्द्रः। 'श्रुतिः ख्यातौ च वेदे च' इति विश्वः। अत्र चत्वारो यमादयो लोकपालाः, इदानीं भवान् पञ्चमो लोकपालशब्दवाच्य इति यमादिसमानताख्यापनेनोत्कृष्टसाम्यकथनाद्राज्ञः स्तुतिः। सा तु प्रतीयमानतुल्यगुणेनैव ॥

प्रतीयमानतुल्यगुणत्व एव निन्दार्था यथा—

'राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपभुञ्जते।
रमन्ते च परस्त्रीभिर्विषमाः खलु मानवाः ॥ १२० ॥'

अत्र योऽयं सेवादिर्मानवानां राजविषये स्त्रीषु च वैषम्यहेतुतुल्यत्वेन योगो राजादीनां वा कर्मादितुल्यतया तत्क्रियायां समावेशः सोऽमीषां मिथः सादृश्यं

प्रत्याययन् राजसेवापरस्त्रीरत्योर्विषोपभोगतुल्यतां गमयतीति सेयं प्रतीयमान-तुल्यगुणत्वे निन्दार्था तुल्ययोगिता ॥

तुल्य गुण के प्रतीयमान होने पर ही निन्दार्था का उदाहरण—

राजा की भी सेवा करते हैं, विष का भी भोग करते हैं और दूसरों की स्त्रियों के साथ रमण भी करते हैं । निश्चित ही मनुष्य बड़े साहसी होते हैं ॥ १२० ॥

यहाँ जो यह मनुष्यों की सेवा आदि का राजा तथा स्त्री के विषय में विषमता रूपी कारण के तुल्य होने से योग हैं अथवा राजा आदि का कर्म आदि की तुल्यता से उसकी क्रिया में समावेश है वह इनका परस्पर प्रतीत कराता हुआ राजसेवा तथा परस्त्री रति इन दोनों विष के उपभोग की तुल्यता को प्रतीत कराता है। अतः सामानगुण के प्रतीत होने से यह निन्दार्था तुल्ययोगिता है ।

स्व० भा०—यहाँ राजसेवा तथा परस्त्रीरति इन दोनों को विष के तुल्य प्रतीत कराया गया है । अतः समानता के योग से तुल्ययोगिता हुई । इसके अतिरिक्त सेवन, उपभोग तथा रमण इन तीनों क्रियाओं में विषमता नाम की तुल्यता विद्यमान है, इसलिये भी तुल्यतायोग होने से यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार हैं ।

राजानमित्यादि । भूपमपि सेवन्ते, विषमप्युपभुञ्जते खादन्ति, अन्यस्त्रीभिः सह रमन्ते विलसन्ति । अतो मनुष्या विषमाः साहसिकाः । खलु हेतौ । अत्र विषमतायां वा तुल्ययोगस्तत्क्रियाविषयतया वा राजसेवापरस्त्रीरत्योर्विषोपभोगतुल्यतां बोधयति, स च प्रतीयमान एव ॥

मतान्तरेण तुल्ययोगितामाह—

अन्ये सुखनिमित्ते च दुःखहेतौ च वस्तुनि ।
स्तुतिनिन्दार्थमेवाहुस्तुल्यत्वे तुल्ययोगिताम् ॥ ५५ ॥

दूसरे लोगों ने सुख के निमित्त तथा दुःख के कारण रूप वस्तु की स्तुति तथा निन्दा का साम्य होने पर तुल्ययोगिता कहा है ॥ ५५ ॥

स्व० भा०—भोज ने तुल्ययोगिता की यह दूसरी ही परिभाषा उपस्थित कर दी है। एक अलंकार का एक स्थान पर लक्षण तथा उदाहरण देकर उसी के आगे दूसरे प्रकार का लक्षण तथा उदाहरण देना रुद्रट को बहुत पसन्द था। यह क्रम उनके काव्यालंकार में विशेष रूप से पाया जाता है ।

अन्ये इति । सुखहेतुदुःखहेतुवस्तुनोः स्तुतिनिन्दार्थसाम्ये तुल्ययोगितामन्ये प्राहुः ॥

सा स्तुत्यर्था यथा—

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मयालक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥ १२१ ॥'

अत्र रामस्य राज्याभिषेकवनगमनयोः पितुरादेशेन तुल्यरूपतया स्तुतिः प्रतीयते ॥

वही जब स्तुत्यर्थक होती है, उसका उदाहरण—

अभिषेक के लिये बुलाये जाने पर तथा वन के लिये भेजे जाने पर मैंने उस राम के आकार में थोड़ा भी विकार नहीं देखा ॥ १२१ ॥

यहाँ राम के राज्याभिषेक तथा वनगमन दोनों में पिता की आज्ञा से समानता होने के कारण स्तुति प्रतीत होती है ।

आहूतस्येत्यादि। अभिषेकाय राज्याभिषेकायाहूतस्य कृताह्वानस्य, वनाय वनं गन्तुं विसृष्टस्य च तस्य रामस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम आकारान्यथात्वं मया न लक्षितम्। 'अन्यथात्वेऽपि विभ्रमः' इति धरणिः। अत्र राज्याभिषेकः सुखहेतुः, वनगमनं दुःखहेतुः, तयोः पितृभक्त्या तुल्यत्वेन स्तुतित्वम्॥

निन्दार्था यथा—

'यश्च निम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा।
यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यां सर्वस्य कटुरेव सः॥ १२२॥'

अत्र यः परशुना छिनत्ति, योऽमुं मधुसर्पिषा सिञ्चति, यो वा गन्धमाल्याभ्यामर्चति तं प्रति तुल्यमेव निम्बस्य कटुत्वमिति समासोक्त्या तदुपमेयस्य निन्दा प्रतीयते॥

निन्दार्था का उदाहरण—

जो नीम को कुल्हाड़ी से काटता है, जो इसे घी तथा शहद से सींचता है और जो इसको गन्ध माल्य से पूजता है यह सबके लिये कड़ुआ ही रहता है॥ १२२॥

यहाँ जो परशु से काटता है, जो इसे शहद तथा घी से सींचता है, अथवा जो गन्ध तथा माल्य से पूजता है उसके प्रति सामान ही नीमवृक्ष की कटुता है, इस प्रकार समासोक्ति के द्वारा उस उपमेय की निन्दा ही प्रतीत होती है।

स्व० भा०—यहाँ समासोक्ति का अर्थ है समान रूप से संक्षेप में समस्त होकर पड़ा रहना।

यश्चेत्यादि। यो निम्बवृक्षं परशुना, कुठारेण छिनत्ति, यश्चैनं निम्बं मधुसर्पिषा मधुसहितेन घृतेन सिञ्चति, यश्चैनं गन्धमाल्याभ्यामर्चति सर्वस्य कृते स निम्बः कटुरेव तिक्त एव। 'पुष्पपुष्पस्रजोर्माल्यम्' इत्यमरः। अत्र समासोक्त्या समसनेन। साम्यापादनेनेति यावत्। उपमेयनिन्दाज्ञानम्॥ इति तुल्ययोगितालंकारनिरूपणम्॥

(११) लेशालंकारनिरूपणम्।

लेशलक्षणमाह—

दोषस्य यो गुणीभावो दोषीभावो गुणस्य यः।
स लेशः स्यात्ततो नान्या व्याजस्तुतिरपीष्यते॥ ५६॥

(११) लेशालंकार

दोष का जो गुण हो जाना है तथा गुण का जो दोष हो जाना है, वह लेश अलंकार है। उसके पृथक् रूप में व्याजस्तुति भी अभीष्ट नहीं है॥ ५६॥

स्व० भा०—भोजराज लेश में ही व्याजस्तुति का भी अन्तर्भाव किये दे रहे हैं। भामह के अनुसार प्रस्तुत की निन्दा करके अप्रस्तुत की प्रशंसा करना व्याजस्तुति है—

दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किञ्चिद्विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा॥ काव्यालंकार॥३।३१॥

तथा दण्डी के अनुसार—

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता।
दोषाभासा गुणा एवं लभन्ते ह्यत्र सन्निधिम्॥ काव्यादर्श॥२।३४३॥

इस व्याजस्तुति को भोज ने लेश के समान ही माना है। यद्यपि भामह ने लेश को अलङ्कार ही नहीं माना था, और कारण बतलाया था कि—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यभिधानतः॥ काव्यालंकार २।८६॥

तथापि दण्डी ने लेश की परिभाषा दी है—

लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्।
उदाहरण एवास्य रूपमाविर्भविष्यति॥ काव्यादर्श २।२६५॥

इनकी इस उक्ति के साथ तो नहीं किन्तु—

लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम्॥ वही २।२६८॥

से भोज की परिभाषा का साम्य है। रुद्रट द्वारा दिया गया लेश का लक्षण तो भोज के लेश के अत्यन्त निकट है—

दोषीभावो यस्मिन् गुणस्य दोषस्य वा गुणीभावः।
अभिधीयते तथाविधकर्मनिमित्तः स लेशः स्यात्॥ काव्यालंकार॥७।१००॥

दोषस्येति। दोषस्य गुणत्वम्, गुणस्य च दोषत्वं यत्तदेव लेशलक्षणम्। तर्हि व्याजस्तुतावप्येवम्। तथा चातिव्याप्तिः। अत उक्तम्—तत इति। ततो लेशाद् व्याजस्तुतिरभिन्नैवेति। नातिव्याप्तिरित्यर्थः॥

तत्र दोषस्य गुणीभावो लेशो यथा—

'युवैष गुणवान्राजा योग्यस्ते पतिरूर्जितः।
रणोत्सवे मनः सक्तं यस्य कामोत्सवादपि॥ १२३॥'

अत्र येयमुत्तरार्धेन राज्ञो वीर्यप्रकर्षस्य स्तुतिः सा कन्याया निरन्तरान्भोगान् निर्विविक्षोर्दोषत्वेन प्रतिभासिष्यत इत्यभिप्रेत्य योऽयं विदग्धसख्या राजप्रकोपपरिजिहीर्षया दोषोऽपि गुणरूपेणोक्तः, सोऽयं दोषस्य गुणीभावो नाम लेशतोऽल्पतया शनैरनन्यविदित उच्यमानो लेश इत्युच्यते॥

उनमें दोष के गुण हो जाने पर लेश का उदाहरण—

यह जवान, गुणी, बलवान् राजा तुम्हारा योग्य पति होगा। इसका मन कामोत्सव की अपेक्षा रणोत्सव में अधिक लगा रहता है॥ १२३॥

यहाँ जो यह उत्तरार्ध के द्वारा राजा के पौरुषोत्कर्ष की प्रशंसा है वह निरन्तर भोग की इच्छा वाली राजकन्या के लिये दोष के रूप में प्रतिभासित होगा ऐसे उद्देश्य से जो विदुषी सखी के द्वारा राजा के क्रोध की शान्ति के लिये दोष भी गुणरूप से कहा गया है, अतः यह दोष के गुण होने वाला लेश रूप से—अल्प मात्रा में—धीरे से दूसरे के द्वारा न जाना जाता हुआ भी कहा जा रहा लेश होता है।

स्व० भा०—दण्डी ने इसमें लेशता की सिद्धि इस प्रकार की है—

वीर्योत्कर्षस्तुतिर्निन्दैवास्मिन् भावनिवृत्तये।
कन्यायाः कल्पते भोगान् निर्विविक्षोर्निरन्तरम्॥ काव्यादर्श॥२।२७०॥

युवेत्यादि। स्वयंवरे कस्मिन्नपि नृपे दर्शितभावां सखीं निवर्तयितुं कापि स्तुतिव्याजात्तं निन्दति। युवत्वगुणित्वनृपत्वबलवत्त्वेभ्य एव तव पतिर्योग्यः। यस्य कामोत्सवादपि विषयोत्सवमनादृत्य रणोत्सवे मनः सक्तमासक्तम्। निर्विविक्षोरुपभोक्तुमिच्छोः कन्यायाः। 'निर्वेश उपभोगः स्यात्' इत्यमरः। अत्र विदग्धया सख्या राजकोपशान्तये भोगेच्छुं प्रति वीर्यप्रकर्षरूपस्तवस्य दोषत्वेऽपि गुणत्वेनादरतयोपन्यसनाल्लेशोऽयं दोषस्य गुणीभावलक्षणः। अल्पतयैवात्र लेशता॥

गुणस्य दोषीभावो यथा—

'चपलो निर्दयश्चासौ जनः किं तेन मे सखि ।
आगःप्रमार्जनायैव चाटवो येन शिक्षितः ॥ १२४ ॥'

अत्र पूर्वार्धेन मानपरिग्रहानुगुणं सखीनामग्रतः प्रकाशं प्रतिज्ञाय तदनिर्वाहमाशङ्कमाना तदुपहासं परिजिहीर्षुर्दोषाभासं तद्गुणग्राममाह—आगःप्रमार्जनायैव चाटवो येन शिक्षिता इति, सोऽयं गुणस्य दोषीभावो नाम लेशभेदो भवति । अन्ये पुनः समस्तमेव लेशलक्षणमाचक्षते—यत्र दोषस्य गुणीभावो गुणस्य च दोषीभाव इति । सोऽपि द्विधा—समासोक्त्या, असमासोक्त्या च ॥

गुण के दोषाभाव का उदाहरण—

हे सखि, यह व्यक्ति चञ्चल तथा निर्दय है, इससे मुझे क्या ? मैं तो ऐसा समझती हूँ कि इसने अपराधों को पोंछ डालने के लिये चाटुकारिता ही सीखी है ॥ १२४ ॥

यहाँ पूर्वार्ध में मानग्रहण के अनुकूल, सखियों के आगे स्पष्ट रूप से अपनी बात कह कर, उसके निर्वाह न कर पाने की शङ्का करती हुई, अपने प्रिय के उपहास को दूर करने की इच्छा से दोष प्रतीत हो रहे उसके गुण-समूहों का ही वर्णन करती है ।—कि जिसने अपराध को शान्त करने के लिये ही चाटुकारिता आदि सीखी हैं इत्यादि । इसलिये यह गुण का दोषीभाव नामक लेश का भेद होता है । दूसरे लोग पूरे को ही लेश का लक्षण कहते हैं—जहाँ दोष का गुणीभाव हो और गुण का दोषीभाव हो । वह भी दो प्रकार का है—समासोक्ति के द्वारा तथा असमासोक्ति के द्वारा ।

स्व० भा०—यहाँ किसी ऐसी मानवती का वर्णन है जिनके प्रिय को सखियाँ निर्दय आदि कहती हैं । किन्तु वह जब अपने को मान को पूर्णतः बनाये रखने में असमर्थ पाती है, तब अपने प्रिय की चाटुकारिता नामक गुण को दोष सा कहती हुई उसको इसी का दोषी बतलाती है ।

वस्तुतः चाटुकारिता कोई दोष नहीं है अपितु किसी भी अप्रसन्न व्यक्ति को प्रसन्न करने का साधन है । दण्डी भी इसी रूप में यहाँ लेश मानते हैं—

दोषाभासो गुणः कोऽपि दर्शितश्चाटुकारिता ।
मानं साविजनोद्दिष्टं कर्तुं रागादशक्तया ॥ काव्यादर्श ॥ २।२७२॥

भोज ने ऐसे भी एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार गुण का दोष निरूपण और दोष का गुण निरूपण दोनों ही एक साथ वर्णित हो । यह वर्णन दो प्रकार से होता है—एक तो समासोक्ति अर्थात् छिपा कर कहना तथा दूसरा स्फुट रूप से कहना ।

चपल इति । हे सखि, चपलो निर्भयश्चासौ जनो भवतु तेन मम किम् । किंतु न किमपि । येन जनेनागःप्रमार्जनायापराधप्रोञ्छनाय परं चाटवः प्रियवादाः शिक्षिताः । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । अत्र दोषवदाभासते प्रतिभातीति दोषाभासो न स्वयं परमार्थतो दोषः । चाटुकारिता हि गुणो येन कृतापराधोऽपि मामनुकूलयन्मानभङ्गं करोति । अत एव च तत्रानुरागः । तथा च चपल इत्यादिना सखीजनोद्दिष्टं मानं रागात्कर्तुमशक्ततया बालया चाटुकारिता दोषाभासो गुणः कोऽपि दर्शित इति गुणस्य दोषतात्र । गुणदोषयोर्मिलितयोरेव तत्त्वं लेश इति मतमाह—अन्ये इति । समासोक्तिर्गोपनेन भणनम् , असमासोक्तिः स्फुटभणनम् ॥

तयोः समासोक्त्या यथा—

'गुणानामेव दौरात्म्याद्धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गलिः॥ १२५॥

अयमपि प्रकोपभयाल्लेशेनैवोच्यत इति लेशः॥

इन दोनों में समासोक्ति के द्वारा लेश का उदाहरण—

गुणों के दोष के कारण ही धुरन्धर बैल जुये में जोता जाता है। जब कि जिसके कंधे पर घाव नहीं हुआ है, वह गलि—कूबर बैल—आराम से सोता हैं॥ १२५॥

यहाँ रोष तथा भय से संक्षेप में गुण तथा दोष का कथन होने से लेश है।

स्व० भा०—यहाँ गुणशाली के निरन्तर भार वहन रूप गुण तथा काहिल के शयन रूप दोष का निरूपण है। गुण तथा दोष दोनों का संक्षेप में कथन हो जाने से यहाँ लेश है।

गुणानामित्यादि। गुणानां वहनक्षमत्वादिनां दौरात्म्याद्दोषाद् धुर्यो धुरंधरो गौर्वृषो धुरि धुरायां नियुज्यते। गलिः पुनर्गौरसंजातोऽनुत्पन्नः किणो मृतशोणितमांसपिण्डो यत्रेदृशः स्कन्धो यस्य स सुखं यथा स्यादेवं स्वपिति। धुरं वहतीति धुर्यः। 'धुरो यड्ढकौ ४।४।७७' इति यत्। 'किणः स्यान्मृतशोणिते' इति रत्नकोषः। 'गलिस्तु 'वहनाशक्ते' इत्यपि। अत्र रोषभयादेव समासेन गुणदोषयोरभिधानाल्लेशः॥

असमासोक्त्या यथा—

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः॥ १२६॥'

अत्रापि प्रकोपभयादि पूर्ववत्। अथैष व्यस्तलक्षणत्वेन कस्मान्न लेश इत्युच्यते। दोषगुणीभावस्याप्रस्तुतस्तुत्या गुणदोषीभावस्य तु व्याजस्तुत्यापहारात्॥

विना समासोक्ति के लेश का उदाहरण—

सदाचरण के उत्थान के लिये लगे हुये सज्जन पुरुषों के समक्ष अनेक विपत्तियाँ आतीं हैं, वे सर्वत्र लोकापवाद से आश्चर्यान्वित रहते हैं तथा सदा दुःख का ही जीवन व्यतीत करते हैं। जब कि मन्दबुद्धि, अच्छे अथवा बुरे कार्यों के कारण कभी व्यग्र न होने वाला, औचित्यानौचित्य के विवेचन से रहित चित्त वाला गँवार व्यक्ति ही धन्य है॥ १२६॥

यहाँ भी प्रकोप, भय आदि पहिले के जैसा ही हैं। पुनः यह भला स्पष्ट लक्षण के कारण 'लेश' क्यों नहीं है? (उत्तर) कहा जा रहा है कि "दोष के गुण हो जाने का अप्रस्तुत स्तुति के द्वारा तथा गुण के दोष होने का व्याजस्तुति के द्वारा अपहरण हो जाने से यहाँ लेश नहीं हुआ।"

स्व० भा०—यहाँ सिद्धान्त पक्ष से ही यह प्रश्न है कि जब उक्त उदाहरणों में लेश का स्पष्ट लक्षण मिल रहा है तब उसे भी लेश ही क्यों नहीं मान लिया जाता। उसी का उत्तर है कि पूर्व उदाहरण में दोष को गुण बतलाने पर अप्रस्तुतप्रशंसा नाम का अलंकार हो जाता है तथा उत्तरार्ध में जहाँ गुण को दोष बनाया गया है व्याजस्तुति हो जाती है। अतः भिन्न-भिन्न अलंकारों में ही अन्तर्भाव हो जाने से लेश मानने की चर्चा ही नहीं रहती, व्याजस्तुति आदि का लक्षण पहले दिया जा चुका है।

सन्त इत्यादि। सन्तः सदा दुःखं यथा स्यादेवं जीवन्ति। कीदृशाः। सच्चरितस्य सद्व्यापारस्योदरे ऽप्यपनिन आसक्ताः। प्रादुर्भवन्त्याविर्भवन्ति यन्त्रणा अनापत्तयो येषां ते। सर्वत्र कार्ये जनानामपवादे दूषणोक्तौ चकिताः सतर्काः। अत एव दुःखमयता। व्याकृतोऽविविक्तो जनो धन्योऽस्ति। कीदृशः। अनुरागेना अविशेषवती मतिर्यस्य सः। न तेन साधुना कृतेन कार्येण नैवापरेणासाधुना कार्येण व्याकुलः। साध्वसाधुकार्यरहित इत्यर्थः। अत एव इदं कारभिद्यमकृत्यमिति विचारशून्यहृदयश्च। अत्रापि दोषभयादेव लेशोऽभिधानम्। दोषगुणीभावो गुणदोषीभावश्च व्यस्तोऽत्र कथं न लेश इति पृच्छति—अथेति। उत्तरम्। दोषेति। आप्रस्तावस्तुरस्तुत्यात्, अप्रस्तुत व्याजस्तुत्यां विपरीतकरणात्तयोरेवान्तर्भाव इत्यर्थः।

व्याजस्तुतिरपि द्विधा—शुद्धा मिश्रा च। तयोः शुद्धा यथा—

'पुंसः पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते।
राजन्निक्ष्वाकुवंशस्य किमिदं तव युज्यते॥ १२७॥'

अत्र शुद्धपरदारापहरणलक्षणनिन्दाव्याजेन स्तुतेर्विहितत्वादियं शुद्धानाम व्याजस्तुतिर्गुणदोषीभावलक्षणाल्लेशान्न पृथक्॥

व्याजस्तुति भी दो प्रकार की होती है—शुद्धा तथा मिश्रा। इन दोनों में से शुद्धा का उदाहरण—

पुरुष पुरातन विष्णु (तथा किसी बूढ़े मनुष्य) से छीन कर लाई गई उसकी स्त्री (श्री) का जो भोग आप कर रहे हैं, हे महाराज, क्या इक्ष्वाकु के कुल में जन्म लेने वाले आपके लिये यह उचित है॥ १२७॥

यहाँ शुद्ध अर्थात् केवल दूसरे की स्त्री के हरण रूप निन्दा के बहाने स्तुति विहित होने से यह शुद्धा नाम की व्याजस्तुति है, जो गुण के दोष हो जाने वाले लक्षण से युक्त लेश से पृथक् नहीं है।

स्व० भा०—यहाँ दूसरे के स्त्रीहरण रूप निन्दात्मक कर्म से राजा की अत्यधिक धनशालिता का निरूपण है, अतः यह भी लेश हुआ क्योंकि दोष का गुण कहने पर लेशालंकार होता है।

पुंस इत्यादि। पुराणात्पुंसः पुराणपुरुषाद्विष्णोः श्रीः कमला आच्छिद्य गृहीत्वा त्वया परिभुज्यते। हे राजन्, इक्ष्वाकुर्नृपविशेषो वंश्यो यस्य तस्य तवेदं किं युज्यते। किंतु नार्हतीति निन्दाभासः। अथ च पुराणात्पुंसो वृद्धात्पुरुषाच्छ्रीः संपदाच्छिद्य त्वया भुज्यत इति तात्पर्यार्थः। अत्र श्रीपदे व्याजः। स च शुद्ध एव। तेन च शुद्धिरिह॥ लेशाभेदमाह—गुणेति॥

मिश्रा यथा—

'प्रियोऽसि प्राज्ञोऽसि प्रभुरसि कुलीनोऽस्यसि युवा
युवत्यस्त्वामेवं कति न पतिमुर्वीश वृणते।
अतश्चैतां कीर्तिं रघुनहुषमान्धातृमहिषीं
परास्प्रष्टुं वृद्धामधिगततनयो नार्हति भवान्॥ १२८॥'

अत्र स्तुतिपदमिश्रेण व्याजाङ्गेन स्तुतिरितीयं मिश्रानाम व्याज-स्तुतिर्लेशभेदः॥

मिश्रा का उदाहरण—

हे महाराज, तुम लोगों को प्रिय हो, बुद्धिमान हो, स्वामी हो, सत्कुल में उत्पन्न हो, नवान भी हो, और कितनी भी युवतियाँ इन गुणों से सम्पन्न तुमको पति के रूप में वरण नहीं करतीं अतः रघु, नहुष तथा मान्धाता जैसे राजाओं की पत्नीस्वरूपा इस बूढ़ी कीर्ति पर चढ़ाई करना आप जैसे नीतिज्ञ को उचित नहीं ॥ १२८ ॥

यहाँ व्याजनिन्दा के द्वारा स्तुति के पद से संयुक्त हो स्तुति है, अतः यह मिश्रा नाम की व्याजस्तुति भी लेश का ही एक भेद है।

स्व० भा०—बाप-दादों के द्वारा धारण की गई कीर्ति को आप धारण कर रहे हैं, इस स्तुति को निन्दा के रूप में प्रकट किया गया है, किन्तु इस उत्तरार्ध के पहले पूर्वार्ध में राजा के प्रति प्रशंसा के भी शब्दों का प्रयोग होने से यह मिश्रा का उदाहरण हुआ। अर्थात् यहाँ शुद्ध रूप से निन्दात्मक शब्दों द्वारा ही स्तुति का निरूपण नहीं हुआ।

प्रिय इत्यादि। हे राजन्, प्रियः प्रीतोऽसि। प्राज्ञ उत्कृष्टमतिरसि। ईश्वरोऽसि। शुद्धवंशोऽसि। एवं सति कियत्यस्तरुण्यस्त्वां पतिं न वृणते न स्वीकुर्वन्ति। अतो हेतोरेतां कीर्तिं पराक्रम्य्नुमाक्रमितुं भवान्नार्हति। कीदृशीम्। रघुनहुषमान्धातॄणां नृपविशेषाणां महिषीं महादेवीमत एव वृद्धामतिवयस्कां च। 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः। अत्र महिषीवृद्धापदयोर्व्याजात् कपटान्निन्दास्तुतिर्लेशत एव ॥ इति लेशालंकारनिरूपणम् ॥

सहोक्त्यलंकारनिरूपणम्।

सहोक्तिलक्षणमाह—

कर्त्रादीनां समावेशः सहान्यैर्यः क्रियादिषु।
विविक्तश्चाविविक्तश्च सहोक्तिः सा निगद्यते ॥ ५७ ॥
वैसादृश्यवती चेयमुच्यमाना मनीषिभिः।
सहेवादिप्रयोगेषु ससादृश्या च दृश्यते ॥ ५८ ॥

(१२) सहोक्त्यलंकार

कर्ता आदि का अन्यों के साथ क्रिया आदि में जो विविक्त अथवा अविविक्त रूप से सन्निवेश है, वह सहोक्ति कही जाती है। मनीषियों के द्वारा कही जा रही यह सहोक्ति वैसादृश्यवती है तथा 'सह' 'इव' आदि पदों का प्रयोग होने पर ससादृश्या भी देखी जाती है ॥ ५७-५८ ॥

स्व० भा०—सहोक्ति भी एक विख्यात अलंकार है। भामह ने भी इसका उल्लेख किया है। रुद्रट ने तो प्रकारान्तर से इसके कई भेद भी किया है। दण्डी के अनुसार—

'सहोक्तिः सहभावेन कथनं गुणकर्मणाम्।" २।३५१ ॥

कर्त्रेति। क्रियादिषु कर्त्रादीनामन्यैः सह यः समावेशोऽवस्थानं सा सहोक्तिः। आदिपदात्कर्मादिपरिग्रहः। स समावेशो विविक्तः केवलः, अविविक्तो मिश्रः ॥

सा कर्तृविविक्तक्रियासमावेशे यथा—

'कोकिलालापमधुराः सुगन्धिवनवायवः।
यान्ति सार्धं जनानन्दैर्वृद्धिं सुरभिवासराः ॥ १२९ ॥'

अत्र सुरभिवासरा इति कर्तृपदार्थः केवल एव जनानन्दैः सह वृद्धि-

प्राप्तिक्रियायां समाविष्ट इति सेयं विविक्तकर्तृक्रियासमावेशा नाम वैसादृश्यवती सहोक्तिः ॥

कर्ता का विविक्त रूप से क्रिया में समावेश होने पर सहोक्ति का उदाहरण—

कोकिलों के आलाप से मनोहर तथा सुगन्ध से युक्त वन की वायु से समन्वित वसन्त के दिन लोगों के आनन्द के साथ बढ़ रहे हैं ॥ १२९ ॥

यहाँ 'सुरभिवासराः' यह कर्त्ता पद का अर्थ केवल ही लोगों के आनन्द के साथ वृद्धि प्राप्ति की क्रिया में समाविष्ट है। इस प्रकार यह विविक्त कर्तृक्रिया-समावेशा नाम की वैसादृश्यवती सहोक्ति है।

स्व० भा०—यहाँ वैसादृश्य इसलिये है क्योंकि दिन का बढ़ना तथा खुशी का बढ़ना दोनों का बढ़ना एक सा नहीं है। शेष दो और दोनों वृत्ति में ही स्पष्ट है।

कोकिलेत्यादि। सुरभिवासरा वसन्तदिवसाः जनहर्षैः सह वृद्धिं यान्ति। कीदृशाः कोकिलालापो मधुरो मनोहरो येषु ते, सुगन्धयः शोधनगन्धवन्तो, वनवायवो मलयानिलास्ते। अत्र केवलस्य कर्तृवसन्तदिनस्य जनानन्दैः सह वृद्धिप्राप्तिक्रियासमावेशः। स च विसदृश एव। दिनवृद्धेर्दण्डाधिक्यरूपत्वात्, आनन्दवृद्धेरतिसुखरूपत्वात् ॥

कर्मणो विविक्तक्रियासमावेशे यथा—

'उज्झसि पिआइ समअं तह वि हु रे भणसि कीस किसिअं त्ति।
उवरिभरेण अ अण्णुअ मुअइ वइल्लो वि अङ्गाइं ॥ १३० ॥'

[उह्यसे प्रियया समदं तथापि खलु रे भणसि किमिति कृशेति।
उपरिभरेण च हे अज्ञ मुञ्चति वृषभोऽप्यङ्गानि ॥]

अत्र संबोध्यमानयुष्मदर्थः कर्मतामापन्न उह्यस इति क्रियायां केवल एव क्रियापदार्थेन सह समाविष्टः, सेयं विविक्तकर्मक्रियासमावेशा' नाम वैसादृश्यवती सहोक्तिः ॥

कर्म का विविक्त प्रिया में समावेश होने पर उदाहरण—

(तुम्हारी) नयी प्रिया के साथ तुम्हें (अपने हृदय पर) ढो रही हूँ। अरे, तुम फिर भी पूँछते हो कि 'मैं दुबली क्यों हो रही हूँ।' हे अज्ञ, ऊपर भार लाद देने पर तो बैल भी शरीर त्याग देता है ॥ १३० ॥

यहाँ सम्बोधित किया जा रहा युष्मद् का अर्थ कर्मत्व को प्राप्त हो गया है और वह 'उह्यसे' इस क्रिया में अकेले ही क्रियारूप पदार्थ के साथ समाविष्ट है। अतः यह विविक्त कर्म-क्रिया-समावेशा नाम की वैसादृश्यवती सहोक्ति है।

स्व० भा०—पूरी कथा में पृथक् रूप से 'त्वं' पद का प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु कर्मवाच्य की 'उह्यसे' क्रिया का मध्यमपुरुष का प्रयोग होने से कर्म उक्त होकर प्रथमान्त के रूप में प्रतीत हो रहा है। वही वृत्ति की प्रथम पंक्ति में आये हुये 'सम्बोध्यमानयुष्मदर्थः' आदि से कहा गया है।

उज्झसीत्यादि। "उह्यसे प्रियया समदं तथापि खलु रे भणसि किमिति कृशेति। उपरिभरेण च हे अज्ञ मुञ्चति वृषभोऽप्यङ्गानि ॥" अपराधवता केनचिदबला दुर्बला किमति त्वं कृशेति पृष्टा। तमुद्दिश्याह—उह्यस इति। प्रियया समदं सगर्वं यथा स्यादेवं त्वमुह्यसे भ्रियसे। तथापि रे त्वं वदसि किमिति कृशासि त्वमिति। हे अज्ञ ज्ञानहीन, उपरिभरेण गोण्यादिगौरवेण वृषभोऽप्यङ्गानि मुञ्चति त्यजति। किं पुनरबलेति भावः। उह्यस इति

'वह प्रापणे' कर्मणि लकारः। वहस्लो वृषभः। रेशब्दः साक्षेपसंबोधने। अत्र वहनक्रियायां त्वमिति बोध्योऽर्थः कर्मीभूतः केवल एव प्रियापदार्थेन सह समाश्लिष्टस्तयोश्च विसदृशता व्यक्तैव ॥

विविक्ताया एव लक्षणान्तरमाह—

यत्रानेकोऽपि कर्त्रादिः प्रविविक्तैः क्रियादिभिः।
विविक्तभावं लभते विविक्ता सापि कथ्यते ॥ ५९ ॥

जहाँ पर कर्त्ता आदि अनेक होते हुये भी प्रकृष्ट रूप से विविक्त क्रिया आदि के साथ विविक्त भाव प्राप्त करते हैं, वह भी विविक्ता कही जाती है ॥ ५९ ॥

स्व० भा०—पहले यह बतलाया गया था कि केवल एक कर्त्ता, कर्म आदि का एक ही क्रिया में सन्निवेश होने पर विविक्तता होती है, किन्तु यहाँ यह भी माना गया है कि अनेक कर्त्ता आदि का अनेक भिन्न-भिन्न क्रियाओं से सम्बन्ध होने पर भी विविक्तता होती है।

यत्रेति। यत्रानेकः कर्त्रादिर्भिन्नैः क्रियादिभिर्भेदं लभते सा विविक्तेति कथ्यते ॥

सा कर्तृद्वयस्य पृथक् क्रियासमावेशे यथा—

'वर्धते सह पान्थानां मूर्च्छया चूतमञ्जरी।
वहन्ति च समं तेषामश्रुभिर्मलयानिलाः ॥ १३१ ॥'

अत्र चूतमञ्जरी मूर्च्छया सह वर्धनक्रियायाम्, मलयानिलाश्चाश्रुभिः सह वहनक्रियायां पृथक् पृथग्विवेकेनैव कर्तारः समाविष्टाः, सेयमपि विविक्तकर्तृक्रियासमावेशैव वैसादृश्यवती सहोक्तिः। एवं कर्मणोऽपि विवेके द्रष्टव्या ॥

उसी विविक्ता सहोक्ति का उदाहरण जब कि दो कर्ताओं का अलग-अलग क्रियाओं में समावेश होता है—

विरही पथिकों की मूर्च्छा के साथ ही आम्रमंजरी बढ़ रही है तथा उनके आँसुओं के साथ ही दक्षिणीपवन भी प्रवाहित हो रहा है ॥ १२१ ॥

यहाँ पर चूतमञ्जरी मूर्च्छा के साथ वर्धन क्रिया में, दक्षिणीपवन आँसुओं के साथ वहनक्रिया में अलग-अलग विविक्तरूप से ही कर्ता के रूप में समाविष्ट हुये हैं। अतः यह भी विविक्तकर्तृक्रियासमावेशा नाम की ही वैसादृश्यवती सहोक्ति है। इसी प्रकार कर्म को भी विविक्त रूप में देखना चाहिये।

वर्धत इत्यादि। चूतमञ्जरी पान्थानां मूर्च्छया सह वर्धते, मलयानिलास्तेषां पान्थानामश्रुभिः सह वहन्ति वान्ति श्रयन्ति च। 'पथिकः पान्थ इत्यपि' इत्यमरः। अत्र चूतमञ्जर्यादेस्तत्क्रियायां विवेकेनैव कर्तृत्वेन समावेशः। विसदृशता तु व्यक्तैव ॥

कर्तृणामविविक्तक्रियासमावेशे यथा—

'धीरेण समं जामा हिअएण समं अणिट्ठिआ उवएसा।
उच्छाहेण सह भुआ बाहेण समं गलन्ति से उल्लावा ॥ १३२ ॥'

[धैर्येण समं यामा हृदयेन सममनिष्ठिता उपदेशाः।
उत्साहेन सह भुजौ बाष्पेण समं गलन्त्यस्या उल्लापाः ॥]

अत्र यामादीनां बहूनां धैर्यादिभिः सह गलनक्रियायामेकस्यामेवाविविक्तः

समावेशो दृश्यते, सेयमविविक्तकर्तृक्रियासमावेशा नाम वैसादृश्यवती सहोक्तिः ॥

कर्ताओं के अविविक्तरूप से क्रिया में समाविष्ट होने का उदाहरण—

धैर्य के साथ रात्रि, हृदय के साथ अनिश्चित उपदेश, उत्साह के साथ दोनों भुजायें तथा आँसू के साथ इस राम के अथवा सीता के आलापवचन गल रहे हैं ॥ १३२ ॥

यहाँ यामा आदि अनेकों का धैर्य आदि के साथ अकेली ही गलनक्रिया में अविविक्त रूप से—सम्मिलित रूप से समावेश दिखाई पड़ता है। इस प्रकार यह अविविक्त कर्तृक्रियासमावेशा नाम की वैसादृश्यवती सहोक्ति है।

स्व० भा०—यहाँ कर्ता कई हैं तथा क्रिया केवल एक। अतः एक ही क्रिया के साथ अनेक कर्ताओं का योग होने से यहाँ अविविक्तता है।

धीरेणेत्यादि। "धैर्येण समं यामा हृदयेन सममनिष्ठिता उपदेशाः। उत्साहेन सह भुजौ बाष्पेण समं गलन्त्यस्या उल्लापाः॥" अस्य रामस्य धैर्येण समं यामा रात्रिप्रहरा गलन्ति। हृदयेन सममनिष्ठिता अनिर्व्यूढा अनिश्चिता वा उपदेशा गलन्ति। उत्साहेन सह भुजा बाहवो गलन्ति। बाष्पेण सममुल्लापा आलापा वचनानि गलन्ति। धैर्यविगमानुचिते सदुपदेशावस्थितिः। ततो मनःशून्यता, तत उत्साहत्यागः, ततो भुजस्खलनम्, ततोऽश्रुणा सह वचनतेति क्रमेणाधिकार्तितो मन्मथदशाधिक्यमुक्तम्। उत्साहोऽध्यवसायः। अत्र गलनक्रियाया एकत्वेनाविविक्तता। वैसादृश्यं च व्यक्तमेव॥

कर्मणामविविक्तक्रियासमावेशे इवशब्देन सहशब्दस्य स्थाने ससादृश्या यथा—

'धीरं व जलसमूहं तिमिणिवहं विअ सपक्खपव्वअलोअम्।
णइसोत्तेव तरङ्गे रअणाइँ व गरुअगुणसआइँ वहन्तम्॥ १३३॥'

[धैर्यमिव जलसमूहं तिमिनिवहमिव सपक्षपर्वतलोकम्।
नदीस्रोतांसीव तरङ्गान् रत्नानीव गुरुकगुणशतानि वहन्तम्॥]

अत्र धैर्येण सह जलसमूहस्य, तिमिनिवहेन पक्षपर्वतलोकस्य, नदीस्रोतोभिस्तरङ्गाणाम्, रत्नैश्च गुरुकगुणशतानां मिथः प्रतीयमानं सादृश्यमिवेन द्योत्यते। सहार्थश्च वाक्यार्थसामर्थ्येन लभ्यत इति सेयं धैर्यादीनां बहूनां वहनक्रियायामेकस्यामेवाविवेकत कर्मभूतानामावेशेनाविविक्तकर्मक्रियासमावेशा नाम ससादृश्या सहोक्तिः॥

कर्मों का अविविक्त रूप से क्रिया में समावेश होने पर सहशब्द के स्थान में 'इव' शब्द से युक्त ससादृश्या का उदाहरण—

धैर्य के सदृश जलसमूह को, तिमि मछलियों के समूह की भाँति सपक्ष पर्वत समुदाय को, नदीप्रवाहों की भाँति लहरों को तथा रत्नों के सदृश बड़े बड़े सैकड़ों गुणों को धारण करते हुये (समुद्र को देखा)॥ १३३॥

यहाँ धैर्य के साथ जलसमूह का, तिमियों के झुण्डों के साथ पंखधारी पर्वतकुलों का, नदी की धाराओं के साथ तरङ्गों का तथा रत्नों के साथ बड़े-बड़े सैकड़ों गुणों का परस्पर प्रतीत होनेवाला सादृश्य 'इव' पद के द्वारा द्योतित हो रहा है। 'सह' का अर्थ वाक्यार्थ के सामर्थ्य से प्राप्त होता

है। यही है धैर्य आदि वस्तुओं का एक ही वहन क्रिया में अविविक्त रूप से कर्म हो गये पदों का आवेश होने से अविविक्त कर्मक्रियासमावेशा नाम की ससादृश्या सहोक्ति।

धीरं वेत्यादि। "धैर्यमिव जलसमूहं तिमिनिवहमिव सपक्षपर्वतलोकम्। नदीस्रोतांसीव तरङ्गान् रत्नानीव गुरुकगुणशतानि वहन्तम्॥" इह समुद्रं कीदृशम्। धैर्यमिव जलसमूहं वहन्तम्, तिमिनिवहमिव मत्स्यविशेषसमूहमिव सपक्षं पक्षयुक्तम्, स्वपक्षं स्वमित्रं वा पर्वतलोकं मैनाकादिकं वहन्तम्, नदीप्रवाहानिव तरङ्गान् वहन्तम्, रत्नानीव गुरुकगुणशतानि महत्त्वादीनि वहन्तम्। 'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृतः।' इति रामायणम्। 'समूहेऽपि मतो लोकः' इति रत्नकोषः। गुरुकेति स्वार्थे कन्। अत्र धैर्यजलसमूहादीनां मिथः सादृश्यं व्यक्तमेव प्रतीयमानमिवशब्देन द्योत्यते, साहित्यं च वाक्यार्थतया गम्यत इति सहोक्तिरियं सादृश्यवती॥

ग्रहणप्रयोजनमाह—

आदिग्रहणाद् गुणसमावेशेऽपि गुणिनः ससादृश्या यथा--

'सह दीर्घा मम श्वासैरिमाः संप्रति रात्रयः।
पाण्डुराश्च ममैवाङ्गैः सह ताश्चन्द्रभूषणाः॥ १२४॥'

अत्र रात्रयो दीर्घाः पाण्डुराश्चेति दैर्घ्यपाण्डुरत्वगुणयोरविवेकेन रात्रिषु रात्रीणां च तयोः श्वासैरङ्गैश्च सह समावेशो दृश्यते, सेयमविविक्तगुणसमावेशानामेवाद्यप्रयोगेऽपि ससादृश्या सहोक्तिः।

आदि के ग्रहण से कर्म के गुण का समावेश होने पर भी ससादृश्या का उदाहरण—

इस समय मेरी साँसों के साथ ये रातें भी लम्बी होती जा रही हैं और मेरे अंगों के साथ ही चन्द्ररूपी अलंकार वाली वह भी सफेद पड़ती जा रही है॥ १३४॥

यहाँ रात्रियों को दीर्घ तथा पाण्डुर बतलाया गया है, अतः दीर्घता तथा पाण्डुरता इन गुणों का अविविक्त रूप से रात्रियों में और रात्रियों का इन दोनों श्वासों तथा अङ्गों के साथ समावेश दिखाई देता है। इसलिए यह अविविक्त गुण समावेशा नाम की 'इव' आदि का प्रयोग न होने पर भी ससादृश्या सहोक्ति है।

स्व० भा०—यद्यपि यहाँ 'इव' आदि वाचक पदों का प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि दीर्घत्व तथा पाण्डुरत्व गुणों का समावेश सादृश्यमूलक है, अतः यहाँ ससादृश्या मानना उचित है।

आदीति। सहेत्यादि। इमा रात्रयः संप्रति विरहावस्थायां मम सह दीर्घाः, ममैवाङ्गैः सह चन्द्रभूषणाश्चन्द्रालंकारास्ता रात्रयः पाण्डुराश्च। चन्द्रभूषणत्वं रात्रीणां पाण्डुरत्वे हेतुः। विरहदशायां खेदान्निःश्वासदीर्घता, अङ्गपाण्डिमा, रात्रिदीर्घता च भवति। अत्र दीर्घत्वपाण्डुत्वगुणयोः समावेशः सादृश्यगर्भ एवेति ससादृश्येयं सहोक्तिः॥ इति सहोक्त्यलंकारनिरूपणम्॥

समुच्चयालंकारनिरूपणम्।

समुच्चयलक्षणमाह—

द्रव्यक्रियागुणादीनां क्रियाद्रव्यगुणादिषु।
निवेशनमनेकेषामेकतः स्यात्समुच्चयः॥ ६०॥
इतरेतरयोगो यः समाहारो य उच्यते।

अन्वाचय इहान्यो यः सोऽपि नान्यः समुच्चयात् ॥६१॥
द्विपदाश्रयश्चापि स स्याद् बहुपदाश्रयः।
उभयाश्रयश्च स स्यात्स स्यादनुभयाश्रयः ॥ ६२ ॥
त्रयः प्रतिपदं वा स्युर्द्योतकैरुत्तरत्र वा।
पदैः शुद्धाश्च मिश्राश्च तुरीयो द्योतकं विना ॥ ६३ ॥

(१३) समुच्चयालंकार

द्रव्य, क्रिया, गुण आदि अनेकों का क्रिया, द्रव्य, गुण आदि में एक स्थान पर निविष्ट करना समुच्चय है। जो इतरेतरयोग है तथा जो समाहार कहा जाता है, और दूसरा वह जो अन्वाचय है, वह भी समुच्चय से भिन्न नहीं है। यह द्विपदाश्रय है तथा बहुपदाश्रय भी। वह उभयाश्रय भी है तथा अनुभयाश्रय भी। प्रत्येक पद के साथ अथवा बाद में मिश्र द्योतक पदों से संयुक्त प्रथम तीन शुद्ध तथा मिश्र भेद हैं तथा चौथा वह जो द्योतक के विना है।

स्व० भा०—उपर्युक्त निरूपण के अनुसार समुच्चय चार प्रकार का १—द्विपदाश्रय, २—बहुपदाश्रय, ३—उभयाश्रय, अर्थात् द्विपदबहुपदाश्रय तथा ४—अनुभयाश्रय अर्थात् अद्विपदबहुपद नाम का होता है।

द्रव्येति। द्रव्यादीनामेकक्रियादिसमावेशः समुच्चयः। इतरेतरयोगादीनां समुच्चयाभेदमाह—इतरेति। इतरेतरयोगः परस्परापेक्षावयवभेदानुगतः समुच्चयः। समाहारस्तिरोहितावयवभेदः संहतिप्रधानः समुच्चय एव, अन्वाचयो यत्रैकं प्रधानमन्यदप्रधानमन्वीयते सः। समुच्चयं विभजते—द्विपदेति। उभयं द्विपदबहुपदे। अनुभयमद्विपदबहुपदे। एषु मध्ये आद्यास्त्रयः प्रतिपदं वोत्तरत्र वा पदद्योतकैः सह संभवन्तीत्याह—त्रय इति। त्रय एव शुद्धा मिश्राश्च भवन्ति। तुरीयोऽनुभयाश्रयः समुच्चयो द्योतकं चकारादिकं विनैव भवति॥

तत्र द्विपदाश्रयः प्रतिपदाश्रितद्योतकत्वेन द्रव्ययोः क्रियासमुच्चयो यथा—

'निर्यता परिजनेन बोधितः स्फूर्जमानरुचिरुल्लसद्दशः।
द्वारसंवलनमांसलोऽधिकं दीपकश्च मदनश्च दिद्युते ॥ १३५ ॥'

अत्र दीपकश्च मदनश्चेति द्वे द्रव्ये प्रतिपदं चकारेणैकस्यां दिद्युते इति क्रियायां समुच्चयेन निवेशिते; तेन दिद्युताते इति द्विवचनम्, दीपकमदनाविति चार्थे द्वन्द्वश्च न भवति॥

यहाँ द्विपदाश्रय तथा प्रतिपद में द्योतक के आश्रित रहने से दो द्रव्यों का क्रिया-समुच्चय का उदाहरण—

बाहर निकल रहे सेवक द्वारा प्रकाशित, स्फुटित हो रही कान्ति वाला, उल्लसित बत्ती युक्त तथा घर के द्वार मिलने से अधिक बढ़ा हुआ दीपक तथा जा रही सखी आदि के द्वारा जागरित, दीप्त अनुराग वाला, बढ़ती हुई दशा से संयुक्त तथा द्वार पर मिलने से प्रवृद्ध कामदेव अधिक उत्तेजित हो उठे। १३५॥

यहाँ दीपक तथा मदन ये द्रव्य हैं जो प्रत्येक पद में चकार के साथ हैं और एक ही 'दिद्युते' इस क्रिया में समुच्चय के रूप में निविष्ट हैं। इसीलिए 'दिद्युताते' इस प्रकार का द्विवचन रूप तथा "दीपकमदनौ" में 'च' के अर्थ में द्वन्द्व भी नहीं होता है।

स्व० भा०—यहाँ मदन तथा दीपक दो द्रव्य हैं। इन दोनों को एक साथ निरपेक्ष भाव से रखने पर द्विवचन होता तथा द्वन्द्व समास करना पड़ता। समास करने पर "द्युत दीप्तौ" धातु का एक वचनान्त रूप 'दिद्युते' न होकर 'दिद्युताते' यह द्विवचन रूप होता। किन्तु समुच्चय होने से वैसा नहीं हुआ। केवल एक क्रिया में दो द्रव्यों का सन्निवेश है।

निर्यतेत्यादि। दीपकः प्रशस्तदीपश्च मदनः कामश्चाधिकं दिद्युते दीप्तो बभूव। कीदृशः। निर्यता गच्छता सेवकेन सख्यादिना च बोधितः प्रकाशितो जागरितश्च। स्फूर्जमाना स्फुरन्ती रुचिर्दीप्तिरनुरागश्च यस्य सः। उल्लसन्ती दशा वर्तिरवस्था च यस्य सः। द्वारे गृहद्वारे मदनबोधकभावे च संवलनं मिलनं तेन मांसलः स्फीतः। दीपक इति प्रशंसायां कन्। विद्युत इति 'द्युत दीप्तौ' इत्यस्य लिटि रूपम्। अत्र चकाराभ्यां द्रव्ययोरेकक्रियानिवेशनात्समुच्चयः। यदि समुच्चयेन निवेशनं न स्यात्तदा दोषमाह—तेनेति। अन्योन्यनिरपेक्षतया द्विवचनं द्वन्द्वश्च स्यादित्यर्थः॥

द्विपदाश्रय एवोत्तरपदाश्रितद्योतकेन क्रिययोर्द्रव्यसमुच्चयो यथा—

'निकामं क्षामाङ्गी सरसकदलीगर्भसुभगा
कलाशेषा मूर्तिः शशिन इव नेत्रोत्सवकरी।
अवस्थामापन्ना मदनदहनोद्दाहविधुरा-
मियं नः कल्याणी रमयति मनः कम्पयति च॥ १३६॥'

अत्र रमयति कम्पयति चेति द्वे क्रिये उत्तरपदवर्तिना चकारेणैकस्मिन्मनोलक्षणे द्रव्ये कर्मणि समुच्चयेनैककालमेव निवेशिते; तेनायमन्वाचयो न भवति॥

द्विपदाश्रय का ही उत्तर के साथ द्योतक का योग करने से दो क्रियाओं का द्रव्य के साथ समुच्चय का उदाहरण—

कामाग्नि के प्रकृष्ट दाह से विकल अवस्था को प्राप्त, सरस केले के भीतरी भाग की भाँति सुन्दर, अत्यन्त क्षीण अङ्गों वाली, चन्द्रमा की केवल एक कला में अवशिष्ट रह गई मूर्ति की भाँति नयनों को आनन्द देने वाली यह मालती हमारे मन को आनन्दित भी करती है और कँपा भी देती है॥ १६६॥

यहाँ 'रमयति' तथा 'कम्पयति' ये दो क्रियाये हैं जो उत्तर पद के साथ विद्यमान 'चकार' से एक ही मन रूप द्रव्य में जो कि कर्म है समुच्चय के कारण एक साथ ही निविष्ट है। इससे यह अन्वाचय नहीं होता है।

स्व० भा०—यहाँ दो क्रियाओं के साथ एक ही द्रव्य का योग हुआ है। समुच्चयार्थक 'च' का योग भी दूसरे पद 'कम्पयति' के साथ हुआ है।

निकाममित्यादि। इयं मालती नोऽस्माकं मनो रमयति कम्पयति च। कीदृशी। मदन एव दहनोऽग्निस्तस्मादुद्दाहः प्रकृष्टदाहस्तेन विधुरा विह्वलामवस्थां दशामापन्ना प्राप्ता। अत एव निकाममत्यर्थं क्षीणाङ्गी। सरसो यः कदल्या गर्भो मज्जा तद्वत्सुभगा मनोहरा। अनेन पाण्डुरता तीव्रगता चोक्ता। चन्द्रस्य कलाशेषा कलनामात्रावस्थिता मूर्तिरिव नेत्रानन्दजनिका कल्याणी कुशलवती। कदल्या गर्भत्वेनातिपाण्डुरत्वकोमलत्वे ध्वनिते। प्रकृतकार्यसंपादकतया रमयति। अतिपीडयारिष्टाशङ्कित्वान्मनःकम्पनमिहेत्याशयः। अत्र कम्पयति चेत्युत्तरपदस्थेन चकारेणैकत्र मनोलक्षणे द्रव्ये क्रियाद्वयनिवेशनात्समुच्चयः।

समुच्चयेन निवेशनाभावे दोषमाह—तेनेति। परस्परनैरपेक्ष्ये उत्तरपदस्थचकारेणान्वाचयापत्तिरित्यर्थः॥

बहुपदाश्रयः प्रतिपदाश्रितद्योतकत्वेन गुणानां क्रियासमुच्चयो यथा—

'अप्राकृतस्तु कथमस्तु न विस्मयाय
यस्मिन्नुवास करुणा च कृतज्ञता च।
लक्ष्मीश्च सात्त्विकगुणज्वलितं च तेजो
धर्मश्च मानविजयौ च पराक्रमश्च॥ १३७॥'

अत्र करुणा च कृतज्ञता चेत्यादयो गुणाः प्रत्येकं बहुपदाश्रयत्वेन चकारेणैकस्यामुवासेति क्रियायां समुच्चयेन निवेश्यन्ते। तेन गुणेषु बहुवचनं न भवति, करुणाकृतज्ञतादीनां द्वन्द्वसमासश्च न भवति यस्मिन्नित्यपेक्षायां चायमेव गुणानां द्रव्यसमुच्चयो भवति॥

बहुपदाश्रय का प्रतिपद के साथ द्योतक का योग होने से गुणों का क्रिया में समुच्चय का उदाहरण—

भला वह सज्जन पुरुष कैसे विस्मयोत्पादक नहीं होगा जिसमें करुणा, कृतज्ञता, लक्ष्मी, सात्त्विक गुण से प्रज्वलित तेज, धर्म, मान, विजय तथा पराक्रम वास करते थे॥ १३७॥

यहाँ 'करुणा च कृतज्ञता' आदि रूपों में ये गुण प्रत्येक के साथ बहुपदाश्रयता के कारण 'चकार' युक्त होकर एक ही 'उवास' इस क्रिया में समुच्चय रूप से निविष्ट किये जाते हैं। इससे गुणों में बहुवचन नहीं होता है तथा करुणा, कृतज्ञता आदि का द्वन्द्व समास भी जिसमें एक द्रव्य में गुण भी नहीं होता। इसी प्रकार की अपेक्षा होने पर यही गुणों का द्रव्य में समुच्चय भी होता है।

अप्राकृत इत्यादि। स नृपतिर्विस्मयाय कथं नास्तु। कीदृशः। अप्राकृतोऽनीचः। महाजन इति यावत्। 'नीचः प्राकृतश्च पृथग्जनः' इत्यमरः। यस्मिन् करुणा दया, कृतज्ञता विज्ञता, लक्ष्मी, संपत्तिः, सात्त्विकगुणेन जाज्वल्यमानं तेजश्च, धर्मः सुकृतं, मानो विनयः, पराक्रमश्चोवास वसति स्म। इह कारुणिकस्य करुणामात्रप्रवृत्त्या कृतज्ञतायाः साहजिकोऽभाव इति। तथा चास्मिन्नुभयमिति महाजनतास्य सूचिता। तथाप्यलक्ष्मीकस्य न किमपि श्लाघाविषय इति सलक्ष्मीकतोक्ता। तथापि निःसात्त्विकस्य कुतो महाजनत्वमतः सात्त्विकगुणाधिक्यमुक्तम्। निष्प्रतापस्य सर्वमुक्तं लक्षणमशोभाकरमेव भवतीति तेजस आधिक्यमुक्तम्। भवतु यथोक्तगुणसंपत्तिः, अधार्मिके सर्वे गुणा विगुणायन्ते। तदर्थमाह—धर्मश्चेति। मानविनयपराक्रमाः प्रत्येकं महापुरुषे विशेषगुणा इति तेऽप्युक्ता इति। अत्रानेकपदाश्रितचकारैरेकक्रियायां नानागुणाः समुच्चयेन निवेशिता इति समुच्चयता॥ तदभावे दोषमाह—तेनेति। असमुच्चयनिवेशे करुणादय ऊषुरिति स्यादित्यर्थः। यस्मिन्निति। यदि यस्मिन्नित्यैकद्रव्ये गुणसमुच्चयविवक्षात्र तदा सोऽपि भवतीत्यर्थः॥

बहुपदाश्रय एवोत्तरपदाश्रितद्योतकत्वेन गुणानां क्रियासमुच्चयो यथा—

'रूपमप्रतिविधानमनोज्ञं प्रेम कार्यमनपेक्ष्य विकाशि।
चाटु चाकृतकसंभ्रममासां कार्मणत्वमगमद्रमणेषु॥ १३८॥'

अत्र रूपं प्रेम चाटु चेति बहवो गुणा उत्तरपदाश्रयेण चकारेणागमदित्येकस्यां क्रियामां समुच्चयेन निवेश्यन्ते, तेनागमन्निति बहुवचनं द्वन्द्वो वा न

स्यात् । कार्मणत्वमित्यपेक्षायां चायमेव गुणानां जातिसमुच्चयो भवति ॥

बहुपदाश्रय का ही उत्तर पद के साथ द्योतक पद होने से गुणों का क्रिया में समुच्चय का उदाहरण—

इसलिए किसी प्रकार के बनाव तथा शृङ्गारारोप के बिना भी सुन्दर लगने वाला रूप, कार्य की बिना अपेक्षा किये हुये सहज रूप से प्रकाशित होने वाला प्रेम, चाटुकारिता तथा अकृत्रिम विलास प्रेमियों को वश में करने के लिए मूल कर्म के रूप में हो गये ॥ १३८ ॥

यहाँ रूप, प्रेम, चाटु आदि बहुत से गुण उत्तरपद के साथ आये चकार से संयुक्त होकर 'अगमत्' इस एक ही क्रिया में समुच्चय रूप से निविष्ट किये जा रहे हैं । इसी से 'अगमन्' इस प्रकार का बहुवचन अथवा द्वन्द्व नहीं हुआ । 'कार्मणत्वम्'—मूलकर्मत्व इसकी अपेक्षा होने पर यही गुणों का जाति में समुच्चय हो जाता है ।

स्व० भा०—यहाँ समुच्चय का वाचक 'च' कार उत्तरवर्ती पद 'अकृतक' के साथ संयुक्त है । समुच्चय का भाव होने से इनका कर्तृत्व एक साथ निरूपित नहीं हो सका और न इनमें द्वन्द्व ही हुआ और न क्रिया का बहुवचन रूप ही प्रयुक्त हुआ । यह तो बात हुई तब जब कि क्रिया में गुणों का समुच्चय किया जा रहा है । यदि 'कार्मणत्व' में उनका समुच्चय लिया जाये तो इसी उदाहरण में गुणों की जाति में समुच्चय भी सिद्ध हो सकेगा क्योंकि 'कार्मणत्व' 'कर्म' का भाव द्योतित करता है—वह जाति अर्थ में है ।

रूपमित्यादि—आसां स्त्रीणां रमणेषु विषये इदमिदं कार्मणत्वं वशीकरणे मूलकर्मत्वम- गमत् ययौ । अप्रतिविधानेनानिर्बन्धेन । सहजेनेति यावत् । मनोज्ञरूपं कार्यमनपेक्ष्य विकाशि सहजप्रकाशवत्प्रेम, अकृतकः स्वाभाविकः संभ्रम आदरो यत्रेदृशं चाटु कौशलं च । 'मूलकर्म तु कार्मणम्' इत्यमरः । अत्र रूपादयो गुणा अन्त्यपदस्थितचकारेण गमन- रूपक्रियायां समुच्चयेन निवेशिता इति समुच्चयः । तदभावे दोषमाह—अगमन्निति । असमुच्चये बहुवचनं द्वन्द्वश्च स्यादित्यर्थः । इदमेव गुणानां कार्मणत्वम् । जात्या समुच्चयेन जातिसमुच्चयोऽपीत्याह—कार्मणत्वमिति ॥

उभयपदाश्रय उत्तरपदाश्रितद्योतकत्वेन द्रव्यगुणानां क्रियासमुच्चयो यथा—

विचिन्त्यमानं मनसापि देहिनामिदं हि लोकेषु चकास्ति दुर्लभम् ।
निशा सचन्द्रा मदिरा च सोत्पला प्रियानुरागोऽभिनवं च यौवनम् ॥

अत्र निशा मदिरा च द्रव्ये, अनुरागो यौवनं च गुणौ, बहुष्वपि पदेषु द्वन्द्वे सत्यपि उत्तरपदाश्रयनिवेशिना चकारेण चकास्तीत्येकस्यां क्रियायां निवेश्यन्ते, तेन चकासतीति बहुवचनं समासश्च न स्यात् । अयमेव च दुर्लभमित्यपेक्षायां द्रव्यगुणानां गुणसमुच्चयो भवति । तेऽमी त्रयोऽपि शुद्धाः ॥

उभयपद पर आश्रित उत्तरपद में द्योतक स्थित होने पर द्रव्यों तथा गुणों का क्रिया में समुच्चय का उदाहरण—

ये वस्तुयें लोक में लोगों के सोचने पर मन से भी दुर्लभ ही प्रतीत होती हैं । वे हैं चन्द्रमा के सहित रात्रि, कमल के साथ मदिरा, प्रेयसी का प्रेम तथा नई जवानी ॥ १३९ ॥

यहाँ निशा तथा मदिरा दोनों द्रव्य हैं, अनुराग तथा यौवन दोनों गुण हैं, बहुत से पदों में द्वन्द्व होने पर भी उत्तरपद को आश्रय बना कर रहने वाले चकार के द्वारा 'चकास्ति' इस एक ही

क्रिया में निविष्ट किये जाते हैं। इसी से 'चकासति' यह बहुवचन क्रिया का रूप तथा समास नहीं होते। यही 'दुर्लभम्' इस पद की विवक्षा में द्रव्यों तथा गुणों का गुण समुच्चय होता है। ये तीनों ही 'शुद्ध' हैं।

विचिन्त्येत्यादि। इदं लोकेषु भुवनेषु मध्ये देहिनां प्राणिनां विचिन्त्यमानं मनसापि दुर्लभमेव चकास्ति। हिरवधारणे। किं तत्। सचन्द्रा रात्रिः, सकमलं मद्यम्, प्रियाया अनुरागः प्रीतिः, अभिनवं यौवनं च। अत्र द्वन्द्वशो युगलत्वेनान्त्यपदस्थितचकारेणैकक्रियानिवेशः। तदभावे दोषमाह—तेनेति। दुर्लभत्वविवक्षया दुःखमयत्वं गुणसमुच्चयोऽपीत्याह—अयमिति॥

मिश्रः पुनरुभयपदाश्रयवद्बहुपदाश्रयश्च भवति। यथा—

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥१४०॥

अत्रादित्यचन्द्रादयो द्रव्यविशेषा उत्तरपदनिवेशिना प्रतिपदनिव[illegible]च चकारेण जानातीत्येकस्यां क्रियायां संनिवेश्यन्ते। तेन च बहुवचनाभाव समासाभावे चैव मिश्रः समुच्चयभेदो भवति॥

फिर मिश्र उभयपदाश्रय वाला तथा बहुपदाश्रय होता है। जैसे—सूर्य तथा चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात्रि, दोनों संध्यायें तथा धर्म मनुष्य के आचरण को जानते हैं॥ १४०॥

यहाँ आदित्य, चन्द्र आदि विशिष्ट द्रव्य उत्तरपद में स्थित तथा प्रत्येक पद के साथ स्थित चकार के द्वारा 'जानाति" इस एक ही क्रिया में संनिविष्ट किये जाते हैं। इसी से बहुवचन का अभाव होने पर समास का भी अभाव होने पर यह मिश्र नाम का समुच्चय का भेद होता है।

स्व० भा०—इस श्लोक में 'आदित्यचन्द्रौ' आदि में उत्तरवर्ती पद के साथ चकार का प्रयोग हुआ है और वहीं उत्तरार्ध में प्रत्येक पद के साथ समुच्चय का वाचक पद 'च' संयुक्त है। इन दोनों प्रकार के समुच्चयों का सन्निवेश एक ही क्रिया में हो रहा है। इससे यहाँ मिश्रता है। यदि समुच्चय वाचक पद न होते तो इनमें समास होता और क्रिया बहुवचन की होती।

आदित्येत्यादि। अनिलो वायुः, अनलोऽग्निः, द्यौराकाशः, आपो जलम्, हृदयम्, यमः, अहो दिनम्, उभे प्रातःसायम्, धर्मो विधाता चायं जनस्य वृत्तं चरित्रं जानाति। आदित्यचन्द्रौ जानीत इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। 'धर्मो युगादौ लोकेशे' इति रत्नकोषः। अत्रादित्यादय उत्तरपदप्रतिपदनिवेशितचकारेणैकक्रियायां निवेशिता इति मिश्रता। तदभावे दोषमाह—तेनेति।

अनुभयाश्रयस्तु समुच्चयाऽन्वाचयश्च न भवति। द्वयोरपि दीपकेन विषयापहारात्। तेनेतरेतरयोगसमाहारयोः स उदाह्रियते तत्रेतरेतरयोगो यथा—

सावशेषपदमुक्तमुपेक्षा स्रस्तमाल्यवसनाभरणेषु।
गन्तुमुत्थितमकारणतः स्म द्योतयन्ति मदविभ्रममासाम्॥१४१॥

अत्रोक्तम् उपेक्षा, उत्थितमित्येते क्रियाद्रव्यविशेषा इतरेतरयोगेन मदविलासद्योतनक्रियायां निवेश्यन्ते तेन द्योतयन्तीति बहुवचनं द्वन्द्वसमासश्च तद्विवक्षायां स्यात्। न चेह द्योतकश्चकार उत्तरपदे प्रतिपदं वा विद्यत इति सोऽयमनुभयाश्रयः समुच्चयभेदः।

अनुभयाश्रय तो न समुच्चय होता है और न अन्वाचय, क्योंकि दीपक के द्वारा दोनों के विषयों का अपहरण हो जाता है। इसलिये इतरेतर-योग तथा समाहार में उसका उदाहरण दिया जाता है। इनमें से इतरेतरयोग का उदाहरण—

अधूरे वाक्यों को बोलना, गिर रहे माला, वस्त्र तथा अलंकारों की उपेक्षा, निष्प्रयोजन ही उठकर चलने की इच्छा—ये सब प्रयत्न सुन्दरियों के मदजनित विकार को व्यक्त करने लगे ॥१४१॥

यहाँ 'उक्तम्','उपेक्षा' 'उत्थितम्'—ये विशिष्ट क्रिया तथा द्रव्य परस्पर सम्बन्ध के कारण 'मद-विलासद्योतन' क्रिया में निविष्ट किये जाते हैं। इसी से 'द्योतयन्ति' यह बहुवचन तथा द्वन्द्वसमास उसकी विवक्षा में है। यहाँ पर (समुच्चय का) द्योतक 'च'कार उत्तरपद में अथवा प्रत्येक पद में नहीं हैं इसलिये यह अनुनयाश्रय नाम का समुच्चय का भेद है।

स्व० भा०—जहाँ पर अनुभयाश्रयत्व होता है वहाँ न तो समुच्चय होता है और न अन्वाचय—प्रधान कार्य का कथन करके गौण कार्य का निर्देश—ही। अर्थात् जहाँ दो पदों अथवा बहुत पदों में चकार का योग नहीं होता है वहाँ इन दोनों में कोई नहीं होता। वहाँ तो वस्तुतः दीपक अलंकार का लक्षण प्रवृत्त हो जाता है क्योंकि एकत्र स्थित क्रिया आदि के वाचक पद द्वारा पूरे वाक्य का उपकार करना ही दीपक है। दण्डी के अनुसार दीपक का लक्षण यह है—

> जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्र वर्त्तिना ।
> सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकम्''' ॥ काव्यादर्श २।९७ ॥

अनुभयेति। यत्र द्विपदे बहुपदे वा चकारो नास्ति समुच्चयोऽन्वाचयोऽपि न भवति। दीपकलक्षणेन तस्य विषयीकरणादेकत्रवर्तिना क्रियादिवाचकपदेन सर्ववाक्योपकारकत्वस्य दीपकत्वात्, तादृशसमुच्चयान्वाचययोश्च तत्सत्त्वादित्याशयः ॥ सावशेषेत्यादि। आसां स्त्रीणामेतानि मदविभ्रमं मत्ततविलासं द्योतयन्ति स्म। तान्याह—सहावशेषैरवशिष्टभागैर्वर्तते सावशेषं सखण्डं पदं यत्रेदृशमुक्तं वचनम्। खण्डाक्षरवचनमित्यर्थः। स्रस्तानि स्खलितानि यानि मालावस्त्रालंकरणानि तेषूपेक्षा असंवरणम्। अकारणतो हेतुं विनैव गन्तुं गमनं कर्तुमुत्थितमुत्थानं च :उक्तमिति भावे क्तः। उत्थितमित्यपि भावे क्तः। अकारणत इति पञ्चम्यास्तसिः। अत्रोक्तादेर्वचनादिरूपक्रियात्मकस्य तदाश्रयस्य द्रव्यस्य मिथो योगेन प्रधानक्रियायां निवेशः। अत एव द्योतयन्तीति बहुवचनम्। समुच्चयस्वीकारे दोषमाह—द्वन्द्वेति।

समाहारो यथा—

> वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
> वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥१४२॥

अत्र 'यद्वरेषु मृग्यते तत्किं त्रिलोचने व्यस्तमप्यस्ति' इति ब्रुवन् वपुर्वयोवसूनां समुदायं समस्तमेवाभिसंधत्ते। तस्य चाविर्भूतावयवभेदत्वेनेतरेतरयोगः, तिरोहितावयवभेदत्वेन समाहारः। स इह यदित्येकवचनान्तेन नपुंसकेन च कथ्यते। न चेह क्वचिदपि चकारोऽस्तीति सोऽयमप्यनुभयाश्रयः समुच्चयभेदः ॥

समाहार का उदाहरण—

शरीर ऐसा है जिसमें नेत्र ही विरूप है, जन्म आदि का पता ही नहीं है, उनके नंगे रहने

से धन का भी पता चल ही गया। अतः हे मृगशावकनयने, जो वस्तुयें वरों में खोजी जाती हैं, क्या उनमें से कोई भी त्रिनयन शिव में है?॥ १४२॥

यहाँ जो वरों में खोजा जाता है वह क्या शिव में एक भी है, इस प्रकार से कहते हुये शरीर, आयु तथा सम्पत्ति का समुदाय पूरा का पूरा कह दिया जाता है। उसके अवयवों का भेद प्रकट होने से इतरेतरयोग होगा तथा अवयवों का भेद तिरोहित कर देने पर समाहार। वही यहाँ 'यत्' इस एक वचनान्त नपुंसक लिंग पद के द्वारा उक्त है। ऐसी बात नहीं है कि यहाँ कहीं 'चकार' भी है। अतः यह अनुभयाश्रय नामक समुच्चय का भेद है।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में यदि शरीर, जन्म तथा सम्पत्ति का ज्ञान कराने वाले पदों से युक्त पूर्वार्ध को देखा जाता है, तब तो वहाँ चकार न होने पर भी उन उन वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध होने से इतरेतर का भाव व्यक्त होता है, और यदि उनमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् अभिधान समाप्त करके सब का ज्ञान कराया जावे तब तो 'समाहार ही होगा। 'यत्' पद के द्वारा सबका एक साथ ज्ञान करा दिया जाता है। सामन्य रूप से सब का कथन समाहार के रूप में करने के लिये 'यत्' पद का एकवचनान्त नपुंसकलिंग का रूप रखा गया है।

वपुरित्यादि। हे बालमृगाक्षि शिशुहरिणनेत्रे गौरि, वरेषु यन्मृग्यतेऽन्विष्यते तन्त्रिलोचने शिवे व्यस्तमप्येकैकमप्यस्ति किम्। किंतु नास्त्येव। तदाह—वपुः शरीरं विरूपमक्षि यत्र तादृशं विरूपं विरुद्धस्वरूपम्। नेत्रे द्वित्वसंबन्धस्याविरुद्धत्वात्, त्रित्वस्य विरुद्धत्वात्। अलक्षयमलक्षणीयं जन्म उत्पत्तिः कुलमिति यावत्। यस्य सोऽलक्ष्यजन्मा तस्य भावोऽलक्ष्यजन्मता। अकुलीनतेत्यर्थः। दिश एवाम्बरं यस्य तद्भावेन वसु धनं निवेदितं कथितम्। 'नग्नोऽवासा दिगम्बरः, इत्यमरः। मृग्यत इति मृग अन्वेषणे कर्मणि लकारः अत्र वपुरादिसमुच्चये यदा स्फुटावयवभेदता तदेतरेतरयोगः। यदा तु तिरोहितावयवभेदता तदा समाहारः। यदित्येकत्वक्लीबत्वाभ्यामिह समाहार एवोक्तः। चकारयोगेऽपीतरेतरयोगमाह—नचेति।

चयोगेऽपीतरेतरयोगः। स उत्तरपदयोगेऽपि यथा—

तत्क्षणं विपरिवर्तितह्रियोर्नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः।
सा बभूव वशवर्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च॥ १४३॥

अत्र शूलिनो मदस्य चेत्युत्तरपदाश्रयेण चकारेण द्वौ द्रव्यविशेषौ 'वशवर्तिनी' इत्येतस्मिन् गुणपदे यदीतरेतरयोगेन संनिवेश्येते तदा 'विपरिवर्तितह्रियोः' इत्यादिषु 'द्वयोः' इतिपर्यन्तेषु द्विवचनमेकशेषो वा न स्यात्। सोऽयमपि द्विपदाश्रय उत्तरपदाश्रितद्योतकश्च समुच्चयभेदः॥

'च' का योग होने पर भी इतरेतरयोग होता है। उसका उत्तरपद में योग होने पर भी—जैसे—

वह सुन्दर मुख वाली गौरी उस घड़ी लज्जा को छोड़ देने वाले, बढ़े हुये प्रेम वाले, अतएव शय्या की इच्छा न कर रहे पिनाकी शङ्कर तथा मस्ती दोनों की वशवर्तिनी हो गई॥१४३॥

यहाँ 'शूलिनः' तथा 'मदस्य' इनमें उपरपद के साथ आये चकार के द्वारा दो विशेष द्रव्य 'वशवर्तिनी' इसी एक गुण वाचक पद में यदि इतरेतर योग से संनिविष्ट किये जा रहे होते तब 'विपरिवर्तितह्रियोः' से प्रारम्भ करके 'द्वयोः' तक द्विवचन अथवा एकशेष न होता। अतः यह भी द्विपदाश्रय नामका उत्तरपद में आश्रित द्योतक वाला समुच्चय का भेद है।

स्व० भा०—भोज के मतानुसार इस स्थिति में—चकार से सम्बद्धता रहने पर—उक्त श्लोक

में इतरेतर योग न होकर द्विपदाश्रय उत्तरपदाश्रित द्योतक नामक समुच्चय ही हैं, क्योंकि इतरेतर योग में न तो एकशेषता होती है और न बहुवचनत्व। वहाँ तो प्रत्येक पद पृथक् पृथक् अभिहित होता है, जो वाक्यार्थता के बल से एक क्रिया में सन्निविष्ट होता है।

तत्क्षणमित्यादि। सा सुवदना गौरी शूलिनो हरस्य मदस्य मत्ततायाश्च द्वयोर्वशवर्तिनी आयत्ता बभूव। द्वयोः कीदृशयोः। तत्कालं विपरिवर्तिता विगता ह्रीर्लज्जा यवोस्तयोः। इद्ध उपचितो रागो ययोस्तयोः। अत एव शयनं नेच्छतोः शय्यां नेच्छतोः। अत्र शूलिमदयोर्वशवर्तित्व इतरेतरयोगेन संनिवेशे दोषमाह—तदेति। बहुपदाश्रय उत्तरपदाश्रितचकारेणेतरेतरयोगो भवतीत्याह—एवमिति। समाहारमिति। विचिन्त्यमानमिति श्लोके इदमित्येकत्वक्लीवत्वाभ्यां समाहार उक्त इत्यर्थः। द्रव्यादिविषयत्वे इतरेतरयोगसमाहारयोः सत्त्वादन्वाचये विषयान्तरमाह—क्रियेति।

एवमपरेऽपीतरेतरयोगेऽपि चयोगा उदाहार्याः। समाहारस्तु चयोगविषयो विचिन्त्यमानमित्यादिनैवोक्तः, अन्वाचयस्तु क्रियाविषय एवोपपद्यते। तत्र चोत्तरपदाश्रय एव चकारो भवति ॥ यथा—

'गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा च भूर्विक्लवास्ताः ॥ १४४ ॥

अत्र पूर्वं 'दर्शय' इत्युर्वीकर्मविषयत्वेन क्रियामुपन्यस्य 'तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा च भूः' इति तत्कर्तृयेव धर्मिण्यकर्मकं क्रियान्तरमन्वाचीयते, सोऽयं भिन्नकालत्वभिन्नविषयत्वाभ्यामन्वाचयः समुच्चयाद्भिन्नो भवति ॥

नन्वेवं यदि समुच्चयेऽपि भिन्नविषये क्रिये तुल्यकालमेव प्रयुज्येते, को दोषः स्यात्। न कश्चित्। किंतु तस्य समुच्चयमुद्रया विषयोऽपहृत इति वोदाह्रियते ॥

इस प्रकार इतरेतरयोग होने पर भी दूसरे 'च' के योगों का उदाहरण दिया जा सकता है। समाहार तो चयोग विषयक है और उसका 'विचिन्त्य—मानम्' (४।१३९) इत्यादि के द्वारा कथन हो गया है। अन्वाचय तो क्रिया के ही विषय में संगत होता है। वहाँ पर उत्तरपद के ही आश्रित 'चकार' होता है। जैसे—

यहाँ रात्रि में सुई के अग्रभाग से छेद्य अन्धकार के द्वारा प्रकाश रुके हुये राजमार्ग पर अपने प्रियतमों के पास जा रही अभिसारिकाओं को तुम कसौटी पर उभरी हुई सोने की रेखा की भाँति चमकदार बिजली से भूतल को दिखा देना किन्तु पानी बरसा कर गर्जना मत क्योंकि वे बेचारी विह्वल हो जायेंगी ॥१४४॥

यहाँ पहले तो 'दर्शय' इस क्रिया को 'उर्वीं' पद को कर्म का विषय बनाते हुये, रखा गया फिर 'तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा च भूः' यह कह कर कर्त्ता रूप धर्मों के होते हुये भी दूसरी अकर्मक क्रिया का अन्वाचय किया जा रहा है। अतः यह समय की भिन्नता तथा विषय की भिन्नता के कारण होने वाला 'अन्वाचय' समुच्चय से भिन्न होता है।

(अब शंका है कि) यदि इसी प्रकार समुच्चय में भी भिन्नविषयक दो क्रियायें एक समय में ही युक्त होती हों, तो क्या दोष होगा? (उत्तर है) कोई दोष नहीं होगा। किन्तु समुच्चय की

मुद्रा से ही इसका विषय परिहार हो जाता है, अतः उसका उदाहरण नहीं दिया जा रहा है।

स्व० भा०—यहाँ 'च' के चारों प्रसिद्ध अर्थों का संक्षेप में निरूपण किया गया है। 'च' के—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग तथा समाहार ये चार अर्थ होते हैं। लघुकौमुदी में द्वन्द्व-प्रकरण में 'चार्थे द्वन्द्वः' ॥२।२।२९॥ के सन्दर्भ में इनकी संक्षिप्त व्याख्या दी गई है—"समुच्चयाऽन्वाचयेतरेतरयोग-समाहाराः चार्थाः। तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन् अन्वयः समुच्चयः। "भिक्षामट गां चानय' इति अन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनान्वयः अन्वाचयः।' अनयोरसामर्थ्याद् समासो न। 'धवखदिरौ छिन्धि' इति मिलितानाम् अन्वयः इतरेतरयोगः। संज्ञापरिभाषम् इति समूहः समाहारः।"

समुच्चय तथा अन्वाचय में अन्तर यह है कि प्रथम में एक ही काल तथा एक ही विषय होता है, किन्तु द्वितीय में कालभेद तथा विषयभेद होता है। जहाँ काल एक ही होता है किन्तु क्रियाओं के विषय में भेद होता है, उसे भी समुच्चय ही माना जाता है।

गच्छन्तीनामिति। तत्र स्त्रीणां सौदामिन्या विद्युता स्वमुर्वी भूमिं दर्शय। कीदृशीनाम्। नक्तं रात्रौ पतिगृहं गच्छन्तीनाम्। कस्मिन् सति। सूच्यग्रभेदनीयैरन्धकारै राजमार्गेऽवरुद्धदर्शने सति। सौदामिन्या कीदृश्या। कनकस्य हिरण्यस्य निकषः कषपट्टिकायां कषणरेखा तद्वत्स्निग्धया रुच्या तोयत्यागस्तनितमुखरस्त्वं मा भूः मा भव। यतस्ता अनाथा विक्लवा विह्वलाः स्युः। 'निकषः कषरेखायां पट्टिकायां कषस्य च' इति मेदिनीकारः। 'स्तनितं घनगर्जितम्' इत्यमरः। माभूरित्यत्र 'न माङ्योगे ६।४।७४' इत्यडभावः। अत्राद्यक्रियामुक्त्वा द्वितीयक्रियाया अन्वाचयः। समुच्चयाद्भेदमाह—भिन्नेति। समुच्चये एककालिक एकविषयेऽन्वयः, अत्रत्वन्वये कालभेदो विषयभेदश्चेति भेदादित्यर्थः। उक्तवैधर्म्ययोः समुच्चये सत्त्वमाशङ्क्य परिहरति—किंत्विति। समुच्चये उभयधर्मवत्त्वेऽपि समुच्चयत्वेनैव विषयपरिहारः, इह तु विवक्षयैव विनिगमनेत्याशयः॥

समासेऽपीतरेतरयोगादनुभयाश्रयः समुच्चयभेदो यथा—

> **वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
> **जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ १४५ ॥**

अत्र 'वागर्थाविव' इति परवल्लिङ्गता 'संपृक्तौ पितरौ' इत्यत्र योऽयं 'पुमान् स्त्रिया १।२।६७', 'पिता मात्रा १।२।७०' इति चैकशेषस्तेनैष विशेषलक्षणयोगाद्वक्रोक्तित्वे सत्यलंकारतां लभत इति, न धवखदिरादिष्वतिप्रसङ्ग इत्ययमपि समुच्चयभेदः ॥

समास में भी इतरेतर योग से होने वाला अनुभयाश्रय समुच्चय का ही भेद है। जैसे—

वाच्य तथा अर्थ के निश्चय के लिये वाणी तथा अर्थ की ही भाँति मिले हुये संसार के माता-पिता पार्वती तथा परमेश्वर की वन्दना करता हूँ ॥ १४५ ॥

यहाँ 'वागर्थाविव' में परवत् लिङ्गत्व है, 'संपृक्तौ पितरौ' इसमें जो यह 'पुमान् स्त्रिया १।२।६७॥ तथा 'पिता मात्रा १।२।७०' इन सूत्रों के अनुसार एकशेषता है, इसलिये विशेष लक्षण का योग होने से वक्रोक्ति होने के कारण अलंकारत्व को प्राप्त करता है। इसकी धवखदिर आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती। अतः यह भी समुच्चय का भेद ही है।

स्व० भा०—यहाँ पर 'वागर्थौ' में जो द्विवचनान्तता है वह परवर्ती पद के अनुसार है। यह कार्य "परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः।२।४।२६॥" सूत्र के अनुसार हुआ है। उक्त श्लोक में 'संपृक्तौ' पद 'संपृक्ता च संपृक्तश्च' इस विग्रह के साथ 'पुमान् स्त्रिया' इस सूत्र के अनुसार होता

है। इसका अर्थ है कि—"स्त्रीवाचकपद के साथ कहे जाने पर विकल्प से पुरुषवाचक पद शेष रहता है।" अतः पुल्लिग के अनुसार 'संपृक्तौ' रूप द्विवचन द्वितीया में हुआ। इसी प्रकार 'पितरौ' पद भी 'पिता मात्रा' सूत्र के अनुसार बना है। इसका भी अर्थ है कि 'माता के साथ कथन होने पर विकल्प से पितापद शेष रहता है,' दो पदों में से एक के लुप्त हो जाने तथा एक के ही बच रहने से एकशेष नाम सार्थक होता है।

वागर्थावित्यादि। अहं गौरीहरौ वन्दे नमामि। विमर्शम्। वाक् चार्थश्च तयोः प्रतिपत्तये निश्चयाय। कीदृशौ। वागर्थाविव शब्दतदभिधेयाविव संपृक्तौ संबद्धौ। यथा शब्दस्तद्वाच्योऽर्थश्च द्वौ नित्यसम्बद्धौ वाच्यवाचकत्वसंबन्धेन तथा यौ नित्यसंबद्धावित्यर्थः। जगतो लोकस्य पितरौ मातृजनकौ। पिता च माता चेति द्वन्द्वे 'पिता मात्रा १।२।७०' इत्येकशेषे पितराविति। पार्वत्या मातृत्वेन मातुश्चातिगौरवेणाभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिपातः। 'सहस्रेण पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते।' इति स्मृतिः। अनेनार्धनारीश्वर उक्तः। यद्वा पार्वतीं पातीति पार्वतीपो हरः, रमाया लक्ष्म्या ईश्वरो हरिस्तौ वन्दे। यद्वा पार्वतीपरो हरो मायाः लक्ष्म्या ईश्वरो हरिस्तौ हरहरी वन्दे। कीदृशौ। लोकस्य पितरौ जनकौ। अन्यत्तुल्यमेव। एतेन हरिहररूपमुक्तमिति कुव्याख्या। 'रमा लक्ष्म्यामपीष्यते' इति विश्वः। 'मा च लक्ष्मीर्निगद्यते' इत्येकाक्षरः। परवल्लिङ्गता अर्थशब्दलिङ्गता। संपृक्ता च संपृक्तश्चेत्यत्र 'पुमान् स्त्रिया १।२।६७' इत्येकशेषः। अतएवोक्तेर्वक्रतयेहालंकारता। न च धवखदिरावित्यादिषु वक्रोक्तिरतो नालंकारता॥

समाहारयोगादपि यथा—

> स्त्रीणां हावैः कृते यत्र निजकार्ये मनोभुवा।
> अक्षिभ्रुवनिभं न्यस्तं तन्मुखे शरकार्मुकम्॥ १४६॥

अत्रापि योऽयं 'अक्षिभ्रुवम', 'शरकार्मुकम्', इत्येतयोः 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २।४।२' इति, 'वाङ्मनसाक्षिभ्रुव–५।४।७७' इति च विशेषलक्षणयोगस्तेन धवखदिरपलाशमित्येवमादिषु नातिप्रसङ्गो भवति॥

समाहार के योग से भी होने वाले समुच्चय का उदाहरण—

जहाँ (नगरों में) स्त्रियों की श्रृङ्गारजनित चेष्टाओं से ही अपना काम सम्पन्न हो जाने से कामदेव ने इनके मुख में नेत्र तथा भौंहों के बहाने अपना बाण तथा धनुष रख दिया॥१४२॥

यहाँ भी जो यह 'अक्षिभ्रुवम्' 'शरकार्मुकम्' इन दोनों में 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २।२।२' तथा 'वाङ्मनसाक्षिभ्रुवम् ।५।४.७७।' आदि सूत्रों के द्वारा विशेष लक्षण का योग है। इससे 'धवखदिरपलाशम्' के सदृश अन्य उदाहरणों में इसकी अतिव्याप्ति नहीं होती।

स्व० भा०—उदाहरण में दो समाहारद्वन्द्व के पद 'अक्षिभ्रुवम्' तथा 'शरकार्मुकम्' दिये गये हैं। उनका समाहारयोग 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य-सेनाङ्गानाम्' २।४।२॥ तथा 'अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तंदिवरात्रिंदिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः ५.४.७७॥ से हुआ है। संयम का अङ्ग होने से शरश्च कार्मुकं च' 'शरकार्मकम्' की सिद्धि होती है। इसी प्रकार दूसरे सूत्र में प्रथम तीन पदों के बाद ग्यारह में द्वन्द्व अभीष्ट होने से तथा 'अक्षिभ्रुव' के इसमें आने से निपातन से 'टि' का लोप करके 'अक्षिणी च भ्रुवौ च' का 'चाक्षिभ्रुवम्' रूप बना है।

वृत्ति की अन्तिम पंक्ति में 'धवखदिर' आदि में जो अतिव्याप्ति का निवारण किया गया है,

इसका अर्थ यह है कि समाहारद्वन्द्व के प्रसङ्ग में जिस प्रकार 'धवश्च खदिरश्च पलाशश्च' धव-खदिरपलाशम्' रूप की सिद्धि कर दी गई है, इसी प्रकार मात्र समास करना द्वीय 'हाँ उद्देश्य नहीं है, अपितु वास्तविक लक्ष्य है सहृदय के हृदय को आह्लादित करनेवाला चमत्कार।

स्त्रीणामित्यादि। यत्र नगरे मनोभुवा कामेन तन्मुखे स्त्रीणां मुखेऽविभ्रुवनिभं नेत्रभ्रूव्याजं शरकार्मुकं न्यस्तमारोपितम्। स्त्रीणां हावैः श्रृङ्गारजक्रियाभिर्निजकार्यं मनआ-पलादौ कृते सति। 'हावः क्रियाः श्रृङ्गारभावजाः' इत्यमरः। अत्रापि विशेषलक्षणाभ्यामेव वक्रोक्तिता॥ इति समुच्चयालंकारनिरूपणम्॥

आक्षेपालंकारनिरूपणम्।

आक्षेपं लक्षयति—

विधिनाथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या।
शुद्धा मिश्रा च साक्षेपो रोधो नाक्षेपतः पृथक्॥ ६४॥

(१४) आक्षेपालंकार

काव्य में विधि अथवा निषेध के द्वारा जो प्रतिषेध का निर्वचन है वह आक्षेप है। वह शुद्ध तथा मिश्र होता है। (अन्यों को मान्य) रोध अलंकार भी आक्षेप से भिन्न नहीं है।

स्व० भा०—प्राचीन आलंकारिकों में भामह ने आक्षेपालंकार के दो भेदों—वक्ष्यमाणविषय आक्षेप तथा उक्तविषय आक्षेप—को स्वीकार किया है (काव्यालंकार २।६८–७०)। दण्डी ने भी इसके अनन्त भेदों की कल्पना करके लगभग चौबीस भेदों का उदाहरण दिया है। इनके अनुसार—

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता॥ काव्यादर्श २।१२०॥

इन दोनों की अपेक्षा रुद्रट द्वारा प्रस्तुत लक्षण अधिक उपयुक्त है—

वस्तुप्रसिद्धमिति यद्विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत्तथात्वसिद्धयै यत्र ब्रूयात् स आक्षेपः॥ काव्यालंकार ॥८।८९॥

विधिनेति। विधिना हेतुना प्रतिषेधेन वा हेतुना या प्रतिषेधस्योक्तिर्निर्वचनं सा आक्षेपः। रोधः पुनराक्षेप एवेत्याह—रोध इति। आक्षेपलक्षणेनैव गृहीतत्वाद्रोधो न ततो भिन्न इत्यर्थः॥

तत्र विध्याक्षेपः शुद्धो यथा—

गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्॥ १४७॥

अत्र 'गच्छ' इत्यस्य विधिवाक्यस्य 'ममापि जन्म तत्रैव भूयात्' इत्याशि-षानुकूलतयैव मरणसूचनान्निषेधः क्रियत इति शुद्धोऽयं विध्याक्षेपः॥

इनमें से विधि आक्षेप के शुद्ध रूप का उदाहरण—

हे प्रिय, यदि जाते ही हो तो जाओ। आपके मार्ग निर्विघ्न हों। (भगवान् से यही प्रार्थना है कि) मेरा भी जन्म वहीं हो जहाँ आपका गमन होगा॥ १४७॥

यहाँ 'जाओ' इस विधिवाक्य का 'मेरा भी जन्म वहीं' हो इस आशीर्वाद के द्वारा अनुकूल रूप से ही मरण की सूचना देने से निषेध किया जा रहा है। इस प्रकार यह शुद्ध विधि आक्षेप है।

स्व० भा०—"मेरा भी जन्म वहीं हो, जहाँ आप जायेंगे" कहने का अभिप्राय है कि आपके जाने से मैं निश्चित मर जाऊँगी, आप मत जाइये।'

दण्डी के शब्दों में—

इत्याशीर्वचनाक्षेपो यदाशीर्वादवर्त्मना।
स्वावस्थां सूचयन्त्यैव कान्तयात्रा निषिध्यते॥ काव्यादर्श २।२४२॥

दण्डी इसमें आशीर्वचनाक्षेप मानते हैं।

गच्छेत्यादि। इह हे कान्त वल्लभ, चेद्यदि गच्छसि तदा गच्छ। विदेशमिति शेषः। मया न रोधः क्रियते। किंतु भवान्यत्र गतो भूयात्तत्रैव ममापि जन्म भूयादिति। परं वदामीति शेषः। अत्र गमनस्य विधिरूपस्य जन्म भूयादित्यनेन विधिरूपेणैव त्वयि गते मया मर्तव्यमिति मरणसूचनाद्विधिना गमनप्रतिषेधोक्तिः अन्यासंकरेण च शुद्धता॥

मिश्रो यथा—

अलं विवादेन यथा श्रुतं त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते॥ १४८॥

अत्र 'अलं विवादेन' इति निषेधेन, 'तथाविधः सोऽस्तु—' इति विधिना च तन्मतमवस्थाप्य, 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितम्' इति विधिना, 'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते' इति प्रतिषेधेन च यत्पुनराक्षिपति, सोऽयं विधिनिषेधाभ्यां विधिमिश्र आक्षेपो भवति॥

मिश्र का उदाहरण—

अधिक वाद-विवाद मत करो। तुमने उनके विषय में जैसा सुना है, वह सबका सब चाहे वैसा ही क्यों न हो, किन्तु अभिप्राय के वश मेरा मन उनमें ही लगा हुआ हैं। स्वेच्छानुसार कार्य करने वाला व्यक्ति दूसरे की निन्दा को नहीं देखता॥ १४८॥

यहाँ 'अलं विवादेन' इस निषेध से, 'तथाविधः सोऽस्तु' इस विधि से उसके मत की स्थापना करके 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितम्' इस विधि से तथा 'न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते' इस प्रतिषेध से जो पुनः आक्षेप होता है, वही विधि तथा निषेध दोनों के द्वारा विधिमिश्र आक्षेप होता है।

स्व० भा०—यहाँ दो विधिवाचक तथा दो निषेधवाचक वाक्यों की उपस्थिति है। दोनों के कारण मिश्रता हुई। किन्तु अन्ततः अभिप्राय यही आता है कि 'ममात्र भावैकरसं मनः स्थितम्' जो विधिवाचक हैं। अतः विधिमिश्रता सिद्ध है।

अलमित्यादि। त्वया यथा श्रुतं तत्र विवादेनालं निष्फलम्। अशेषं समग्रं यथा स्यादेवं स तावत्तथाविध एवास्तु। मम मनोऽत्र भावैकरसमभिप्रायवशं स्थितमस्ति। यद्यपि भवे विरूपाक्षत्वादिकं त्वदुक्तं वर्तते, तथापि मन्मनस्तदेकपरमित्यर्थः। अत्र हेतुः कामवृत्तिरिच्छाव्यापारो वचनीयं वक्तव्यं नेक्षते न पश्यति। इच्छा न परार्थयोज्या भवतीत्यर्थः। अत्र निषेधविधिभ्यां तन्मतस्थापनरूपस्य विधेर्विधिनिषेधाभ्यामाक्षेप इति विध्याक्षेपोऽयं मिश्रः॥

निषेधाक्षेपः शुद्धो यथा—

कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कलभाषिणि।
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन्कर्मणि मन्यसे॥ १४९॥

अत्र 'कुतः कुवलयं कर्णे करोषि' इत्यस्य निषेधवाक्यस्य 'किमपाङ्गम्—' इत्यादिना प्रश्नपरेणापि निषेधपर्यवसायिना वाक्येन समर्थनं क्रियत इत्ययं शुद्धो निषेधाक्षेपः ॥

निषेधाक्षेप के शुद्धभेद का उदाहरण—

हे मधुरभाषिणि, अपने कानों में तुम नीलकमल क्यों लगा रही हो ? क्या इस (कामियों के वशीकरण) कर्म में अपने नेत्रकोणों को तुम असमर्थ समझती हो ? ॥ १४९ ॥

यहाँ 'कुतः कुवलयं कर्णे करोषि' इस निषेध वाक्य का 'किमपाङ्गम्' आदि दूसरे प्रश्नात्मक तथा निषेध में पर्यवसित होने वाले वाक्य के द्वारा समर्थन किया जाता है। इसलिये यह शुद्ध निषेध आक्षेप है।

स्व० भा०—यहाँ प्रथमार्ध का तात्पर्य है "कानों में कुवलय न पहनो" तथा अपरार्ध का अभिप्राय है "इस काम में तुम्हारे अपाङ्ग मात्र ही कम नहीं है।" इस प्रकार उभयार्धों में केवल निषेधात्मकता होने से शुद्ध निषेध का आक्षेप है। दण्डी के अनुसार इसमें वर्त्तमानाक्षेप है (२।१२४)।

कुत इत्यादि। हे कलभाषिणि मधुरवचने, कस्मान्नीलोत्पलं कर्णे करोषि। कुत इति प्रतिषेधे हेतुमाह—अस्मिन् कर्मणि कामिवशीकरणादौ किमपाङ्गं नेत्रप्रान्तमपर्याप्तमसमर्थं त्वं मन्यसे। अत्र निषेधस्य निषेधपर्यवसायिवाक्येन क्षेपणान्निषेधाक्षेपः। शुद्धता च कैवल्येन ॥

मिश्रो यथा—

सच्चं गुरुओ गिरिणो को भणइ जलासआ या गम्भीरा।
धीरेहिं उवम माउं तह वि खु मह णत्थि उच्छाहो ॥ १५० ॥
[सत्यं गुरवो गिरयः को भणति जलाशया न गम्भीराः।
धीरैरुपमातुं तथापि खलु मम नास्त्युत्साहः ॥]

अत्र 'सत्यं गुरवो गिरयः' इति विधिः, 'क आह जलाशया न गम्भीराः' इति परमाक्षेपरताभ्यां गिरीणां गुरुत्वम् सागराणां च गाम्भीर्यं यदयमुत्तरार्धेन धीरापेक्षया निषेधति, अन्यापेक्षया तत्तदेव विधत्ते स एष मिश्रो निषेधाक्षेपः ॥

मिश्र का उदाहरण—

सच ही पर्वत महान् हैं। कौन कहता है कि सागर गम्भीर नहीं है ? फिर भी धीर पुरुषों के साथ इनकी तुलना करने में मुझे उत्साह ही नहीं आता ॥ १५० ॥

यहाँ 'सत्यं गुरवो गिरयः' में विधि, 'क आह जलाशया न गम्भीराः' इसमें दूसरे की मान्यता पर आक्षेप है। इन दोनों के द्वारा पर्वतों की गुरुता तथा सागरों की गम्भीरता जो यह उत्तरार्ध के द्वारा धीर पुरुष की अपेक्षा निषिद्ध हो रही है, अन्यों की तुलना में वही वही निहित हैं। अतः यह मिश्र नामक निषेध आक्षेप है।

स्व० भा०—वृत्ति की अन्तिम पंक्तियों का अभिप्राय यह है कि गुरुता तथा गम्भीरता जब धीर पुरुष से सन्तुलित होते हैं तब तो निषेध अर्थ होता है और जब इनकी तुलना नहीं होती है तब ये स्वतः गुरु तथा गम्भीर स्वीकृत होने से विधि वाचक ही होते हैं। इस प्रकार विधि तथा निषेध दोनों का संयोग होने से यह मिश्रा का भेद है।

सच्चमित्यादि। 'सत्यं गुरवो गिरयः को भणति जलाशया न गम्भीराः। धीरैरुपमातुं

तथापि मम नास्त्युत्साहः ॥' इह पर्वता निश्चितं गुरुत्वाश्रयाः । को वदति जलाशयाः सागरा न गम्भीराः किंतु गम्भीरा एव । गिरिसागरौ धीरैः सहोपमातुं सदृशीकर्तुं तथापि मम नोत्साहोऽस्ति धीराणां तयोराधिक्यात् । 'जलाशयो जलाधारः' इति कोषाद्यद्यपि जलाशयपदं जलाधारमात्रार्थकं तथाप्यतिगाम्भीर्ययोग्यतया सागरपरम् । अत्र विधिनिषेधाभ्यां गुरुत्वगाम्भीर्यनिषेधोऽन्यापेक्षया विधिश्चेति मिश्रता ॥

'रोधो नाक्षेपतः पृथक्' इति यदुक्तं तत्रैतावान्विशेषः—

क्रियासूत्तिष्ठमानस्य वारणं कारणेन यत् ।
उक्त्या युक्त्या च रोधो य आक्षेपः सोऽयमुच्यते ॥ ६५ ॥
प्रतिकूलोऽनुकूलश्च विधौ रोधोऽभिधीयते ।
निषेधेऽप्युक्तियुक्तिभ्यां द्विप्रकारः स कथ्यते ॥ ६६ ॥

(कारिका ४।६४ में) जो यह कहा गया है कि 'रोध अलंकार आक्षेप से भिन्न नहीं है, उसमें इतनी बात विशेष है—

क्रिया में उठ रही बात का जो किसी कारण से उक्ति अथवा युक्ति के द्वारा निषेध है वही रोध है। जो यह रोध है वह (लक्षण के अनुसार) आक्षेप कहा जाता है। विधि की दशा में रोध प्रतिकूल तथा अनुकूल दो प्रकार का कहा जाता है। निषेध में भी वह उक्ति तथा युक्ति के कारण दो प्रकार का कहा जाता है ॥ ६५–६६ ॥

रोधे विशेषमाह—क्रियास्विति । क्रियासूद्योगिनां हेतुद्वारा यन्निवारणमुक्त्या युक्त्या च स रोधः । स च शेषीभूत आक्षेप एव । विधिनिषेधयोगित्वमथाक्षेपसाधारण्यम् ॥६५ ६६॥

तत्रोक्त्या विधौ प्रतिकूलो यथा—

किं जम्पिएण दहमुह जम्पि असरिसं अणिव्वहन्तस्स भरम् ।
एत्तिअ जम्पिअसारं णिहण अण्णे वि वज्जधारासु वआ ॥ १५१ ॥

[किं जल्पितेन दशमुख जल्पितसदृशमनिर्वाहयतो भरम् ।
एतावत् जल्पितसारं निधनमन्येऽपि वज्रधारासु गताः ॥]

अत्र 'किमः' प्रतिकूलवाचित्वाद् वचनवृत्त्यैव जल्पन् दशाननश्चित्ररथेन रुद्धः, कारणं च वज्रप्रभावकीर्तनादिति प्रातिकूल्येनोपन्यस्तम्, सोऽयमोक्तः प्रतिकूलश्च विध्याक्षेपो रोध इत्युच्यते ॥

इनमें से विधि दशा में उक्ति के कारण प्रतिकूलता का उदाहरण—

हे रावण, भाषण देने से क्या लाभ ? कथनी के समान करनी के भार का निर्वाह न करने वाले की बातों का तत्त्व यही है कि दूसरे योद्धा भी वज्र की धारा में पड़कर मृत्यु को प्राप्त हो गये ॥ १५१ ॥

यहाँ 'किम्' पद का प्रतिकूल अर्थ होने से केवल वाणी से ही बकता हुआ रावण चित्ररथ के द्वारा रोका गया है। कारण भी वज्र का प्रभाव वर्णन के कारण प्रतिकूल रूप से उल्लिखित हुआ है। अतः यह उक्त तथा प्रतिकूल विध्याक्षेप रोध कहा जाता है।

किमित्यादि । "किं जल्पितेन दशमुख जल्पितसदृशनिर्वाहयतो भरम् । एतावत् जल्पितसारं निधनमन्येऽपि वज्रधारासु गताः ॥" इह हे दशमुख रावण, जल्पितेन भाषितेन किम् । किंतु न किमपि । कस्य, उक्तिसदृशं भरमनिर्वाहयतः पुंसः भरम-

व्यवसायम्। एतावदेतदेव जल्पितसारं श्रेष्ठम् यदन्येऽपि योधा वज्रधारासु निधनं नाशं गताः। 'श्रेष्ठेऽर्थवत्सारमुदाहरन्ति' इति शाश्वतः। अत्र जल्पन् रावणश्चित्ररथेन वज्रप्रभावकीर्तनरूपप्रतिकूलोक्त्या रुद्ध इति विध्याक्षेपविरोधः ॥

उक्त्यैव विधावनुकूलो यथा—

'हन्तुं विमग्गमाणो हन्तुं तुरिअस्स अप्पणा दहवअणम् ।
किं इच्छसि काउं जे पवअवइ पिअं ति विप्पिअं रहवइणो ॥ १५२ ॥

[हन्तुं विमार्गमाणो हन्तुं त्वरितस्यात्मना दशवदनम् ।
किमिच्छसि कर्तुं यत्प्लवगपते प्रियमिति विप्रियं रघुपतेः ॥]

अत्रापि 'किमः' प्रतिषेधवाचित्वात् वचनवृत्त्यैव दशाननवधायोत्तिष्ठमानः सुग्रीवो जाम्बवता रुद्धः, कारणं पुनरानुकूल्येनैवोक्तम्—'किमेतत् त्वया रघुपतेः प्रियरूपं विप्रियमुपक्रान्तम्' इति। सोऽयमौक्तोऽनुकूलश्च विध्याक्षेपो रोध इत्युच्यते ॥

उक्ति के द्वारा ही विधिदशा में अनुकूल का उदाहरण—

हे वानरराज सुग्रीव, रावण को मारने के लिये याचना करते हुये तुम राम के किस प्रिय कर्म को करके अनिष्ट करना चाहते हो, (क्योंकि) राम तो रावण को मारने के लिये स्वयं उद्यत हैं ॥ १५२ ॥

यहाँ 'किम्' के प्रतिषेधवाचक होने से वाणी द्वारा ही रावण के वध के लिये उठ रहे सुग्रीव जाम्बवान् के द्वारा रोके गये हैं। कारण किन्तु अनुकूलतापूर्वक ही कहा गया है—'किमेतत् त्वया रघुपतेः प्रियरूपं विप्रियमुपक्रान्तम्—राम के लिये यह क्या प्रियरूप वाला अप्रियकार्य तुम प्रारम्भ कर रहे हो।" अतः यह उक्ति से सम्बद्ध अनुकूल विधि आक्षेप नामक रोध कहा जाता है।

हन्तुमित्यादि। "हन्तुं विमार्गमाणो हन्तुं त्वरितस्यात्मना दशवदनम्। किमिच्छसि कर्तुं प्लवगपतेऽस्य प्रियमिति विप्रियं रघुपतेः ॥" इह हे प्लवगपते सुग्रीव, दशवदनं हन्तुं विमार्गमाणो याचमानस्त्वं रघुपते रामस्य किं प्रियमिति कृत्वा विप्रियमनिष्टं कर्तुमिच्छसि। कथं विप्रियता तत्राह-कीदृशस्य 'दशवदनमेवात्मना हन्तुं त्वरितस्य, प्रभुणा जिघांसितस्य हि वधेऽपराध इति स एव पुरुषोत्तमस्तं घातयतु। समेतैर्भवद्भिः साहाय्यमाचर्यतामित्याशयः। यच्छब्दोऽव्ययत्वेनानेकार्थतया संबोधनार्थः। यद्वा जेशब्दः पादपूरणे। दशवदनपदमाकाङ्क्षाक्रमेणावृत्त्या हननद्वयान्वयि। अत्र रावणवधोद्यमो विधिरुक्त्यैव जाम्बवता रुद्धोऽनुकूलतया हेतुमुद्भाव्येति रोधोऽयं विध्याक्षेपशेषः ॥

विधावेव युक्त्यानुकूलः प्रतिकूलश्च यथा—

गच्छेति वक्तुमिच्छामि त्वत्प्रियं मत्प्रियैषिणी।
निर्गच्छति मुखाद्वाणी मा गा इति करोमि किम् ॥ १५३ ॥

अत्र यथोक्तमुक्त्वा 'किं करोमि' इत्यानुकूल्येनैवाह। अत्र किमः प्रश्नार्थत्वेऽपि युक्त्या निषेधार्थत्वं गम्यते, सोऽयं यौक्तोऽनुकूलश्च विध्याक्षेपो रोध इत्युच्यते ॥ अयमेव चास्या वैयात्योक्तिपक्षे यौक्तः प्रतिकूलविध्याक्षेपो रोधो भवति ॥

विधि में ही युक्ति के द्वारा अनुकूल तथा प्रतिकूल का उदाहरण—

'तुम जाओ' यह दूसरे के लिये प्रियवाणी में कहना चाहती हूँ, किन्तु मेरे मुख से मेरा हित चाहने वाली वाणी "मत जाओ" यह निकल जाती है। फिर भला मैं क्या करूँ ॥ १५३ ॥

यहाँ कही गई रीति से बोलकर "किं करोमि" यह बात अनुकूलता के साथ ही कही गई है। यहाँ 'किम्' पद के अर्थ के प्रश्नवाचक होने पर भी युक्ति द्वारा उससे निषेध का अर्थ प्रतीत हो रहा है। उक्त लक्षणों वाला यही युक्ति का अनुकूल विध्याक्षेप रोध यह कहा जाता है। यही इसके विपरीत उक्ति के पक्ष में युक्ति से सम्बद्ध प्रतिकूल विधि आक्षेप रोध हो जाता है।

स्व० भा०—वृत्ति के अन्तिम वाक्य 'अयमेव'''भवति' का तात्पर्य यह है कि यदि प्रगल्भतावश इसका विपरीत उच्चारण हो जाये अर्थात् "मा गच्छेति वक्तुमिच्छामि, गच्छेति वाणी निःसरति अत्र किं करोमि" यह रूप हो जाये तब इसी को प्रतिकूल विधि आक्षेप मानने से रोध होगा। दण्डी ने इसमें यत्नाक्षेप स्वीकार किया है और कहा है—

"यत्नाक्षेपः स यत्नस्य कृतस्यानिष्टवस्तुनि।
विपरीतफलोत्पत्तेरानर्थक्योपदर्शनात् ॥ काव्यादर्श २।१४८ ॥

गच्छेत्यादि। हे सखि, त्वत्प्रियं गच्छेति वक्तुमिच्छामि। मत्प्रियैषिणी स्त्रीत्वेन स्त्रीप्रियत्वान्मा गा इति वाणी मम मुखान्निर्गच्छतीति किं करोमि। 'मत्प्रियं त्वत्प्रियैषिणी' इति पाठे तु त्वत्प्रियैषिण्यहं गच्छेति विवक्षामि, मत्प्रियं यथा भवति तथा मा गा इति वाणी निःसरतीति योज्यम्। अत्र किं करोमीत्यस्य युक्त्या प्रकृतोपपत्त्या निषेधार्थतावगमः। यदि वैयात्यात्प्रागल्भ्याद् विपरीतमभिधत्ते तदा मा गच्छेति वक्तुमिच्छामि, गच्छेति वाणी निःसरतीत्यत्र किं करोमीति तदा युक्तिसिद्ध एव रोधोऽयम् ॥

युक्त्या निषेधे प्रतिकूलो यथा—

'पउरजुआणो गामो महुमासो जोव्वणं पई ठेरो।
'जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ ॥ १५४ ॥

[प्रचुरयुवा ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः।
जीर्णसुरा स्वाधीना असती मा भवतु किं म्रियताम् ॥]

अत्र 'असती मा भवतु' इति यः प्रतिषेधमाह स 'प्रचुरयुवाग्रामः—' इत्यादि कारणमुक्त्वा ततः 'किं म्रियताम्' इति प्रातिकूल्येन रुध्यते। तत्र किमः काका सासूयप्रश्नार्थस्य युक्त्या निषेधार्थत्वं गम्यते, सोऽयं यौक्तः प्रतिकूलनिषेधाक्षेपो रोध इत्युच्यते ॥

युक्ति के द्वारा निषेध करने पर प्रतिकूल का उदाहरण—

जहाँ गाँव में बहुत से युवक रहते हों, वसन्तऋतु आई हो, सुन्दरी में जवानी हो और पति बूढ़ा हो, अपने अधिकार में बढ़िया पुरानी मदिरा हो और जो स्वयं स्वतन्त्र हो, वह युवती यदि असती नहीं होगी तो क्या मरेगी ? ॥ १५४ ॥

वहाँ 'असती मा भवतु' इसमें जो प्रतिषेध कहा गया है वह "प्रचुरयुवाग्रामः" आदि कारण का कथन करके फिर 'किं म्रियताम्' इस प्रकार की प्रतिकूलता के द्वारा रुद्ध कर दिया जाता है। वहाँ 'किम्' के जिसका काकु के द्वारा असूया से भरा हुआ प्रश्नवाचक अर्थ है, युक्ति के द्वारा निषेधरूप अर्थ को प्राप्त करा दिया जाता है। इस प्रकार यह युक्ति से सम्बद्ध प्रतिकूल निषेध आक्षेप है जो रोध कहा जाता है।

स्व० भा०—किसी वाक्य का उच्चारण करते समय पदों पर इस प्रकार का बलाघात करना कि उसका दूसरा अर्थ प्रकट होने लगे 'काकु' कहलाता है।

पउर इत्यादि। "प्रचुरयुवको ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः। जीर्णसुरा स्वाधीना असती मा भवतु किं म्रियताम्॥" काचिद्वृद्धपतिका चलचित्तेति ज्ञात्वा कयाचित्कस्यैचित्कथितम्। सा तु तत्रोत्तरमाह—प्रचुर इति। प्रचुरा बहवो युवानस्तरुणा यत्र तादृशः। 'शेषाद्विभाषा ५।४।१५४' इति कप्। मधुमासो वसन्तः, यौवनम्, स्वामी स्थविरो वृद्धः। जीर्णसुरा पुराणमद्यं स्वाधीनं निजायत्तमतोऽसती सा मा भवतु किं म्रियताम्। यद्यस्मिन् वत्सरे सा चञ्चला न स्यान्म्रियेतैवेत्यर्थः। सुरा जीर्णा प्रीतिकरीति मद्यपप्रसिद्धिः। अत्र किं म्रियतामिति किमः काकुगर्भतया सासूयप्रश्नार्थता युक्त्या निषेधविषयिणी ज्ञायत इति रोधोऽयम्॥

युक्त्यैव निषेधेऽनुकूलो यथा—

कह मा झिज्जउ मज्झो इमाइ कन्दोट्टदलसरिच्छेहिं।
अच्छीहिं जो ण दीसइ धणथणभररुद्धपसरेहिं॥ १५५॥

[कथं मा क्षीयतां मध्योऽस्याः कुवलयदलसदृक्षाभ्याम्।
अक्षिभ्यां यो न दृश्यते घनस्तनभररुद्धप्रसराभ्याम्॥]

अत्र 'स्तनादिवदस्या मध्योऽपि मा क्षीयताम्' इति निषेधवादी केनचिदानुकूल्येन रुध्यते। कथमयं मा क्षीयतामिति। योऽस्याः कुवलयदलसदृक्षाभ्यां लोचनाभ्यां घनस्तनरुद्धप्रसराभ्यां न दृश्यते। इयं ह्येताभ्यामन्यमीक्षमाणा यन्न पश्यति सोऽहमिव मध्योऽपि क्षीयमाणो लक्ष्यते तत्र किमः प्रश्नार्थत्वे निषेधार्थत्वं गम्यते, सोऽयं यौक्तोऽनुकूलश्च निषेधाक्षेपो रोध इत्युच्यते॥

युक्ति के द्वारा निषेध व्यक्त करने पर अनुकूल का उदाहरण—

इस सुन्दरी का कटिप्रदेश भला कैसे क्षीण न हो जो कि सटे हुए स्तनों की ऊँचाई द्वारा रोकी गयी गति वाले, नीले कमलदल के सदृश दोनों नयनों से इस रूपसी के द्वारा देखा ही नहीं जाता॥ १५५॥

यहाँ 'स्तन आदि की भाँति इसकी कटि भी क्षीण न हो' इस प्रकार का निषेध करने वाला किसी के द्वारा अनुकूलता के साथ रोक दिया जाता है। "कैसे यह क्षीण नहीं हो" जो कि इसके नीलकमलदल के सदृश जिनकी सघन स्तनों के द्वारा गति रोक दी गई है उन नयनों से देखी ही नहीं जाती। यह सुन्दरी इन नयनों से दूसरे को देखती हुई नहीं देख रही हैं, तो मेरे ही जैसा इसका मध्यदेश भी क्षीण होता हुआ दिखाई पड़ रहा है। यहाँ 'किम्' का अर्थ प्रश्नवाचक होने से उसकी निषेधार्थकता प्रतीत होती है। अतः यह युक्ति से सम्बद्ध अनुकूल निषेधाक्षेप रोध कहा जाता है।

स्व० भा०—यहाँ नायक के कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार यह मेरे ऊपर कृपा की दृष्टि नहीं डालती और मैं दुबला होता जा रहा हूँ इसी प्रकार निगाह न पड़ने से इसकी कमर भी क्षीण होती जा रही है। यहाँ भी 'किम्' का अर्थ निषेधार्थक ही है।

कहमित्यादि। "कथं मा क्षीयतां मध्योऽस्याः कुवलयदलसदृक्षाभ्याम्। अक्षिभ्यां यो न दृश्यते घनस्तनभररुद्धप्रसराभ्याम्॥" इहास्या नायिकाया मध्यः कथं मा क्षीयतां न क्षीणतां यातु। योऽस्याः कुवलयदलतुल्याभ्यामक्षिभ्यां निबिडकुचभरावरुद्धगताभ्यां न दृश्यते। अत्रानया नेत्राभ्यामन्यमीक्षमाणया यथाहं न दृष्ट इत्यहं क्षीणस्तथा मध्यो

ऽपि तेनैव क्षीणतापन्न इति लक्ष्यते। इहापि किमो निषेधार्थत्वं युक्त्यैव ज्ञायते ॥

निषेध एवोक्त्या प्रतिकूलोऽनुकूलश्च यथा—

भ्रुकुटिरारचिता गतमग्रतो हृतमथाननमुक्तमसाधु वा।
इयमतिप्रभुता क्रियते बलादकुपितोऽपि हि यत्कुपितो जनः ॥१५३॥

अत्र 'अकुपितोऽपि कुपितः क्रियते' इति योऽयं निषेधाक्षेपरूप उपालम्भः, तत्र च 'भ्रुकुटिरारचिता—' इत्यादिवैयात्येन प्रतिकूलं कारणमुपन्यस्य, 'सेयमतिप्रभुता, सोऽयं बलात्कारः' इति काक्वा वाचनिकमेवोपालम्भमभिधत्ते; तेनायमौक्तः प्रतिकूलश्च निषेधाक्षेपो रोध इत्युच्यते ॥ अयमेव चास्या अवैयात्योक्तिपक्षे स्वरूपाख्यानादौक्तोऽनुकूलनिषेधाक्षेपो रोधो भवति ॥

निषेध में ही उक्ति के द्वारा प्रतिकूल तथा अनुकूल दोनों का उदाहरण—

'तुमने जो यह भौंहे बना ली', सामने लाये हुये मुख को भी खींच लिया और अभद्र शब्दों का उच्चारण भी किया। यह तो वस्तुतः तुम्हारा बलात्कार है जो जबर्दस्ती इस क्रोधरहित व्यक्ति को क्रुद्ध कर दिया ॥ १५६ ॥

यहाँ 'अकुपितोऽपि जनः कुपितः क्रियते' इस प्रकार से तो यह निषेध का आक्षेप रूप उपालम्भ है, वहाँ 'भ्रुकुटिरारचिता' आदि का प्रगल्भता के द्वारा विपरीत अर्थ ग्रहण करने पर प्रतिकूल कारण का सन्निवेश करके 'सेयमतिप्रभुता सोऽयं बलात्कारः'—जो यह प्रभुत्व का अतिक्रमण है वहीं यह बलात्कार है—इस प्रकार का काकु के द्वारा वाचनिक ही उपालम्भ का अभिधान करता है। इसलिये यह उक्ति से सम्बद्ध तथा प्रतिकूल निषेध का आक्षेप रोध कहा जाता है। यहीं इसके अप्रगल्भता के कारण सीधे उच्चारण करने पर अपने रूप की व्याख्या आदि करते समय यही उक्ति से सम्बद्ध अनुकूल निषेध का आक्षेप रोध होता है।

स्व० भा०—अवैयात्योक्ति होने पर अन्तिम पंक्ति का रूप बदल जायेगा और काकु से जो अर्थ निकलता है उसके विपरीत अनुकूल अर्थ निकलने लगेगा। उस समय रूप होगा—"यत् कुपितोऽपि जनः अकुपितः क्रियते।" आदि।

भ्रुकुटिरित्यादि। इयमतिप्रभुता बलात्कारः। हि यतोऽकोपवानपि जनो बलात्कारेण कोपवान् क्रियते। तदाह—त्वया भ्रुकुटिर्भ्रूकौटिल्यमारचितम्। अग्रतोऽग्रे गतम्। अनन्तरमाननं चुम्बनादपहृतम्। असाधूक्तं च वाशब्दश्चार्थे। अत्र धाष्टर्येन प्रतिकूलकारणमुपन्यस्य काक्वा वाचनिक एवोपालम्भः। अस्या अधाष्टर्यपक्षे स्वरूपाख्यानपरमिदमित्युक्तानुकूलनिषेधाक्षेपरोधोऽप्ययमित्याह—अयमिति ॥

यदा तु कारणमुपन्यस्यापि क्रियासूत्तिष्ठमानो न रुध्यते तदाक्षेप एव न रोधः।

तद्यथा—

'गमिआ कलम्बवाआ दिट्ठं मेहन्धआरिअं गअणअलम्।
सहिओ गज्जिअसद्दो तह वि हु से णत्थि जीविए आसंगो ॥ १५७ ॥

[गमिताः कदम्बवाता दृष्टं मेघान्धकारितं गगनतलम्।
सोढो गर्जितशब्दस्तथापि खल्वस्य नास्ति जीवितेऽध्यवसायः ॥]

अत्र कदम्बवातातिवाहनादानां जीविताध्यवसायहेतूनामुपन्यासेऽपि क्रियासूत्तिष्ठमानो न रुध्यते कथमयं न जीवतीति। किं तर्हि कारणमेवाक्षिप्यते—

:तथापि नास्त्यस्य जीवितेऽध्यवसाय' इति । सोऽयमाक्षेप एव न रोधः ॥

जब कारण का निरूपण करके भी क्रिया में निकल रहा उद्योग रोका नहीं जाता है तब समय आक्षेप ही होता है न कि रोध । वह इस प्रकार हैं—कदम्ब की गन्ध से युक्त वायु बिता दिये गये, घनघटाओं से काला कर दिया गया आकाशमण्डल देखा गया, गर्जन का शब्द भी सुना गया फिर भी इस राम का जीवन के प्रति उद्योग नहीं है ॥ १५७ ॥

यहाँ कदम्बवात के अतिवाहन आदि प्राणों के लिये उद्योग के हेतुओं का उल्लेख होने पर भी क्रियाओं से निकल रही बात रुद्ध नहीं हो रही है—कि यह कैसे जीवित नहीं हो उठता । तब क्या कारण का ही आक्षेप किया जा रहा है—'फिर भी इसका जीवन के प्रति लगाव नहीं है—'तथापि नास्त्यस्य जीवितेऽध्यवसाय' इति उक्त लक्षणों से युक्त यह आक्षेप ही है रोध नहीं ।

गमिआ इत्यादि ।'गमिताः कदम्बवाता दृष्टं मेघान्धकारितं गगनतलम् । सोढो गर्जितशब्दस्तथापि खल्वस्य नास्ति जीविते आसङ्गः ॥ इहास्य रामस्य तथापि जीविते प्राणधारणे आसङ्गोऽध्यवसायो नास्ति । खलु निश्चये वाक्यभूषायां वा । यद्यपि कदम्बपुष्पसंपर्किणो वाता गमिता नीताः मेघान्धकारयुक्तं गगनतलम्, गर्जितरूपः शब्दः सोढः श्रुतः । इहासह्यसहनेऽपि जीवितानध्यवसाये प्रेमातिशयो हेतुः । प्रयाणोचितकाले शरद्यपि यदि न गमनं स्यात्तदा प्रियासमागमो मे न स्यादिति बुद्धिः । यद्वा नेतव्यकालस्य घोरत्वाद् दुर्गवासरयोरध्यवसायः । यद्वा कदम्बवाता गमिताः, विकसदमलकमलवाताः कथं गमितव्याः । मेघान्धकारितं गगनतलं दृष्टम्, शरच्चन्द्रचन्द्रिकाधवलितं कथं द्रष्टव्यम् । गर्जितशब्दः सोढः, कलहंसकलरवः कथं सोढव्य इति विमर्शेनानध्यवसायः यद्वा एतैरेवानर्थसार्थैः कदर्थिता व्यर्थप्रत्याशासमर्थना सीता यदि मृता स्यात्तदा मदीयाशानाश एव भवेदितिबुद्ध्यानध्यवसायः । अत्र जीवनक्रियायामुपस्थितस्य न रोधः, किंतु कारणाक्षेप एवेत्याक्षेपता ॥

क्रियोद्यतस्यापि वारणे कारणानामन्यपरत्वे रोधो न भवति । यथा—

'धनं च बहु लभ्यन्ते सुखं क्षेमं च वर्त्मनि ।
न च मे प्राणसंदेहस्तथापि प्रिय मा स्म गाः ॥ १५८ ॥

अत्र यद्यपि यात्रोद्यतः प्रियो रुध्यते । प्रभूतार्थलाभादीनां कारणानां गमनपरत्वमेव न निवारणपरत्वम्; अतोऽयं न रोधः, किं तर्हि आक्षेप एव भवति ॥

क्रिया के लिये उद्यत का भी वारण करने पर कारणों के अन्यपरक होने से रोध नहीं होता है । जैसे—

धन का लाभ खूब होगा, मार्ग में सुख तथा सुरक्षा भी होगी, आपके जाने से मेरे प्राणों के भी निकलने का सन्देह नहीं है, फिर भी, हे प्रियतम, तुम जाओ मत ॥ १५८ ॥

यहाँ पर यद्यपि यात्रा के लिये तैयार प्रिय रोका जा रहा है, किन्तु प्रचुर धनलाभ आदि कारणों में गमनपरकता ही है, निवारणपरकता नहीं । इसलिये यह रोध नही है । तब क्या है ? (तब तो) आक्षेप ही होता है ।

धनमित्यादि । हे प्रिय, यद्यपि ते तव धनं बहु प्रचुरं लभ्यं प्राप्यम् । वर्त्मनि सुखम्; न दुर्गो मार्गः । क्षेमं कुशलं च चौराद्यनुपहतेः । न च मे प्राणसंशयोऽस्ति । तथापि त्वं मा गाः स्म मायासीः । 'कुशलं क्षेममस्त्रियाम्' इत्यमरः । अत्र प्रचुरधनलाभादिहेतूनां गमनपरत्वेनाक्षेपता ॥ इत्याक्षेपालंकारनिरूपणम् ॥

(१५) अर्थान्तरन्यासालंकारः ।

अर्थान्तरन्यासं लक्षयति—

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन ।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ॥ ६७ ॥
स ज्ञपन्यस्तवस्तूनां साधर्म्येण च कथ्यते ।
वैधर्म्येण च विद्वाद्भिर्वैपरीत्येन कुत्रचित् ॥ ६८ ॥

(१५) अर्थान्तरन्यास अलंकार

उसे अर्थान्तरन्यास समझना चाहिये जहाँ किसी वस्तु को उपस्थित करके उसे सिद्ध करने में समर्थ किसी अन्य वस्तु का उपन्यास किया जाता है । विद्वानों के द्वारा वह कहीं उपस्थित वस्तु के साधर्म्य से, कहीं वैधर्म्य से तथा कहीं विपरीतता से युक्त कहा जाता है ॥ ६७-६८ ॥

स्व० भा०—उपन्यस्त पदार्थ से सम्बद्ध वस्त्वन्तर का उल्लेख भामह को भी अर्थान्तरन्यासः अभीष्ट है । उनके मत में—

उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदिताहृते ।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ॥ काव्यालंकार २।७१ ॥

वह 'हि' शब्द को अर्थान्तरन्यास का व्यंजक समझते हैं ।

हि शब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये ।
अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते यथा ॥ वही २।७३ ॥

भोज ने दण्डी के ही लक्षण को अपना लक्षण माना है (द्रष्टव्य-काव्यादर्श २।१६९) । किन्तु भेद अपने अनुसार किया है । रुद्रट ने तो (काव्यालंकार ८।७९, साधर्म्य और वैधर्म्य से युक्त सामान्य अथवा विशेष वस्तु का उपन्यास स्वीकार किया है—

धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै ।
यत्र सधर्मिकमितरं न्यस्येत्सोऽर्थान्तरन्यासः ॥ वही.

ज्ञेयमिति । किंचन किमपि वस्तु वाच्यं प्रस्तुत्य प्रक्रम्य तद्वस्तुसाधनसमर्थस्यान्यस्य वस्तुनो वाक्यार्थन्यास उपन्यासो यः सोऽर्थान्तरन्यासः । वैपरीत्यं विपर्ययः ॥

तेषु साधर्म्येण यथा—

पयोमुचः परीतापं हरन्त्येते शरीरिणाम् ।
नन्वात्मलाभो महतां परदुःखोपशान्तये ॥ १५९ ॥

अत्र परीतापापहरणक्षमस्य जलदाख्यस्य महावस्तुनो न्यसनं विधाय तत्साधनसाधर्म्येणैव तत्साधनक्षमं महापुरुषलक्षणं वस्त्वन्तरमुपन्यस्यति सोऽयं साधर्म्येणार्थान्तरन्यासः ॥

उनमें साधर्म्य द्वारा (समर्थन का) उदाहरण—

ये मेघ प्राणियों के सन्ताप को दूर करते हैं । निश्चित ही सज्जनों की अवस्थिति ही दूसरों के दुःखों की शान्ति के लिये होती है ॥ १५९ ॥

यहाँ सन्ताप को दूर करने में समर्थ मेघ नाम की एक महान् वस्तु का उल्लेख करके उसे सिद्ध करने वाले समान धर्म के द्वारा ही उसे सिद्ध करने में समर्थ महापुरुष के लक्षण से युक्त

दूसरे पदार्थ का उपन्यास किया जा रहा है। अतः यह साधर्म्य के द्वारा अर्थान्तरन्यास है।

स्व० भा०—वृत्ति में स्वयं स्पष्टता है। दण्डी इसमें विशेषस्थ अर्थान्तरन्यास मानते हैं।

पयोमुच इत्यादि। एते मेघाः शरीरिणां परितापं हरन्ति। ननु निश्चये। महतामात्म लाभोऽवस्थितिः परदुःखोपशान्त्यर्थं भवति। अत्र पूर्वार्धोपस्थापितार्थसिद्धये साधर्म्यपुरस्कारेणोत्तरार्धोपन्यासः स्फुट एव॥

वैधर्म्येण यथा—

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधा-
वुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद्विजहौ जलाविलां
वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि॥ १६०॥

अत्रापि प्रियतमेन स्वयं कान्ताहृदये समारोपितायाः स्रजः प्रेमकारणमुपन्यस्य जलाविलदोषवत्या अपि स्रजो यदत्यागकारणं तदिह वैधर्म्यद्वारेण प्रतिपादितमतो वैधर्म्येणायमर्थान्तरन्यासः॥

वैधर्म्य (नामक वस्त्वन्तर के उपन्यास से युक्त का) उदाहरण—

विपरीत पक्षवाली स्त्री की उपस्थिति में ही गूँथ कर प्रियतम के द्वारा पृथु उरोजों से युक्त वक्षस्थल पर पहिनाई गई माला को किसी सुन्दरी ने परित्यक्त नहीं किया, यद्यपि वह जल से मृदित थी, क्योंकि गुण तो प्रेम में रहता है, पदार्थ में नहीं॥ १६०॥

यहाँ भी प्रियतम के द्वारा स्वयं ही सुन्दरी के वक्षःस्थल पर पहिनाई गई माला के प्रेमरूप कारण का उल्लेख करके, जल से किये गये मर्दनरूप दोष से युक्त होने पर भी जो माला का परित्याग नहीं करने का कारण है वह यहाँ वैधर्म्य के द्वारा प्रतिपादित है। अतः यह वैधर्म्य से युक्त अर्थान्तरन्यास है।

स्व० भा०—दोषयुक्त होने पर भी माला का परित्याग न करने का कारण प्रेमाधिक्य है। यह प्रेमाधिक्य वैधर्म्य से युक्त है क्योंकि यह माला नामक वस्तु से भिन्न पदार्थ है।

प्रियेणेत्यादि। काचिन्नारी जलाविलामपि स्रजं मालां न विजहौ न तत्याज। कीदृशीम्। प्रियेण संग्रथ्य ग्रथित्वा मांसलकुचवति हृदये विपक्षस्य सपत्न्याः समीपे उपाहितामारोपिताम्। अत्रोपपत्तिमाह—हि यतः प्रेम्णि प्रीतौ गुणा वसन्ति न वस्तुनि गुणा वसन्ति। अत्र जलाविलमालाया अप्यत्यागहेतुर्वसन्तीत्यादिना वैधर्म्यपुरस्कारेणोक्तः॥

विपर्ययेण यथा—

जो जस्स हिअअदइओ दुक्खं देन्तो वि सो सुहं देइ।
दइअणहदूमिआणं वि वड्ढोइ त्थणआणं रोमञ्चो॥ १६१॥
[यो यस्य हृदयदयितो दुःखं ददद‍पि स सुखं ददाति।
दयितनखदूनयोरपि वर्धते स्तनयो रोमाञ्चः॥]

अत्र साधनसमर्थं वस्तु प्रथमत एवोपन्यस्य पश्चात् तत्साध्यमभिहितमिति विपर्यासादयं विपर्ययो नामार्थान्तरन्यासः॥

विपर्यय के द्वारा (उपन्यस्त अर्थान्तरन्यास का) उदाहरण—

जो जिसका मनचाहा प्रिय है, वह दुःख देते हुये भी सुख प्रदान करता है, क्योंकि प्रियतम

के नाखूनों से क्षत किये जाने पर भी सुन्दरी के दोनों स्तनों में रोमाञ्च बढ़ जाता है ॥ १६१ ॥

यहाँ साधन के योग्य वस्तु का पहले ही उल्लेख करके बाद में उसका साध्यनिरूपित किया गया है, इस विपर्यास के कारण यह विपर्यय नामक अर्थान्तरन्यास है।

स्व० भा०—यहाँ पहले कारण का उल्लेख करके तब कार्य का निरूपण किया गया है। ऐसी दशा में कारणकार्य न्याय से पहले कारण फिर कार्य होना ही स्वाभाविक था इसमें विपरीतता का लेश नहीं। किन्तु जहाँ सिद्धि का प्रश्न आता है वहाँ तो कार्य का प्रथम और कारण का उसके पश्चात् उपन्यास सहज प्रतीत होता है। इसी क्रम में उलट-फेर हो जाने से विपरीतता हो गई।

जो इत्यादि। "यो यस्य हृदयदयितो दुःखं ददद‍पि स तथा तस्य। दयितनखदुःखितयोरपि वर्धते स्तनयो रोमाञ्चः॥" इह यो यस्य हृदयप्रियः स दुःखं दददपि तस्य तथा प्रिय एव। अत्र हेतुः—दयितनखेन दुःखितयोरपि स्तनयो रोमाञ्चो वर्धते। दददित्यत्र 'नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८' इति निषेधः। अत्र प्रथमं हेतुरुक्तस्ततस्तत्कार्यमुक्तमिति विपरीतता॥

उभयन्यासस्यार्थान्तरन्यासादभेदमाह—

प्रोक्तो यस्तूभयन्यासोऽर्थान्तरन्यास एव सः।
स प्रत्यनीकन्यासश्च प्रतीकन्यास एव च॥ ६९॥

जो उभयन्यास कहा गया है वह अर्थान्तरन्यास ही है। प्रत्यनीकन्यास भी वही है और प्रतीकन्यास भी वही है। ६९॥

स्व० भा०—रुद्रट ने उभयन्यास नामका पृथक् अलंकार स्वीकार किया है। उनके अनुसार उसका लक्षण यह है—

सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ।
निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः॥ काव्यालंकार २।८५, वहीं उदाहरण भी है—

सकलजगत्साधारणविभवा भुवि साधवोऽधुना विरलाः।
सन्ति कियन्तस्तरवः सुस्वादु सुगन्धिचारुफलाः॥ वही २।८६॥

जहाँ तक प्रत्यनीकन्यास का प्रश्न है भामह तथा दण्डी ने इसका उल्लेख नहीं किया है। रुद्रट ने प्रत्यनीक अलंकार का निरूपण किया है। भोज का मन्तव्यः संभवतः उन्हीं से है। उसका उदाहरण तथा लक्षण इस प्रकार है—

वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्या कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्॥
यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम्।
मम तत्र किमापतितं तपसि सितांशो यदेव माम्॥ वही २।९२-३

प्रतीकन्यास पता नहीं कहाँ भोज को मिल गया।

प्रोक्त इति। प्रत्यनीकः परिपन्थी, प्रतीकोऽवयव एकदेश इति यावत्। 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्यमरः॥

तेषूभयन्यासो यथा—

ते विरला सप्पुरिसा जे अभणन्ता घडन्ति कज्जालावे।
थोअच्चिअ ते वि दुमा जे अमुणिअकुसुमणिग्गमा देन्ति फलम्॥ १६२॥

[ते विरलाः सत्पुरुषा येऽभण्यमाना घटन्ते कार्यालापम् ।
स्तोका एव तेऽपि द्रुमा येऽज्ञातकुसुमनिर्गमा ददति फलम् ॥]

अत्र विद्यमानमपि साध्यसाधनभावमप्रतिपाद्य यदुभयोर्वस्तुनोर्न्यसनं सोऽयमुभयन्यासः ॥

इनमें से उभयन्यास का उदाहरण—

वे सत्पुरुष इस संसार में बहुत कम हैं जो बिना कहे ही कार्यकलाप को सिद्ध कर देते हैं। वे वृक्ष भी (इस संसार) में कम ही हैं जो अपने पुष्पोद्गम का प्रदर्शन किये बिना ही फल प्रदान कर देते हैं ॥ १६२ ॥

यहाँ उपस्थित रहने पर भी साध्यसाधनभाव का प्रतिपादन न करके जो दोनों अर्थों का उल्लेख किया गया है, वही उभयन्यास है।

स्व० भा०—यहाँ पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में पृथक् पृथक् बातें रख दी गई हैं। यही दोनों अर्थों का न्यास है।

ते विरला इत्यादि । "ते विरलाः सत्पुरुषा येऽभण्यमाना घटन्ते कार्यालापम् । स्तोका एव तेऽपि द्रुमा येऽज्ञातकुसुमनिर्गमा ददति फलम् ॥" इह ते सज्जना विरलाः परिमिताः। अल्पा इति यावत् । ये कार्यार्थमालापमाज्ञामभण्यमाना घटन्ते कार्यारूढा भवन्ति, तेऽपि वृक्षाः स्तोका एवाल्पा एव येऽज्ञातपुष्पोद्गमाः सन्तः फलं ददति । अभण्यमाना इति णिजगर्भत्वेन द्विकर्मकता। यद्वा कार्यालापे कार्यकरणे घटन्ते। कीदृशाः। अभण्यमाना अनुक्ताः 'आलापो वचने कृतौ' इति शाश्वतः। तत्र हेतुहेतुमद्भावपुरस्कारेणोभयोरुपन्यासः ॥

प्रत्यनीकन्यासो यथा—

विरला उवआरिच्चिअ णिरवेक्खा जलहरव्व वट्टन्ति ।
झिज्जन्ति ताण विरहे विरलच्चिअ सरिप्पवाहव्व ॥ १६३ ॥

[विरला उपकृत्यैव निरपेक्षा जलधरा इव वर्तन्ते ।
क्षीयन्ते तेषां विरहे विरला एव सरित्प्रवाहा इव ॥]

अत्र यदिदमुपकृत्यानपेक्षितप्रत्युपकाराणां गमनम्, यच्चाकृतप्रत्युपकाराणां तद्विरहेऽवसादनं तदुभयमपि जलधरसरित्प्रवाहयोरन्योन्यातिशयितयोरुपन्यस्यमानं प्रत्यनीकन्यासो भवति ॥

प्रत्यनीकन्यास का उदाहरण—

वे लोग बहुत कम हैं जो दूसरों का उपकार करके मेघों की भांति निरपेक्ष रहते हैं—उपकृतों से कुछ नहीं चाहते। वे नदियों के स्रोत सदृश जन भी कम ही हैं जो उनके वियोग में क्षीण हो जाया करते हैं। १६३ ॥

यहाँ जो यह उपकार करके प्रत्युपकारों की अपेक्षा न करने वालों का ज्ञान है और जो प्रत्युपकार न कर पाने पर उसके अभाव में दुःखी होना है वे दोनों बातें एक दूसरे को अतिशयित करने वाले मेघ तथा सरित्प्रवाह का उपन्यास करती हैं। इससे प्रत्यनीकन्यास होता है।

विरला इत्यादि । "विरला उपकृत्यैव निरपेक्षा जलधरा इव वर्तन्ते । क्षीयन्ते तेषां विरहे विरला एव सरित्प्रवाहा इव ॥" इह ये उपकृत्य उपकारं कृत्वा निरपेक्षाः प्रत्युपकारानपेक्षा वर्तन्ते ते विरला अल्पाः। मेघा इव । यथा मेघा उपकारं कृत्वा प्रत्युपकारनि-

स्पृहा वर्तन्ते तथेत्यर्थः। तेषामुपकारिणां विरहे विरला एव चीयन्ते दुःखिता भवन्ति। नदीप्रवाहा इव। यथा नदीप्रवाहा उपकारिणां मेघानां विरहे क्षीणा भवन्ति तथेत्यर्थः। क्षीयन्त इति कर्मकर्तरि। क्षियोऽनात्मनेपदित्वात्। अवसदनमवसादः। भावे घञ्। अत्र मेघनदीप्रवाहयोर्मिथः समर्थयोः प्रत्यनीकभावः प्रतिपक्षता। प्रतिनिधिभूतमनीकं सैन्यं यस्य सः प्रत्यनीकः परिपन्थी। 'प्रति प्रतिनिधौ चिह्ने' इति मेदिनीकारः। 'अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये' इति।

प्रतीकन्यासो यथा—

का कथा बाणसंधाने ज्याशब्देनैव दूरतः।
हुंकारेणेव धनुषः स हि विघ्नानपोहति ॥ १६४ ॥

अत्र विघ्नप्रोत्सारणसमर्थाया बाणमोक्षलक्षणायाः क्रियायाः प्रथमावयवभूत ज्याशब्दं धनुषो हुंकारमिवेति तत्साधनमुपन्यस्य प्रतीकन्यासनामानमर्थान्तरन्यासमभिधत्ते॥

प्रतीकन्यास का उदाहरण—

शरसंधान की बात ही क्या, वह दुष्यन्त तो धनुष को हुँकार के सदृश निकलने वाली प्रत्यञ्चा की टङ्कार से दूर से ही समस्त विघ्नों का विनाश कर देता है॥ १६४॥

यहाँ विघ्न को हटाने में समर्थ बाणमोक्ष रूप क्रिया के अङ्गभूत धनुष् को हुँकार के सदृश प्रत्यञ्चा की टङ्कार को उसके साधन के रूप में उल्लिखित करके प्रतीकन्यास नामक अर्थान्तरन्यास का ही अभिधान किया जा रहा है।

स्व० भा०—व्याख्या स्पष्ट है।

का कथेत्यादि। बाणसंधाने धनुषि बाणारोपणे तस्य का कथा। तेन सर्वसिद्धेः। यत स राजा दूरात् ज्याशब्देनैव विघ्नान्यपोहति वारयति। ज्याशब्देन कीदृशेन। धनुषो हुंकारेणेव। चापस्य हुंकारतुल्येनेत्यर्थः। दूरत इति पञ्चम्यां तसिः॥ विघ्नानीति। यद्यपि 'विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमराद्विघ्नशब्दे पुंस्त्वम्, तथापि 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्' इति नपुंसकत्वमपि। अत एव 'अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम्' इति रघुप्रयोगोऽपि। 'स हि विघ्नानपोहती'ति वा पाठः कर्तव्यः। अत्र ज्याशब्दस्य न्यसनात्प्रतीकन्यासता॥ इत्यर्थान्तरन्यासालंकारनिरूपणम्॥

विशेषालंकारनिरूपणम्।

विशेषोक्तिलक्षणमाह—

गुणजातिक्रियादीनां यत्र वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥ ७० ॥
प्रत्येतव्येऽभिधेये च सा विशेषस्य कारणे।
वैकल्यादर्शनेनापि क्वचिदप्युपपद्यते ॥ ७१ ॥

(१६) विशेषालंकार

गुण, जाति, क्रिया आदि के विकलत्व-रहितत्व का अभिधान विशिष्टता प्रदर्शित करने के लिये जहाँ किया जाता है, वहाँ विशेषोक्ति अभीष्ट है। विशिष्टता के कारण के प्रतीयमान होने

पर और अभिहित होने पर, तथा कहीं कहीं विकलता के दिखाई न पड़ने पर भी विशेषालंकार उपपन्न होता है ॥ ७०-१ ॥

स्व० भा०—विशिष्टता का अभिधान करने के लिए—"विशेषदर्शनाय"—पद का प्रयोग करके इसका विभावना से अन्तर बतलाया गया है। विभावना में अतिशय का वाचन नहीं होता है अपितु दूसरे कारण की ही उद्भावना होती है। यहाँ गुण आदि का प्रतिषेध करके अतिशयता का प्रतिपादन किया जाता है। इनका लक्षण भामह के द्वारा मान्य विशेषोक्ति के निकट है—

एकदेशस्यापि विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा ॥ काव्यालंकार २।२३ ॥

भोज ने दण्डी से ही इस लक्षण को उद्धृत किया है (द्रष्टव्य काव्यालंकार २।३२३)। भोज ने विशेष कह कर विशेषोक्ति का उपन्यास किया है, किन्तु नाम तथा लक्षण दोनों ही रुद्रट में एक से मिलते हैं। उनका लक्षण कुछ स्पष्ट भी है।

किञ्चिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम्।
तादृगुपलभ्यमानं विशेषोऽसौ विशेष इति ॥ काव्यालंकार ९।५ ॥

गुणेति। विशेषदर्शनायाधिक्यख्यापनार्थं गुणादीनां मध्ये यत्तेषां वैकल्यदर्शनं विकलत्वाभिधानं सा विशेषोक्तिः एकगुणहानिकल्पनया शेषगुणे दार्ढ्यं विशेषोक्तिरिति लक्षणम्। एवं जात्यादावप्यादिपदाद् द्रव्यसंग्रहः। विशेषदर्शनायेत्यनेन विभावनातो भेद उक्तः। तत्र हि नातिशयो वाच्यः किंतु करणान्तरम्। इह तु गुणादिप्रतिषेधेन पदार्थानामतिशय इति। गुणादीनां वैकल्यादर्शनेऽपि सा भवतीत्याह—वैकल्येति ॥

सा गुणवैकल्येन यथा—

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः।
तथापि जितमेवाभूदमुना भुवनत्रयम् ॥ १६५ ॥

अत्रातीक्ष्णेनाकठोरेण चायुधेन पुष्पधन्वा त्रीणि जगन्ति विजयत इति तस्य प्रभावातिशयः प्रतीयते; सेयं प्रतीयमानविशेषहेतुर्गुणवैकल्यवती विशेषोक्तिः ॥

गुणवैकल्य के कारण संभव (विशेष का) उदाहरण—

कामदेव का अस्त्र न तो कर्कश है और न पैना ही, फिर भी उसने तीनों लोकों को जीत ही लिया है ॥ १६५ ॥

यहाँ अतीक्ष्ण तथा अकठोर आयुध से कुसुमायुध कामदेव तीनों लोकों को जीत लेता है इस कथन से उसके प्रभाव की अधिकता प्रतीत होती है। अतः यह प्रतीयमान हो रहा है विशिष्ट कारण जिसका वह वैकल्यवती विशेषोक्ति है।

स्व० भा०—यह उदाहरण दण्डी के काव्यादर्श (२।३२४) में भी है।

न कठोरमित्यादि। कामस्य प्रहरणं न कठिनं न वा निशितम्। तथाप्यमुना कामेन लोकत्रयं जितमेवासीत्। पुष्पधन्व इत्यनेनाकठोरत्वमतीक्ष्णत्वं च दर्शितम्। पुष्पस्यैवास्त्रत्वात्। अत्र काठिन्यादिगुणवैकल्यमतिशयविजयप्रदर्शनायोक्तमिति गुणवैकल्यवतीयम् ॥

जातिवैकल्येन यथा—

न देवकन्यका नापि गन्धर्वकुलसंभवा।
तथाप्येषा तपोभङ्गं विधातुं वेधसोऽप्यलम् ॥ १६६ ॥

अत्र देवकन्यकात्वाभावेऽप्येषा वेधसोऽपि तपोभङ्गं विधातुमलमिति वर्णनीयाया रूपातिशयः प्रतीयते; सेयं प्रतीयमानविशेषहेतुर्जातिवैकल्यवती विशेषोक्तिः ॥

जाति वैकल्य से युक्त होने पर (विशेषोक्ति का) उदाहरण—

यह न तो अप्सरा है और न तो गन्धर्वों के कुल में ही जन्मी है, फिर भी यह विधाता की भी तपस्या को भङ्ग करने में समर्थ है ॥ १६६ ॥

यहाँ 'देवकन्यात्व का अभाव होने पर भी यह रूपसी विधाता की भी तपस्या को भङ्ग करने में समर्थ है' इससे वर्णित हो रही सुन्दरी का रूपाधिक्य प्रतीत होता है। अतः यह प्रतीयमान हेतु वाली जातिवैकल्यवती विशेषोक्ति है।

स्व० भा०—यहाँ देवत्व आदि जाति का निषेध है इससे उसका मानुषी होना विशिष्ट रूप से वर्णित है। यह भी काव्यादर्श में (२।३२५) है।

न देवेत्यादि। एषा न देवकन्या नापि गन्धर्ववंशजा तथापि वेधसो ब्रह्मणोऽपि तपोभङ्गं विधातुमलं समर्था। अत्र देवत्वादिजातिनिषेधो विशेषस्तु मानुषीत्वेन तत्कार्यकरणम् ॥

क्रियावैकल्येन यथा--

न बद्धा भ्रुकुटिर्नापि स्फुरितो रदनच्छदः।
न च रक्ताभवद् दृष्टिर्जितं च द्विषतां कुलम् ॥ १६७ ॥

अत्र भ्रूभङ्गादेरभावेऽपि योऽयं द्विषतां जयस्तेन वर्णनीयस्य प्रतापातिशयः प्रतीयते; सेयं प्रतीयमानविशेषहेतुः क्रियावैकल्यवती विशेषोक्तिः ॥

क्रियावैकल्य से युक्त (विशेषोक्ति का) का उदाहरण—

उस राजा ने भौंहें भी नहीं तानी, न उसके ओष्ठ ही फड़के और न तो आँखें ही लाल हुई तथापि उसने शत्रुओं के समूह को जीत लिया। १६७ ॥

यहाँ भ्रूभङ्ग आदि के अभाव में भी जो शत्रुओं पर जय वर्णित है, इससे वर्णनीय राजा के प्रताप का आधिक्य प्रतीत होता है। अतः यह प्रतीयमान विशेष हेतु नामक क्रियावैकल्यवती विशेषोक्ति है।

स्व० भा०—भ्रूभङ्ग करना, ओष्ठ फड़कना आँखें लाल करना आदि क्रियायें हैं जिन्हें विजय का इच्छुक योद्धा अपने शत्रुसंहार के लिये क्रुद्ध हो पूर्ण करता है। यहाँ विजय तो मिल रही है, किन्तु उक्त क्रियाओं का अभाव है। अतः विशेषोक्ति है। दण्डी ने भी इसे क्रियावैकल्य का ही उदाहरण (काव्यादर्श २।३२६) माना है।

न बद्धेत्यादि। भ्रूभङ्गो न बद्धः, अधरोऽपि न स्फुरितः, दृष्टिरपि न रक्ता वृत्ता, तथापि वीर, त्वया द्विषतां शत्रूणां कुलं जितम्। अत्र भ्रुकुटीत्यादिक्रियानिषेधात्क्रियावैकल्यम्। अतिशयस्तु लीलया शत्रुजयः ॥

आदिग्रहणाद् द्रव्यवैकल्येन यथा—

न रथा न च मातङ्गा न हया न च पत्तयः।
स्त्रीणामपाङ्गदृष्टयैव जीयते जगतां त्रयम् ॥ १६८ ॥

अत्र रथादेरभावेऽपि जगत्त्रयविजयहेतुः स्त्रीणामपाङ्गावलोकनमभिधीयते; सेयमभिधेयविशेषहेतुर्द्रव्यवैकल्यवती विशेषोक्तिः ॥

(लक्षण वाली कारिका ४।७० में) आदि पद का ग्रहण करने से द्रव्यवैकल्य होने पर भी विशेषोक्ति का उदाहरण—

साथ में न तो रथ हैं, न हाथी, न घोड़े हैं और न पैदल सेनायें तथापि सुन्दरियों के कटाक्ष-पात से ही तीनों लोक जीत लिये जाते हैं ॥ १६८ ॥

यहाँ रथ आदि के अभाव में भी लोकत्रय के विजय का कारण स्त्रियों का अपाङ्गावलोकन अभिहित है। अतः यह अभिधेय विशेष हेतु वाली द्रव्यवैकल्यवती विशेषोक्ति है।

स्व० भा०—लक्षण में जाति, गुण तथा क्रिया इन तीनों का नाम तो लिया गया था किन्तु द्रव्य का नहीं। उसी को यहाँ स्पष्ट किया गया है कि वहाँ प्रयुक्त 'आदि' पद से द्रव्य का भी ग्रहण हो जाता है।

रथ, हाथी आदि द्रव्य हैं जो शब्दतः उक्त हैं। (द्रष्टव्य काव्यादर्श २।३२७)

न रथा इत्यादि। न रथा न च हस्तिनो नाश्वा न वा पदातयः सन्ति तथापि स्त्रीणामपाङ्गदृष्ट्यैव कटाक्षेणैव लोकत्रयं जीयते। 'हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्।' इत्यमरः। तदिह सेनाङ्गनिषेधाद्द्रव्यवैकल्यम्, अतिशयस्तु तदभावेऽपि त्रिभुवनजयः। द्रव्यस्यापि वैकल्येनैकदेशविकलतया अपरा विशेषोक्तिः। प्रथमा द्रव्यवैकल्यवती, इयं तु द्रव्यैकदेशवैकल्यवतीति भेदः ॥

द्रव्यस्यापि वैकल्येन यथा—

> एकचक्रो रथो यन्ता विकलो विषमा हयाः।
> आक्रामत्येव तेजस्वी तथाप्यर्को जगत्त्रयम् ॥ १६९ ॥

अत्र रथादीनां द्रव्याणामेकचक्रत्वादिभिर्वैकल्येऽपि यदेतद्भगवता भास्करस्य भुवनत्रयाक्रमणं तस्येह तेजस्विता हेतुरभिधीयते; सेयमभिधेयविशेषहेतुर्वैकल्यवद्द्रव्या नामापरा विशेषोक्तिः ॥

द्रव्य की ही विकलता से (विशेषोक्ति) का उदाहरण—

रथ में एक ही पहिया है, उसका चालक (अरुण) विकलाङ्ग है, घोड़ों की संख्या भी विषम है, तथापि प्रतापी सूर्य तीनों लोकों को आक्रान्त करता ही है ॥ १६९ ॥

यहाँ रथ आदि द्रव्यों की एकचक्रता आदि के कारण विकलता होने पर भी जो यह भगवान् सूर्य का तीनों लोकों पर आक्रमण है, उसको यहाँ तेजस्विता ही कारण के रूप में अभिहित है। इस प्रकार यह अभिधेय विशेष हेतु वाली वैकल्य से युक्त द्रव्य वाली नाम की दूसरी ही विशेषोक्ति है।

स्व० भा०—इसमें तथा पूर्वोक्त उदाहरणों में अन्तर यह है कि यहाँ जिन द्रव्य को विकलता है वही विकलता से युक्त है। निरूपित रथ, यन्ता तथा हय रूप द्रव्य स्वयं किसी न किसी गुण से हीन बतलाये गये हैं। इसी अर्थ में इन दोनों विशेषोक्तियों में अन्तर है। (द्रष्टव्य काव्यादर्श २।३२८)।

एकेत्यादि। रथस्यैकं चक्रम्, यन्ता सारथिरनूरुर्विकलश्चरणहीनः, अश्वा विषमाः सप्त, तथापि रविस्तेजस्वी जगत्त्रयमाक्रामति 'सप्ताश्वा नव दन्तिनः' इति नीतौ निषेधः। आक्रामतीत्यत्रोत्क्रमणाभावात् 'आङ उद्गमने १।३।४०' इति न तङ्। अत्र रथादीनामेकदेशविकलतेति द्वितीयेयम् ॥

द्रव्यस्य योगायोगाभ्यामवैकल्येनापि क्वचिदेषा विशेषायाविशेषाय च यथा—

अयं तया रथक्षोभादंसेनांसो निपीडितः।
एकः कृती शरीरेऽस्मिन्शेषमङ्गं भुवो भरः॥ १७०॥

अत्र 'अयं तया स्पृष्टोंऽसः स पुण्यवान्, तथा चास्पृष्टं शेषमङ्गं मे निरर्थकम्' इति योऽयमवैकल्यदर्शनेऽपि विशेषस्तेनैषाहेतुमत्यपि हेतुमता विशेष्यमाणा यथोक्ता विशेषोक्तिर्भवति। या पुनरिहार्वश्यामितो वाक्याद् गुणादिवैशिष्ट्यावगतिः सा पर्यायोक्तिर्न विशेषोक्तिः॥

कहीं-कहीं यह द्रव्य के योग तथा अयोग से वैकल्य न रहने पर भी विशिष्टता तथा अविशिष्टता का प्रतिपादन करने पर होती है। जैसे—

रथ के हिलने से उस सुन्दरी उर्वशी के द्वारा दबाया गया यह एक कन्धा ही शरीर में भाग्यशाली है, शेष अङ्ग तो पृथ्वी के भारस्वरूप हैं॥ १७०॥

यहाँ 'यह उसके द्वारा स्पर्श किया हुआ कंधा पुण्यशाली है, उसके द्वारा न छुआ गया शेष अङ्ग मेरे शरीर का, निरर्थक है' इस प्रकार अवैकल्य का दर्शन होने पर भी जो यह विशिष्टता है, इससे हेतु युक्त न होने पर भी हेतुयुक्त के द्वारा विशिष्टता सम्पन्न की जा रही जिससे यथानिर्दिष्ट लक्षणों वाली विशेषोक्ति हो जाती है। जो पुनः 'यहाँ उर्वशी में—इस वाक्य के कारण गुण आदि विशिष्टता का ज्ञान होता है, इससे यह पर्यायोक्ति है न कि विशेषोक्ति।

स्व० भा०—रुद्रट ने पर्यायोक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है—

वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत् स पर्यायः॥ काव्यालंकार ७।४२।

यहाँ भोज का अभिप्राय यह है कि जो विना कारण के भी कार्य का निरूपण है, कार्य के विशेषता से युक्त कहने का भाव है, वह पर्यायोक्ति अथवा पर्याय अलंकार होता है। उसकी उपर्युक्त सन्दर्भ में सम्भावना नहीं करनी चाहिये।

अयमित्यादि। अयमंसो बाहुमूलं तया श्रिया रतिलोभान्निजांसेन निपीडित इत्येक एवायं ममाङ्गे कृती रम्यः। शेषमङ्गं भूमेर्भरो भारजनकम्। शेषशब्दः कर्मघञन्तो वाच्यलिङ्गः। अङ्गभरशब्दयोरजहल्लिङ्गतयान्वयः। अत्रावैकल्यदर्शनेऽपि विशेषोक्तेरियमन्या भवति। यथनेन वाक्येनोर्वश्या गुणविशेषवत्त्वज्ञानं तदोक्तलक्षणाभावात्पर्यायोक्तिरेवेत्याह—यत्पुनरिति॥ इति विशेषालंकारनिरूपणम्।

परिकरालंकारनिरूपणम्।

परिकरं लक्षयति—

क्रियाकारकसंबन्धिसाध्यदृष्टान्तवस्तुषु।
क्रियापदाद्युपस्कारमाहुः परिकरं बुधाः॥ ७२॥

(१७) परिकरालंकार

क्रिया, कारक, सम्बन्धवान्, अभीष्ट वस्तु, दृष्टान्त तथा वस्तु के लिये क्रियापद आदि के परिष्कृत (ग्रहण) को विद्वानों ने परिकर कहा है॥ ७२॥

स्व० भा०—परिकर में अभीष्ट क्रिया आदि की सिद्धि के लिये विशिष्ट विशेषणों का उपयोग करने पर परिकर नामक अलंकार होता है। रुद्रट के मत से—

साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद्विशिष्येत ।

द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति ॥ काव्यालंकार ७।७२

जयदेव ने विशेष्य के साभिप्राय कथन को परिकराङ्कुर कहा है ।

क्रियेति । क्रिया धात्वर्थः, कारकं कर्मादि, संबन्धी संबन्धवान्, साध्यं सिसाधयिषितम्, दृष्टान्तो निदर्शनम्, वस्तु पदार्थः । एषु क्रियापदादेरुपस्कारः परिष्कारः परिकरः । साभिप्रायविशेषणेन विशेष्योक्तिः परिकर इति लक्षणम् ।

तेषु क्रियापरिकरो यथा—

ववसिअणिवेइअत्थो सो मारुइलद्धपच्चआगअहरिसम् ।

सुग्गीवेण उरत्थलवणमालामलिअमहुअरं उवऊढो ॥ १७१ ॥

[व्यवसितनिवेदितार्थः स मारुतिलब्धप्रत्ययागतहर्षम् ।

सुग्रीवेणोरःस्थलवनमालामृदितमधुकरमुपगूढः ॥]

अत्र 'मारुतिलब्धप्रत्ययागतहर्षम्' इत्यनेन, 'उरःस्थलवनमालामृदितमधुकरम्' इत्यनेन चोपगूहनक्रियायाः परिकरितत्वादयं क्रियापरिकरः ॥

इनमें से क्रिया परिकर का उदाहरण—

अभीष्ट अर्थ का निवेदन करने वाले वह विभीषण हनुमान के द्वारा प्राप्त विश्वास से आ गई प्रसन्नता के साथ सुग्रीव से इस प्रकार आलिङ्गित हुये कि वक्षःस्थल पर पड़ी हुई वनमाला में स्थित भ्रमर कुचल गए ॥ १७१ ॥

यहाँ 'मारुतिलब्धप्रत्ययागतहर्षम्' इस पद से तथा 'उरःस्थलवनमालामृदितमधुकरम्' इस पद से भी उपगूहन—आलिङ्गन क्रिया का परिष्कार होने से, यह क्रिया परिकर है ।

स्व० भा०—यहाँ प्रधान क्रिया उपगूहन है । 'मारुति०' आदि तथा 'उरःस्थल०' आदि पद उसकी विशेषता प्रकट करते हैं । अतः क्रिया में परिष्कृति होने से इस स्थल पर क्रिया परिकर है ।

ववसिअ इत्यादि । "व्यवसितनिवेदितार्थः स मारुतिलब्धप्रत्ययागतहर्षम् । सुग्रीवेणोरःस्थलवनमालामृदितमधुकरमुपगूढः ॥" इह स विभीषणः सुग्रीवेणोपगूढ आलिङ्गितः । कीदृशः । व्यवसितस्य व्यवसायस्य निवेदितोऽर्थो येन सः । यद्वा व्यावसितं चिकीर्षितो रामसाहाय्यरूपो निवेदितोऽर्थो येन सः । मारुतिना हनूमता लब्धप्रत्ययेन प्राप्तविश्वासेनागतहर्षं यथा स्यादेवमुरःस्थलस्य वनमालायां मृदिता मधुकरा यत्र तद्यथा स्यादेवमित्युपगूहनक्रियाया विशेषणद्वयम् । 'प्रत्ययः सहजे ज्ञाने विश्वासाचारहेतुषु ।' इति मेदिनीकारः । अत्र प्रधानक्रियाया विशेषणद्वयेन परिष्कृतत्वात्क्रियापरिकरत्वम् ।

कारकपरिकरो यथा—

पडिआ अ हत्थसिढिलिअणिरोहपण्डरसमूससन्तकवोला ।

पेल्लिअवामपओहरविसमुण्णअदाहिणत्थणी जणअसुआ ॥ १७२ ॥

[पतिता च हस्तशिथिलितनिरोधपाण्डुरसमुच्छ्वसत्कपोला ।

प्रेरितवामपयोधरविषमोन्नतदक्षिणस्तनी जनकसुता ॥]

अत्र 'हस्तशिथिलितनिरोधपाण्डुरसमुच्छ्वसत्कपोला' इत्यनेन, 'प्रेरितवामपयोधरविषमोन्नतदक्षिणस्तनी' इत्यनेन च 'जनकसुता' इति च कारकपदस्य परिकरितत्वादयं कारकपरिकरः ॥

कारक परिकर का उदाहरण—

हाथ से नियन्त्रण शिथिल कर देने से श्वेत तथा उच्छ्वास लेते हुये कपोलों वाली, बाय उरोज का चलने से विषम रूप से उठे हुये दाहिने स्तनों वाली जानकी गिर भी पड़ीं ॥ १७२॥

इस श्लोक में 'हस्तशिथिलितविरोध पाण्डुरसमुच्छ्वसत्कपोला' इस पद से, तथा 'प्रेरित-वामपयोधरविषमोन्नतदक्षिणस्तनी' इस पद के द्वारा भी 'जनकसुता' इस कारक पद की विशि-ष्टता प्रकट करने से यह कारक परिकर है।

स्व० भा०—उक्त श्लोक में प्रयुक्त 'जनकसुता' पद प्रथमाविभक्ति में होने से कर्त्ताकारक का है। वृत्ति में निर्दिष्ट दोनों दीर्घसमस्तपद उसके विशेषण के रूप में आते हैं क्योंकि ये भी सामानाधिकरण्य से एकविभक्तिक हैं। इनके कर्त्ता कारक में स्थित पद की विशेषता बतलाने से यहाँ कारकपरिकर होता है।

षडिआअ इत्यादि। "पतिता च हस्तशिथिलितनिरोधपाण्डुरसमुच्छ्वसत्कपोला। प्रेरित-वामपयोधरविषमोन्नतदक्षिणस्तनी जनकसुता॥" इह जनकसुता सीता पतिता च। न केवलं मूर्च्छिता किंतु पतितापीति चकारार्थः। कीदृशी। हस्तेन शिथिलीकृतो निरोधो यन्त्रणं कपोलस्य अत एव पाणिपीडनत्यागात्पाण्डुरः समुच्छ्वसन् कपोलो यस्याः सा। यद्वा हस्तप्रहतनिरोधेन तत्संपर्कात्पाण्डुरः पीडनत्यागात्समुच्छ्वसन् कपोलो यस्याः सा। प्रेरितेन वामेन पयोधरेण स्तनेन विषमस्तिरश्चीन उन्नतो दक्षिणः स्तनो यस्याः सा। वामस्तनस्य चलनं प्रेरणमत्र रामादचिरभाविदुःखापनयनमिति सूचनम्। यद्वा क्षीणः वामः स्तनो निजो दक्षिणः पुरुषस्येति तेनैव पतिता। अत्र कर्तुः कारकतया तद्वाचकः पदमेव परिष्कृतम्॥

संबन्धिपरिकरो यथा—

उम्मूलिआण खुलिआ उक्खिप्पन्ताण उज्जुअं ओसरिआ।
णिज्जन्ताण णिराआ गिरीण मग्गेण पत्थिआ णइसोत्ता॥ १७३॥

[उन्मूलितानां खण्डितान्युत्क्षिप्यमाणानामृजुकमपसृतानि।
नीयमानानां निरायतानि गिरीणां मार्गेण प्रस्थितानि नदीस्रोतांसि॥]

अत्रोद्ध्रियमाणगिरिसंबन्धिनोऽप्रयोजका अपि नदीप्रवाहा विशेषणैरुपस्कृता इति संबन्धिपरिकरोऽयम्॥

सम्बन्धि परिकर का उदाहरण—

उखड़े हुये पर्वतों के सम्पर्क से खण्डित, उठाकर फेके जा रहे सीधे, खिसके हुये तथा बहाकर ले जाये जा रहे पर्वतों के सम्पर्क से सीधे पर्वतों के मार्ग से नदियों के प्रवाह चल पड़े॥ १७३॥

यहाँ उद्धृत किये जा रहे गिरि से सम्बद्ध नदी के प्रवाह किसी भी प्रकार प्रयोजक न होते हुये भी विशेषणों से परिष्कृत किये गए हैं। अतः यह सम्बन्धि परिकर है।

स्व० भा०—यहाँ पर षष्ठयन्त गुणवाचक पदों के साथ सम्बद्ध होने से नदियों के प्रवाह भी विशिष्ट हो गये हैं। सम्बन्धी के सम्बन्ध से इनमें यह निखार आया है। अतः यहाँ सम्बन्धि-परिकर है।

षष्ठ्यन्त पदों से सम्बद्ध होने से कारकपरिकर की भी शङ्का हो सकती थी, किन्तु वस्तुतः मूल कारकों में नहीं गिना जाता।

उम्मूलिया इत्यादि। "उन्मूलितानां खण्डितान्युत्क्षिप्यमाणानामृजुकमपसृतानि। नीयमानानां निरायतानि गिरीणां मार्गेण प्रस्थितानि नदीस्रोतांसि॥" कीदृशानां

कीदृशानि च। उन्मूलितानां चालनतः खण्डतानि, उत्क्षिप्यमाणानां ऋजुक्रमवक्रं यथा स्यादेवमपस्रुतानि, नीयमानानां निरायतानि वेगवशाद्वक्राणि च। अत्र नदीप्रवाहस्य संबन्धिनो विशेषणैः परिष्कारः॥

साध्यपरिकरो यथा—

धीरं हरइ विसाओ विणअं जोव्वणमओ अणङ्गो लज्जम्।
एक्कन्तगहिअवक्खो किं सेसउ जं ठवेइ वअपरिणामो॥ १७४॥

[धैर्यं हरति विषादो विनयं यौवनमदोऽनङ्गो लज्जाम्।
एकान्तगृहीतपक्षः किं शिष्यतां यं स्थापयति वयःपरिणामः॥]

अत्र गतवयसो न धैर्यम् न विनयो, न लज्जेति साध्यं विषादयौवनमदानङ्गक्रियादृष्टान्तैरुपस्कृतमिति साध्यपरिकरोऽयम्॥

साध्य परिकर का उदाहरण—

विषाद धैर्य का अपहरण करता है, युवावस्था का मद विनम्रता को हर लेता है, काम लज्जा का अपहरण कर लेता है, उसी प्रकार अद्भुत अथवा सबको अपने ही भीतर समाहित कर लेने वाली वयःपरिणाम-वृद्धावस्था-जिसमें स्थित रहती है अथवा जिसको स्थापित कर देती है: उसमें क्या अवशिष्ट रह जाता है॥ १७४॥

यहाँ 'आयु चली गई है जिसकी उसके न तो धैर्य होता है, न विनय और न लज्जा' यह अभीष्ट विषय—साध्य—है, जो कि विषाद, यौवनमद, तथा अनङ्ग की क्रिया के दृष्टान्तों से उपकृत है। इस प्रकार यहाँ साध्यपरिकर है।

धीरमित्यादि। 'धैर्यं हरति विषादो विनयं यौवनमदोऽनङ्गो लज्जाम्। एकान्तगृहीतपक्षः किं शिष्यते यं स्थापयति वयःपरिणामः॥'' इह विषादो धैर्यं हरति, विनयमनौद्धत्यं वशित्वं वा यौवनमदो हरति, अनङ्गो लज्जां हरति। एकान्तेन गृहीतः पक्षो येन सः। अद्भुत इत्यर्थः। यद्वान्तःस्वरूपे एको गृहीतपक्षः सर्वहरस्वरूपो येन स वयःपरिणामो यत्स्थापयति स्थिरीकरोति तत्किं शिष्यतेऽत्रशिष्यते, किंतु सर्वमेव हरतीति भावः। अत्र साध्यस्य दृष्टान्तैः परिष्कारः॥

दृष्टान्तपरिकरो यथा—

मज्झट्ठिअधरणिहरं झिज्जइ अ समुद्दमण्डलं उव्वेलम्।
रइरहवेअविअलिअं पडिअं विअ उक्खडक्खकोडि चक्कम्॥ १७५॥

[मध्यस्थितधरणिधरं क्षीयते च समुद्रमण्डलमुद्वेलम्।
रविरथवेगविगलितं पतितमिवोत्कटाक्षकोटि चक्रम्॥]

अत्र प्रक्षिप्तमन्दरसमुद्रोदाहरणभूतं रविरथचक्रं 'उत्कटाक्षकोटि' इति विशेषणेन साम्यसिद्धये परिकरितमिति दृष्टान्तपरिकरोऽयम्॥

दृष्टान्तपरिकर का उदाहरण—

जिसके भीतर मैनाक आदि पर्वत विद्यमान हैं जिसका जल बाहर उफना रहा था वह समुद्रमण्डल सूर्य के रथ के वेग से निकल गये भयङ्कर अग्रभाग वाले नीचे गिरे हुये चक्के की भाँति क्षीण हो रहा है॥ १७५॥

यहाँ प्रक्षिप्त मन्दर से युक्त समुद्र के उदाहरणस्वरूप रविरथचक्र 'उत्कटाक्षकोटि' इस विशेषण से साम्य की सिद्धि के लिए परिष्कृत किया गया है। अतः यह दृष्टान्तपरिकर है।

स्व० भा०—यहाँ दृष्टान्त की समानता के लिए साम्यसूचक विशेषण का भी प्रयोग है।

मज्जेत्यादि। "मध्यस्थितधरणिधरं चीयते च समुद्रमण्डलमुद्वेलम्। रविरथवेगविगलितं पतितमिवोत्कटाक्षकोटि चक्रम्॥" इह समुद्रमण्डलं चीयते च। चः पूर्वापेक्षया समुच्चये। कीदृशम्। मध्यस्थितो धरणिधरो मन्दरगिरिर्यत्र तत्। अत एवोद्वेलमुद्गतजलम्। 'वेला स्वतीरनीरयोः' इत्यमरः। सूर्यरथवेगेन स्खलितमनन्तरं पतितं चक्रमिव। चक्रं कीदृशम्। उत्कटा उद्भटा अक्षकोटिश्चक्राग्रं यत्र तत्। 'अक्षश्चक्रेऽपि पाशके' इति विश्वः। अत्र दृष्टान्तस्य साम्यार्थं विशेषणैः परिष्कारः॥

वस्तुपरिकरो यथा—

देवी पुत्रमसूत नृत्यत गणाः किं तिष्ठतेत्युद्भुजे
हर्षाद् भृङ्गिरिटावुदाहृतगिरा चामुण्डयालिङ्गिते।
पायाद्वो जितदेवदुन्दुभिघनध्वानः प्रवृत्तस्तयो-
रन्योन्याङ्गनिपातजर्जरजरत्स्थूलास्थिजन्मा रवः॥ १७६॥

अत्र चामुण्डाभृङ्गिरिटिपरिष्वङ्गसंघट्टितपरस्परहृदयास्थिजन्मनः शब्दस्य वस्तुतया परिगृहीतस्य 'देवी पुत्रमसूत—' इत्यादिभिः परिकरितत्वादयं वस्तुपरिकरः॥

वस्तुपरिकर का उदाहरण—

'देवी गौरी ने पुत्र को जन्म दिया है, अतः हे गणो, नाचो, बैठे क्यों हो?" इस प्रकार खुशी के मारे हाथ उठा कर कहने वाले भृङ्गिरिटी के कहे गये शब्दों को दुहराती हुई चामुण्डा के द्वारा आलिङ्गन करने पर, उन दोनो के अङ्गों पर स्थित जर्जर, पुराने तथा बड़े-बड़े अस्थिखण्डों के परस्पर घर्षण से उत्पन्न होने वाली देवदुन्दुभी की गम्भीर ध्वनि को भी मात दे रही ध्वनि आप लोगों की रक्षा करे॥ १७६॥

यहाँ चामुण्डा तथा भृङ्गिरिटि के आलिङ्गन से टकराये हुये एक दूसरे के हृदय पर स्थित अस्थियों से उत्पन्न शब्द को ही वस्तु के रूप में ग्रहण किया गया है। उसी के 'देवी पुत्रमसूत' इत्यादि पदों के परिष्कृत करने के कारण यह वस्तुपरिकर है।

स्व० भा०—यहाँ विशेष्य हैं 'रवः' पद। शेष शब्दों से अन्ततः इसकी विशिष्टता ही प्रतिपादित है।

देवीत्यादि। देवी गौरी पुत्रमसूत सूते स्म। ततो हे गणाः, नृत्यत नृत्यं कुरुत किमुपविष्टा भवथ इति कृत्वा उद्भुजे उत्तोलितबाहौ भृङ्गिरिटौ भृङ्गिनामके गणे चामुण्डया आलिङ्गिते सति तयोर्भृङ्गिरिटिचामुण्डयो रवः शब्दो वो युष्मान् पायाद्रक्षतु। चामुण्डया कीदृश्या। हर्षादुदाहृतोक्ता गीर्भृङ्गिरिटिवाणी यया तया। रवः कीदृशः। परस्पराङ्गसंबन्धेन जर्जरं स्फुटितं यज्जीर्णं स्थूलास्थि तस्माज्जन्म उत्पत्तिर्यस्य सः। जिता देवदुन्दुभेर्देवभेर्या निविडध्वानस्य प्रवृत्तिर्येन सः। 'भेर्यामानकदुन्दुभी' इत्यमरः। अत्र शब्दविशेषस्य वस्तुत्वेन गृहीतस्य विशेषणैः परिष्कारः॥

क्रिया यथा समासेन तथा कृत्तद्धितादिभिः।
विशेष्यते तदाहुस्तं क्रियापरिकरं परम्॥ ७३॥

क्रिया जिस प्रकार से समास के द्वारा विशिष्ट बनाई जाती है उसी प्रकार यदि कृत, तद्धित

आदि के द्वारा भी वह विशिष्ट की जाये तो वहाँ भी दूसरे प्रकार का परिकर कहा जाता है ॥ ७३ ॥

क्रियेति। यथा समासेन क्रिया विशेष्यते तथा यदि कृत्तद्धितादिभिर्विशेष्यते तदा क्रियापरिकर एव ॥

तत्र कृता तादर्थ्येन यथा—

गेहाद्याता सरितमुदकं हारिका नाजिहीषे
मङ्क्ष्यामीति श्रयसि यमुनातीरवीरुद्गृहाणि ।
गोसंदायी विशसि विपिनान्येव गोवर्धनाद्रे-
र्न त्वं राधे दृशि निपतिता देवकीनन्दनस्य ॥ १७७ ॥

अत्र 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०' इत्यादिभिरुपपदभूतापि क्रियैव विशेष्यते, तेनायमपरः क्रियापरिकरो भवति। एवं लक्षणादिषु शत्रादिभिरपि द्रष्टव्यम् ॥

यहाँ तादर्थ्य रूप से आये कृत् प्रत्यय के द्वारा क्रिया के परिष्कार निरूपण का उदाहरण—

घर से नदी की ओर तो तुम गईं थीं, जल भरने के लिए पुनः आयीं नहीं। 'मैं नहाऊँगी' ऐसा कह कर यमुना के तटवर्ती लतागृहों का आश्रय लेती हो! गायों को छान्दने के लिये गोवर्धन पर्वत की जङ्गली में घुस जाती हो। इस प्रकार हे राधे, तुम तो अब तक कृष्णचन्द्र की दृष्टि में पड़ी ही नहीं हो। १७७ ॥

यहाँ 'तुमुन् तथा ण्वुल् प्रत्यय किसी क्रिया के लिये हो रही क्रिया में लगते हैं—तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' ३।३।१० ॥—आदि नियमों से उपपद होने पर भी क्रिया ही विशेषित होती है, इससे यह दूसरे प्रकार का क्रियापरिकर होता है। इसी प्रकार 'लक्षण' आदि प्रसङ्गों में शतृ आदि प्रत्ययों के द्वारा भी क्रियापरिकर देखना चाहिये।

स्व० भा०—तुमुन् तथा ण्वुल् उत्तरकृदन्त से निरूपित कृत् प्रत्यय है। उक्त सूत्र के अनुसार जिस क्रिया के लिये कोई क्रिया की जाती हैं उससे ये प्रत्यय होते है। क्रमशः इनके प्रसिद्ध उदाहरण हैं—"कृष्णं द्रष्टुं याति" "कृष्णं दर्शको याति"।

उक्त श्लोक में 'हारिका' 'गोसंदायी', 'मङ्क्ष्यामि' पद क्रियार्थक हैं। इनमें 'हृञ् हरणे' धातु से तुमुन् के अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय होकर स्त्रीलिंग में 'हारिका' पद बना है। उत्तमपुरुष लट्लकार में 'मस्जि' से मङ्क्ष्यामि बनता है और 'गोसंदायी' भी घञन्त पद से ङीप् करके बना हैं' चूँकि इन पदों के लिये दूसरी क्रिया आई है, अतः इनमें विशेष्यविशेषण भाव है। यहाँ भी क्रिया विशिष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार क्रिया के परिचायक हेतु के अर्थ में वर्तमान धातु से लट् अर्थ में शतृ तथा शानच् होते हैं और 'कृच्छ्र' के न रहते 'इङ्' तथा 'धारि' क्रियाओं से भी ये ही प्रत्यय होते हैं। ये स्थितियाँ 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ।३।२।१२६ ॥ तथा 'इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि' ॥ ३।२।१३०॥ सूत्रों से होती हैं। इनके लक्षण क्रमशः 'शयाना भुञ्जते यवनाः' 'हरिं पश्यन् मुच्यते' तथा 'अधीयन्' 'धारयन्' आदि हैं। वृत्ति में प्रयुक्त 'लक्षणादिषु' शब्द का संकेत उक्त नियम (३।२।१२) की ओर है।

गेहादित्यादि। हे राधे, त्वं देवकीनन्दनस्य कृष्णस्य दृशि नेत्रे न निपतितासि। त्वं गेहात्सरितं नदीं याता गता उदकं हारिका उदकमाहर्तुं न पुनराजिहीषे न पुनरागच्छसि। मङ्क्ष्यामि स्नास्यामीति कृत्वा यमुनातीरे वीरुधां लतानां गृहाणि श्रयस्याश्रयसि।

गोसंदायी गवां बन्धनकारिणी सती गोवर्धनाद्रेर्वनान्येव विशसि च। हारिकेति 'हृञ् हरणे' तुमुनर्थे ण्वुल्। आजिहीषे इति 'ओहाङ् गतौ' (आङ्पूर्वः)मध्यमपुरुषैकवचने 'श्लौ ६।१।१०' इति द्विर्वचनम्। 'भृञामित्७।४।७५' इत्याकारस्येत्वम्। मङ्क्ष्यामीति मस्जेर्लृटि उत्तमपुरुषे। 'मस्जेरन्त्यात्पूर्वं' इति नुमि नकारलोपे च रूपम्। 'लता प्रतानिनी वीरुद्' इत्यमरः। गोसंदायीति संदानं बन्धनम्। 'छान्द' इति प्रसिद्धम्। अत्र ण्वुलादिकृता तादर्थ्यपुरस्कारेण क्रिया विशेष्यते। एवमिति। यत्र 'लक्षणहेत्वोः ।३।२।१२६', 'इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि २।३।१३०' इत्यनेन लक्षणादिशत्राद्यन्तेन क्रिया विशेष्यते तत्रापि क्रिया-परिकरो द्रष्टव्यः। यथा पुष्पात् स्ववृक्षे स्वयं गत फलतस्तु समायात इत्यादि (।)॥

अव्ययेन यथा—

सलीलमासक्तलतान्तभूषणं समासजन्त्या कुसुमावतंसकम्।
स्तनापपीडं नुनुदे नितम्बिना घनेन कश्चिज्जघनेन कान्तया॥ १७८॥

अत्र स्तनाभ्यामुपपीडयन्त्याय नुनुदे इति। अर्थात् क्रियाविशेषणमेवैत-दित्ययमपि क्रियापरिकरो भवति॥

एव यथाविध्यनुप्रयोगादिष्वपि द्रष्टव्यम्। तेन क्रियायाः क्वचिदान्तर-विशेषणयोगाद् व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्यपि व्याख्यातम्॥

अव्यय के द्वारा क्रिया के परिष्कार का उदाहरण—

सम्बद्ध लतान्त-पल्लवों के अलंकार वाले पुष्पश्रेष्ठ अथवा पुष्पाभरण को बड़े विलासपूर्वक आरोपित करती हुई प्रिया ने अपने दोनों उरोजों से पीड़ित करते हुए नितम्बों तक विस्तृत सघन जघनों से अपनी ओर अपने प्रियतम को प्रेरित किया॥ १७८॥

यहाँ 'दोनों स्तनों से पीड़ित कर रही सुन्दरी के द्वारा यह प्रेरित किया गया यह अर्थ निकलता है। अर्थात् यह (स्तनोपपीडम्) भी क्रियाविशेषण ही है, अतः यह भी क्रियापरिकर होता है।

इसी प्रकार नियम के अनुसार आगे के प्रयोगों में भी देखना चाहिये। इससे कहीं कहीं आन्तरविशेषण का योग होने से क्रिया में व्यङ्गता भी हो जाती है, इसका भी व्याख्यान हो चुका।

स्व० भा०—उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त 'उपपीडम्' पद "सप्तम्यां चोपपीड" ।।३।४।४९।। सूत्र से णमुलन्त बनाया गया है। णमुल् में अन्त होने वाले शब्द अव्यय होते हैं और क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं। क्रिया की विशेषता प्रकट करने के कारण क्रिया परिकरत्व सिद्ध हो जाता है। यहाँ पर 'उपपीडम्' से 'नुनुदे' की विशेषता प्रकट होती है।

सलीलमित्यादि। कश्चिन्नायकः प्रियया जघनेन नुनुदे प्रेरितः। स्तनोपपीडं स्तनाभ्यामा-पीड्य। जघनेन कीदृशेन। नितम्बिना कटितटवता निबिडेन च। कान्तया कीदृश्या। सलीलं सविलासं यथा स्यादेवं पुष्पावतंसकं समासजन्त्या आरोपयन्त्या। कीदृशम्। आसक्तं संबद्धं लताभूषणं यत्र तत्। स्तनोपपीडमिति 'सप्तम्यां चोपपीड ३।४।४९' इति णमुल्। अत्र णमुलाव्ययेन नोदनक्रियाया विशेषणं परिकरः॥ एवमिति। तत्र हि यस्मा-द्धातोर्लोडादिस्तस्मादेवाग्रिमप्रत्यय इति क्रियाया विशेषणत्वेन परिकरता॥

यथा—

शय्यन्ते हतशायिकाः पथि तरुच्छायानिषण्णाध्वगैः

श्रीकण्ठायतनेषु धार्मिकजनैरास्यन्त उष्ट्रासिकाः।
शून्ये तत्र निकुञ्जशाखिनि सखि ग्रीष्मस्य मध्यंदिने
सज्जानां दयिताभिसारणविधौ रम्यः क्षणो वर्तते ॥ १७९ ॥

अत्र 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते', 'हतशायिकाः शय्यन्ते' इत्यमूभ्यां सामान्यविशेषोपचारितरूपो भावात्मा ण्वुलत्र प्रत्याय्यते। स आख्याताभ्यां सामान्यरूपेण, ण्वुलन्ताभ्यां विशेषरूपेण। बहुवचनं चेह कुत्सातिशयार्थम्। याहि नामोष्ट्रस्य कुत्सावत्यो बहुप्रकारवत्यो वक्षःसु आसिकाः, याश्च हतानामतिशयवत्यस्तथाभूता एव भूयस्यः शायिकाः प्रतीतास्ताभिर्विशेषरूपाभिरियमासिका शायिका चोपमानोपमेयसंबधजनितभेदाभेदपरिग्रहाल्लकारेणापि बहुत्वेनैव प्रत्याय्यते। तेनोष्ट्रासिका इवासनानि, हतशायिका इव शयनानि क्रियन्ते भवन्तीति वाक्यार्थो भवति, सोऽयं यथोक्तः क्रियापरिकरः॥

जैसे—

मार्ग में वृक्ष की छाया में बैठे हुये पथिकों के द्वारा निन्दित सी शय्यायें बनाई जा रही हैं; शिवमन्दिर में धर्मात्मा जन ऊँट की बैठान बैठ रहे हैं, हे सखि, इस झाड़ी के वृक्ष के नीचे निर्जन ग्रीष्म ऋतु की दोपहरी में अच्छी तरह से सजी हुई अभिसारिकाओं का प्रियतम के पास अभिसार करके मनोरम घड़ियाँ बीत रही हैं ॥ १७९ ॥

यहाँ 'उष्ट्रासिका आस्यन्ते" "हतशायिकाः शय्यन्ते" इन दोनों वाक्यों द्वारा सामान्य तथा विशेष रूप से सम्पन्न स्वरूप वाला भावार्थक ण्वुल् ही प्रतीत कराया जा रहा है। वह दोनों धातुओं द्वारा सामान्य रूप से तथा ण्वुल् प्रत्ययान्त शब्दों से विशेषरूप से प्रतीत कराया जाता है। यहाँ बहुवचन का प्रयोग अत्यधिक निन्दा प्रकट करने के लिये है। यह जो ऊँट के बहुत प्रकार के निन्दनीय आसिकायें वक्षःस्थल पर होती हैं और जो हतकों के आधिक्य वाली होती हैं उसी प्रकार की ही बहुत सी शायिकायें प्रतीत होती हैं, उन्हीं विशेष रूप वाली के द्वारा भी यह आसिका और शायिका उपमानोपमेयभाव से उत्पन्न भेद के अभेद का परिग्रहण होने से लकार के द्वारा भी बहुत्व के रूप में ही प्रतीत कराया जाता है। इससे उष्ट्रासिका के सदृश बहुत से आसन तथा हतशायिका के सदृश अनेक शयन कमरा बनाये जा रहे हैं और हो रहे हैं, यह वाक्यार्थ निकलता है। यह कहे गये नियमों के अनुसार क्रियापरिकर है।

स्व० भा०—उक्त श्लोक में 'शायिकाः' तथा 'आसिकाः' पदों की निष्पत्ति क्रमशः 'शीङ् स्वप्ने' तथा 'आस उपवेशने' धातुओं से "धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः" नियम के अनुसार ण्वुलन्त रूप में हुई है। इन्हीं धातुओं से भाव में यक् होकर लट् लकार प्रथमपुरुष बहुवचन में 'शय्यन्ते' तथा 'आस्यन्ते' रूप भी बनते हैं। भाव में होने पर भी एकवचन की क्रिया के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग का कारण उन क्रियाओं की अतिशयता का बोध कराता है। अन्ततः इसमें विशेषणविशेष्य अथवा उपमानोपमेय भाव उत्पन्न होने से भेद होने पर भी अभेद की कल्पना कराई जाती है। इस प्रकार क्रिया विशिष्ट कर दी जाती है। यहाँ 'शय्यन्ते' का अर्थ केवल शय्या बनाना नहीं, अपितु 'कुत्सितशयनों की भाँति शयनों का निर्माण करना है।" "आस्यन्ते' का भी इसी प्रकार अर्थ होगा कि 'जिस प्रकार ऊँट बैठते हैं उस प्रकार से बैठ रहे हैं।'

शय्यन्त इत्यादि । पथि वृक्षच्छायोपविष्टपान्थैर्हतशायिका निन्दितशयनानीव शय्यन्ते शयनानि क्रियन्ते । श्रीकण्ठगृहेषु धार्मिकजनैस्तपस्विभिरुष्ट्रासिका इवोष्ट्रोपवेशनानीवास्यन्ते स्थीयन्ते । यथोष्ट्रो यत्र कुत्रचिदुपविशति तथा तपस्विभिरप्युपविश्यत इत्यर्थः । हे सखि, तत्र निकुञ्जशाखिनि निकुञ्जवृक्षे शून्ये विजने ग्रीष्मस्य मध्याह्ने सज्जानां सुसज्जानामभिसारिकाणां प्रियस्याभिसारणव्यापारे रम्यः क्षणो वर्तते । शय्यन्त इति 'शीङ् स्वप्ने' भावे यक् । शायिका इति 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः' इति शीङ् धातोः ण्वुल् । तथा च शायिकाः शयनानीत्यर्थः । श्रीकण्ठः शिवः । 'श्रीकण्ठः शितिकण्ठः कपालभृत्' इत्यमरः । आसिका इति । 'आस उपवेशने' 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः' इति ण्वुल् । तेन आसिका आसनानीत्यर्थः । 'सज्जः स्यात् संनद्धे संभृते त्रिषु' इति मेदिनीकारः । अत्र शयितापेक्षयोपविष्टस्याभिसरणे वारणीयत्वख्यापनार्थं विवरणे वैपरीत्यमाह—अत्रेति । अमूभ्यां वाक्याभ्याम् । सामान्यविशेषाभ्यां शय्यन्ते आस्यन्ते इति सामान्यम्, हतशायिका उष्ट्रासिकेति विशेषस्ताभ्यामुपरचितमुपस्थापितं रूपं स्वरूपं यस्य सः । भावात्मा भावरूपो धर्म इति यावत् । प्रत्याय्यते बोध्यते । आख्याताभ्यामास्यन्ते शय्यन्त इत्यत्र । सामान्यरूपेण सामान्याकारेण । ण्वुलेति । उष्ट्रासिकाहतशायिकापदाभ्यामित्यर्थः । विशेषेति । विशेष्ये तयोः कथनादित्यर्थः । तर्हि भावस्यैकत्वादेकवचनं स्यात्तत्कथं बहुवचनं शय्यन्ते आस्यन्ते इति स्यादत आह—बहुवचनमिति । विशेषक्रियागतबहुत्वस्यैव सामान्यक्रियाया विवक्षितत्वाद्बहुवचनमित्यर्थः । विवक्षामूलं कुत्साप्रतिपादनम् । कुत्सामेवाह—या हीति । तथा च तद्विशेषयोगाद्बहुत्वमित्येवाह । ताभिरिति । उपमानोपमेयसम्बन्धेन जनितोऽभेदो यस्याः सा । भेदपरिग्रहाद्भेदपुरस्कारात् । लकारेण भावप्रत्ययेन । लकारवाच्यमर्थमाह—तेनेति ।

क्वचित् पुनर्बाह्यमपि कृद्रूपं कृदर्थरूपं वा क्रियाविशेषणं भवति । यथा—

'शतं वारानुक्तः प्रियसखि वचोभिः स परुषैः
सहस्रं निर्धूतः पदनिपतितः पार्ष्णिहतिभिः ।
कियत्कृत्वो बद्धाः पुनरिह न वेद्मि भ्रुकुटय-
स्तथापि क्लिश्यन्मां क्षणमपि न धृष्टो विरमति ॥ १८० ॥'

अत्र 'वारान्' इति वारशब्दः कृदन्तः । वारसंख्यायाः कृत्वसुजिति कृत्वसुच् कृदर्थः । ताविमौ द्वावप्यावृत्तिरूपेण क्रियाया विशेषणं भवतः । नन्वेवमुष्ट्रासिकादीनां वारादीनां च क्रियाविशेषणत्वात् कर्मतेव नपुंसकलिङ्गतापि प्राप्नोति । यथा—मृदु पचति, प्रशस्तं पठतीति । उच्यते । त्रिधा खलु क्रियाविशेषणं भवति—बाह्यम्, आभ्यन्तरम्, बाह्याभ्यन्तरं च । तत्र बाह्यं कर्मरूपं वारादि, आभ्यन्तरं विशेषरूपमुष्ट्रासिकादि, बाह्याभ्यन्तरं गुणरूपं मृद्वादि । तेषु बाह्यं सोऽयमित्यभिधायासंबन्धादभेदोपचारेणाविचलितस्वरूपमेव प्रधानं विशिषत् कथमिव स्वलिङ्गं जह्यात्, आभ्यन्तरं तु विशेषापरिग्रहादाविष्टलिङ्गसंख्यं कथमिवान्यलिङ्गं गृह्णीयात् । बाह्याभ्यन्तरं तु गुणत्वात् स्वलिङ्गविरहे 'गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि' इति विशेष्यलिङ्गग्राह्येव भवति ॥

कहीं-कहीं बाह्य भी कृदन्त रूप वाला अथवा कृदन्त के अर्थ रूप वाला भी क्रियाविशेषण होता है। जैसे—

हे सखि, कठोर शब्द मैंने उसे सैकड़ों बार कहे, पैरों पर पड़ने पर हजारों बार वह पदतल से ढकेल दिया गया, और मुझे नहीं मालूम कि कितनी बार उस पर मैंने भौंहें चढ़ाईं, फिर भी वह धूर्त मुझे पीड़ित करता हुआ एक क्षण भी अलग नहीं होता ॥ १८०॥

यहाँ 'वारान्' में वारशब्द कृत् प्रत्ययान्त है। वार को संख्या का कथन होने से कृत्वसुच् प्रत्यय हुआ है। यह कृत्वसुच् कृत् के अर्थ में है। ये दोनों भी आवृत्ति रूप से क्रिया के विशेषण होते हैं। अब शंका है कि इस प्रकार तो उष्ट्रासिका आदि तथा वार आदि के क्रियाविशेषण होने से कर्मत्व की भाँति नपुंसकलिङ्गता की भी प्राप्ति होती है। जैसे 'मृदु पचति', प्रशस्तं पठति—मीठे मीठे पकाता है, बड़े सुन्दर ढंग से पढ़ता है आदि में। उत्तर दिया जाता है—क्रियाविशेषण तीन प्रकार का होता है, बाह्य, आभ्यन्तर तथा बाह्याभ्यन्तर। इनमें से बाह्य कर्मरूप होता है जैसे बार आदि, आभ्यन्तर विशेष प्रकार का होता है जैसे उष्ट्रासिका आदि, बाह्याभ्यन्तर गुणरूप होता है जैसे मृदु आदि। इनमें से बाह्य जिसका रूप "यह वही है" इस प्रकार से कह कर सम्बन्ध न होने से अभेदवृत्ति से अविचल स्वरूप वाले प्रधान की ही विशेषता बतलाते हुये कैसे भला अपने लिङ्ग को छोड़ दे। आभ्यन्तर तो विशिष्टता का परिग्रह न होने से आविष्ट लिङ्ग तथा संख्या वाला होता है, अतः किस प्रकार दूसरे के लिङ्ग को ग्रहण कर सकता है। जो बाह्याभ्यन्तर है उसका गुण होने के कारण अपने लिङ्ग के अभाव में गुणवाचक शब्दों के लिङ्गों का निर्वचन आश्रय के अनुसार होता है, इस नियम से विशेष्य के लिङ्ग द्वारा ग्राह्य सा होता है।

स्व० भा०—इस पूरे विवेचन का आशय यह है कि 'वारान्' तथा कियत् कृत्वः' पद 'उक्तः' तथा 'बद्धाः' क्रियाओं की विशेषता प्रकट करते हैं। इनमें से 'कियत्कृत्वः' तो कृदन्त है क्योंकि 'कृत्वसुच्' प्रत्ययान्त है। किन्तु 'वारान्, कृदर्थ है, क्योंकि 'कृत्वसुच्' के अर्थ में ही अनेक संख्या का ज्ञापन कराने के लिये इसका प्रयोग हुआ है। अब शंका होती है कि क्रिया विशेषण होने से इसमें 'वारान्' न होकर 'वारम्' होना चाहिए 'भावे औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वं च' इस मान्यता के अनुसार। किन्तु भोज ने इसे बाह्य विशेषण बतला कर इस विधान से मुक्त कर दिया। शेषवृत्ति स्पष्ट है।

शतमित्यादि। हे प्रियसखि, तथापि स धृष्टो मां क्लिश्यन् क्षणमपि न विरमति न विरक्तो भवति। कीदृशः परुषैर्निष्ठुरैर्वचनैः शतं वारान्यथा स्यादेवमुक्तः, पदे निपतितः, स च पार्ष्णिहतिभिः पादतलप्रहारैः सहस्रं वारान्निर्धूतश्चालितः इह विषये भ्रुकुटयः पुनः कियत्कृत्वः कियद्वारान् न बद्धा इति न वेद्मि। वारानिति, 'वृञ् वरणे' भावे घञ्। तेन वारपदमावृत्तिवचनं स्वत एव कियत्यकृत्व इति। 'निष्ठुरं परुषं ग्राम्यम्' इत्यमरः। अत्र वारशब्दः कृदन्तः। कियत्कृत्व इत्यत्र वारसंख्यावाचकतायां कृत्वसुजिति कृदर्थता। कृदन्तस्य कृदर्थस्य चावृत्तिरूपेण पौनःपुन्यतया क्रियाविशेषणता। 'नपुंसकत्वं कर्मत्वं तुल्यत्वं च तथैकता। क्रियाविशेषणस्यैव मतं सूरिभिरादरात् ॥' इति मतमनुमत्य क्लीबत्वमुष्ट्रासिकादीनां शङ्कते—नन्विति। समाधत्ते—त्रिधेति। यत्र धर्मधर्मिणोरभेदोपचारस्तत्र धर्मोऽजहत्स्वरूप एव धर्मिविशेषकः। सोऽयमित्यादौ विशेषरूपेण लिङ्गसंख्ययोरन्वये उष्ट्रासिकादौ कथमन्यलिङ्गग्रहः। 'गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि' इति गुणरूपाणां विशेष्यलिङ्गता ॥

तद्धितकृत्वसुचोक्तः, थालादिनोच्यते—

यथा—

'अकृतकवलारम्भैर्भूयो भयस्थगितेक्षणाः

किमपि वलितग्रीवं स्थित्वा मुहुर्मृगपङ्क्तयः।

गगनमसकृत्पश्यन्त्येतास्तथाश्रुधनैर्मुखै-

र्निपतति यथा शृङ्गाग्रेभ्यो भ्रमन्नयनोदकम् ॥ १८१ ॥'

अत्राद्यः प्रकारवचने थाल् अनेकवारानित्यर्थे 'असकृत्' इति तद्धितेन, 'पश्यन्ति' इति क्रियायाम्, 'वलितग्रीवम्' इति समासेन, 'किमपि' इति नाम्नाव्ययेन, 'स्थित्वा' इति कृता, 'मुहुः' इति कृदर्थे वीप्सया च क्रियाविशेषणेन सह विशेषयति' द्वितीयश्च 'यथा भ्रमन्नयनोदकं निपतति' इति शतृलक्षितया 'पतति' इति क्रियया तमेवार्थमनुसंदधानः पूर्वक्रियाया एव विशेषणं भवति, सोऽयं कृतद्धितसमासाव्ययानां संनिपातरूपेऽपि क्रियापरिकरे 'यथा, तथा' इत्येतयोः प्राधान्यात्तद्धितेनैवोपदिश्यते ॥

कृत्वसुच् के द्वारा तद्धित कह दिया गया, अब थाल् आदि प्रत्ययों से उसे कहा जा रहा है। जैसे—

भय के कारण स्तब्ध नेत्र वाली जरा-जरा सा गर्दन मोड़ कर, बार-बार रुक-रुक कर, ये हरिणावलियाँ कवल चर्वण का कार्य बिना किये ही अश्रुपूर्ण मुखों से बार-बार आकाश को इस प्रकार देख रही है कि नेत्रों का जल जैसे घूम-घूम कर इनकी सींगों के अग्रभाग से गिर रहा हो ॥ १८१ ॥

यहाँ प्रथम थाल् प्रत्यय प्रकार का कथन करने में, कई बार इस अर्थ में 'असकृत्' यह पद तद्धित के द्वारा, पश्यन्ति' यह क्रिया में, 'वलितग्रीवम्' यह समास के द्वारा, 'किमपि' यह अव्यय-नाम से, 'स्थित्वा' यह कृत् प्रत्यय से, 'मुहुः' यह पद कृत् प्रत्यय के अर्थ में, वीप्सा—बार-बार का भाव—के द्वारा क्रियाविशेषण के साथ विशेषता बतलाता है, दूसरा 'यथा भ्रमन्नयनोदकं निपतति' में शतृ से लक्षित 'पतति' इस क्रिया के द्वारा उसी अर्थ का अनुसंधान करते हुये पूर्वक्रिया का ही विशेषण होता है। अतः लक्षणों वाला यह कृत्, तद्धित, समास तथा अव्ययों का सम्मिलित रूप होने पर भी क्रिया परिकर में 'यथा-तथा' इन दोनों की प्रधानता होने से तद्धित के द्वारा ही उपदिष्ट होता है।

स्व० भा०—यहाँ एक ही जगह तद्धित, कृत्, समास, अव्यय आदि के द्वारा क्रिया की विशिष्टता निरूपति हो रही है। 'यथा और तथा' पद थाल् प्रत्ययान्त है और 'पतन्ति' इस प्रधान क्रिया की विशेषता बतलाते हैं। 'एक' शब्द से 'सुच्' तद्धित होने पर 'एकस्य सकृच्च'॥५।४।१९॥ सूत्रानुसार सकृत् आदेश होता है। इससे भी नञ् समास करके 'असकृत्' बना। इसी प्रकार वृत्ति में किये गये उल्लेख के अनुसार समास, अव्यय, कृदर्थ आदि अनेक विधियों से क्रिया का परिष्कार निरूपित होता है। उत्तरार्ध में भी 'यथा' यह थाल् प्रत्ययान्त पद आकर क्रिया की ही विशिष्टता का प्रतिपादन करता है।

अकृतेत्यादि। एता मृगपङ्क्तयस्तथा तेन प्रकारेण निबिडनेत्रजलैर्मुखैरसकृद्वारंवारं गगनं पश्यन्ति। यथा येन प्रकारेण नयनजलं भ्रमत् सत् शृङ्गाग्रेभ्यो निपतति। किं कृत्वा। अकृतकवलोद्यमैरास्यैः किमपि वलितग्रीवमुत्तोलितघाटकं यथा स्यादेवं स्थित्वा।

कीदृश्यः। भयेन स्थगिते निश्चले ईक्षणे यासां ताः। अत्र तथेत्यत्र प्रकारवचने थाल्। पश्यन्तीति क्रियायामनेनानेन क्रियाविशेषणेन सह विशेषयतीत्यन्वयः॥ असकृदिति 'एकस्य सकृच्च ५।४।१९' इति सुच्प्रत्ययः, सकृदादेशः संयोगान्तलोपश्च। तेन सकृच्छब्दस्तद्धिताधिकारीयः। पश्चान्नञ्समासः। चलिता ग्रीवा यत्रेति समासः। नाम्ना प्रातिपदिकेन। क्त्वाप्रत्ययः कृत्। मुहुरिति। वारंवारं स्थित्वेत्यत्र पूर्वकालिकावस्थान एव वीप्सेति कृदर्थे वीप्सा स्यादेवेत्यर्थः। द्वितीय इति। यथेत्यत्र थाल्। तमेवार्थं प्रकाररूपं संदधान उपस्थापयन् पूर्वक्रियायाः प्रधानक्रियायाः पश्यन्तीतिरूपाया विशेषणं भवति। तथा च कृत्वसुचा प्रत्ययेनोक्तं यत्स्थानं वारंवारादिलक्षणं तेन यदि तद्धित उच्यते तद्धितस्य वारंवारार्थता भवति तदायं परिकरभेदः कृत्प्रभृतीनां संनिपातरूपः समन्वयरूप इत्यर्थः॥

एतेन तद्यदोर्विपर्ययस्तद्विशेषणयोगश्च व्याख्यातः। तद्यथा—

जह जह णिसा समप्पइ तह तह वेविरतरंगपडिमापडिअम्।
किंकाअव्वविमूढं वेवइ हिअअं व्व उअहिणो ससिबिंबम्॥ १८२॥

[यथा यथा निशा समाप्यते तथा तथा वेपमानतरङ्गप्रतिमापतितम्।
किंकर्तव्यविमूढं वेपते हृदयमिवोदधेः शशिबिम्बम्॥]

अत्र 'यथा, तथा' इति क्रियाविशेषणयोरपरमपि विशेषणं वीप्सा भवति। सोऽयमेवंप्रकारः क्रियापरिकरो द्रष्टव्यः॥

इसके द्वारा ही 'तद्-यद्' इन दोनों का विपर्यय और दूसरे क्रिया विशेषण का योग भी व्याख्यात हो गया। वह इस प्रकार है—जैसे-जैसे रात्रि समाप्त होती जा रही है वैसे-वैसे चञ्चल तरंगों में पड़े हुये प्रतिबिम्ब वाला चन्द्रमण्डल सागर के कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेचन में अक्षम हृदय की भाँति काँप रहा है॥ १८२॥

यहाँ 'यथा-तथा' इन दो क्रियाविशेषणों का अन्य भी विशेषण वीप्सा से बनता है। उक्त स्वरूप वाला क्रियापरिकर इन रूपों में देखा जाना चाहिये।

स्व० भा०—यहाँ इतनी सी बात है कि एक ही बार प्रयुक्त 'यथा-तथा' क्रियाविशेषण के रूप में आकर क्रिया की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हैं। दो बार आकर वे और भी विशिष्टता में वृद्धि करते हैं। यहाँ 'यत्-तत्' शब्द का विपरीत प्रयोग हुआ है, क्योंकि यथा शशिबिम्बं घूर्णते तथा निशा समाप्यते' यह कहने के स्थान पर पूर्वविधि से कथन हुआ है।

जह जहेत्यादि।"यथा यथा निशा समाप्यते तथा तथा वेपमानतरङ्गप्रतिमापतितम्। किंकर्तव्यविमूढं वेपते हृदयमिवोदधेः शशिबिम्बम्॥" इह निशा यथा यथा समाप्यते स्वयं समाप्तिं याति। कर्मकर्तरि तङ्। तथा तथा शशिबिम्बं घूर्णते। कीदृशम्। वेपनशीलतरङ्गे प्रतिमया प्रतिबिम्बेन पतितम्। किंकर्तव्यमत्रेति विमूढं मुग्धमुदधेर्हृदयमिव। इवशब्द उत्प्रेक्षायाम्। अत्र तच्छब्दयच्छब्दयोर्वैपरीत्यम्। यथा शशिबिम्बं घूर्णते तथा निशा समाप्यत इति वक्तव्ये यथोक्तं विपरीतम्। तद्विशेषणयोगः क्रियाविशेषणान्तरयोगो वीप्साकारितः॥

क्रियाविशेषणं कैश्चित्संबोधनमपीष्यते।
संबन्धिभिः पदैरेव लक्ष्यन्ते लक्षणादयः॥ ७४॥

तेषु संबोधनपरिकरो यथा—

'धर्मस्योत्सववैजयन्ति मुकुटस्रग्वेणि गौरीपते-
त्वां रत्नाकरपत्नि जह्नुतनये भागीरथि प्रार्थये ।
त्वत्तोयान्तशिलानिषण्णवपुषस्त्वद्वीचिभिः प्रेङ्खत-
स्त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः प्राणाः प्रयास्यन्ति मे ॥ १८३ ॥

अत्र 'भागीरथि' इति सम्बोधनपदं 'धर्मस्योत्सववैजयन्ति' इत्यादिभिः परिष्क्रियते । तत्र यथाकथंचिदप्युच्यमानोऽयं क्रियाविशेषणत्वं नातिक्रामतीत्ययमपि क्रियापरिकरः ।

कुछ लोगों के द्वारा सम्बोधन भी क्रियाविशेषण के रूप में मान्य है और लक्षण आदि सम्बन्धी पदों से ही लक्षित होते हैं ॥ ७४ ॥

इनमें से सम्बोधन परिकर का उदाहरण—

हे धर्म के उत्सव में ध्वजा रूपिणि, हे शिव के मुकुट की माला रूपी प्रवाहों वाली, हे समुद्र की पत्नी, हे जह्नु की पुत्री, हे गङ्गे, मैं तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ कि तुम्हारे जल के समीप पाषाण खण्डपर अपने शरीर को रखे हुये, तुम्हारी तरङ्गों से लहराते हुये, तुम्हारे नाम को जपते हुये, तुम पर ही दृष्टि लगाये हुये मेरे प्राण प्रयाण करें ॥ २८३ ॥

यहाँ 'भागीरथि' यह सम्बोधन का पद 'धर्मस्योत्सववैजयन्ति' इत्यादि के द्वारा परिष्कृत किया जा रहा है । वहाँ जैसे-कैसे भी अभिहित किया जाय अर्थ क्रियाविशेषणत्व का अतिक्रमण नहीं करता । इस प्रकार यह भी क्रियापरिकर ही है ।

धर्मस्येत्यादि । हे भगीरथि भगीरथावतारिते हे गङ्गे, त्वामहं प्रार्थये धर्मस्योत्सवे वैजयन्ति पताकारूपे, हे भवानीपतेर्मुकुटमालारूपा वेणी प्रवाहो यस्यास्तादृशे, हे रत्नाकरस्य समुद्रस्य पत्नि जाये, हे जह्नुमुनिकन्यके । प्रार्थनाविषयमाह—मम प्राणाः प्रयास्यन्ति । गमिष्यन्ति । कीदृशस्य । त्वत्तोयस्यान्ते समीपे शिलानिषण्णाङ्गस्य त्वद्वीचिभिः त्वत्तरङ्गैः प्रेङ्खतश्चलतस्त्वदीयं नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशस्त्वयि दत्तनेत्रस्य च । 'वैजयन्ती पताकायाम्' इति मेदिनीकारः । 'अन्तः शेषेऽन्तिके स्त्रियाम्' इति च । अत्र स्फुटक्रियाविशेषणत्वं नास्तीत्यत आह—तत्रेति । विशिष्टायाः प्रार्थनकर्मतया विशेषणस्याप्यन्वय इति यथाकथंचिदित्यस्यार्थः ॥

लक्षणपरिकरो यथा—

महाप्रथिम्ना जघनस्थलेन सा महेभकुम्भोच्चकुचेन वक्षसा ।
मुखेन दीर्घोज्ज्वललोलचक्षुषा वयस्य कान्ता कथय क वर्तते ॥ १८४ ॥

अत्र जघनस्थलादीनि लक्षणानि महाप्रथिम्नेत्यादिभिः परिष्क्रियन्ते; सोऽयं लक्षणपरिकरः ॥

लक्षण परिकर का उदाहरण—

अरे मित्र, बतलाओ तो कि अत्यन्त पृथुल जघनस्थलों से युक्त, विशाल हस्तिकुम्भ की भाँति ऊँचे उरोजों से समन्वित वक्षःस्थल वाली तथा बड़े-बड़े चमकदार और चञ्चल नेत्रों से युक्त मुखवाली वह सुन्दरी कहाँ है ॥ १८४ ॥

यहाँ जघनस्थल आदि लक्षण महाप्रथिम्ना इत्यादि शब्दों से परिष्कृत होते हैं, अतः यह लक्षण परिकर है।

महावाक्यस्थसंबन्धिपदैर्लक्षणादयो यत्र लक्ष्यन्ते स परिकर एवेत्युक्तं विवृणोति—लक्षणेति ॥ महेत्यादि। हे वयस्य मित्र, त्वं कथय सा कान्ता क वर्तते। कीदृशी। महान् प्रथिमा स्थूलत्वं यस्य तेन जघनस्थलेन लक्षिता। महाकुम्भिकुम्भस्थलादप्युच्चौ कुचौ यत्र तेन हृदयेन लक्षिता। दीर्घे, उज्वले, निर्मले, लोले चपले चक्षुषी यत्र तेन मुखेन लक्षिता च। इह लक्षकपदानां संबन्धिभिर्विशेषणैः परिष्कारः ॥

हेतुपरिकरो यथा—

त्वया जगन्ति पुण्यानि त्वय्यपुण्या जनोक्तयः।
नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपद्यसे ॥ १८५ ॥

अत्र प्रथमतृतीयपादयोः 'त्वया, त्वया' इति हेतू द्वितीयचतुर्थपादाभ्यां परिष्क्रियेते; सोऽयं हेतुपरिकरः ॥

हेतुपरिकर का उदाहरण—

तुम्हारे कारण तो सारा संसार पवित्र है, और तुम्हारे ही प्रति लोगों की अपवित्र उक्तियाँ हैं। तुम्हारे ही कारण सभी लोक सनाथ हैं और तुम अनाथ होकर विपत्ति सह रही हो ॥ १८५ ॥

यहाँ प्रथम तथा तृतीय चरणों में 'त्वया' 'त्वया' ये दो कारण द्वितीय तथा चतुर्थ पादों द्वारा परिष्कृत किये जा रहे हैं, अतः यह हेतु परिकर है।

आदिपदग्राह्यं हेत्वादि। तत्र हेतावाह—हेत्विति। त्वयेत्यादि। त्वया जगन्ति पवित्राणि। त्वयि जनोक्तयोऽपुण्या अकुशलाः। त्वया लोका जना नाथवन्तः सरक्षकाः। त्वमनाथा अशरणा विपद्यसे विपन्ना भवसि। अत्र हेतुद्वयपरिष्कारो व्यक्त एव ॥

सहार्थपरिकरो यथा—

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥ १८६ ॥

अत्र 'अनेन' इति सहार्थः ,यूना, पार्थिवेन इति च पदाभ्यां परिष्क्रियते; सोऽयं सहार्थपरिकरः ॥

सहार्थपरिकर का उदाहरण—

हे सुजघने, क्या इस जवान राजा के साथ सिप्रानदी की तरङ्गों से आ रही वायु से हिलाई गई उद्यानमालाओं में घूमने की तुम्हारे मन में इच्छा है?

यहाँ अनेक पद सहार्थक है जो कि 'यूना' तथा पार्थिवेन, इन दोनों पदों के द्वारा परिष्कृत किया जा रहा है। अतः यह सहार्थ परिकर है ॥ १८६ ॥

अनेनेत्यादि। हे रम्भोरु, अनेन तरुणेन भूपेन सह तव मनसो रुचिरभिलाषः कच्चित्कथयेत्यर्थः। किमर्थम्। वनपंक्तिषु विहर्तुं क्रीडां कर्तुम्। कीदृशीषु। सिप्रा नदीभेदस्तत्तरङ्गसंगिवायुना कम्पितासु। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। अत्रानेनेति 'सहयुक्तेऽप्रधाने:२।३।१९' इति तृतीया। तत्प्रतिपाद्यः सहार्थोऽत्र विशेषणाभ्यां परिष्क्रियते ॥

तादर्थ्यपरिकरो यथा—

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽयं त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥१८७॥

अत्र 'अन्योन्यशोभापरिवृद्धये' इति तादर्थ्यार्थः शेषपदार्थैः परिष्क्रियते; सोऽयं तादर्थ्यपरिकरः ॥

तादर्थ्यपरिकर का उदाहरण—

यह राजा ऐसा है जिसके शरीर की छटा नीलकमल के सदृश है और तुम रोचना के सदृश गौर शरीरलता वाली हो। इस प्रकार विद्युत् तथा मेघ के योग की भाँति तुम दोनों का संयोग परस्पर शोभावृद्धि के लिये हो ॥ १८७ ॥

यहाँ 'अन्योन्यशोभापरिवृद्धये' यह तादर्थ्य के अर्थ से युक्त है और श्लोक के अन्य पदों द्वारा परिष्कृत किया जा रहा है। इसलिये यह उक्त लक्षणों वाला तादर्थ्य-परिकर है।

स्व० भा०—यहाँ उक्त पद में चतुर्थी 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' नियम के अनुसार है। 'तदर्थ' का भाव तादर्थ्य है। जब कोई वस्तु या कार्य किसी के लिये होता है तब उसे तदर्थ कहते हैं। यहाँ भी योग परस्पर शोभावृद्धि के लिये अपेक्षित है, अतः तदर्थता है।

इन्दीवरेत्यादि। वां युवयोर्योगः संबन्धः परस्परशोभासंपत्त्यै भवतु। विद्युन्मेघयोरिव, यथा तयोर्योगः परस्परशोभायै तथेत्यर्थः। अयं नृपो नीलनलिनश्यामाङ्गः त्वं च गोरोचनावत् गौराङ्गयष्टिः। अत्र परिवृद्धये इति तादर्थ्ये चतुर्थीति तादर्थ्यार्थपरिष्कारः ॥

उपपदपरिकरा यथा—

'प्रत्यक्षवस्तुविषयाय जगद्धिताय
विश्वस्थितिप्रलयसंभवकारणाय।
सर्वात्मने विजितकोपमनोभवाय
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनप्रभवे शिवाय ॥ १८८ ॥

अत्र 'नमस्तुभ्यम्' इत्युपपदार्थः समस्तपदैः परिष्क्रियते; सोऽयमुपपदपरिकरः ॥

उपपद परिकर का उदाहरण—

वस्तुओं के विषय को प्रत्यक्ष करने वाले, संसार के हितैषी, संसार की स्थिति, प्रलय तथा उत्पत्ति के कारण, सर्वरूपात्मक, क्रोध से कामदेव को जीत लेने वाले, तीनों लोकों के स्वामी शिव, तुमको नमस्कार है।

यहाँ 'नमस्तुभ्यम्' यह उपपद का अर्थ है जो सभी पदों से परिष्कृत किया जा रहा है। यह उक्त लक्षणयुक्त उपपदपरिकर है।

स्व० भा०—समीपवर्ती पद को उपपद कहते हैं। जब उसके कारण अन्य पदों पर प्रभाव पड़ता है तब उपपद का कार्य होता है। यहाँ 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च' ॥२।३।१६॥ सूत्र से नमः उपपद के योग से 'तुभ्यम्' में चतुर्थी हुई। शेष चतुर्थ्यन्त पदों द्वारा उसकी विशिष्टता प्रकट की जाती है।

प्रत्यक्षेत्यादि। तुभ्यं नमः। कीदृशाय। प्रत्यक्षो वस्तूनां पदार्थानां विषयो रूपादिकं यस्य तस्मै। यद्वा प्रत्यक्षौ वस्तुविषयौ पदार्थघटपटादी यस्य तस्मै। पदार्थ इह स्वर्गापूर्वदेवतादिः। 'रूपादौ विषयः पुमान्' इति मेदिनीकारः। जगतां हितायोपकारकाय। विश्वस्य भुवनस्य स्थितिरवस्थानम्, प्रलयो नाशः, संभव उत्पत्तिस्तेषां हेतवे। सर्वं वस्तु आत्मा स्वं यस्य तस्मै। सर्वरूपायेत्यर्थः। विजितौ रोषकामौ येन तस्मै। त्रिभुवनस्य प्रभवे ईश्वराय शिवाय कल्याणकारकाय च। अत्र 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च २।३।१६' इति तुभ्यमिति नमोयोगे उपपदविभक्तिश्चतुर्थी तदर्थं इतरपदार्थैः परिष्क्रियते ॥

उपमारूपकादीनां शब्दार्थोभयभङ्गिभिः ।
साधर्म्योत्पादनं यत्तन्मन्ये परिकरं विदुः ॥ ७५ ॥

तत्र स शब्दकृत उपमायां यथा—

'कह कह विरएइ पअं मग्गं पुलएइ छेज्जमाविसइ ।
चोरव्व कई अत्थं लद्धुं दुक्खेण णिव्वहइ ॥ १८९ ॥

[कथं कथं विरचयति पदं मार्गं प्रलोकते छेद्यमाविशति ।
चोर इव कविरर्थं लब्धुं दुःखेन निर्वहति ॥]

अत्र पदमार्गच्छेद्यैः शब्दैर्भिन्नार्थैरभिन्नार्थविरचनादिक्रियानिवेशिभिः कवि-चोरयोरप्रसिद्धमौपम्यं साधितमिति शाब्दोऽयमौपम्यपरिकरः ॥

उपमा, रूपक आदि की शब्द, अर्थ तथा उभय की भङ्गियों द्वारा जो साधर्म्य की उत्पत्ति है, मुझे लगता है, लोगों ने उसे परिकर माना है ॥ ७५ ॥

उनमें शब्दकृत (साधर्म्य की) उपमा में (उत्पत्ति का) उदाहरण—

जिस प्रकार कोई चोर कहीं किसी भाँति पाँव रखता है, आने-जाने का मार्ग देखता है, भेद्य स्थान में प्रवेश करता है तथा सज्जनों के धन को कष्टता के साथ प्राप्त कर पाता है उसी प्रकार कवि भी किसी भाँति पदरचना करता है, कवि मार्ग–रीति–का अवलोकन करता है, अशुद्ध पद में आविष्ट हो जाता है और बड़े परिश्रम के बाद कहीं अभीष्ट अर्थ को उपलब्ध कर पाता है ॥ १८९ ॥

यहाँ पद, मार्ग तथा छेद्य शब्दों से, जिनके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं और जो समान अर्थ की विशिष्ट रचना आदि क्रिया में निविष्ट हैं, कवि तथा चोर का अप्रसिद्ध सादृश्य सिद्ध किया गया है । इस प्रकार यह शाब्द औपम्य परिकर है ।

उपमेति । उपमादीनां शब्दार्थोभयभङ्गिभिर्यत्साधर्म्योत्पादनं स परिकरः । शब्दश्चार्थ-श्चोभयं च तेषां भङ्गिभिर्भंजनैः ॥

कह इत्यादि । 'कथं कथमपि रचयति पदं मार्गं प्रलोकते छेद्यमाविशति । चौर इव कविरर्थं लब्धुं दुःखेन निर्वहति ॥' इह कविरर्थं वाच्यं लब्धुं प्राप्तुं दुःखेन निर्वहति समर्थो भवतीत्यर्थः । चौरसाम्यमाह—कथं कथमपि कष्टसृष्टया पदं विभक्त्यन्तरं रचयति, कुत्रकुत्रापि वा पदं रचयति, मार्गं कविवर्त्म प्रलोकते पश्यति । अनेन यथा कविभिः किं गतमित्यनुसंदधातीत्यर्थः । छेद्यं छेदनीयमशुद्धमाविशति । चौर इव । यथा चौरः क्वापि कथमपि पदं व्यवसायं पादं वा रचयति, मार्गं गतागतवर्त्म पश्यति, छेद्यं छेदार्हं स्थानं प्रविशति, अर्थं साधुधनं प्राप्तुं दुःखेन शक्नोति तथेत्यर्थः । अत्र साम्यापादकविशेषणै-रुपमा असिद्धापि साधिता ।

अर्थकृतो रूपके यथा—

'विअडे गअणसमुद्दे दिअसे सूरेण मंदरेण व महिए ।
णीइ मइरव्व संज्झा तिस्सा मग्गेण अमअकलसो व्व ससी ॥ १९० ॥

[विकटे गगनसमुद्रे दिवसे सूर्येण मन्दरेणेव मथिते ।
निर्याति मदिरेव संध्या तस्या मार्गेणामृतकलश इव शशी ॥]

अत्र गगने समुद्रत्वेन रूपिते सूर्यसन्ध्याशशिभिः, मन्दरमदिराऽमृतकलशैश्च

मथनादिक्रियानिवेशिभिरर्थैः परस्परोपमानात्साधर्म्यमुत्पादितमित्यर्थोऽयं रूपकपरिकरः ।

रूपक में अर्थकृत परिकर का उदाहरण—

दिन में सूर्य रूपी मन्दराचल के द्वारा मानो भयङ्कर आकाशसागर को मथने पर मदिरा के सदृश सन्ध्या निकली है और उसी के रास्ते से अमृत के घट की भाँति चन्द्रमा भी निकला है ॥ १९० ॥

यहाँ आकाश को समुद्र के रूप में कल्पित करने पर सूर्य, सन्ध्या तथा चन्द्रमा, मन्दर, मदिरा तथा अमृतकलश, मथन आदि क्रिया में निविष्ट होने वाले अर्थों के द्वारा परस्पर उपमानत्व होने से साधर्म्य उत्पन्न किया गया है । इस प्रकार का अर्थवाला यह रूपकपरिकर है ।

विअडे इत्यादि । 'विकटे गगनसमुद्रे मन्दरेणेव (भिद्गते) मथिते । निर्गच्छति मदिरेव संध्या तस्या मार्गेणामृतकलश इव शशी ॥' इह संध्या निर्गच्छति । विकटे महति गगनसमुद्रे मन्दरगिरिणेव रविणा दिवसे महिते पूजितेऽथ च मथिते सति मदिरेव यथा मन्दरमथिते समुद्रे मदिरा निर्गच्छति तथेत्यर्थः । तस्याः संध्याया मार्गेण यथा चन्द्रोऽमृतकलश इवास्ति निर्गच्छति वा । आकाङ्क्षाक्रमेण निर्गच्छतिरुभयान्वयी । अत्र सूर्यादिभिरर्थैरन्योन्योपमानात्साधर्म्योपपत्तिरित्यार्थोऽयम् ॥

उभयकृतश्च विरोधश्लेषे यथा—

'रइअमुणालाहरणो णलिणदलत्थइअपीवरत्थणअलसो ।
वहइ पिअसंगमम्मि वि मअणाअप्पप्पसाहणं जुअइजणो ॥ १९१ ॥

[रचितमृणालाभरणो नलिनदलस्थगितपीवरस्तनकलशः ।
वहति प्रियसंगमेऽपि मदनाकल्पप्रसाधनं युवतिजनः ॥]

अत्र 'प्रियसंगमेऽपि मदनाकल्पप्रसाधनं भवति' इति विरुद्धार्थयोः साधर्म्योत्पादनाय जले क्रीडतो युवतिजनस्य यथोक्तविशेषणाभ्यां शब्दतोऽर्थतश्चोपस्कारः कृत इत्युभयकृतोऽयं विरोधश्लेषपरिकरः । एवमलंकारान्तरेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

विरोध तथा श्लेष में दोनों के द्वारा किये गये परिकर का उदाहरण—

पति का संगम होने पर भी युवतिजन कामोत्कण्ठा के लिये प्रसाधन लेती है । मृणाल के अलंकार बनाती हैं, कमलपत्र से अपने पृथुल कलश सदृश स्तनों को ढकती हैं ॥ १९१ ॥

यहाँ प्रिय की उपस्थिति में भी कामोत्कण्ठा की सिद्धि अथवा उसके लिये अलंकार निर्माण होता है', इस प्रकार के विरुद्ध अर्थों में साधर्म्य उत्पन्न करने के लिये जल में क्रीड़ा कर रहे युवतीलोक का कहे गये लक्षणों से युक्त दो विशेषणों के द्वारा शब्दतः तथा अर्थतः परिष्कार किया गया है । इस प्रकार यह उभयकृत विरोधश्लेष परिकर है । इसी प्रकार यह अन्य अलंकारों में भी देखा जा सकता है ।

रइअ इत्यादि । 'रचितमृणालाभरणो नलिनीदलोत्थगितपीवरस्तनकलशः । वहति प्रियसंगमेऽपि मदनाकल्पप्रसाधनं 'युवतिजनः ॥' इह युवतिजनः पतिसंगमेऽपि मदनस्याकल्प उत्कण्ठा तदर्थं प्रसाधनमलंकारं वहति । कीदृशः । कृतमृणालालंकारः । पद्मिनीपत्रैरुत्थगित उत्तम्भितः । आवृत इति यावत् । पीवरकुचघटो येन सः । उत्थगित इति उत्पूर्वात् 'थगि (ठगे) संवरणे' कर्मणि क्तः । आकल्पकस्तमोमोहप्रस्तावू(निथष्)त्कलि-

कामुदोः।' इति मेदिनीकारः। यद्वा मदनस्य रतिपतेराक्षपक्मञ्जनकं प्रसाधनमित्यर्थः। अत्र प्रियसंगमे कामजनकमेव प्रसाधनं युक्तमिह तु तद्वैपरीत्येन विरुद्धार्थता। जलक्रीडायां तु मृणालनलिनीभ्यां युवतेरुपस्कारः शाब्द आर्थश्च व्यक्त एव॥

एकावलीति या सापि भिन्ना परिकरान्न हि।
त्रिधा सापि समुद्दिष्टा शब्दार्थोभयभेदतः॥ ७६॥

जो एकावली है वह भी परिकर से भिन्न नहीं है। शब्द, अर्थ तथा उभय भेद से वह भी तीन प्रकार की उद्दिष्ट है॥ ७६॥

स्व० भा०—आचार्य रुद्रट ने एकावली की परिभाषा इस प्रकार दी है—

एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्॥ काव्यालंकार ७।१०९

इसमें पूर्व पद के प्रति बाद में उक्त शब्द की वीप्सामयी आवृत्ति द्वारा विशेषण के रूप में आकर स्थापना अथवा निषेध किया जाता है। चूँकि एक के द्वारा दूसरे का परिष्कार एकावली में भी मिलता है, इसलिये दोनों में अभिन्नता है।

पूर्वं प्रति यत्रोत्तरस्य वस्तुनो वीप्सया विशेषणत्वेन स्थापनं निषेधो वा सैकावली। इयमपि परिकरादभिन्नैवेत्याह—एकावलीति। एकेनापरस्य परिष्करणमेकावल्यामपि लभ्यते इत्यनयोरभेद इत्यर्थः।

तत्र शब्दैकावली यथा—

पर्वतभेदि पवित्रं जैत्र नरकस्य बहुमतङ्गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव वहति पयः पश्यत पयोष्णी॥१९२॥

अत्र 'हरिमिव, हरिमिव, हरिमिव' इति शब्दैकावल्या विभिन्नार्थया 'पयः' कर्मकारकमुपस्क्रियते, सेयं शब्दैकावली परिकरस्यैव भेदः॥

इनमें से शब्द एकावली का उदाहरण—

यह देखो, पयोष्णी नदी पर्वत को काट डालने वाले, पावन, नरक को जीतने वाले, बहुमत तथा गम्भीर हरि—इन्द्र के सदृश, सिंह के सदृश तथा विष्णु के सदृश जल को धारण कर रही है। क्योंकि इन्द्र भी पर्वत के भेदनकर्ता, वज्र से रक्षक, निरय के अपसारक, बहुमत तथा कठोर हैं, सिंह भी पर्वत के विवर में रहनेवाला, श्वेत, प्रशस्त पुरुष को परास्त कर सकने वाला तथा अनेक हाथियों का मारक होता है तथा विष्णु भी गोवर्धनपर्वत के भेदक-उठाने वाले, वज्रपात से बचानेवाले, नरक नामक दैत्य के हन्ता तथा अनेक हिंस्रों के घातक थे॥ १९२॥

यहाँ 'हरिमिव', हरिमिव, हरिमिव, इस शाब्दी एकावली से जिसका भिन्न-भिन्न अर्थ है 'पयः' यह कर्मकारक का पद उपस्कृत होता है। अतः यह शब्दैकावली परिकर का ही भेद है।

पर्वतेत्यादि। इयं पयोष्णी नदीभेदः पयो जलं वहति तत्पश्यत। वाक्यार्थस्यैव वा कर्मता। पयः कीदृशम्। पर्वतस्याद्रेर्भेदनशीलम्। अद्रिं भित्त्वा वहनात्। पवित्रं पुण्यहेतुकम्। नरकस्य निरयस्य जैत्रमत एव बहुमतमनेकसंमतं, गहनमगाधम्। हरिरिन्द्रस्तमिव। इन्द्रं कीदृशम्। 'अद्रिपक्षस्य छेद्यत्वेन पर्वतभेदी पविना वज्रेण त्रायते 'अन्यत्रापि दृश्यते' इति त्रः पवित्रः। पश्चात्कर्मधारयः। यद्वा पर्वतभेदिना पविना त्रायते इति पर्वतभेदिपवित्रस्तम्। हे नर नल इति संबोधनम्। रलयोरेकत्र स्मरणात्। कस्य बहुः

मतमीदन्मतं जैत्रं किन्तु सर्वस्यैव सम्पूर्णमेव स्वीकृतम्। बहुमतमितीषदसमाप्तौ बहुच्। स चाद्रौ भवति 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ५।३।६८' इति सूत्रेण। गहनं कठोरम्। हरिः सिंहस्तमिव पर्वतस्य। भिद्यत इति भेदो विवरम्। गुहेति यावत्। तत्सम्बद्धं तच्छायित्वात्। पवित्रं श्वेतं नरकस्य प्रशस्तपुंसोऽपि जेतारम्। बहुर्बहुमानविषयो मतङ्गो मुनिभेदो येषां ते बहुमतङ्गा हस्तिनस्तेषां पितृत्वेन तस्य पूज्यत्वात् तान् हन्ति तम्। हरिर्विष्णुस्तमिव। पर्वतस्य गोवर्धनस्य भेदकमुत्थापकत्वात्। पवेर्वज्रात् त्रः त्राणं यस्मात्तत्। विष्णुस्मरणस्य तददि फलम्। नरकस्य दैत्यभेदस्य जैत्रम्। बहुमतङ्गान् हिंस्रान् हन्ति यस्तम्। हरिर्वायुस्तमिव सोऽप्यतिवेगित्वादद्रिभेदी, पवित्रः पवनत्वात्। अत एव नरकस्य कश्मलस्य निवारकः। बहूनां वातयोगिनां स्वीकृतः गहनः कष्टेन परिचेयश्च भवति। 'इन्द्रे सिंहेऽनिले विष्णौ हरिः शमनसूर्ययोः।' इति शाश्वतः। अत्र हरिमित्येत्यादिशब्दरूपैकावलया विशेषणत्वेन पयोरूपस्य कर्मकारकस्य परिष्कारः॥

अर्थैकावली यथा—

> किमिति कबरी यादृक् तादृग् दृशौ किमकज्जले
>
> न खलु लिखिताः पत्त्रावल्यः किमद्य कपोलयोः।
>
> अयमयमयं किंच क्लाम्यत्यसंस्मरणेन ते
>
> प्रियसखि सखीहस्तन्यस्तो विलासपरिच्छदः॥ १९३॥

अत्र 'अयमयमयम्' इति सर्वनामपरामृश्यमानया प्रागुपन्यस्तकारणभूतया ततोऽन्यया वा तथाविधयार्थैकावल्या 'परिच्छदः' इति कर्तृकारकमभिन्नार्थं इव परिष्क्रियते, सेयमर्थैकावली परिकरस्यैव भेदः॥

अर्थैकावली का उदाहरण—

यह केशपाश जैसा था उसी प्रकार से कैसे है? ये नयन कज्जलरहित क्यों हैं, आज दोनों कपोलों पर पत्रावलियाँ क्यों नहीं लिखी गईं। हे प्रियसखि, सखी के हाथ में रखा गया वह यह यह सब विलासविधान तुम्हारी अस्मृति से क्लांत सी हो रही है॥ १९३॥

यहाँ 'अयम् अयम अयम्' इन सर्वनामों से परामृष्ट की जा रही पहले बतलाये गये कारणों वाली, उससे भिन्न, या उसी प्रकार की अर्थैकावली के द्वारा 'परिच्छद' यह कर्त्ताकारक का पद समान अर्थ सा परिष्कृत हो रहा है। यह अर्थैकावली भी परिकर का ही भेद है।

किमित्यादि। हे शशिमुखि, सखीहस्तारोपितोऽयमयं विलासार्थं परिच्छदस्तवासंस्मरणेन किंचित्क्लाम्यति। तदाह—कबरी केशवेशः। किमिति यादृक् तादृक्। न रम्य इत्यर्थः। 'कबरी केशवेशः स्यात्' इत्यमरः। दृशौ नेत्रे अकज्जले किम्, कपोलयोः पत्त्रावल्योऽद्याधुना किं नैव लिखिताः। खलुशब्दोऽवधारणे वाक्यभूषायां वा। अत्रायमिति सर्वनामोपस्थापितयार्थैकावल्या तुल्ययैव परिच्छदरूपस्य कर्तृकारकस्य परिष्कारः।

उभयैकावली यथा—

> अम्बा तुष्यति न मया न स्नुषया सापि नाम्बया न मया।
>
> अहमपि न तया न तया वद राजन् कस्य दोषोऽयम्॥ १९४॥

अत्राम्बास्नुषास्मदर्थलक्षणैरर्थैस्तद्वाचिभिः सर्वनामभिः शब्दैरेकावलीक्रमेण मिथोऽनुस्यूतैर्मिथोऽनुस्यूत एव 'तुष्यति' इति क्रियाहेतुर्मयेत्यादिभिः परिष्क्रियते, सेयमुभयग्रथितत्वादुभयैकावली परिकरस्यैव भेदः॥

उभय एकावली का उदाहरण—

माता न तो मुझसे सन्तुष्ट है, न पुत्रवधू से, पुत्रवधू भी न तो माताजी से सन्तुष्ट रहती है और न मुझसे। मैं भी न तो उसी से सन्तुष्ट रहता हूँ और न उसी से। महाराज जी, बतलाइये, भला यहाँ किसका दोष है ॥ १९४ ॥

यहाँ अम्बा, स्नुषा तथा अस्मदर्थ के लक्षण वाले अर्थों से तथा उनके वाचक सर्वनाम शब्द से जो एकावली के क्रम से परस्पर गुंथे हुये हैं, अनुस्यूत होकर ही 'तुष्यति' इस क्रिया का कारण 'मया' इत्यादि पदों से परिष्कृत होता है। अतः यह दोनों ओर से ग्रथित होने के कारण उभय एकावली परिकर का ही भेद है।

अम्बेत्यादि। अम्बा माता न मया तुष्यति तुष्टा भवति। न स्नुषया पुत्रवध्वा तुष्यति। सापि स्नुषा नाम्बया न मया च तुष्यति। अहमपि न तयाम्बया न तया स्नुषया च तुष्यामि। हे राजन्, कस्य दोषोऽयमिति वद। वदेत्यत्र वाक्यार्थस्यैव कर्मता। 'अम्बा माताम्बिकापि च' इति रत्नकोषः। 'समाः स्नुषाजनीवध्वः' इत्यमरः। अत्राम्बाद्यर्थैस्तद्वाचकशब्दैश्च मयेत्यादेः परिष्कारः॥ इति परिकरालंकारनिरूपणम्।

दीपकालंकारनिरूपणम्।

दीपकं लक्षयति—

क्रियाजातिगुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेद्दीपकं तन्निगद्यते ॥ ७७ ॥
अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरावली।
संपुटं रसना माला चक्रवालं च तद्भिदाः ॥ ७८ ॥

(१८) दीपकालङ्कार

एक स्थान पर स्थित क्रिया, जाति, गुण तथा द्रव्य के वाचक पद द्वारा यदि सारे वाक्य का उपकार हो जाये तो वह दीपक कहा जाता है। उसके (१) अर्थावृत्ति, (२) पदावृत्ति, (३) उभयावृत्ति, (४) आवली, (५) सम्पुट, (६) रसना, (७) माला तथा (८) चक्रवाल ये भेद हैं ॥७७-७८॥

स्व० भा०—भोज ने दीपकालंकार का लक्षण तो दण्डी के काव्यादर्श (२।९७) से अक्षरशः लिया है, किन्तु भेद के विषय में अन्तर है। भामह ने इस अलंकार को अन्वर्थक माना है, और स्वतन्त्र रूप से इसका लक्षण-निर्देश नहीं किया है—

अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् ॥ काव्यालंकार ॥ २।२६ ॥

रुद्रट ने भी अपने काव्यालंकार में दीपक के लक्षण तथा भेद गणना के अनन्तर इसके नाम की सार्थकता की ओर संकेत किया है—

यत्रैकमनेकेषाम् वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति।
तद्वत् कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा ॥
आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत्संस्थितं च दीपयति।
वाक्यार्थानिति भूयास्त्रिधैतदेवं भवेत्षोढा ॥ काव्यालंकार ७।६४२॥

क्रियेत्यादि। एकत्र स्थितेन जात्यादिवाचिना पदेन यदि सर्ववाक्योपकारः क्रियते तदा दीपकम्। दीपयतीति दीपकमित्यन्वर्थं नाम। अष्टधा तदित्याह—अर्थेति। तस्य दीपकस्य भिदा भेदाः॥

तेषु क्रियावाचिना आदिदीपकं यथा—

चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते ॥ १९५ ॥

अत्र 'चरन्ति इति क्रियया द्वयोरपि वाक्ययोरादिपदस्थयैवोपकारः क्रियत इत्यादिदीपकमिदं क्रियाविषयमुच्यते। एवं मध्यान्तयोरपि द्रष्टव्यम् ॥

इनमें से क्रियावाची पद के द्वारा आदिदीपक का उदाहरण—

चारों समुद्रों के तटवर्ती उद्यानों में आपके हाथी विचरण करते हैं और चक्रवाल पर्वत के कुञ्जों में कुन्द पुष्प की भाँति तुम्हारे गुण ॥ १९५ ॥

यहाँ आदि स्थान पर स्थित 'चरन्ति' क्रिया के द्वारा दोनों वाक्यों का उपकार किया जा रहा है। इसलिये यह आदिदीपक क्रिया-विषयक कहा जाता है। इसी प्रकार मध्य तथा अन्त इन दोनों (क्रियादीपकों को भी) देखना चाहिये।

स्व० भा०—यहाँ आदि पद क्रिया है, अतः आद्यत्व सिद्ध है। दोनों वाक्यों का पर्यवसान उसी में हो रहा है। भामह ने मध्यक्रिया दीपक तथा अन्तक्रिया दीपक के ये उदाहरण दिये हैं—

मालिनीरंशुकभृतः स्त्रियोऽलङ्कुरुते मधुः।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः ॥
चीरीमतीमरण्यानीः सरितः शुष्यदम्भसः।
प्रवासिनाञ्च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति ॥ काव्यालंकार २।२८,२९

भोज ने उक्त उदाहरण दण्डी (काव्यादर्श २।९९) से लिया है।

आचार्य दण्डी ने आवृत्ति अलंकार को पृथक् मान कर भोजराज के प्रथम तीन भेदों को दीपक नहीं माना है—

अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च।
दीपकस्थान एवेष्टमलङ्कारत्रयं यथा ॥ काव्यादर्श २।११६॥

चरन्तीत्यादि। तव दन्तिनो हस्तिनश्चतुःसमुद्रकूलवनेषु चरन्ति। कुन्दपुष्पदीप्तयो निर्मलास्तव गुणाश्च चक्रवालस्य लोकालोकस्याद्रेः कुञ्जेषु चरन्ति गच्छन्ति। अत्र क्रियावाचिना चरन्तीति पदेनादिस्थेन वाक्यद्वयं दीपितम्। मध्यस्थितेन वा क्रियापदेन यत्र वाक्यदीपनं तदपि मध्यदीपकमन्तदीपकं चेति मन्तव्यमित्याह—एवमिति ॥

जातिवाचिना आदिदीपकं यथा—

पवनो दक्षिणः पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम्।
स एव च नताङ्गीनां मानभङ्गाय कल्पते ॥ १९६ ॥

अत्र 'पवनः' इत्यादिपादे जातिपदं तेनादिदीपकमिदं जातिविषयमुच्यते। एवं मध्यान्तयोरपि द्रष्टव्यम् ॥

जातिवाचक पद द्वारा आदिदीपक का उदाहरण—

दक्षिण पवन लताओं के पुराने पत्तों का अपहरण करता है और वही सुन्दरियों का मान भङ्ग भी करने में समर्थ है ॥ १९६ ॥

यहाँ आदि पाद में 'पवनः' यह जातिवाचक पद है। इससे यह आदिदीपक जातिविषयक

कहा जाता है। इसी प्रकार मध्य तथा अन्त में स्थित जातिदीपक का भी उदाहरण देखना चाहिये।

स्व० भा०—आदिपाद में स्थित रहने से आदिता, मध्य में रहने से मध्यता तथा अन्त में रहने से अन्तता संज्ञा होती है।

पवन इत्यादि। दक्षिणः पवनो मलयानिलो वीरुधां लतानां जीर्णं पक्वं पर्णं पत्त्रं हरति। स एव पवनो नागरीणां मानभङ्गाय कल्पते शक्तो भवति। अत्र पवनपदस्य सामान्यत एवोभयत्रान्वयाज्जातिवाचकत्वमादिस्थत्वं च। एवं चेत्ययं समुदायोऽत्यन्तमभेदमाह। मध्यान्तस्थयोरपि जातिवाचिनोर्दीपकं तत्तन्नाम्ना ज्ञेयमित्याह—एवमिति।

गुणवाचिना आदिदीपकं यथा—

> श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपंक्तिभिः।
> भुवश्च सुकुमाराभिनवशाद्वलराजिभिः ॥ १९७॥

अत्र 'श्यामलाः' इत्यादिपादे गुणपदं तेनादिदीपकमिदं गुणविषयमुच्यते। एवं मध्यान्तयोरपि द्रष्टव्यम्।

गुणवाचक पद के साथ आदिदीपक का उदाहरण—

वर्षाकालीन मेघमालाओं से दिशायें श्यामल कर दी गई हैं और कोमल-कोमल नवीन घासों से पृथ्वी ॥ १९७॥

यहाँ आदिपाद में 'श्यामलाः' यह गुण पद है, अतः यह आदिदीपक गुणविषयक है। इसी प्रकार मध्य तथा अन्त दीपकों का भी उदाहरण देखना चाहिये।

श्यामला इत्यादि। प्रावृषेण्याभिर्वर्षजाताभिर्जीमूतपंक्तिभिर्मेघसंघैर्दिशः श्यामलाः श्यामाः। रम्याभिर्नूतनतृणपंक्तिभिर्भुवश्च श्यामलाः सन्ति। 'कालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः। अत्र जाते इत्यर्थे 'प्रावृष एण्यः ४।३।१७' इत्येण्यप्रत्ययः। 'घनजीमूतमुदिर' इत्यमरः। 'शाद्वलः शादहरिते' इति च। 'शादः स्यात्कर्दमे शस्ये' इति मेदिनीकारः। अत्र श्यामलपदेन गुणवाचिनादिस्थेन दीपनम्। मध्यान्तस्थयोरपि गुणवाचिनोरेवं ज्ञेयमित्याह—एवमिति।

द्रव्यवाचिना आदिदीपकं यथा—

> विष्णुना विक्रमस्थेन दानवानां विभूतयः।
> क्वापि नीताः कुतोऽप्यासन्नानीता देवतर्द्धयः ॥ १९८॥

अत्र 'विष्णुना' इत्यादिपादे द्रव्यपदं तेनादिदीपकमिदं द्रव्यविषयमुच्यते। एवं मध्यान्तयोरपि द्रष्टव्यम् ॥

द्रव्य वाचक पद के कारण हुये आदिदीपक का उदाहरण—

विक्रान्त विष्णु के द्वारा दानवों की सम्पत्तियाँ न जाने कहाँ पहुँचा दी गईं और देवताओं की समृद्धियाँ न जाने कहाँ से ला दी गईं ॥१९८॥

यहाँ आदिपाद में 'विष्णुना' यह द्रव्यपद है। इससे यह आदिदीपक द्रव्यविषयक कहा जाता है। इसी प्रकार मध्य तथा अन्त (द्रव्यदीपकों) के भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।

स्व० भा०—'विष्णु' द्रव्यवाचक पद है। इसका अन्वय दोनों वाक्यों में होता है अतः इस श्लोक को द्रव्यदीपक का उदाहरण माना गया है।

विष्णुनेत्यादि। दानवानां दनोरपत्यानामसुराणां विभूतयः सम्पत्तयो विक्रान्तेन विष्णुना क्वापि नीताः प्रापिताः। तेनैव देवतानामृद्धयः श्रियः कुतोऽप्यवधिभूतादानीता आसन् स्थिताः। 'संशता (?) वुपचये ऋद्धिः' इति नानार्थः। अत्र विष्णुशब्दो द्रव्यपर आदिस्थश्च। मध्यान्तस्थयोरपि द्रव्यवाचिनोरेवं द्रष्टव्यमित्याह—एवमिति।

अर्थावृत्तिर्यथा—

हृष्यति चूतेषु चिरं तुष्यति बकुलेषु मोदते मरुति।
इह हि मधौ कलकूजिषु पिकेषु च प्रीयते कामी॥ १९९॥

अत्र 'हृष्यति, तुष्यति, मोदते, प्रीयते' इत्येतैः पदैः स एवार्थ आवर्त्यमानः सर्ववाक्यानि दीपयति, सेयमर्थावृत्तिर्दीपकस्य भेदः॥

अर्थावृत्ति का उदाहरण—

कामी पुरुष इस मधुमास में आम्रवृक्षों में हृष्ट होता है, मौलिश्री से संतुष्ट होता है, वायु में मुदित होता है, तथा कलरव करने वाले कोकिलों में प्रसन्न होता है॥१९९॥

यहाँ 'हृष्यति, तुष्यति, मोदते, प्रीयते' इन पदों से वही अर्थ घूम-घूम कर सभी वाक्यों को दीप्त करता है, अतः यह अर्थावृत्ति दीपक का भेद है।

हृष्यतीति। कामी इह मधौ वसन्ते चूतेषु हृष्यति हृष्टो भवति। बकुलेषु तुष्यति। मरुति वाते मोदते। कलरवेषु कोकिलेषु च प्रीयते प्रीतो भवति। सर्वत्र चिरमित्यन्वयः। हिरवधारणे। प्रीयत इति 'प्रीङ् प्रीतौ' दैवादिकः। अत्र हृष्यतीत्यादिपदैरावर्तमानोऽर्थः सर्ववाक्यदीपकः॥

पदावृत्तिर्यथा—

उत्कण्ठयति मेघानां माला वृन्दं कलापिनाम्।
यूनामुत्कण्ठयत्यद्य मानसं मकरध्वजः॥ २००॥

अत्रोद्ग्रीवं करोति, उत्कण्ठावन्तं करोतीत्यर्थयोः 'उत्कण्ठयति' इति पदमावर्त्यमानं वाक्यद्वयमपि दीपयति, सेयं पदावृत्तिर्दीपकस्य भेदः॥

पदावृत्ति का उदाहरण—

मेघों की माला मयूरों के समूह को उद्ग्रीव करती है और युवकों के चित्त को आज कामदेव उत्कण्ठित कर रहा है॥२००॥

यहाँ "गले को ऊपर उठाती है" तथा 'उत्कण्ठा से युक्त करती है' इन दोनों अर्थों को आवृत्त होता हुआ 'उत्कण्ठयति' यह पद दोनों वाक्यों को दीप्त करता है। अतः यह पदावृत्ति दीपक का भेद है।

उत्कण्ठयतीत्यादि। मेघानां पंक्तिः, मयूराणां वृन्दं समूहमुत्कण्ठयत्युद्ग्रीवयति अद्येदानीं कामश्च यूनां चित्तमुत्कण्ठयत्युत्सुकयति। अत्रोत्कण्ठयतीति पदमावर्त्यमानं वाक्यद्वयदीपकम्।

उभयावृत्तिर्यथा—

जय देव भुवनभावन जय भगवन्निखिलवरद निगमनिधे।
जय रुचिरचन्द्रशेखर जय मदनान्तक जयादिगुरो॥२०१॥

अत्र जयेत्यर्थः शब्दश्चावर्त्यमानः सर्ववाक्यानि दीपयति, सेयमुभयावृत्तिर्दीपकस्य भेदः।

उभयावृत्ति का उदाहरण—

हे भगवान् शिव, लोकों के जनक तुम्हारी जय हो, हे प्रभु, हे सबको वर देने वाले, वेदनिधि तुम्हारी जय हो। हे मनोरम चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करने वाले, तुम्हारी जय हो, हे कामान्तक, तुम्हारी जय हो, हे आदिगुरु, तुम्हारी जय हो ॥२०१॥

यहाँ 'जय' इसका अर्थ तथा शब्द आवृत्त होकर सभी वाक्यों को दीप्त करता है, अतः यह उभयावृत्ति नामक दीपक का भेद है।

जयेत्यादि। हे देव महादेव, भुवनस्य जगतो भावन जनक, जय। हे भगवन्नखिलेषु जनेषु वरप्रद, निगमस्य वेदस्य निधे आश्रय, जय। रम्यचन्द्रचूड, जय। मदननाशक, जय, प्रथमगुरो जय। 'निगमो नगरे वेदे' इति मेदिनीकारः। अत्र जयशब्दस्तदर्थश्चावर्त्यमानः सर्ववाक्यदीपकः ॥

आवली यथा—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥ २०२ ॥

अत्र पूर्वार्धे त्वमिति शब्दार्थयोः प्रथमावृत्तिः प्रथमपादस्थया 'असि' इति क्रियया दीप्यते। ततस्तृतीयपादे 'त्वयि' इति रूपान्तरेण युष्मदर्थ आवर्त्यमानः क्रियान्तरेण सम्बध्यते, चतुर्थपादे पुनरपि तेनैव रूपेणास्त्यर्थेन भवतिना सम्बध्यत इति; सेयं वृत्तीनामावृत्तिरावलीति दीपकस्यैव भेदो भवति।

आवली का उदाहरण—

तुम सूर्य हो, तुम चन्द्र हो, तुम वायु हो, तुम अग्नि हो, तुम जल हो, तुम आकाश हो, तुम्ही पृथ्वी हो और तुम्ही आत्मा भी हो। इस प्रकार ऐसी परिच्छिन्न परिणत वाणी को जब तुम धारण करते हो तब हम नहीं जानते कि वह तत्त्व कौन सा है जो आप नहीं हैं ॥२०२॥

यहाँ पूर्वार्ध में 'त्वम्' इस शब्द तथा इसके अर्थ की प्रथम आवृत्ति प्रथम पाद में स्थित 'असि' इस क्रिया से दीप्त होता है। फिर तृतीय पाद में 'त्वयि' इस दूसरे ही रूप से आवृत्त होता हुआ युष्मद् तुम का अर्थ दूसरी क्रिया से संबद्ध होता है। चौथे पद में पुनः भी उसी रूप से 'अस्ति' के अर्थ वाली भवति क्रिया से संबद्ध किया जाता है।

इसलिये यह वृत्तियों की आवृत्ति आवली नाम से दीपक का ही भेद होती है।

त्वमित्यादि। परिणताः परिणामिनोऽर्कादयस्त्वयि त्वद्विषय एवं परिच्छिन्नां गिरं वाणीं बिभ्रति धारयन्ति, इह जगति यत्तत्त्वं वस्तु त्वं न भवसि तत्तत्त्वं वयं पुनर्न विद्मो न जानीमः। सर्वात्मकत्वाद्भवस्य। परिच्छिन्नवाणीमाह—त्वमादित्यस्त्वं चन्द्रस्त्वं वायुस्त्वमग्निस्त्वं जलं त्वमाकाशम्। उ हे। त्वं भूमिस्त्वमात्मा चासीति। 'उ सम्बोधनरोषोक्त्योः' इति मेदिनीकारः॥ अत्र प्रथमार्धे त्वमितिशब्दार्थयोरावृत्तिस्सीतिक्रियया दीपिता, तृतीयपादे त्वयीतिरूपान्तरेण विषयत्वेन युष्मदर्थस्त्वमित्येवंरूपो धारणक्रियान्वयी। अन्त्यपादेऽपि त्वमित्येव भवनान्वयीत्यावृत्तीनामावृत्तिरावलीति ॥

संपुटं यथा—

णवपल्लवेसु लोलइ घोलइ विडवेसु चलइ सिहरेसु ।
थवइ थवएसु चलणे वसन्तलच्छी असोअस्स ॥ २०३ ॥
[नवपल्लवेषु लोलति घूर्णते विटपेषु चलति शिखरेषु ।
स्थापयति स्तबकेषु चरणौ वसन्तलक्ष्मीरशोकस्य ॥]

अत्र 'नवपल्लवेषु-' इत्यादीनि 'अशोकस्य' इति, 'लोलति-' इत्यादीनि 'वसन्तलक्ष्मीः' इति पदे द्रव्यवाचिनो सम्पुटक्रमेण मिथः सम्बध्यमाने मिथः सम्बद्धान्येव दीपयतः, तदेतत्सम्पुटं नाम दीपकस्य भेदः ॥

संपुट का उदाहरण—

वसन्तश्री अशोक के नव किसलयों पर चलती है, शाखाओं में घूरती है, उनके अग्रभागों पर चलती है तथा पुष्पगुच्छों पर अपने दोनों पाँव जमाती है ॥२०३॥

यहाँ 'नव पल्लवेषु' से प्रारम्भ करके 'अशोकस्य' तक तथा 'लोलति' से प्रारम्भ करके 'वसन्तलक्ष्मी' तक दोनों द्रव्यवाची पद सम्पुट क्रम से परस्पर सम्बद्ध होते हुए परस्पर सम्बद्ध पदों को ही दीप्त करते हैं। अतः यह संपुट नाम का दीपक का भेद है।

णवेत्यादि। "नवपल्लवेषु लोलति घूर्णते विटपेषु चलति शिखरेषु। स्थापयति स्तबकेषु चरणौ वसन्तलक्ष्मीरशोकस्य ॥" इहाशोकस्य नवपल्लवेषु वसन्तलक्ष्मीर्लोलति लुठति। तस्य विटपेषु शाखासु घूर्णते, तस्य शिखरेष्वग्रेषु चलति गच्छति, तस्य स्तबकेषु पुष्पगुच्छेषु चरणौ स्थापयति। लोलतीति 'लोल चलने' तौदादिकः। यद्वा लोलतीति क्विबन्तात्तिप्। अत्र पदद्वयं द्रव्यवाचकं सम्पुटक्रमेण मिथः सम्बध्यमानं मिथः सम्बद्धान्येव पदानि दीपयतीति सम्पुटम् ॥

रसना यथा—

सलिलं विकाशिकमलं कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि ।
मधु लीनालिकुलाकुलमलिकुलमपि च मधुरणितमिह ॥ २०४ ॥

अत्र रसनाक्रमेण मिथः संग्रथितानि 'सलिलं विकाशिकमलम्' इत्यादीनि वाक्यानि 'इह' इत्यन्तस्थितेनाधिकरणवाचिना द्रव्यदीपकेन दीप्यन्ते, तदेतत् रसनादीपकं नामादिदीपकभेदः ॥

रसना का उदाहरण—

यहाँ पर जल विकसित कमलों से युक्त हैं, कमल भी सुरभित पराग से भरे हैं, पराग भी ऐसा है कि भ्रमर समुदाय चञ्चलता पूर्वक उसमें आसक्त है तथा भ्रमरों के समूह मधुरगुञ्जार से युक्त है ॥२०४॥

यहाँ रसना के क्रम से परस्पर गुँथे हुये 'सलिलं विकाशिकमलम्' इत्यादि वाक्य 'इह' इस अन्त में स्थित अधिकरण वाचक द्रव्य-दीपक से दीप्त हो रहे हैं। अतः यह रसनादीपक आदिदीपक का ही भेद है।

सलिलमित्यादि। जलं प्रफुल्लपद्मम्, पद्मानि सुगन्धमधुना समृद्धानि। लीनं यदलिकुलं तेनाकुलं मधु, भ्रमरकुलमपीह वसन्ते मधुरणितं मधुना पुष्परसेन शब्दितं मधौ मधूकद्रुमे वा शब्दितम्। 'मधु पुष्परसक्षौद्रमद्ये ना तु मधुद्रुमे' इति मेदिनीकारः। अत्र

क्षुद्रघण्टिकाक्रमेण संग्रथितानि सलिलादिपदान्यन्तःस्थिताधिकरणरूपद्रव्य वाचकेनेहेति पदेन दीप्यन्ते ॥

माला यथा—

इमिणा सरएण ससी ससिणा वि णिसा णिसाइ कुमुअवणम् ।
कुमुअवणेण अ पुलिणं पुलिणेण अ सोहए हंसउलम् ॥ २०५ ॥
[अनया शरदा शशी शशिनापि निशा निशया कुमुदवनम् ।
कुमुदवनेन च पुलिनं पुलिनेन च शोभते हंसकुलम् ॥]

अत्र मालाक्रमेण परस्परग्रथिताः कर्तारो हेतवश्च शशिप्रभृतयः 'शोभते' इति क्रियया दीप्यन्ते, तदेतन्मालादीपकं नाम दीपकस्य भेदः ॥

कः पुनरस्य पूर्वस्माद्विशेषः । पूर्वत्र वृत्तिच्छिन्नं रसनायां सर्वत्र इह तु स्वतन्त्रं मालापुष्पवत् पदं पदेन युज्यमानं क्रियादिभिः सम्बध्यत इति ततो भिद्यते ॥

माला का उदाहरण—

इस शरद ऋतु से चन्द्रमा, चन्द्रमा से रात्रि और रात्रि से कुमुदवन, कुमुदवन से तट तथा तट से हंससमूह सुशोभित होता है ॥२०५॥

यहाँ माला के क्रम से परस्पर गुँथे हुये कर्ता तथा हेतुभूत शशि आदि 'शोभते' इस क्रिया से दीप्त हो रहे हैं । अतः यह मालादीपक नामक दीपक का भेद है ।

इसमें भला पहले वाले से विशेषता क्या है ? पहले में रसना में सभी स्थानों पर छन्द से ही भिन्न किया हुआ (पद दूसरे पद से युक्त होता है), यहाँ पर तो माला के फूल की भाँति स्वतन्त्र पद पद से युक्त होकर क्रिया आदि से संबद्ध हो जाते हैं । इस प्रकार यह उनसे भिन्न है ।

स्व० भा०—इन दोनों के अन्तर को भोज ने स्पष्ट किया है । इनके भेदक दो तत्त्व हैं । प्रथम तो यह कि पूर्व में श्लोक के पादों में कहीं भी पूर्वापर भाव से दोनों पदों की स्थिति हो सकती है जब कि इसमें पूर्वपद के तत्काल बाद उत्तरवर्ती पद होना चाहिये । दूसरे-प्रथम में क्रियायोग आवश्यक नहीं, जब कि यहाँ हैं ।

इमिणेत्यादि । "अनया शरदा शशी शशिनापि निशा निशया कुमुदवनम् । कुमुदवनेन च पुलिनं पुलिनेन च शोभते हंसकुलम् ॥" इह सर्वत्र शोभत इति क्रियान्वयः । अत्रान्योन्यग्रथनया मालाक्रमस्तेन च प्रधानक्रियायां दीपनम् । परस्परग्रथनया रसनामालयोर्भेदं पृच्छति—क इति । उत्तरम् । पूर्वत्रेति । रसनायां सर्वत्र वृत्या छन्दसा छिन्नं भिन्नीभूतं पदं पदेन युज्यते । मालायां तु प्रत्येकमेव पदं पदेन युज्यत इत्यनयोर्भेद इत्यर्थः ॥

चक्रवालं यथा—

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत्समासादितम् ।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥२०६॥

अत्र 'संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते' इति भावलक्षणाक्षि-

मस्य भावविशेषस्य द्वितीयपादे कारकवीप्सया यत् संक्षेपेणाभिधानं तदेतच्चक्रवालाद्रिणेव मालादीपकेन विस्तारवता वेष्टितमिदं चक्रवालं नाम दीपकस्य भेदः ॥

चक्रवाल का उदाहरण—

युद्ध भूमि में आकर आपके धनुष् पर प्रत्यञ्चा चढ़ाते ही एक एक जिन लोगों ने जो प्राप्त किया, हे महाराज, वह सुनिये। धनुर्दण्ड ने शर पाया, शरों ने शत्रुओं का शिर पाया, उन शिरों ने भी पृथ्वी तल पाया, पृथ्वी तल ने आपको पाया, आप ने अद्वितीय कीर्ति पाई और कीर्ति ने तीनो लोक पाया ॥ २०६ ॥

यहाँ 'संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते' इससे भाव के लक्षण से आक्षिप्त भावविशेष का द्वितीय पाद में कारक की वीरता द्वारा जो संक्षेप में कथन है, वह विस्तृत चक्रवाल पर्वत की भाँति मालादीपक से वेष्टिक है। अतः यह चक्रवाल नाम का दीपक का भेद है।

स्व० भा०—उक्त श्लोक में 'चापे समारोपिते' में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' सूत्र से सप्तमी हुई है। इसमें पूर्ववर्ती क्रिया सामान्य होती है जो बाद में विशेष का आक्षेप करती है। किन्तु यहाँ जिज्ञासा होने पर भी "येन येन" "यत् यत्" इन वीप्सायुक्त पदों से सामान्यभाव द्योतित हुआ है। उसके बाद में मालादीपक नामक अलंकार के क्रम से पदों का न्याय करके विस्तार किया गया है। इसमें 'विस्तर नामक' गुण भी है। जिस प्रकार चक्रवाल पर्वत बाद में विस्तृत होता है, उसी प्रकार का विस्तार यहाँ होने से यह नाम अन्वर्थ हुआ।

संग्रामेत्यादि। विवृतोऽयं विस्तारगुणे। अत्र भावः क्रिया। सा च सामान्यलक्षणेन ज्ञाता विशेषमाक्षिपति। ज्ञानसामान्यस्य विशेषे जिज्ञासोदयात् तत्र च समारोपणरूपे कारकजिज्ञासायां सामान्यत एव वीप्सयाभिधानं येनेति यदिति च। विस्तरवत्त्वेन चक्रवालादिसाम्यमस्य ॥ इति दीपकालंकारनिरूपणम् ॥

क्रमालंकारनिरूपणम्।

क्रमलक्षणमाह—

शब्दस्य यदि वार्थस्य द्वयोरप्यनयोरथ।
भणनं परिपाट्या यत् क्रमः स परिकीर्तितः ॥ ७९ ॥

(१९) क्रमालंकार

यदि शब्द अथवा अर्थ इन दोनों का कथित परिपाटी से निरूपण हो तो वह 'क्रम' के नाम से चर्चित होता है ॥ ७९ ॥

स्व० भा०—अन्य आचार्यों ने इसको यथासंख्य नाम दिया है। भामह इसका लक्षण इस प्रकार से देते हैं—

भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते ॥ काव्यालंकार २।८९ ॥

किन्तु इनसे भी अच्छी तथा स्पष्ट परिभाषा रुद्रट द्वारा दी गई है। उनके अनुसार—

निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा यथैव परिपाट्या।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तथैव तत्स्याद् यथासंख्यम् ॥

इस पूरे वाग्जाल का अभिप्राय यह है कि जिस क्रम से जो बातें पहले कह दी गई हैं, उन्हीं के क्रम से उनसे सम्बद्ध बातों का भी उपन्यास करना क्रमालंकार कहा जायेगा।

शब्दस्येति। शब्दार्थयोः परिपाट्या भणनं क्रमः। शब्दतदर्थतदुभयभेदात् स त्रिधेति विभागः।

तत्र शब्दपरिपाटी द्विधा—पदतो वाक्यतश्च। तयोराद्या यथा—

तस्याः प्रवृद्धलीलाभिरालापस्मितदृष्टिभिः।
जीयन्ते वल्लकीकुन्दस्रगिन्दीवरसंपदः॥ २०७॥

अत्रालापस्मितदृष्टिभिः पदार्थैर्वल्लकीकुन्दस्रगिन्दीवरसंपदः पदार्था जीयन्त इति शब्दपरिपाट्या भणनम्, सेयं पदतः शब्दपरिपाटीक्रमः॥

यहाँ भी शब्दपरिपाटी दो प्रकार की है—पदतः तथा वाक्यतः। उन दोनों में से प्रथम का उदाहरण—

उस सुन्दरी के बढ़े हुये विलासों से युक्त आलाप, हास्य तथा दृष्टि के द्वारा वल्लकी-वीणा-कुन्दपुष्प की माला तथा नीलकमल की संपत्तियाँ जीत ली गईं॥ २०७॥

यहाँ आलाप, स्मित तथा दृष्टि रूप पदार्थों से वल्लकी, कुन्दस्रक् तथा इन्दीवर की सम्पत्ति रूप पदार्थ जीत लिये जाते हैं, इस वाक्य में शब्द के क्रम से वर्णन है। इस प्रकार यह पदतः शब्दपरिपाटी क्रम है।

स्व० भा०—पहले जिस क्रम में आलाप आदि का उल्लेख है, उसी क्रम में आगे वल्लकी आदि पद रखे गये हैं। यदि ऐसा न होता तो अक्रमत्व दोष हो जाता।

तस्या इत्यादि। तस्या आलापस्मितदृष्टिभिर्वचनेषद्धासालोकनैर्वल्लकीकुन्दस्रगिन्दीवरसम्पदो वीणाकुन्दमालानीलाब्जसम्पत्तयो जीयन्ते। कीदृशीभिः। उपचितविलासाभिः। अत्र शब्दस्य पदरूपस्य परिपाट्या भणनमिति पदघटितः शाब्दक्रमः।

वाक्यतो यथा—

इन्दुर्मूर्ध्नि शिवस्य शैलदुहितुर्वक्रो नखाङ्कः स्तने
देयाद्वोऽभ्युदयं द्वयं तदुपमामालम्बमानं मिथः।
संवादः प्रणवेन यस्य दलता कार्यकतायां तयो-
रूर्ध्वद्वारि विचिन्तितेन च हृदि ध्यातस्वरूपेण च॥२०८॥

अत्र 'इन्दुर्मूर्ध्नि शिवस्य', 'शैलदुहितुर्वक्रो नखाङ्कः स्तने' इति वाच्यार्थवाचिनौ शब्दसमुदायौ क्रमेण 'ऊर्ध्वद्वारि विचिन्तितेन च', 'हृदि ध्यातस्वरूपेण च' इति वाक्यार्थद्वयवाचिभ्यां शब्दसमुदायाभ्यां सम्बध्येते, सेयं वाक्यतः शब्दपरिपाटी क्रमः॥

वाक्यतः का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य॥ ३।११७॥)

यहाँ "इन्दुर्मूर्ध्नि शिवस्य" "शैलदुहितुर्वक्रो नखाङ्कः स्तने" इसके वाच्यार्थ वाचक शब्दों के दो समुदाय क्रमशः "ऊर्ध्वद्वारि विचिन्तितेन च' 'हृदि ध्यातस्वरूपेण च' इन दो वाक्यार्थों के वाचक शब्द समुदायों से सम्बद्ध होते हैं। अतः यह वाक्यार्थ शब्द परिपाटी का क्रम है।

इन्दुरित्यादि। विवृतोऽयं सम्मितत्वगुणे। अत्र वाक्यार्थाभिधायकौ शब्दसमुदायौ तादृशाभ्यां शब्दसमुदायाभ्यां संबद्धाविति वाक्यघटितः शाब्दक्रमः॥

अर्थपरिपाटी द्विधा—कालतो देशतश्च । तयोराद्या यथा—

हस्ते लीलाकमलमलकं बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामाननश्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ।। २०९ ।।

अत्र 'हस्ते लीलाकमलमलकं बालकुन्दानुविद्धम्' इत्याद्यर्थानां शरदादिकालक्रमेण भणनम्, सेयं कालतोऽर्थपरिपाटी क्रमः ।।

अर्थ परिपाटी दो प्रकार की हैं–कालतः तथा देशतः । इन दोनो में से प्रथम का उदाहरण–

जिस नगर में स्त्रियों के हाथों में लीला कमल रहता है, केशपाश नवीनकुन्द के पुष्पों से भरे होते हैं, लोध्र से उत्पन्न पराग मुख की छटा को शुभ्र बनाया करता है, उनकी चोटियों में नवीन कुरबक का फूल होता है तथा कान में सुन्दर शिरीष रहता है, तथा उनके बालों में तुम्हारे पहुँचने से फूले हुये कदम्ब पहने गये होते हैं । ॥ २०९ ॥

यहाँ पर 'हस्ते लीलाकमलमलकंबालकुन्दानुविद्धम्' आदि अर्थों का शरद् आदि काल के क्रम से वर्णन हुआ है, अतः यह कालतः अर्थपरिपाटी का क्रम है ।

स्व० भा०—मेघदूत के इस श्लोक में मेघ के मुख से यह स्पष्ट कराया गया है कि अलका की 'स्त्रियाँ विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक उपकरणों का अलंकार के रूप में प्रयोग करती हैं । ये कमल, कदम्ब आदि शरद्, वर्षा आदि समय में फूलते हैं । अतः समयानुसार पुष्पाभरणों का वर्णन होने से यहाँ कालतः अर्थपरिपाटी क्रम है ।

हस्ते इत्यादि । यत्र पुर्यां वधूनां हस्ते लीलाकमलम्, अलकं चूर्णकुन्तलं बालकुन्देनानुविद्धं संबद्धम् । लोध्रप्रसवस्य लोध्रपुष्पस्य रजसा धूल्या मुखश्रीः पाण्डुतां श्वेततां नीता । चूडापाशे प्रशस्तशिखायां नूतनकुरबकपुष्पम्, चारु मनोज्ञं शिरीषपुष्पं कर्णे, सीमन्ते नीपं कदम्बपुष्पम् । त्वदुपगमस्त्वदोयागमनं तस्माज्जातम् । इदं सर्वपुष्पविशेषणम् । 'चूडा शिखायां बाहुभूषणे' इति मेदिनीकारः । शिखापरस्यापि पाशपदस्य केशपरत्वमेव । अत्र शरदादिकालक्रमेणार्थानां क्रमादार्थक्रमः ॥

द्वितोया यथा—

पायाद्वो रचितत्रिविक्रमतनुर्देवः स दैत्यान्तको
तस्याकस्मिकवर्धमानवपुषस्तिग्मद्युतेर्मण्डलम् ।
मौलौ रत्नरुचि श्रुतौ परिलसत्ताटङ्ककान्ति क्रमा-
ज्जातं वक्षसि कौस्तुभाभमुदरे नाभीसरोजोपमम् ।।२१०।।

अत्र त्रिविक्रमतनोर्वैकुण्ठस्य प्रवृद्धिसमये क्रमेणैव मौलिश्रुतिवक्षउदरलक्षणेषु शरीरदेशेषु भास्वन्मण्डलस्य चूडारत्नताटङ्ककौस्तुभनाभ्यम्बुजैर्योऽयमौपम्यलाभः, सेयं देशतोऽर्थपरिपाटी क्रमः ।।

द्वितीय का (देशतः) उदाहरण—

त्रिविक्रम वामन का शरीर धारण करने वाले दैत्यराज बलि के घातक भगवान् आपलोगों की रक्षा करें जिनकी एकाएक बढ़ते हुये शरीर की प्रचण्ड किरणों का मण्डल जो पहले मस्तक पर रत्न की कान्ति सा था, कानों में सुशोभित हो रहे आभूषणों की कान्ति सा था,

वह क्रमशः वक्षःस्थल पर कौस्तुभमणि के सदृश छटा से युक्त तथा उदर पर नाभि के कमल के सदृश हो गया ॥ २१० ॥

यहाँ विष्णु के त्रिविक्रम वामन के शरीर की वृद्धि के समय क्रमशः ही मौलि, श्रुति, वक्ष तथा उदर से लक्षित शरीर के भागों में चमकदार मण्डल का जो चूडारत्न, ताटङ्क, कौस्तुभ, नाभिकमल आदि के साथ सादृश्य की प्राप्ति है, उससे यह देशतः अर्थपरिपाटी क्रम है।

पायादित्यादि। स देवो वो युष्मान् पायात् रक्षतात्। कीदृशः। रचिता त्रिविक्रमस्य वामनस्य तनुः शरीरं येन सः। दैत्यनाशकश्च। यस्याकस्माद्वर्धमानशरीरस्य सूर्यमण्डलं मौलौ रत्नरुचि जातम्, क्रमात् श्रुतौ कर्णे शोभमानताटङ्ककान्ति जातम्, वक्षसि कौस्तुभदीप्ति जातम्, उदरे नाभिपद्मोपमं जातम्। 'कौस्तुभो मणिः' इत्यमरः। इह हरेर्नाभिपद्मस्य श्वेततया रूपेण न साम्यं किं त्वाकारादिनेत्यवधेयम्। 'वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः' इत्यमरः। अत्र मौलिप्रभृतिदेशपुरस्कारेणार्थक्रमः॥

उभयपरिपाटी द्विधा—शब्दप्रधाना, अर्थप्रधाना च। तयोराद्या यथा—

पङ्कअ पङ्कि वहेलिअ कुवलअ खित्तउ दहहिं
वालिहिं बिम्ब विविल्लिओ घत्तिओ चन्दु णहहि।
करणअणाहरवअणहिं तहिं लीलावइहिं
णिअसिट्ठि वि उच्चिट्ठीणा इं पआवइहिं ॥ २११ ॥

[पङ्कजं पङ्केऽवहेल्य कुवलयं क्षिप्त्वा ह्रदे
वृन्ते बिम्बं विप्रकीर्णं निरस्तश्चन्द्रो नभसि।
करनयनाधरवदनैस्तत्र लीलावत्यां
निजसृष्टिरप्युत्सृष्टा किं प्रजापतिना ॥]

अत्र पङ्कजकुवलयबिम्बाफलचन्द्रमसां करनयनाधरवदनैर्यथासंख्यं पराजयत इति शब्दपरिपाट्यत्र पङ्कजानि पङ्के न्यस्तानि, कुवलयानि ह्रदे क्षिप्तानि, बिम्बं वृन्ते प्रकीर्णम्, चन्द्रो नभसि निरस्त इत्याधाराणामुपर्युपरिभावः, क्रियाणां च त्यागतारतम्यमित्यर्थपरिपाटी न्यग्भवति, सेयं शब्दप्रधानोभयपरिपाटी क्रमः॥

उभयपरिपाटी द्विविध है—शब्दप्रधाना तथा अर्थप्रधाना। उन दोनों में से प्रथम का उदाहरण—

कमल को कीचड़ में बलात् ठेल कर, नीलकमल को अगाध जल वाले जलाशय में फेंककर, लताप्रतानों में बिम्बफलों को फैलाकर तथा आकाश में चन्द्रमा को निरस्त करके क्या विधाता ने उस विलासिनी के कर, नयन, अधर तथा मुखों के कारण अपनी पूरी सृष्टि ही उत्सृष्ट कर दी है ॥ २११ ॥

यहाँ पङ्कज, कुवलय, बिम्बाफल तथा चन्द्रमा कर, नयन, अधर तथा मुखों से क्रम के अनुसार ही पराजित किये गये हैं, इस प्रकार शब्द की परिपाटी से ही कमल कीचड़ में रखे गये, कुवलय ह्रद में क्षिप्त किये गये, बिम्बाफल वृन्त में प्रकीर्ण किया गया, चन्द्रमा आकाश में निरस्त कर दिया गया, आदि इस क्रम से आधारों का ऊपर-ऊपर का भाव—एक के बाद दूसरे का भाव—है। साथ ही क्रियाओं का भी तारतम्य है। इस प्रकार अर्थ परिपाटी कुछ न्यून पड़ जाती है। अतः यह शब्दप्रधान उभयपरिपाटी क्रम है।

पङ्क इत्यादि । "पङ्कजानि पङ्के न्यस्तानि कुवलयानि क्षिप्तानि ह्रदे वृत्तौ बिम्बं विनिकीर्णं निरस्तश्चन्द्रो नभसि । करनयनाधरवदनैस्तस्यां लीलावत्यां निजसृष्टिरप्युत्सृष्टेव प्रजापतिना ॥" इह प्रजापतिना ब्रह्मणा तस्यां लीलावत्यां नायिकायां हस्तनेत्राधरमुखैः निजसृष्टिरप्युत्सृष्टेव दत्तेव । पङ्कजादीनामुपासनात् । तदेवाह—पङ्कजानि पङ्के कर्दमे न्यस्तानि । नीलाब्जानि ह्रदेऽगाधजले क्षिप्तानि । वृत्तौ वेष्टने बिम्बफलं न्यस्तम्, चन्द्रो गगने क्षिप्त इति । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमरः । अत्र पङ्कजादीनां करादिना जये श्राउदक्रमः ; प्रधानीभूतोऽधिकरणानामुपर्युपरिभावः, क्रियाणां च त्यागतारतम्यमित्यार्थक्रमश्च यत्रभूतोऽप्रधान इत्युभयक्रमेऽपि शब्दप्रधानता ॥

अर्थप्रधाना यथा—

> गङ्गे देवि दृशा पुनीहि यमुने मातः पुनर्दर्शनं
> संप्रश्नोऽस्तु पितः प्रयाग भगवन्न्यग्रोध मां ध्यास्यसि ।
> तं हारासिलतावतंसविपुलस्थूलांसवक्षोभुजं
> पुंभावं भवतामवन्तिनगरीनाथं दिदृक्षामहे ॥ २१२ ॥

अत्र गङ्गायमुनाप्रयागन्यग्रोधतत्पुंभावावन्तिनगरीनाथलक्षणानामर्थानां मुख्यक्रमेण 'देवि-दृशा पुनीहि', 'मातः पुनर्दर्शनम्', 'पितः संप्रश्नः', 'भगवन्मां ध्यास्यसि' इति मुख्यक्रमेणैव संभ्रमद्भिर्वचोविशेषैरभ्यर्थ्य 'भवतामेव पुंभावमवन्तिनगरीनाथं दिदृक्षामहे' इति येयमभ्यर्थनाभङ्गिः सार्थपरिपाटीकृता तस्यां च 'गङ्गे, यमुने, प्रयाग, न्यग्रोध'—इति, 'हारासिलतावतंसविपुलवक्षःस्थूलांस' इति च शब्दपरिपाटी परस्परमुपमानोपमेयभूते न्यग्भवतः, सेयमर्थप्रधानोभयपरिपाटी क्रमः ॥

अर्थप्रधाना का उदाहरण—

हे देवि गङ्गा, अपनी दृष्टि से हमें पवित्र कर दो, हे माता यमुना, फिर दर्शन देना, हे पिता प्रयाग, आप अपना समाचार देना, हे भगवान् अक्षयवट, तुम भी मुझे याद रखना । इस समय हार, तलवार, कर्णभूषण तथा विस्तृत एवं स्थूल कन्धे, वक्षःस्थल तथा भुजाओं वाले आपही लोगों के पुरुषभाव को प्राप्त से हो गये, अवन्तिनगरी के महाराज भोज को हम देखना चाहते हैं ॥ २१२ ॥

यहाँ गङ्गा, यमुना, प्रयाग, अक्षयवट तथा उनके पुरुषभाव को प्राप्त अवन्तिनगरीनाथ नाम वाले अर्थों का मुख्य क्रम से 'देवि दृशा पुनीहि', 'मातः पुनर्दर्शनम्' 'पितः संप्रश्नः' 'भगवन् मां ध्यायसि' इस प्रकार मुख्यक्रम से ही संभ्रमित हो रहे विशेष वचनों से प्रार्थना करके 'भवतामेव पुंभावमवन्तिनगरीनाथं दिदृक्षामहे' यह जो अभ्यर्थना की वक्रता है वह अर्थ की परिपाटी से की गई है, उसमें 'गङ्गा, यमुना, प्रयाग, न्यग्रोध' यह तथा 'हारासिलतावतंसविपुलवक्षःस्थूलांस' इस प्रकार की शब्दपरिपाटी द्वारा एक दूसरे के उपमानोपमेय हो जाने पर तिरस्कृत हो जाती है । अतः यह अर्थप्रधाना उभयपरिपाटी क्रम है ।

गङ्गेत्यादि । हे गङ्गे देवि, दृशा मां पुनीहि, हे मातर्यमुने, पुनर्दर्शनमस्तु, हे पितः प्रयाग, भवान् स्वाप्रश्नोऽस्तु सुसंवादोऽस्तु । हे भगवन् न्यग्रोध अक्षयवट, मां ध्यास्यसि स्मरिष्यसि । तमवन्तिनगरीनाथमुज्जयिनीपतिं भोजराजं नृपं वयं दिदृक्षामहे द्रष्टुमि

वक्षामः । कीदृशम् । हारखड्गलताकर्णालंकारैर्विपुलाः पीनबाहुमूलयुक्तवक्षोभुजा यस्य तम् । भवतामेव पुंभावं पुरुषरूपम् । स्वाप्रश्न इति । स्वस्य आ समन्तात् प्रश्नः संवादः । यथा आपृच्छस्वेत्यत्र । वतंसेन कर्णालंकारेण विपुलः स्थूलश्चांसो बाहुमूलं यत्र वक्षसि तत् । 'वतंसः कर्णपूरे स्यात्' इति विश्वः । अत्रादरवता वचनरचनेनाभ्यर्च्यं प्रार्थनाभङ्गिरर्थपरिपाटीकृता । तस्यां च गङ्गया हारस्य, यमुनयासिलतायाः, प्रयागेण वतंसविपुलस्थूलांसवक्षसः, न्यग्रोधेन भुजस्य शाब्देन क्रमेण मिथ उपमानोपमेयभावो न्यग्भूत इत्युभयक्रमेऽर्थप्रधानता ॥ इति क्रमालंकारनिरूपणम् ॥

पर्यायालकारनिरूपणम् ।

पर्यायं लक्षयति—

मिषं यदुक्तिभङ्गिर्यावसरो यः स सूरिभिः ।
निराकाङ्क्षोऽथ साकाङ्क्षः पर्याय इति गीयते ॥ ८० ॥

(२०) पर्यायालंकार

जो बहाना होता है, जो उक्ति में वक्रता होती है और जो अवसर होता है वह चाहे साकांक्ष हो चाहे निराकांक्ष, पर्याय इस नाम से ख्यात किया जाता है ॥ ८० ॥

स्व० भा०—किसी का बहाना बनाकर, जरा घुमाफिरा कर किसी समयविशेष पर जो बात कही जाती है, उसे पर्यायोक्ति कहते हैं । उक्तिभङ्गिमा का अभिप्राय भामह की परिभाषा में स्पष्ट है—

"पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।" काव्यालंकार ३।८॥

प्रकारान्तरता ही दण्डी को भी अभीष्ट है—

इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये ।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥ काव्यादर्श २।२९५॥

रुद्रट ने भी अपने काव्यालंकार में दण्डी का ही भाव व्यक्त किया है—

वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य ।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत् स पर्यायः ॥ ७।४२॥

निश्चित ही भोज का लक्षण इनसे अधिक व्यापक है ।

मिषमिति । यन्मिषम् , योक्तिभङ्गिः, यश्चावसरः स पर्यायः । मिषाद्यन्यतम एव पर्याय इति लक्षणम् ॥

तेषु निराकाङ्क्षं मिषं यथा—

मया विमुक्ता बहिरेव वल्लकी व्रजेदवश्यायकणैश्च सार्द्रताम् ।
द्रुतं तदेनां करवै निचोलके कयाचिदेवं मिषतो विनिर्ययै ॥ २१३ ॥

अत्र 'कयाचिदेवं मिषतो विनिर्ययै' इत्युदर्काभिधानेनाकाङ्क्षानिवृत्तेर्विराकाङ्क्षमेतन्मिषं नाम पर्यायभेदः ॥

इनमें से निराकांक्ष मिष का उदाहरण—

"मैंने अपनी वीणा को बाहर ही छोड़ दिया है, वह ओस की बूँदों से भीग जायेगी । जल्दी ही जाकर मैं उसे कपड़े की खोल में रख आती हूँ । इस प्रकार कोई नायिका बहाना करके बाहर चली गई ॥ २१३ ॥

यहाँ "कयाचिदेवं मिषतो विनिर्ययै" इस उत्तरकालीन कथन से आकांक्षा की निवृत्ति हो जाने से यह निराकांक्ष मिष नाम का पर्याय का भेद है ।

स्व० भा०—जहाँ कोई उत्तरकालीन क्रिया क्या होगी इसके ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती वहाँ निराकांक्षता स्वीकार की गई है।

मयेत्यादि। कयाचिन्नायिकया एवमनेन प्रकारेण मिषतो व्याजाद्विनिर्ययें बहिर्भूतम्। तदेवाह—मया त्यक्ता वल्लकी वीणा बहिरेव गच्छेत्। अवश्यायकणैर्हिमलवैः सार्द्रतां च व्रजेत्। तत एनां शीघ्रं निचोलके वस्त्रेऽहं करवै करिष्यामि। 'अवश्यायस्तु नीहारः' इत्यमरः। 'निचोलः प्रच्छदपटः' इति च। उदर्कं उत्तरकालशुद्धिस्तदभिधानं मिषपर्यायः॥

तदेव साकाङ्क्षं यथा—

दशत्यसौ परभृतः सहकारस्य मञ्जरीम्।
तमहं वारयिष्यामि युवाभ्यां स्वैरमास्यताम्॥ २१४॥

अत्र 'कयाचिदेवं मिषतो विनिर्ययें' इतिवदुदर्कानभिधानात् साकाङ्क्षमेतन्मिषं नाम पर्यायस्य भेदः॥

उसी (मिष) के साकांक्ष भेद का उदाहरण—

यह कोकिल आम्रमञ्जरी को खाये जा रहा है, मैं उसे जाकर रोकती हूँ" तुम दोनों स्वेच्छानुसार बैठो॥ २१४॥

यहाँ 'कयाचिदेवं मिषतो विनिर्ययौ' इसके समान उत्तरकालीन कथन न होने से यह पर्याय का भेद 'मिष' साकांक्ष है।

स्व० भा०—दण्डी ने अपने काव्यादर्श में यही उदाहरण दिया था। (वही २।२९६) वहीं उन्होंने भी इसमें पर्याय के लक्षण की संगति दी है। किसी प्रकार का भेद न होने से उन्होंने साकांक्षता अथवा निराकांक्षता को स्पष्ट नहीं किया। उनके शब्दों में—

सङ्गमय्य सखीं यूना संकेते तव व्रतोत्सवम्।
निर्वर्तयितुमिच्छन्त्या कयाऽप्यपसृतं ततः॥" काव्यादर्श २।२९७

दशतीत्यादि। असौ परभृतः पिकः सहकारस्य मञ्जरीं दशति तमहं वारयिष्यामि। ततो युवाभ्यां स्वैरं स्वच्छन्दमास्यतामुपविश्यताम्। 'स्वच्छन्दमन्दयोः स्वैरम्' इति विश्वः। अत्रोदर्कानभिधानात्साकाङ्क्षत्वम्॥

निराकाङ्क्षोक्तिभङ्गिर्यथा—

राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे भोजय मां कुमार कुशलं नाद्याज्जुके भुज्यते।
इत्थं नाथ शुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य वेश्मवलभीष्वेकैकमाभाषते॥ २१५॥

अत्रानयोक्तिभङ्ग्या शून्यीकृतारिनगरस्य नरपतेः कश्चित् प्रतापं वर्णयति। तत्र वाक्यस्य परिपूर्णत्वेन निराकाङ्क्षत्वान्निराकाङ्क्षेयमुक्तिभङ्गिः॥

निराकांक्ष उक्तिभंगि का उदाहरण—

हे महाराज, पथिकों के द्वारा पिंजड़े से छोड़ा गया तोता आपके शत्रु के घर में कुटियों पर या दीवालों पर चित्र में देख-देखकर एक-एक से इस प्रकार कहता है "राजन्, राजकुमारी मुझे पढ़ा नहीं रही है, रानियाँ भी मौन स्थित हैं। अरी कुबड़ी, मुझे भोजन करा। कहो कुमार कुशल तो है। अरी वेश्ये, आज मैं भोजन नहीं कर रहा हूँ।"॥ २१५॥

यहाँ इस उक्तिभङ्गि के द्वारा उजाड़ कर दिया है शत्रु के नगर को जिसने उस राजा का

कोई प्रताप वर्णन कर रहा है। वहाँ वाक्य में परिपूर्णता होने से निराकांक्षता के कारण यह निराकांक्ष उक्तिभङ्गि है।

राजन्नित्यादि। हे नाथ हे प्रभो, तवारिभवने शत्रुगृहे इत्थमनेनाकारेण वेश्मवलभीषु गृहोपरिकुटीषु चित्रलिखितानेतान्विलोक्य प्रत्येकं शुक आभाषते वदति। कीदृशः। अध्वगैः पथिकैः पञ्जरान्मुक्तस्त्यक्तः। आभाषणस्वरूपमाह—हे राजन्, राजसुता कुमारिका मां न पाठयति। देव्यो महादेव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः कृतमौनाः। हे कुब्जे, मां भोजय। हे कुमार राजबालक, तव कुशलम्। हे अज्जुके गणिके, अद्य मया न भुज्यते। 'देवी कृताभिषेकायाम्' इत्यमरः। बाहुल्येन कुब्जायाः शुकभोजनं नृपगृहे कर्म। 'युवराजस्तु कुमारः' इत्यमरः। 'नाट्योक्तौ गणिकाज्जुका' इति च। अत्र प्रतापवर्णने पूर्णवाक्यतया निराकाङ्क्षत्वम्। उक्तौ तु भङ्गिर्व्यक्तैव॥

साकाङ्क्षा यथा—

> शान्त्यै वोऽस्तु कपालदाम जगतां पत्युर्यदीयां लिपिं
> क्वापि क्वापि गणाः पठन्ति पदशो नातिप्रसिद्धाक्षराम्।
> विश्वं स्रक्ष्यति वक्ष्यति क्षितिमपामीशिष्यतेऽशिष्यते
> नागै रागिषु रंस्यतेऽत्स्यति जगन्निर्वेक्ष्यति द्यामिति॥ २१६॥

अत्रानयोक्तिभङ्ग्या ब्रह्माद्यस्तमयेऽप्यनस्तमितस्य भगवतो महेश्वरस्य प्रभावो वर्ण्यते, तत्र च 'यदीयां लिपिं क्वापि क्वापि गणाः पठन्ति पदशो नातिप्रसिद्धाक्षराम्' इत्यनेनैव वाक्येऽस्मिन्नाकाङ्क्षोत्थाप्यते। सा च 'विश्वं स्रक्ष्यति' इत्यस्मिन्नीदृशी—ब्रह्मणां चतुर्युगसहस्रान्ते दिनमेकमिति मानेनैष वर्षशतजीवी विश्वं स्रक्ष्यति ब्रह्मेति ज्ञाप्यते, कपालं चास्य भगवतो भूषणं भविष्यति। 'वक्ष्यति क्षितिम्' इत्यस्मिन्नीदृशी—ब्रह्मणामयं (?) वर्षशतेनैकदिनमिति मानेनैष पुरुषायुषजीवी क्षितिं वक्ष्यति विष्णुरिति ज्ञाप्यते, कपालं चास्य भगवतो भूषा भविष्यतीति। एवम् 'अपामीशिष्यते—' इत्यादिषु वरुणकामयमेन्द्रविषयत्वेन योजनीयम्। सेयमनेकप्रकारेण ब्रह्मादीनां साक्षादनभिधानेन साकाङ्क्षोक्तिभङ्गिः॥

साकांक्षा उक्तिभङ्गि का उदाहरण—

संसार के स्वामी भगवान् पंचवक्त्र शिव की कपालों की माला आप लोगों के लिये शान्ति का निष्पादन करे, जिस पर अप्रसिद्ध अक्षरों वाली इस प्रकार की लिखावट को उनके गण कहीं-कहीं पदशः पढ़ते हैं कि यह शिव विश्व का निर्माण करेगा, पृथ्वी को धारण करेगा, जल पर प्रभुत्व रखेगा, साँपों द्वारा भुक्त होगा, प्रेमियों में रमण करेगा, इस संसार का भक्षण करेगा और स्वर्ग का भी उपयोग करेगा॥ २१६।

यहाँ इस उक्तिभङ्गि द्वारा ब्रह्मा आदि का अस्त हो जाने पर भी समाप्त न होने वाले भगवान् महेश्वर का प्रभाव वर्णित हो रहा है। वहाँ पर 'यदीयां लिपिं क्वापि क्वापि गणाः पठन्ति पदशो नातिप्रसिद्धाक्षराम्' इसी के द्वारा इस वाक्य में आकांक्षा उठाई जाती है। और वह—'विश्वं स्रक्ष्यति' इसमें इस प्रकार की—कि ब्रह्माओं का, हजार चतुर्युग बीत जाने पर, एक दिन होता है इस प्रकार के माप से यह सौ वर्षों तक जीवित रहने वाला विश्वका निर्माण करेगा—भाव

निकलता है और उससे ब्रह्मा का ज्ञान होता है अर्थात् वह ब्रह्मा के रूप में प्रतीत कराया जाता है और इस देवता का अलंकार कपाल होगा। 'वक्ष्यति क्षितिम्' में इस प्रकार की—'यह ब्रह्माओं के सौ वर्षों का एक दिन का मान लेने पर यह पुरुषायुपजीवी क्षिति का धारण करेंगे' इससे विष्णु ज्ञात होते हैं। और कपाल इन भगवान् की भूषा होगी। इसी प्रकार 'अपामीशिष्यते' इत्यादि से वरुण, काम, यम, इन्द्र के विषय में भी योजित करना चाहिये। इस तरह यह अनेक प्रकार से ब्रह्मा आदि का साक्षात् कथन न होने से उक्तिभङ्गि है।

स्व० भा०—यहाँ शङ्कर जी को प्रकारान्तर से यह दिखला कर कि वह 'सृष्टि का निर्माण करते हैं', 'जगत् का पालन करते हैं' आदि यह सिद्ध किया गया है कि वह ब्रह्मा भी हैं, विष्णु भी हैं, तथा अन्यदेव भी हैं। किन्तु यह कथन शब्दतः साक्षात् नहीं हुआ है। यहाँ ब्रह्मा आदि के क्रियाकलापों का उल्लेख करके उन क्रियाओं के कर्ता का ज्ञान कराया गया है। वृत्ति में ब्रह्म तथा विष्णु के दिनमान भी दिये गये हैं।

शान्त्या इत्यादि। जगतां पत्युर्हरस्य कपालदाम ललाटमाला वो युष्माकं शान्त्यै शमायास्तु। पञ्चवक्त्रतया कपालानां माला। यदीयां लिपिं यत्सम्बन्धिनीमक्षरालीं गणा नन्द्यादयः क्वापि पदशः पदक्रमेण पठन्ति वाचयन्ति। कीदृशीम्। नातिप्रसिद्धवर्णाम्। अत एव क्वाचित्कः पाठः। पाठविषयमाह—अयं शिवो विश्वं जगत् स्रक्ष्यति निर्मास्यति। क्षितिं भूमिं वक्ष्यति धारयिष्यति। अपामीशिष्यते जलेष्वैश्वर्यं लप्स्यते। नागैः सर्पैरशिष्यते भोक्ष्यते। अयं रागिषु विषयासक्तेषु रंस्यते क्रीडिष्यति। जगद्वयमत्स्यसि भक्षिष्यति। यां स्वर्गं निर्वेक्ष्यत्युपभोक्ष्यति। इति। स्रक्ष्यतीति 'सृज विसर्गे' लृट्। 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति ६।१।५८' इत्यम्। वक्ष्यतीति 'वह प्रापणे' लृट्। 'षढोः कः सि ८।२।४१' इति कत्वम्। ईशिष्यत इति 'ईश ऐश्वर्ये' लृट्। अशिष्यत इति 'अश भोजने' लृटि कर्मणि। रंस्यत इति 'रमु क्रीडायाम्' लृट्। अत्स्यतीति 'अद भक्षणे' लृट्। निर्वेक्ष्यतीति निपूर्वात् विशेर्लृट्। अस्तसमये विनाशे। ब्रह्मणा करणेनेदृशी आकांक्षा। चतुर्णां युगानामेकसहस्रेण ब्रह्मण एकं दिनम्। अनेनैव क्रमेणाहोरात्रादिकम्। ईदृश्याकाङ्क्षा। शतसंख्यब्रह्मापवर्गानन्तरमेकं दिनं वैष्णवम्। अनेनैव क्रमेणाहोरात्रादिकम्। पुरुषायुषेति अचतुरादौ निपातितम्। अपामीशिष्यत इति वरुणादयो ज्ञेयाः। अत्र ब्रह्मादीनां साक्षादभिधानाभावात् साकाङ्क्षता॥

अवसरो निराकाङ्क्षो यथा—

> अथ तैः परिदेविताक्षरैर्हृदये दिग्धशरैरिवार्दितः।
> रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः॥ २१७॥

अत्र—

> क नु ते हृदयंगमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः।
> न खलूग्ररुषा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम्॥२१८॥

इति यानि रतेः परिदेविताक्षराणि तैराकृष्टहृदयस्य मधोर्योऽयमात्मदर्शनाय प्रस्तावः सोऽयं न किंचनाकाङ्क्षतीति निराकाङ्क्षोऽयमवसरः पर्यायस्य भेदः॥

'अवसर' के निराकांक्ष भेद का उदाहरण—

इसके पश्चात् उसके उन विलाप के अक्षरों से हृदय में विषाक्त बाण के लगने सा पीड़ित होकर व्याकुल रति को सांत्वना देने के लिये वसन्त ने अपने को सामने ही प्रकट किया॥२१७॥

यहाँ, तुम्हारा वह हृदय में निवास करने वाला, पुष्पों से धनुष् को आयोजित करने वाला वसन्त कहाँ है, कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि प्रचण्ड क्रोध वाले शिव के द्वारा वह भी मित्र को प्राप्त हुई गति को प्राप्त करा दिया गया ॥ २१८ ॥

इस प्रकार जो रति के विलाप के अक्षर हैं उन्हीं से आकृष्ट मन वाले वसन्त का जो यह अपने को दिखाने का प्रस्ताव है वह अन्य किसी की आकांक्षा नहीं करता, इसलिये यह निराकांक्ष अवसर पर्याय का भेद है ।

स्व० भा०—यहाँ (२१७) संख्या का श्लोक (२१८) संख्या वाले श्लोक की बातों की पूर्ति के लिये स्वयं आया है । उसमें रति विलाप करती हुई वसन्त के भी विषय में जानना चाहती है । इसी के परिणामस्वरूप उसने अपने को प्रकट भी किया । जब उसका प्रकटन हो गया, तब उस पद की तात्कालिक आकांक्षा शान्त हो गई ।

अथेत्यादि । अनन्तरं मधुर्वसन्तोऽग्रे आत्मानमदर्शयत् दर्शितवान् । किं कर्तुम् । आतुरां विह्वलां रतिं कामवधूमभ्युपपत्तुं बोधयितुम् । कीदृशः । तैः परिदेविताक्षरैर्विलापाक्षरैर्दिग्धशरैर्विषाक्तशरैरिवार्दितः पीडितः । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । 'दिग्धो विषाक्तबाणे स्यात्पुंलि लिप्तेऽन्यलिङ्गकः' इति मेदिनीकारः । नानार्थत्वादेव, नियमार्थं शरपदमिह । अत्र वसन्ताविर्भावप्रस्तावो निरपेक्ष एवेति निराकाङ्क्षत्वम् ॥

साकाङ्क्षो यथा—

अज्जवि बालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिए जसोआए ।
कह्णमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूए ॥ २१९ ॥
[अद्यापि बालो दामोदर इतीति जल्पिते यशोदया ।
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवध्वा ॥]

अत्र 'अद्यापि बालो दामोदरः' इति यशोदया कृतप्रस्तावनस्य कृष्णस्य वक्त्रे विन्यस्तलोचनया तद्रहस्यवेदिन्या व्रजवधूमतल्लिकया यदेतन्निभृतं हसितं तत् तवाम्बा बालं त्वां ब्रूते, त्वं तु मादृशीभिर्निधुवनविदग्धाभिर्दिवानिशं यमुनानिकुञ्जोदरेषु विहरसीत्यादिनार्थजातेन साकाङ्क्षमिति साकाङ्क्षोऽयमवसरः पर्यायस्य भेदः ॥

साकांक्ष का उदाहरण—

"अभी भी मेरा कृष्ण बच्चा है' इस प्रकार की बातें यशोदा के द्वारा कही जाने पर व्रजबाला कृष्ण के मुख पर दृष्टि डालकर चुपके से हँसती रही ॥ २१९ ॥

यहाँ 'अद्यापि बालो दामोदरः' इस प्रकार से जिसका प्रस्तावन किया गया है उस कृष्ण के मुख पर नयन लगाये हुई उसके रहस्य को जानने वाली प्रशस्त व्रजवधू के द्वारा जो यह शान्त रूप से हँसा जाना है, वह तुम्हारी माता, तुमको बच्चा कहती है और तुम तो ऐसे हो जो कि 'मेरी जैसी मैथुनकर्म में निपुणाओं के साथ दिन रात यमुना के निकुञ्जों के भीतर विहार किया करते हो' इत्यादि अर्थसमूहों के कारण साकांक्ष है । इस प्रकार यह साकांक्ष अवसर पर्याय का भेद है ।

अज्जवि इत्यादि । "अद्यापि बालो दामोदर इतीति जल्पिते यशोदया । कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवध्वा ॥" यशोदया कृष्णबाल्य उद्भाविते व्रजवधूः स्मेरं दृष्ट्वा काचित् कस्यैचिव कथयति—अद्यापीति । यशोदयाद्यापि दामोदरो बाल एवेत्युक्ते कया-

चिह्नोपबध्वा कृष्णमुखे प्रेषितं न्यस्तमपि यत्र हसिते एवं निभृतमेकान्ते हसितम्। रहो रहस्यमेकान्तचेष्टा। मतल्लिका प्रशस्ता। 'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्घतल्लजौ। प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमरः। निधुवनं सुरतम्। निधुवनमायोजनमाहुः' इति हारावली। अत्रानेकेनार्थजातेन साकाङ्क्षता व्यक्तैव॥ इति पर्यायालंकारनिरूपणम्॥

अतिशयोक्त्यलंकारः।

अतिशयलक्षणमाह—

विवक्षया विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा च सा॥ ८१॥
सा च प्रायो गुणानां च क्रियाणां चोपकल्प्यते।
नहि द्रव्यस्य जातेर्वा भवत्यतिशयः क्वचित्॥ ८२॥
प्रभावातिशयो यश्च यश्चानुभवनात्मकः।
अन्योन्यातिशयो यश्च तेऽपि नातिशयात्पृथक्॥ ८३॥
अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ ८४॥

(२१) अतिशयोक्ति अलंकार

एक विशेष वर्ण्य की जो लोकोत्तरवर्णना की इच्छा है वह अतिशयोक्ति है। यह अतिशयोक्ति अलंकारों में सर्वश्रेष्ठ भी है। वह अधिकतर गुणों तथा क्रियाओं को की जाती है क्योंकि कहीं भी द्रव्य अथवा जाति का अतिशय नहीं होता है। जो प्रभावातिशय है, जो अनुभवनात्मक है, और जो अन्योन्यातिशय है, ये सब भी अतिशय से भिन्न नहीं हैं। यह अन्य अलंकारों का भी एकमात्र आश्रय है। इस अतिशय नाम की उक्ति को वागीश्वरों की भी पूज्य कहा गया है॥ ८१–८४॥

स्व० भा०—भामह ने भी सर्वप्रथम आलंकारिक के रूप में अतिशयोक्ति की महत्ता को पहचाना था। वह इसकी परिभाषा तथा महत्ता इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा॥
इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्॥
सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

काव्यालंकार २।८१,८४-५

रुद्रट ने अतिशयोक्ति की परिभाषा और भी स्पष्ट दी है—

यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित् क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥ काव्यालंकार ९।१॥

वह भी अतिशयोक्ति को कई अलंकारों का मूल मानते हैं।

दण्डी द्वारा दिये गये अतिशयोक्ति के लक्षण को भोज ने ज्यों का त्यों ले लिया है। इसका

प्राधान्य आदि उन्होंने स्वयं दिया है किन्तु (८४ वें) श्लोक को भी दण्डी से ही (काव्याद० २।२२०) लिया है।

विवक्षेति। विशेषस्य प्रकर्षस्य लोकसीमातिवर्तिनी लोकमर्यादातिशयिता या विवक्षा वक्तुमिच्छा सातिशयोक्तिः। केवलस्य, अखण्डाया जातेश्चातिशयाभावाद् गुणक्रिययोरेवातिशय इत्याह—सा चेति। उपकल्प्यते समर्थ्यते॥ अलमिति। 'केवलं प्रभावादीनामेवातिशयोक्तिरपि स्वलंकाराणामपीमामतिशयाभिधानाम्रुक्तिमेकं परायणमाश्रयं वदन्ति। कीदशीम्। वागीशेन वाक्पतिना महितां पूजिताम्। 'परायणमाश्रये' इति विश्वः॥

तत्र गुणातिशयेन महत्त्वातिशयो यथा—

'अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम्।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते॥ २२०॥

अत्रैवं यशोराशेरशक्यमानस्याप्यतिशयोक्त्या विशेषविवक्षा। येन त्रिभुवनोदरमपि संकीर्णमाशङ्क्यते; सोऽयं महत्त्वातिशयो नामातिशयभेदः॥

यहाँ गुण के अतिशय के कारण महत्वाधिक्य का उदाहरण—

हे महाराज, बड़े आश्चर्य की बात है कि यह त्रिभुवन अत्यन्त विशाल है, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी न समा सकने वाली आपकी कीर्तिराशि इसमें समाहित हो रही है॥ २२०॥

यहाँ इस प्रकार से सम्भव न हो रही यशोराशि की भी अतिशयोक्ति के द्वारा विशेषतानिरूपण की इच्छा है। चूँकि यहाँ त्रिभुवन के विद्यमान स्थान की भी संकीर्णता की शङ्का की जा रही है, अतः यह महत्त्वातिशय नामक अतिशय का भेद है। (द्रष्टव्य दण्डीः काव्यादर्श २।२१९)

अहो इत्यादि। हे भूपाल, यस्मादत्र भुवनत्रितयोदरे मातुं परिच्छेत्तुमशक्योऽपि तव यशोराशिर्माति संमाति, तस्माद्भुवनत्रितयोदरं विशालमत्राहो आश्चर्यम्। अत्र यशोराशिरूपस्य गुणस्यातिशयेन महत्त्वातिशयः स्फुट एव॥

तनुत्वातिशयो यथा—

स्तनयोर्जघनस्यापि मध्ये मध्यं प्रिये तव।
अस्ति नास्तीति संदेहो न मेऽद्यापि निवर्तते॥ २२१॥

अत्रैवं मध्यस्य लोकसीमातिक्रमेण तानवातिशयविवक्षा येन तदस्ति नास्तीति वा संदिह्यते; सोऽयं तनुत्वातिशयो नामातिशयभेदः॥

तनुत्वातिशय का उदाहरण—

हे प्रियतमे, दोनों स्तनों तथा जङ्घों के बीच में तुम्हारी कमर है कि नहीं है, मेरा यह संदेह आज भी दूर नहीं हो रहा है॥ २२१॥

यहाँ इस प्रकार से कटि के लोक की सीमा का अतिक्रम करके तनुता के अतिशय के वर्णन की इच्छा है, इसी से वह 'है' कि 'नहीं है' इस प्रकार का सन्देह किया जाता है। अतः यह तनुत्वातिशय नाम का अतिशय का भेद है।

स्व० भा०—दण्डी ने (काव्यादर्श २।२१७) इस श्लोक में संशयातिशयोक्ति स्वीकार किया है।

स्तनयोरित्यादि। हे प्रिये, तव स्तनयोर्जघनस्यापि मध्येऽन्तराले मध्यमवलग्नमति-

कृशत्वादस्ति नास्तीति सन्देहो ममाद्यापि न निवर्तते । अत्र तानवस्य तनुत्वस्यातिशयः । लोकेति । नहि लोकः पयोधरभरस्थित्यन्यथानुपपत्त्यापि मध्यं निश्चिनोतीत्यर्थः ॥

कान्त्यतिशयो यथा—

मल्लिकामालभारिण्यः सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः ।

क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥ २२२ ॥

अत्रैवं चन्द्रालोकस्य लोकसीमातिक्रमेण बाहुल्योत्कर्षविवक्षा । येन तस्मिन् समानाभिहारेणाभिसारिका अपि न लक्ष्यन्ते सोऽयं कान्त्यतिशयो नामातिशयभेदः ॥ अथास्य पिहितात्को विशेषः । उच्यते । पिहिते चन्द्रातपस्योत्कर्षेणाभिसारिकातिरस्कारो विवक्ष्यते, इह त्वभिसारिकातिरस्कारेण चन्द्रातपोत्कर्ष इति ॥

कान्त्यातिशय का उदाहरण—

मालती के मालाओं का आभरण पहने, सम्पूर्ण अङ्गों में गीले चन्दन लगाये तथा रेशमी वस्त्र पहने हुई अभिसारिकायें चाँदनी में दिखाई ही नहीं पड़ रही हैं ॥ २२२ ॥

यहाँ इस प्रकार के वर्णन में चन्द्रमा के प्रकाश की लोक की सीमा का अतिक्रमण करके बाहुल्य तथा उत्कर्ष के कथन की इच्छा है । चूँकि उसमें समान अभिहार के कारण अभिसारिकायें भी नहीं दिखाई पड़तीं अतः यह कान्त्यातिशय नाम का अतिशयोक्ति का भेद है । फिर भला इसका पिहित अलंकार से क्या भेद है ? उत्तर कहा जा रहा है—पिहित में चन्द्रातप के उत्कर्ष से अभिसारिका का अपकर्ष विवक्षित होगा और यहाँ तो अभिसारिका के तिरस्कार से चन्द्रातप का उत्कर्ष विवक्षित होता है ।

स्व० भा०—रुद्रट के अनुसार पिहित का लक्षण यह है—

यत्रातिप्रबलतया गुणः समानाधिकरणमसमानम् ।

अर्थान्तरं पिदध्यादाविर्भूतमपि तत्पिहितम् ॥ काव्यालंकार ९।५४॥

इसी लक्षण के अनुसार ऊपर उदाहरण में सङ्गति बैठा लेनी चाहिये ।

मल्लिकेत्यादि । ईदृश्योऽभिसारिका ज्योत्स्नायां चन्द्रकिरणेऽपि न लक्ष्यन्ते न ज्ञायन्ते केनापि । कीदृश्यः । मल्लिका मालती तस्या मालां बिभ्रति । 'मालेषीकाष्टकानां भारतूलहि(चि)तेषु' इति ह्रस्वः । सर्वाङ्गीणं सर्वाङ्गव्यापकमार्द्रं चन्दनं यासां ताः । क्षौमवत्यो दुकूलयुक्ताश्च । क्षौम इति 'टुक्षु शब्दे' इति मनिन् । क्षुमा प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् वृद्धिश्च । अत एव 'क्षुमवत्' इत्यपि पाठः । अत्र चन्द्रकान्तेरतिशयः स्फुट एव । 'अभिहारोऽभियोगः स्यात्' इति मेदिनीकारः । लोकसीमातिक्रमश्च नहि शुक्लाम्बरतया ज्योत्स्नायामभिसारिका न लक्ष्यन्त इति लोकसीमेत्यर्थः । उत्कर्षरूपस्यार्थस्योभयत्र विवक्षणात् पिहितकान्त्यतिशययोरभेदः । किमिति पृच्छति—अथेति । उत्तरम् । पिहित इति । चन्द्रातपोत्कर्षतया तौल्येऽपि पिहिते तेनाभिसारिकातिरस्कार इह तु तस्यास्तिरस्कारेण चन्द्रातपोत्कर्ष इति प्रकाराभ्यां तयोर्भेद इत्याशयः ॥

प्रभावातिशयो यथा—

तं दइआहिण्णाणं जम्मि वि अङ्गम्मि राहवेण ण णिमिअम् ।

सीआपरिमट्टेण व ऊढो तेण वि णिरन्तरं रोमञ्चो ॥ २२३ ॥

[तद्दयिताभिज्ञानं यस्मिन्नप्यङ्गे राघवेण न न्यस्तम् ।

सीतापरिमृष्टेनेवोढस्तेनापि निरन्तरं रोमाञ्चः ॥]

अत्र दयिताभिज्ञानस्य योऽयं रोमाञ्चक्रियाविशेषः स क्रियातिशयस्यैव भेदः प्रभावातिशय उच्यते ॥

प्रभावातिशय का उदाहरण—

प्रियतमा के उस चिह्न (मणि) को राम ने जिन अङ्गों में नहीं धारण किया था, उन अङ्गों ने भी सीता के स्पर्श से युक्त सा होकर रोमाञ्च धारण कर लिया ॥ २२२ ॥

यहाँ 'दयिताभिज्ञान' की जो यह रोमाञ्च की क्रिया से विशिष्टता है वह क्रियातिशय का ही भेद है जो प्रभावातिशय कहा जाता है।

तमित्यादि। 'तद्दयिताभिज्ञानं यस्मिन्नप्यङ्गे राघवेण न निर्मितम्। सीता परिस्पृष्टेनेव व्यूढस्तेनापि निरन्तरं रोमाञ्चः॥" इह तद्दयितायाः वल्लभायाः सीतायाः अभिज्ञानं चिह्नं मणिरूपं यस्मिन्नप्यङ्गे रामेण न निर्मितं न निहितं तेनाप्यङ्गेन सीतया परि सर्वतोभावेन स्पृष्टेनेव निरन्तरं यथा भवत्येवं रोमाञ्चो व्यूढो धृतः। 'अभिज्ञानं भवेच्चिह्ने' इति शाश्वतः। अत्र रोमाञ्चहेतुक्रियातिशयेन प्रभावातिशय एव विवक्षितः॥

अनुभावातिशयो यथा—

विमलिअरसाअलेण वि विसहरवइणा अदिट्ठमूलच्छेअम्।
अप्पत्ततुङ्गसिहरं तिहुअणहरणे पवढ्ढिएण वि हरिणा ॥ २२४॥

[विमर्दितरसातलेनापि विषधरपतिनादृष्टमूलच्छेदम्।
अप्राप्ततुङ्गशिखरं त्रिभुवनहरणे प्रवर्धितेनापि हरिणा ॥]

अत्र रसातलमपि मृद्नता शेषेणापि च तस्य मूलं न दृष्टम्, त्रिभुवनमप्युल्लंघयता हरिणापि न तुङ्गशिखराणि प्राप्तानीति यदेतल्लोकसीमातिक्रमेण विशेषव्यवस्थया पर्वतानुभावभणनं सोऽयमनुभूयमानमाहात्म्यातिशयस्यैव भेदोऽनुभावातिशय उच्यते ॥

अनुभावातिशय का उदाहरण—

रसातल को भी विमल कर देने वाले अथवा मर्दित कर देने वाले शेषनाग भी जिसकी जड़ का अन्त न देख सके, और त्रैलोक्यहरण के समय त्रिविक्रम भगवान् ने जिनका शरीर सभी ओर से खूब बढ़ गया था, जिसके शिखरों की ऊँचाई नहीं जान सके (वह यह सुवेल पर्वत है।)॥२२४॥

यहाँ रसातल का भी मर्दन करने वाले शेष के द्वारा भी उसका मूल नहीं देखा गया, तीनों लोकों का भी उल्लंघन करने वाले विष्णु के द्वारा भी उसकी ऊँची चोटियाँ नहीं पाई जा सकीं, इस प्रकार जो यह लोक की सीमा का अतिक्रमण करके विशेष व्यवस्था के द्वारा पर्वत के अनुभाव का कथन है वह इस अनुभूत हो रहे माहात्म्य वाले अतिशय का ही भेद अनुभवातिशय कहा जाता है।

विमलिअ इत्यादि। "विमर्दितरसातलेनापि विषधरपतिनादृष्टमूलच्छेदम्। अप्राप्ततुङ्गशिखरं त्रिभुवनहरणप्रवर्धितेनापि हरिणा॥" इह सुवेलं कीदृशम्। विषधरपतिना विशेषेणादृष्टो मूलस्य छेदः शेषो यस्य तम्। कीदृशेन। विमर्दितं विमलितं निर्मलीकृतं वा रसातलं येन तेन। पुनः कीदृशम्। हरिणा त्रिविक्रमेणाप्यप्राप्ततुङ्गशिखरम्। कीदृशेन। त्रिभुवनहरणाय सर्वतो भावाद्वर्धितेन वृद्धिं गतेन। मृद्नता मर्दयता। अत्र पर्वतानुभावातिशयविवक्षयातिशयः स च तैरनुभूयमान एव॥

अन्योन्यातिशयो यथा—

'रणदुज्जओ दहमुहो सुरा अवज्झा अ तिहुअणस्स इमे।
पडइ अणत्थोत्ति फुडं विहोसणेन फुडिआहरं णीससिअम ॥२२५॥
[रणदुर्जयो दशमुखः सुरा अवध्याश्च त्रिभुवनस्येमे ।
पतत्यनर्थं इति स्फुटं विभीषणेन स्फुटिताधरं निश्वसितम् ॥]

अत्र दशास्यः समरे न जीयते, सुराश्चामरत्वान्न वध्यन्ते, तयोश्च परस्परं संघट्टक्रियातिशयात्त्रिभुवनमपि क्षयं यास्यतीति येयमन्योन्यक्रियातिशयभणनाल्लोकसीमातिक्रमेण विशेषविवक्षा सोऽयं क्रियातिशयो नामातिशय एवान्योन्यातिशय उच्यते ॥

अन्योन्यातिशय का उदाहरण—

"रावण युद्ध में आसानी से जीता नहीं जा सकता और ये देवता भी अवध्य हैं । अतः यह तो तीनों लोकों के लिए अनर्थ आ रहा है ।" यह सोच कर विभीषण ने स्पष्ट रूप से होंठों को खोल कर निश्वास भरा ॥२२५॥

यहाँ रावण युद्ध में जीता नहीं जा सकता, देवता भी अमर होने के कारण नहीं मारे जा सकते हैं, इन दोनों के एक दूसरे से टक्कर की क्रिया के आधिक्य से तीनों लोक ही विनष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार जो यह एक दूसरे की क्रियातिशय का कथन होने के कारण लोक मर्यादा का अतिक्रमण करने से विशिष्टता की विवक्षा है, वह यह क्रियातिशय नाम का अतिशय ही अन्योन्यातिशय कहा जाता है।

स्व० भा०—भोज का अभिप्राय यह है कि जो प्रभावातिशय, अनुभावातिशय तथा अन्योन्यातिशय नाम के अलग भेद माने गये हैं वस्तुतः उनका अन्तर्भाव क्रमशः क्रियातिशय, माहात्म्यातिशय तथा क्रियातिशय में हो जाता है। उनको अलग से स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं।

रणेत्यादि। "रणदुर्जयो दशमुखः सुरा अवध्या अहो त्रिभुवनस्यासौ। पतत्यनर्थं इति स्फुटं विभीषणेन स्फुटिताधरं निश्वसितम् ॥" इह स्फुटिताधरं व्यक्तीकृताधरं यथा स्यादेवं विभीषणेन रावणभ्रात्रा निश्वसितं निश्वासस्त्यक्तः स्फुटं व्यक्तमेव। कुतः। दशास्यो रणे दुर्जयः, सुरा देवा अमरत्वादवध्याः । अहो आश्चर्यमसौ त्रिभुवनस्यानर्थः पततीति । इतिर्हेतौ । अत्र दशास्यसुरयोरन्योन्यक्रियातिशयोक्तेरन्योन्यातिशयः। सकलभुवनक्षयकारितया लोकसीमातिपातः ॥ इत्यतिशयोक्त्यलंकारनिरूपणम् ॥

(२२) श्लेषालंकारनिरूपणम्।

श्लेषं लक्षयति—

श्लेषोऽनेकार्थकथनं पदेनैकेन कथ्यते।
पदक्रियाकारकैः स्याद्भिन्नाभिन्नैः स षड्विधः ॥ ८५ ॥

(२२) श्लेषालंकार

एक ही पद के द्वारा अनेक अर्थों का कथन श्लेष कहा जाता है। वह भिन्न तथा अभिन्न रूप से प्रयुक्त पद, क्रिया तथा कारक के कारण छः प्रकार का होता है ॥८५॥

स्व० भा०—श्लेष को अर्थालंकार मानने की परम्परा बहुत पहले से है। दण्डी के भी पूर्व-

यहीं भामह ने संभवतः अपने समय में चल रहे श्लेष की शब्दाश्रयता अथवा अर्थाश्रयता की झंझट से मुक्ति पाने के लिये ही इसे शब्दार्थाश्रित माना है, किन्तु प्रबलता के कारण अर्थालङ्कारों में गणना भी की है—

उपमानेन यत्तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते॥
श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा। काव्यालंकार ३।१४,१७॥

रुद्रट का लक्षण और भी स्पष्ट है—

यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥ काव्यालंकार १०।१॥

उन्होंने इसके ही आधार पर दस अलंकार रूप दस भेद माना है।

श्लेष इति—एकेन पदेन विभक्त्यन्तेनानेकेषामर्थानां कथनं यत्र स श्लेषः कथ्यते। एकरूपान्वितमनेकार्थं वचः श्लेष इति लक्षणम्। स च षड्विधः पदादिभिः स्यात्॥

तेषु भिन्नपदो यथा—

'दोषाकरेण संबध्नन्नक्षत्रपथवर्तिना।
राज्ञा प्रदोषो मामित्थमप्रियं किं न बाधते॥२२६॥'

अत्र 'प्रदोषो रात्रेः प्रथमयामः किमिति प्रियारहितं मां न बाधते' इत्युक्तेर्युक्तिमाह—इत्थमनुभूयमानेन प्रकारेण। राज्ञा संबध्नन्। कीदृशेन। दोषाकरेण नक्षत्रपथवर्तिनेति। यो हि दोषाणामाकरेण राजमार्गातिगामिना च राज्ञा प्रकृष्टदोषः सम्बध्यते सोऽप्रियमवश्यं बाधत एव; तदत्र पूर्वस्मिन्प्राकरणिकेऽर्थे द्वितीयोऽर्थोऽप्राकरणिकः पदभेदेनोपश्लिष्यमाणो भिन्नपदश्लेषापदेशमासादयति॥

इनमें से भिन्नपद का उदाहरण—

आकाश मार्ग में अवस्थित राजा चन्द्रमा के साथ सम्बद्ध हो कर यह संध्याप्रकाल प्रियतमा से रहित मुझको क्या (उसी प्रकार) पीड़ित नहीं करता जिस प्रकार कि दोषों की खान क्षत्रियोचित मार्ग पर आरूढ़ न रहने वाले राजा के साथ मिलकर अत्यधिक दोषों से युक्त दुर्जन मुझ अपने शत्रु को पीड़ित करता है॥२२६॥

यहाँ 'प्रदोष अर्थात् रात्रि का प्रथम प्रहर क्या इस प्रकार से प्रियाहीन मुझको पीड़ित नहीं करता' इस कथन की संगति कही गई है—इत्थम् अर्थात् अनुभव की जा रही रीति से। राजा से सम्बन्ध रखते हुए। किस प्रकार के (राजा से), (जो) दोषाकर (तथा) नक्षत्रपथवर्ती है। दोषों के विधान तथा राजमार्ग का अतिक्रमण करने वाले राजा से भयङ्कर दोष करने वाला व्यक्ति सम्बद्ध हो जाता है, वह अवश्य अपने शत्रु को पीड़ित करता ही है। जो यहाँ पूर्व प्रसङ्ग से सम्बद्ध अर्थ के निकल आने पर दूसरा अप्रासंगिक अर्थ पद को खण्ड कर उपश्लिष्ट हो रहा है वह भिन्नपद-श्लेष का नाम प्राप्त करता है।

स्व० भा०—यहाँ 'दोषाकर', 'नक्षत्रपथवर्ती', 'प्रदोष' तथा 'अप्रिय' शब्दों में श्लेष है। ये (दोषा + कर तथा दोष + आकर), (नक्षत्र + पथ + वर्ती तथा न + क्षत्र + पथ + वर्ती), (प्रदोष—संध्या तथा प्रकृष्ट दोष वाला) (अप्रिय = शत्रु तथा प्रिया से हीन) विभिन्न अर्थ पदों को बीच में

से तोड़ने से निकलते हैं, अतः यह भिन्न-पद श्लेष है। केवल 'राजा' पद श्लिष्ट होते हुये भी भिन्न नहीं है।

दोषेत्यादि। प्रकृष्टो दोषो दूषणं यस्य स दुर्जनो मां किं न बाधते, किन्तु बाधत एव। मां कीदृशम्। अप्रियं तस्य द्वेष्यम्। कीदृशः। इत्थमनुभूयमानेन प्रकारेण राज्ञा भूपेन सह संबध्नन् युञ्जन्। आत्मानमित्यध्याहार्यम्। अत्र कर्मवद्भावो न कृतः संबध्यमान इत्यर्थत्वात्। राज्ञा कीदृशेन। दोषाणां दूषणानामाकरेण स्थानेन। क्षत्रपथः क्षत्रियमार्गस्तत्र वर्तितुं शीलं यस्य तेन। पश्चात्प्रकारसम्बन्धः। क्षत्रियधर्मशून्येनेत्यर्थः। पक्षे प्रदोषो रजनीमुखं मामप्रियं प्रियारहितं किं न बाधते किन्तु बाधत एव। कीदृशः। राज्ञा चन्द्रेणेत्थं सम्बध्यमानः। कीदृशेन। दोषाकरेण रात्रिकरेण। नक्षत्रपथं व्योम तदवस्थितिशीलेन च। अत्र राजपदमभिन्नम्। शेषपदानां भेदाद्भिन्नपदश्लेषः॥

अभिन्नपदो यथा—

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।

राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः॥ २२७॥

अत्रायमुदीयमानश्चन्द्रमा लोकस्य हृदयं हरतीत्युक्तेर्युक्तिमाह—राजानुरक्तमण्डल उदयी मृदुकरः कान्तिमानिति। यो ह्येवंभूतो राजा सोऽवश्यं लोकस्य हृदयहारी भवति। अत्रापि च प्राकरणिकेऽर्थेऽप्राकरणिक उपश्लिष्यमाणः पदानामभेदेनाभिन्नपदश्लेषो भवति॥

अभिन्नपद का उदाहरण—

यह वृद्धि को प्राप्त, शोभायुक्त, अनुरक्त देश वाला राजा अपने हल्के करों (टैक्स) से लोक हृदय (उसी प्रकार अपनी ओर) आकृष्ट कर लेता है, (जिस प्रकार) उदयाचल पर आ गया, दीप्तियुक्त, लालबिम्ब वाला चन्द्रमा अपनी कोमल किरणों से लोक का हृदय अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है॥२२७॥

'यहाँ यह उदय हो रहा चन्द्रमा लोक के हृदय को हर रहा है' इस कथन की युक्तता कही जा रही है—राजा, अनुरक्तमण्डल, उदयी, मृदुकर, कान्तिमान्। जो इस प्रकार का राजा है वह निश्चित ही लोक के हृदय को आकृष्ट करने वाला हो जाता है। यहाँ भी प्रसङ्ग प्राप्त अर्थ में अप्रासंगिक अर्थ उपश्लिष्ट हो रहा है। अतः यहाँ पदों को भिन्न न करने से ही अभिन्न पद श्लेष होता है।

असावित्यादि। असौ राजा नृपो मृदुभिरपीडाकरैः करै राजग्राह्यैर्लोकस्य हृदयं हरति। कीदृशः। उदयं वृद्धिमारूढः प्राप्तः। कान्तिमान् शोभायुक्तः। रक्तमनुरक्तं मण्डलं देशो यस्य सः। पक्षे असौ राजा चन्द्रः करैः किरणैर्मृदुभिः शीतलैर्जनस्य हृदयं हरति गृह्णाति। कीदृशः। उदयमुदयाद्रिमुपगतः। कान्तिमान् दीप्तियुक्तो रक्तमण्डलो लोहितबिम्बश्च। 'उदयो वृद्धावुदयपर्वते' इति विश्वः। 'मण्डलं बिम्बदेशयोः' इति च। अत्र राजादिपदानामभेदेनाभिन्नपदश्लेषत्वम्॥

भिन्नक्रियो यथा—

मधुरा रागवर्धिन्यः कोमलाः कोकिलागिरः।

आकर्ण्यन्ते मदकलाः श्लिष्यन्ते चासितेक्षणाः॥ २२८॥

अत्र 'आकर्ण्यन्ते, श्लिष्यन्ते च' इति क्रियापदद्वितयस्य प्राधान्यतः समु-

च्चयेनोपात्तस्य 'मधुरा–' इत्यादिभिः श्लिष्टपदैः 'कोकिलागिरः'; 'असितेक्षणाः' इति वा विशेष्यैकपदवर्जं पर्यायतः सम्बन्धो भवति। तद्यथा—आकर्ण्यन्ते। काः। कोकिलागिरः। कीदृश्यः। मधुराः, रागवर्धिन्यः, कोमलाः। पुनरपि किंभूताः। आसिते उपवेशिते निश्चलीकृते अन्तःप्रमोदानुभावादीक्षणे याभिस्तास्तथा। सर्वोऽपि हि मधुरं शब्दमाकर्णयन् निश्चलाक्षो भवति। श्लिष्यन्ते च। काः। असितेक्षणाः हरिणचक्षुषः। किंभूताः। मदकलाः, कोकिलागिरः, कोमलाः, रागवर्धिन्यः, मधुरा इति। सोऽयं द्वयोर्विभिन्नक्रिययोर्भिन्नार्थे च रूपिणां पदार्थानामुपश्लेषो भिन्नक्रियः श्लेष उच्यते॥

भिन्नक्रिया का उदाहरण—

कर्णप्रिय, राग को बढ़ाने वाली, मृदु तथा मद से प्रिय लगने वाली कोयल की आवाजें सुनी जाती हैं तथा मधुरता से भरी हुई, प्रेम को दीप्त करने वाली सुकुमार और गर्व से मत्त काले-नयनों वाली सुन्दरियाँ आलिङ्गित होती हैं॥२२८॥

यहाँ 'आकर्ण्यन्ते' तथा 'श्लिष्यन्ते' इन प्रधानतः समुच्चयबोधक 'च' से युक्त दोनों क्रिया पदों का 'मधुरा......'' इत्यादि श्लिष्ट पदों के साथ 'कोकिलागिरः'' अथवा 'असितेक्षणाः' से एक एक विशेष्य पद को छोड़कर क्रमशः—एक एक सम्बन्ध होता है। वह इस प्रकार से—सुनी जाती है। क्या ? कोयलों की आवाजें ! किस प्रकार की ? मधुर, रागवर्धिनी और कोमल। और भी किस प्रकार की। आसित कर दी गई हैं, लगा दी गई हैं, एकटक कर दी गई हैं, आन्तरिक आनन्द के अनुभव से दोनों आँखे जिनके द्वारा 'वे' वैसी। सभी लोग मधुर शब्द को सुनते समय स्थिरदृग् हो जाते हैं। और आश्लिष्ट की जाती है। कौन ? असितेक्षणाः हरिण के सदृश नयनों वाली। किस प्रकार की है ? मदकल, कोकिलगिरावाली, कोमल, रागवर्धिनी तथा मधुर। अतः यह दोनों भिन्न-भिन्न क्रियाओं का भिन्न-भिन्न अर्थ में रूप वाले पदों का उपश्लेष होता है। अतः यह भिन्नक्रिय श्लेष कहा जाता है।

मधुरा इत्यादि। कोकिलागिर आकर्ण्यन्ते, असितेक्षणाः, श्यामनेत्राः प्रियानाश्लिष्यन्ते च। कीदृश्यः। मधुराः श्रुतिसुखा रम्याश्च। रागवर्धिन्योऽनुरागजनिका रतिजनिकाश्च। कोमला मनोज्ञा मृद्वङ्ग्यश्च। मदकला यौवनवसन्तादिकृतमदमधुराः। मदेन मद्यविकारेण कलध्वनियुक्ताश्च। आसिते निश्चलीकृतेऽन्तःप्रमोदानुभवादीक्षणे याभिस्तासां मधुरं रवमाकर्णयन्निश्चलाक्षो भवति। पक्षेऽसितेक्षणाः। कीदृश्यः। कोकिलानामिव गिरो यासां ताः। अत्र क्रियाभेदाद्भिन्नक्रियत्वमितरपदानामभिन्नानामेवार्थद्वयबोधकता॥

अभिन्नक्रियो यथा—

> स्वभावमधुराः स्निग्धाः शंसन्त्यो रागमुल्बणम्।
> दृशो दूत्यश्च कर्षन्ति कान्ताभिः प्रेषिताः प्रियान्॥ २२९॥

अत्र 'कर्षन्ति' इत्येतस्यां क्रियायां दृशां दूतीनां च श्लिष्टपदत्वेनावेशादयमभिन्नक्रियो नाम श्लेषविशेषः। प्रथमयोरस्य वा को विशेष इति चेत्। तत्रैकस्यैव प्राकरणिकत्वम्; अत्र तु द्वयोरपीति। अयं च भिन्नकारकोऽपि भवति॥

अभिन्नक्रिय का उदाहरण—

स्वाभाविक रूप से मधुर, स्नेहमयी, अधिक लाली को प्रकट करने वाली, कान्ताओं के द्वारा

प्रियों के ऊपर डाली गई निगाहें तथा स्वभाव से मधुर, आत्मीय, अधिक प्रेम को प्रकट करने वाली प्रियों के पास भेजी गई दूतियाँ प्रेमियों को आकृष्ट कर लेती है ॥२२९॥

यहाँ 'कर्षन्ति' इस क्रिया में दृष्टियों तथा दूतियों का पद के श्लिष्ट होने के कारण सन्निवेश होने से यह अभिन्नक्रिय नाम का विशेष श्लेष है। यदि यह शंका हो कि प्रथम दोनों अथवा इसमें क्या अन्तर है ? (तो उत्तर है कि) उनमें एक की ही प्राकरणिकता थी, यहाँ तो दोनों की ही। (अनेक कर्त्ता होने से) यह (श्लोक) भिन्न कारक का भी (उदाहरण) होता है।

स्वभावेत्यादि। कान्ताभिः प्रेषिता दृशो दूत्यश्च प्रियान् वल्लभान् कर्षन्ति। कीदृश्यः। स्वभावेन सहजेन मधुरा ललिताः। तदुक्तं मत्संगीतसर्वस्वे—'मधुरा कुञ्चितान्ता च सभ्रूक्षेपा च सस्मिता। समन्मथविकारा च दृष्टिः सा ललिता मता ॥' इति। स्निग्धाः स्नेहवत्यः। उल्बणमधिकं रागं लौहित्यं शंसन्त्यः। पक्षे सहजमधुराः। यद्वा स्वभावात्प्रियवादिन्यः स्निग्धा आत्मीयाः। अधिकं रागं मन्मथविकारकृतं शंसन्त्यः। यद्वा रागमनुरागं कथयन्त्यः। अत्र प्रियाकर्षणरूपैकैव क्रिया साधारणीत्येकक्रियात्वम्। भिन्नपदाभिन्नपदाभ्यामस्य च को भेद इति पृच्छति—प्रथमयोरिति। वाशब्दश्चार्थे। उत्तरम्—तत्रेति। तयोरेकैकस्यैव प्रकरणापन्नत्वमत्र तु दृष्टं द्वयोरपि प्राकरणिकत्वमिति भेद इत्यर्थः। अनेककर्तृकत्वेनायं भिन्नकारकोदाहरणमपीत्याह—अयमिति।

भिन्नकारको यथा—

गतिर्वेणी च नागेन वपुरूरू च रम्भया।
ओष्ठौ पाणी प्रवालैश्च तस्यास्तुल्यत्वमाययुः ॥ २३० ॥

अत्रैकस्मिन् पक्षे धर्मधर्मिणोरभेदोपचारान्नागगतिर्गृह्यते। तत्र गतेर्वेण्याश्च नागेन हस्तिना अहिना च तुल्यत्वम्, वपुष ऊर्वोश्च रम्भया कदल्या अप्सरोभिश्च तुल्यत्वम्, ओष्ठयोः पाण्योश्च प्रवालैर्विद्रुमैर्नवपल्लवैश्च तुल्यत्वं वर्णनीययोः श्लेषप्रभावाल्लभ्यते, सोऽयमनेककर्तृकत्वाद्भिन्नाकार इति श्लेषो भवति ॥

भिन्न कारक का उदाहरण—

उस सुन्दरी की चाल तथा जूड़े ने नाग—क्रमशः हाथी तथा सर्पिणी की, शरीर तथा जघन ने रम्भा—क्रमशः रम्भा नाम की अप्सरा तथा कदलीस्तम्भ—की, दोनों ओष्ठ तथा दोनों हाथों ने प्रवालो—क्रमशः मूँगा तथा पल्लव—की तुल्यता प्राप्त कर ली ॥२३०॥

यहाँ एक पक्ष में धर्म तथा धर्मी दोनों के अभेदग्रहण से नाग की गति का ग्रहण होता है। वहाँ गति तथा वेणी की नाग—हाथी तथा साँप से तुल्यता, शरीर तथा ऊरु की रम्भा—अप्सरा तथा कदली से तुल्यता, दोनों ओष्ठों और दोनों हाथों की प्रवालों से—मूँगे तथा नवपल्लवों से तुल्यता दोनों वर्णनीयों में श्लेष के प्रभाव से प्राप्त होती है। यह अनेक कर्त्ताओं के होने से भिन्नकारक नाम का श्लेष होता है।

गतिरित्यादि। तस्या नायिकाया गतिर्गमनं वेणी केशरचना च नागेन हस्तिना सर्पेण च, तस्या वपुरूरुद्वयं च रम्भयाऽप्सरोभेदेन कदल्या च, तस्याः पाणी हस्तावोष्ठौ च प्रवालैर्विद्रुमैः पल्लवैश्च सर्वाणि तुल्यत्वमाययुः। 'नागो हस्तिभुजङ्गयोः' इति शाश्वतः। 'कदल्यप्सरसो रम्भा' इति च। 'पल्लवे विद्रुमे चापि प्रवालः' इति धरणिः। गतिनानात्वादाह—धर्मेति। अत्र नानाकर्तृकत्वादेव भिन्नकारकता ॥

अभिन्नकारको यथा—

कृष्णार्जुनानुरक्तापि दृष्टिः कर्णावलम्बिनी।
याति विश्वसनीयत्वं कस्य ते कलभाषिणि ॥ २३१ ॥

अत्र हे कलभाषिणि, कस्य ते दृष्टिर्विश्वास्या भवति' इत्युक्तेर्युक्तिमाह—'कृष्णार्जुनानुरक्तापि कर्णावलम्बिनी' इति च। या हि कृष्णार्जुनेनानुरज्यते कथं सा कर्णपक्षपातिनी भवति, या चैवमुभयगता तस्यां को विश्वसिति, स चायमेककर्तृकत्वादभिन्नकारक इति श्लेषो भवति ॥

अभिन्नकारक का उदाहरण—

हे मधुवचन वाली, तुम्हारी काली, धवल तथा किनारों पर लाल होती हुई भी कानों तक लम्बी और कृष्ण तथा अर्जुन से प्रेम करती हुई भी कर्ण का पक्ष लेने वाली दृष्टि है, अतः यह किसका विश्वासप्राप्त बन सकेगी? ॥२३१॥

यहाँ हे कलभाषिणि, किसको तुम्हारी दृष्टि विश्वसनीय होगी, इस उक्ति की युक्तता को कहा जाता है—'कृष्णार्जुनानुरक्तापि कर्णावलम्बिनी'। जो कृष्ण तथा अर्जुन से प्रेम करती है कैसे वह कर्ण का पक्षपात करने वाली होगी, और जो इस प्रकार से दोनों ओर है उसमें कौन कौन विश्वास करेगा। तो यहाँ एक ही कर्तृकता के कारण अभिन्न कारक यह श्लेष होता है।

स्व० भा०—'दृष्टि' ही यहाँ अकेला कर्तापद है।

कृष्णेत्यादि। हे कलभाषिणि मधुरवचने, तव दृष्टिः कस्य विश्वसनीयत्वं विश्वासविषयतां याति किन्तु न कस्यापि। अत्र हेतुः कृष्णा श्यामा, अर्जुना धवला, अनुरक्ता प्रान्तलोहिता च। प्रादेशिकोऽयं क्रमः। कर्णपर्यन्तगामिनी च। पक्षे कृष्णे हरौ, अर्जुने पार्थे चानुरक्तानुरागवती कर्णपक्षपातिनी च या सा विरुद्धोभयगता कथं विश्वसनीया भवति। 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरः। अत्र कर्तुरेकतयाभिन्नकारकता ॥ इति श्लेषालंकारनिरूपणम् ॥

(२३) भाविकालकारनिरूपणम्।

भावनालक्षणमाह—

स्वाभिप्रायस्य कथनं यदि वाप्यन्यभावना।
अन्यापदेशो वा यस्तु त्रिविधं भाविकं विदुः ॥ ८६ ॥
मते चास्माकमुद्भेदो विद्यते नैव भाविकात्।
व्यक्ताव्यक्तोभयाख्याभिस्त्रिविधः सोऽपि कथ्यते ॥ ८७ ॥

(२३) भाविकालंकार

अपने आशय का कथन, अन्य का कथन अथवा अन्य का उपदेश जो है वह यदि हो, तो (इस प्रकार से होने वाला भाविक तीन प्रकार से माना गया है। हमारे मत में तो उद्भेद नाम का अलंकार भाविक से पृथक् नहीं है। वह उद्भेद भी व्यक्त, अव्यक्त तथा व्यक्ताव्यक्त या उभय नामों से तीन प्रकार का कहा जाता है। (८६-८७)

स्व० भा०—भोज ने भाविक के भेदों का तो नाम लिया किन्तु उसका स्पष्ट लक्षण नहीं दिया। भामह ने भी लक्षण न देकर, केवल इतना कहा है—

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता ।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥ काव्यालंकार ३।५

इसकी स्पष्ट परिभाषा दण्डी ने दी है, यद्यपि इनके भी लक्षण का पूर्वार्ध भामह के लक्षण से अभिन्न है—

तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः ॥
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम् ।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रियास्थानवर्णना ॥
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः ।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥ काव्यादर्श २।३६४-६ ॥

इसी को रुद्रट ने भाव संज्ञा दी है । उनके अनुसार—

यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥ काव्यालंकार ७।३८॥

स्वेत्यादि । निजाशयकथनमन्यकथनमन्यापदेशश्च भाविकम् । भावे कवेरभिप्राये भवं भाविकमित्यन्वर्थनामतापि । उद्भेदभाविकयोरभेदमाह—मत इति । सोऽपि उद्भेदोऽपि ॥

तत्र भाविकभेदेषु स्वाभिप्रायकथनं यथा—

णावज्झइ दुग्गेज्झिआ दिट्ठम्मि जम्मि भिउडिआ
जत्थ ण अव्वाहारओ घिप्पइ आहासत्तए ।
विच्छुड्डइ अहिंणिदए जत्थ ण सो वअंसिआ
तं मे कहउ माणअं जइ मे इच्छहि जीअअम् ॥२३२॥

[नाबध्यते दुर्गृहीता दृष्टे यस्मिन् भृकुटिका
यत्र नाव्याहारो गृह्यते आभाषमाणे ।
विक्षुभ्यतेऽभिनिन्द्यते यत्र न स वयस्यया
तं मे कथय मानं यदि मे इच्छसि जीवनम् ॥]

अत्र भ्रूभेदासम्भाषणप्रियतमावक्षेपान् प्रत्यनभिमतप्रतिपादनरूपस्याभिप्रायस्य कथितत्वादिदं स्वाभिप्रायकथनं नाम भाविकम् ॥

उन भाविक के भेदों में स्वाभिप्रायकथन का उदाहरण—

जिसके दिख जाने पर दुर्ग्राह्य भ्रूभङ्ग नहीं बँध पाता, जहाँ बोलने पर उक्ति का भी ग्रहण नहीं हो पाता, सखी के द्वारा जहाँ पूर्ण निन्दा करने पर भी विक्षोभ नहीं होता, मुझसे उस मान के विषय में कहो, यदि मेरा जीवन अभीष्ट है ॥ २३२ ॥

यहाँ भ्रूभङ्ग, असंभाषण तथा प्रियतम की निन्दा के प्रति अनभीष्ट के कथन रूप अभिप्राय का निरूपण होने से, यह स्वाभिप्रायकथन नाम का भाविक है ।

णावज्जइ इत्यादि । "नाबध्यते दुर्ग्राह्या दृष्टे यस्मिन् भ्रुकुटिका, यत्र न च (चा)व्याहारो गृह्यते आभाषमाणे । विक्षुभ्यतेऽभिनीयमाने यत्र न स वयस्यया, तं मे कथय मानं

यदि मे इच्छसि जीवितम् ॥" इह यस्मिन् दृष्टे दुर्ग्रहा भ्रुकुटिर्नाबध्यते समन्तान्न बध्यते यत्राभाषमाणेऽप्याहारो न च गृह्यते। यत्राभिनीयमाने वयस्यया स न क्षुभ्यते तं मानं मम कथय यदि मम जीवनमिच्छसि। अत्रानाकाङ्क्षितरूपस्याभिप्रायस्य कथनम् ॥

अन्यभावना यथा—

दंसणवलिअं दढकं विबन्धणं दीहरं सुपरिणाहम्।
होइ घरे साहीणं मुसलं धण्णाणं महिलाणम् ॥ २३३ ॥
[दंशनवलितं दढकं विबन्धनं दीर्घं सुपरिणाहम्।
भवति गृहे स्वाधीनं मुसलं धन्यानां महिलानाम् ॥]

अत्र मेढ्रभावनया मुसलरूपस्योक्तत्वादिदमन्यभावनाभिधानं भाविकम् ॥

अन्यभावना का उदाहरण—

(भगमर्दन में संनद्ध, दृढ़, बिना बन्धनवाले, लम्बे तथा स्थूल (पुरुष के लिङ्ग की भाँति) धान कूटने में लगा हुआ कठोर, निर्बन्ध, लम्बा तथा मोटा मूसल स्वच्छन्द रूप से निश्चयत सौभाग्यवती स्त्रियों के ही आधीन रहा करता है ॥ २३३ ॥

यहाँ लिङ्ग की भावना से मूसल के रूप का कथन करने से यह अन्यभावनाभिधान नामक भाविक है।

दंसणेत्यादि। "दंशनेन वलितं दढकं विबन्धनं दीर्घं सुपरिणाहम्। भवति गृहे स्वाधीनं मुसलं धन्यानां महिलानाम् ॥" इहोत्तमस्त्रीणां गृहे ईदृशं मुसलं स्वायत्तं भवति। कीदृशम्। दंशने धान्यादिमर्दने वलितं लग्नम्। दढकं दृढम्। स्वार्थे कन्। विगतबन्धनं दीर्घं सुपरिणाहमतिस्थूलं च। मेढ्रपक्षे दंशने भगमर्दने वलितं सन्नद्धं दृढं विगतबन्धनं दीर्घमतिस्थूलं च। अत्र मेढ्राभिप्रायेण मुसलोक्तेरन्यभावना ॥

अन्यापदेशो यथा—

आसाइअमण्णाएण जेत्तिअं तेत्तिअं चिअ विहिणम्।
ओरमसु वसह एण्हि रक्खिज्जइ गहवइच्छेत्तम् ॥२३४॥
[आस्वादितमज्ञातेन यावत्तावदेव व्रीहीणाम्।
उपरम वृषभेदानीं रक्ष्यते गृहपतिक्षेत्रम् ॥]

अत्र परक्षेत्रस्य घस्मरवृषनिवारणापदेशेन चिरात्परिज्ञात उपपतिर्निवार्यते, तदिदमन्यापदेशाख्यं भाविकम् ॥

अन्यापदेश का उदाहरण—

चूँकि किसी अनजान ने उसका आस्वाद ले लिया है, अतः हे वृषभ अब धानों से रुक जाओ, क्योंकि इस समय घर के मालिक का क्षेत्र रखाया जा रहा है ॥ २३४ ॥

यहाँ दूसरे के क्षेत्र में खाऊ बैल के निवारण के बहाने, बहुत समय से परिचित उपपति निवारित किया जा रहा है, अतः यह अन्यापदेश नामक भाविक है।

आसाइअ इत्यादि। "आस्वादितमज्ञातेन यावत्तावतैव बन्धय धृतिम्। उपरमस्व वृषभात्र रक्षयित्वा गृहपतिक्षेत्रम् ॥" इह हे वृषभ, गृहपतिक्षेत्रं रक्षयित्वा त्वमुपरमस्व क्रीडय। अज्ञातेन त्वया यावदेवास्वादितं तावतैव धृतिं बन्धय। अत्र वृषभनिवारणव्याजेनोपपतिनिवारणमन्यापदेशः ॥

उद्भेदेषु व्यक्तो यथा—

मंतेसि महुमहपणअं संदाणेसि तिअसेसपाअवरअणम्।
ओजसु मुद्धसुहावं संभावेसु सुरणाह जाअवलोअम् ॥२३५॥
[मनुषे मधुमथप्रणयं संदानयसि त्रिदशेशपादपरत्नम्।
अपजहि मुग्धस्वभावं संभावय सुरनाथ यादवलोकम् ॥]

अत्र मायाविनो महेन्द्रस्याभिप्रायः सत्यकेन व्यक्तमेवोद्भिन्न इति व्यक्तोऽयमुद्भेदः ॥

व्यक्त उद्भेद का उदाहरण—

हे देवराज, यदि कृष्ण के प्रति प्रेम को स्वीकार करते हो, तब उन देव को कल्पवृक्ष का दान कर देने पर अपने मुग्ध स्वभाव को छोड़ दो और यादव के कुलों को देखो ॥ २३५ ॥

यहाँ मायावी इन्द्र का अभिप्राय (उनके सारथी) सत्यक के द्वारा व्यक्त रूप से उद्भिन्न किया गया है, अतः यह व्यक्त उद्भेद है।

मन्तेसीत्यादि। "मनुषे मधुमथप्रणयं संदानयसि त्रिदशेश पादपरत्नम्। अपजहि मुग्धस्वभावं संभावय सुरनाथ यादवलोकम् ॥" इह हे सुरनाथ इन्द्र, यदि मधुमथस्य कृष्णस्य प्रणयं प्रीतिं मनुषे स्वीकरोषि। देवे पादपरत्नं पारिजातवृक्षं सददाने सति मुग्धं स्वभावं मौग्ध्यमपजहि त्यज। यादवलोकं संभावय प्रीणय। अत्रेन्द्राभिप्रायः सत्यकेन सत्सारथिना व्यक्तः प्रकाशितः ॥

अव्यक्तो यथा—

निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२३६॥

अत्र 'वापीं स्नातुमिता गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्' इत्याक्षेपवता प्राकरणिकोदाहरणेन यद्यपि दूत्या दुश्चेष्टितं निर्भिन्नं तथापि न पूर्ववद्व्यक्तमित्यव्यक्तोऽयमुद्भेदः ॥

अव्यक्त का उदाहरण—

तुम्हारे स्तनप्रदेश से पूर्णतः चन्दन च्युत हो गया है, अधर की लाली पुँछ गयी है। तुम्हारे नेत्रों से बिलकुल ही कज्जल हट गया है। तुम्हारी यह दुबली देह भी रोमाञ्चित है। अरी झूठ बोलने वाली, अपने प्रियजनों की पीड़ा को न समझने वाली दूती, तू तो यहाँ से वापी को नहाने गयी थी, उस नीच के पास तो नहीं ॥ २३६ ॥

यहाँ 'वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।' इस आक्षेप से युक्त प्रासंगिक उदाहरण के द्वारा यद्यपि दूती के दुष्ट प्रयास व्यक्त हो जाते हैं, फिर भी पहले की भाँति व्यक्त नहीं होते। अतः यह अव्यक्त उद्भेद है।

निःशेषेत्यादि। हे दूति, इतः स्थानात्वं वापीं पुष्करिणीं स्नातुं गतासि। तस्याधमस्यान्तिकं न गतासि। हे मिथ्यावादिनि, हे सुहृज्जनस्याज्ञातदुःखागमे। स्नानचिह्नान्याह—स्तनतटं निःशेषच्युतचन्दनमशेषच्युतचन्दनमस्ति। तवाधरोऽपि त्यक्त-

कौटिल्यः। तव नेत्रेऽत्यर्थमञ्जनशून्ये। तथा तवेयं तन्वी कृशा तनुः शरीरं पुलकिता रोमाञ्चवती च। अत्र स्नानसंभोगयोस्तुल्यचिह्नस्योपदर्शनेन प्रकरणपरिप्राप्तं दूतीदुश्चेष्टितमुद्भिन्नम्, न च प्राग्वद्व्यक्तता ॥

उभयरूपो यथा—

अम्लानोत्पलकोमले सखि दृशौ नीलाञ्जनेनाञ्चिते
कर्पूरच्छुरणाच्च गण्डफलके संवेल्लितः पाण्डिमा।
श्वासाः सन्तु च कन्दुकभ्रमिभुवः किंतु प्रभावाहिना-
मङ्गानां कृशिमानमुत्कटममुं को नाम नोत्प्रेक्षते ॥ २३७ ॥

अत्र 'दृशोर्म्लानता, गण्डयोः पाण्डुरत्वम्, श्वासानां दैर्घ्यम्' इत्युत्कण्ठाचिह्ननिह्नवाय योऽयमविनयवत्या नीलाञ्जनादिप्रयोगस्तस्य तथाभ्युपगमेऽपि 'अङ्गानां कृशिमानमुत्कटममुं को नाम नोत्प्रेक्षते' इति योऽयं सख्याऽध्याहारस्तेन तदभिप्राय उद्भिन्नाऽनुद्भिन्नश्च भवतीत्युभयरूपोऽयमुद्भेदः। तेऽमी त्रयोऽप्युद्भेदा भाविकान्न भिद्यन्ते ॥

उभयरूप का उदाहरण—

हे सखि, यद्यपि तुम्हारे दोनों नयन नवीन नीलकमल की भाँति कोमल तथा नीले अञ्जन से सुशोभित हैं, यद्यपि दोनों ही कपोलफलकों पर कपूर मलने से पाण्डुता आ गई है, यह भी सम्भव है कि तुम्हारे ये साँस गेंद खेलते समय दौड़ने के कारण हों, तथापि तुम्हारे इन कान्तियुक्त अङ्गों की स्पष्ट दुर्बलता का भला कौन अन्दाज नहीं लगा सकेगा ॥ २३७ ॥

यहाँ नयनों में म्लानता, कपोलों पर पाण्डुरता, साँसों की दीर्घता इन उत्कण्ठा के चिह्न को छिपाने के लिये जो यह असती का नीलाञ्जन आदि का प्रयोग है, उसके वैसा रहने पर भी "अङ्गानां कृशिमानमुत्कटममुं को नाम नोत्प्रेक्षते" इस प्रकार की जो यह सखी की उक्ति है उससे उसका अभिप्राय व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। अतः यह उभयरूपात्मक उद्भेद है। ये तीनों ही उद्भेद भाविक से भिन्न नहीं हैं।

अम्लानेत्यादि। किन्तु हे सखि, तवाङ्गानाममुमुत्कटं कृशिमानं कृशत्वं को न नामोत्प्रेक्षते किन्तून्नयत एव। यद्यपि तव दृशावम्लाने म्लानिहीने उत्पन्ने इव कोमले मनोज्ञे स्तः। कीदृशौ। नीलकज्जलेनाञ्चिते। यतः कर्पूरस्य छुरणात् सम्बन्धात् पाण्डिमा पाण्डुरत्वं गण्डफलके संवेल्लितः संबद्धः। श्वासाश्च कन्दुकक्रीडनार्थं या भ्रमिर्भ्रमणं तत्प्रभवाः सन्तु। अङ्गानां कीदृशानाम्। प्रभावाहिनां प्रभां दीप्तिं वोढुं धर्तुं शीलं येषां तेषाम्। सहजरम्याणामित्यर्थः। अविनयवत्या असत्याः। अत्राविनयवत्या आशयः किञ्चिद्व्यक्तीकृतः। किञ्चिच्चाव्यक्तीकृत इत्युभयरूपता ॥ इति भाविकालंकारनिरूपणम् ॥

(२४) संसृष्ट्यलंकारनिरूपणम्।

संसृष्टिलक्षणमाह—

संसृष्टिरिति विज्ञेया नानालंकारसंकरः।
सा तु व्यक्ता तथाऽव्यक्ता व्यक्ताव्यक्तेति च त्रिधा ॥८८॥
तिलतण्डुलवद्व्यक्ता छायादर्शवदेव च।

अव्यक्ता क्षीरजलवत्पांसुपानीयवच्च सा ॥ ८८ ॥
व्यक्ताव्यक्ता च संसृष्टिर्नरसिंहवदिष्यते ।
चित्रवर्णवदन्यस्मिन्नानालंकारसंकरे ॥ ९० ॥

(२४) संसृष्टि अलंकार

अनेक अलंकारों का संकर संसृष्टि के नाम से जाना जाना चाहिये। वह संसृष्टि व्यक्ता, अव्यक्ता तथा व्यक्ताव्यक्ता तीन प्रकार की है। जो व्यक्ता है यह तिलतण्डुल सदृश अथवा छाया और आदर्श की भाँति, जो अव्यक्ता है वह दूध और जल की भाँति तथा धूलिकण और जल की भाँति और जो व्यक्ताव्यक्ता संसृष्टि है वह नरसिंह की भाँति अथवा चित्रलिखितवर्णिका की भाँति भिन्न-भिन्न अलंकारों के दूसरे में मिलने से होती है ॥ ८८–९० ॥

स्व० भा०—संसृष्टि अलंकार को भामह ने भी स्वीकार किया था। उनके अनुसार—

वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलंकारयोगतः ।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ॥ काव्यालंकार ३।४९ ॥

उन्होंने यह भी छूट दे दी है कि अलंकारों का मेल अनन्त है, अतः—

अन्येषामपि कर्त्तव्या संसृष्टिरनया दिशा ।
कियदुद्घटितशेभ्यः शक्यं कथयितुं मया ॥ वही ५२ ॥

आचार्य दण्डी ने भामह के विचारों को थोड़ा-सा आगे बढ़ाया। उन्होंने—"नानालंकार संसृष्टिः संसृष्टिस्तु निगद्यते ॥ काव्यादर्श २।३५९। कहकर आगे भेदोपभेदों के लिये भी मार्ग प्रशस्त कर दिया—

अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता ।
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः ॥ वही, ३६० ॥

दण्डी ने जो भेद की कल्पना की थी उसे रुद्रट ने उदाहरणों से और भी स्पष्टरूप में उपस्थित किया है—

योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च ।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात् संकर उत्पद्यते द्वेधा ॥ काव्यालंकार १०।२५॥

रुद्रट ने इसे संकर नाम दिया है। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने संसृष्टि तथा संकर दोनों को पृथक् पृथक् स्वीकार किया है, यद्यपि दोनों का आधार अलंकारों के एक स्थान पर मिलते ही हैं।

संसृष्टिरिति। नानालंकाराणां संकरोऽपि......संसृष्टिः। छायेति। प्रतिबिम्बदर्पणवदित्यर्थः। क्षीरं दुग्धम्। पांसुर्धूलिः। चित्रेति। चित्रलिखितवर्णिकावदित्यर्थः।

व्यक्ता तिलतण्डुलवद्यथा—

पिनष्टीव तरङ्गाग्रैरुदधिः फेनचन्दनम् ।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः ॥ २३८ ॥

अत्रोत्प्रेक्षाद्वयम्, रूपकद्वयं च तिलतण्डुलवत्संकीर्यते ॥

व्यक्ता तिलतण्डुलवत् का उदाहरण—

समुद्र अपनी तरङ्गों के अग्रभाग से फेनरूपी चन्दन को पीस-सा रहा है और अपनी किरणों से उसे लेकर चन्द्रमा मानों दिग्वधुओं को लेप कर दे रहा है ॥ २३८ ॥

यहाँ दो उत्प्रेक्षायें तथा दो रूपक तिल तथा तण्डुल की भाँति (स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् प्रतिभासित होने पर भी) मिल रहे हैं।

स्व० भा०—दोनों 'इव' से उत्प्रेक्षा व्यक्त है 'फेनचन्दन' तथा 'दिगङ्गना' में रूपक है। दो अलंकारों का ऐसा मिलना कि उनकी पृथक् प्रतीति होती रहे—मिले हुये चावल तथा तिल की भाँति—तिलतण्डुलवत् संकर है।

पिनष्टीत्यादि। समुद्रस्तरङ्गाग्रैः फेनचन्दनं पिनष्टीव। इन्दुः करैस्तदादाय दिगङ्गना लिम्पतीव। अत्रेवशब्दाभ्यामुत्प्रेक्षाद्वयम्। फेन एव चन्दनम्, दिश एवाङ्गना इति रूपकद्वयम्। तदिदं मिश्रितं तिलतण्डुलवत्। यथा तिलानां तण्डुलानां च मिथो निरपेक्षाणामेव संकीर्णता तथात्रापि ॥

व्यक्तैव छायादर्शवद्यथा—

निर्मलेन्दु नभो रेजे विकचाब्जं बभौ सरः।
परं पर्यश्रुनयनौ म्म्लतुर्भ्रातरावुभौ ॥ २३९ ॥

अत्रादर्शे छायेव हेत्वलंकारे रामलक्ष्मणमुखयोरिन्दुपद्मौपम्येन सदृशासदृशव्यतिरेको दृश्यते ॥

व्यक्ता का ही छाया तथा दर्पण की भाँति (अलंकारों के मिलने का) उदाहरण—

निर्मल चन्द्रमा से युक्त आकाश सुशोभित हो उठा और सरोवर खिले कमलों से युक्त हो उठा किन्तु दोनों भाई आँखों में आँसू भरे हुए अत्यन्त म्लान होते गये ॥ २३९ ॥

यहाँ दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति हेत्वलङ्कार में राम तथा लक्ष्मण दोनों के मुखों का चन्द्रमा तथा कमल की तुलना से सदृश तथा असदृश व्यतिरेक दिखाई पड़ रहा है।

स्व० भा०—यहाँ लक्षण के अनुसार पूर्वार्ध में हेत्वलंकार उसी प्रकार फैला हुआ है, आधार के रूपमें जैसे दर्पण होता है। उस पर ही आधारित है सदृशासदृशात्मक व्यतिरेक। यह वहाँ आधेय रूप से चित्रित है। यहाँ हेतु तथा व्यतिरेक दोनों में दर्पण तथा प्रतिबिम्ब की भाँति आधार-आधेय भाव है।

निर्मलेत्यादि। विवृतोऽयं व्यतिरेकालङ्कारे। अत्र पूर्वार्धेन हेत्वलङ्कारे दर्शिते तदाधारक एव सदृशासदृशयोर्व्यतिरेकः। स च दर्पणे प्रतिबिम्ब इवाधाराधेयभावेन व्यवस्थापितः ॥

अव्यक्ता क्षीरजलवद्यथा—

क्षीरक्षालितचन्द्रेव नीलीधौताम्बरेव च।
टङ्कोल्लिखितसूर्येव वसन्तश्रीरदृश्यत ॥ २४० ॥

अत्रोपमोत्प्रेक्षे क्षीरनीरवन्मिश्रे संसृष्टे न व्यज्येते ॥

क्षीरजलवत् स्थित अव्यक्ता का उदाहरण—

दूध से धोये हुये चन्द्रमा से युक्त सी, नील से धोये हुये आकाश वाली सी, टाँकी से उल्लिखित सूर्य से समन्वित सी वसन्त की शोभा दिखाई पड़ी थी ॥ २४० ॥

यहाँ उपमा तथा उत्प्रेक्षा दोनों क्षीरनीर की भाँति मिले हुये दिखाये गये हैं जो पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं।

स्व० भा०—जिस प्रकार जल और दूध एक साथ मिलकर परस्पर एक रूप धारण कर लेते हैं, उनका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं हो पाता, इस प्रकार के मेल को नीरक्षीरवद् मिलना कहते हैं।

'इव' वाचक पद उत्प्रेक्षा तथा उपमा दोनों में एक साथ ही प्रयुक्त हो सकता है। वही दशा यहाँ है। यहाँ उपमा तथा उत्प्रेक्षा दोनों ही हैं किन्तु वाचक सर्वत्र एक ही होने से सहसा कहाँ क्या है यह नहीं निर्णय किया जा सकता।

क्षीरेत्यादि। वसन्तश्रीर्वसन्तशोभाऽदृश्यत जनैः। कीदृशी। क्षीरेण दुग्धेन क्षालितश्चन्द्रो यस्यां सा। नीलीद्रव्येण धौतं क्षालितमम्बरमाकाशं यस्यां सा। टंकेन पाषाणदारणेनोल्लिखित उत्खण्डितः सूर्यो यस्यां सा। 'टङ्कः पाषाणदारणः' इत्यमरः। अत्रोपमोत्प्रेक्षयोर्मिथो मिलनादव्यक्तता। उभयव्यञ्जकस्य तुल्यकक्षतया प्रवृत्तेरिदं बोद्धव्यम्॥

अव्यक्तैव पांसूदकवद्यथा—

कृष्णार्जुनानुरक्तापि दृष्टिः कर्णावलम्बिनी।
याति विश्वसनीयत्वं कस्य ते कलभाषिणि॥ २४१॥

अत्र पांसूदकयोरिव मृत्पिण्डे श्लेषविरोधयोरव्यक्तयोरेव व्याजस्तुतावङ्गभावोऽवगम्यते॥

धूलिकण तथा जल के मिश्रण की भाँति मिले होने पर अव्यक्ता का ही उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य—४।२३१)

यहाँ मिट्टी के लोदे में मिट्टी के कण तथा जल की भाँति मिले हुये अव्यक्त रूप से विद्यमान श्लेष तथा विरोध में ही व्याजस्तुति के विद्यमान रहने से इसका अङ्गभाव प्रतीत होता है।

स्व० भा०—एक मिट्टी के लोदे में यद्यपि मिट्टी तथा जल दोनों मिले होते हैं तथापि उनकी पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार यहाँ श्लेष तथा विरोध में जो व्याजस्तुति का भाव—नायिका के नयनों की दीर्घता का भाव—है, वह उसी में अपृथक् रूप से विद्यमान है।

कृष्णेत्यादि। विवृतोऽयं भाविकालङ्कारे। अत्र यथा मृत्तिकापिण्डे धूलिजलयोर्मिथो मिलनादव्यक्तता तथा श्लेषविरोधयोर्व्याजस्तुतिप्रसङ्गतः संकरः॥

व्यक्ताव्यक्ता नरसिंहवद्यथा—

रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैर्गजैश्च घनसंनिभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम्॥ २४२॥

अत्र नरसिंहजाताविव सिंहनरशरीरभागयोः परिवृत्त्यलंकारहेतूपमयोरङ्गभावो व्यक्ताव्यक्तरूपः परिस्फुरन्नुपलभ्यते॥

नरसिंह के सदृश मिली व्यक्ताव्यक्ता का उदाहरण—

घोड़ों के द्वारा उड़ाई गई धूलि तथा मेघ के सदृश हाथियों से युक्त होकर आकाश को पृथ्वीतल की भाँति तथा भूतल को आकाश की भाँति करते हुये॥ २४२॥

यहाँ नरसिंह जन्म में सिंह तथा मनुष्य के शरीर के भागों की भाँति परिवृत्ति अलंकार में हेतूपमा, हेतु और उपमा का, अङ्गभाव व्यक्त तथा अव्यक्त रूप से स्फुरित होता हुआ उपलब्ध होता है।

रजोभिरित्यादि। स कीदृशः। हयखुरक्षुण्णै रजोभिर्मेघतुल्यैर्हस्तिभिश्च गगनं भूतलमिव, भूतलं गगनतलमिव कुर्वन्। अत्र यथा नरसिंहजातौ सिंहनराङ्गभागयोर्व्यक्ताव्यक्तरूपं स्फुरणं तथा परिवृत्त्यलंकारे हेतूपमयोरङ्गभावो व्यक्ताव्यक्तरूपः॥

व्यक्ताव्यक्तैव चित्रवर्णवद्यथा—

मयूरारावमुखरां प्रावृषं सतडिल्लताम्।

महाटवीमिवोल्लङ्घ्य तोयानि मुमुचुर्घनाः ॥ २४३ ॥

अत्र पटावयवस्थानां नीलादीनामिव पटावयव्याश्रिते चित्रवर्णे श्लेषरूपकोपमार्थश्लेषाणां पदपदार्थाश्रयाणां शरद्वर्णनवाक्याश्रयिणि समाध्यलंकारे व्यक्ताव्यक्तरूपोऽङ्गाङ्गिभावः प्रतीयते ॥

चित्रवर्णवत् व्यक्ताव्यक्त का ही उदाहरण—

मयूर की ध्वनियों से मुखरित तथा तडित् रूपी लताओं से युक्त एक बड़ी वनाली के सदृश वर्षाऋतु का उल्लंघन करके मेघों ने चल छोड़ा ॥ २४३ ॥

यहाँ वस्त्र रूप अवयव पर स्थित नील आदि रंग जिस प्रकार पटरूप अवयव पर विशेषरूप से आश्रित चित्रवर्णों में होते हैं उसी प्रकार श्लेष, रूपक, उपमा तथा अर्थश्लेष का जो पद तथा पदार्थ पर आश्रित होते हैं, इस शरद् वर्णन के वाक्य पर आश्रित समाधि अलंकार पर व्यक्त तथा अव्यक्त रूप से अङ्गाङ्गिभाव प्रतीत होता है।

स्व० भा०—उक्त छोटे से वाक्य में समाधि अलंकार पूरे में है। इसके बाद उसमें श्लेष, रूपक, उपमा आदि दृष्टिगोचर होते हैं। इस वाक्य में इतने अधिक अलंकार आ आ कर एक पट पर मिले हुये अनेक रंगों को भाँति नये मनोरम चित्र का निर्माण करते हैं। वही दशा यहाँ है। इन अलंकारों के लक्षणों का निरूपण हो चुका है। उनको यथायोग्य रूप से देख लेना चाहिये।

मयूरेत्यादि। मेघा जलानि त्यजन्ति स्म। महाटवीं महारण्यमिव प्रावृषं वर्षा उल्लङ्घ्य। कीदृशीम्। मयूरशब्दमुखरां, सह तडितेव लतया वर्तते ताम्। अत्रावयवाश्रितनीलादीनामवयव्याश्रिते चित्रवर्णे यथाङ्गाङ्गिभावस्तथा श्लेषादीनां समाध्यलंकारे व्यक्ताव्यक्तरूपोऽङ्गाङ्गिभावः प्रतीयत इति ॥

चतुर्विंशतिरित्येताः क्रमेणोभयसंश्रयाः।
काव्यालंकृतयः प्रोक्ता यथावदुपमादयः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार क्रमप्राप्त शब्द तथा अर्थ पर आश्रित काव्य के ये चौबीस अलंकार उपमा आदि यथावत् प्रकृष्ट रूप से कह दिये गये ॥ ९१ ॥

इति श्रीमहाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते सरस्वतीकण्ठाभरणे
उभयालंकारविवेचनो नाम चतुर्थः परिच्छेदः ॥

चतुर्विंशतिरिति। इत्यनेन प्रकारेण चतुर्विंशतिरेता उपमादयः काव्यालंकृतय उक्ता इत्यन्वयः। अजहल्लिङ्गतात्र ॥ उभयेति। शब्दार्थाश्रिता इत्यर्थः ॥

रत्नं रत्नधरोऽजनिष्ट गुणिनामाद्योऽलवद्यःसतां
सा शुद्धा दमयन्तिकापि सुषुवे नैयायिकं यं सुतम्।
तस्य श्रीजगद्धरस्य कवितुर्वाणीगणा(ला)लंकृते-
ष्टीकायामुभयप्रकाशनपरिच्छेदश्चतुर्थो गतः ॥

इति महामहोपाध्यायधर्माधिकरणिकश्रीजगद्धरविरचिते सरस्वती-
कण्ठाभरणविवरणे चतुर्थः परिच्छेदः ॥

——०——

पञ्चमः परिच्छेदः

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते ।
योऽर्थस्तस्यान्वयात्काव्यं कमनीयत्वमश्नुते ॥ १ ॥
विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु ।
आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते ॥ २ ॥
शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत् ॥ ३ ॥
पश्यति स्त्रीति वाक्ये हि न रसः प्रतिभासते ।
विलोकयति कान्तेति व्यक्तमेव प्रतीयते ॥ ४ ॥
कन्ये ! कामयमानं मां त्वं न कामयसे कथम् ।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्यायैव कल्पते ॥ ५ ॥
कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि ! निर्दयः ।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः ॥ ६ ॥
नवोऽर्थः सूक्तिरग्राम्या श्रव्यो बन्धः स्फुटा श्रुतिः ।
अलौकिकार्थयुक्तिश्च रसमाहर्तुमीशते ॥ ७ ॥
वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम् ।
सर्वानुग्राहिणी तासु रसोक्तिं प्रतिजानते ॥ ८ ॥

जो अर्थ—वर्ण्य विषय—रस, अभिमान, अहङ्कार तथा शृङ्गार इन नामों से गाया जाता है उसके योग से काव्य कमनीयता प्राप्त करता है ॥ १ ॥

शरीरी के अन्तःकरणों में विलक्षण अदृष्ट—शुभ कर्मजनित फल—से उत्पन्न होने वाला रस ही अपने गुणों की सम्यक् उत्पत्ति का एकमात्र कारण प्रतीत होता है ॥ २ ॥

यदि कवि काव्यरचना में रसवान् होता है तो सारा संसार आनन्दमय हो जाता है। यदि वही अरसिक हो जाये तो वह पूरा काव्य ही नीरस हो जाये ॥ ३ ॥

'औरत देखती है' इस वाक्य में रस नहीं प्रतीत होता है जब कि 'कान्ता अवलोकन कर रही है' इसमें स्पष्ट ही रस प्रतीत हो जाता है ॥ ४ ॥

"हे कन्ये, अपने प्रति कामुक मुझको तू क्यों नहीं चाहती ?" यह अविदग्धजन प्रयोज्य है और यह अर्थस्वरूप विरसता के लिये कल्पित होता है ॥ ५ ॥

'हे सुन्दरनयने, यह कामदेवरूपी चाण्डाल मेरे प्रति निष्ठुर है, भाग्य की बात है कि तुमसे वह विद्वेषरहित है।' इस प्रकार का विदग्ध के द्वारा प्रयोज्य अर्थ रसावह है ॥ ६ ॥

नवीन अर्थात् पहले से अप्रयुक्त प्रतिपाद्यविषय, विदग्धोचित वाणी, श्रवण के योग्य रचना-विधि, स्पष्ट रूप से श्रवणीय ध्वनि तथा लोकातीत वस्तु का योग ये रस लाने में समर्थ हैं ॥ ७ ॥

(सारा) वाङ्मय वक्रोक्ति, रसोक्ति तथा स्वभावोक्ति तीन प्रकार का है, इनमें से सब पर अनुग्रह करने वाली रसोक्ति को (विद्वान् जानते हैं।) ॥ ८ ॥

स्व० भा०—इन समस्त विवेचनों से यह प्रकट हो जाता है कि भोज का विचार कितना उदार था। वह एक सरस काव्य की रचना में वर्ण्यविषय, कथन के प्रकार तथा कवि की क्षमता इन सबको महत्व देते हैं। आचार्य दण्डी ने वाङ्मय को केवल दो प्रकार का माना था—

भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। काव्यादर्श २।३६३

रुद्रट ने भी सरसकाव्य की रचना करने पर ही विलक्षण कीर्ति के प्राप्ति की सम्भावना व्यक्त की है। उनके अनुसार—

ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥ काव्यालंकार १।४

इसके लिये भी कवि की कुछ अपेक्षायें हैं—

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥ वही, १५ ॥

वहीं रुद्रट ने सम्पूर्ण विश्व को काव्य का विषय घोषित किया है—

विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं च वाचकं लोके।
न भवति यत्काव्याङ्ग …………………… ॥ वही, १९ ॥

अन्य किसी विद्वान् ने भी कहा था—

न स शब्दो न तद्वाक्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः ॥

कवि की सामर्थ्य भी विख्यात है कि—

अपारे काव्यसंसारे कविरेको प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तदिदं परिवर्तते ॥

काव्य की सरसता के विषय में रुद्रट का मत है—

यस्मात् तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात् ॥ काव्यालंकार १२।२ ॥

छात्राणां सुखबोधाय श्रीजीवानन्दशर्मणा।
पञ्चमाख्ये परिच्छेदे व्याख्येयं क्रियते मया ॥

रस इति। रसः अभिमानः अहङ्कारः शृङ्गार इति एवं पर्यायः यः अर्थः वस्तुविशेषः, तस्य अन्वयात् सङ्गात् काव्यं कमनीयत्वं रम्यताम् अश्नुते आप्नोति ॥ १ ॥

विशिष्टेति। जन्मिनां शरीरिणां सामाजिकानामिति यावत् अन्तरात्मसु अन्तःकरणेषु विशिष्टात् विलक्षणात् अदृष्टात् शुभकर्मजनितभाग्यादित्यर्थः जन्म उत्पत्तिर्यस्य तथाविधः अयं रस इत्यर्थः आत्मनः स्वस्य सम्यग् गुणानां दयादाक्षिण्यादिसदाचाराणाम् उद्भूतेः उत्पत्तेः एकः अद्वितीयः हेतुः कारणं प्रकाशते प्रतिभाति। रसिका हि शिष्टाः सविनय-सम्पन्ना भवन्तीति दृश्यते ॥ २ ॥

शृङ्गारीति। चेद् यदि कविः काव्ये काव्यरचनायां शृङ्गारी रसवान् भवतीति शेषः, तदा जगत् रसमयम् आनन्दमयमिति भावः जातम्। स एव कविः अशृङ्गारी अरसिकः चेद् यदि भवति सर्वमेव जगत् नीरसं निरानन्दमिति भावः भवतीति शेषः॥ ३॥

पश्यतीति। स्त्री पश्यतीतिवाक्ये रसः नहि नैव प्रतिभासते प्रतिभाति, कान्ता विलोकयतीति वाक्ये तु व्यक्तमेव स्पष्टमेव प्रतीयते रसः इति शेषः॥ ४॥

कन्ये इति। हे कन्ये! त्वं कामयमानं त्वां प्रति कामुकमित्यर्थः मां कथं न कामयसे नाभिलषसि इत्येवं ग्राम्यः अविदग्धप्रयोज्य इति भावः अयम् अर्थोऽस्मा अर्थस्वरूपः वैरस्याय रसप्रातिकूल्यायेत्यर्थः एव कल्पते प्रभवति। तस्मादेवं विधोऽर्थो न प्रयोज्य इति भावः॥ ५॥

काममिति। हे वामाक्षि? कुटिलनयने! चारुनयने! वा। कन्दर्प एव चाण्डालः मयि विषये कामं निर्दयः निष्ठुरः। दिष्ट्या भाग्यम् त्वयि निर्मत्सरः विद्वेषरहितः। त्वां न क्लिश्नातीति भावः। इत्येवम् अग्राम्यः विदग्धप्रयोज्यः अर्थ रसावहः रसोत्पादहेतुरित्यर्थः॥ ६॥

नव इति। नवः नूतनः केनचिदरचितपूर्व इति यावत् अर्थः प्रतिपाद्यवस्तु अग्राम्या विदग्धोचिता सूक्तिः शोभना वाक्, श्रवणयोग्यः बन्धः रचना, स्फुटा सुव्यक्ता श्रुतिः श्रवणयोग्योऽर्थः, अलौकिकस्य लोकातीतस्य अर्थस्य वस्तुनः युक्तिः योगश्च एते रसम् आहर्तुम् उद्भावयितुम् ईशते प्रभवन्ति॥ ७॥

वक्रोक्तिरिति। वक्रा कुटिला भावान्तरसंवलितेत्यर्थः उक्तिः वचनं रसस्य शृङ्गारादेः उक्तिः प्रकटनं स्वभावस्य उक्तिश्च एतत् त्रिविधं वाङ्मयं शास्त्रं काव्यमिति यावत्। तासु त्रिविधासु मध्ये सर्वानुग्राहिणीं सर्वेषां प्रीणनीं रसोक्तिं प्रतिजानते प्रतिज्ञया निबध्नन्ति विद्वांस इति शेषः॥ ८॥

भावो जन्मानुबन्धोऽथ निष्पत्तिः पुष्टिसङ्करौ।
ह्रासाभासौ शमः शेषो विशेषः परिपोषवान्॥ ९॥
विप्रलम्भोऽथ सम्भोगस्तच्चेष्टास्तत्परीष्टयः।
निरुक्तयः प्रकीर्णानि प्रेमाणः प्रेमपुष्टयः॥ १०॥
नायिका नायकगुणाः पाकाद्याः प्रेमभक्तयः।
नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः॥ ११॥
चतुर्विंशतिरित्युक्ता रसान्वयविभूतयः।
स्वरूपमासां यो वेद स काव्यं कर्त्तुमर्हति॥ १२॥

(१) भाव, (२) जन्मानुबन्ध, (३) निष्पत्ति, (४) पुष्टि, (५) सङ्कर, (६) ह्रास, (७) आभास, (८) शम, (९) शेष, (१०) विशेष, (११) परिपोष, (१२) विप्रलम्भ, (१३) सम्भोग, (१४) उन दोनों-विप्रलम्भ तथा सम्भोग-की चेष्टायें, (१५) उन दोनों की परीष्टि, (१६) निरुक्ति, (१७) प्रकीर्ण, (१८) प्रेमान्, (१९) प्रेम-पुष्टि, (२०) नायिकानायक के गुण, (२१) पाकादि, (२२) प्रेमभक्ति, (२३) नानालंकार संसृष्टि के प्रकार (२४) रसोक्ति, ये चौबीस रसान्वय की विभूतियाँ हैं जो इनका स्वरूप जानता है, वह काव्य रचना करने के योग्य है॥९-१२॥

स्व० भा०—भोज ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि एक कवि को किन-किन पदार्थों का ज्ञान होना चाहिये। कवि के सिर पर बहुत ही अधिक भार होता है।

भाव इति। भावः २ जन्मानुबन्धः ३ निष्पत्तिः ४ पुष्टिः ५ सङ्करः ६ ह्रासः ७ आभासः ८ शमः ९ शेषः १० विशेषः ११ परिपोषः १२ विप्रलम्भः १३ सम्भोग १४ तयोः विप्रलम्भ-सम्भोगयोः चेष्टा १५ तयोः परीष्टयः १६ निरुक्तयः १७ प्रकीर्णानि १८ प्रेमाणः १९ प्रेम-पुष्टयः २० नायिकानायकगुणाः २१ पाकाद्याः २२ प्रेमभक्तयः २३ नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराः २४ रसोक्तयः। इति चतुर्विंशतिः रसाश्रया विभूतयः रससम्पदः उक्ताः यः आसां विभूतीनां स्वरूपं वेद जानाति स काव्यं कर्त्तुम् अर्हति शक्नोति ॥ ९-१२॥

आलम्बनविभावेभ्यः स्वेभ्यः स्वेभ्यः समुन्मिषन्।
रसो रत्यादिरूपेण भाव इत्यभिधीयते ॥ १३ ॥
रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चाष्टौ स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥ १४ ॥
स्तम्भस्तनूरुहोद्भेदो गद्गदः स्वेदवेपथू।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलयावित्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥ १५ ॥
स्मृतिर्वितर्कश्चोत्कण्ठा चिन्ता चपलता मतिः।
गर्वः स्नेहो धृतिर्व्रीडाऽवहित्थं मूढता मदः ॥ १६ ॥
हर्षामर्षावसूयेर्ष्या विषादो दैन्यमुग्रता।
त्रासः शङ्का गदो ग्लानिरुन्मादः सम्भ्रमः श्रमः ॥ १७ ॥
निर्वेदो जाड्यमालस्यं निद्रा सुप्तं प्रबुद्धता।
इति भावास्त्रयस्त्रिंशद्विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ १८ ॥

अपने-अपने आलम्बनविभावों—रसोद्गम के हेतुओं से-रति आदि के रूप में समुद्रेक प्राप्त करता हुआ रस 'भाव' कहा जाता है॥ १३॥

(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा, (८) विस्मय ये आठ स्थायीभाव वर्णित किये गये हैं ॥१४॥

(१) स्तम्भ, (२) रोमान्च, (३) गद्गदता अर्थात् वाणी की अस्पष्टता, (४) स्वेद, (५) कम्प, (६) विवर्णता, (७) आँसू गिरना, (८) प्रलय अर्थात् मूर्च्छा, ये आठ सात्त्विक भाव कहे गये हैं ॥१५॥

(१) स्मृति, (२) वितर्क, (३) उत्कण्ठा, (४) चिन्ता, (५) चपलता, (६) मति, (७) गर्व, (८) स्नेह, (९) धृति, (१०) व्रीडा, (११) अवहित्था (१२) मूढ़ता, (१३) मद, (१४) हर्ष, (१५) अमर्ष, (१६) असूया, (१७) ईर्ष्या, (१८) विषाद, (१९) दैन्य, (२०) उग्रता, (२१) त्रास, (२२) शङ्का, (२३) मद, (२४) ग्लानि; (२५) उन्माद, (२६) सम्भ्रम, (२७) श्रम, (२८) निर्वेद, (२९) जड़ता, (३०) आलस्य, (३१) निद्रा, (३३) प्रबोध—ये तैंतीस भाव व्यभिचारी समझे जाने चाहिये॥१६-१७॥

स्व० भा०—यहाँ भोज ने भाव, स्थायी भाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारी भावों का ज्ञान कराया है, विशेषकर उनका नाम तथा भेद गिनाया है। 'दशरूपक' में भाव का लक्षण है, "सुख-दुःखादिकैर्भावैस्तद्भावभावनम्" (४·४)। किन्तु भरत ने यह प्रसङ्ग इस प्रकार लिखा था—"भावा इति कस्मात्, किं भावयन्तीति भावाः? उच्यते—वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। भावम् इति करणसाधनं यथा भावितः वासितः कृत इत्यनर्थान्तरम्।

लोकेपि सिद्धम्, अहो ह्यन्येन गन्धेन रसेन
वा सर्वमेव भावितम्......। अपि च व्याप्त्यर्थं।

श्लोकाश्चात्र भवन्ति—

विभावैराहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥
वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥
नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्। ना.शा. सप्तम अध्याय

स्थायीभावों के नामों से सम्बद्ध कारिका भरत के नाट्यशास्त्र (६।१७) से उद्धृत है, किन्तु दशरूपककार ने उनकी गणना इस प्रकार की है—

इत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥४।३५॥

भोजराज ने जिन तैंतीस संचारीभावों की गणना कई श्लोकों में की है, दशरूपक में उन्हें केवल एक ही श्लोक में गिना दिया गया है—

निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ताः
त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥४।८॥

पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके अतिरिक्त भावों को अस्वीकार कर दिया है। वह अन्यों का अन्तर्भाव इन्हीं पूर्वस्वीकृत भेदों में कर देते हैं—"अथ कथमस्य संख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्या-विवेक-निर्णय-क्लैव्य-क्षमा-कुतुकोत्कण्ठा-विनय-संशय-धाष्ट्यादीनामपि तत्र-तत्र लक्ष्येषु दर्शनादिति चेत्, न, उक्तेष्वेव एषामन्तर्भावेण सङ्ख्यान्तरानुपपत्तेः।

असूयातो मात्सर्यस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्थाख्याद् भावाद् दम्भस्य, अमर्षादीर्ष्यायाः, मतेर्वितर्कनिर्णययोः, दैन्यात् क्लैव्यस्य, धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्यात् कुतुकोत्कण्ठयोः, लज्जायाः विनयस्य, तर्कात् संशयस्य, चापलाद् धार्ष्टयस्य च वस्तुतः सूक्ष्मे भेदेऽपि नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तस्य एवाध्यवसायात्"। रसगंगाधर पृ० ३६५।

सात्त्विक भावों की संख्या भरत से लेकर धनिक धनञ्जय तक ने आठ ही माना है। दशरूपक में दो प्राकृत गाथाओं में सभी सात्त्विकभावों का उदाहरण के रूप में समावेश कर दिया गया है। उनकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—

वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वपति।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्यां रणति॥
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति ॥४।५ का उदाहरण।

आलम्बनेति। स्वेभ्यः स्वेभ्यः निजेभ्यो निजेभ्यः आलम्बनविभावेभ्यः रसोद्गमहेतुभ्यः

नायिकादिभ्यः रत्यादिरूपेण समुन्मिषन् समुद्रेकं गच्छन् रसः शृङ्गारादिः भाव इति अभिधीयते उच्यते ॥ १३ ॥

रत्यादीनाह । रतिरिति । रत्यादयः अष्टौ स्थायिभावाः काव्यस्य आरम्भात् समाप्तिपर्य्यन्तं स्थितिशीला इत्यर्थः प्रकीर्त्तिताः कथिताः ॥ १४ ॥

सात्त्विकानाह स्तम्भ इति । स्तम्भः निश्चलत्वं तनूरुहोद्भेदः रोमाञ्चः गद्गदः अस्पष्टा वाक्, स्वेदः घर्म्मः, वेपथुः कम्पः, वैवर्ण्यं वर्णान्यथाभावः, अश्रु नेत्रजलं, प्रलयः मोहः 'प्रलयो नष्टचेष्टतेत्यमरः' । इति अष्टौ सात्त्विका भावाः मताः कथिताः ॥ १५ ॥

व्यभिचारिण आह स्मृतिरित्यादि । स्मृत्यादयः त्रयस्त्रिंशद्भावाः व्यभिचारिणः विज्ञेयाः ॥ १६-१८ ॥

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्रवृद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥ १९ ॥
रजस्तमोभ्यामस्पृष्टः मनः सत्त्वमिहोच्यते ।
निर्वृत्तयेऽस्य तद्योगात् प्रभवन्तीति सात्त्विकाः ॥ २० ॥
विशेषेणाभितः काये स्थायिनं चारयन्ति ये ।
अनुभावादिहेतूंस्तान् वदन्ति व्यभिचारिणः ॥ २१ ॥
जनित्वा ये न जायन्ते तेऽथ वा व्यभिचारिणः ।
स्मृत्यादयो हि प्रेमादौ भवन्ति न भवन्ति च ॥ २२ ॥
रतौ सञ्चारिणः सर्वान् गर्वस्नेहौ धृतिं मतिम् ।
स्थास्नूनेवोद्धतप्रेयःशान्तोदात्तेषु जानते ॥ २३ ॥
संस्कारपाटवादिभ्योऽनुभावं वा निजाश्रये ।
सञ्चारिणं वा जनयन् सात्त्विकं वा स जायते ॥ २४ ॥
उद्दीपनविभावेभ्यः स्मृतिहेतौ पटीयसि ।
अनुबन्धोऽनुभावादेरनुबन्धः स कथ्यते ॥ २५ ॥
विभावस्यानुभावस्य सात्त्विकव्यभिचारिणोः ।
संयोगे तस्य निष्पत्तिमात्रं निष्पत्तिरिष्यते ॥ २६ ॥

इस काव्य में स्थायीभाव परिपुष्ट होकर मन में अधिक समय तक स्थित रहते हैं, पोषकों से पुष्टि प्राप्त करते हैं तथा रसता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकरण में रजस् तथा तमस् से असम्बद्ध मन सत्त्व कहा जाता है। इस मन के ही सुख के लिये उनके (स्तम्भ आदि भावों के) योग से उत्पन्न होते हैं इसी कारण अर्थात् सत्त्वोद्रेक के कारण ये सात्त्विक कहे जाते हैं। काव्यशरीर अथवा भावुक के शरीर में जो भाग स्थायी भावों को अतिशय रूप से सभी ओर पूर्णतः प्रसारित कर देते हैं तथा अनुभाव आदि के जो कारण

हैं, उनको व्यभिचारी कहते हैं। अथवा उत्पन्न होकर भी चिरकाल तक स्थित नहीं रहते वे व्यभिचारी हैं क्योंकि स्मृति आदि (व्यभिचारी) प्रेम आदि में उत्पन्न भी होते हैं और नहीं भी उत्पन्न होते हैं। रति में सभी सञ्चारी भाव होते हैं, किन्तु गर्व, स्नेह, धृति तथा मति को उद्धत, प्रेय, शान्त तथा उदात्त (नायकों) में स्थितिशील मानते हैं। वासना के प्रभाव आदि कारणों से अपने आश्रयभूत सहृदयों में हावभाव आदि अनुभाव, स्मृति आदि संचारी अथवा स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक भावों की उद्भावना करता हुआ वह रस उत्पन्न होता है। उद्दीपन विभावों के कारण स्मरण के हेतुओं के अतिशय प्रवृद्ध हो जाने पर अनुभाव आदि की प्रतीति जो है, वह अनुबन्ध कही जाती है। (आलम्बन तथा उद्दीपन) विभाव, (हाव भाव आदि) अनुभाव, (स्तम्भ आदि) सात्त्विक (स्मृति आदि) तथा व्यभिचारियों के मेल से रस का उद्भव भर केवल होता है, निष्पत्ति इसी अर्थ में अभीष्ट है ॥ १९-२६ ॥

स्व० भा०—यहाँ भोज ने स्थायीभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, अनुबन्ध तथा निष्पत्ति की परिभाषायें दी हैं। भरत मुनि द्वारा उक्त निम्नलिखित पंक्तियों को देखने से उपर्युक्त कई विषयों का स्पष्टीकरण हो जायेगा।

"तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः, त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः, अष्टौ सात्त्विका इति भेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपञ्चाशद् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।

भवति चात्र श्लोकः—

योऽर्थः हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥

......स्थायिनि वपुषि गुणीभूता अन्ये भावाः तान् गुणवत्तया आश्रयन्ते। (ते) परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः। को दृष्टान्त इति? यथा नरेन्द्रो बहुजन-परिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते, नान्यः सुमहानपि पुरुषः, तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते।

भवति चात्र श्लोकः—

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥ ना० शा० अ० ७ ॥

दशरूपककार ने जो स्थायी भाव का लक्षण दिया है, वह अत्यन्त स्पष्ट तथा सुन्दर है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ॥ ४।३४॥

सात्त्विक भावों के विषय में भी भरत ने बड़ी सुन्दर उक्ति की है—

"अत्राह किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाभिनीयन्ते यत एते सात्त्विका इत्युच्यन्ते? अत्रोच्यते, इह सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वाद् उत्पद्यते। मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावः रोमाञ्चास्रवैवर्ण्यादिको न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुं इति लोकस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। को दृष्टान्त इति चेत्, अत्रोच्यते इह हि नाट्यधर्मीप्रवृत्ताः सुखदुःखकृता भावाः तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्याः यथास्वरूपा भवन्ति।"

सात्त्विकभावों के लक्षण के रूप में दशरूपककार की उक्ति—

"सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ॥४।५॥

भरत की पंक्तियों की तुलना में विशेष महत्त्व नहीं रखती। व्यभिचारियों का भोजकृत लक्षण अत्यन्त विचित्र तथा व्यापक है। दशरूपक में भी इनका सामान्य लक्षण स्पष्ट है—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्नजिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥४।७॥

इन पर भरत का प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। भरत के अनुसार "व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह—व्यभिचारिणः कस्मात्? उच्यते वि-अभि इत्येतावुपसर्गौ, चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधं आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। अत्राह—कथं नयन्तीति। उच्यते, लोकसिद्धान्त एषः यथा सूर्यो इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत् यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्याः।"

भोज द्वारा स्वीकृत 'निष्पत्ति' की व्याख्या भरत के रससूत्र—'तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' से विशेष अनुप्राणित है। परवर्ती आचार्यों में लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक अभिनवगुप्त, महिमभट्ट, धनिक-धनञ्जय आदि ने इस सूत्र मे प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्दों को विशेष अर्थ में लेकर 'रसनिष्पत्ति' सम्बन्धी अनेक मतवादों को जन्म दिया। इनमें में उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मम्मट ने इस सम्बन्ध में केवल चार मतों का तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने आठ मतों का संक्षेप अपने शब्दों में क्रमशः 'काव्यप्रकाश' तथा 'रसगंगाधर' में दिया है। इनको परिशिष्ट में दिया जायेगा। यहाँ स्पष्टता के लिये भरत की इससे सम्बद्ध पंक्तियाँ दी जा रही हैं—"को वा दृष्टान्त इति चेत—उच्यते—यथा नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधीभिश्च षड् रसानिर्वर्त्यन्ते एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति। अत्राह—रस इति कः पदार्थ? उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? अत्रोच्यते—यथाहि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्न भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाप्यधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।" ना. शा. अध्यायः ६

चिरमिति। अत्र काव्ये ते स्थायिनः रत्यादयः प्रवृद्धाः परिपुष्टाः सन्तः चित्ते मनसि चिरम् आसमाप्तेरिति यावत् अवतिष्ठन्ते स्थितिं कुर्वन्ति अनुबन्धिभिः पोषकैः अनुबध्यन्ते पुष्टिं नीयन्ते तथा रसत्वं प्रतिपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १९ ॥

रज इति। इह अस्मिन् प्रकरणे रजस्तमोभ्यां रजोगुणतमोगुणाभ्याम् अस्पृष्टम् असम्बद्धं मनः सत्त्वम् उच्यते कथ्यते। अस्य मनसः निर्वृतये सुखाय प्रीतिलाभायेत्यर्थः तेषां स्तम्भादीनां योगात् समुद्भवादित्यर्थः प्रभवन्ति जायन्ते इति हेतोः सात्त्विकाः सत्त्वोद्रेकसमुद्भवा इत्यर्थः भवन्तीति शेषः ॥ २० ॥

विशेषेणेति। काये काव्यशरीरे ये भावाः स्थायिनं रत्यादिं विशेषेण अतिशयेनेत्यर्थः अभितः समन्तात् सर्वतोभावेनेत्यर्थः सञ्चारयन्ति प्रसारयन्ति, अनुभावादीनां हावभावादीनाम्। उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्। लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाटययोः॥ कः पुनरसावित्याह। उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः। तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपीति दर्पणकारोक्तानां भावानां हेतून् कारणानि तान् व्यभिचारिणः वदन्ति ॥ २१ ॥

जनित्वेति। अथवा ये जनित्वा उत्पद्य न जायन्ते न चिरं तिष्ठन्तीति भावः ते व्यभिचारिणः। हि यतः स्मृत्यादयः व्यभिचारिणः प्रेमादौ भवन्ति उत्पद्यन्ते तथा न भवन्ति न उत्पद्यन्ते च कदाचित् भवन्ति कदाचित् न भवन्तीत्यर्थः॥ २२ ॥

रताविति। रतौ सर्वान् स्मृत्यादीन् सञ्चारिणः व्यभिचारिणः किन्तु उद्धताः उत्कटा प्रेयांसः प्रियतमाः ये शान्तोदात्ताः धीरोदात्ताः नायकभेदाः तल्लक्षणमुक्तं दर्पणे। अविकत्थनः

क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः । इति । तेषु गर्वस्नेहौ धृतिं मतिम् एतान् सञ्चारिण स्थास्नून् स्थितिशीलान् जानते विदन्ति बुधा इति शेषः ॥ २३ ॥

संस्कारेति । स रसः निजाश्रये स्वाश्रयकाव्ये इत्यर्थः संस्कारो वासना तस्य पाटवादिभ्यः प्रभावादिभ्यो हेतुभ्यः अनुभावं पूर्वोक्तं हावभावादिं वा सञ्चारिणं स्मृत्यादिं वा सात्त्विकं स्तम्भस्वेदादिं वा जनयन् उद्भावयन् जायते उदेति । स इत्यत्र नेति पाठः प्रामादिकः ॥ २४ ॥

उद्दीपनेति । उद्दीपनविभावेभ्यः 'उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये' इत्युक्तलक्षणेभ्यः चन्द्रचन्दनादिभ्यः स्मृतिहेतौ स्मरणकारणे पटीयसि अतिप्रवृद्धे सतीत्यर्थः अनुभावादेः अनुबन्धः अनुगमः जायते इति शेषः। सः अनुबन्धः कथ्यते । केन प्रकारेणानुगमो भवतीत्यर्थः तदुच्यते ॥ २५ ॥

विभावस्येति । विभावस्य आलम्बनोद्दीपनरूपस्य अनुभावस्य हावभावादेः सात्त्विकव्यभिचारिणोः प्रागुक्तयोः संयोगे सम्मेलने तस्य रसस्य निष्पत्तिमात्रम् उद्भवमात्रं भवतीति शेषः । निष्पत्तिः समुद्रेक इत्यर्थः इष्यते काम्यते ॥ २६ ॥

विषयाश्रयसंस्कारगुणप्रकृतिपाटवैः ।
दीपनातिशयैश्चास्य प्रकर्षः पुष्टिरुच्यते ॥ २७ ॥
तुल्यकालबलोत्पत्तिहेतौ भावान्तरोदये ।
संसर्गस्तस्य यस्तेन सङ्करः स निगद्यते ॥ २८ ॥
रसान्तरतिरस्कारादन्यद्रागाच्च तस्य यः ।
भवत्यपचयो वृद्धे स्तद्ध्रासं तं प्रचक्षते ॥ २९ ॥
हीनपात्रेषु तिर्य्यक्षु नायकप्रतियोगिषु ।
गौणेष्वेव पदार्थेषु तमाभासं विजानते ॥ ३० ॥
बलवत्सूपजातेषु प्रतिकूलेषु हेतुषु ।
सर्वात्मना समुच्छेदः प्रशमस्तस्य वर्ण्यते ॥ ३१ ॥
आश्रयात् प्रकृतेर्वापि संस्कारस्थैर्य्यतोऽपि वा ।
योऽस्यात्यन्तमविच्छेदः स शेष इति शब्द्यते ॥ ३२ ॥
शृङ्गाराद्या रसा ये च ये च शान्तोद्धतादयः ।
ये च रत्यादिभेदास्तान् विशेषानस्य मन्वते ॥ ३३ ॥
विभावश्चानुभावश्च सञ्चारी चाश्रयश्च यः ।
ये च लीलादयो यूनां परिपोषः स कीर्त्यते ॥ ३४ ॥

आश्रयो यस्य रत्यादिः प्रेमादेरुपजायते।
विषयो यत्र योषादौ सोऽस्य जन्माधिगच्छति ॥ ३५ ॥

प्रतिपाद्य वस्तुओं के आश्रयभूत (जो नायक आदि हैं) उनके संस्कार-वासना-गुण-धैर्य आदि प्रकृति-स्वभाव के प्रभाव से तथा उद्दीपन भावों के अतिशय से रस का उत्कर्ष पुष्टि कहा जाता है। समान काल, बल, उत्पत्ति तथा हेतु वाले अन्य भाव का उदय होने पर उस रस का जो संसर्ग है, उसी संसर्ग के कारण वह रस संकर कहा जाता है। किसी भिन्न रस के द्वारा व्यवधान होने से तथा किसी भाव विशेष के उद्रेक से उस मूल रस के उत्कर्ष की हानि जो है, उसे उस रस का ह्रास कहते है। नीचनायक आदि में, तिर्यक् योनि के पक्षिसर्पादि में, नायक के प्रतियोगी प्रतिनायक आदि में तथा अप्रधान पात्रों में रस के होने पर उसे आभास के नाम से जानते हैं। प्रबल विरोधी कारणों के उत्पन्न हो जाने पर उस रस के सभी प्रकार की विरति को प्रशम के नाम से वर्णित करते हैं। आश्रय, प्रकृति अर्थात् प्रकरण, संस्कार अर्थात् वासना आदि के स्थायित्व से जो इस रस की सम्यक् प्रवहमानता है वह 'शेष' कहा जाता है। जो शृङ्गार आदि रस हैं, जो शान्त, उद्धत आदि नायक हैं तथा जो रति आदि के भेद हैं उन सबको इस शेष की विशेषता मानते हैं। जो विभाव, अनुभाव, सञ्चारी तथा आश्रय हैं तथा जो युवकों के विलास आदि हैं उन्हें परिपोष कहा जाता है। जिस व्यक्ति का जिस स्त्री आदि में प्रेम आदि का आश्रय रति आदि प्रतिपाद्यवस्तु होता है, वह व्यक्ति इस परिपोष का जन्म जानता है।

स्व० भा०—भोज ने कवियों के लिये सरस काव्य करने के लिये ज्ञातव्य एवं अपेक्षित विषयों का उल्लेख यहाँ किया है। इनका सम्यक् ज्ञान होने से सफल काव्य की रचना सुकर हो जाती है।

विषयेति। विषयाणां प्रतिपाद्यवस्तूनां ये आश्रयाः नायकादयः तेषां संस्कारा वासनाविशेषाः गुणाः धैर्यगाम्भीर्यादयः प्रकृतयः स्वभावाः तासां पाटवानि प्रभावाः तैः दीपनानाम् उद्दीपनभावानाम् अतिशयैः समुद्रेकैश्च अस्य निष्पन्नमात्रस्य रसस्य प्रकर्षः उत्कर्षः पुष्टिः उच्यते कथ्यते ॥ २७ ॥

तुल्येति। तुल्ये कालबले उत्पत्तिहेतू यस्य तथाभूते भावान्तरस्य अन्यस्य भावस्य उदये उद्रेके तस्य रसस्य यः संसर्गः, तेन संसर्गेण स रसः सङ्करः निगद्यते कथ्यते ॥२८॥

रसान्तरेति। रसान्तरेण अपरेण रसेन तिरस्कारात् व्यवधानात् अन्यरागात् अन्यस्य भावविशेषस्य उद्रेकाच्च तस्य मूलस्य रसस्य यः वृद्धेः उत्कर्षस्य अपचयः हानिः भवति तं तस्य ह्रासं प्रचक्षते प्रवदन्ति ॥ २९ ॥

हीनेति। हीनपात्रेषु नीचनायकादिषु तिर्यक्षु पक्षिसर्पादिषु नायकप्रतियोगिषु प्रतिनायकेष्वित्यर्थः तथा गौणेषु अप्रधानेषु पदार्थेषु पात्रेष्वित्यर्थः तं रसम् आभासं निकृष्टमिति भावः विजानते विदन्ति ॥ ३० ॥

बलवदिति। बलवत्सु प्रबलेषु प्रतिकूलेषु विरोधिषु हेतुषु कारणेषु उपजातेषु सम्भवत्सु तस्य रसस्य सर्वात्मना सर्वप्रकारेण समुच्छेदः विरतिः प्रशमः वर्ण्यते कथ्यते ॥ ३१ ॥

आश्रयादिति। आश्रयात् आलम्बनात् नायिकादेः वापि अथवा प्रकृतेः प्रकरणात् अपि वा किंवा संस्कारस्य प्रागुक्तस्य स्थैर्यतः स्थायित्वादित्यर्थः अस्य रसस्य यः अत्यन्तं सम्यक् अविच्छेदः अविरतिः स शेष इति शब्द्यते कथ्यते ॥ ३२ ॥

शृङ्गाराद्या इति। ये च शृङ्गाराद्या रसाः ये च शान्तोद्धतादयः धीरोद्धतादयः, ये च

रत्यादीनां भेदाः विशेषाः तान् सर्वान् अस्य शेषस्य प्रागुक्तस्य विशेषान् मन्वते जानन्ति कवय इति शेषः ॥ ३३ ॥

विभाव इति । यः विभावः आलम्बनोद्दीपनरूपश्च अनुभावश्च हावभावादिरूपः सञ्चारी स्मृत्यादिरूपश्च आश्रयः, ये च, यूनां नायिका-नायकानां लीलादयः, स परिपोषः कीर्त्यते ॥ ३४ ॥

आश्रय इति । यस्य जनस्य यत्र योपादौ नायिकादौ प्रेमादेः आश्रयः रत्यादिः विषयः प्रतिपाद्यवस्तु उपजायते भवति सः जनः अस्य परिपोषस्य जन्म उत्पत्तिम् अधिगच्छति जानाति ॥ ३५ ॥

आलम्बनविभावः स ज्ञानकारणमुच्यते ।
तेनादरादिरूपेण संस्कारस्तेन जायते ॥ ३६ ॥
अन्यतः पटुरभ्यस्त आश्रयादेर्गुणेन सः ।
तत्प्रबोधाय माल्यर्तुचन्दनेन्दूदयादयः ॥ ३७ ॥
उद्दीपनविभावास्ते स तैः स्मरति वाञ्छति ।
द्वेष्टि प्रयततेऽवैति मन्यते वक्ति चेष्टते ॥ ३८ ॥
तेऽनुभावास्तदा ये स्युः स्वेदरोमोद्गमादयः ।
हर्षामर्षादयो ये च ज्ञेयाः सञ्चारिणोऽत्र ते ॥ ३९ ॥
स्मृतीच्छायत्नजन्मानो मनोवाक्कायसंश्रयाः ।
विलासा ये वरस्त्रीणां ज्ञेया लीलादयस्तु ते ॥ ४० ॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विब्बोको ललितं तथा ॥ ४१ ॥
विहृतं क्रीडितं केलिरिति स्त्रीणां स्वभावजाः ।
हेलाहावादयश्चान्ये ज्ञेया स्त्रीपुंसयोरपि ॥ ४२ ॥
उपसङ्ख्यानमेतेषामनुभावेषु मन्वते ।
पश्चाद्भावानुभूतिभ्यां स्मरणाद्यनुभाववत् ॥ ४३ ॥
स्मृत्यादयोऽनुभावाश्च भावाः सञ्चारिणश्च ये ।
नाट्येऽनुक्रियमाणास्ते नटैरभिनयाः स्मृताः ॥ ४४ ॥

वह आलम्बन विभाव (रसविषय रूप) ज्ञान का कारण कहा जाता है । उन-उन आदर आदि के द्वारा दूसरी जगह से वह संस्कार आश्रय–आलम्बन–आदि के गुणों से अन्य प्रकार से और भी अधिक उज्ज्वल तथा पुनः पुनः आवृत्त हो जाता है । उस संस्कार के उद्रेक के लिये माला ऋतु, चन्द्रोदय आदि प्रसिद्ध उद्दीपन विभाव होते हैं । वह संस्कार अथवा नायक आदि

आश्रय उन उद्दीपन विभावों के कारण स्मरण करता है, अभिलाषा करता है, द्वेष करता है, प्रयास करता है, ज्ञान प्राप्त करता है, मानता है, बोलता है, चेष्टा करता है। जो स्वेद, रोमाञ्च आदि हैं वे उस समय-संस्कार के समय-अनुभाव हो जाते हैं। यहाँ जो हर्ष, अमर्ष आदि हैं वे रस में व्यभिचारी समझे जाने चाहिये। स्मृति, इच्छा तथा यत्न से उत्पन्न होने वाले, मन, वाणी तथा शरीर पर आश्रित रहने वाले नायिकाओं के जो भावविशेष हैं, उन्हें लीला आदि समझना चाहिये। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित, विहृत, क्रीडित तथा केलि, ये स्त्रियों में नैसर्गिक होते हैं।

इसके अतिरिक्त हेला, हाव आदि तथा अन्य, स्त्री तथा पुरुष दोनो के भी समझे जाने चाहिये। बाद में उत्पन्न होने के कारण तथा बाद में ही अनुभूत भी होने के कारण स्मृति आदि अनुभावों की भाँति इनकी भी गणना अनुभावों में समझी जाती है। जो स्मृति आदि अनुभाव हैं तथा जो सञ्चारी भाव हैं, नटों के द्वारा अनुकृत होने पर नाटक में वह अभिनय के रूप में याद किये जाते हैं ॥३६–४४॥

स्व० भा०—भोज ने अत्यन्त संक्षेप में विभाव तथा अनुभाव के लक्षण दिये हैं। भरत के शब्दों में—

"अथ विभाव इति कस्मादुच्यते। विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्। अत्र श्लोकः—

> बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रिताः।
> अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः।

अथानुभाव इति कस्माद् उच्यते। अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गसत्त्वैः कृतोऽभिनय इति। अत्र श्लोकः—

> वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
> वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ना. शा. अध्याय ७

दशरूपक में भी इनका स्वरूप स्पष्ट ही है—

> ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत्।
> आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥
> अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।४।२,३॥

भरत (ना. शा. २४।४-५, १२-१३) तथा धनञ्जय (द. रू. २।३०-३३) ने स्त्रियों के कुल मिलाकर वागङ्गस्वभावज बीस अलंकारों को माना है जिनमें सहज केवल दस हैं। उन लोगों ने क्रीडित तथा केलि को इसमें नहीं माना है।

रुद्रट के शब्दों में श्रृङ्गाराभास का लक्षण इस प्रकार है, जिसे सर्वत्र अनौचित्यपूर्ण प्रयोगों में स्वीकार करना चाहिये।

> श्रृङ्गाराभासः स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः।
> एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः ।१४।३६॥

आलम्बनेति। सः आलम्बनविभावः ज्ञानस्य बोधस्य रसविषयस्येति भावः कारणं हेतुः उच्यते। तेन तेन आदरादिरूपेण अन्यतः सः संस्कारः समावेशः आश्रयादेः आलम्बनादेः गुणेन प्रभावेण अन्यतः अन्येन प्रकारेण च पटुः उज्ज्वलः अभ्यस्तः पुनः पुनरावृत्तः जायते भवति। तत्प्रबोधाय तस्य संस्कारस्य प्रबोधाय उद्रेकाय माल्यम् ऋतुः

वसन्तादिः इन्दूदयः चन्द्रोदयः इत्यादयः ते प्रसिद्धाः उद्दीपनविभावाः प्रभवन्तीति शेषः। सः संस्कारः तदाश्रयो नायकादिर्वा तैः उद्दीपनविभावैः स्मरति स्मृतिमनुभवति वाञ्छति अभिलषति, द्वेष्टि, प्रयतते, अवैति अवबुध्यते मन्यते वक्ति चेष्टते ॥ ३६-३८ ॥

ते इति। ये स्वेदरोमोद्गमादयः, वर्मरोमाञ्चादयः ते तदा तस्मिन् काले संस्कारसमये अनुभावाः स्युः भवेयुः। ये च हर्षामर्षादयः, ते अत्र रसे संचारिणः व्यभिचारिणः ज्ञेयाः ॥ ३९ ॥

स्मृतीति। स्मृतिः स्मरणम् इच्छा अभिलाषः यत्नः प्रवृत्तिविशेषः तेभ्यः जन्म उत्पत्तिः येषां तथोक्ताः वरस्त्रीणां नायिकानां मनोवाक्कायसंश्रयाः मानसाः वाचिकाः कायिकाश्च ये विलासा भावविशेषाः ते तु लीलादयः ज्ञेयाः वेदितव्याः ॥ ४० ॥

तानाह लीलेति। लीलादयः द्वादश स्त्रीणां स्वभावजाः नैसर्गिका भवन्तीति शेषः। अन्ये हेलाभावादयः स्त्रीपुंसयोरपि उभयोरेव दम्पत्योः ज्ञेयाः ॥ ४१-४२ ॥

उपसङ्ख्यानमिति। एतेषां हेलादीनाम् अनुभावेषु पश्चाद्भावानुभूतिभ्यां स्मरणाद्यनुभाववत् स्मृत्यादीननुभावानिव उपसङ्ख्यानमुपलक्षणं मन्वते जानन्ति बुधा इति शेषः। यथा स्मृत्यादयः अनुभावाः संचारिणश्च तथा हावादयोऽपि संचारिणः अनुभावाश्च भवन्तीति भावः ॥ ४३ ॥

स्मृत्यादय इति। ये स्मृत्यादयः अनुभावाः संचारिणश्च भावाः ते नाट्ये नटैः कुशीलवैः अनुक्रियमाणाः अभिनयाः स्मृताः उक्ताः ॥ ४४ ॥

भावो यदा रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥ ४५ ॥
पूर्वानुरागो मानश्च प्रवासः करुणश्च सः।
पुरुषस्त्रीप्रकाण्डेषु चतुःकाण्डः प्रकाशते ॥ ४६ ॥
प्रागसंकेतयोर्यूनोरभिलाषः प्रवर्त्तते।
सङ्कल्परमणीयोऽनुरागः स प्राच्य उच्यते ॥ ४७ ॥
अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिलेति सः।
अहेतोर्नेति नेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते ॥ ४८ ॥
देशान्तरादिभिर्यूनोर्व्यवधानं चिराय यत्।
नवेऽनुरागे प्रौढे वा प्रवासः सोऽभिधीयते ॥ ४९ ॥
लोकान्तरगते यूनि वल्लभे वल्लभा यदा।
भृशं दुःखायते दीना करुणः स तदोच्यते ॥ ५० ॥
रतिरेवेष्टसंप्राप्तौ पुष्टः सम्भोग उच्यते।
सोऽपि पूर्वानुरागादेरानन्तर्य्याच्चतुर्विधः ॥ ५१ ॥

न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽनुषज्यते ॥ ५२ ॥
स्त्रीपुंसयोर्विप्रलम्भे वैचित्र्याकल्पनादयः ।
चेष्टाविशेषाः सम्भोगे चुम्बनालिङ्गनादयः ॥ ५३ ॥

जब रति नाम का भाव अधिक उत्कटता को प्राप्त करता है तथा अपनी चाही वस्तु को नहीं पाता है तब वह विप्रलम्भ कहा जाता है। वह विप्रलम्भ स्त्री तथा पुरुष रूप आधारों में पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण इन चार प्रकारों का होकर प्रकाशित होता है। पहले से एक दूसरे को न पहचानने वाले युवा तथा युवती दोनो का एकाएक जो एक दूसरे के प्रति अनुराग प्रवृत्त होता है तथा वासनाविशेष के कारण रमणीय वह अनुराग पूर्व अर्थात् पूर्वानुराग कहा जाता है। प्रेम की गति साँप की भाँति स्वभाव से वक्र होती है, इसलिये वह विप्रलम्भ बिना कारण के नहीं होता है ऐसी बात नहीं है। अथवा उक्ति का कारण होने से वह मान कहा जाता है।

नवीन अथवा प्रवृद्ध प्रेम होने पर जो युवक तथा युवती दोनों में स्थानभिन्नता के कारण दीर्घकाल तक विच्छेद है, वह प्रवास कहा जाता है। जब युवक के दूसरे लोक में चले जाने पर प्रियतमा बेचारी बहुत दुःख मनाती है तब वह करुण कहा जाता है। रति ही प्रिय की प्राप्ति होने पर अत्यधिक पुष्ट होकर सम्भोग कहा जाता है। वह सम्भोग भी पूर्वानुराग आदि के तत्काल बाद होने से अथवा निकट से सम्बद्ध होने से चार प्रकार का (पूर्व रागानन्तर, मानानन्तर, प्रवासानन्तर तथा करुणानन्तर संभोग)) होता है। संभोग विप्रलम्भ के बिना उत्कर्ष नहीं प्राप्त करता है, क्योंकि वस्त्र आदि के कषाय से रंग दिये जाने पर रंग खूब चढ़ता है। विप्रलम्भ की दशा में स्त्री तथा पुरुष दोनों के चित्त के विकृत होने से विविध सङ्कल्प विशेष उत्पन्न होते हैं। सम्भोग में चुम्बन, आलिंगन आदि चेष्टा विशेष होते हैं ।।४५-५३॥

स्व० भा०—शृङ्गार के विषय में रुद्रट ने अपना विचार इस प्रकार दिया है—

> व्यवहारः पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयोः रतिप्रकृतिः ।
> शृङ्गारः स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ॥
> संभोगः संगतयोर्वियुक्तयोर्यत्र विप्रलम्भोऽसौ ॥ काव्यालंकार१२।५-६॥
> अन्योऽन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ ।
> आलोकनवचनादि स सर्वः संभोगशृङ्गारः ॥ वही १३।१॥
> अथ विप्रलम्भनामा शृङ्गारोऽयं चतुर्विधो भवति ।
> प्रथमानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वेन ॥ वही १४।१॥

उन्होंने मान का लक्षण यह दिया है—

> मानः स नायके यं विकारमायाति नायिका सेर्ष्या ।
> उद्दिश्य नायिकान्तरसंबन्धसमुभवं दोषम् ॥ वही १४।१५ ॥

प्रवास का भी लक्षण अत्यन्त स्पष्ट तथा व्यापक है—

> यास्यति याति गतो यत्परदेशं नायकः प्रवासोऽसौ ।
> एष्यत्येत्यायातो यथत्वंवस्थोऽन्यथा च गृहाद ॥ वही १४।३३॥

वस्तुतः करुण विप्रलम्भ तथा करुण रस में अन्तर यह है कि प्रथम में नायिका या नायक

या तो मर जाता है, या मृतकल्प हो जाता है तथा बाद में उन दोनों का समागम होता है किन्तु करुण रस में दोनों में फिर मिलन नहीं होता।

धनञ्जय ने शृङ्गार को त्रिविध स्वीकार किया है—

अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा ॥ दशरूपक ४।५०॥

इन्होंने भी मान तथा प्रवास को विप्रयोग कहा है।

करुणविप्रलम्भ तथा करुण का अन्तर धनञ्जय ने स्पष्ट शब्दों में दिया है—

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः, प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥ वही ४।६७॥

भाव इति। यदा रतिर्नाम भावः प्रकर्षम् औत्कट्यम् अधिगच्छति प्राप्नोति अभीष्टम् प्रियम् नाधिगच्छति न प्राप्नोति च तदा स विप्रलम्भः उच्यते कथ्यते ॥ ४५ ॥

पूर्वेति। स विप्रलम्भः पुरुषश्रीप्रकाण्डेषु उत्तमनायिकानायकेषु पूर्वानुरागः मानः प्रवासः करुणश्चेति चतुःकाण्डः चतुर्विध इत्यर्थः सन् प्रकाशते ॥ ४६ ॥

प्रागिति। प्राक् पूर्वम् असङ्केतयोः सङ्केतरहितयोः यूनोः स्त्रीपुंसयोः सहसा यः अभिलाषः अन्योन्यानुरागः प्रवर्त्तते प्रभवति सङ्कल्पेन वासनाविशेषेण रमणीयः सः अनुरागः प्राच्यः पूर्व इत्यर्थः पूर्वराग इति यावत् उच्यते कथ्यते ॥ ४७ ॥

अहेरिति। प्रेम्णः प्रणयस्य गतिः प्रसरः अहेरिव सर्पस्येव स्वभावेन कुटिला वक्रा इति हेतोः स विप्रलम्भः अहेतोः हेतुं विना न इति न इति एवं न एवं न इति परस्परस्य विसंवादेन उक्तेर्वा हेतोः मानः उच्यते ॥ ४८ ॥

देशेति। नवे नूतने प्रौढे प्रवृद्धिं गते वा अनुरागे सति देशान्तरादिभिः यूनोर्दम्पत्योः चिराय दीर्घकालमित्यर्थः यद्व्यवधानं विच्छेदः, सः प्रवासः अभिधीयते कथ्यते ॥४९॥

लोकेति। यूनि तरुणे वल्लभे प्रिये लोकान्तरगते मृते सति वल्लभा कान्ता यदा दीना दुःखिनी सती भृशमतिशयेन दुःखायते दुःखमनुभवति तदा सः करुणः उच्यते। अत्र लोकान्तरगते इत्यत्र पुनः प्राप्ये इति वक्तव्यम् अप्राप्ये तु करुण एव रस इति बोध्यम् ॥ ५० ॥

रतिरिति। रतिरनुराग एव इष्टस्य प्रियजनस्य सम्प्राप्तौ सत्यां पुष्टः प्रवृद्धः सम्भोगः उच्यते। सः सम्भोगोऽपि पूर्वानुरागादेः पूर्वरागमानप्रवासकरुणानामित्यर्थः आनन्तर्यात् अनन्तरभवत्वात् चतुर्विधः पूर्वरागानन्तरसम्भोगः मानानन्तरसम्भोगः प्रवासानन्तरसम्भोगः करुणानन्तरसम्भोगश्चेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

नेति। सम्भोगः विप्रलम्भेन विना पुष्टिम् उत्कर्षं न अश्नुते न प्राप्नोति हि यतः वस्त्रादौ कषायिते कषायेण रक्ते सति भूयान् समुज्ज्वल इत्यर्थः रागः वर्णविशेषः अनुषज्यते वर्द्धते इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

स्त्रीति। विप्रलम्भे सति स्त्रीपुंसयोः दम्पत्योः वैचित्र्येण विकृतचित्तत्वेन आकल्पनादयः विविधाः सङ्कल्पविशेषा जायन्ते इति शेषः। सम्भोगे सति चुम्बनालिङ्गनादयः चेष्टाविशेषा भवन्ति ॥ ५३ ॥

विप्रलम्भोऽभियोगाद्यैः सम्भोगे साध्वसादिभिः।
मिथः परीक्षा याः प्रेम्णो निर्दिष्टास्ताः परीष्टयः ॥५४॥
विप्रलम्भादिशब्दानां लोकसिद्धेषु वस्तुषु।

प्रकृत्यादिविभागेन विनिवेशात् निरुक्तयः ॥ ५५ ॥
संश्रुत्य विप्रलम्भार्थान् गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ।
इत्यादिज्ञापकात् ज्ञेयः प्रपूर्वो वञ्चने लभिः ॥ ५६ ॥
अदानञ्च प्रतिश्रुत्य विसंवादनमेव च ।
कालस्य हरणं चाहुः प्रत्यादानञ्च वञ्चनम् ॥ ५७ ॥
पूर्वानुरागपूर्वेषु विप्रलम्भेषु तत्क्रमात् ।
विशेषद्योतकेनेह व्युपसर्गेण सूच्यते ॥ ५८ ॥
प्रतिश्रवो हि पूर्वानुरागे वक्रेक्षितादिभिः ।
अभीष्टालिङ्गनादीनामदानं हीभयादिभिः ॥ ५९ ॥
माने निवारणं तेषां विसंवादनमुच्यते ।
अयथावत् प्रदानं वा व्यलीकस्मरणादिभिः ॥ ६० ॥
प्रवासे कालहरणं व्यक्तमेषां प्रतीयते ।
प्रोष्यागतेष्विहैतानि कान्ताः कान्तेषु युञ्जते ॥ ६१ ॥
प्रत्यादानं पुनस्तेषां करुणे को न मन्यते ।
स्वयं दत्तानि हि विधिस्तानि तत्रापकर्षति ॥ ६२ ॥

विप्रलम्भ दशा में अभियोग—दूती प्रेषण आदि व्यापार–आदि प्रमुख चेष्टाओं के द्वारा तथा सम्भोग में साध्वस आदि–त्रास आदि–के द्वारा प्रेम की परस्पर परीक्षायें होती हैं, वे परीष्टि कहे जाते हैं। विप्रलम्भ आदि शब्दों का लौकिक विषयों में धातु, उपसर्ग आदि के विभाग द्वारा प्रयोग करने से निरुक्ति होती है। गृधि तथा वञ्चि धातुओं के प्रलम्भन अर्थ में ज्ञात होने से 'विप्रलम्भ' के अर्थों को (उनके अनुसार) सुनकर यहाँ 'प्र' (उपसर्ग) पूर्वक लभि धातु का–प्रलम्भ का–वञ्चना के अर्थ में प्रयोग समझना चाहिये। (सम्भोग आदि को) स्वीकार करके उसे न देना, विरुद्ध आचरण करना, कालक्षेप करना तथा उसे पुनः लौटा लेना वञ्चना कहा गया है। पूर्वराग प्रभृति 'विप्रलम्भों' में विशेष अर्थ के द्योतक 'वि' उपसर्ग के द्वारा इस प्रकरण में क्रमशः वह (अदान आदि) ज्ञात कराया जाता है, क्योंकि पूर्वानुराग में कटाक्षपात आदि तथा अभीष्ट आलिङ्गन आदि की प्रतिज्ञा, लज्जा तथा भय आदि के कारण दान नहीं हो पाता–अदानता रहती है। मान में उन चेष्टाओं का अनाचरण, अप्रिय कार्य तथा स्मरण आदि के द्वारा नियमपूर्वक न देने अथवा अनुचित रूप से देने को विसंवादन कहते हैं। इन (चारों प्रकार के विप्रलम्भों में प्रवास नामक विप्रलम्भ में कालक्षय स्पष्ट ही प्रतीत होता है तथा बाहर गये हुये व्यक्ति के लौट आने पर ही इस प्रसङ्ग में नायक तथा नायिकायें इन आलिङ्गन आदि कर्मों को करते हैं। कौन व्यक्ति है जो करुण-विप्रलम्भ में उन अभीष्ट आलिङ्गन आदि का पुनः ग्रहण नहीं जानता क्योंकि दैव अपने द्वारा दिये गये उन अभीष्ट आलिङ्गन आदि को करुण-रस में अपहृत कर लेता है ॥ ५४–६२ ॥

स्व० भा०—यहाँ भोज ने विप्रलम्भ शब्द की व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्या की है। उन्होंने 'डुलभष् प्राप्तौ' से भ्वादिगणीय 'लभ' धातु, दिवादिगणीय 'गृधु अभिकांक्षायाम्' तथा चुरादिगणीय 'वन्चु प्रलम्भने' इन तीन धातुओं की परस्पर तुलना करके यह दिखलाया है कि 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'लम्भ' धातु से बने 'प्रलम्भ' का अर्थ है वन्चु-वञ्चना करना। इसी में विशिष्ट अर्थों का बोध कराने के लिये 'वि' उपसर्ग लगाकर 'विप्रलम्भ' शब्द बनता है। इस 'वि' का अर्थ अदान, विसंवादन, कालक्षेप तथा प्रत्यादान गृहीत हो सकता है और यह क्रमशः पूर्वराग, मान, प्रवास तथा करुण इन चारों विप्रलम्भ की दशाओं का बोध करा देता है।

विप्रलम्भे इति। विप्रलम्भे अभियोगः दूतीप्रेषणादिव्यापारः आद्यः मुख्यः येषां तथाविधः चेष्टाविशेषैः तथा सम्भोगे साध्वसादिभिः त्रासादिभिः प्रेम्णः प्रणयस्य याः मिथः परस्परं परीक्षाः परिदर्शनानि ताः परीष्टयः निर्दिष्टाः कथिताः ॥ ५४ ॥

विप्रलम्भेति। विप्रलम्भादिशब्दानां प्रागुक्तानां लोकसिद्धेषु लौकिकेषु वस्तुषु विषयेषु प्रकृत्यादिविभागेन प्रकृत्यादीनां धातूपसर्गादीनां विभागेन विवेकेन विनिवेशात् प्रयोगात् निरुक्तयः अर्था उक्ता इति शेषः ॥ ५५ ॥

संश्रुत्येति। गृधिवञ्च्योः गृधिधातोः वञ्चिधातोश्च प्रलम्भने अर्थे इत्यादिज्ञापकात् ज्ञानकारणात् लिङ्गात् विप्रलम्भार्थान् संश्रुत्य श्रवणविषयीकृत्य प्रपूर्वोलभिः लम्भधातुः वञ्चने अर्थे ज्ञेयः वेदितव्यः ॥ ५६ ॥

अदानञ्चेति। प्रतिश्रुत्य कटाक्षावलोकनादिभिः सम्भोगमङ्गीकृत्येत्यर्थः अदानं तदकरणमित्यर्थः विसंवादनं विरुद्धाचरणं कालस्य हरणं क्षेपणं तथा प्रत्यादानं पुनर्ग्रहणम् एतच्चतुर्विधं भावं विप्रलम्भेषु चतुर्षु क्रमेण आहुरिति निष्कर्षः ॥ ५७ ॥

पूर्वेति। पूर्वानुरागपूर्वेषु पूर्वरागप्रभृतिषु विप्रलम्भेषु विशेषद्योतकेन विशिष्टार्थज्ञापकेन व्युपसर्गेण विनामकोपसर्गेण इह अस्मिन् प्रकरणे क्रमात् तत् पूर्वोक्तम् अदानादिकं सूच्यते बोध्यते ॥ ५८ ॥

प्रतिश्रव इति। हि यतः पूर्वानुरागे वक्रेक्षितादिभिः कुटिलदर्शनादिभिः अभीष्टालिङ्गनादीनां प्रतिश्रवः अङ्गीकरणं तथा ह्रीभयादिभिः लज्जासाध्वसादिभिः अदानं तदकरणम् ॥ ५९ ॥

माने इति। तेषाम् अभीष्टालिङ्गनादीनां निवारणम् अनाचरणमित्यर्थः व्यलीकस्मरणादिभिः अप्रियकार्यस्मरणादिभिः अयथावत् अनौचित्येनेत्यर्थः प्रदानं वा अभीष्टालिङ्गनादीनामिति भावः विसंवादनम् उच्यते कथ्यते ॥ ६० ॥

प्रवासे इति। एषां चतुर्णां विप्रलम्भानां मध्ये प्रवासे प्रवासाख्ये विप्रलम्भे कालहरणं व्यक्तं स्पष्टं प्रतीयते बुध्यते। प्रोष्य आगतेषु प्रवासात् प्रतिनिवृत्तेषु कान्तेषु कान्ताः इह कामिन्यः प्रकरणे एतानि आलिङ्गनादीनि वा युञ्जते कुर्वन्ति ॥ ६१ ॥

प्रत्यादानमिति। को जनः करुणे करुणाख्ये विप्रलम्भे तेषाम् अभीष्टालिङ्गनादीनां प्रत्यादानं पुनर्ग्रहणं न मन्यते न जानाति? अपि तु सर्व एव मन्यते इत्यर्थः। हि यतः विधिर्दैवं स्वयम् आत्मना दत्तानि तानि अभीष्टालिङ्गनादीनि तत्र करुणे अपकर्षति हरतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

प्रलम्भेत्यत्र यदि वा वञ्चनामात्रवाचिनि।
विना समासे चतुराश्चतुरोऽर्थान् प्रयुञ्जते ॥ ६३ ॥

विविधश्च विरुद्धश्च व्याविद्धश्च क्रमेण सः ।
विनिषिद्धश्च पूर्वानुरागादिषु विषज्यते ॥ ६४ ॥
पूर्वानुरागे विविधं वञ्चनं व्रीडितादिभिः ।
माने विरुद्धं तत् प्राहुः पुनरीर्ष्यायितादिभिः ॥ ६५ ॥
व्याविद्धं दीर्घकालत्वात् प्रवासे तत् प्रतीयते ।
विनिषिद्धन्तु करुणे करुणत्वेन गीयते ॥ ६६ ॥
रागोऽनु सह पश्चाद्वानुरूपोऽनुगतोऽपि वा ।
यूनोरपूर्वः पूर्वानुरागशब्देन शब्द्यते ॥ ६७ ॥
राजते रञ्जतेर्वापि रागः करणभावयोः ।
घञान्यकारके भावे नलोपेन नियम्यते ॥ ६८ ॥
मान्यते प्रेयसा येन यं प्रियत्वेन मन्यते ।
मनुते वा मिमीते वा प्रेमवानः स कथ्यते ॥ ६९ ॥
महाभाष्यकृतः कोऽसावनुमान इति स्मृतेः ।
ल्युडन्तोऽपि न पुंलिङ्गो मानशब्दः प्रदुष्यति ॥ ७० ॥
यत्राङ्गना युवानश्च वसन्ति न वसन्ति च ।
स प्रवासः प्रशब्देन प्रतीपार्थेन कथ्यते ॥ ७१ ॥
चिन्तोत्कण्ठादिभिश्चेतो भृशं वासयतीह यः ।
प्रवासयति वा यूनः स प्रवासो निरुच्यते ॥ ७२ ॥
प्रपूर्वको वसिर्ज्ञेयः कारितान्तःप्रमापणे ।
तूष्णीं प्रवासयेदेनमिति वृद्धानुशासनात् ॥ ७३ ॥

वह विप्रलम्भ पूर्वानुराग आदि में क्रमशः विविध, विरुद्ध, व्याविद्ध तथा विनिषिद्ध रूप से प्रयुक्त होता है। पूर्वानुराग में वञ्चन अर्थात् विप्रलम्भ लज्जा आदि रूपों से अनेक प्रकार का—विविध—होता है। मान में उसी को ईर्ष्या आदि के विरुद्ध–प्रतीप–कहा गया है। प्रवास में वही वञ्चना बहुत समय तक रहने से व्याविद्ध अर्थात् विशेष रूप से परिणत प्रतीत होता है तथा करुण में वहीं नितान्त शोक जनक होने के कारण विनिषिद्ध-विशेषरूप से निषिद्ध रूप में परिणत प्रतीत होता है। पूर्वानुराग शब्द के द्वारा प्रेमी तथा प्रेमिका में विद्यमान 'राग' शब्द 'अनु' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होकर पश्चात्, अनुरूप तथा अनुगत अर्थ की प्रतीति कराते हुए अत्यन्त विचित्र के रूप में प्रकट कराया जाता है। 'राज्' धातु से करण तथा भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय लगाकर राग शब्द बनता है अथवा रञ्ज धातु से कर्तृभिन्न कारक के अर्थ में अथवा भाव के अर्थ

में घञ् प्रत्यय लगाकर तथा 'नकार' का लोप करके राजपद सिद्ध किया जाता है। जिसके कारण प्रियतम के द्वारा (प्रेयसी) सम्मानित-आदरणीय-की जाती है, तथा जिसको वह प्रीति के विषय के रूप में समझती है, अथवा मापती है वह प्रेममान कहा जाता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के "कोऽसावनुमान इति" इस प्रयोग को स्मरण करने से ल्युट् प्रत्ययान्त होते हुये भी पुल्लिङ्ग में 'मान' शब्द अशुद्ध नहीं होता है। जिसमें स्त्रियाँ तो रहती हैं, किन्तु युवकगण नहीं रहते वह प्रवास, उल्टे अर्थ वाले 'प्र' उपसर्ग के साथ रहने पर, कहा जाता है। इस संसार में जो चिन्ता, उत्कण्ठा आदि के द्वारा चित्त को अतिशय वासित-आच्छादित अथवा आकुल कर देता है अथवा तरुणों को दूसरे देश में भिजवा देता है वह प्रवास कहा जाता है। प्रपूर्वक 'वस्' धातु, इस व्यक्ति को जो मौन भाव से स्थित है दूसरे देश में ले जाये, इस पण्डितों के आदेशानुसार जिसमें आन्तर वध कर दिया जाता है, इस अर्थ में समझी जानी चाहिये ।।६३-७२।।

स्व० भा०—यहाँ भोज ने कई बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—१-'अनुराग' शब्द के 'राग' अंश को उन्होंने—राज तथा—रञ्ज दोनों धातुओं से घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न किया है। 'राज' धातु से भाव तथा कारण अर्थ में 'भावे ३।३।१८।। तथा "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" ३।३।१९।। सूत्रों के अनुसार 'रागः' पद की सिद्धि पुनः "चजोः कुघिण्यतोः' ७।३।५२।। के सहयोग से हुई। भाव अर्थ में इसका अर्थ 'राजृ दीप्तौ' भ्वादिगणीय होने से 'दीप्ति' तथा करण में "दीप्ति की जाती है जिसके द्वारा" इस प्रकार होगा। भ्वादि तथा दिवादि दोनों गणों में स्थित 'रञ्ज् रागे' अर्थ में रञ्ज धातु से 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' सूत्र से भाव तथा कारण अर्थ में घञ् प्रत्यय हुआ। 'घञि च भावकरणयोः' ६।४।२७।। से इसमें विद्यमान 'ञ्' का लोप हुआ। फिर "चजोः कुघिण्यतोः" ७।३।५२।। से 'ज्' का ग् हुआ और अन्त में रागः पद बना।

(२) दूसरी बात यह है कि 'मान' शब्द यहाँ पुल्लिग में प्रयुक्त है जब कि 'भावे ल्युपुन्तः' इस लिङ्गानुशासन के सूत्रानुसार ल्युट्प्रत्ययान्त 'मान' शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में होना चाहिये। इसका उत्तर वह यह देते हैं कि महाभाष्यकार सदृश विद्वानों ने अपने ग्रन्थ में 'कोऽसानुमान इति' सदृश पुल्लिग प्रयोगों को वहीं किया है। इससे अशुद्धि का प्रश्न नहीं उठता वस्तुतः लिङ्गानुशास में ही पुल्लिगाधिकार में "मानयानाभिधाननलिनपुलिनोद्यानशदनः सनस्थानचन्दनालानसमानभवनवसनसम्भावनविभावनविमानानि नपुंसके च" सूत्र से इसका प्रयोग पुल्लिग में भी होता है।

(३) तीसरी बात है प्रवास पद की काव्यात्मक व्याख्या।

प्रलम्भेति। यदि वा वञ्चनामात्रवाचिनि केवलवञ्चनार्थप्रतिपादके प्रलम्भ इत्यत्र प्रपूर्वकलम्भधातौ चतुराः कवयः विना व्युपसर्गेण समासे कृते चतुरः अर्थान् पूर्वरागमानप्रवासकरुणानित्यर्थः प्रयुञ्जते व्यवहरन्ति ॥ ६३ ॥

विविधश्चेति। स विप्रलम्भः पूर्वानुरागादिषु क्रमेण विविधश्च विरुद्धश्च व्याविद्धश्च विनिषिद्धश्च विपज्यते प्रयुज्यते ॥ ६४ ॥

पूर्वेति। पूर्वानुरागे वञ्चनं विप्रलम्भः व्रीडितादिभिः लज्जाभयादिभिः विविधं बहुप्रकारम्। माने तत् वञ्चनं पुनरीर्ष्यायितादिभिः विरुद्धं प्रतीपतया परिणतं प्राहुः बुधा इति शेषः। प्रवासे तत वञ्चनं दीर्घकालत्वात् बहुकालवर्तित्वात् व्याविद्धं विशेषेण व्याहतत्वेन परिणतं प्रतीयते। करुणे तत् करुणत्वेन नितरां शोकजनकत्वेन विशेषेण निषिद्धं निषिद्धतया परिणतम् ॥ ६५-६६ ॥

राग इति। पूर्वानुरागशब्देन यूनोः दम्पत्योः रागः अनुशब्दयोगेन सह पश्चाद्भाः अनुरूपो वा अनुगतो वा अतएव अपूर्वः अतीव चमत्कारी सन् शब्द्यते कथ्यते ॥ ६७ ॥

राग इति । राजतेः राजधातोः करणभावयोः करणे वाच्ये भावे वाच्ये चेत्यर्थः रागः रागशब्द इत्यर्थः घञा घञ्प्रत्ययेन, वापि अथवा रञ्जधातोः अन्यकारके कर्तृभिन्ने कारके भावे च घञा नलोपेन नियम्यते साध्यते इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

मान्यते इति । येन प्रेममानेन हेतुना प्रेयसा प्रियतमेन मान्यते माननीया क्रियते इत्यर्थः प्रेयसीति शेषः । यं प्रेममानं प्रियत्वेन प्रीतिविषयत्वेन मन्यते मनुते मिमीते वा जानातीत्यर्थः सः प्रेममानः कथ्यते ॥६९॥

ननु कथं मिमाते इति । माधातौ ल्युटि मानशब्दः पुंलिङ्ग इत्याशङ्कयाह महेति। कोऽप्यावनुमान इति महाभाष्यकृतः स्मृतेः स्मरणात् महाभाष्ये प्रयोगादित्यर्थः ल्युडन्तोऽपि पुंलिङ्गो मानशब्दः न प्रदुष्यति । न दोषमावहतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

यत्रेति । यत्र अङ्गनाः कान्ता वसन्ति तिष्ठन्ति, युवानश्च न वसन्ति न तिष्ठन्ति स प्रवासः प्रतीपार्थेन प्रतिकूलार्थेन प्रशब्देन कथ्यते ॥ ७१ ॥

चिन्तेति । इहास्मिन् संसारे यः चिन्तोत्कण्ठादिभिः चेतः चित्तं भृशमतिशयेन वासयति आच्छादयति आकुलयतीत्यर्थः वा यूनः तरुणान् प्रवासयति देशान्तरं नयतीत्यर्थः सः प्रवासः निरुच्यते कथ्यते ॥ ७२ ॥

प्रपूर्वक इति । प्रपूर्वकः वसिः वसधातुः एनं जनं तूष्णीं मौनभावेन स्थितमिति यावत् दुःखेनेति भावः प्रवासयेत् देशान्तरं नयेत् इति वृद्धानां पण्डितानाम् अनुशासनात् कारितं जनितम् अन्तः प्रमापगम् आन्तरो वधः तस्मिन् अर्थे इति शेषः ज्ञेयः बोध्यः ॥ ७३ ॥

अभूतोत्पादनायां कृञ् दृष्टः कुरु घटं यथा ।
दृष्टश्चोच्चारणे चोरङ्कारमाक्रोशतीतिवत् ॥ ७४ ॥

दृष्टोऽवस्थापनेऽश्मानमितः कुरु यथोच्यते ।
अभ्यञ्जनेऽपि च यथा पादौ मे सर्पिषा कुरु ॥ ७५ ॥

मूर्च्छाविलापौ कुरुते कुरुते साहसे मनः ।
करोति दुःखं चित्तेन योऽसौ करुण उच्यते ॥ ७६ ॥

भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु ।
भुनक्ति भुग्नो भुङ्क्तेऽन्नं भुङ्क्ते सुखमितीष्यते ॥ ७७ ॥

समीचीनार्थः संपूर्वात्ततो घञ्प्रत्यये सति ।
भावे वा कारके वापि रूपं सम्भोग इष्यते ॥ ७८ ॥

स पालनार्थः पूर्वानुरागानन्तर उच्यते ।
उत्पन्ना हि रतिस्तस्मिन्नानुकूल्येन पाल्यते ॥ ७९ ॥

स मानानन्तरं प्राप्तः कौटिल्यार्थं विगाहते ।
स्वतोऽपि कुटिलं प्रेम किमु मानान्वये सति ॥ ८० ॥

प्रवासानन्तरे तस्याभ्यवहारार्थतेष्यते ।
तत्र ह्युपोषितैरन्नमिव निर्विश्यते रतिः ॥ ८१ ॥
करुणानन्तरगतोऽनुभावार्थः स कथ्यते ।
विश्रम्भवद्भिरस्मिन् हि सुखमेवानुभूयते ॥ ८२ ॥
यदि वा भोग इत्यस्य संप्रयोगार्थवाचिनः ।
समा समासे चतुरश्चतुरोऽर्थान् प्रचक्षते ॥ ८३ ॥
स संक्षिप्तोऽथ सङ्कीर्णः सम्पूर्णः सम्यगृद्धिमान् ।
अनन्तरोपदिष्टेषु सम्भोगेषूपपद्यते ॥ ८४ ॥

'कृञ्' धातु अनुत्पन्न पदार्थ को उत्पन्न करने के अर्थ में देखा जाता है जैसे 'घड़ा करो-बनाओ में । यह धातु उच्चारण के अर्थ में भी देखा गया है जैसे "यह चोर है" इस प्रकार कहते हुये शोर करता है, में । अवस्थान—किसी वस्तु को कहीं रखने के अर्थ में भी कृञ् धातु का प्रयोग देखा जाता है । जैसे "अश्मानं इतः कुरु" 'पत्थर को यहाँ रखो' सदृश प्रयोगों में कहा जाता है । और लेप—अभ्यञ्जन-के भी अर्थ में (कृञ् का प्रयोग होता है, जैसे "सर्पिषा मे पादौ कुरु" "मेरे दोनों पैरों में घी का लेप करो" आदि में) इस प्रकार जो मूर्च्छा तथा विलय को उत्पन्न करता है, साहस-पूर्ण (विषभक्षण आदि) कर्मों में मन लगाता है, तथा मन से दुःख कराता है वह करुण कहा जाता है । भुज् धातु का पालन कुटिलता, भोजन तथा अनुभूति अर्थों में प्रयोग अभीष्ट है । जैसे (राजा पृथ्वीं) भुनक्ति, (राजा पृथ्वी का) पालन करता है, असौ भुग्नः—यह कुटिल है, अन्नं भुंक्ते—अन्न खाता है—तथा 'भुङ्क्ते सुखम्' सुख भोगता है—सदृश प्रयोगों में अभीष्ट है । हमारा समीचीन अर्थ 'सम्' उपसर्गपूर्वक (भुज् धातु से) घञ् प्रत्यय भाव अथवा कारक अर्थ में लगने पर 'सम्भोगे' इस रूप से इष्ट है । पूर्वानुराग के बाद होने से वह सम्भोग पालन के अर्थ में कहा जाता है क्योंकि इस सम्भोग में उत्पन्न रति अनुकूल रूप से पाली जाती है । वही सम्भोग मान के पश्चात् प्राप्त होने पर कुटिलता के अर्थ को प्राप्त करता है, क्योंकि प्रेम तो स्वभाव से ही कुटिल होता है पुनः मान का साथ हो जाने पर तो क्या कहना । प्रवास के पश्चात् तो उस सम्भोग की भोजनार्थता इष्ट है, क्योंकि उस दशा में (प्रवासियों के द्वारा रति उसी प्रकार आस्वादित की जाती है, जैसे उपवास किये हुये के द्वारा भोजन आस्वादित होता है । करुण के पश्चात् वह सम्भोग अनुभूति के अर्थ में कहा जाता है, क्योंकि इसमें (भावी सङ्गम में) विश्वास रखने वालों के द्वारा सुख ही अनुभव का विषय होता है ।

यद्यपि 'सम्' उपसर्ग के प्रयोग से युक्त होकर अर्थों का ज्ञान कराने वाले 'भोग' इस पद के समान रूप से (पूर्वराग आदि) चार अर्थ संक्षेप में प्रकट हो जाते हैं तथापि उन चारों अर्थों को प्रकट किया जा रहा है । वह संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पूर्ण तथा भलीभाँति ऋद्धियुक्त-विस्तृत-अर्थ तत्काल कहे गये सम्भोग में अथवा 'अनन्तर' के साथ कहे गये सम्भोग पदों में भी उपपन्न हो जाता है ॥ ७४-८४ ॥

स्व० भा०—भोज ने इन कारिकाओं में 'करुण' तथा 'सम्भोग' पदों का व्याकरण पर आधारित, काव्यशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार तथा कवित्वपूर्ण विवेचन किया है । उन्होंने 'डुकृञ् करणे' धातु से 'करुण' की निष्पत्ति मानी है । इस 'कृञ्' के चार प्रकार के अर्थों में जो

प्रयोग लोक में दृष्टिगोचर होते हैं उनका उल्लेख करते हुये उन्हें इस दशा पर भी घटित किया है। यह 'राग' की ही भाँति भाव तथा करण अर्थ में ही 'भोग' को भी घञन्त पद सिद्ध करते हैं। 'भोग' की सिद्धि जिस 'भुज्' धातु से होती है उसको तुदादिगण में "भुजो कौटिल्ये" तथा रुधादिगण में "भुज पालनाभ्यवहारयोः" अर्थों में पढ़ा गया है। चतुर्थ अनुभव रूप अर्थ भोज ने स्वयं निकाला है।

अभूतेति। कृञ् धातुरिति शेषः अभूतस्य अज्ञातस्य उत्पादनायां जनने अर्थे दृष्टः यथा घटं कुरु। तथा उच्चारणे अर्थे च दृष्टः चोरङ्कारमाक्रोशतीतिवत् अयं चौर इति शब्द-मुच्चार्य्य रौतीत्यर्थः इतिवत् दृष्टः निरूपित इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

दृष्ट इति। अवस्थापने अर्थे दृष्टः कृञ् इति पूर्वेणान्वयः यथा अश्मानं शिलाम् इतः अस्मिन् कुरु अवस्थापयेत्यर्थः यथा इति उच्यते कथ्यते। अभ्यञ्जनेऽपि विलेपने अर्थे दृष्ट इति शेषः यथा मे मम पादौ चरणौ सर्पिषा घृतेन कुरु विलेपयेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

मूर्च्छेति। यः मूर्च्छाविलापौ कुरुते जनयतीत्यर्थः साहसे सहसा क्रियमाणे विषभक्ष-णोद्बन्धनादाविति भावः मनः कुरुते, चित्तेन मनसा दुःखं करोति असौ करण उच्यते ॥ ७६ ॥

भुजिरिति। भुजिर्भुजधातुः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु इष्यते। पालने यथा भुनक्ति पृथिवीं राजेति शेषः। कौटिल्ये यथा भुग्नः कुटिल इत्यर्थः। अभ्यवहारे वा अन्नं भुङ्क्ते। अनुभूतौ यथा सुखं भुङ्क्ते इति ॥ ७७ ॥

समीचीनार्थ इति। समीचीनार्थः संपूर्वात् ततः तस्मात् भुजिधातोः भावे वाच्ये वा कारके वापि वाच्ये घञ्प्रत्यये सति रूपं सम्भोग इष्यते ॥ ७८ ॥

स इति। पूर्वानुरागानन्तरः पूर्वरागात् अनन्तरभावीत्यर्थः स सम्भोगः पालनार्थ उच्यते। हि यतः तस्मिन् सम्भोगे उत्पन्ना रतिः आनुकूल्येन अनुगतत्वेन पाल्यते ॥७९॥

स इति। स सम्भोगः मानात् अनन्तरं प्राप्तः कौटिल्यार्थं वक्रभावं विगाहते अव-लम्बते। यतः प्रेम स्वतोऽपि स्वभावादेव कुटिलं वक्रगामि मानान्वये मानसङ्गे सति किमु ? किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ८० ॥

प्रवासेति। प्रवासात् अनन्तरं तस्य सम्भोगस्य अभ्यवहारार्थता भोजनार्थता इष्यते। हि यतः तत्र प्रवासादनन्तरदशायाम् उपोषितैः कृतोपवासैः अन्नमिव रतिः निर्विश्यते भुज्यते, निर्वेशोभृतिभोगयोरित्यमरः ॥ ८१ ॥

करुणेति। करुणात् अनन्तरः परभावी स सम्भोगः अनुभावार्थः कथ्यते। हि यतः अस्मिन् करुणे विश्रम्भवद्भिः भाविसङ्गमे विश्वसद्भिरित्यर्थः सुखमेव नतु दुःखमित्येवका-रार्थः। अनुभूयते अनुभवविषयीक्रियते ॥ ८२ ॥

यदि वेति। सम्प्रयोगार्थवाचिनः संव्यवहारार्थबोधकस्य भोग इत्यस्य समासे संक्षेपे चतुरः पूर्वरागादयः समास्तुल्याः, तथापि चतुरः अर्थान् अभिधेयवस्तूनि प्रचक्षते प्रकटय-न्तीत्यर्थः ॥ ८३ ॥

स इति। सः संक्षिप्तः संक्षेपेणोक्तः, संकीर्णः अपुष्ट इत्यर्थः, सम्पूर्णः सम्यगुक्तः अथवा सम्यग् ऋद्धिमान् सविस्तर इति यावत् अनन्तरोपदिष्टेषु प्रागुक्तेषु सम्भोगेषु पूर्वराग-मानप्रवासकरुणानन्तरभाविष्वित्यर्थः, अर्थेषु उपपद्यते युज्यते ॥ ८४ ॥

नवे हि सङ्गमे प्रायो युवानः साध्वसादिभिः।
संक्षिप्तानेव रत्यर्थमुपचारान् प्रयुञ्जते ॥ ८५ ॥

मानस्यानन्तरे तेषां व्यलीकस्मरणादिभिः ।
रोषशेषानुसन्धानात् सङ्करः केन वार्य्यते ॥ ८६ ॥
सम्पूर्णः पूर्णकामानां कामिनां प्रोष्य सङ्गमे ।
उत्कण्ठितानां भूयिष्ठमुपभोगः प्रवर्त्तते ॥ ८७ ॥
प्रत्यागतेऽपि यत्रैषा रतिपुष्टिः प्रिये जने ।
सा किमावर्ण्यते यूनां तत्रैव मृतजीविते ॥ ८८ ॥
पूर्वानुरागपूर्वाणां व्युत्पत्तिभिरुदाहृतम् ।
अनन्तराणां सर्वेषां तत्समासे निरुक्तयः ॥ ८९ ॥
वृत्तिरत्राजहत्स्वार्था जहत्स्वार्थापि वर्त्तताम् ।
प्रधानमनुपस्कृत्य न तदर्थो निवर्त्तते ॥ ९० ॥
प्रथमानन्तरे वृत्तेरजहत्स्वार्थतेष्यते ।
नात्यन्तमजहत्स्वार्थां तां मानानन्तरे विदुः ॥ ९१ ॥
प्रवासानन्तरे त्वीषदजहत्स्वार्थतेष्यते ।
करुणार्थस्य गन्धोऽपि नास्त्येव तदनन्तरे ॥ ९२ ॥
अष्टमीचन्द्रकः कुन्दचतुर्थी सुवसन्तकः ।
आन्दोलनचतुर्थ्येकशाल्मली मदनोत्सवः ॥ ९३ ॥
उदकक्ष्वेडिकाऽशोकोत्तंसिका चूतभञ्जिका ।
पुष्पावचायिका चूतलतिका भूतमातृका ॥ ९४ ॥
कादम्बयुद्धानि नवपत्रिका विसखादिका ।
शक्रार्चा कौमुदी यक्षरात्रिरभ्युषखादिका ॥ ९५ ॥
नवेक्षुभक्षिका तोयक्रीडाप्रेक्षादिदर्शनम् ।
द्यूतानि मधुपानञ्च प्रकीर्णानीति जानते ॥ ९६ ॥

क्योंकि नवीन मिलन होने पर युवकगण भय आदि के कारण प्रायः रति के लिये व्यवहारों का संक्षेप में ही प्रयोग करते हैं। (अतः इस प्रकार का संभोग संक्षिप्त है।) इसी प्रकार मान के बाद में होने वाले संभोग में उन प्रेमी और प्रेमिकाओं के परस्पर किये गये व्यलीक—अप्रीतिकर कर्मों—के स्मरण आदि के कारण भी अवशिष्ट रोष के पुनर्निरीक्षण से संभव सङ्कर रति का अपरिपोष किसके द्वारा रोका जा सकता है। प्रवास के बाद मिलने पर (उत्कण्ठित) प्रेमियों का सफल मनोरथ होने पर प्रचुर उपभोग 'सम्पूर्ण' प्रवृत्त होता है। जहाँ प्रिय जन के लौट आने

पर ही यह सम्पूर्णभाव वाली रति की पुष्टि देखी जाती है, वहाँ प्रिय जन के मर कर जी उठने पर प्रेमियों की वह रतिपुष्टि विस्तार से क्या कही जा सकती है। (अतः यह समृद्धिमान संभोग हुआ।) इस प्रकार पूर्वानुराग है पूर्व में जिनके अर्थात् पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण आदि विप्रलम्भ के भेदों को प्रकृतिप्रत्यय आदि की साधना से कह दिया गया। उनके परवर्तियों का भी सबकी (पूर्वानुरागानन्तर, मानानन्तर आदि) भी संक्षेप से व्युत्पत्तियाँ कह दी गई हैं।

यहाँ अर्थात् अनन्तर संभोगों में अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था (लक्षणा भी) होनी चाहिये किन्तु मुख्य अर्थ का बिना ग्रहण किये लक्षणा का अर्थ निवृत्त नहीं होता। प्रथम के अनन्तर अर्थात् पूर्वराग के बाद वाले संभोग में वृत्ति की अजहत्स्वार्थता—मुख्यार्थ की अपरित्याग रूपता—अभीष्ट है। मान के बाद वाले संभोग में पूर्णतः अजहत्स्वार्था को लोग नहीं जानते हैं। प्रवासानन्तर संभोग में तो ईषत्—जरा सा—अजहत्स्वार्थता अभीष्ट है। करुण के अर्थ का करुणानन्तर संभोग में गन्ध भी-लेश भी नहीं है। (अतः यहाँ जहत्स्वार्था होती है।) अष्टमीचन्द्र कुन्दचतुर्थी, वसन्तक, आन्दोलन चतुर्थी, एकशाल्मली, मदनोत्सव, उदकक्ष्वेडिका, अशोकोत्तंसिका, चूतमञ्जिका, कादम्बयुद्ध, नवपत्रिका बिसखादिका, शक्रार्चा, कौमुदी, यक्षरात्रि, अभ्यूषखादिका, नवेक्षुभक्षिका, तोयक्रीडा, प्रेक्षा आदि का दर्शन, द्यूत तथा मधुपान को प्रकीर्ण के रूप में समझा जाता है। (इनका उक्त शृङ्गारों में यथायोग्य प्रयोग होना चाहिये) ॥ ८५–९६ ॥

स्व० भा०—यहाँ पर निरूपित प्रायः सभी विषय स्पष्ट हैं। वृत्तियों के विषय में केवल इतना ही समझ लेना है कि मुकुलभट्ट आदि कुछ दार्शनिक किसी भी पद के साक्षात् संकेतित अर्थ को ही सब कुछ समझते हैं और इससे जो कुछ भी भाव प्रकट होता है इसका कारण शब्दों का अभिधा व्यापार मानते हैं। न्याय-वैशेषिक आदि दार्शनिक सम्प्रदाय वाले इससे भी आगे बढ़ते हैं और वह गौणी, अप्रधान, अमुख्या अथवा लक्षणा नाम की भी शब्दशक्ति स्वीकार करते हैं जिससे मुख्य, प्रधान, वाच्य, अभिधेय अथवा संकेतित अर्थ के अतिरिक्त, इनका बाध करके भी एक विशिष्ट अर्थ शब्दों से निर्गत मानते हैं। इसमें मुख्यार्थ का कहीं आंशिक परित्याग करना पड़ता है, कहीं पूर्णतः। इसी को क्रमशः अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था कहते हैं। काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने एक तीसरी ही व्यंजनावृत्ति को स्वीकार किया है। जहत्स्वार्था आदि में से कुछ का अन्तर्भाव ये उपादान आदि लक्षणाओं में तथा कुछ का व्यंजना में कर देते हैं।

नवे इति। हि यतः नवे सङ्गमे युवानः कामिनः साध्वसादिभिः भयलज्जादिभिः हेतुभिः रत्यर्थम् उपचारान् व्यवहारान् संक्षिप्तानेव प्रकुर्वते कुर्वन्ति अतः तादृशः सम्भोगः संक्षिप्त इति भावः ॥ ८५ ॥

मानस्येति। मानस्य अनन्तरे परभाविनि सम्भोगे तेषां यूनां व्यलीकस्मरणादिभिः अन्योन्याप्रीतिकरानुष्ठानस्मृत्यादिभिर्हेतुभिः रोषस्येष्यस्य कोपावहस्येष्य अनुसन्धानात् बोधनात् सङ्करः अपरिपोष इत्यर्थः रतेरिति भावः केन वार्यते ? न केनापीत्यर्थः तस्मात्तादृशः सम्भोगः सङ्कीर्ण इति भावः ॥ ८६ ॥

सम्पूर्ण इति। प्रोष्य प्रवासानन्तरमित्यर्थः सङ्गमे उत्कण्ठितानां प्रागिति शेषः कामिनां पूर्णकामानां सफलमनोरथानां सतां भूयिष्ठं प्राचुर्येणेत्यर्थः उपभोगः सम्पूर्णः प्रवर्त्तते ॥ ८७ ॥

प्रत्यागते इति। यत्र प्रिये जने प्रत्यागते प्रवासानन्तरं प्रतिनिवृत्ते सति एषा सम्पूर्णेति भावः रतिपुष्टिर्दृश्यते इति शेषः। तत्रैव प्रिये जने मृतजीविते सति यूनां सा

रतिपुष्टिः किम् आवर्ण्यते विस्तरेण कथ्यते ? तस्मात् तादृशः सम्भोगः सम्यक् समृद्धिमानिति भावः ॥ ८८ ॥

पूर्वेति । पूर्वानुरागपूर्वाणां पूर्वरागमानप्रवासकरुणानां विप्रलम्भभेदानां व्युत्पत्तिभिः प्रकृतिप्रत्ययसाधनाभिः उदाहृतं कथितं भावे क्तप्रत्ययः । अनन्तराणां तत्परवर्त्तिनां सर्वेषां सम्भोगानामिति भावः तत्समासे तेषां समासे पञ्चमीतत्पुरुषे इति भावः निरुक्तयः व्युत्पत्तयः उक्ता इति शेषः ॥ ८९ ॥

वृत्तिरिति । अत्र एषु अनन्तरेषु सम्भोगेषु अजहत्स्वार्था जहत्स्वार्थापि वृत्तिः लक्षणारूपेत्यर्थः वर्त्तताम् तिष्ठतु, किन्तु प्रधानं मुख्यार्थमित्यर्थः अनुपवृत्य अनुपवृत्य तदर्थः लक्षणार्थः न निवर्त्तते नापगच्छति ॥ ९० ॥

प्रथमेति । प्रथमानन्तरे पूर्वरागात् परवर्त्तिनि सम्भोगे इत्यर्थः वृत्तेर्लक्षणायाः न जहत् स्वार्थः यया तस्याः भावः अजहत्स्वार्थता मुख्यार्थात्यागरूपतेत्यर्थः इष्यते । मानानन्तरे मानात् परभाविनि सम्भोगे तां वृत्तिम् अत्यन्तम् अजहत्स्वार्थां न विदुः न जानन्ति ॥ ९१ ॥

प्रवासेति । प्रवासानन्तरे प्रवासात् परभाविनि सम्भोगे तु ईषत् अत्यल्पम् अजहत्स्वार्थता इष्यते । करुणार्थस्य तदनन्तरे तत्परभाविनि सम्भोगे गन्धोऽपि लेशोऽपीत्यर्थः नास्ति एव । अतस्तत्र जहत्स्वार्थेति भावः ॥ ९२ ॥

अष्टमीति । अष्टमीचन्द्रकादीनि मधुपानान्तानि चतुर्विंशतिः प्रकीर्णानि प्रागुक्तेषु शृङ्गारेषु यथायथं योज्यानीति भावः ॥ ९३–९६ ॥

नित्यो नैमित्तिकश्चान्यः सामान्योऽन्यो विशेषवान् ।
प्रच्छन्योऽन्यः प्रकाशोऽन्यः कृत्रिमाकृत्रिमावुभौ ॥ ९७ ॥
सहजाहार्य्यनामानौ परौ यौवनजोऽपरः ।
विश्रम्भजश्च प्रेमाणो द्वादशैते महर्द्धयः ॥ ९८ ॥
चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोत्पत्तिसन्ततिः ।
प्रलापो जागरः कार्श्यमरतिर्विषयान्तरे ॥ ९९ ॥
लज्जाविसर्जनं व्याधिरुन्मादो मूर्च्छनं मुहुः ।
मरणञ्चेति विज्ञेयाः क्रमेण प्रेमपुष्टयः ॥ १०० ॥
नायकः प्रतिपूर्वोऽयमुपपूर्वोऽनुनायकः ।
नायिका प्रतिपूर्वाऽसावुपपूर्वानुनायिका ॥ १०१ ॥
नायिकानायकाभासावुभयाभास इत्यपि ।
तिर्य्यक्षु च तदाभासा इति द्वादश नायकाः ॥ १०२ ॥
तेषु सर्वगुणोपेतः कथाव्यापी च नायकः ।
अन्यायवांस्तदुच्छेद्य उद्धतः प्रतिनायकः ॥ १०३ ॥

ततः कैश्चिद् गुणैर्हीनः पूज्यश्चैवोपनायकः ।
समो न्यूनोऽपि वा तस्य कनीयाननुनायकः ॥ १०४ ॥
स्यात् कथाव्यापिनी सर्वगुणयुक्ता च नायिका ।
हेतुरीर्ष्यायितादीनां सपत्नी प्रतिनायिका ॥ १०५ ॥
ततः कैश्चिद्गुणैर्हीना पूज्या चैवोपनायिका ।
समा न्यूनापि वा किञ्चित् कनीयस्यनुनायिका ॥ १०६ ॥
तदाभासास्तथैव स्युर्भेदास्तेषां गुणादिभिः ।
नायकस्तत्र गुणत उत्तमो मध्यमोऽधमः ॥ १०७ ॥
प्रकृतः सात्विकः स स्याद्राजसस्तामसस्तथा ।
साधारणोऽनन्यजानिः स विज्ञेयः परिग्रहात् ॥ १०८ ॥
उद्धतो ललितः शान्तः उदात्तो धैर्य्यवृत्तितः ।
शठो धृष्टोऽनुकूलश्च दक्षिणश्च प्रवृत्तितः ॥ १०९ ॥
गुणतो नायिकापि स्यादुत्तमा मध्यमाधमा ।
मुग्धा मध्या प्रगल्भा च वयसा कौशलेन च ॥ ११० ॥
धीराधीरा च धैर्य्येण स्वान्यदीया परिग्रहात् ।
ऊढानूढोपयमनात् क्रमाज्येष्ठा कनीयसी ॥ १११ ॥
मानर्द्धेरुद्धतोदात्ता शान्ता च ललिता च सा ।
सामान्या च पुनर्भूश्च स्वैरिणी चेति वृत्तितः ॥ ११२ ॥

नित्य नैमित्तिक, सामान्य, विशेष, प्रच्छन्न, प्रकाश, कृत्रिम, अकृत्रिम, ये दोनों, इसके बाद के सहज तथा आहार्य नाम वाले, इसके अतिरिक्त यौवनज, विश्रम्भज ये बारह महाऋद्धियाँ हैं। नेत्रराग, मन की आसक्ति, सङ्कल्प से उत्पन्न विचार प्रलाप, जागरण, कृशता, दूसरे विषयों से अरुचि, निर्लज्जता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण क्रमशः ये प्रेम को परिपुष्टि हैं। नायक, प्रतिपूर्वक नायक अर्थात् प्रतिनायक, उपपूर्वक नायक अर्थात् उपनायक, अनुनायक, नायिका, प्रतिपूर्वा नायिका अर्थात् प्रतिनायिका, उपपूर्वा नायिका अर्थात् उपनायिका, अनुनायिका, नायिका तथा नायक के आभास अर्थात् नायकाभास और नायिकाभास, उभयाभास अर्थात् नायिकानायकाभास ये भी तथा (पक्षी और साँप आदि) तिर्यक् योनि वालों में इनका आभास होना ये बारह नायक हैं। इनमें से सभी गुणों से संयुक्त तथा पूरी कथा में व्याप्त रहने वाला नायक है। नीतिहीन, उग्रस्वभाव तथा नायक के द्वारा विनाश्य प्रतिनायक होता है। नायक से कुछ ही गुणों में कम, आदर का पात्र उपनायक है। नायक से गुणों में समान, अथवा थोड़ा सा कम, और उससे कनिष्ठ अनुनायक कहा जाता है। आख्यान में आद्योपान्त व्याप्त, सभी

गुणों से युक्त नायिका है। ईर्ष्या आदि का कारण तथा सौत प्रतिनायिका है। नायिका से कुछ ही गुणों में कम तथा पूजनीया उपनायिका है। नायिका से गुणों में समान अथवा थोड़ा सा कम तथा उससे छोटी अनुनायिका होती है। इनके आभास अर्थात् नायिकाभास आदि भेद भी नायकों के आभास आदि के सदृश ही गुण आदि के आधारों पर होते हैं। इनमें से नायक गुण के आधार पर उत्तम, मध्यम तथा अधम होते हैं। वे ही प्राकृत, सात्त्विक, राजस तथा तामस होते हैं। वह नायक विवाह के आधार पर साधारण अर्थात् बहुत सी पत्नियों वाला तथा अनन्य जाति अर्थात् एक ही पत्नीवाला दो प्रकार का है। धीरता के आधार पर नायक उद्धत, ललित, शान्त तथा उदात्त होता है। अपनी प्रवृत्तियों के भेद से वह शठ, धृष्ट, अनुकूल तथा दक्षिण होता है। गुण के आधार पर नायिका भी उत्तमा, मध्यमा तथा अधमा होती है। आयु तथा निपुणता के आधार पर वही मुग्धा, मध्या तथा प्रगल्भा होती है। धैर्य के आधार पर वह धीरा तथा अधीरा होती है और परिग्रह के भेद से स्वकीया तथा परकीया। स्वीकारभेद से वह ऊढ़ा तथा अनूढ़ा है और क्रम के आधार पर ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा। मान तथा समृद्धि या मान की समृद्धि के भेद से वह नायिका उद्धता, उदात्ता, शान्ता तथा ललिता होती है। व्यवहारभेद से वही सामान्या, पुनर्भू तथा स्वैरिणी होती है॥ ९७–११२॥

स्व० भा०—नायक-नायिका भेद, काम की दशा आदि का प्रसंग रुद्रट के काव्यालंकार में १२ वें से १४ वें अध्याय तथा दशरूपक के द्वितीय प्रकाश में बिखरा पड़ा है। इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, अतः उनको उद्धृत नहीं किया जा रहा है। भरत के नाट्यशास्त्र के चौबीसवें अध्याय में स्त्रियों के स्वभावज तथा अयत्नज आदि अलंकार, काम की दश अवस्थायें, अष्टनायिका विचार आदि तथा चौतीसवें अध्याय में प्रकृति आदि के आधार पर नायक तथा नायिका के भेद तथा उनके सहायकों के लक्षण आदि वर्णित हैं। किन्तु जितने अधिक आधारों पर भोज ने इनका विभाजन एक स्थान पर कर दिया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

नित्य इति। नित्यादयः विप्रलम्भजान्ताः एते द्वादश प्रेमाणः प्रणयाः महर्द्धयः अतिसमृद्धाः॥ ९७–९८॥

चक्षुः प्रीतिरिति। चक्षुःप्रीतिः नेत्ररागः इत्यादयः मरणान्ता व्यापाराः क्रमेण प्रेमपुष्टयः प्रणयपरिपोषाः विज्ञेयाः॥ ९९–१००॥

नायक इति। नायकः प्रतिपूर्वः अयं प्रतिनायक इत्यर्थः। उपपूर्वः उपनायक इत्यर्थः, अनुनायक इति चत्वारः। नायिका, प्रतिपूर्वा प्रतिनायिका, असौ नायिका उपपूर्वा उपनायिकेत्यर्थः अनुनायिका एताश्चतस्रः॥ १०१॥

नायिकेति। नायिकानायकाभासौ नायिकाभासः नायकाभास उभयाभासः नायिकानायकाभास इत्यर्थः तिर्यक्षु पक्षिसर्पादिषु च तदाभासा नायिकानायकाभासाः। इत्येवं द्वादश नायकाः उक्ता इति शेषः॥ १०२॥

तेष्विति। तेषु द्वादशसु मध्ये सर्वगुणोपेतः त्यागी कृती कुलीन इत्यादि सर्वगुणवान् कथाव्यापी कथाया आख्यानस्य आद्योपान्तस्थायीत्यर्थः नायकः श्रेष्ठो नेता इत्यर्थः यथा रामः। अन्यायवान् नीतिविमुखः उद्धतः उग्रस्वभावः तदुच्छेद्यः तेन नायकेन उच्छेद्यः विनाश्यः प्रतिनायकः। यथा रावणः॥ १०३॥

तत इति। कैश्चित् गुणैः ततः नायकात् हीनः रहितः पूज्यश्च माननीयश्च उपनायकः यथा सुग्रीवः। समः गुणैरिति भावः न्यूनः किञ्चित् हीनो वा तस्य नायकस्य कनीयान् कनिष्ठः अनुनायकः। यथा लक्ष्मणः॥ १०४॥

स्यादिति। कथाव्यापिनी कथाया आद्योपान्तवर्त्तिनी सर्वगुणयुक्ता नायिका स्यात्। ईर्ष्यायितादीनां हेतुः विद्वेषिणीत्यर्थः सपत्नी प्रतिनायिका ॥ १०५ ॥

तत इति। ततः नायिकायाः कैश्चिद् गुणैः हीना रहिता पूज्या च उपनायिका। समा तुल्या किञ्चित् न्यूनापि कनीयसी कनिष्ठा नायिकाया इति शेषः अनुनायिका ॥ १०६ ॥

तदाभासा इति। तथैव नायकवदेवेत्यर्थः तासां नायिकानां आभासाः स्युः भवेयुः। तेषां आभासानां गुणादिभिः भेदाः विशेषाः ज्ञेया इति शेषः। तत्र नायकभेदेषु नायकः गुणतः गुणैरित्यर्थः उत्तमः मध्यमः अधमः ॥ १०७ ॥

प्राकृत इति। स नायकः प्राकृतः सात्त्विकः राजसः तथा तामसः स्यात्। स नायकः परिग्रहात् भार्य्याग्रहणात् साधारणः बहुभार्य्य इति यावत् तथा अनन्यजानिः एकपत्नीक इत्यर्थः विज्ञेयः ॥ १०८ ॥

उद्धत इति। स नायकः धैर्य्यवृत्तितः धीरताया व्यवहारभेदेनेत्यर्थः। उद्धतः दुर्द्धर्ष इति यावत् ललितः सौम्यः शान्तः शान्तिमार्गे स्थित इत्यर्थः उदात्तः उदारगुणवानित्यर्थः। प्रवृत्तितः प्रवृत्तेर्भेदेनेत्यर्थः शठः धृष्टः अनुकूलः दक्षिणश्च भवतीत्यर्थः ॥ १०९ ॥

गुणत इति। नायिकापि गुणतः गुणानुसारेण उत्तमा मध्यमा अधमा अपि स्यात्। तथा वयसा कौशलेन नैपुण्येन च मुग्धा प्रगल्भा च स्यात् ॥ ११० ॥

धीरेति। धैर्य्येण धैर्य्यानुसारेण धीरा अधीरा च। तथा परिग्रहात् परिग्रहभेदेन स्वा स्वीया अन्यदीया परकीया च। उपयमनात् स्वीकरणभेदात् ऊढा कृतोद्वाहा तथा अनूढा अकृतोद्वाहा। तथा क्रमात् ज्येष्ठा कनीयसी कनिष्ठा च ॥ १११ ॥

मानर्द्धेरिति। मानर्द्धेः मानसमृद्धिभेदादित्यर्थः सा नायिका उद्धता उदात्ता शान्ता ललिता च भवतीति शेषः। वृत्तितः व्यवहारभेदात् सामान्या साधारणी पुनर्भूः स्वैरिणी च भवतीति शेषः ॥ ११२ ॥

आजीवतस्तु गणिका रूपाजीवा विलासिनी।
अवस्थातोऽपराश्चाष्टौ विज्ञेयाः खण्डितादयः ॥ ११३ ॥
निद्राकूणितताम्राक्षो नारीनखविभूषितः।
प्रातरेति प्रियो यस्याः कुतश्चित् खण्डिता तु सा ॥ ११४ ॥
चाटुकारमपि प्राणनाथं कोपादपास्य या।
पश्चात् तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥ ११५ ॥
दूतीमहरहः प्रेष्य कृत्वा संकेतकं क्वचित्।
यस्य न मिलितः प्रेयान् विप्रलब्धेति तां विदुः ॥ ११६ ॥
सा तु वासकसज्जा स्यात् सज्जिते वासवेश्मनि।
प्रियमास्तीर्णपर्य्यङ्के भूपिता या प्रतीक्षते ॥ ११७ ॥
स्वाधीनपतिका सा तु यस्याः पार्श्वं न मुञ्चति।
प्रियश्चित्ररतक्रीडासुखास्वादनलोलुपः ॥ ११८ ॥

पुष्पेषुपीडिता कान्तं याति या साभिसारिका ।
प्रियो देशान्तरे यस्याः सा तु प्रोषितभर्तृका ॥ ११९ ॥
यस्याः समुचितेप्यह्नि प्रवासी नैति वल्लभः ।
विरहोत्कण्ठिता सा तु द्वात्रिंशदिति नायिकाः ॥ १२० ॥
हीनपात्राणि शेषाणि पीठमर्दो विदूषकः ।
विटचेटौ पताकाश्च सख्यश्चैषां परिग्रहः ॥ १२१ ॥
महाकुलीनतौदार्य्यं महाभाग्यं कृतज्ञता ।
रूपयौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यसम्पदः ॥ १२२ ॥
मानितोदारवाक्यत्वमदरिद्रानुरागिता ।
द्वादशेति गुणानाहुर्नायकेष्वाभिगामिकान् ॥ १२३ ॥
मृद्वीकानारिकेलाम्रपाकाद्याः पाकभक्तयः ।
नीलीकुसुम्भमञ्जिष्ठारागाद्या रागभक्तयः ॥ १२४ ॥
अन्तर्व्याजवहिर्व्याजनिर्व्याजा व्याजभक्तयः ।
धर्मार्थकामोदर्काश्च प्रेमसम्पर्कभक्तयः ॥ १२५ ॥

जीविकाभेद से वही गणिका, रूपाजीवा तथा विलासिनी हैं। अवस्था के आधार पर खण्डिता आदि दूसरे आठ प्रकार के भेद और समझे जाने चाहिये। नींद के कारण सङ्कुचित तथा लाल-लाल आँखें लिये किसी दूसरी स्त्री के नखक्षत आदि से अलंकृत जिस स्त्री का प्रेमी कहीं से प्रातःकाल आता है वह खण्डिता है। चाटुकारिता करने वाले भी अपने प्रिय को क्रोध के कारण छोड़कर बाद में जो पश्चात्ताप करती है वह कलहान्तरिता है। दूती को प्रतिदिन भेजकर कहीं गुप्त मिलन-स्थल नियुक्त करके भी जिसका प्रिय नहीं मिलता है, उसको लोग विप्रलब्धा जानते हैं। वासकसज्जा वह होगी जो सजेसजाये पलंग से युक्त निवासगृह में बिछी हुई सेज पर सभी अलङ्कारों से युक्त होकर (स्वयं सजधज कर) अपने प्रिय की प्रतीक्षा करती है। स्वाधीनपतिका तो वह है जिसका प्रिय चित्ररत तथा चित्र-विचित्र क्रीडाओं के सुख का लोभी होकर प्रियतमा की बगल से हटता तक नहीं। कामव्यथा से पीड़ित होकर जो स्वयं कान्त के पास जाती है वह अभिसारिका है। जिसका प्रियतम किसी दूसरे देश में है वह तो प्रोषितभर्तृका है। जिसका प्रियतम परदेश गया है और निर्धारित दिन भी पास में नहीं आता है वह विरहोत्कण्ठिता है। इस प्रकार ये बत्तीस प्रकार की नायिकायें हैं। इसके अतिरिक्त पीठमर्द, विदूषक, विट तथा चेट ये नीच पात्र हैं। इनके साथ ही पताका स्थान और सखियाँ इनका भी ग्रहण होना चाहिये। (१) महाकुल में जन्म, (२) उदारता, (३) महाभाग्य, (४) कृतज्ञता, (५) रूप, (६) यौवन, (७) विदग्धता, (८) शील, (९) सौभाग्य की सम्पत्ति, (१०) मानिता, (११) उदारवाक्यता, (१२) अदरिद्रानुरागिता अर्थात् अक्षुण्ण प्रेम इन बारह को नायकों में विद्यमान रहने वाला आभिगामिक—लोगों को प्राप्य प्रयोजन-गुण कहा जाता है।

मृद्वीका, नारिकेलु, आम्रपाक आदि को पाकभक्ति, नीली, कुसुम्भ, मञ्जिष्ठाराग आदि रागभक्तियाँ हैं। अन्तर्व्याज, बहिर्व्याज तथा निर्व्याज आदि व्याजभक्तियाँ हैं। धर्म, अर्थ तथा काम से सम्बद्ध प्रेमसम्पर्क भक्तियाँ हैं ॥ ११३–१२५ ॥

स्व० भा०—इन सबके लक्षण स्पष्ट हैं। जो अस्पष्ट हैं, पाक आदि इनमें से कुछ का तो प्रथमादि परिच्छेदों में उल्लेख हो गया है और विस्तृत रूप से आगे आयेंगे।

आजीवत इति। तु किन्तु सा आजीवतः जीविकाभेदेन रूपाजीवा सौन्दर्यजीविका विलासिनी विलासरता गणिका वेश्या भवति। अवस्थातः अवस्थाभेदेन अपरा अष्टौ खण्डितादयः विज्ञेयाः ॥ ११३ ॥

निद्रेति। यस्याः प्रियः कान्तः निद्रया कूणिते सङ्कुचिते ताम्रे रक्ते अक्षिणी नेत्रे यस्य तथाभूतः नार्याः अपरायाः कान्तायाः नखेन नखक्षतेन विभूषितः अलंकृतः सन् कुतश्चित् कस्मादपि स्थलात् प्रातः एति आगच्छति पार्श्वमिति शेषः सा तु खण्डिता ॥ ११४ ॥

चाटुकारमिति। या चाटुकारं प्रियकारिणमपि प्राणनाथं कान्तं कोपात् मानात् अपास्य विहाय पश्चात्तापम् अवाप्नोति लभते सा तु कलहान्तरिता ॥ ११५ ॥

दूतीमिति। अहरहः प्रतिदिनं पुनः पुनरिति भावः दूतीं प्रेष्य समीपं प्रापय्य क्वचित् प्रदेशे संकेतं कृत्वा स्थितायाः यस्याः नायिकायाः प्रेयान् कान्तः न मिलितः न सङ्गतः तां विप्रलब्धेति विदुः जानन्ति ॥ ११६ ॥

सेति। या भूषिता अलंकृता सती लज्जिते कृतसज्जे आस्तीर्णपर्यङ्के वासवेश्मनि वासभवने प्रियं तदागमनमिति भावः प्रतीक्षते, सा तु वासकसज्जा स्यात् ॥ ११७ ॥

स्वाधीनेति। यस्याः प्रियः चित्रा विविधा मनोज्ञा वा या रतक्रीडा सुरतविहारः तस्याः तस्यां वा यत् सुखं तस्य आस्वादने लोलुपः लुब्धः सन् पार्श्वं न मुञ्चति न यजति सा तु स्वाधीनभर्तृका स्वाधीनपतिका ॥ ११८ ॥

पुष्पेति। या पुष्पेषुणा कामेन पीडिता सती कान्तं याति सा अभिसारिका। यस्याः प्रियः कान्तः देशान्तरे स्थित इति शेषः सा तु प्रोषितभर्तृका ॥ ११९ ॥

यस्या इति। यस्याः प्रवासी वल्लभः समुचितेऽपि निर्द्धारितेऽपि अह्नि दिवसे न एति नागच्छति पार्श्वमिति शेषः सा तु विरहोत्कण्ठिता। इति एवं प्रकारेण नायिका १ उत्तमा, २ मध्यमा, ३ अधमा, ४ मुग्धा, ५ मध्या, ६ प्रगल्भा, ७ धीरा, ८ अधीरा, ९ स्वा, १० अन्यदीया, ११ ऊढा, १२ अनूढा, १३ ज्येष्ठा, १४ कनीयसी, १५ उद्धता, १६ उदात्ता, १७ शान्ता, १८ ललिता, १९ सामान्या, २० पुनर्भूः, २१ स्वैरिणी, २२ गणिका, २३ रूपाजीवा, २४ विलासिनी, २५ खण्डिता, २६ कलहान्तरिता, २७ विप्रलब्धा, २८ वासकसज्जा, २९ स्वाधीनपतिका, ३० अभिसारिका, ३१ प्रोषितभर्तृका, ३२ विरहोत्कण्ठिता इति द्वात्रिंशत् संख्यकाः। १२० ॥

हीनेति। पीठमर्दः नायकस्य प्रधानसहायविशेषः उक्तञ्च दर्पणे। दूरानुवर्त्तिनि स्यात् तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्य इति। विदूषकः नायकनर्मसचिवः उक्तञ्च दर्पणे। कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः। हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञ इति। विटः नायकस्य शृङ्गारसहायविशेषः उक्तञ्च दर्पणे। सम्भोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्त्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्यामिति। चेटः अधमसहायविशेषः। एतानि शेषाणि हीनपात्राणि निकृष्टाः नटाः। पताकाः तत्स्थानानीति भावः उक्तञ्च दर्पणे। पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि। यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताका-

स्थानकन्तु तत् इति । सङ्ग्रहश्च एषां उक्तानां प्रधानाप्रधानानां नटानां परिग्रहः ग्रहण-मित्यर्थः कीर्त्तनमिति यावत् ॥ १२१ ॥

महेति । महाकुलीनता महाकुले प्रसूतिः औदार्य्यं सदा विनयित्वं औदार्य्यं विनयः सदेति वचनात् । महाभाग्यं भाग्यवत्तातिशयः कृतज्ञता कृतोपकारवेदिता, रूप सुन्दरा-कृतिः यौवनं वैदग्ध्यम् अभिज्ञता शीलं सच्चरित्रं सौभाग्यं लोकप्रियतां सम्पदः धनानि मानिता उदारं महत् उच्चाशयमिति यावत् वाक्यं यस्य तस्य भावः तथा अदरिद्रानुरा-गिता अदरिद्रा अक्षुण्णा अनुरागिता लोकरञ्जनत्वम् इत्यर्थः इति द्वादशगुणान् नायकेषु आभिगामिकान् लोकानां अभिगम्यताप्रयोजकानित्यर्थः आहुः कथयन्ति ॥ १२२–१२३ ॥

मृद्वीकेति । मृद्वीकाद्याः पाकभक्तयः । नील्यादयः रागभक्तयः । अन्तर्व्याजादयः व्याज-भक्तयः । धर्मादयः प्रेमसम्पर्कभक्तयः ॥ १२४–१२५ ॥

वाक्यवच्च प्रबन्धेषु रसालङ्कारसङ्करान् ।
निवेशयन्त्यनौचित्यपरिहारेण सूरयः ॥ १२६ ॥
चतुर्वृत्त्यङ्गसम्पन्नं चतुरोदात्तनायकम् ।
चतुर्वर्गफलं को न प्रबन्धं बान्धवीयति ॥ १२७ ॥
मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽवमर्शश्च मनीषिभिः ।
स्मृता निर्वहणश्चेति प्रबन्धे पञ्च सन्धयः ॥ १२८ ॥
अविस्तृतमसङ्क्षिप्तं श्रव्यवृत्तं सुगन्धि च ।
भिन्नसर्गान्तवृत्तञ्च काव्यं लोकोऽभिनन्दति ॥ १२९ ॥
पुरोपवनराष्ट्रादिसमुद्राश्रमवर्णनैः ।
देशसम्पत्प्रबन्धस्य रसोत्कर्षाय कल्पते ॥ १३० ॥
ऋतुरात्रिन्दिवार्केन्दूदयास्तमयवर्णनैः ।
कालः काव्येषु सम्पन्नो रसपुष्टिं नियच्छति ॥ १३१ ॥
राजकन्याकुमारस्त्रीसेनासेनाङ्गभङ्गिभिः ।
पात्राणां वर्णनात् काव्ये रसस्रोतोऽधितिष्ठति ॥ १३२ ॥
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवाः ।
विप्रलम्भा विवाहाश्च चेष्टाः काव्ये रसावहाः ॥ १३३ ॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयादिभिः ।
पुष्टिः पुरुषकारस्य रसं काव्येषु वर्षति ॥ १३४ ॥
नावर्णनं नगर्य्यादेर्दोषाय विदुषां मतम् ।

यदि शैलर्त्तुरात्र्यादेर्वर्णनेनैव पुष्यति ॥ १३५ ॥
गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥ १३६ ॥
वंशवृत्तश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनञ्च धिनोति नः ॥ १३७ ॥

विद्वान् कवि लोग वाक्य की भाँति प्रबन्धों में भी अनौचित्य का परित्याग करते हुए रस, अलङ्कार तथा उनके मेलों—सङ्करों का सन्निवेश करते हैं। (कौशिकी आदि) चार वृत्तियों से युक्त परिच्छेद विभाजन कार्यों में दक्ष तथा उदात्त नायक से सम्पन्न और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को अपना लक्ष्य मानने वाले प्रबन्ध को कौन अपना बन्धु नहीं बनायेगा ? प्रबन्ध में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण ये पाँच सन्धियाँ मनीषियों द्वारा मानी गई हैं। न बहुत बड़ा, न बहुत छोटा, आनन्दपूर्वक श्रवणीय श्लोक अथवा चरित से संयुक्त, सुन्दर गन्ध वाले अर्थात् विख्यात, तथा सर्ग के अन्त में भिन्न श्लोक वाले काव्य का लोक स्वागत करता है। नगर, उपवन, राष्ट्र आदि, समुद्र तथा आश्रम के वर्णनों से प्रबन्ध के देश की सम्पत्ति रसोत्कर्ष के लिये सिद्ध होती है। ऋतु, रात-दिन, सूर्य तथा चन्द्रमा के उदय और अस्त के वर्णनों से सम्पन्न होकर काल काव्यों में रस को पुष्टि प्रदान करता है। राजकुमारी, राजकुमार, स्त्री, सेना, सेना के अङ्गों आदि से सम्बद्ध रचनाओं के कारण काव्य में रस का स्रोत उपस्थित रहता है। उद्यान तथा जलक्रीडा, मधुपान, रतोत्सव, विच्छेद तथा विवाह काव्य में रस लाने वाले अभीष्ट हैं। मन्त्रणा, दूतप्रयाण, युद्ध, नायक के उत्कर्ष आदि के द्वारा पौरुष की पुष्टि काव्य में रस की वर्षा करती है। यदि पर्वत, ऋतु, रात्रि आदि के वर्णन से ही रस की पुष्टि हो जाती है तो पुर आदि का वर्णन न करना दोषावह नहीं होता है, ऐसा विद्वानों का मत है। पहले नायक का गुणों के साथ वर्णन करके पुनः नायक के द्वारा शत्रु के विनाश का वर्णन करना आदि मार्ग स्वभाव से ही मनोरम है। शत्रु के भी वंश की कथा, आचरण, विद्या अथवा कीर्ति आदि का वर्णन करके उनका नायक के द्वारा पराजय होने से नायक के उत्कर्ष का कथन हमें अत्यन्त प्रसन्न करता है ॥ १२६–१३७ ॥

स्व० भा०—प्रबन्ध काव्य के विषय में भामह ने अपना विचार अत्यन्त संक्षेप में—केवल चार कारिकाओं में १।२०-२३॥—प्रस्तुत किया है। इनके पश्चात् दण्डी ने भी संक्षेप में ही भामह की उक्तियों की व्याख्या सी की (द्रष्टव्य काव्यादर्श॥ १।१४-१९ ॥) थी। रुद्रट ने भी अपने काव्यालङ्कार में (१६।५, ७-१९ ॥) इसका विशद विवेचन किया है कि महाकाव्य क्या है। किन्तु आचार्य विश्वनाथ साहित्यदर्पणकार का महाकाव्य का लक्षण सबसे अधिक व्यापक तथा स्पष्ट है।

वाक्यवदिति। सूरयः विद्वांसः कवय इति यावत् प्रबन्धेषु ग्रन्थेषु अनौचित्य परिहारेण यथा अनुचितः प्रयोगो न भवति तथेत्यर्थः रसान् अलङ्कारान् तेषां सङ्करान् समावेशांश्च वाक्यवत् वाक्यमिव निवेशयन्ति प्रयुञ्जते ॥ १२६ ॥

चतुर्वर्गेति। चतस्रः वृत्तयः कौशिक्यादयो रचनाविशेषा यत्र तादृशो योऽङ्गः परिच्छेद-विशेषः तेन सम्पन्नः युक्तः अलंकृत इति भावः तथोक्तं चतुरः कार्य्यदक्षः उदात्तः महान् नायको यस्य तादृशं चतुर्वर्गः धर्मार्थकाममोक्षरूप इत्यर्थः फलं यस्य तथाविधम् उक्तञ्च

दर्पणे। धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। करोति कीर्त्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवण-मिति प्रबन्धं काव्यग्रन्थं को जनः न बान्धवीयति बान्धवमिवाचरति? अपि तु सर्वं एव कविर्बान्धवीयतीत्यर्थः॥ १२७॥

मुखमिति। मनीषिभिः विद्वद्भिः प्रबन्धे काव्यसन्दर्भे मुखं प्रतिमुखं गर्भः अवमर्शः निर्वहणञ्च इति पञ्च सन्धयः समावेशविशेषाः स्मृताः उक्ताः। मुखादीनां लक्षणान्युक्तानि दर्पणे। यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम्। फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः। लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखन्तु तत्। फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन। गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान् मुहुः। यत्र मुख्यफलोपायः उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः। शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्। एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तदिति॥ १२८॥

अविस्तृतेति। लोकः अविस्तृतं वृथा विस्ताररहितमित्यर्थः असंक्षिप्तं संक्षेपेण अनुक्त श्रव्याणि श्रुतिसुखानि वृत्तानि पद्यानि चरितानि वा यत्र तादृशं सुगन्धि सुसौरभं सुविख्यातमिति यावत् भिन्नं पार्थक्येन निबद्धं सर्गान्तस्य सर्गसमाप्तेः वृत्तं पद्यं यस्मिन् तथाभूतं काव्यम् अभिनन्दति आद्रियते। एतादृशमेव काव्यं कर्त्तव्यमिति भावः एवमुत्त-रत्र बोध्यम्॥ १२९॥

पुरेति। प्रबन्धस्य काव्यस्य देशसम्पद् प्रदेशसमृद्धिः पुरस्य नगरस्य उपवनस्य राष्ट्रादीनां समुद्रस्य आश्रमस्य च वर्णनैः कीर्त्तनैः रसोत्कर्षाय रसोद्दीपनाय कल्पते प्रभवति॥ १३०॥

ऋत्विति। काव्येषु ऋतवो वसन्तादयः रात्रिन्दिवं रात्रिर्दिनञ्च अर्केन्द्वोः सूर्या-चन्द्रमसोः उदयास्तमयौ तेषां वर्णनैः सम्पन्नः समृद्धः कालः समयः रसपुष्टिं रसोत्कर्षं नियच्छति प्राप्नोति॥ १३१॥

राजेति। काव्ये राजा कन्या कुमारः स्त्री सेना सेनाङ्गं हस्त्यश्वरथपदातिरूपं हस्त्यश्व-रथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयमित्यमरः। तेषां भङ्गिभिः रचनाभिः अवस्थाभिर्वा पात्राणां नटानां वर्णनात् रसस्रोतः रसप्रवाहः अधितिष्ठति स्थितिं लभते॥ १३२॥

उद्यानेति। काव्ये उद्यानादयः विप्रलम्भाः विच्छेदरूपाः प्रागुक्ताः विवाहाश्च चेष्टाः व्यापाराः रसम् आवहन्तीति रसावहाः रसोत्पादनहेतवः इत्यर्थः॥ १३३॥

मन्त्रेति। मन्त्रः सन्धिविग्रहादीनां मन्त्रणं दूतस्य सन्देशहरस्य प्रयाणं जेतव्यादीनां सन्निधौ प्रस्थानम् आजिः संग्रामः नायकस्य अभ्युदयः अभ्युन्नतिः एवमादिभिः पुरुष-कारस्य पुरुषव्यापारस्य पुष्टिः उत्कर्षः काव्येषु रसं वर्षति विकिरति॥ १३४॥

नावर्णनमिति। यदि शैलानां पर्वतानाम् ऋतूनां वसन्तादीनां रात्र्यादेः रात्रिदिनप्रभृ-तेश्च वर्णनेन कीर्त्तनेनैव पुष्यति पोषं गच्छति तदा नगराद्रिदेः अवर्णनं दोषाय न भवति इति विदुषां कवीनां मतम् परामर्शः॥ १३५॥

गुणत इति। प्राक् पूर्वं नायकं गुणतः विनयदाक्षिण्यादिभिः गुणैः उपन्यस्य वर्णयित्वा तेन नायकेन विद्विषां शत्रूणां निराकरणं निर्जयः इत्येषः मार्गः पन्थाः प्रकृत्या स्वभावेन सुन्दरः मनोरमः॥ १३६॥

वंशेति। रिपोरपि शत्रोरपि वंशः कुलं वृत्तं चरितं श्रुतादीनि विद्यादीनि इत्यर्थः तानि वर्णयित्वा तस्य रिपोः जयात् पराभवनात् नायकस्य उत्कर्षकथनं नः अस्मान् धिनोति प्रीणयति॥ १३७॥

अथैषां लक्षणोदाहरणानि ।

मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः ।
असंप्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते ॥ १३८ ॥

तद्रूपेण रसस्य भावो यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्य्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ १ ॥

अत्र बिम्बाधरोष्ठत्वादिभिर्मनोऽनुकूले पार्वतीमुखे विलोचनव्यापारानुमितो महेश्वरस्याभिलाषविशेषः सात्त्विको रत्युत्पादात् सुखानुभवस्योत्पत्तिमात्रमनुमापयति ॥ १३९ ॥

यद्रूपेणैव सात्त्विकोत्पत्तौ जन्म यथा—

अभूद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन् द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२॥

अत्र स्वेदरोमोद्गमयोः सात्त्विकयोरुत्पादाद्रसस्य रतिरूपेण आविर्भावोऽवगम्यते ॥ १४० ॥

अब इनके लक्षण तथा उदाहरण (कहे जायेंगे) ।

चित्त को अभिमत वस्तुओं में सुखात्मिका अनुभूति रति है । वही रति कार्यों में अयोग विषय होने पर प्रीति कही जाती है ॥ १३८ ॥

उसके रूप में रस का भाव (वहाँ होता है) जैसे—

(शिव की तपस्या को भङ्ग करने के लिये काम के उद्यत होने पर) चन्द्रमा के उदय काल के प्रारम्भ में सागर की भाँति कुछ-कुछ उद्विग्न होकर बिम्बा के फल के सदृश अधर तथा ओठ वाले उमा के मुख पर शिव ने अपने नयनों को लगाया ॥ १ ॥

यहाँ बिम्बोष्ठत्व आदि के द्वारा मन के अनुकूल पार्वती के मुख पर नेत्रों के व्यापार से अनुमित हो रहा शिव का अभिलाषविशेष सात्त्विक भाव रति का उत्पादन होने से सुख के अनुभव की उत्पत्तिमात्र का अनुमान कराता है ।

उसी रूप से ही सात्त्विक की उत्पत्ति होने पर जन्म का उदाहरण—

उस समय वर की कलाई रोमाञ्चयुक्त हो गई और राजकुमारी की भी अँगुलियाँ पसीने से भींग गईं । उस (विवाह की) घड़ी में कामदेव ने उन दोनों में समान रूप से अपनी उपस्थिति मानों बाँट दी थी ॥ २ ॥

यहाँ स्वेद तथा रोमाञ्च इन दोनों के उद्गम रूप सात्त्विक भावों की उत्पत्ति से रस का रति के रूप में आविर्भाव ज्ञात होता है ।

अथैषामिति । अथ इदानीं एषां प्रागुक्तानां रत्यादीनां लक्षणानि उदाहरणानि च आह कविरिति शेषः एवमुत्तरत्र बोध्यम् ।

रतिं लक्षयति मम इति । मनसः चित्तस्य अनुकूलेषु अभिमतेषु अर्थेषु विषयेषु सुखस्य

संवेदनम् अनुभवविशेषः रतिः। सैव रतिः असम्प्रयोगः कार्येषु अयोगः विषयः यस्याः तथाभूता प्रीतिः निगद्यते कथ्यते । तथा च रामादीनां सीताविषयिणी रतिः सामाजिकानां प्रीतिरिति भावः ॥

हर इति। हरस्तु चन्द्रोदयस्य आरम्भे अम्बुराशिरिव समुद्र इव किञ्चित् ईषत् परिलुप्तं विनष्टं धैर्यं यस्य तथाभूतः सन् बिम्बफलमिव अधरोष्ठः यस्य तादृशे रक्ताधरोष्ठे इत्यर्थः उमामुखे पार्वतीवदने विलोचनानि नेत्राणि व्यापारयामास निचिक्षेप उमामुखं साभिलाषमद्राक्षीदिति भावः ॥ १ ॥

अभूदिति । वरः जामाता कण्टकितः रोमाञ्चितः प्रकोष्ठः कूर्पराधोवर्त्ती मणिबन्धपर्यन्तो हस्तावयवः यस्य तथाभूतः अभूत्। कुमारी कन्या स्विन्नाः स्वेदजलाप्लुता इत्यर्थः अङ्गुलयः यस्याः तादृशी संवृत्ते जाता। तत्क्षणं पाणिग्रहणसमये इत्यर्थः मनोभवेन कामेन आत्मनो वृत्तिः व्यापारः समावेश इति यावत् तस्मिन् द्वये वधूवरयोरित्यर्थः समं तुल्यं यथा तथा विभक्तेव विभज्य दत्तेव। उभयोरपि तुल्यरूपो मदनावेश आसीदिति भावः। 'रोमाञ्चितस्तु पुरुषः कन्या स्विन्नाङ्गुलिर्भवेदिति' कविसमयप्रसिद्धिरत्र ज्ञेया ॥ २ ॥

जन्मैव संचार्युत्पत्तौ यथा--

तयोरपाङ्गप्रविचारितानि किञ्चिद्व्यवस्थाप्रियसंहृतानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ ३ ॥

अत्र ह्रीः सञ्चारिभावो जायमानो रसस्य जन्म ज्ञापयति ।

संचारी की उत्पत्ति होने पर (रस के) जन्म का उदाहरण—

उन दोनों वर तथा वधू के नेत्रप्रान्त में फैले हुये, जरा-सा एक दूसरे के ऊपर डाल कर लौटा लिये गये, एक दूसरे को देखने से चञ्चल हो गये नयन अतीव मनोहर लज्जा के कष्ट को प्राप्त किये ॥ ३ ॥

यहाँ पर ह्री (लज्जा) नाम का संचारीभाव स्वयं उत्पन्न होता हुआ रस के जन्म का ज्ञान करा रहा है।

तयोरिति । तयोः वधूवरयोः अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तदेशेषु प्रविचारितानि प्रकर्षेण प्रसारितानि किञ्चित् अन्योन्यावलोकनक्षणे इति भावः व्यवस्थितानि व्यापारितानि ततः संहृतानि सङ्कोचितानि अन्योन्यलोलानि परस्परावलोकने सतृष्णानीत्यर्थः विलोचनानि नयनानि मनोज्ञां मनोहारिणीं सुखसम्भिन्नामिति भावः ह्रीयन्त्रणां लज्जाजनितं दुःखमित्यर्थः आनशिरे प्रापुः ॥ ३ ॥

तदेवानुभयोत्पत्तौ जन्म यथा--

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
दृष्टया प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत् संवरणस्रजेव ॥ ४ ॥

अत्र दृष्टिलक्षणः शरीरारम्भोऽनुभावो भवन् रसाविर्भावं लक्षयति ।
अनुभावादेरनेकस्यैकस्य वा पुनरुत्पत्तिरनुबन्धः ।

इन दोनों अर्थात् सत्त्व तथा संचारी की उत्पत्ति न होने पर भी रस के जन्म का उदाहरण—

इसके पश्चात् सुनन्दा की बात समाप्त होने पर राजकुमारी ने लज्जा को कम करके स्वयंवर की माला की भांति प्रसन्नता से निर्मल दृष्टि से कुमार को स्वीकार किया ॥ ४ ॥

यहाँ दृष्टि से सूचित शरीर से प्रारम्भ अनुभाव स्वयं होकर रस के आविर्भाव की प्रतीति कराता है।

ततः इति। ततः अनन्तरं नरेन्द्रकन्या राजनन्दिनी इन्दुमती सुनन्दायाः वचनानाम् अवसाने समाप्तौ लज्जां तनूकृत्य ह्रापयित्वा संवरणस्रजेव स्वयं वरणमालिकयेव प्रसादेन प्रसन्नतया अमला विशदा तया दृष्ट्या कुमारम् अजं प्रत्यग्रहीत् स्वीचकार ॥ ४ ॥

सोऽनेकस्य यथा—

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ सुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ५ ॥

अत्र देव्याः स्मरारौ पूर्वम् उत्पन्ना रतिः साभिलाषतदवलोकनेन विविक्तवसन्तादिभिरुद्दीप्यमाना रोमाञ्चावहित्थलक्षणाभ्यां सात्विकव्यभिचारिभ्यामनुबध्यते ॥

एक अथवा अनेक अनुभाव आदि की उत्पत्ति सी अनुबन्ध हैं। अनेक की उत्पत्ति पर ही होने वाले का उदाहरण—

पार्वती भी विकसित हो गये नव कदम्ब पुष्प की भांति (रोमाञ्चित) अङ्गों से (रति नामक) भाव को प्रकट करती हुई अत्यधिक सुन्दर तथा विस्फारित नयनों से युक्त मुख के कारण मुड़ी हुई ही खड़ी रह गई ॥ ५ ॥

यहाँ देवी पार्वती की शङ्कर में पहले से ही उत्पन्न रति उनके अभिलाषा के साथ देखने तथा एकान्त और वसन्त आदि के द्वारा उद्दीप्त होती हुई रोमाञ्च तथा अवहित्था नामक सात्त्विक तथा व्यभिचारियों से अनुबद्ध हो रही है।

विवृण्वतीति। शैलसुतापि पार्वती अपि स्फुरन्ति विकसन्ति यानि बालकदम्बानि अभिनवकदम्बपुष्पाणि तेभ्यः ईषदूनानि तैः तत् सदृशैरिति यावत् लोमाञ्चितैरिति भावः अङ्गैः भावं रत्याख्यमिति भावः विवृण्वती प्रकटयन्ती सती चारुतरेण अतिमनोहरेण पर्यस्ते तिर्यक् प्रसारिते विलोचने नयने यस्य तादृशेन मुखेन असाचि साचि सम्पाद्यमाना कृता साचीकृता वक्रीकृतेत्यर्थः परावृत्तमुखीति भावः तस्थौ स्थिता ॥ ५ ॥

एकस्यैव पुनःपुनरुत्पत्तिर्यथा—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥ ६ ॥

अत्र मालत्या माधवविषये पूर्वम् उत्पन्ना रतिर्वसन्तावतारतत्सन्निधि-

विशेषप्रदर्शनादिभिरुद्दीप्यमाना पुनः पुनरुत्पन्नेन बलितग्रीवकटाक्षविक्षेप-लक्षणेन शरीरारम्भानुभावेनानुबध्यते। अत्रैव माधवस्य मालतीविषये तदहरेव उत्पन्ना रतिस्तैरेव उद्दीपनैः उद्दीप्यमाना हर्षधृतिस्मृतिमतिव्या-ध्यादिभिः सञ्चारिभावैः वागारम्भेण चानुभावेनानुबध्यते ॥ १४४ ॥

एक की ही बार बार उत्पत्ति होने पर भी रसाविर्भाव का उदाहरण—

जाते समय बारम्बार गर्दन मोड़कर परावृत्त वृन्त वाले कमल की भांति मुख को धारण करने वाली, सघन बरौनियों वाली मालती ने मेरे हृदय में अमृत तथा विष से बुझा हुआ सा कटाक्ष खूब गहरे गड़ा दिया है ॥ ६ ॥

यहाँ मालती की माधव में पहले उत्पन्न हुई रति वसन्त के आने से तथा उसकी उपस्थिति में विशेष प्रदर्शन आदि के द्वारा दीप्त की जाती हुई पुनः पुनः उत्पन्न होने वाले गर्दन को मोड़ने, तथा कटाक्षपात आदि करने आदि शरीर से आरम्भ होने वाले अनुभाव से अनुबद्ध हो जाती है। यहीं पर माधव की भी मालती के प्रति उसी दिन उत्पन्न हुई रति उन्हीं उद्दीपनों से उद्दीप्त होती हुई हर्ष, धृति, स्मृति, मति, व्याधि आदि सञ्चारी भावों के साथ वाणी से प्रारम्भ होने वाले अनुभाव से अनुबद्ध हो जाती है।

यान्त्येति। यान्त्या गच्छन्त्या मुहुः पुनः पुनः बलिता चालिता साचीकृतेति भावः कन्धरा ग्रीवा यस्य तथाभूतम् अतएव आवृत्तं परावृत्तं साचीकृतमिति भावः वृन्तं प्रसवबन्धनं नालमिति भावः यस्य तादृशं यत् शतपत्रं पद्मं तन्निभं तत्सदृशं मुखं वहन्त्या दधत्या पक्ष्मले घनलोमपूर्णे अक्षिणी नेत्रे यस्याः तथाभूतया मालत्या अमृतेन च विषेण च दिग्धः लिप्तः कटाक्षः मे मम हृदये गाढो यथा तथा निखात इव निहित इव ॥ ६ ॥

रतिरूपेणैव रसनिष्पत्तिर्यथा—

> तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
> निक्षेपणाय पदमुद्धृतमर्पयन्ती।
> मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
> शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥ ७ ॥

अत जन्मान्तरानुभवसंस्कारात् प्रतिकूलेऽपि शूलिनि शैलात्मजायाः सर्वकालमेवाविच्छिन्ना रतिश्चिरं वियुक्तस्य दुश्चरेण अपि तपसा प्रार्थनीय-सङ्गमस्य तस्याकस्मिकदर्शनेन उद्दीप्यमाना सद्यः समुपजायमानसात्त्विक-स्वेदस्तम्भवेपथूपलक्षितैः हर्षधृतिस्मृत्यावेगसाध्वसादिभिः व्यभिचारिभिः भावैः पदविक्षेपलक्षणेन च शरीरानुभावेन संसृज्यते। सोऽयं विभावानु-भावव्यभिचारिसंयोगैः रतिरूपेण रसो निष्पद्यते ॥ १४५ ॥

रति के रूप में ही रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

उनको देख कर काँपती हुई, रसपूर्ण हो गई शरीर वाली तथा रखने के लिये उठाये गये पाँव को अर्पित करती हुई पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती मार्ग में पर्वत के आ जाने से घुमड़ उठी नदी की भांति न तो जा ही सकीं और न रुक ही सकीं ॥ ७ ॥

यहाँ दूसरे जन्म के अनुभवों के संस्कार के कारण शंकर के प्रतिकूल हो जाने पर भी पार्वती की सभी समय अविच्छिन्न रहने वाली रति दीर्घ काल से वियुक्त तथा कठिन तपस्या के द्वारा भी जिसके मिलन की इच्छा की जा रही है उसी शिव के एकाएक दर्शन से उद्दीप्त होती हुई, तत्काल उत्पन्न हो रहे सात्त्विक भाव स्वेद, स्तम्भ तथा वेपथु के उपलक्षणों से, हर्ष, धृति, स्मृति, आवेग, साध्वस आदि व्यभिचारी भावों से, तथा पदविक्षेप नामक शारीरिक अनुभाव से संसृष्ट होती है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी के संयोग से रति के रूप में यह रस निष्पन्न होता है।

तमिति। शैलाधिराजतनया पार्वती तं प्रतिकूलवादिनं ब्रह्मचारिणं हररूपमित्यर्थः वीक्ष्य अवलोक्य वेपथुमती कम्पमाना तथा सरसा रसवती अङ्गयष्टिः तनुलता यस्याः तथाभूता सती निक्षेपणाय उद्धृतं पदं चरणं उद्वहन्ती दधाना अतएव मार्गे पथि योऽचलः पर्वतः तस्य व्यतिकरेण सङ्गेन बाधयेति भावः आकुलिता विपर्यस्तेत्यर्थः सिन्धुरिव नदीव देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिदिति स्त्रियामित्यमरः। न ययौ न तस्थौ गतिं स्थितिञ्च कामपि कर्त्तुमशक्ता अभूदित्यर्थः॥ ७॥

रतिरूपेणैव रसपुष्टिः यथा—

> पीनश्रोणि गभीरनाभि निभृतं मध्ये भृशोच्चस्तनम्
> पायाद्वः परिरब्धमब्धिदुहितुः कान्तेन कान्तं वपुः।
> स्वावासानुपघातनिर्वृतमनास्तत्कालमीलद्दृशे
> यस्मै सोऽच्युतनाभिपद्मवसतिर्वेधाः शिवं ध्यायति॥ ८॥

अत्र सर्वदैव श्रीवत्सलक्ष्मणो लक्ष्मीविषये महाकुलीनतौदार्यस्थिरानुरागितारूपयौवनवैदग्ध्यशीलसौभाग्यमहाभाग्यादिभिः समुत्पन्ना रतिः तदवयवविशेषकामनीयकविभावनेन उद्दीपनविभावातिशयेन उद्दीप्यमाना ब्रह्मणः समक्षमपि आलिङ्गनलक्षणेन शरीरारम्भानुभावेनानुमीयमानां लज्जाप्रणाशलक्षणां प्रेमपुष्टेः अष्टमीमवस्थामध्यास्ते। अत्र चानुक्ता अपि सात्त्विका व्यभिचारिणोऽन्येऽपि चानुभावविशेषाः प्रतीयन्ते। श्रियोऽपि च समग्रात्मगुणसम्पदाश्रये श्रीवत्सलक्ष्मणि तथाभूता तदभ्यधिका वा रतिः प्रवृद्धप्रेमप्रियतमालिङ्गनलक्षणेन उद्दीपनविभावेन उद्दीप्यमाना नयननिमीलनानुमेयां समस्तसात्त्विकानुभावव्यभिचारिहेतुं प्रेमपुष्टेरुत्तरामवस्थामाश्रयति। सोऽयं विषयसौन्दर्यादाश्रयप्रकृतेः संस्कारपाटवादुद्दीपनातिशयाच्च परां कोटिमावहन् रसः पुष्ट इत्युच्यते। अत्रैव ब्रह्मणः श्रियं प्रति मनोहरा ममेयं सृष्टिरिति रत्नाकरस्येयमात्मजेति चन्द्रामृतादीनामियं सोदर्येति विष्णोरियं प्रियतमेति कामस्येयं जननी इत्यादिभ्यः आलम्बनेभ्यः समुत्पन्ना प्रीतिः स्वावासानुपघातिना शरीरसन्निवेशेन दृङ्निमीलनजनितया च तदुपघातशङ्कया उद्दीप्यमाना तत्क्षणोपजायमानतया वेगस्मृतिवितर्कोन्मादमोहचिन्तादिभिः व्यभिचारिभावैः तदनुमेयैश्च स्तम्भवेपथु-

प्रभृतिसात्त्विकैः शिवानुध्यानलक्षणेन बुद्धयारम्भानुभावेन संसृज्यमाना परं प्रकर्षमारोहतीति प्रतीयते ।

रति के रूप से ही रस की पुष्टि का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।३६॥)

यहाँ सदा ही श्रीवत्स के चिह्न वाले विष्णु की लक्ष्मी के प्रति महाकुलीनता, उदारता, स्थायी प्रेम, रूप, यौवन, निपुणता, शील, सौभाग्य, महाभाग्य आदि के कारण उत्पन्न रति उनके अङ्गों की विशिष्ट रमणीयता का विभावन करने से तथा अत्यधिक उद्दीपन विभाव के द्वारा उद्दीप्त की जाती हुई, ब्रह्मा के सामने भी आलिंगन रूप शरीर से आरम्भ होने वाले अनुभाव के कारण अनुमित होती हुई लज्जाप्रणाश-हीत्याग-रूप प्रेमपुष्टि की आठवीं दशा को प्राप्त करती है। यहाँ कहे न जाने पर भी सभी सात्त्विक भाव, व्यभिचारी तथा अन्य भी अनुभावविशेष प्रतीत होते हैं। लक्ष्मी की भी अपने समस्त गुणों तथा सम्पत्तियों के आश्रयभूत भगवान् विष्णु के प्रति उस प्रकार की अथवा उससे भी अधिक रति बढ़े हुये अनुराग के साथ प्रियतम के आलिङ्गन रूप उद्दीपन विभाव से उद्दीप्त की जाती हुई, नयन के संकोच से अनुमित हो सकने वाली सभी सात्त्विक भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि भावों की कारणभूता प्रेमपुष्टि की उत्तर अवस्था-दशम अवस्था का आश्रय लेती है। अतः यह वर्ण्यवस्तु की सुन्दरता के कारण, आश्रय की प्रकृति के संस्कार की पटुता के कारण, तथा उद्दीपन की अधिकता के कारण चरम सीमा पर आरूढ़ होता हुआ रस 'पुष्ट हो गया है' इस प्रकार कहा जाता है। यहीं पर ब्रह्मा की भी लक्ष्मी के प्रति "यह मेरी रचना अत्यन्त रमणीय है" "रत्नाकर-सिन्धु-की यह पुत्री है" "चन्द्रमा, अमृत आदि की यह सहोदरी है" "विष्णु की यह प्रियतमा है" "काम की यह जननी है" इत्यादि आलम्बनों से उत्पन्न होने वाली प्रीति अपने निवास के अनुपघातक शरीर के सन्निवेश से तथा नेत्रसंकोच से उत्पन्न होने वाली उसके उपघात की शङ्का से उद्दीप्त होने वाली तथा उसी समय उत्पन्न होने के कारण वेग, स्मृति, वितर्क, उन्माद, मोह, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों के द्वारा तथा उनसे अनुमेय स्तम्भ, कम्प आदि सात्त्विक भावों के साथ मङ्गलचिन्तन रूप बुद्धि से आरम्भ होने वाले अनुभावों से संसृष्ट होती हुई चरम उत्कर्ष पर आरूढ़ होती है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

स्व० द०—अब तक के उदाहरणों में रसनिष्पत्ति तथा रसोद्भव के लिये अपेक्षित विभिन्न स्थितियों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है। कहीं पर भाव, कहीं उद्दीपन, कहीं सात्त्विक भाव, कहीं व्यभिचारी, कहीं सभी, कहीं एक या दो दो आकर रस को उत्पन्न करते हैं। जहाँ सभी होते हैं, वहाँ तो ठीक ही है, किन्तु जहाँ एक या दो ही अपेक्षित तत्त्व होते हैं, वहाँ शेष का अध्याहार कर लिया जाता है। परवर्तियों में आचार्य मम्मट ने केवल विभाव, केवल अनुभाव तथा केवल व्यभिचारियों से युक्त श्लोकों को उदाहृत कर शेष का यथास्थान आक्षेप उचित माना है— "यद्यपि विभावानां, अनुभावानां, औत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्रस्थितिः, तथाऽप्येतेषाम् असाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्व-मिति।" (काव्यप्रकाश ४र्थ उ० पृ० ११५)

पीनेति । पीनश्रोणि विस्तृतजघनं गभीरनाभि निम्ननाभिस्थलं मध्ये मध्यदेशे कटिदेशे इत्यर्थः निभृतं क्षीणमित्यर्थः भृशोच्चस्तनम् अत्युन्नतस्तनमित्यर्थः कान्तेन नाथेन विष्णुनेत्यर्थः परिरब्धम् आलिङ्गितं कान्तं रम्यम् अब्धिदुहितुः समुद्रकन्यायाः लक्ष्म्या

इत्यर्थः वपुः शरीरं वः युष्मान् पायात् रक्षेत्। कथम्भूतमित्याह स्वावासेति। सः प्रसिद्ध इत्यर्थः अच्युतस्य विष्णोः नाभिरेव पद्मं नाभौ पद्मं वा वसतिः वासभूमिर्यस्य तथाभूतः वेधाः ब्रह्मा स्वस्य आवासः आश्रयः तस्य अनुपघातेन आलिङ्गनजनितेन व्याघातेनेति भावः निर्वृतं स्वस्थं मनो यस्य तथाविधः सन् तस्मिन् काले आलिङ्गनसमये इत्यर्थः मीलन्त्यौ मुकुलिते इत्यर्थः लज्जयेति भावः दृशौ नयने यस्य तथाभूताय यस्मै वपुषे शिवं मङ्गलं ध्यायति चिन्तयति ॥ ८ ॥

रतौ भयादिसङ्करो यथा——

राहोश्चन्द्रकलामिवाननचरीं दैवात् समासाद्य मे
 दस्योरस्य कृपाणपातविषयादाच्छिन्दतः प्रेयसीम् ।
आतङ्काद्विकलं द्रुतं करुणया विक्षोभितं विस्मयात्
 क्रोधेन ज्वलितं मुदा विकसितं चेतः कथं वर्त्तताम् ॥ ९ ॥

अत्र माधवस्य मालत्यां पूर्वमुत्पन्ना रतिस्तदवस्थालोकनादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमाना भयशोकविस्मयक्रोधहर्षैरपि रसान्तरैः पृथक् पृथग्विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् निष्पद्यमानैः सङ्कीर्यमाणा मनोवाग्बुद्धिशरीरारम्भानुभावैः भयाद्यनुरूपैश्च सात्त्विकव्यभिचारिभिः सम्पर्के परं प्रकर्षमारोहन्ती प्रतीयते । तत्र चेतसो वैकल्यादिपरिभावनं मन आरम्भो, वाक्योच्चारणं वागारम्भः, राहोरिव दस्योश्चन्द्रकलामिव प्रेयसीमित्यादिबुद्ध्यारम्भः, आच्छिन्दत इत्यादि शरीरारम्भः, भयादीनाञ्च पञ्चानामपि यथाक्रमं राहोरिति चन्द्रकलामिवाननचरीमिति दैवात् समासाद्य मे इति दस्योः अस्य कृपाणपातविषयादिति आच्छिन्दतः प्रेयसीमित्यालम्बनविभावाः, तत्स्वरूपपरिभावनान्युद्दीपनविभावाः, विकलं द्रुतं विक्षोभितं ज्वलितं विकसितं चेत इत्यनुभावाः, आतङ्ककरुणाविस्मयक्रोधमुदनुरूपाश्च कम्पाश्रुस्तम्भवैवर्ण्यरोमाञ्चादयः सात्त्विकाः, मोहविषादामर्षोग्रताधृत्यादयो व्यभिचारिणश्च अनुमीयमाना निष्पत्तिहेतवो भवन्ति। सोऽयं तुल्यकालबलोत्पत्तिकारणानां भयादिनिष्पत्तीनां रतौ संसर्गः सङ्कर इत्युच्यते ॥ १४७ ॥

रति में भय आदि के सङ्कर का उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।४००)

यहाँ माधव की मालती के प्रति पहले उत्पन्न हुई रति उसकी दशा को देखने आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होती हुई, भय, शोक, विस्मय, क्रोध तथा हर्ष रूप पृथक् पृथक् विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग से निष्पन्न हो रहे दूसरे रसों के द्वारा संकीर्ण की जाती हुई, मन, वाणी, बुद्धि तथा शरीर से आरब्ध अनुभावों से तथा भय आदि रूप वाले सात्त्विक और व्यभिचारियों के साथ सम्पर्क होने पर चरम उन्नति पर आरूढ़ होती हुई प्रतीत होती है। यहाँ चित्त की विकलता आदि से परिभावना मानस आरम्भ है, वाक्य का उच्चारण वाक् का आरम्भ है, 'राहु के सदृश

दस्यु के' "चन्द्रकला की भांति प्रेयसी को" आदि में बुद्धि का आरम्भ है तथा "आच्छिन्दतः" इत्यादि शरीरारम्भ है, भय आदि पाँचों को भी क्रमशः "राहोः" "चन्द्रकलामिवाननचरीं" "दैवात् समासाद्य मे" "दस्योः अस्य कृपाणपातविषयात्" "आच्छिन्दतः प्रेयसीम्" ये आलम्बन विभाव हैं। उनके स्वरूपों की सम्यक् भावना करना उद्दीपन विभाव हैं, "विकलं, द्रुतं, विक्षोभितं, ज्वलितं, विकसितं चेतः" ये अनुभाव हैं। आतङ्क, करुणा, विस्मय, क्रोध, मोद के रूप वाले तथा कम्प, अश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव हैं, मोह, विषाद, अमर्ष, उग्रता, धृति आदि व्यभिचारी हैं जो अनुमित होते हुये (रस की) यह निष्पत्ति के कारण बनते हैं। उक्त लक्षणों वाला समान काल, बल, उत्पत्ति तथा कारण वाले भय आदि की निवृत्ति का रति में संसर्ग सङ्कर कहा जाता है ॥ ९ ॥

राहोरिति। राहोः स्वर्भानोः आननचरीं मुखाग्रवर्त्तिनीमित्यर्थः चन्द्रकलामिव दैवात् शुभादृष्टात् समासाद्य सम्प्राप्य शशिरेखामिव अस्य दस्योः तस्करस्य कापालिकस्येति शेषः कृपाणपातः असिप्रहार एव विषयः व्यापारः तस्मात् प्रेयसीं प्रियतमां मालतीमिति शेषः आच्छिन्दतः आच्छिद्य प्रत्याहरत इत्यर्थः मे मम चेतः हृदयम् आतङ्कात् त्रासात् विकलं व्याकुलतां गतमित्यर्थः प्रत्याहरणात् प्रागिति भावः करुणया अनुकम्पया द्रुतं द्रवीभूतं हा कथमेतादृशी कमनीयकान्तिः कामिनी दुरात्मना ईदृशीं दशां नीयते इति बुद्ध्येति भावः। विस्मयात् विक्षोभितम् आलोडितं दुरात्मना अनेन कथमेषा तादृशा-दन्तःपुरादस्यां रात्रौ समाहृता मया चासादितेति बुद्ध्येति भावः। क्रोधेन ज्वलितं उद्दीपितं दुरात्मनोऽस्य दुर्व्यवहारादिति भावः मुदा आनन्देन विकसितं विकासं गतं प्रत्याहरणादिति भावः कथं कीदृशमित्यर्थः वर्त्ततां कीदृशीमवस्थां लभते इति न जाने इति भावः ॥ ९ ॥

रतिरूपेण रसप्रकर्षस्य ह्रासो यथा—

कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौनम्
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातम्
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः ॥ १० ॥

अत्र योषिति रोषाख्यरसान्तरतिरस्कारात् पुरुषे चानुरागात् रति-प्रकर्षस्य ह्रासोऽवगम्यते ॥

रति के रूप में रस के प्रकर्ष के ह्रास का उदाहरण—

जिस प्रेम में भौहों की कुटिलता ही क्रोध है, जहाँ चुप रहना ही प्रहार है, जहाँ एक दूसरे की मुसकान विनती है, निगाहें डालना ही कृपा है, उसी प्रेम का, देखो, अब इसी समय वध हो गया कि तुम तो मेरे चरणों के समीप पड़े लोट रहे हो और मुझ दुष्टा का क्रोध ही नहीं शान्त हो रहा है ॥ १० ॥

यहाँ स्त्री में रोष नामक दूसरे रस से तिरस्कार होने से तथा पुरुष में अनुराग होने से रति के उत्कर्ष का ह्रास प्रतीत होता है।

स्व० द०—पूर्ववर्ती श्लोक में अनेक रसों का समावेश होने से रससङ्कर है, तथा परवर्ती

में रसोत्कर्ष का ह्रास है। सामान्यतः स्त्री में रागाधिक्य तथा पुरुष में अन्य भावों का समावेश विहित है, किन्तु उसी का विपरीत वर्णन हो जाने से रसोत्कर्ष का ह्रास हो गया है।

कोप इति। यत्र प्रेम्णि भ्रुकुटिरचना भ्रूभङ्गिकरणं कोपः क्रोधः। यत्र प्रेम्णि मौनं वाक्संयम इत्यर्थः निग्रहः प्रहार इत्यर्थः। यत्र प्रेम्णि अनुनयः सान्त्वनम् अन्योन्यस्मितं परस्परमृदुहसितमित्यर्थः दृष्टिपातः अवलोकनं प्रसादः प्रसन्नता। तस्य तथाविधस्येति यावत् प्रेम्णः प्रणयस्य अधुना इदानीं तत् इदं वैशसं वधं विपर्यासमिति भावः जातं पश्य अवलोकय त्वं पादान्ते चरणतले इत्यर्थः लुठसि पतित्वा तिष्ठसीति यावत् तथापि खलायाः निष्ठुरायाः तवेदृशीं दशां दृष्ट्वापि निगृह्णत्या इति भावः मम मन्युमोक्षः कोपशान्तिः न च नैवेत्यर्थः। अतिमानिन्या उक्तिरियम् ॥ १० ॥

रतिरूपेण हीनपात्रेषु रसाभासो यथा—

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पावरणं बइल्लेण ॥
दिट्ठिं स मुम्मुरे सामलोए थणए णिअच्छन्ती ॥ ११ ॥

रति रूप से हीनपात्रों में होने के कारण रसाभास का उदाहरण—

माघ के महीने में यह मूर्ख कृषक, निर्धूम भूसी की अग्नि के सदृश (उष्णतादायक) श्यामा स्त्री के स्तनों पर दृष्टि लगाकर (उसी से गर्मी का अनुभव करता हुआ) बैल खरीदने के लिये अपने ओढ़ने को भी बेच दे रहा है ॥ ११ ॥

विक्रीणीते माघमासे पामरः प्रावरणं बलीवर्दैः ।
दृष्टिं स मुर्मुरे श्यामलायाः स्तने नियच्छन् ॥

विक्किणइ इति। सः पामरः मूर्खः कृषीवल इति शेषः बलीवर्देन निमित्तभूतेनेति शेषः माघमासे श्यामलायाः श्यामाङ्ग्याः। 'शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला। नवयौवनसम्पन्ना सा श्यामा परिगीयते' इत्युक्तलक्षणाया इति भावः मुर्मुरे तुषाग्निभूते स्तने दृष्टिं नियच्छन् अर्पयन् प्रावरणं गात्रवस्त्रं विक्रीणीते। श्यामायाः कान्तायाः स्तन एव मे शीतनिवारणोपाय इति विविच्य प्रावरणविनिमयेन बलीवर्दं क्रीतवानित्यर्थः॥११॥

तिर्यक्षु यथा—

पाअडिअं सोहग्गं तंबाएउ विसहगोट्ठमज्झम्मि ।
दुट्ठविसहस्स सिङ्गे अच्छिउडं कंडुअंतीए ॥ १२ ॥

तिर्यक् योनि वालों में (रति निरूपण से रसाभास का उदाहरण)—

देखो, गोष्ठ में दुष्ट बैल की सींग में अपनी पलकों को रगड़ कर यह गाय अपना सौभाग्य प्रकट कर रही है ॥ १२ ॥

प्रकटितं सौभाग्यं ताम्रया वृषभगोष्ठमध्ये ।
दुष्टवृषभस्य शृङ्गे अक्षिपुटं कण्डूयन्त्या ॥

पाअडिअ इति। ताम्रया ताम्रवर्णया गवेति शेषः वृषभगोष्ठमध्ये वृषसमूहमध्ये दुष्टवृषभस्य दुष्टस्य दुर्दान्तस्य स्वमनोरथपूरणक्षमस्येति भावः शृङ्गे अक्षिपुटं नेत्रपुटं कण्डूयन्त्या कण्डूयितं कुर्वत्या सौभाग्यं प्रियवाल्लभ्यं प्रकटितम् आविष्कृतम् ॥ १२ ॥

नायकप्रतियोगिषु यथा--

पुलअं जणअंति दहकंधरस्स राहवसरा सरीरम्मि।
जणअसुआफंसपहग्घा विअ करअला अड्ढविमुक्का ॥ १३ ॥

नायक के विरोधियों में (रति प्रदर्शन से रसाभास का) उदाहरण—

राम के जनकपुत्री सीता के स्पर्श से जले हुये बीच में ही छोड़ दिये गये बाण सीता के करतल की भांति रावण के शरीर में रोमाञ्च पैदा कर रहे हैं ॥ १३ ॥

पुलकं जनयन्ति दशकन्धरस्य राघवशराः शरीरे।
जनकसुतास्पर्शप्रदग्धा इव करतला अर्द्धविमुक्ताः ॥

पुलअमिति। राघवस्य रामस्य शराः जनकसुतायाः स्पर्शेन स्वकर्त्तृकेनेति भावः प्रदग्धाः प्रज्वलिताः अर्द्धविमुक्ता अर्द्धावच्छेदेन परित्यक्ताः परपुरुषस्पृष्टा एते परित्याज्या इति बुद्ध्येति भावः करतला इव दशकन्धरस्य रावणस्य शरीरे पुलकं रोमाञ्चं जनयन्ति उत्पादयन्ति ॥ १३ ॥

गौणेषु यथा--

उव्वहइ णवतिणंकुररोमञ्चपसाहिआइं अङ्गाइं।
पाउसलच्छीए पओहरेहिं पडिवेल्लिओ विंझो ॥ १४ ॥

त एते चत्वारोऽपि रसाभासा उच्यन्ते ॥

गौण (पदार्थों में रति-प्रदर्शन से रसाभास का) उदाहरण—

वर्षा की लक्ष्मी के पयोधरों से आलिङ्गित अथवा उत्तेजित विन्ध्य पर्वत नवतृणाङ्कुर रूप रोमाञ्चों से समन्वित अङ्गों को धारण कर रहा है ॥ १४ ॥

ये चारो ही रसाभास कहे जाते हैं।

उद्वहति नवतृणाङ्कुररोमाञ्चप्रसाधितान्यङ्गानि।
प्रावृड् लक्ष्म्याः पयोधरैः परिवेल्लितो विन्ध्यः ॥

उव्वहइ इति। प्रावृट्लक्ष्म्या वर्षाश्रिया पयोधरैः मेघैः स्तनैरितिध्वनिः परिवेल्लितः समालिङ्गितः विन्ध्यः तदाख्यः पर्वतः नवाः अभिनवोद्भिन्नाः। तृणाङ्कुरा एव रोमाञ्चाः तैः प्रसाधितानि अलङ्कृतानि अङ्गानि उद्वहति धत्ते ॥ १४ ॥

रतावेव लज्जारोषरूपरसान्तरयोः प्रशमो यथा--

दृष्टे लोचनवन्मनाङ्मुकुलितं पार्श्वस्थिते वक्त्रवन्
न्यग्भूतं बहिरासितं पुलकवत् स्पर्शं समातन्वति।
नीवीबन्धवदागतं शिथिलतामाभाषमाणे ततो
मानेनापगतं ह्रियेव सुदृशः पादस्पृशि प्रेयसि ॥ १५ ॥

अत्र बलवद्रूचां प्रियप्रेमानुनयाभ्यां ह्रीरोषयोः उपशमः क्रियते।

रति में ही लज्जा तथा रोष रूपी दूसरे रसों के प्रशम का उदाहरण—

प्रियतम के दिखलाई पड़ जाने पर सुन्दर नयनों वाली प्रियतमा का मान नेत्रों की भांति संकुचित हो गया, पास में खड़े होने पर मुख की भांति घूम गया, स्पर्श करने पर रोमाञ्च की भांति बाहर हो गया, उसके बोलने पर वह कमर पर बाँधी जानेवाली वस्त्रग्रन्थि की भांति शिथिलता को प्राप्त हो गया, तथा उसके चरणों पर गिरने पर लज्जा की भांति वह मान चला गया ॥ १५ ॥

यहाँ प्रिय के अत्यन्त बलवान् प्रेम तथा अनुनयों के द्वारा लज्जा तथा रोष का उपशम किया जा रहा है।

दृष्टे इति। प्रेयसि प्रियतमे दृष्टे सति सुदृशः सुलोचनायाः कान्तायाः मानेन लोचनवत् नयनेनेव मनाक् ईषत् मुकुलितं सङ्कुचितमिति यावत् पार्श्वस्थिते पार्श्ववर्त्तिनि सति वक्त्रवत् वदनेनेव न्यग्भूतं पराङ्मुखमित्यर्थः। स्पर्शं समातन्वति कुर्वति सति पुलकवत् पुलकेनेव बहिरासितं बहिः स्थितम् न तु मनसीति भावः। आभाषमाणे आलपति सति नीवीबन्धवत् वसनग्रन्थिनेव शिथिलतां शैथिल्यम् आगतं प्राप्तम्। पाठोऽयं प्रामादिकः शिथिलता आगतेति विशुद्धः पाठः सतु छन्दोभङ्गदोषान्नात्र स्थानमाप्नोतीति चिन्त्यम्। पादस्पृशि चरणनिपतिते सति ह्रियेव लज्जयेव मानेन अपगतं निवृत्तम् ॥ १५ ॥

रतावेव रोषरूपरसस्य शेषो यथा—

एष्यत्युत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितम्
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने कोपाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ १६ ॥

अत्र कस्याश्चिद्बलवता प्रेम्णा उन्मूलितस्यापि मानस्य शेषोऽनुवर्त्तते। त एते भावादयो दशापि रसप्रकारा हासादिष्वपि प्रायशो दृश्यन्ते। ग्रन्थगौरवभयान्न क्वचिदुदाह्रियन्ते।

रति में ही रोष रूप रस के शेष होने का उदाहरण—

बड़े आश्चर्य की बात है कि उस मानिनी सुन्दरी के नयन अपराधी प्रियतम आयेंगे यह जान कर उत्कण्ठित हो गये, उसके आ जाने पर थोड़ा चञ्चल हो गये, वार्तालाप करने पर फैल गये, आलिङ्गन करते समय लाल हो गये, कपड़े खींचने पर क्रोध से भौंहों की वक्रता से समन्वित हो गये और उसके चरणों पर गिरने का प्रयास करते समय अश्रुजल से भर गये। अतः वे निःसन्देह विभिन्न भावों की रचना में निपुण हैं ॥ १६ ॥

यहाँ किसी सुन्दरी के बलवान् प्रेम के द्वारा उखाड़ दिये जाने पर भी मान का शेष भाव रह जाता है। इस प्रकार ये भाव आदि दसो ही रस के प्रकार हास आदि में भी अधिकतर देखे जाते हैं। ग्रन्थ बहुत बड़ा न हो जाये इस भय से कहीं कहीं इनको नहीं उदाहृत किया जायेगा।

स्व० प०—भोज उपर्युक्त दसों दशाओं में भी रस की निष्पत्ति मानते हैं। पूर्ववत् सब में यथोचित रूप से अनुक्त तत्वों का अध्याहार कर लिया जाता है। इनके मत से सभी रस हैं, चाहे भाव हो, चाहे संचारी आदि।

पश्यतीति। अहो आश्चर्यं मानिन्याः मानवत्याः कान्तायाः चक्षुः जातागसि कृतापराधे इत्यर्थः प्रेयसि प्रियतमे पश्यति आगमिष्यति सति उत्सुकं तदागमनार्थमुत्कण्ठितमित्यर्थः। आगते उपस्थिते सति विचलितं मनाक् मुकुलितमिति यावत् सम्भाषिणि आलपति सति स्फारितं विस्तारितम्। संश्लिष्यति समालिङ्गति सति अरुणं रक्तम्। गृहीतवसने वसनाकर्षिणि इत्यर्थः सति कोपेन अञ्चिते वक्रीकृते इति भावः भ्रुवौ लते इव यस्य तथाभूतम्। चरणयोरानतौ प्रणिपाते व्यतिकरः प्रयासः यस्य तथाविधे सति वाष्पाम्बुना अश्रुवारिणा पूर्णे ईक्षणे दर्शनव्यापारौ यस्य तथाभूतम् अतएव प्रपञ्चे विविधविलासे इति भावः चतुरं सुदक्षं जातम्॥ १६॥

तत्र,

व्यङ्गक्रीडादिभिश्चेतोविकासो हास उच्यते॥ १३९ अ॥

तद्रूपेण रसस्य भावो यथा——

कनककलसस्वच्छे राधापयोधरमण्डले
नवजलधरश्यामामात्मद्युतिं प्रतिबिम्बिताम्।
असितसिचयप्रान्तभ्रान्त्या मुहुर्मुहुरुत्क्षिपन्
जयति जनितव्रीडाहासः प्रियाहसितो हरिः॥ १७॥

अत्र राधया व्यङ्गितस्य हरेस्तु व्रीडातो हासस्य सत्तामात्रं प्रतीयते।

इनमें से—

विकलाङ्ग की क्रीडा लज्जा-आदि के द्वारा चित्त का विकास हास कहा जाता है॥ १३९ (अ)।

इस रूप से रस के "भाव" का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।११०॥)

यहाँ राधा की क्रीडा से व्यङ्गित हरि के हास की सत्ता मात्र प्रतीत होती है।

इदानीं हासं लक्षयति। तत्रेति। तत्र तेषु स्थायिभावेषु मध्ये व्यङ्गं विकृताङ्गं व्रीडा लज्जा आदिपदेन परिहासादीनां ग्रहणम्। तत्तद्भावविशेषैः चेतसः मनसः विकासः हास उच्यते कथ्यते॥ १५५॥

कनकेति। कनककलस इव स्वर्णकुम्भ इव स्वच्छं निर्मलं तस्मिन् राधायाः पयोधरमण्डले स्तनमण्डले नवजलधरश्यामां नवमेघश्यामवर्णां प्रतिबिम्बितां प्रतिफलिताम् आत्मनः स्वस्य द्युतिं प्रभाम् असितः कृष्णवर्णः सिचयस्य उत्तरासङ्गस्य प्रान्तः पर्यन्तभागः तस्य भ्रान्त्या भ्रमेण मुहुः मुहुः पुनः पुनः उत्क्षिपन् अपसारयन् अपसारितं कुर्वन्निति यावत् प्रियया राधया हसितः भ्रान्तोऽयं किं करोतीति बुद्ध्येति भावः अतएव जनितः उत्पादितः प्रियाहासेनेति भाव. व्रीडया हासः यस्य तथाभूतः हरिः कृष्णः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते इत्यर्थः॥ १७॥

शोकश्चित्तस्य वैधुर्यमभीष्टविरहादिभिः॥ १३९॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा—

हृदयान्नापयातोऽसि दिक्षु सर्वासु दृश्यसे।
वत्स ! राम ! गतोऽसीति सन्तापादनुमीयसे ॥ १८ ॥

अत्र दशरथस्य रामवियोगादुत्पन्नस्तद्गुणस्मरणादिभिरुद्दीपितश्चिन्तासन्तापादिर्वागारम्भेण चानुषज्यमानः शोकरूपेण रसो निष्पद्यते।

प्रियजन के वियोग आदि से मन की कातरता शोक है ॥ १३९ ॥

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

हृदय से तुम गये नहीं, सभी दिशाओं में दिखाई पड़ते हो। हे पुत्र, राम, तुम चले गये हो, यह केवल संताप से प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

यहाँ दशरथ की राम के वियोग से उत्पन्न, उनके गुणों के स्मरण आदि से उद्दीपित, चिन्ता, सन्ताप आदि वाणी के आरम्भ से अनुपक्त होकर शोक के रूप में रस निष्पन्न होता है।

शोकं लक्षयति शोक इति। अभीष्टस्य प्रियजनस्य विरहादिभिः चित्तस्य मनसः वैधुर्यं कातर्यं शोकः ॥ १३९ ॥

हृदयादिति। हे वत्स राम ! हृदयात् न अपयातः बहिर्गतः न असि न भवसि सर्वासु दिक्षु दृश्यसे अवलोक्यसे। किन्तु सन्तापात् मनसो वैधुर्यात् गतः असि इति अनुमीयसे अनुमानविषयीभवसि ॥ १८ ॥

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोध उच्यते ॥ १४० अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा—

मय्येवमस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य ॥ १९ ॥

अत्र यद्यपि विभावानुभावसञ्चारिसंयोगलक्षणया रसनिष्पत्तेरधिकमतिरुषातिलोहिताक्ष्येति प्रकर्षनिमित्तमतिशब्दोपादानं विद्यते तथाप्युत्तमनायिकाश्रयः प्रियविषये न रोषः प्रकर्षमासादयति ॥

उलटी घटनाओं के घटित हो जाने पर अथवा अपने से प्रतिकूल विषयों पर तीक्ष्णता का जगना क्रोध कहा जाता है ॥ १४० (अ) ॥

उसके रूप में रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

मेरे इस प्रकार से याद न आने के कारण कठोर मनोवृत्ति का हो जाने से एकान्त में हुये प्रेम में विश्वास न करने पर अत्यन्त क्रोध से उस अत्यन्त लाल-लाल आँखो वाली शकुन्तला की कुटिल भौंहों में भङ्गिमा आने से ऐसा लगता था मानो कामदेव की धनुष् ही टूट गई हो ॥ १९ ॥

यहाँ यद्यपि विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग का रूप होने से रसनिष्पत्ति के प्रकर्ष का कारण "अधिकमतिरुषातिलोहिताक्ष्या" में 'अति' शब्द का ग्रहण विद्यमान है, फिर भी उत्तम नायिका पर आश्रित रोष प्रिय के विषय में होने से प्रकर्ष नहीं कर पाता है।

क्रोधं लक्षयति प्रतिकूलेष्विति। प्रतिकूलेषु विरोधिषु तैक्ष्ण्यस्य तीक्ष्णभावस्य उग्रतायाः प्रबोधः ज्ञानं क्रोधः उच्यते ॥ १४०(अ) ॥

मयीति। अतिलोहिताचया कोपात् अतिरक्तचक्षुषा प्रिययेति शेषः अस्मरणेन स्मरणाभावेन दारुणा निष्ठुरा चित्तवृत्तिः मनोवृत्तिर्यस्य तथाभूते अतएव एवं प्रकारेण मयि वृत्तं जातं रहः प्रणयं विजनप्रेम अप्रतिपद्यमाने अस्वीकुर्वति सति कुटिलयोः भ्रुवोर्भेदात् अतिरुषा अतिकोपेन स्मरस्य कामस्य शरासनं कार्मुकं भग्नमिव खण्डितमिव ॥ १९ ॥

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह इष्यते ॥ १४० ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

मूर्ध्ना जाम्बवतोऽभिवाद्य चरणावापृच्छ्य सेनापती-
नाश्वास्याश्रुमुखान् मुहुः प्रियसखीन् प्रेष्यान् समादिश्य च।
आरम्भं जगृहे महेन्द्रशिखरादम्भोनिधेर्लङ्घने
रंहस्वी रघुनाथपादरजसामुच्चैः स्मरन् मारुतिः ॥२०॥

अत्र अभिवादनप्रश्नाश्वासनसमादेशनाद्रिशिखरारोहणेष्टदेवतास्मरणानां पूर्वरङ्गपर्यवसायित्वेनानुद्दीपनविभावत्वादनुत्साहानुभावत्वाच्च नायमनुबन्धो निष्पत्तिः प्रकर्षो वा भवति ॥

कार्य के प्रारंभ में स्थिरतर उद्योग 'उत्साह' नाम से अभीष्ट है ॥ १४० ॥

उस रूप से रस के जन्म का उदाहरण—

अत्यधिक वेग वाले हनुमान् जाम्बवान् के चरणों में प्रणाम करके, सेनापति से पूँछ-पाँछ करके, वाष्पपूरित मुखों वाले प्रिय मित्रों को बार-बार आश्वासन देकर, सेवकों को आज्ञा देकर, राम के चरण की रज का अत्यन्त भक्ति से युक्त होकर याद करते हुये महेन्द्राचल के शिखर से समुद्र के लंघन का आरंभ करने लगे ॥ २० ॥

यहाँ अभिवादन, प्रश्न, आश्वासन, समादेशन, पर्वत के शिखर पर चढ़ना तथा इष्ट देवता के स्मरण का पूर्वरङ्ग में पर्यवसान हो जाने से उद्दीपन विभाव न होने से तथा उत्साह के अनुभावों के भी न होने से यह अनुबन्ध न तो निष्पत्ति है और न तो प्रकर्ष।

उत्साहं लक्षयति कार्येति। कार्याणाम् आरम्भाः तेषु स्थेयान् स्थिरतरः संरम्भः समुद्योगः उत्साह इष्यते ॥ १४० ॥

मूर्ध्नेति। रंहस्वी अतिवेगवान् मारुतिः पवनतनयः मूर्ध्ना शिरसा जाम्बवतः चरणौ अभिवाद्य प्रणम्य सेनापतीन् अङ्गदादीन् आपृच्छ्य साधु याम इति सम्भाष्य अश्रुमुखान् वाष्पाविलवदनान् प्रियसखीन् प्रियबन्धून् मुहुः पुनः पुनः आश्वास्य प्रेष्यान् भृत्यान् समादिश्य एवमेवं कुरुतेति आज्ञाप्य रघुनाथस्य रामस्य पादरजसां चरणरेणूनाम् उच्चैः भक्त्यतिशयेनेति भावः स्मरन् महेन्द्रस्य तदाख्यपर्वतस्य शिखरात् अम्भोनिधेः समुद्रस्य लङ्घने आरम्भं जगृहे समुद्रं लङ्घितुमुपचक्रमे इत्यर्थः ॥ २० ॥

भयं चित्तस्य वैक्लव्यं रौद्रादिजनितं विदुः ॥ १४१(अ) ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

मन्त्रान् मृत्युजितो जपद्भिरसकृद्ध्यायद्भिरिष्टान् सुरान्
शुष्यत्तालुभिराकुलाकुलपदैर्निर्वाग्भिरुत्कम्पिभिः ।
अध्वन्यैरिह जीवितेशमहिषव्याधूम्रधूमाविला
लङ्घ्यन्ते करिमांसघस्मररणत्कौलेयकाः पल्लयः ॥ २१ ॥

अत्र यद्यपि पल्लीनामालम्बनत्वं तद्विशेषणयोः उद्दीपनत्वं मन्त्रजपादेरनुभावत्वं तालुशोषादीनां व्यभिचारित्वमिति विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगोऽस्ति तथापि मन्त्रजपेष्टदेवतानुध्यानयोर्लङ्घनोपायपरत्वान्न भयरूपेण रसस्य निष्पत्तिः। अध्वन्यानां हि तन्निष्पत्तौ अल्पसत्त्वतया स्तम्भमोहमूर्च्छामरणादिभिः उपायप्रयोगो न घटते ॥

रुद्रता आदि के द्वारा चित्त में उत्पन्न की गई विकलता आदि भय समझा जाता है ॥१४१(अ)॥

उसी रूप से रस का अनुवन्ध—जैसे—

मृत्यु को जीत लेने वाले मन्त्रों को जपते हुये, अपने इष्ट देवताओं का बार-बार ध्यान करते हुये, सूख रहो तालु वाले, अस्पष्ट शब्दों वाले, चुप तथा काँप रहे पथिकों के द्वारा यहाँ यमराज के भैसें की भांति मलिन धूम से काली कर दी गई तथा हाथी के मांस को खाने में लगे हुये कुत्तों से युक्त पल्लियाँ पार की जा रहीं हैं ॥ २१ ॥

यहाँ पर यद्यपि पल्लियों की आलम्बनता, उसके दोनों विशेषणों की उद्दीपनता, मन्त्र जप आदि की अनुभावता तथा तालुशोष आदि की व्यभिचारिता होने से विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का संयोग है, तथापि मन्त्रजप तथा इष्ट-देवता के ध्यान का लङ्घन के उपायपरक होने से भयरूप में रस की निष्पत्ति नहीं होती हैं। उसकी निष्पत्ति के प्रति पथिकों के अल्पसत्त्व होने से स्तम्भ, मोह, मूर्च्छा, मरण आदि के साथ उपाय का प्रयोग भी नहीं घटित होता है।

स्व० द०—यहाँ भोज के कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ रसनिष्पत्ति के लिये सभी अपेक्षित तत्त्व रहते भी हैं, यदि वहाँ उसके चरम उद्रेक में तनिक भी कमी रह जाती है या कोई ऐसी वस्तु दिख जाती है जिससे पूर्ण रसबोध में कमी आ जाती है तो वहाँ भी पूर्ण रस की निष्पत्ति नहीं होती है अपितु मात्र भाव की स्थिति रह जाती है। उपर्युक्त उदाहरण में ही मन्त्र जप तथा इष्ट का ध्यान करने से भय को पार कर जाने की आशा से पूर्ण भय की निष्पत्ति नहीं हो पाती। जिसे किसी भी अनर्थ से बच जाने की आशा है वह किञ्चित् ही भयभीत होता है, पूर्णतः नहीं।

भयं लक्षयति भयमिति। **रौद्रादिजनितं तीक्ष्णतादिभिर्हेतुभिः जनितम् उत्पादितं वैक्लव्यं व्याकुलत्वं चित्तस्येति शेषः भयम् ॥ १४१(अ) ॥**

मन्त्रानिति। **अध्वनि अध्वना वा गच्छन्तीति अध्वन्याः पथिकाः तैः मृत्युं जयन्तीति मृत्युजितः तान् मृत्युनिवारणसमर्थानित्यर्थः मन्त्रान् संहिताविशेषान् जपद्भिः उच्चारयद्भिः असकृत् पुनः पुनः इष्टान् सुरान् देवान् ध्यायद्भिः स्मरद्भिः शुष्यन्ति तालूनि येषां तथाभूतैः आकुलानि आकुलानि अस्पष्टोच्चरितानीति भावः पदानि सुप्तिङन्तरूपाणि वाक्यानीत्यर्थः येषां तैः निर्वाग्भिः वाक्यरहितैः उत्कम्पिभिः उच्चैः कम्पमानैश्च सद्भिः इह अस्मिन् प्रदेशे करिणां हस्तिनां शबरगणहतानामिति भावः मांसानि तेषां घस्मराः**

भक्षणपरा इत्यर्थः कौलेयकाः कुक्कुराः यासु ताः जीवितेशस्य यमस्य महिषः वाहनभूतः तद्वत् व्याधूम्राः मलिना इत्यर्थः ये धूमाः तैः आविलाः कलुषाः पल्लयः लङ्घ्यन्ते अतिक्रम्यन्ते ॥

जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषसन्दर्शनादिभिः ॥ १४१ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुगमो यथा—

रे हस्त ! दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताप्रवासनपटोः करुणा कुतस्ते ? ॥ २२ ॥

अत्र यद्यपि द्विजशिशोर्जीवनाय मुनिरपि शूद्रो वध्य इति न रामस्यात्मकर्मनिन्दा तथापि अनपकारिणं जिघांसतो घृणा प्रवर्त्तत इति सीतापरित्यागविषयत्वेनैवात्र जुगुप्सानुगमो ग्रहीतव्यः । शम्बूकविषये पुनरस्या जन्ममात्रमेवेति ।

दोष दर्शन आदि के कारण वस्तुओं की निन्दा करना जुगुप्सा है ॥ १४१ ॥

उस रूप से रस के अनुगम का उदाहरण—

हे मेरी दक्षिण भुजा, ब्राह्मण के मृत बालक की जीवनप्राप्ति के लिये इस शूद्र तपस्वी (शम्बूक) पर कटार छोड़ । तुम तो पूर्ण गर्भ को धारण करने वाली सीता को भी निर्वासित कर देने में निपुण राम के अङ्ग हो, तुझ में भला करुणा कहाँ से आई ॥ २२ ॥

यहाँ यद्यपि 'ब्राह्मण बालक को जीवित करने के लिये मुनि होने पर भी शूद्र वध्य है' इसलिये राम को अपने कर्म की निन्दा नहीं है, तथापि अपकार न करने वाले को मारने वाले के प्रति घृणा प्रवृत्त हो जाती है इसलिये सीता को परित्याग रूप विषय के होने से ही यहाँ जुगुप्सा का ज्ञान ग्रहण करना चाहिये । शम्बूक के विषय में इस जुगुप्सा का जन्ममात्र होता है ।

जुगुप्सां लक्षयति । अर्थानां विषयाणां दोषसन्दर्शनादिभिः गर्हणा कुत्सनं जुगुप्सा॥१४१॥

रे इति । रे दक्षिण ! हस्त ! मृतस्य द्विजस्य ब्राह्मणस्य शिशोः जीवातवे जीवनायेत्यर्थः जीवनौषधाय वा जीवातुर्जीवनौषधमित्यमरः । शूद्रमुनौ शूद्रतापसे कृपाणं खड्गं विसृज प्रहरेत्यर्थः ननु अकस्मात् कथमीदृशं गर्हितं कार्यं कृपावान् अहं करोमीत्याशङ्क्याह । रामस्येति । त्वं दुर्वहेण वोढुमशक्येन गर्भेण खिन्ना आर्त्ता या सीता तस्याः प्रवासने निर्वासने पटुः दक्षः तस्य नितरां गर्हितमाचरत इति भावः रामस्य गात्रम् असि भवसि, ते तव करुणा दया कुतः ? नैव करुणेत्यर्थः ॥ २१ ॥

विस्मयश्चित्तविस्तारः पदार्थातिशयादिभिः ॥ १४२(अ) ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

कृष्णेनाद्य गतेन रन्तुमधुना मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्यं कृष्ण ! क एवमाह मुसली मिथ्याम्ब ! पश्याननम् ।
व्यादेहीति विदारिते तु वदने दृष्ट्वा समस्तं जगत्
माता यस्य जगाम विस्मयवशं पायात स वः केशवः ॥ २३ ॥

अत्र शिशोर्मुखे जगद्दर्शनमालम्बनविभावः। तत्सामग्रयशैशवाद्यालोकनमुद्दीपनविभावः। विस्मयवशं जगामेत्यनेनानुपात्ता अपि सञ्चारिणोऽनुभावाश्च गृह्यन्ते ॥ १६८ ॥

पदार्थ की अलौकिकता आदि के कारण चित्त का विकास विशेष विस्मय है। (१४२ अ)

उसी के रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

"हे माँ, आज खेलने के लिये जाने पर कृष्ण ने खूब मनमाने रूप में मिट्टी खाई है।" "सच है, रे कृष्ण?" "किसने ऐसा कहा?" 'बलराम ने"—"माँ, वह झूठा है, मेरा मुँह देख लो।" "(अच्छा) मुँह फैलाओ" ऐसा कहने पर कृष्ण के मुख फैलाने पर उनके मुख में ही सम्पूर्ण संसार को देख कर जिसकी माता यशोदा अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गई, वह कृष्ण आप लोगों की रक्षा करें ॥ २३ ॥

यहाँ शिशु के मुँह में जगत् का दर्शन आलम्बन विभाव है। अतः उन सबसे पूर्ण शैशव आदि को देखना उद्दीपन विभाव है। 'विस्मय के वशीभूत हो गई' इससे शब्दशः उक्त न होने पर भी सञ्चारियों तथा अनुभावों का ग्रहण हो जाता है।

स्व० द०—यहाँ तक भोज ने रति से लेकर विस्मय तक आठ स्थायीभावों का उल्लेख किया है। स्थान-स्थान पर इनके केवल भाव ही, न कि पूर्ण निष्पन्न रस की अवस्था में रह जाने का कारण भी दिया है। यहाँ (१४२ अ) में विस्मय को चित्त का विस्तार कहा गया है। इसी प्रकार अन्य रसों में भी चार प्रकार की चित्त की अवस्था देखी जाती है। शेष उन्हीं प्रधान चारों से उत्पन्न होते हैं, अतः उनका भी अन्तर्भाव उन्हीं में हो जाता है। दशरूपककार के अनुसार—

विकासविस्तार-क्षोभविक्षोभैः स चतुर्विधः ॥ ४३ ॥
शृङ्गार-वीर-बीभत्स-रौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ ४४ ॥
यतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम् ॥ ४५ ॥ (दशरूपक ४ र्थ प्रकाश)
शृङ्गाराद्धि भवेद् हास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥

इनकी अन्तिम पंक्तियाँ नाट्यशास्त्र (६।३९) से ली गई हैं। भरत का भी मत है कि—'तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति।" ना० शा० पृ० ८३ (षष्ठ अध्याय)।

विस्मयं लक्षयति। विस्मय इति। पदार्थस्य वस्तुनः अतिशयादिभिः अलौकिकत्वादिभिर्हेतुभिः चित्तस्य विस्तारः विकासविशेष इत्यर्थः विस्मयः ॥ १४२(अ) ॥

कृष्णेनेति। अद्य कृष्णेन रन्तुं क्रीडितुं गतेन अधुना स्वेच्छया निजेच्छया मृत् मृत्तिका भक्षिता इति बलदेवेनोक्ते यशोदा प्राह सत्यमिति रे कृष्ण! सत्यं? त्वया मृद्भक्षितेति शेषः इति यशोदया उक्ते कृष्ण आह क इति कः एवम् आह ब्रवीति मया मृद्भक्षितेति। तथोक्ते यशोदा आह मुषली तु मुषली बलरामः एवमाहेति शेषः। तथोक्ते कृष्ण आह मिथ्येति हे अम्ब! मातः! मिथ्या अलीकमेतत् मुषलिवचनमिति शेषः। आननं मुखं मे इति शेषः पश्य अवलोकय। तथोक्ते यशोदा आह व्यादेहीति व्यादेहि विस्तारय मुखमिति शेषः इति उक्ते विदारिते विस्तारिते कृष्णेनेति शेषः वदने यस्य माता यशोदा

समस्तं जगत् दृष्ट्वा विस्मयवशं जगाम प्राप, स केशवः कृष्णः वः युष्मान् पायात् रक्षतु ॥ २३ ॥

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयरागामयादिभिः ॥ १४२ ॥

तद्रूपेण रसस्य पुष्टिर्यथा--

तो ताणं हदछाअं णिच्चललोअणसिहं पउत्थपदावम् ।
आलेक्खपदीवाणं व्व णिअं पअदि चटुलत्तणं पि विअलिअम् ॥ २४ ॥

अयञ्च पुष्टोऽपि सात्त्विकत्वात् सदैवान्यानुयायीति नानुभावादिभिरनुबध्यते ॥ १७० ॥

(१ स्तम्भ)

भय, राग, रोग आदि के कारण शरीर व्यापार का न होना स्तम्भ है ॥ १४२ ॥

उसके रूप में रस की पुष्टि का उदाहरण—

(अर्थ तथा छाया के लिये द्रष्टव्य ४।५६) ॥ २४ ॥

यह पुष्ट होते हुये भी सात्त्विक भाव होने से हमेशा दूसरों का ही अनुयायी रहेगा, अतः अनुभाव आदि से अनुबद्ध नहीं होता ।

स्तम्भं लक्षयति । भयं त्रासः रागो हर्षविशेषः आमयो रोगः आदिः येषां तैः हेतुभिः चेष्टायाः शरीरव्यापारस्य प्रतीघातः राहित्यमिति यावत् स्तम्भः ॥ १४२ ॥

तो ताणमिति । चतुर्थपरिच्छेदे ४।५६ पत्रे प्राग् व्याख्यातः ॥ २४ ॥

हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥ १४३ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा--

करिमरिअजालगज्जिदजलदासणिपडिरवो एसो ।
पइणो धणुरवकङ्क्षिणि ! रोमञ्चं किं मुहा वहसि ॥ २५ ॥

अस्यापि सात्त्विकत्वादन्यानुबन्धादयो न जायन्ते ।

(२) रोमाञ्च

हर्ष, आश्चर्य, भय आदि के कारण उद्भूत रोमविकार रोमाञ्च है ॥ १४३ अ ॥

उस रूप से रस का जन्म —जैसे—

हे बन्दिनी, (जो तुम सुन रही हो) वह तो असमय में गर्जन कर रहे मेघ के वज्रपात की प्रतिध्वनि है । हे प्रिय के धनुष् की टङ्कार को सुनने की इच्छुक, तू व्यर्थ ही क्यों रोमाञ्च धारण कर रही है ॥ २५ ॥

इसके भी सात्विक भाव होने से दूसरों के अनुबन्ध आदि नहीं होते ।

रोमाञ्चं लक्षयति । हर्षेति । हर्षः आनन्दः अद्भुत चमत्कारः भयं त्रासः तदेवमादिभ्यः हेतुभ्यः रोम्णां विक्रिया विकारविशेषः रोमाञ्चः ॥ १४३अ ॥

किर्मीरितजालगर्जितजलदाशनिप्रतिरव एषः ।
पत्युर्धनूरवकाङ्क्षिणि ! रोमाञ्चं किं मुधा वहसि ॥

करिमेति । किर्मीरितं चित्रितं शक्रधनुषेति भावः जालं संहतिर्यस्य तथाभूतः गर्जितः गर्जन्नित्यर्थः वर्त्तमाने क्तप्रत्ययः यो जलदः मेघः तस्य अशनिः तदुत्थितं वज्रमित्यर्थः तस्य

प्रतिरवः प्रतिध्वनिः एषः । पत्युः स्वामिनः रामस्येति भावः धनुषः कार्मुकस्य रवं नादं टङ्कारमिति यावत् काङ्क्षति मन्यते इति यावत् तथोक्ता तत्सम्बुद्धौ हे सीते ! इति शेषः मुधा निरर्थकं रोमाञ्चं किं कथं वहसि धारयसि ? नायं तव पत्युर्धनुर्निनादः अपि तु वज्रनिर्घोष एषः तत् पत्युः स्मरणेन सात्त्विकरोमाञ्चधारणं तव वृथेति निष्कर्षः । अशोकवनवर्त्तिनीं सीतां प्रति कस्याश्चित् परिचारिण्या निशाचर्या उक्तिरियम् ॥ २५ ॥

मद्प्रमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ॥ १४३ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्ति र्यथा—

पि पि प्रिय ! स स स्वयं मु मु मुखासवं देहि मे
त त त्यज दु दु द्रुतं भ भ भ भाजनं काञ्चनम् ।
इति स्खलितजल्पितं मदवशात् कुरङ्गीदृशः
प्रगे हसितहेतवे सहचरीभिरध्यैयत ॥ २६ ॥

अयमपि सात्त्विकत्वात् निष्पन्नो नान्यैरनुबध्यते ।

(३) गद्गद

मद्यपान, प्रहर्ष, पीडा आदि के कारण स्वर-परिवर्तन हो जाना 'गद्गद' जाना गया है। (१४३)

उसके रूप में रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य २।४२) ॥ २६ ॥

यहाँ भी सात्त्विकता के कारण निष्पन्न है रस, वह अन्यों से अनुबद्ध नहीं होगा।

गद्गदं लक्षयति । मदेति । मदः मद्यपानं प्रमदः हर्षः पीडा व्याधिः आदिर्यस्य तस्मात् कारणात् वैस्वर्यं स्वरस्य अन्यथात्वं स्खलनमित्यर्थः गद्गदं विदुः जानन्ति ॥ १४३ ॥

पिपीति । हे प्रिय ! नाथ ! स त्वं स्वयं मे मह्यं मुखासवं गण्डूषमद्यं देहि, द्रुतं शीघ्रं काञ्चनं भाजनं सौवर्णं पात्रं त्यज इतीत्थं मदवशात् मद्यपानजनितात् विकारादित्यर्थः कुरङ्गीदृशः मृगाक्ष्याः स्खलितजल्पितं स्खलनवत् वचनं प्रगे प्रातःकाले सहचरीभिः सङ्गिनीभिः हसितहेतवे हास्याय अध्यैयत अस्मर्यत । अधीक् न स्मरणे इत्यस्य लङो रूपम् । अत्र प्रिय इति वक्तव्ये पि पि प्रियेति स इति वक्तव्ये स स इति मुखासवमिति वक्तव्ये मु मु मुखासवमिति त्यजेति वक्तव्ये त त त्यजेति द्रुतमिति वक्तव्ये दु दु द्रुतमिति भाजनमिति वक्तव्ये भ भ भ भाजनमिति च स्खलनम् ॥ २६ ॥

वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः ॥ १४४अ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥ २७ ॥

अत्रापि पूर्ववदन्यानुषङ्गो न भवति ॥ १७६ ॥

(४) स्वेद

मैथुन, धूप, परिश्रम आदि के कारण शरीर से जल निकलना स्वेद है ॥ १४४अ ॥

उसके रूप में रस का जन्म—जैसे—

शिशिर के बीत जाने से स्वच्छ अधरों वाली तथा चमक उठी मुख की कान्ति वाली किन्नरियों की पत्ररचनाओं में घर्म जल की उत्पत्ति ने स्थान बना लिया ॥ २७ ॥

यहाँ भी पहले की भांति दूसरों का अनुबन्ध नहीं होता ॥ १४४ अ ॥

स्वेदं लक्षयति । वपुरिति । रतिः सुरतं घर्मः निदाघः श्रमः शारीरव्यापारः एवमादिभिः हेतुभिः वपुषः शरीरात् जलोद्गमः कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते इति न्यायात् उद्गतं जलमित्यर्थः स्वेदः ॥ १४४अ ॥

हिमेति । हिमस्य शिशिरस्य व्यपायात् विगमात् विशदः स्वच्छः विकस्वर इत्यर्थः अधरो यासां तथोक्तानाम् अपाण्डरीभूता हिमजनितकालुष्यापगमेन विकासिनीत्यर्थः मुखच्छविर्वदनद्युतिः यासां तथाभूतानां किम्पुरुषाङ्गनानां किन्नरीणां पत्रविशेषकेषु पत्ररचनाविशेषेषु स्वेदोद्गमः घर्म सलिलोदयः पदं स्थानं चक्रे कृतवान् ॥ २७ ॥

रागरोषभयादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥ १४४ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न सखि ! भाजनमीदृशीनाम् ?
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥ २८ ॥

अयमपि प्राग्वदेव नान्यैरनुगम्यते ।

(५) वेपथु

राग, रोष, भय आदि के कारण शरीर का कांपना वेपथु है ॥ १४४ ॥

उस रूप से रस का जन्म—जैसे—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।१०५) ॥ २८ ॥

यह भी पहले की भांति ही दूसरों से अनुगत नहीं होता ।

कम्पं लक्षयति रागेति । रागः अनुरागातिशयः रोषः कोपः भयं त्रासः एवमादिभ्यः हेतुभ्यः गात्रस्य शरीरस्य वेपथुः स्पन्दनातिशयः कम्पः ॥ १४४ ॥

मेति । हे सखि ! मम कपोलतले गण्डदेशे कान्तस्य प्रियस्य स्वहस्तेन लिखिता मञ्जरी रचनाविशेषः चकास्ति राजते इति हेतोः गर्वम् अहङ्कारं मा उद्वह न कुरु। अन्या अपरा नारीति शेषः अपि ईदृशीनां सौभाग्यव्यञ्जनीनां मञ्जरीणामिति भावः किं भाजनम् ? पात्रं न ? अपि तु भाजनमेव भवतीति शेषः चेद् यदि वैरी शत्रुभूतो वेपथुः कम्पः प्रियकरस्पर्शजसत्त्वोदयात् जनित इति भावः अन्तरायः विघ्नः न भवति प्रियकरस्पर्शेण सत्त्वोदयात् मादृशामङ्गकम्पात् ईदृशीनां मञ्जरीणां रचनाव्याघातः तव तु सत्त्वोदविरह इति भावः ॥ २८ ॥

विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ॥ १४५ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा--

सहि ! साहस्सं तेण समं अहंपि किं णिग्गआ पहाअम्मि ।
अणव्विअ दीसइ जेण दप्पणे कावि सा सुमुही ।। २६ ।।

अयमपि नान्यैरनुबध्यते ।। १४५ अ ।।

(६) विवर्णता

दुःख, मद्यपान, क्रोध आदि के कारण रंग का बदल जाना विवर्णता है ।। १४५ अ ।।

उस रूप से भी रस की निष्पत्ति का उदाहरण--

अरी सखि, (यह भी मेरा) साहस कर्म (ही तो है), भला मैं कैसे उसके साथ गृह से बाहर निकल गई । उसी के कारण प्रातःकाल वह सुवदना दर्पण में कुछ दूसरी ही दिखाई पड़ने लगी ।। २९ ।।

यह भी दूसरों से अनुगत नहीं होता ।

विवर्णतां लक्षयति । विषादेति । विषादो दुःखं मदः मद्यपानं रोषः कोपः एवमादेर्हेतो। वर्णस्य अन्यत्वम् अन्यथाभावः विवर्णता ।। १४५ अ ।।

सखि ! साहस्यं तेन सममहमपि किं निर्गता प्रभाते ।
अन्यैव दृश्यते येन दर्पणे कापि सा सुमुखी ।।

सहीति । हे सखि ! साहस्यम् अविमृष्यकारित्वमित्यर्थः अस्माकमिति भावः यतः अहमपि विवेकमती अपीति भावः तेन शठेन कान्तेनेति भावः समं सह किं कथं निर्गता गृहादिति शेषः गृहात् निर्गमनमनुचितमासीदिति भावः । येन हेतुना प्रभाते प्रातःकाले दर्पणे आदर्शे सा सुमुखी अन्यैव कापि दृश्यते । अत्र सुमुख्याः पत्युरपरनारीसङ्गदर्शनात् विषादेन वर्णान्यत्वम् ।। २९ ।।

अश्रु नेत्रोद्गतं वारि दुःखशोकप्रहर्षजम् ।। १४५ ।।

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा--

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्ति
वाष्पं कुरु स्थिरतया शिथिलानुबन्धम् ।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ।। ३० ।।

अत्र वाष्पशब्देन लोचनाश्रयमश्रु उच्यते, न कण्ठाद्याश्रयो दुःखावेगो यथा । 'विललाप स वाष्पगद्गदम्' 'मुहुर्लग्नः कण्ठे तरलयति वाष्पः स्तनतटी'मित्यादि च ।

(७) अश्रु

दुःख, शोक अथवा आनन्द के कारण उत्पन्न होने वाला नेत्रों से निकला जल 'अश्रु' है ।। १४५ ।।

उस रूप से रस का अनुबन्ध (होता है), जैसे—

धैर्य धारण करके, ऊपर उठी हुई बरौनियों वाले दोनों नेत्रों के दर्शन व्यापार को रोकने वाले बाष्प-आँसुओं का प्रवाह बन्द करो। इस अदृष्ट नीचे-ऊँचे पृथ्वीतल वाले मार्ग पर तुम्हारे पाँव ठीक से नहीं पड़ रहे हैं ॥ ३० ॥

यहाँ 'बाष्प' शब्द से आँखों में स्थित रहने वाला आँसू कहा गया है, कण्ठ आदि में स्थित रहने वाला दुःख का उभार नहीं। जैसे—'वह आँसुओं से रुधे गले से रोता रहा' अथवा 'गले में लगा हुआ आँसू बार-बार स्तन-तटों को तरल किये दे रहा है' आदि में है।

अश्रु लक्षयति। अश्रु इति। दुःखशोकप्रहर्षजं शोकजं प्रहर्षजं नेत्रोद्गतं नयनोत्थं वारि जलम् अश्रु ॥ १४५ ॥

उत्पक्ष्मणोरिति। उत्पक्ष्मणोः ऊर्ध्वलोम्नोः नयनयोः नेत्रयोः उपरुद्धा व्याहता वृत्ति-र्व्यापारः येन तथाभूतं दर्शनव्यापारव्याघातकमित्यर्थः बाष्पम् अश्रुवारि भाविस्वजन-वियोगजनितमिति भावः स्थिरतया धैर्येण शिथिलः स्थगित इत्यर्थः अनुबन्धः प्रसरः यस्य तथाभूतं कुरु मा रुदिहीति भावः। खलु यतः ते तव पदानि अलक्षितः बाष्प-विरोधात् अदृष्ट इत्यर्थः नतोन्नतः भूमिभागः यस्मिन् तथाभूते अस्मिन् मार्गे पथि विषमी-भवन्ति स्खलितानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

विललापेति। सः अजः बाष्पेण कण्ठाश्रयदुःखावेगेन गद्गदम् अस्पष्टोच्चरितम् अर्द्ध-स्फुटं वा यथा तथा विललाप परिदेवितवान्। विलापः परिदेवनमित्यर्थः ॥

मुहुरिति। मुहुः पुनः पुनः कण्ठे लग्नः कण्ठावरोधीत्यर्थः बाष्पः स्तनतटीं स्तनदेशं तरलयति कम्पयति।

प्रलयस्तीव्रदुःखादेरिन्द्रियास्तमयो मतः ॥१४६ अ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्ति र्यथा—

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्त्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥ ३१ ॥

अत्र मोहशब्देन मूर्च्छा उच्यते, न वक्ष्यमाणलक्षणो मोहः ॥

(८) प्रलय

अत्यन्त उग्र दुःख आदि के कारण इन्द्रियों की व्यापार-शून्यता 'प्रलय' कहा गया है॥९४५॥

उसके रूप में रसनिष्पत्ति का उदाहरण—

अत्यन्त दारुण भर्तृविनाश से उत्पन्न तथा इन्द्रियों की वृत्ति को स्तब्ध कर देनेवाली मूर्च्छा के कारण एक क्षण के लिये रति को पतिमरण रूप दुःख की प्रतीति ही न हो सकी। इस प्रकार एक क्षण के लिये उसे लगा मानो मूर्च्छा ने उसका उपकार कर दिया हो ॥ ३१ ॥

यहाँ मोह शब्द से मूर्च्छा कही जा रही है, न कि वह मोह (नाम का संचारी भाव) जिसका आगे वर्णन किया जायेगा।

स्व० भा०—यहाँ आठों सात्त्विक भावों का निरूपण किया गया है। इनके उदाहरणों से स्पष्ट है कि इनके पृथक् निरूपण से भी रसानुभूति होती है। आगे संचारियों में से प्रत्येक का लक्षण सहित उदाहरण दिया जा रहा है।

प्रलयं लक्षयति। तीव्रम् अत्यन्तं यत् दुःखं तदादेः हेतोः इन्द्रियाणां हस्तपदादीनामङ्गानाम् अस्तमयः व्यापारशून्यत्वं प्रलयः मोह इति यावत् मतः प्रलयो नष्टचेष्टतेत्यमरः ॥ १४६ अ ॥

तीव्रेति। रतिः कामपत्नी तीव्रः, दारुणः अभिषङ्गः पराभवः भर्तृविनाशरूपः प्रभवत्यस्मादिति प्रभवो हेतुर्यस्य तथाभूतेन 'अभिषङ्गः पराभव' इत्यमरः। इन्द्रियाणां हस्तपदादीनाम् अङ्गानां वृत्तिं व्यापारं क्रियामिति यावत् संस्तम्भयता स्थगयता मोहेन चैतन्यविगमेन मुहूर्त्तम् अल्पकालं न ज्ञातं भर्त्तुः व्यसनं विपद् विनाश इत्यर्थः यया तथाभूता अतएव कृतः उपकारो यस्याः तादृशीव उपकृतेवेत्यर्थः बभूव आसीत् ॥ ३१ ॥

स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयं ज्ञानमुच्यते ॥ १४६ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

इतः प्रत्यादेशात् स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनर्दृष्टिं वाष्पप्रकरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत् तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥ ३२ ॥

अत्र सविशेषा स्मृतिरिच्छया वागारम्भेण चानुबध्यते तिष्ठेत्यादयः पुनरस्या रत्यादिनिष्पत्तिष्वेव द्रष्टव्याः। रत्यादयो हि स्मृतिमूलत्वात् तत्प्रकर्षविकर्षावनुवर्त्तन्ते ॥ १४६ ॥

(१) स्मृति

पहले अनुभव में आयी वस्तुओं से सम्बद्ध ज्ञान 'स्मृति' कही जाती है।

उसके रूप में रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

यहाँ से लौटा दी जाने के कारण जब वह अपने लोगों के पीछे-पीछे चलने लगी, उस समय गुरु के तुल्य गुरुशिष्य के द्वारा 'रुको' यह जोर से कही जाने पर खड़ी हो गई और जो उसने अश्रुबिन्दुओं से भरी हुई निगाहों को मुझ निर्दय पर डाला था वह आज भी मुझे विषदग्ध बाण कोण की भाँति जलाये जा रही है ॥ ३२ ॥

यहाँ विशेष प्रकार की स्मृति इच्छा तथा वागारम्भ से अनुबद्ध है, और "रुको" आदि इसमें प्रयुक्त पद रति आदि की निष्पत्ति में ही देखने योग्य है। स्मृतिमूलक होने से रति आदि उसके प्रकर्ष तथा अपकर्ष में अनुवृत्त होते हैं।

स्मृतिं लक्षयति। पूर्वम् अनुभूतः विदितः अर्थः वस्तु विषयो यस्य तथाभूतं ज्ञानं स्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ १४६ ॥

इत इति। प्रत्यादेशात् निराकरणात् 'प्रत्यादेशो निराकृति'रित्यमरः। इतः मत्सकाशादित्यर्थः स्वजनं बन्धुजनं गुरुशिष्यमिति यावत् अनुगन्तुम् अनुयातुं व्यवसिता उद्यता गुरुसमे पितृतुल्ये गुरुशिष्ये तिष्ठ इति उच्चैः वदति सति स्थिता दण्डायमानेति यावत् सती क्रूरे निष्ठूरे मयि पुनः वाष्पप्रकरेण अश्रुनिचयेन कलुषाम् आविलां दृष्टिं यत् अर्पितवती निहितवती तत् सविषं विषाक्तं शल्यमिव मां दहति ज्वलयति ॥ ३२ ॥

ऊहो वितर्क इत्युक्तः पदार्थेषु यथामति ॥ १४७ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा—

चित्ते निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगान्
रूपोच्चयेन घटिता मनसा कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥ ३३ ॥

सोऽयमसत्यः सत्यो वा स्मृतिज्ञानचिन्तनादिद्वारेण निश्चयान्तो निष्पन्न इत्युच्यते ॥ १४८ अ ॥

(२) ऊह

वस्तुओं में अपनी बुद्धि के अनुसार विभिन्न प्रकार की आशङ्कायें करना ऊह है । (१४७ अ)

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ॥ ३।१२२ ॥) ॥ ३३ ॥

यह सत्य है अथवा असत्य यह स्मृति, ज्ञान, चिन्तन आदि के द्वारा अन्त में निश्चयात्मक रूप से उपपन्न कहा जाता है ।

ऊहं लक्षयति । ऊह इति । पदार्थेषु वस्तुषु यथामति यथाज्ञानं वितर्कः आन्दोलनम् ऊह इति उक्तः कथितः ॥ १४७ अ ॥

चित्ते इति । धातुः ब्रह्मणः विभुत्वं सृष्टिसामर्थ्यं तस्याः शकुन्तलायाः वपुः अङ्गञ्च अनुचिन्त्य समालोच्य सा शकुन्तला चित्ते हृदये परिकल्पिताः कल्पनया रचितानि यानि सत्त्वानि सामग्र्यः उपादानवस्तूनीत्यर्थः तेषां योगान् समवायान् निवेश्य निधाय रूपोच्चयेन रूपराशिना घटिता अथवा मनसा केवलेनेति शेषः कृता नु निर्मिता किम् ? अतएव मे मम सकाशे इत्यर्थः अपरा विलक्षणेत्यर्थः स्त्रीरत्नसृष्टिः प्रतिभाति ॥ ३३ ॥

उत्कण्ठेष्टानवाप्तौ योऽभिलापः स्यात्तदाप्तये ॥ १४७ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्ह्रासौ यथा—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
वाष्पस्तम्भितकण्ठवृत्ति वचनं चिन्ताजडं दर्शनम् ।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥ ३४ ॥

अत्र त्रिभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् प्रीतिरिवोत्कण्ठापि तदनुषङ्गिणी निष्पन्ना उत्तरार्द्धप्रतिपाद्येन तथाविधेनैव विस्मयादिना अभिभूयमाना ह्रास इति उच्यते । प्रकर्षश्चास्य ममारण्यौकस इत्यनेन निवार्यते ॥ १४७ ॥

(३) उत्कण्ठा

अभीष्ट की प्राप्ति न होने पर उसकी प्राप्ति के लिये जो अभिलाषा है, उसे उत्कण्ठा समझना चाहिये ॥ १४७ ॥

उस रूप में रस की निष्पत्ति तथा हास का उदाहरण—

'आज शकुन्तला जायेगी" इससे मेरा हृदय उत्कण्ठा से व्याकुल हो गया है। शब्द आँसुओं से रुँधे हुये गले में अटक गये हैं, आँखें चिन्ता के कारण पथरा गई हैं। जब प्रेम के कारण मेरे जैसे बनवासी में इस प्रकार की विकलता है, तब भला पुत्री के वियोग से उत्पन्न नवीन दुःखों से गृहस्थ कैसे पीडित न होंगे ॥ ३४ ॥

यहाँ विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग से प्रीति की भांति उत्कण्ठा भी उसके साथ निष्पन्न हो जाती है, किन्तु उत्तरार्ध में प्रतिपादित उसी प्रकार से ही विस्मय आदि के द्वारा अभिभूत होकर 'हास' कही जाती है। इसका प्रकर्ष `ममारण्यौकसः"—मुझ वनवासी की'— इस उक्ति से निवृत्त हो जाता है।

उत्कण्ठां लक्षयति। उत्कण्ठेति। इष्टस्य प्रियवस्तुनः अनवाप्तौ अप्राप्तौ तस्य इष्टस्य आप्तये लाभाय यः अभिलाषः सा उत्कण्ठा स्यात् ॥ १४७ ॥

यास्यतीति। अद्य शकुन्तला यास्यति गमिष्यति पतिगृहमिति शेषः इति हेतोः हृदयं चित्तम् उत्कण्ठया उद्वेगेन संस्पृष्टम् आकुलितमित्यर्थः वचनं वाक्यं वाष्पेण दुःखावेगविशेषेण स्तम्भिता निरुद्धा कण्ठस्य वृत्तिर्व्यापारः वर्णोच्चारणक्रियेति यावत् यस्य तथाभूतं दर्शनं दृष्टिव्यापारः चिन्तया शुभाशुभयोर्भावनयेत्यर्थः जडं मन्थरं बाह्यावबोधशून्यमित्यर्थः अरण्यौकसः वनवासिनः तापसस्येति भावः मम स्नेहात् वात्सल्यात् ईदृशम् एवम्प्रकारम् इदं वैक्लव्यं व्याकुलत्वं तावत्। गृहिणः गृहस्थाः नवैः अपूर्वैः तनयाविश्लेषदुःखैः दुहितृवियोगक्लेशैः कथं नु कथमिव पीड्यन्ते अभिभूयन्ते ?, अतीव पीड्यन्ते इति भावः ॥ ३४ ॥

प्रयत्नपूर्विकार्थेषु स्मृतिश्चिन्तेति कथ्यते ॥ १४८ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा—

चिन्तानीअदइअसमागमम्मि किदमस्मु आइ भरिऊण।
सुस्मं कलहाअन्ती सहीहि रुस्मा ण ओहसिआ ॥ ३५ ॥

अत्र सखीरोदनेन शून्यकलहः शून्यकलहेन साक्षात्कारः साक्षात्कारेण चिन्ता चिन्तया तु मूलभूता रतिः प्रकृष्यते ॥ १४८ अ ॥

(४) चिन्ता

वस्तुओं के विषय में प्रयास के साथ की गई स्मृति चिन्ता कही जाती है ॥ १४८ अ ॥

इस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

चिन्तन से आनीत प्रियतम का समागम होने पर उस पर किये गये अपने क्रोध के कारणों की याद कर-कर के व्यर्थ ही कलह करने वाली पर अन्य सखियाँ उसके लिये रोती ही है, उसका उपहास नहीं करतीं ॥ ३५ ॥

यहाँ सखी के रोने से शून्य कलह, शून्य कलह से साक्षात्कार, साक्षात्कार से चिन्ता तथा चिन्ता से सब की मूलभूत रति का प्रकर्ष होता है।

चिन्तां लक्षयति। प्रयत्नेति। अर्थेषु वस्तुषु प्रयत्नपूर्विका प्रयत्नवतीत्यर्थः स्मृतिः भावनेति यावत् चिन्ता इति कथ्यते ॥ १४८ अ ॥

चिन्तानीतदयितसमागमे कृतमन्युना भरिता।
शून्यं कलहायन्ती सखीभिः रुदिता न आहसिता ॥

चिन्तेति। चिन्तया आनीतः जनितः दयितेन प्रियेण समागमः यस्याः तथाभूता कृतेन मन्युना कोपेन मानेनेति यावत् भरिता आपूरिता अतएव शून्यं कलहायन्ती कलहं कुर्वाणा प्रियेणेति भावः सखीभिः रुदिता हा किमेतद् वृत्तं प्रियवियोगेन अस्या इति रुदिता क्रन्दिता न आहसिता उन्मत्तेयमिति न उपहसितेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

आत्मप्रकाशनपरा चेष्टा चपलतोच्यते ॥ १४८ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा--

कश्चित् कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम्।
रजोभिरन्तः परिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ ३६ ॥

अत्र लीलारविन्दभ्रमणचेष्टया कश्चिदिन्दुमत्यै तिष्ठते ॥ १४८ ॥

(५) चपलता

अपने भावों को प्रकट करने के उद्देश्य से की गई चेष्टायें 'चपलता' कही जाती है ॥ १४८ ॥

उस रूप से रस के जन्म का उदाहरण--

कोई राजपुत्र अपने दोनों हाथों से गृहीत नाल वाले, हिलते हुये दलों से भ्रमरों को मारते हुये, पराग कणों के द्वारा भीतर गोलाई में लिप्त, विलासकमल को घुमाने लगा ॥ ३६ ॥

यहाँ कोई इन्दुमती की प्राप्ति के लिये लीलाकमल को घुमाने की चेष्टा से युक्त हो बैठा है।

चपलतां लक्षयति। आत्मेति। आत्मनः स्वचित्तस्येति भावः प्रकाशनं तस्मिन् परा चेष्टा व्यापारः क्रियाविशेष इत्यर्थः चपलता उच्यते ॥ १४८ ॥

कश्चिदिति। कश्चित् राजा राजपुत्रो वा कराभ्यां हस्ताभ्यां उपगूढं गृहीतं नालं यस्य तथोक्तम् आलोलैः चपलैः कम्पमानैरित्यर्थः भ्रामणवेगादिति भावः पत्रैः दलैः अभिहताः ताडिता द्विरेफा यस्य तथाविधं रजोभिः परागैः अन्तरभ्यन्तरे परिवेषं परिधिं बध्नातीति तथाभूतं लीलारविन्दं विलासपद्मं भ्रमयाञ्चकार घूर्णयामास। यथा इदं पद्मं मया लीलया कराभ्यां भ्राम्यते तथा त्वया अहं लीलया विहरिष्यामीति स्वाभिप्रायप्रकाशनात् चापल्य-मिति ॥ ३६ ॥

शास्त्रोक्तार्थानुसन्धानादर्थनिर्द्धारणं मतिः ॥ १४९ अ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा--

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥ ३७ ॥

अत्र पूर्वार्द्धोक्तार्थनिर्धारणरूपा मतिः उत्तरार्द्धेन अनुबध्यते ॥ १४९ अ ॥

(६) मति

शास्त्र में निरूपित अर्थ के अन्वेषण से विषय को निर्धारित करना मति है ॥ १४९ अ ॥

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

चूँकि मेरा परिशोधित मन इसमें अभिलाषा कर रहा है, अतः निःसन्देह यह क्षत्रिय के ग्रहण योग्य है, क्योंकि संदिग्ध स्थलों पर सज्जनों के अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही प्रमाण हुआ करती हैं ॥ ३७ ॥

यहाँ पूर्वार्ध में कहे गये अर्थ को निर्धारित करना 'मति' है जो उत्तरार्ध से अनुबद्ध है।

मतिं लक्षयति। शास्त्रेति। शास्त्रेषु उक्तानां कथितानां अर्थानाम् अनुसन्धानात् अवबोधनात् अर्थस्य वस्तुनः निर्द्धारणं निर्णयः मतिः ॥ १४९ अ ॥

असंशयमिति। यत् यतः मे मम आर्यं साधु पापाशयरहितमिति भावः मनः अस्यां शकुन्तलायाम् अभिलाषि समुत्सुकमित्यर्थः तस्मात् इयम् असंशयं निश्चितमित्यर्थः क्षत्रस्य क्षत्रियजातेरित्यर्थः परिग्रहे स्वीकारे क्षमा योग्या अर्थान्तरेण तमेवार्थं द्रढयति सतामिति। सतां साधूनां अन्तःकरणप्रवृत्तयः मनसोऽभिलाषाः सन्देहपदेषु संशयस्थानेषु वस्तुषु विषयेषु प्रमाणं हि निर्णयहेतुरेवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

गर्वोऽन्येषामवज्ञानमात्मसम्भावनादिभिः ॥ १४९ ॥

तद्रूपेण रसस्य पुष्टिर्यथा—

धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ?
यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत् केन सेत्स्यति ॥ ३८ ॥

अत्र कर्णस्यात्मसम्भावनया अश्वत्थामनि अवज्ञानं प्रकृष्यते ॥ १४९ ॥

(७) गर्व

अपने गौरव आदि के द्वारा दूसरे लोगों का तिरस्कार करना 'गर्व' है ॥ १४९ ॥

जब तक मैं शस्त्र धारण किये हुये हूँ, तब तक दूसरों के अन्य शस्त्रों को धारण करने से क्या लाभ? अथवा जो मेरे अस्त्रों से सिद्ध नहीं हुआ, वह किसके द्वारा सिद्ध किया जा सकेगा? ॥ ३८ ॥

यहाँ कर्ण की अपनी प्रशंसा से अश्वत्थामा के प्रति अवज्ञा का प्रकर्ष प्रदर्शित हो रहा है।

गर्वं लक्षयति। आत्मनः स्वस्य सम्भावनादिभिः गौरवादिभिः अन्येषां जनानाम् अवज्ञानम् अवमाननं गर्वः ॥ १४९ ॥

धृतायुध इति। अहं यावत् धृतं गृहीतं आयुधम् अस्त्रं येन तथाभूतः अस्त्रधारीत्यर्थः तावत् अन्यैः अपरैः आयुधैः लक्षणया आयुधधारिभिरित्यर्थः किम्? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। मम अस्त्रेण यत् न सिद्धं न निष्पन्नं केन कस्यास्त्रेणेति यावत् तत्कार्यमिति यावत् सेत्स्यति निष्पत्स्यते? न कस्याप्यस्त्रेणेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अहेतुरनिर्वर्त्त्या च स्नेहश्चित्तार्द्रता मता ॥ १५० अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा—

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण स्पृष्टेषु गात्रेषु सुखं ममैतत्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद् यस्यायमङ्गात् कृतिनः प्ररूढः ॥ ३९ ॥

अत्र दुष्यन्तस्य सत्त्वदमनदर्शनादुत्पन्नस्तदङ्गस्पर्शसुखादिभिरुद्दीपितः स्पृहामतिवितर्कवागारम्भैः संसृज्यमानः स्नेहो निष्पद्यते ॥ १५० अ ॥

(८) स्नेह

बिना किसी अज्ञात कारण के ही, अथवा स्वतः प्रवृत्त होने वाला मन का द्रवित होना स्नेह माना गया है।

उसके रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

न जाने किसके कुल के अङ्कुरभूत इस बालक के द्वारा स्पर्श किये गये मेरे अङ्गों में इस प्रकार का आनन्द है। भला यह उस व्यक्ति के हृदय में कितनी खुशी पैदा करता होगा जिस भाग्यशाली के अङ्गों से यह पैदा हुआ है ॥ ३९ ॥

यहाँ दुष्यन्त का सत्त्वदमन (सर्वदमन) के दर्शन से उत्पन्न, उसके अङ्ग के स्पर्श के सुख आदि के द्वारा उद्दीप्त, स्पृहा, मति, वितर्क आदि वाचिक आरम्भों से संसृष्ट होता हुआ स्नेह निष्पन्न हो रहा है।

स्नेहं लक्षयति। अहेतुरिति। अहेतुः अज्ञातबाह्यकारणेत्यर्थः अनिर्वर्त्या अनिवारणीया स्वतः प्रवर्त्तिनीति भावः चित्तस्य मनसः आर्द्रता द्रवीभावः स्नेहः मता उद्देश्यप्राधान्यात् स्त्रीत्वम् ॥ १९९ ॥

अनेनेति। कस्यापि कुलाङ्कुरेण वंशप्ररोहेण अनेन शिशुनेति शेषः गात्रेषु अङ्गेषु स्पृष्टस्य मम एतत् सुखं भवतीति शेषः यस्य कृतिनः पुण्यवत इत्यर्थः अङ्गात् अयं शिशुः प्ररूढः उत्पन्नः तस्य चेतसि कां निर्वृतिम् आनन्दं कुर्यात् अङ्गेषु स्पृष्टोऽयमिति शेषः ॥३९॥

अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्तौ स्पृहापर्याप्तता धृतिः ॥ १५० ॥

तद्रूपेण रसप्रकर्षो यथा—

नीतो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले;
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनी लाभाज्जिताः कोशलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मिन् करोमि स्पृहाम् ॥४०॥

अत्र वत्सराजस्य सर्वात्मना मनोरथसिद्धयो धृतेः प्रकर्षमावहन्ति ॥ १५० ॥

(९) धृति

वाञ्छित वस्तु की उपलब्धि हो जाने पर इच्छा की पूर्णता 'धृति' है ॥ १५० अ ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

विक्रमबाहु नामक राजा अपने समान अर्थात् मित्र बना लिया गया, इस पृथ्वी तल पर सारभूत तथा सागर सहित पृथ्वी की प्राप्ति की एकमात्र कारण स्वरूपिणी यह प्रियतमा सागरिका मिल गई। अपनी बहन रत्नावली (सागरिका) की प्राप्ति से महारानी (वासवदत्ता) प्रसन्न हो गईं, कोसल जनपद वश में कर लिया गया। अतः मन्त्रिप्रवर तुम्हारे रहने पर, वह भला कौनसी वस्तु है जिस पर अब इच्छा करूँ? ॥ ४० ॥

यहाँ वत्सराज की सभी प्रकार की कामनाओं की सिद्धियाँ धृति की प्रकृष्टता धारण करती हैं।

धृतिं लक्षयति। अभीष्टस्य वाञ्छितस्य अर्थस्य विषयस्य सम्प्राप्तौ अधिगमे स्पृहायाः आकाङ्क्षायाः पर्याप्तता पूर्णता धृतिः ॥ १५० ॥

नीत इति। विक्रमबाहुः तदाख्यो नृपतिः आत्मनः स्वस्य समतां तुल्यतां नीतः प्रापितः प्रतिपक्षोऽपि मित्रीकृत इति भावः। उर्वीतले भूतले सारं रत्नभूतेति भावः ससागरायाः मह्याः पृथिव्याः प्राप्तेः लाभस्य एकहेतुः अद्वितीयकारणं प्रिया इयं सागरिका सागरमप्रोद्धृतत्वात् तदाख्या रत्नावलीत्यर्थः प्राप्ता अधिगता। देवी प्रधानमहिषी वासवदत्ता भगिन्याः रत्नावल्या लाभात् प्रीतिम् उपागता प्राप्ता च तथा कोशलाः कोशलाख्यराज्यानि जिताः वशीकृताः अतः अमात्यवृषभे मन्त्रिप्रवरे त्वयि सति विद्यमाने यस्मिन् वस्तुनीति शेषः स्पृहाम् आकाङ्क्षां करोमि तत् किं न अस्ति? न सिध्यति? अपि तु सर्वमेव सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

चेतोनिमीलनं व्रीडा न्यङ्गरागस्तवादिभिः ॥ १५१ अ ॥

तद्रूपेण रसप्रकर्षात्कोपशोकाभ्यां सङ्करो यथा—

अक्षुद्रारिकृताभिमन्युनिधनात् संक्रान्ततीव्रक्रुधः
पार्थस्याकृतशात्रवप्रतिकृतेरन्तःशुचा मुह्यतः।
कीर्णा वाष्पकणैः पतन्ति धनुषि व्रीडाजडा दृष्टयो
हा वत्सेति गिरः स्फुरन्ति न पुनर्निर्यान्ति कण्ठाद् बहिः ॥ ४१ ॥

अत्र अर्जुनस्य अन्यायेन अभिमन्युवधादुद्भूतौ दीप्तावेव क्रोधशोकौ उद्भूतविप्रतीकारोत्थया तथाविधयैव व्रीडया सङ्कीर्येते। तथाहि क्रोधशोकयोरनुभावभूता दृष्टयो वाचश्च व्रीडाजडा इति विशेषणानि सम्बध्यन्ते ॥ १५१ अ ॥

(१०) व्रीडा

क्रोध, प्रेम, गुणकीर्तन आदि के कारण मन का संकुचित होना व्रीडा है ॥ १५१ अ ॥

उस रूप से रस का प्रकर्ष होने से कोप तथा शोक के सङ्कर का उदाहरण—

बड़े-बड़े शत्रुओं के द्वारा किये गये अभिमन्यु के वध से अत्यधिक उत्पन्न क्रोध वाले, शत्रुओं के समूह का प्रतिकार न कर पाने वाले, तथा शोक के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये अर्जुन की अश्रुकणों से भरी हुई, लज्जा के कारण जड़ हो गई निगाहें धनुष पर पड़ती हैं, "हाय पुत्र!" इस प्रकार की वाणी स्फुरित तो होती हैं, किन्तु कण्ठ से बाहर नहीं जा पाती हैं ॥ ४१ ॥

यहाँ अर्जुन के, अन्याय पूर्वक किये गये अभिमन्यु के वध से उत्पन्न दीप्त से क्रोध और शोक उत्पन्न अप्रतीकार से उत्पन्न उस प्रकार की ही व्रीडा से संकीर्ण किये जा रहे हैं। जैसे कि—"क्रोध तथा शोक की अनुभावभूत दृष्टियाँ तथा शब्दावलियाँ व्रीडा से जड़ हो गईं" इन विशेषणों से सम्बद्ध हो रही है।

व्रीडां लक्षयति चेत इति। न्यङ्गः क्रोधः रागः प्रेम स्तवः स्तोत्रं गुणकीर्त्तनमित्यर्थः एवमादिभिः हेतुभिः चेतसः मनसः निमीलनम् अस्फुरणम् अप्रतिभत्वमिति यावत् व्रीडा लज्जेत्यर्थः ॥ १५१ अ ॥

अक्षुद्रेति ! अक्षुद्रैः महद्भिः अरिभिः शत्रुभिः कर्णादिभिः कृतम् अभिमन्योः स्वतनयस्य निधनं वधः तस्मात् संक्रान्ता सञ्जाता तीव्रा घोरा क्रुधः यस्य तथोक्तस्य न कृता शात्रवाणां शत्रुसमूहानां प्रतिकृतिः प्रतीकारः निर्यातनमित्यर्थः येन तथाविधस्य अतएव अन्तः मनसि शुचा शोकेन मुह्यतः इतिकर्त्तव्यतामनधिगतस्येत्यर्थः पार्थस्य अर्जुनस्य बाष्पकणैः अश्रुबिन्दुभिः कीर्णाः आपूरिताः व्रीडया लज्जया जडा मन्थराः हृष्टयः धनुषि पतन्ति । हा वत्स ! इति गिरः वाचः स्फुरन्ति कण्ठात् निर्गन्तुं प्रवर्त्तन्ते पुनः किन्तु कण्ठात् बहिः न निर्यान्ति न निर्गच्छन्ति ॥ ४१ ॥

अवहित्थं तु लज्जादेर्हर्षाद्याकारगोपनम् ॥ १५१ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ ४२ ॥

अत्र

प्रणम्य शितकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम् ।
चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः ॥ ४३ ॥

इत्यादेर्मुनिवाक्यादुद्भूतप्रहर्षाकारो गुरुसन्निधौ लज्जितया लीलाकमलपत्रगणनेन गौर्या गोप्यते ॥ १५१ ॥

(११) अवहित्था

लज्जा आदि के कारण प्रसन्नता आदि के क्षण की आकृति को छिपाना अवहित्था है ॥१५१॥

इस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

देवर्षि नारद के ऐसा कहने पर पिता हिमालय के पास खड़ी हुई पार्वती मुख नीचा करके खेलने के कमलों के दलों को गिनने लगी थी ॥ ४२ ॥

यहाँ—'शिव को प्रणाम करके उसके बाद देवतागण इस पार्वती के दोनों चरणों को मस्तक पर धारण की गई मणियों की किरणों से सुशोभित करें' ॥ ४३ ॥

इत्यादि मुनि नारद के वचनों से उत्पन्न अतिशय हर्ष की आकृति को अपने बड़ों की उपस्थिति में लजा गई गौरी लीला-कमल के पत्तों की गिनती करके छिपा रही है ।

अवहित्थं लक्षयति । अवहित्थमिति । लज्जादेः हेतोः हर्षादीनाम् आकारस्य गोपनम् अवहित्थम् ॥ १५१ ॥

एवमिति । देवर्षौ अङ्गिरसि एवम् इत्थं वादिनि वदति सतीत्यर्थः पितुर्जनकस्य हिमाद्रेः पार्श्वे स्थितेति शेषः पार्वती गौरी अधोमुखी लज्जावशात् अवनतवदना सती लीलाकमलपत्राणि क्रीडापद्मदलानि गणयामास पद्मपत्रगणनाव्याजेन देवर्षिवाक्यमश्रृण्वतीव तस्थाविति भावः ॥ ४२ ॥

सुखदुःखादिजनितो मोहश्चित्तस्य मूढता ॥ १५२ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा—

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनाद्
वासश्च श्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।

एतावत् सखि ! वेद्मि साम्प्रतमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतञ्च किमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः ॥ ४४ ॥
अत्र स्थायिनी रति र्मोहनिष्पत्त्या प्रकृष्यते ॥ १५२ अ ॥

(१२) मूढ़ता

सुख, दुःख आदि के द्वारा उत्पन्न की गयी चित्त की अक्रियाशीलता 'मूढ़ता' है ॥ १५२ अ ॥

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

प्रिय के शय्या पर आते ही अधोवस्त्र की गाँठ स्वयं शिथिल हो गई, वस्त्र भी किसी तरह ढीलीढाली करधनी के सूत्र में उलझ कर नितम्बों पर कुछ-कुछ रुका रहा। हे सखि, इस समय मुझे केवल इतना मालूम है, किन्तु उसके शरीर का स्पर्श होने पर वह कौन है ? मैं कौन हूँ ? रमण क्या है ? आदि की तो मुझे तनिक भी याद नहीं ॥ ४४ ॥

यहाँ स्थायी रति मोह की—मूढ़ता की—निष्पत्ति से प्रकृष्ट हो रही है।

मूढतां लक्षयति। सुखेति। सुखदुःखादिना जनितः समुद्भूतः चित्तस्य मोहः अप्रतिभत्वमित्यर्थः मूढता ॥ १५२ अ.॥

कान्ते इति। कान्ते प्रिये तल्पं शय्यां तल्पं शय्याट्टदारेष्वित्यमरः। उपागते प्राप्ते सति नीवी परिहितवसनग्रन्थिः बन्धनात् स्वयं विगलिता विश्लथीभावं गतेत्यर्थः। वासः वसनं श्लथेन मेखलागुणेन काञ्चीदाम्ना धृतम् अवलम्बितम् सत् नितम्बे किञ्चित् अल्पं यथा तथा स्थितम्। हे सखि ! साम्प्रतम् अधुना अहम् एतावत् एतन्मात्रं वेद्मि जानामि, पुनः किन्तु तस्य कान्तस्य अङ्गसङ्गे आलिङ्गनादाविति भावः असौ कान्तः कः ? अस्मि अहं का ? रतं रमणञ्च किं कथं ? किम्प्रकारञ्चेति स्वल्पापि स्तोकापि स्मृतिः स्मरणं मे मम न अस्तीति शेषः ॥ ४४ ॥

सम्मोहानन्दसम्भेदो मदिरादिकृतो मदः ॥ १५२ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्ति र्यथा—

घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम्।
आननेन न नु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ॥ ४५ ॥

अत्र नयनघूर्णनाकारेण स्मितादयः सम्मोहानन्दसम्भेदा उद्भवन्तो मदं निष्पादयन्ति ॥ १५२ ॥

(१३) मद

मद्यपान आदि के द्वारा किया गया मोह तथा आनन्द का समाविष्ट रूप मद है ॥ १५२ ॥

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

भगवान् शिव घूर रहे नयनों वाले, लड़खड़ा रही वाणी से युक्त, पसीने की बूँदों से भरे हुये, निष्प्रयोजन ही हँस रहे उमा के मुख को बहुत देर तक नयनों से ही पीते रहे, न कि मुख से ॥ ४५ ॥

यहाँ नयन-घूर्णन रूप आकार के साथ स्मित आदि सम्मोह तथा आनन्द से मिलकर उत्पन्न होते हुये मद को निष्पन्न करते हैं।

मदं लक्षयति। सम्मोहेति।। मदिरादिकृतः मद्यपानादिजनितः सम्मोहानन्दयोः सम्भेदः सम्मेलनं समावेश इत्यर्थः मदः ॥ १५२ ॥

घूर्णमानेति। ईश्वरो हरः घूर्णमाने नयने यस्य यत्र वा तत् स्खलन्तौ अस्पष्टं निःसरन्तौ कथा वाक्यं यस्मात् तथोक्तं स्वेदबिन्दुमत् घर्मसलिलाक्तमित्यर्थः तथा अकारणस्मितम् अहेतुकहासं मद्यपानादिति भावः उमायाः पार्वत्याः मुखम् आननेन मुखेन ननु तावत् चक्षुषा चिरं पपौ तृष्णातिशयेनातिमात्रं ददर्शेत्यर्थः॥ ४५॥

मनः प्रसादो हर्षः स्यादिष्टावाप्तिस्तवादिभिः ॥१५३ अ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा--

जातस्य ते पितुरपीन्द्रजितो निहन्तु-
वत्सस्य वत्स! कति नाम दिनान्यमूनि।
तस्याप्यपत्यमधितिष्ठति वीरधर्मं
दिष्ट्या गतं दशरथस्य कुलं प्रतिष्ठाम्॥ ४६॥

अत्र दशरथसुहृदः सुमन्त्रसारथेः प्रभुकुलप्रतिष्ठामाशंसतस्तत्सूनुमिन्द्रजितो हन्तारं पश्यतो मनोरथावाप्तया हर्षो निष्पन्नस्तदपत्येऽपि वीरधर्ममाचरिष्णौ प्रकृष्टो दिष्टयेत्यव्ययेन सूच्यते॥ १५३ अ॥

(१४) हर्ष

अभीष्ट की प्राप्ति, प्रशंसा वर्णन आदि के द्वारा चित्त की प्रसन्नता 'हर्ष' है॥ १५३ अ॥

उसी रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

हे पुत्र चन्द्रकेतु, मेघनाद को मार डालने वाले तुम्हारे पिता लक्ष्मण को ही पैदा हुये अभी कितने दिन हुये? उसके भी पुत्र के रूप में तुम वीरधर्मा हो, तब तो भाग्य से दशरथ का कुल प्रतिष्ठा को प्राप्त हो गया॥ ४६॥

यहाँ दशरथ के मित्र सुमन्त्र नामक सारथी का अपने स्वामी के कुल की प्रतिष्ठा का कथन करना, उनके भी पुत्र को इन्द्रजित् का वधकर्ता देखना आदि मनोरथों के लाभ से, हर्ष निष्पन्न होता है, उसके भी पुत्र को वीरों के धर्मों का आचरण करने का इच्छुक होने पर प्रकृष्टता का भाव 'दिष्ट्या' इस अव्यय से सूचित होता है।

हर्षं लक्षयति। मन इति। इष्टस्य प्रियस्य वस्तुनः अवाप्तौ प्राप्तौ स्तवादिना तद्गुणकीर्त्तनादिनेत्यर्थः मनसः चित्तस्य प्रसादः प्रसन्नता हर्षः॥ १५३ अ॥

जातस्येति। हे वत्स! चन्द्रकेतो! वत्सस्य इन्द्रजितोऽपि निहन्तुः संहारिणः अपि शब्देन का कथा अन्येषां वीराणामिति व्यज्यते। ते तव पितुः लक्ष्मणस्य जातस्य उत्पन्नस्य अमूनि दिनानि कति नाम? तव पिता लक्ष्मणोऽपि शिशुरेवेति भावः तस्यापि शिशोरपि लक्ष्मणस्य अपत्यं पुत्रः भवानिति भावः वीरधर्मं वीराचारम् अधितिष्ठति आश्रयति वीरवद् व्यवहरतीत्यर्थः। दिष्ट्या भाग्येन दशरथस्य कुलं वंशः प्रतिष्ठां सुख्यातिं गतं प्राप्तं महावीरप्रसूतिर्दशरथकुलमिति भावः॥ ४६॥

क्रोधः कृतापराधेषु स्थिरोऽमर्षत्वमश्नुते ॥ १५३ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा--

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य।

आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्त्तराष्ट्राः ॥ ४७ ॥

अत्र भीमसेनस्य धार्त्तराष्ट्रेषु स्वस्था इति नाम्नोऽप्यसहनाल्लाक्षागृहाद्यपकारजन्मामर्षः प्रतीयते ॥ १५३ ॥

(१५) अमर्ष

अपराधी के प्रति स्थायी क्रोध अमर्ष का रूप प्राप्त करता है ॥ १५३ ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

लाक्षागृह में अग्निदाह, विषाक्त अन्न तथा सभाप्रवेश आदि कृत्यों से हमारे प्राणों तथा धनराशियों पर प्रहार करके, पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के वस्त्र तथा केशों को खींचने वाले ये धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे (भीम) जीवित रहते स्वस्थ रहें ? ॥ ४७ ॥

यहाँ भीमसेन का धृतराष्ट्र के पुत्रों के प्रति 'स्वस्थ' यह शब्द भी न सह पाने से लाक्षागृह आदि में किये गये अपकारों से उत्पन्न 'अमर्ष' प्रतीत होता है।

अमर्ष लक्षति। क्रोध इति। कृतापराधेषु अपराधिषु स्थिरः क्रोधः अमर्षत्वम् अश्नुते प्राप्नोति ॥ १५३ ॥

लाक्षेति। धृतराष्ट्रस्य अपत्यानि धार्त्तराष्ट्राः दुर्योधनादयः लाक्षागृहे अनलः अग्निः अग्निदाहप्रयास इति भावः विषान्नं विषाक्तान्नप्रयोग इत्यर्थः सभायां द्यूतपरिषदीत्यर्थः प्रवेशः प्रवर्त्तनम् अस्माकमिति भावः तैः करणैः प्राणेषु वित्तनिचयेषु धनसञ्चयेषु च विषयेषु नः अस्मान् प्रहृत्य विमर्द्येत्यर्थः ततः आकृष्टाः पाण्डववध्वाः द्रौपद्याः परिधानं वसनं केशाश्च यैः तथाभूताः सन्तः मयि वृकोदरे इति भावः जीवति सति स्वस्थाः सुखिनः भवन्ति ? नैव भवन्तीत्यर्थः। स्वस्थाः स्वर्गस्था मृता इत्यर्थः भवन्तीति च व्यज्यते ॥ ४७ ॥

असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ॥ १५४ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

वन्द्यास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्त्तते
सुन्दस्त्रीनिधनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राऽप्यभिज्ञो जनः ॥ ४८ ॥

अत्र यद्यपि सोल्लुण्ठदोषकीर्त्तनादिभिर्जुगुप्सा निष्पद्यते तथापि न तया स्वनिष्पत्तिहेतुरसूया सङ्कीर्त्यते ॥ १५४ अ ॥

(१६) असूया

अपने उग्र स्वभाव के कारण दूसरों के गुणों तथा सम्पत्तियों को न सह पाना असूया है ॥ १५४ अ ॥

वे राम पूज्य हों, ये अविचारणीय चरित्र वाले हों, किन्तु हाँ, ताड़का को मारने में, के बाद

भी वे संसार में अक्षय कीर्ति वाले महापुरुष बने हुये हैं ? खर से लड़ते समय उनके जो तीन कदम किसी दूसरी ओर हो गये थे अर्थात् वह पराङ्मुख हो गये थे, अथवा इन्द्र पुत्र बाली को मारते समय भी उन्होंने जो बहादुरी दिखलाई थी उसके भी विषय में यह व्यक्ति खूब जानता है ॥ ४८ ॥

यहाँ यद्यपि उल्लुण्ठन के साथ दोषों का उद्घाटन करने से जुगुप्सा उत्पन्न होती है, तथापि उस असूया के द्वारा भी अपनी उत्पत्ति के हेतु सकीर्ण नहीं किये जा रहे हैं।

असूयां लक्षयति। असूयेति। औद्धत्यात् उत्कटस्वभावत्वात् अन्येषां गुणानां विद्याविनयादीनाम् ऋद्धीनां सम्पत्तीनाम् असहिष्णुता असहनम् असूया ॥ १५४ अ ॥

वन्द्या इति। ते रामपादा इति भावः। वन्द्याः पूज्याः मान्या इति पाठान्तरम् अतएव न विचारणीयं न आलोचनीयं चरितं येषां तथोक्ताः तिष्ठन्तु वर्द्धन्ताम्। हुम् वर्त्तते तेषां चरितं विचारणीयमिति भावः। हि यतः ते सुन्दस्य स्त्री ताडका तस्या निधनेऽपि स्त्रीवधेऽपीति भावः अखण्डं यशः येषां तथाभूताः सन्तः लोके जगति महान्तः महाप्रभावा इत्यर्थः खरस्य जनस्थानवासिनः राक्षसाधिपस्येति भावः आयोधने युद्धे यानि त्रीणि पदानि कुतः कस्यां दिशीति यावत् सुख येषां तानि परावृत्तान्यपीति भावः। आसन् अभूवन्। खरेण सह संग्रामे पदत्रयेण पराङ्मुखतां गतास्ते इति भावः। तथा इन्द्रसूनोः वानराधिपतेः वालिन इत्यर्थः निधने वधे यदा कौशलं पाटवम् अलक्षितावस्थानेन शरप्रहार इति भावः तत्रापि जनः लोकः अभिज्ञः विशेषज्ञ इत्यर्थः सोल्लुण्ठनं वचनमिदम्। अत्र लवस्य रामगुणासहनात् असूया ॥ ४८ ॥

ईर्ष्यामाहुः समानेषु मानदानाद्यमर्षणम् ॥ १५४ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा—

हुं णिल्लज्ज ! समोसरतं विअ अणुणेसु जाई दे एअम्।
पाआङ्गुट्ठालत्तएण तिलअं विणिम्मिअम् ॥ ४९ ॥

अत्र कस्याश्चित् प्रेयसि सपत्नीं प्रसादयितुं गते तन्मानममृष्यमाणायाः समुत्पन्नेर्ष्या प्रियानुनयादिभिर्भृशायमानतया निष्पन्नालक्तकतिलकानुमेयैः तत्पादपतनादिभिः उद्दीप्ता हुङ्काराक्षेपभर्त्सनप्रतिभेदाविनाभूतैर्भ्रूभङ्गताडनाङ्गक्षेपवेपथुस्वेदगद्गदादिभिः संसृज्यमाना प्रकृष्यते ॥

(१७) ईर्ष्या

अपने समान स्तर के लोगों में मान, दान आदि न सह पाने को ईर्ष्या कहते हैं ॥ १५४ ॥

इस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

अरे निर्लज्ज, जा भाग और उसी की प्रार्थना कर जिसने अपने पैर के अँगूठे के आलते से तुम्हारा यह तिलक किया है ॥ ४९ ॥

यहाँ किसी सुन्दरी की, प्रियतम के किसी सौत को प्रसन्न करने के लिये चले जाने पर चरम रूप से उत्पन्न हुई ईर्ष्या आलते के तिलक से अनुमित हो जाने वाले उसके पैरों पर गिरने आदि

की क्रियाओं से उद्दीप्त हुई तथा हुङ्कार, आक्षेप, भर्त्सना आदि भेदों से संयुक्त भ्रूभङ्ग, ताडन, अङ्गविक्षेप, वेपथु, स्वेद, गद्‌गद आदि के द्वारा ससृष्ट की जाती हुई प्रकृष्ट बनाई जाती है।

ईर्ष्यां लक्षयति। ईर्ष्यामिति। समानेषु जनेषु मानदानादीनाम् अमर्षणम् असहनम् ईर्ष्याम् आहुः कथयन्ति ॥ १५४ ॥

हुं निर्लज्ज! समपसर तामेवानुनयस्व यया ते इदम्।
पादाङ्गुष्ठालक्तकेन तिलकं विनिर्मितम् ॥

हुमिति आक्षेपसूचकमव्ययम्। निर्लज्ज! गतत्रप! समपसर मत्सकाशात् गच्छ। तामेव कान्तां अनुनयस्व। कामित्याह यगेति। यया कान्तया पादाङ्गुष्ठालक्तकेन चरणाङ्गुष्ठलाक्षारागेण ते तव इदं तिलकं विनिर्मितं रचितं यस्याः चरणे पतित्वा अनुनीतवानसीति भावः। खण्डिताया नायिकायाः उक्तिः ॥ ४९ ॥

विषादश्चेतसो ग्लानिरुपायाभावनाशयोः ॥ १५५ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा--

व्यर्थं यत्र कपीन्द्रसख्यमपि मे वीर्यं हरीणां वृथा
प्रज्ञा जाम्बवतोऽपि यत्र न गतिः पुत्रस्य वायोरपि।
मार्गं यत्र न विश्वकर्मतनयः कर्तुं नलोऽपि क्षमः
सौमित्रेरपि पत्रिणामविषयस्तत्र प्रिये क्वासि मे? ॥ ५० ॥

अत्र सीतासमागमविषये रामस्य दृष्टावदानसुग्रीवसख्यादेः उपायस्य अभावात् विषादः प्रकृष्यते ॥ १५५ अ ॥

(१८) विषाद

उपाय के अभाव अथवा नाश से चित्त में अप्रसन्नता आना विषाद है ॥ १५५ (अ) ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

जहाँ पर वानरराज सुग्रीव से मेरी की गई मित्रता भी बेकार है और बन्दरों का पौरुष भी व्यर्थ है, जहाँ जाम्बवान् की बुद्धि भी (सार्थक) नहीं, और जहाँ वायुपुत्र हनुमान् की भी पहुँच नहीं है, जहाँ विश्वकर्मा का पुत्र नल भी मार्ग बनाने में समर्थ नहीं, जो लक्ष्मण के बाणों का भी विषय नहीं है, हे प्रेयसी सीते, वह कौन-सी जगह है, जहाँ तुम हो ॥ ५० ॥

यहाँ सीता की प्राप्ति के विषय में राम की दृष्टि में जिनका पराक्रम देखा जा चुका है उन सुग्रीव आदि के मैत्री आदि उपायों के अभाव से विषाद प्रकृष्ट लिया जा रहा है।

विषादं लक्षयति। विषाद इति। उपायस्य अभावनाशयोः सतोः चेतसः चित्तस्य ग्लानिः अप्रसाद इत्यर्थः विषादः ॥ १५५ अ ॥

व्यर्थमिति। हे मे मम प्रिये जानकि! यत्र मे मम कपीन्द्रेण वानरराजेन सुग्रीवेणेत्यर्थः सख्यं मित्रत्वम् अपि व्यर्थं निष्फलं सख्या वानरराजेनापि यत्र न अधिगम्यते इति भावः। यत्र हरीणां वानराणां वीर्यं बलं वृथा निष्फलम् अकिञ्चित्करत्वादिति भावः। यत्र जाम्बवतोऽपि ऋक्षराजस्यापि प्रज्ञा बुद्धिः मन्त्रणाविषयिणीति भावः न प्रसरतीति शेषः

यत्र वायोः पुत्रस्यापि तत्तनयस्यापि हनुमत इत्यर्थः गतिर्गमनं न सम्भवतीति शेष यत्र विश्वकर्मणः तनयः पुत्रः नलोऽपि मार्गं पन्थानं कर्त्तुं न क्षमः न शक्तः सौमित्रे-र्लक्ष्मणस्यापि पत्रिणां शराणाम् अविषये अगोचरे तत्र क कुत्र स्थाने असि ? वर्त्तसे ? कृतसीतापरित्यागस्य रामस्य उक्तिः ॥ ५० ॥

सत्त्वत्यागादनुत्कर्षो वाक्यादेर्दैन्यमुच्यते ॥ १५५ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा--

अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां भावप्रवृत्तिश्च ताम् ।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया
भाग्याधीनमतःपरं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः ॥ ५१ ॥

अत्र स्नेहप्रभवं पादत्रयोक्तमर्थिता दैन्यं तुरीयपादोपक्षिप्तया वाचा दैन्यान्तरेणानुबध्यते ॥ १५५ ॥

(१९) दैन्य

(अपने) प्रभाव का त्याग करके वाक्य आदि का उत्कर्षाभाव प्रकट करना 'दैन्य' कहा जाता है ॥ १५५ ॥

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

हमको भलीभांति संयम का धनी सोच कर और अपने ऊँचे कुल को सोच कर, अपने प्रति किसी प्रकार से बिना किसी भाई-बन्धु के द्वारा कराई गई उस प्रकार की इसकी सहज प्रेम-भावनाओं को भी देखकर आप अपनी पत्नियों में इसे समान भाव से देखना। इसके आगे की बातें तो भाग्य के अधीन हैं, उसे वधू के भाई बन्धुओं को नहीं कहना चाहिये ॥ ५१ ॥

यहाँ स्नेह के कारण उत्पन्न तीन पादों में कही गई याचना दैन्य है जो चतुर्थ पाद में उपक्षिप्त दैन्य भाव से रहित वाणी से अनुबद्ध हो रहा है।

दैन्यं लक्षयति। सत्त्वेति। सत्त्वस्य प्रभावस्य त्यागात् वाक्यादेः अनुत्कर्षः उत्कर्षाभावः लाघवप्रयोजक इति भावः दैन्यम् उच्यते कथ्यते ॥ १५५ ॥

अस्मानिति। अस्मान् वनस्थानिति भावः संयमः वाह्याभ्यन्तरनियमनरूपप्रशान्तिरेव धनं येषां तान् नास्ति अन्यत् किञ्चन धनं येन यौतकितेन त्वं पुरस्क्रियसे इति यदा एनां मत्सुतां प्रति त्वया अयुक्तं न व्यवहर्त्तव्यं तथात्वे अस्मत्कोपेन तव हानिर्भाविनीति च भावः। आत्मनः स्वस्य कुलं वंशः उच्चैः उन्नतं महदिति यावत्। एनां प्रति विरूपव्यवहारे कुलं कलङ्कितं स्यादिति भावः। त्वयि अस्याः मत्सुतायाः अबान्धवकृतां बन्धुजनैः अघटितामित्यर्थः स्वतः कृतामिति भावः कथमपि केनापि अचिन्तनीयेन प्रकारेण हेतुना वा जातां तां भावप्रवृत्तिं प्रणयप्रसरञ्च स्नेहप्रवृत्तिमिति पाठान्तरं साधु सम्यक् यथा तथा विचिन्त्य विभाव्य दारेषु स्त्रीषु मध्ये इयं मत्सुता सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकं साधारणज्ञाने-

नेत्यर्थः दृश्या अवेक्षणीया। अतः परम् अस्मादन्या विशेषप्रतिपत्तिरिति भावः भाग्याधीनं दैवायत्तं भाग्यवतीनां हि विशेषप्रतिपत्तिर्भवतीति भावः। वधूबन्धुभिः वध्वाः पित्रादिभिः तत् विशेषप्रतिपत्तिरूपं वस्तु इति भावः न खलु वाच्यं नैव प्रार्थयितव्यमित्यर्थः। दैवाधीनमतः परं न खलु तत् स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते इति पाठान्तरम्। सा इयं दारेषु विषये अन्यप्रतिपत्तिपूर्वकम् अन्या अपरा प्रतिपत्तिः ज्ञानं तत्पूर्वकं मा दृश्या न द्रष्टव्या इयं स्वीया कान्ता नान्येति अवेक्षणीयेति भावः। इति केचिद् व्याचक्षते ॥ ५१ ॥

विदुर्वाग्दण्डपारुष्यमुग्रतामपकारिषु ॥ १५६ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा--

प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-
र्ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत्।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥ ५२ ॥

अत्र माधवस्य प्रकृष्टापकारिणि अघोरघण्टे विषये प्रकृष्टमेव वाक्पारुष्यं दण्डपारुष्यञ्च जायते ॥ २२४ ॥

(२०) उग्रता

शत्रुओं के प्रति वाणी अथवा दण्ड से कर्कशता प्रकट करने को उग्रता समझते हैं ॥१५६(अ)॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

जो शरीर प्रणयवती सखियों के सविलास परिहास से सरसतापूर्वक प्राप्त कोमल शिरीष पुष्पों के भी प्रहार से क्लान्त हो जाया करता था, मार डालने के लिये उसी शरीर पर शस्त्र का प्रयोग करने वाले तुम्हारे ही मस्तक पर एकाएक आ पड़े हुये मृत्युदण्ड की भांति यह मेरा भुजदण्ड पड़े ॥ ५२ ॥

यहाँ माधव की प्रकृष्ट अपकारी अघोर घाट रूप विषय पर प्रकृष्ट कोटि की ही वाणी की कठोरता तथा दण्ड की भी कठोरता उत्पन्न हो रही है।

उग्रतां लक्षयति। विदुरिति। अपकारिषु शत्रुषु वाचा दण्डेन वा पारुष्यं कार्कश्यम् उग्रतां विदुः जानन्ति ॥ १५६ अ ॥

प्रणयीति। यत् वपुः प्रणयिनीनां प्रणयवतीनां सखीनां सहचरीणां सलीलः सविलासः यः परिहासरसः परिहासरागः तेन अधिगतानि प्राप्तानि तैः ललितानि सुन्दराणि सुकोमलानीति यावत् शिरीषपुष्पाणि तैः हननानि प्रहाराः तैरपि ताम्यति क्लान्तिं गच्छति, वधाय तव वपुषि अङ्गे शस्त्रम् उपक्षिपतः प्रयुञ्जानस्य तव शिरसि एषः अकाण्डयमदण्ड इव सहसा पतितो मृत्युदण्ड इव भुजः बाहुः दृढमुष्टिरिति भावः पततु ॥ ५२ ॥

त्रासश्चित्तचमत्कार आकस्मिकभयादिभिः ॥ १५६ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः ।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम् ।।५३।।

अत्र लोलदृष्टिता करावधूननञ्च स्त्रीणां स्वभावभीरुत्वविलासित्वाभ्यामपि भवतीति त्रासाविर्भावेऽप्यसमर्थमिति नानुबन्धो भवतीति।। ५३ ।।

(२१) त्रास

एकाएक उत्पन्न हो गये भय आदि के कारण चित्त में विस्मय हो जाना त्रास है ॥ १५६ ॥

उसी के रूप में रस का जन्म—जैसे—

अप्सरायें चञ्चल मछलियों के जाँघों से टकरा जाने के कारण भय से युक्त हो गईं। उनकी आँखें चञ्चल हो उठीं। अपने पल्लव के सदृश हाथों को झटकारने लगीं। ऐसी दशा में वे अपने प्रियजनों के लिये दर्शनीयता प्राप्त कर उठीं ॥ ५३ ॥

यहाँ दृष्टि में चञ्चलता आना तथा हाथों को फटकारना स्त्रियों में स्वाभाविक भीरुता तथा विलास दोनों के कारण होता है, इसलिये त्रास का आविर्भाव होने पर भी असमर्थता के कारण अनुबद्ध नहीं होता।

त्रासं लक्षयति। त्रास इति। आकस्मिकभयादिभिः सहसोत्पन्नभयादिभिः हेतुभिः चित्तस्य चमत्कारः विस्मयः त्रासः ॥ १५६ ॥

परिस्फुरदिति। सुराङ्गनाः अप्सरसः जलविहारिण्य इति भावः परिस्फुरद्भिः सञ्चरद्भिः मीनैः मत्स्यैः विघट्टिता दृष्टाः आहता वा ऊरवः यासां ताः अतएव त्रासेन किमेतदिति भयेन विलोला चञ्चला दृष्टिर्यासां तथोक्ताः तथा कम्पिताः चालिताः पाणयः पल्लवा इव याभिः तथाविधाः सत्यः सखीजनस्यापि किमुत कामिजनस्येति अपिकारार्थः। विलोकनीयतां दर्शनीयतां मनोहारित्वमिति भावः उपाययुः प्रापुः ॥ २२६ ॥

अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः ॥ १५७ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य प्रकर्षो यथा—

सहसा मा साहिज्जउ पिआगमो तीअ विरहकिसिआए।
अच्चन्तपहरिसेण वि जा अमुआ सा मुआज्जेव ।। ५४ ।।

अत्र विरहिण्याः कार्श्यातिशयमुद्वीक्ष्यमाणायाः कस्याश्चिद्वयस्यायाः स्नेहातिशय्यात् "प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपीति" प्रियागमहर्षातिशयभावेऽप्यसहिष्णुतया तन्मरणशङ्का प्रकृष्यते ।। ५४ ।।

(२२) शङ्का

अनिच्छित वस्तु के प्राप्ति की संभावना को बुद्धिमान् लोग 'शङ्का' कहते हैं ॥ १५७ (अ) ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

इस विरह से अतिशय पीडिता नायिका को एकाएक प्रिय के आगमन का समाचार मत

सुनाना। कहीं ऐसा न हो कि जो अभी तक किसी प्रकार नहीं मरी वह अत्यन्त प्रसन्नता के कारण कहीं मर ही जाये ॥ ५४ ॥

यहाँ विरहिणी की अत्यधिक दुर्बलता को देखने वाली किसी सखी की प्रगाढ़ प्रेम के कारण "अस्थान में भी प्रेम भय को देखता है" इस उक्ति के अनुसार प्रिय के आने से अतीव प्रसन्नता होने पर भी सहनशीलता न होने के कारण उसके मरण की शङ्का प्रकृष्ट की जा रही है।

शङ्कां लक्षयति। अनिष्टेति। बुधाः कवयः अनिष्टस्य अभ्यागमे उपस्थितौ उत्प्रेक्षां सम्भावनां शङ्काम् आचक्षते कथयन्ति ॥ १५७ अ ॥

सहसा मा श्रावय प्रियागमं तस्यै विरहक्लेशितायै।
अत्यन्तप्रहर्षेणापि याऽमृता सा मृतैव स्यात् ॥

सहसेति। अस्यै विरहक्लेशितायै सहसा प्रियागमं कान्तागमनं मा श्रावय न श्रावय। या अमृता विरहक्लेशातिशयेनेति भावः सापि अत्यन्तप्रहर्षेणापि मृता एव स्यादिति शेषः ॥ ५४ ॥

विरहादेर्मनस्तापः शरीरान्तकरो गदः ॥ १५७ ॥

तद्रूपेण रसस्य जन्म यथा—

स्थितमुरसि विशालं पद्मिनीपत्रमेतत्
कथयति न तथान्तर्मन्मथोत्थामवस्थाम्।
अतिशयपरितापग्लापिताभ्यां यथा ऽस्याः
स्तनयुगपरिणाहं मण्डलाभ्यां ब्रवीति ॥ ५५ ॥

अत्र सागरिकायाः स्तननिहितसरोजिनीदलम्लापनेन वपुःसन्तापो निष्पद्यते ॥

(२३) ताप

विरह आदि के कारण शरीर का ध्वंस कर देने वाला रोग मन का ताप है ॥ १५७ ॥

उसके रूप में रस का जन्म—जैसे—

यह वक्षस्थल पर रखा हुआ विशाल कमलिनी का पत्ता इस नायिका के अन्तः कामजनित अवस्था को उस प्रकार नहीं व्यक्त कर रहा है जिस प्रकार की अभिव्यक्ति अत्यधिक परिताप से म्लान कर दिये गये गोलाकार आकार से दोनों स्तनों की विशालता कर रही है ॥ ५५ ॥

यहाँ सागरिका के स्तनों पर रखे गये कमलिनी के पत्तों की म्लानता से शरीर का सन्ताप निष्पन्न हो रहा है।

तापं लक्षयति। विरहादेरिति। विरहादेः हेतोः शरीरान्तकरः शरीरध्वंसकरः गदः रोगः मनसः तापः ॥ १५७ ॥

स्थितमिति। एतत् उरसि वक्षसि स्थितं विशालं बृहत् पद्मिनीपत्रम् अस्याः नायिकायाः अन्तर्मन्मथोत्थाम् अन्तःकामजनिताम् अवस्थां तथा न कथयति यथा अतिशयेन परितापेन ग्लापिताभ्यां ग्लानिं नीताभ्यां मण्डलाभ्यां गोलाकारस्वायतनाभ्यां स्तनयुगस्य स्तनद्वयस्य परिणाहः विशालता तां ब्रवीति सूचयतीति यावत् ॥ ५५ ॥

बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधिप्रकर्षभूः ॥ १५८ अ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा——

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनम्
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः ।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरम्
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥ ५६ ॥

अत्र प्रकृष्टशोकानुबन्धिनी ग्लानिः वैवर्ण्यक्षामताभ्यामनुबध्यते ॥

(२४) ग्लानि

मानसिक तथा शारीरिक पीडाओं के आधिक्य से होनेवाला बल का क्षय ग्लानि है १५८(अ)

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

हृदय सुमन को सुखा देने वाला कठोर एवं दीर्घकालीन शोक वृन्त से काट दिये गये मनोहर किसलय की भांति इस जानकी के पूर्णतः पीले पड़ गये क्षीण शरीर को उसी प्रकार ग्लपित किये दे रहा है जिस प्रकार शरत्काल की धूप केतकी के गर्भपत्र को ग्लपित कर देती है ।। ५६ ॥

यहाँ अतिशय शोक से अनुबद्ध ग्लानि विवर्णता तथा क्षामता के द्वारा अनुबद्ध हो रही है ।

ग्लानिं लक्षयति । बलस्येति । आधिः मानसी व्यथा 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथेत्यमरः' । व्याधिः रोगः तयोः प्रकर्षात् अतिरेकाद् भवतीति तथोक्तः बलस्य सामर्थ्यस्य अपचयः क्षयः ग्लानिः ॥ १५८ अ ॥

किसलयमिति । हृदयमेव कुसुमं शोषयतीति तथोक्तः दारुणः तीव्रः दीर्घशोकः महत् दुःखं प्रियविच्छेदजमिति भावः बन्धनात् वृन्तात् विप्रलूनं विच्छिन्नं मुग्धं सुन्दरं सुकोमलमिति भावः किसलयमिव नवपल्लवमिव अस्याः नायिकायाः परिपाण्डु पाण्डुतां गतं शरीरं शरदि जायते इति शरदिजः शरत्कालभव इत्यर्थः घर्म्मः सौरतापः केतक्याः गर्भपत्रमिव अभ्यन्तरदलमिव ग्लपयति ग्लानिं नयति शोषयतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

उत्कण्ठाहर्षशोकादेरुन्मादश्चित्तविप्लवः ॥ १५८ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्ति र्यथा——

क्वाकार्य्यं ! क्व कलाकरस्य च कुलं ? भूयोऽपि दृश्येत सा ?
दोषाणामुपशान्तये श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियो ? रेखैव साऽन्यादृशी
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ? ॥५७॥

अत्र विरहिणः पुरुरवसः उत्कण्ठादिभिः प्रेमप्रकर्षादसत्प्रलापरूप उन्मादो निष्पद्यते ॥

(२५) उन्माद

उत्कण्ठा, हर्ष, शोक आदि के कारण चित्त की विकृति उन्माद है ॥ १५८ ॥

उस रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।१७७) ॥ ५७ ॥

यहाँ विरही पुरूरवा का उत्कण्ठा आदि के द्वारा प्रेम का प्रकर्ष होने से मिथ्या प्रलाप रूप उन्माद व्यक्त हो रहा है।

उन्मादं लक्षयति। उत्कण्ठेति। उत्कण्ठा औत्सुक्यं हर्षः आनन्दः शोकः एवमादेः हेतोः **चित्तस्य मनसः विप्लवः विकृतिः उन्मादः ॥ १५८ ॥**

काकार्यमिति। अकार्यम् उर्वशीप्रेमनिबन्धनं चित्तवैकल्यरूपमिति भावः क? कलाकरस्य चन्द्रमसः कुलञ्च क? अहं चन्द्रवंशीयो नृपतिः मम तावदुर्वश्यामनुरागेण तद्विरहे ईदृशं चित्तवैकल्यं न युज्यते इति भावः। विवेकबुद्धिरियम्। सा उर्वशी भूयोऽपि पुनरपि दृश्येत? दर्शनविषयीक्रियेत। विवेकध्वंसात् पुनरुत्कण्ठेयम्। दोषाणाम् इन्द्रियचापल्यरूपाणाम् उपशान्तये दमनाय श्रुतं शास्त्रज्ञानं मया दोषशान्त्यर्थं शास्त्राणि अधीतानि तत् कथमयमावेग इति पुनर्विवेकबुद्धिः। अहो आश्चर्यं कोपेऽपि मुखं वदनम् उर्वश्या इति शेषः कान्तं रम्यं शान्तमित्यपपाठः। पुनर्विवेकनाशादुत्कण्ठा। अपकल्मषाः अपापाः कृतधियः शिक्षितमतयः साधव इति भावः किं वक्ष्यन्ति कथयिष्यन्ति ममैतादृशं वैक्लव्यं दृष्ट्वेति भावः। पुनर्विवेकबुद्धिः सा उर्वशी स्वप्नेऽपि दुर्लभा दुष्प्रापा स्वप्नेऽपि तां न पश्यामीति भावः रेखैव सान्यादृशीति पाठे सा उर्वशी अन्यादृशी अन्यप्रकारा लोकविलक्षणेति यावत् रेखैव सृष्टिरेवेत्यर्थः। पुनरुत्कण्ठा। हे चेतः! हृदय! स्वास्थ्यं प्राकृतं भावं सुस्थतामित्यर्थः उपैहि प्राप्नुहि। पुनर्विवेकबुद्धिः। को धन्यो भाग्यवान् सुकृतीति यावत् युवा खलु निश्चितम् अधरम् उर्वश्या इति शेषः धास्यति पास्यति धेट्पाने इत्यस्य रूपम्। पुनरुत्कण्ठा। क कलाकरस्य च कुलमित्यत्र शशलक्ष्मणः क च कुलमिति पाठान्तरम्। पुरूरवस उक्तिरियं ययातेरिति मूलपाठः प्रामादिकः इति चिन्त्यम् ॥ ५७ ॥

आदरातिशयाच्चेतस्यावेगः सम्भ्रमो मतः ॥ १५९ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य सङ्करो यथा—

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमयि! विमुञ्च त्वं लतापाशमेनम्।
चलितमिव निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे!
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि ॥ ५८ ॥

अत्र रतिजन्मा सम्भ्रमातिशयो रतिजन्मनैव रतिप्रकर्षेण सङ्कीर्यते ॥

(२६) सम्भ्रम

अतिशय आदर के कारण मन में होने वाली उद्विग्नता 'संभ्रम' माना गया है ॥ १५९ (अ)॥
उस रूप से रस के संकर का उदाहरण—

तुम यह घोर साहसिक कर्म मत करो, मत करो। अयि सुन्दरि, इस लता के बन्धन को शीघ्र ही तुम खोल दो। हे प्राणेश्वरि, इस चले से जा रहे प्राण को रोकने के लिये इस घड़ी मेरे कण्ठ में भुजबन्धन डाल दो ॥ ५८ ॥

यहाँ रति से उत्पन्न अत्यधिक संभ्रम रति से ही उत्पन्न मति की प्रकृष्टता से संकीर्ण किया जा रहा है।

सम्भ्रमं लक्षयति। आदरेति आदरातिशयात् चेतसि मनसि आवेगः उत्कण्ठा विशेष इत्यर्थः सम्भ्रमः मतः कथितः ॥ १५९ अ ॥

अलमिति। असुना ते तव साहसेन अविमृष्यकारिताजनितेन उद्बन्धनप्रयासेनेति भावः अतिमात्रम् अतिशयेन अलम् अलम् व्यर्थं व्यर्थं विफलमेतत् साहसं मा कुर्वित्यर्थः अयीति कोमलामन्त्रणे अयि प्रिये इति भावः त्वम् एनं लतापाशं वल्लीरज्जुं त्वरितं सत्वरं विमुञ्च परित्यज। हे जीवितेशे प्राणेश्वरि! चलितमिव निर्गन्तुं प्रवृत्तमिवेत्यर्थः जीवितं मदीयमिति शेषः। तदप्राप्ताविति भावः निरोद्धुम् अवरुद्धं कर्त्तुम् इह अस्मिन् मम कण्ठे क्षणं बाहुपाशं भुजरज्जुं निधेहि अर्पय ॥ ५८ ॥

मनःशरीरयोः खेदः क्रियातिशयतः श्रमः ॥ १५९ ॥

तद्रूपेण रससङ्करो यथा—

स्खलयति वचनं ते संश्रयत्यङ्गमङ्गम्
जनयति मुखचन्द्रोद्भासिनः स्वेदबिन्दून्।
मुकुलयति च नेत्रे सर्वथा सुभ्रु! खेद-
स्त्वयि विलसति तुल्यं वल्लभालोकनेन ॥ ५९ ॥

अत्र मालत्या पुष्पावचयजन्मा श्रमो माधवावलोकनजा च रतिः स्वेदगद्गदाङ्गसादनयनमुकुलनैस्तुल्यधर्मिणो मिथः सङ्कीर्येते ॥

(२७) श्रम

अतिशय कार्य करने के कारण मन और शरीर की खिन्नता श्रम है ॥ १५९ ॥

उस रूप से रससङ्कर का उदाहरण—

हे सुन्दरि, खेद तुम्हारे भीतर अपने प्रिय माधव के दर्शन की भांति विलसित हो रहा है, क्योंकि इससे तुम्हारी वाणी लड़खड़ा रही है। यह अङ्ग-अङ्ग का आश्रय ले रहा है, तुम्हारे मुख चन्द्र को चमका देने वाले स्वेद बिन्दुओं को उत्पन्न कर रहा है तथा दोनों नेत्रों को पूर्णतः संकुचित किये दे रहा है ॥ ५९ ॥

यहाँ पुष्प चयन से होने वाला मालती का श्रम, माधव को देखने से उत्पन्न होने वाली रति दोनों सधर्मा स्वेद, गद्गद, अङ्ग-शैथिल्य तथा नयन संकोच के साथ परस्पर संकीर्ण हो रहे हैं।

श्रमं लक्षयति। मन इति क्रियातिशयतः चेष्टातिरेकात् मनःशरीरयोः चित्तदेहयोः खेदः क्लान्तिः श्रमः ॥ १५९ ॥

स्खलयतीति। हे सुभ्रु! सुन्दरि! खेदः श्रमः पुष्पावचयनजन्मेति भावः तवेति शेषः वल्लभस्य प्रियस्य माधवस्येत्यर्थः अवलोकनेन दर्शनेन तुल्यं समं यथा तथा त्वयि विलसति विस्फुरति खेदवल्लभालोकनयोः एककार्यकारित्वादिति भावः तथाहि खेदः प्रियावलोकनञ्च ते तव वचनं स्खलयति स्खलितं करोति वैरूप्यमापादयतीति भावः अङ्गम् अङ्गं प्रत्यङ्गं संश्रयति, मुखचन्द्रम् उद्भासयन्तीति तथाविधान्

स्वेदविन्दून् घर्मजलकणान् जनयति, नेत्रे नयने सर्वथा सर्वैः प्रकारैः मुकुलयति च निमीलयति च ॥ ५९ ॥

चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्त्वज्ञानोदयादिभिः ॥ १६० अ ॥

तद्रूपेण रसस्थ शेषो यथा--

जरामरणदौर्गत्यव्याधयस्तावदासताम् ।
मन्ये जन्मैव धीराणां भूयो भूयस्त्रपाकरम् ॥ ६० ॥

अत्र मोक्षायोत्सहमानस्य कस्यचिन्निर्वेदागमो गम्यते ॥

(२८) निर्वेद

तत्त्वज्ञान के उदय आदि के कारण चित्त की खिन्नता निर्वेद है ॥ १६० अ ॥

उस रूप से रस की शेषता का उदाहरण—

वृद्धावस्था, मृत्यु, दुर्गति तथा रोग रहे तो रहे—मैं तो समझता हूँ कि धीर पुरुषों के लिये बार-बार जन्म लेना ही लज्जा का विषय है ॥ ६० ॥

यहाँ मोक्ष के लिये उत्साहित हो रहे किसी व्यक्ति में निर्वेद का आगमन व्यक्त हो रहा है।

निर्वेदं लक्षयति । चित्तस्येति ! तत्त्वज्ञानस्य उदयादिभिः जननादिभिः हेतुभिः चित्तस्य मनसः खेदः वीतरागत्वमित्यर्थः निर्वेदः ॥ १६० अ ॥

जरेति । जरा वार्द्धक्यं मरणं मृत्युः दौर्गत्यं दारिद्र्यं व्याधिः रोगः एते तावत् आसतां तिष्ठन्तु एतेषां धीरजनत्रपाकरत्वं किं वक्तव्यमिति भावः । धीराणां मनस्विनां भूयो भूयः पुनः पुनः जन्मैव उत्पत्तिरेव त्रपाकरं लज्जाकरं मन्ये ॥ ६० ॥

क्रियास्वपाटवं जाड्यं चिन्तोत्कण्ठाभयादिभिः ॥ १६० ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्तिर्यथा--

शिथिलशिथिलं न्यस्य स्वैरं धनुःशिखरे शिरो
नयनसलिलैः कुर्वन् मौर्वीं लतामपरामिव ।
अहह ! विकलः श्रुत्वा श्रुत्वा घनस्तनितध्वनिम्
किमपि किमपि ध्यायन्नार्य्यो न याति न तिष्ठति ॥ ६१ ॥

अत्र विरहिणो रामस्य क्रियास्वपाटवं निष्पद्यते ॥

(२९) जड़ता

चिन्ता, उत्कण्ठा, भय आदि के कारण कार्य में निपुणता का अभाव जड़ता है ॥ १६० ॥

उसी रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

आर्य राम अतिशिथिल तथा अवहेलना के साथ धनुष के एक किनारे पर अपने मस्तक को रख कर आँसुओं से एक दूसरी ही प्रकार की लता के सदृश प्रत्यञ्चा को बनाते हुये, बड़े खेद की बात है कि मेघों की गर्जना को सुन-सुन कर व्याकुल होते हुये, न जाने क्या-क्या सोचते हुये न तो कहीं जाना ही चाहते हैं और न रुकना ही ॥ ६१ ॥

यहाँ विरही राम की कामों में अपटुता प्रकट हो रही है।

जाड्य लक्षयति क्रियास्विति। चिन्ता उत्कण्ठा भयम् एवमादिभिः हेतुभिः क्रियासु चेष्टासु अपाटवम् असामर्थ्यमित्यर्थः जाड्यम् ॥ १६० ॥

शिथिलेति। आर्यः रामः शिथिलशिथिलम् अतिश्लथं स्वैरं सावहेलञ्च यथा तथा धनुषः कार्मुकस्य शिखरे कोटौ अग्रभागे इत्यर्थः शिरः मस्तकं न्यस्य निधाय नयनसलिलैः अश्रुभिः अपराम् अन्यविधां लतामिव मौर्वीं ज्यां कुर्वन् रचयन् अहहेति खेदे घनानां मेघानां स्तनितं गर्जितमेव ध्वनिं श्रुत्वा श्रुत्वा आकर्ण्याकर्ण्य विकलः नितरां व्याकुलः सन् अतीवोद्दीपकत्वाद् घनगर्जितस्येति भावः किमपि किमपि अनिर्वचनीयरूपमिति भावः ध्यायन् चिन्तयन् न याति न गच्छति न गन्तुं पारयति न तिष्ठति न स्थातुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

क्रियाविद्वेष आलस्यं सुखसंविन्मदादिभिः ॥ १६१ अ ॥

तद्रूपेण रसस्य निष्पत्ति र्यथा——

घरिणिघणत्थणपेक्खणसुहे णिपडिअस्स होन्ति पहिअस्स।
अवसउणङ्गारअवारविट्टिदिअसा सुहवेन्ति ॥ ६२ ॥

अत्र रतिसुखानुभवाज्जिगमिषोरपि अगच्छतः आलस्यं निष्पद्यते ॥

(३०) आलस्य

सुख के अनुभव, मद आदि के कारण कार्य से अरुचि हो जाना आलस्य है ॥ १६१ अ ॥

इसी रूप से रस की निष्पत्ति का उदाहरण—

गृहिणी के स्थूल स्तन के दर्शन जनित सुख केलि में निमग्न, शीघ्र ही भविष्य में विदेश जाने वाले पथिक के पक्ष में अपशकुन सूचक मङ्गलवार तथा भद्रादोष से युक्त दिन (यात्रा के विरोधी होने से) सुखदायक प्रतीत होते हैं ॥ ६२ ॥

यहाँ रति सुख का अनुभव होने से जाने की इच्छा होने पर भी न जाने वाले का आलस्य व्यक्त हो रहा है।

आलस्यं लक्षयति। क्रियेति। सुखस्य संवित् संवेदनम् अनुभव इत्यर्थः मदः मद्यपान-जनितविकारविशेषः एवमादिभिः हेतुभिः क्रियासु कार्येषु विद्वेषः विरागः आलस्यम् १६१ अ

घरिणीति। गृहिणीघनस्तनप्रेक्षणसुखे निपतितस्य भविष्यत्पथिकस्य।

अपशकुनाङ्गारकवारविष्टिदिवसाः सुखयन्ति ॥ ६२ ॥

गृहिणीति। गृहिण्याः घनयोः निविडयोः कठिनयोरित्यर्थः स्तनयोः प्रेक्षणसुखे दर्शनानन्दे निपतितस्य निमग्नस्य भविष्यन् भावी पथिकः तस्य प्रवासोद्यतस्येति भावः अपशकुनाः अशुभशंसिन इत्यर्थः अङ्गारकवाराः कुजवाराः 'अङ्गारकः कुजो भौम' इत्यमरः। उपलक्षणमेतत्। यात्रायाम् अनिषिद्धदिवसविषये उक्तञ्च ज्योतिषे। शुक्रेन्दुबुधजीवानां वाराः सर्वत्र शोभनाः। भानुभूसुतमन्दानां शुभकर्मसु केष्वपीति। विष्टिदिवसा विष्टिभद्रादिनानि उक्तञ्च ज्योतिषे। शुक्ले पूर्वार्द्धेऽष्टमी पञ्चदशौर्भद्रैकादश्यां चतुर्थ्यां परार्द्धे। कृष्णेऽन्त्यार्द्धे स्यात् तृतीयादशम्योः पूर्वे भागे सप्तमी शम्भुतिथ्योः। स्वर्गे भद्रा

शुभं कार्यं पाताले धनागमः। मर्त्यलोके यदा भद्रा सर्वकार्यविनाशिनीति। सुखयन्ति सुखं जनयन्ति। अयात्रिके दिने प्रवासगमनस्य निषिद्धत्वात् प्रवासे अगमनमेवास्य सुखकरमिति भावः ॥ ६२ ॥

निद्रा व्यापारवैमुख्यमिन्द्रियाणां श्रमादिभिः ॥ १६१ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा--

णिद्दालसघुण्णितं संवलिताद्धतारआलोआ।
कामस्सवि दुव्विसहा दिट्ठिणिवादा ससिमुहीए ॥ ६३ ॥

अत्र रतिश्रमजागरादिजनितनिद्रालसदृष्टिनिपातास्तारकाघूर्णनास्त्रचलनादिभिरनुबध्यन्ते ॥

(३१) निद्रा

श्रम आदि के कारण इन्द्रियों का क्रियाशीलता से मुख मोड़ना निद्रा है ॥ १६१ ॥

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

इस चन्द्रमुखी की निद्रा से अलसाई, घूर रही, तिरछी घूम रही तथा अर्ध दिखलाई पड़ रही नेत्र पुतलियों वाली निगाहों का पड़ना तो काम के लिये भी अत्यन्त असह्य है ॥ ६३ ॥

यहाँ रति, श्रम, जागरण आदि से उत्पन्न निद्रा के कारण अलसाई हुई निगाहों का पड़ना नेत्र पुतलियों के घूर्णन, तिर्यक्पात आदि से अनुबद्ध हैं।

निद्रां लक्षयति। निद्रेति। श्रमादिभिः हेतुभिः इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां पञ्चानां हस्तपदादीनाञ्च ज्ञानकर्माङ्गानां व्यापारवैमुख्यं चेष्टाराहित्यं निद्रा स्वापः मेध्यामनसंयोगविशेष इति यावत् ॥ १६१ ॥

निद्रालसघूर्णितं संवलितार्द्धतारकालोकाः।
कामस्यापि दुर्विषहा दृष्टिनिपाताः शशिमुख्याः ॥ ६३ ॥

निद्रेति। शशिमुख्याः चन्द्रवदनायाः कान्ताया इति शेषः निद्रया उक्तरूपया अलसा व्यापारविमुखा घूर्णिता स्वतःभ्रान्ता संवलितार्द्धा सङ्कुचितार्द्धा या तारका कनीनिका तस्या आलोकः प्रभा प्रसर इति भावः येषु तथाविधाः दृष्टिनिपाताः दर्शनव्यापाराः अवलोकनविशेषा इति यावत् कामस्यापि मदनस्यापि किमुतापरेषां कामिनामित्यपि शब्दार्थः दुर्विषहाः सोढुमशक्या इत्यर्थः अतीव कामोद्दीपका इति ॥ ६३ ॥

निद्रादिजनितं सुप्तं बाह्येन्द्रियनिमीलनम् ॥ १६२ अ ॥

तद्रूपेण रसप्रकर्षो यथा--

आसुअइ दिण्णपडिवक्खवेअणं पसिढिलेहिं अंगेहिम्।
णिव्वत्तिअसुरदरसाणुवन्धसुहणिब्भरं सोण्हा ॥ ६४ ॥

अत्र निर्भरपदेनैव प्रकर्षः प्रतिपाद्यते ॥

(३२) सुप्त

निद्रा आदि के कारण इन्द्रिय आदि का संकुचित हो जाना सुप्त है ॥ १६२ अ ॥

उस रूप से रस के प्रकर्ष का उदाहरण—

अपने शिथिल शरीर के अवयवों से अपनी शत्रुभूता सपत्नियों को वेदना प्रदान करती हुई, सम्पन्न किये गये मैथुन जनित आनन्द की परम्परा से प्राप्त अतिशय सुख से भरी हुई पुत्रवधू खूब सो रही है ॥ ६४ ॥

यहाँ निर्भर पद से ही प्रकर्ष का प्रतिपादन होता है।

सुप्तं लक्षयति। निद्रादीति। निद्रादिभिः जनितं उत्पादितं बाह्यानां बहिस्थितानां न तु अन्तरिन्द्रियाणां तदानीं तद्व्यापारस्थितेरिति भावः इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां निमीलनं व्यापारविगम इत्यर्थः सुप्तम्। निद्रासुप्तयोः कारणकार्यरूपत्वात् परस्परभेदः ॥ १६२ अ ॥

आस्वपिति दत्तप्रतिपक्षवेदनं प्रशिथिलैरङ्गैः।
निर्वर्त्तित-सुरतरसानुबन्ध-सुखनिर्भरं स्नुषा ॥ ६४ ॥

आसुअइ इति। स्नुषा पुत्रवधूः प्रशिथिलैः प्रकर्षेण शैथिल्यं गतैः अलसवलितैरिति यावत् अङ्गैः अवयवैः दत्ता जनिता प्रतिपक्षस्य शत्रोः सपत्न्या इति भावः वेदना कान्तेन अहं रमितेति ज्ञापना व्यथा वा यस्मिन् तत् तथा निर्वर्त्तितेन नितरां सम्पादितेन सुरत-रसानुबन्धेन निधुवनविलासपरम्परया यत् सुखं निरतिशयानन्दः तेन निर्भरम् अत्यन्तं यथा तथा आस्वपिति सम्यक् निद्राति ॥ ६४ ॥

निद्रापगमहेतुभ्यः प्रबोधश्चेतनागमः ॥ १६२ ॥

तद्रूपेण रसस्यानुबन्धो यथा—

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणाम्
आत्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा जृम्भणैः साङ्गभङ्गैः।
नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरुफणाचक्रवालोपधानम्
निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा वः ॥ ६५ ॥

अत्र दृष्टेः प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मतादिभिः प्रबोधो न अद्यापि निष्पद्यत इति प्रतीयते ॥

(३३) प्रबोध

निद्रा को दूर करने वाले कारणों से चेतना का लौट आना प्रबोध है ॥ १६२ ॥

उस रूप से रस के अनुबन्ध का उदाहरण—

फणो के मण्डल रूप तकिया वाली, विशाल, शेषनाग की गोदरूप शय्या को छोड़ने के लिये इच्छुक विष्णु की सद्यः खुलने के कारण किञ्चित् वक्र, क्षण भर के लिये रत्नों से निकलने वाली प्रभा के सामने ठहरती हुई, अंगड़ाई के साथ जँभाइयों को लेने से उत्पन्न अश्रुबिन्दुवाली, अतः अपने व्यापार में अलस, निद्रा के भङ्ग होने के कारण किञ्चित् रक्तवर्ण वाली, अध खुली दृष्टि आपकी चिरकाल तक रक्षा करे ॥ ६५ ॥

यहाँ दृष्टि के अभिनव उन्मेष के कारण कुटिलता आदि लक्षणों के कारण "अभी भी प्रबोध पूरा नहीं हुआ" ऐसा प्रतीत होता है।

स्व० द०—यहाँ तक भोजराज ने संचारियों का पृथक् पृथक् विवेचन करके यह स्पष्ट कर दिया कि इनकी अभिव्यक्ति से भी आनन्द लाभ होता है, किन्तु यह पूर्ण रसत्व की कोटि पर नहीं पहुँच पाता। अकेले किसी भी संचारी का वर्णन प्रकृष्ट आनन्द नहीं दे सकता, उसे प्रकर्ष के लिये अन्यों की भी आवश्यकता पड़ती है। कहीं कहीं यह अन्य भावों के साथ संसृष्ट होकर, संकरभाव से आकर, अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर पाते। कहीं-कहीं तो अन्य संचारियों की एक परम्परा ही बन जाती है। इससे भी एक संचारी विशेष गौण हो जाता है।

प्रबोधं लक्षयति निद्रेति। निद्रायाः स्वापस्य अवगमः विरामः तस्य हेतवः कारणानि कालातिक्रमादय इति भावः तेभ्यः हेतुभ्यः चेतनायाः चैतन्यस्य आगमः उपस्थितिः प्रबोधः जागरणमित्यर्थः ॥ १६२ ॥

प्रत्यग्रेति। प्रत्यग्रेण अभिनवेन उन्मेषेण उन्मीलनेन जिह्मा सम्यक् सङ्कोचाविगमात् वक्रा क्षणं प्रत्यग्रोन्मेषक्षणे इत्यर्थः रत्नानि नागशिरोमणय एव दीपाः तेषां प्रभा आलोकाः तासाम् अनभिमुखी आभिमुख्ये स्थातुमक्षमेत्यर्थः आत्मनः व्यापारेण दीर्घकालिकनिद्रारूपेणेति भावः गुर्वी भारवती अङ्गानां हस्तपदादीनां भङ्गः प्रसारणादिव्यापारः तेन सह वर्त्तमानानि तैः जृम्भणैः मुखव्यादानादिविकृतिविशेषैः जनितः उत्पादितः जललवः अश्रुबिन्दुः यस्यां तथोक्ता निद्राच्छेदेन निद्राविरामेण अभिताम्रा अभितो रक्ता आकेकरा ईषत् कुटिला उरु महत् फणानां चक्रवालं मण्डलं तदेव उपधानं शिरोरक्षणसाधनं शय्याङ्गविशेष इति भावः यस्मिन् तथोक्तं नागाङ्कम् अनन्तनागोत्सङ्गं नागाङ्कमिति पाठे अनन्तनागकलेवरं शयनं शय्यां मोक्तुं विहातुम् इच्छोः अभिलषतः हरेः नारायणस्य प्रलयानन्तरं प्रबुद्धस्येति भावः दृष्टिः अवलोकनं वः युष्मान् चिरं सततम् अवतु रक्षतु ॥ ६५ ॥

> उक्ता भावादिभेदेन तेऽमी रत्यादयो रसाः ।
> अथैतेष्वेव केषाञ्चिद्विशेषानभिदध्महे ॥ १६३ ॥

तत्र,

> शृङ्गारवीरकरुणा रौद्राद्भुतभयानकाः ।
> बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः ॥ १६४ ॥

(रस संख्या)

भाव आदि के भेद से ये रति आदि रस कहे गये। अब इन्हीं कुछ में से विशेषों को हम कह रहे हैं।। १६३ ।। यहाँ—

(१) शृङ्गार (२) वीर (३) करुण (४) रौद्र (५) अद्भुत (६) भयानक (७) बीभत्स (८) हास्य (९) प्रेयान् (१०) शान्त (११) उदात्त (१२) उद्धत रस हैं ।। १६४ ।।

स्व० द०—यहाँ भोज ने बारह रसों का उल्लेख किया है। यह संख्या तथा ये नाम दोनों ही परम्परा से कुछ भिन्न पड़ते हैं। आचार्य भरत ने महात्मा द्रुहिण का मत उद्धृत किया था और स्वयं भी माना था कि—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥
एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना ॥ ना० शा० ६।१ -६ ॥

नाट्यशास्त्र की कुछ प्रतियों में अन्य रसों की भांति 'शान्त' का भी उल्लेख है और कुछ में उसे प्रक्षिप्त समझ कर नहीं जोड़ा गया है। किन्तु भरत-सा ही मत धनञ्जय ने दशरूपक में व्यक्त किया है—उन्होंने सर्वप्रथम शान्त के स्थायी भाव को ही अस्वीकार कर दिया था—

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ द० रू० ४।३५ ॥

आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने पुनः शान्त की स्थापना की। अन्ततः मम्मट का यह वाक्य एक प्रकार से सिद्धान्त बन गया—

'निर्वेदःस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ॥' काव्यप्रकाश ४।३५

आचार्यों के मतानुसार सर्वप्रथम शान्तरस की स्थापना नाट्यशास्त्र के टीकाकार उद्भट ने अपने 'काव्यालंकारसंग्रह' नामक ग्रन्थ में की थी।

रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में इन रसों को स्वीकार किया है—

शृङ्गारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः ।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे ॥ १२।३ ॥

वहीं उन्होंने मधुर रस की भी ओर संकेत किया है—

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ॥ वही १२।४ ॥

बाद में रूपगोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' में भक्ति को भी रस माना है। वह अन्य देवताओं के प्रति भाव को तो 'भाव' ही मानते हैं, किन्तु कृष्णविषयक रति को भक्ति। इनकी इसी मान्यता के आधार पर वैष्णवों में मधुरभाव की विशेष महत्ता निरूपित हुई।

कुछ आचार्य जिनमें साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज प्रसिद्ध हैं, वात्सल्य को स्वतन्त्र रस स्वीकार करते हैं। किन्तु इनके स्वतन्त्र स्थायी भाव न होने से, इन्हें स्वतन्त्र रस के रूप में आचार्य स्वीकार नहीं करते। 'दशरूपक' में ही इनका अन्तर्भाव प्रारम्भ हो गया है—

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥ ४।८३ ॥

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर के प्रथम आनन में ही भक्ति की रसरूपता को अस्वीकार कर दिया है।

आश्चर्य है कि भोज ने न तो भक्ति का ही रस रूप में विवेचन किया है और न स्थायी भावों के प्रकरण में पहले ही भरत आदि को मान्य आठ भावों के अतिरिक्त अन्य स्थायी भावों को ही स्वीकार किया है। शेष निरूपण यथावसर होते रहेंगे।

उक्ता इति। **ते प्रसिद्धाः अमी उल्लिखिताः रत्यादयः आस्वादविशेषाः भावादिभेदेन उक्ताः कथिताः। अथ इदानीम् एतेषु रत्यादिभावेषु एव मध्ये केषाञ्चित् भावानामिति शेषः विशेषान् विलक्षणप्रकारान् अभिदध्महे कथयामः ॥ १६३–४ ॥**

रतिर्निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा ।
सम्प्रयोगाभिमानोत्था विषयोत्था च कथ्यते ॥ १६५ ॥
प्रीतिरप्येवमेव स्यान्नत्वस्यां साम्प्रयोगिकी ।
आभ्यासिकी तु तत्स्थाने तदुदाहृतयो यथा ॥ १६६ ॥

(१) रति और श्रृङ्गार

रति नैसर्गिकी, सांसर्गिकी, औपम्यवती, आध्यात्मिकी, आभियोगिकी, साम्प्रयोगिकी, आभिमानकी और वैषयिकी (आठ प्रकार की) होती है। प्रीति भी इसी प्रकार की हो, किन्तु इसमें साम्प्रयोगिकी नहीं होती है। इसमें उसके स्थान पर आभ्यासिकी होती है। उनके उदाहरण इस प्रकार हैं ॥ १६५-६ ॥

स्व० द०—यहाँ भोज ने रति को आठ प्रकार का बतलाया है। इन प्रकारों को ही प्रीति के भी साथ सम्बद्ध किया है। साम्प्रयोगिकी के स्थान पर आभ्यासिकी को मानने का कारण आगे उसी के विवेचन के समय स्पष्ट किया जायेगा।

मृतेति प्रेत्य सङ्गन्तुं यया मे मरणं मतम् ।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥ ६६ ॥

अत्र स्थायिनो विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिरिति रतिरेव श्रृङ्गाररूपेण निष्पद्यते। अत्रावन्त्या वासवदत्ताया आलम्बनविभावभूतायाः सकाशात् उत्पन्नो वत्सेश्वरस्य रतिस्थायिभावस्तस्याः पुनर्जीवनादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानो मृतेत्यादिना वागारम्भानुभावेन अनुमीयमानैर्हर्षधृतिप्रभृतिभिः सुखात्मभिः व्यभिचारिभिः संसृज्यमानः करुणानन्तरसम्भोगश्रृङ्गाराख्यां लभते ॥ ६६ ॥

'वह मर गई' ऐसा समझ कर मैंने भी मर कर जिसके साथ जाने के लिये मरने की धारणा की थी, वही आवन्ती (वासवदत्ता) मुझे यहीं इसी जन्म में कैसे प्राप्त हो गई ? ॥ ६६ ॥

इस प्रकरण में 'स्थायी के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी संयोग से रस की निष्पत्ति होती है" इस मान्यता के अनुसार रति ही श्रृङ्गार के रूप में निष्पन्न होती है। यहाँ आवन्ती वासवदत्ता के जो आलम्बन विभाव के स्थान पर है, पास से उत्पन्न हुआ, वत्सराज का रति नामक स्थायी भाव, उसके फिर से जी उठने आदि क्रियारूप उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता हुआ, 'मृता' आदि वाचिक अनुभाव से तथा अनुमित हो रहे हर्ष, धृति आदि सुख संवेदनात्मक व्यभिचारियों से मिलता हुआ किन्तु करुण रस से अव्यवहित होता हुआ अथवा करुण के पश्चात् होने वाली संभोग श्रृङ्गार की संज्ञा को प्राप्त करता है।

रतिरिति। रतिः निसर्गसंसर्गौपम्याध्यात्माभियोगजा तथा सम्प्रयोगाभिमानोत्था विषयोत्था च नैसर्गिकी, सांसर्गिकी औपम्यवती अध्यात्मशालिनी आभियोगिकी साम्प्रयोगिकी आभिमानिकी वैषयिकी चेति अष्टधा कथ्यते इत्यर्थः। प्रीतिरपि एवमेव रतिवदेव स्यात् भवेत् अस्यां प्रीत्यान्तु साम्प्रयोगिकी प्रीतिरिति यावत् न भवतीति शेषः

तत्स्थाने तस्याः साम्प्रयोगिक्याः स्थाने तु आभ्यासिकी प्रीतिरिति शेषः भवति। तदुदाहृतयः तेषां शृङ्गारादीनाम् उदाहृतयः उदाहरणानि यथा यादृशानि तथा उच्यन्ते इति शेषः ॥ १६५-६ ॥

मृतेति। मृता पञ्चत्वं गता इति हेतोः प्रेत्य मृत्वा यया कान्तया सुङ्गन्तुं मे मम मरणं मतम् इष्टं कथमत्रैव जन्मनि सैव आवन्ती अवन्तिदेशसमुद्भवा कान्ता वासवदत्तेति भावः मया लब्धा प्राप्ता ॥ ६६ ॥

अत्र स्थायिन इत्यादि। स्थायिनः चिरं स्थितस्य न तु विच्छिन्नस्येति भावः रतिभावादेरिति भावः। आलम्बनविभावभूतायाः आलम्बनं नायिकादिस्तदालम्ब्य रसोद्गमादित्युक्त लक्षणायाः ॥

अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः।
अदत्त्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम् ॥ ६७ ॥

अत्र वसुधाविजयादेरालम्बनविभावादुत्पन्नः स्थाय्युत्साहभावः स्थैर्यधैर्यादिभिः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुमीयमानेषु स्मृतिमतिवितर्कादिषु निष्पन्नो वीररससंज्ञया व्यवह्रियते ॥

(२) वीररस

सागरपर्यन्त पृथ्वी को जीते विना, अनेक प्रकार के यज्ञों को विना किये, और याचकों को धन प्रदान किये बिना राजा कैसे हो सकते हैं ॥ ६७ ॥

यहाँ पृथ्वी-जय आदि आलम्बन विभाव से उत्पन्न उत्साह नामक स्थायी भाव, स्थैर्य, धैर्य आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होकर उत्पन्न हो गये वाचिक कृत्यों से अनुमित स्मृति, मति, वितर्क आदि में व्यक्त होकर वीर रस के नाम से व्यवहृत होता है।

स्व० द०—वीररस के विषय में रुद्रट का कथन है कि—

नयविनयबलपराक्रमगाम्भीर्यौदार्यशौटीर्यैः।
युक्तोऽनुरक्तलोको निर्व्यूढभरो महारम्भः ॥ काव्यालंकार १५।२ ॥

अजित्वेति। सार्णवां ससागराम् उर्वी पृथ्वीम् अजित्वा अवशीकृत्येत्यर्थः विविधैः बहुप्रकारैः मखैः यज्ञैः अश्वमेधादिभिः अनिष्ट्वा देवान् अनभ्यर्च्येत्यर्थः तथा अर्थिभ्यः याचकेभ्यः अर्थं धनं तेषामभिलषितमिति भावः अदत्त्वा अवितीर्य कथं केन रूपेण पार्थिवः राजा भवेयम्? राजकर्त्तव्यानाम् उक्तानामकरणे राजत्वं विफलमिति भावः ॥ ६७ ॥

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्ग्या रुजाकरी।
साऽधिशेते कथं देवी हुताशनवतीं चिताम् ॥ ६८ ॥

अत्र चालम्बनविभावभूतदेवीमरणादुत्पन्नः शोकस्थायिभावश्चिताानिवेशनहुताशनाङ्गज्वालादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानो वागारम्भानुमेयैः निर्वेदग्लानिवैवर्ण्यादिभिः व्यभिचारिभिः संसृज्यमानः करुण इति ज्ञायते ॥

(३) करुण रस

जिस कोमलाङ्गी के लिये फूलों की सेज भी कष्ट कर होती थी, वही देवी आज इस अग्नि से दीप्त चिता पर कैसे सो रही है ॥ ६८ ॥

यहाँ आलम्बन विभाव देवी के मरण से शोक नामक स्थायी भाव उत्पन्न हुआ है, चिता पर रखना तथा अग्नि से अङ्गों का जलना आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता है, और वाचिक क्रियाओं से अनुमित हो रहे निर्वेद, ग्लानि, विवर्णता आदि संचारियों से मिल कर करुण रस प्रतीत होता है।

स्व० द०—इसके विषय में रुद्रट के मत इस प्रकार हैं—

करुणः शोकप्रकृतिः शोकश्च भवेद्विपत्तितः प्राप्तेः।
इष्टस्यानिष्टस्य च विधिविहितो नायकस्तत्र ॥
अच्छिन्ननयनसलिलप्रलापवैवर्ण्यमोहनिर्वेदाः ।
क्षितिचेष्टनपरिदेवनविधिनिन्दाश्चेति करुणे स्युः ॥ काव्यालंकार १५।३-४

यस्या इति यस्याः कोमलाङ्ग्याः सुकुमारावयवायाः कामिन्या इति शेषः कुसुमशय्यापि पुष्पशयनमपि रुजाकरी सन्तापविधायिनी, सा देवी कथं केन प्रकारेण हुताशनवर्ती ज्वलन्तीमित्यर्थः चिताम् अधिशेते ॥ ६८ ॥

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येन ममाग्रतः।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्धः किं जीवति क्षणम् ? ॥ ६९ ॥

अत्र दुःशासनालम्बनविभावाय क्रुध्यतो भीमसेनस्य पूर्वमुत्पन्नः क्रोधस्थायिभावः तदवाप्तेः स्मर्यमाणसमक्षकृतद्रौपदीनिग्रहकेशाकर्षणादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुभावेषु अनुमीयमानेषु असूयावेपथुश्रमादिषु दुःखात्मकेषु व्यभिचारिषु निष्पद्यमानो रौद्र इति निष्पद्यते ॥ २५६ ॥

(४) रौद्ररस

मेरे सामने ही जिसने केश पकड़ कर द्रौपदी को खींचा था, वही यह पापी दुःशासन मिल गया है, अब क्या यह एक भी क्षण जीवित है ? ॥ ६९ ॥

यहाँ दुःशासन रूप आलम्बन पर क्रुद्ध हो रहे भीमसेन का पूर्व उत्पन्न क्रोध ही स्थायिभाव है। वह दुःशासन के मिलने से याद आ रही सामने ही द्रौपदी को पकड़ना, खींचना आदि क्रिया-रूप उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता हुआ, उत्पन्न हुये वाचिक कृत्यों से अनुमित असूया, आवेग, वेपथु, श्रम आदि दुःखात्मक व्यभिचारियों में निष्पन्न हो रहा रौद्र रस व्यक्त होता है।

स्व० द०—धनञ्जय ने अपने दशरूपक में रौद्र का स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया है—

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः,
क्षोभःस्वाधरदंशकम्पभ्रुकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः ।
शस्त्रोलासविकत्थनांसधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहैः
अत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ॥ ४।७४ ॥

निगृह्येति । येन मम अग्रतः समक्षं कृष्णा द्रौपदी निगृह्य निग्रहं कृत्वा बलमाश्रित्येति भावः केशेषु आकृष्टा आकृष्य सभां नीतेत्यर्थः सोऽयं पापः दुराचारः दुःशासनः लब्धः ग्रासः मयेति शेषः किं क्षणं जीवति ? नैव क्षणमपि जीवतीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

अंशुकानि प्रवालानि पुष्पं हारादिभूषणम् ।
फलं मधूनि हर्म्याणि शाखा नन्दनशाखिनाम् ॥ ७० ॥

अत्र शाखिनां प्रवालपुष्पफलशाखासम्पन्नं निजं रूपम् । नन्दनशाखिनां पुनः प्रवालादिस्थाने अंशुकहारमधुमन्दिराणि तदेतदाश्चर्यमतश्चैतेभ्य आलम्बनविभावेभ्यः कस्यचिद् देवभूयंगतस्य* समुत्पन्नो विस्मयस्थायिभावः तदीयावयवदर्शनादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुमेयेषु हर्षरोमोद्गमस्वेदगद्गदादिषु व्यभिचारिषु निष्पद्यमानोऽद्भुत इत्युच्यते ॥

(५) अद्भुतरस

स्वर्ग के वृक्षों के पल्लव ये वस्त्र हैं, ये हार आदि अलंकार पुष्प हैं, मधु (आदि) फल हैं तथा (धनिकों के) सुन्दर भवन शाखायें हैं ॥ ७० ॥

यहाँ वृक्षों का पत्र, पुष्प, फल तथा शाखा से संयुक्त अपना रूप है । किन्तु नन्दन वन के वृक्षों के प्रवाल आदि के स्थान पर अंशुक, हार, मधु तथा मन्दिर हैं, यही आश्चर्य की बात है । अतः इन आलम्बन विभावों के कारण देवत्व को प्राप्त किसी व्यक्ति का विस्मय नाम का स्थायी भाव उत्पन्न होता है । उसके अङ्गों के दर्शन आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता हुआ (वह विस्मय) उत्पन्न हुये वाचिक कर्मों से अनुमित हो रहे हर्ष, स्वेद, रोमाञ्च, गद्गद आदि व्यभिचारियों में निष्पन्न हो रहा अद्भुत रस कहा जाता है ।

स्व० द०—भरत के शब्दों में—

कर्मातिशयनिर्वृत्तो विस्मयो हर्षसम्भवः ।
सिद्धिस्थाने त्वसौ साध्यो प्रहर्षपुलकादिभिः ॥ ना० शा० ७।२७ ॥

अंशुकानीति । नन्दनशाखिनां नन्दनं देवोद्यानं तत्र ये शाखिनः वृक्षा तेषां प्रवालानि पल्लवाः अंशुकानि वसनानि पुष्पं हारादि भूषणम् अलङ्कारः फलं मधूनि मधुमयानीत्यर्थः शाखाः विटपाः हर्म्याणि धनिजननिवासाः ॥

देवभूयङ्गतस्य देवत्वं प्राप्तस्य ॥

इदं मघोनः कुलिशं धारासन्निहितानलम् ।
स्मरणं यस्य दैत्यस्त्रीगर्भपाताय कल्पते ॥ ७१ ॥

अत्र महेन्द्रकुलिशात् धारासन्निहितानलादालम्बनविभावात् स्मर्यमाणादपि दैत्यस्त्रीणामुत्पन्नो भयस्थायिभावः तद्विदीर्णदानवमरणस्मरणादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः स्वगर्भपातादिभिः अनुभावैः तदनुमितैश्च स्वेदस्तम्भवेपथुप्रभृतिभिः व्यभिचारिभिः संसृज्यमानो भयानकरसरूपेण निष्पन्नः केनचिदाख्यायमानोऽपि भयानक इति आख्यायते ॥२५८॥

(६) भयानक

सभी ओर की धारों में विद्यमान अग्नि वाला यह इन्द्र का वज्र है जिसके स्मरण मात्र से दैत्यों की स्त्रियों का गर्भपात हो जाया करता है ॥ ७१ ॥

यहाँ इन्द्र के 'धारासन्निहितानल' वज्र रूप आलम्बन विभाव के केवल याद भर आने से दैत्यों की स्त्रियों का उत्पन्न स्थायी भाव, उसके द्वारा विदीर्ण किये जाने से दानवों के मरण के स्मरण आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होकर तथा अपने गर्भपात आदि अनुभावों से तथा उनके कारण अनुमित स्वेद, स्तम्भ, वेपथु आदि व्यभिचारियों से मिल कर भयानक रस के रूप में निष्पन्न होता हुआ किसी के द्वारा कहा जाने पर भी भयानक ही कहा जाता है ।

स्व० द०—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में भयानक से सम्बद्ध यह श्लोक भी उद्धृत किया है—

गुरुराजापराधेन रौद्राणां चापि दर्शनात् ।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते ॥ ७।२२ ॥[1]

इदमिति । मघोनः इन्द्रस्य इदं परिदृश्यमानं कुलिशं वज्रं धारासु सर्वतः प्रान्तभागेषु सन्निहितः संस्थितः अनलः अग्निः यस्य तथाभूतम् यस्य कुलिशस्य स्मरणं दैत्यस्त्रीणां दितिजरमणीनां गर्भपाताय गर्भस्रावाय कल्पते प्रभवति ॥ २५८ ॥

पायं पायं तवारीणां शोणितं करसम्पुटैः ।
कौणपाः सह नृत्यन्ति कबन्धैरन्त्रभूषणाः ॥ ७२ ॥

अत्र आलम्बनविभावभूतेभ्यः कौणपेभ्यः कस्यचिद् रिपुविजयाशंसिनः पुंसः उत्पन्नो जुगुप्सास्थायिभावः शिरश्छेदविगलद्रुधिरधारापरिप्लुतप्रनर्त्तितकबन्धकौणपान्त्रभूषणशोणितपानादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुमेयेषु भयावेशशङ्काऽवहित्थादिषु व्यभिचारिषु निष्पन्नो बीभत्स इति निगद्यते ॥

(७) बीभत्स रस

आपके शत्रुओं का रक्त अपनी अञ्जलि से पी-पी कर राक्षसगण आँतों का आभूषण पहने धड़ों के साथ नाच रहे हैं ॥ ७२ ॥

यहाँ आलम्बन विभाव के रूप में आये राक्षसों से किसी शत्रु विजय की प्रशंसा करने वाले मनुष्य का उत्पन्न जुगुप्सा नाम का स्थायी भाव, शिर काट देने से बह रही रक्त की धारा से

---

१. रौद्र रस के विषय में शेष पीछे द्रष्टव्य—

भरत ने कहा है कि यह रस राक्षस, दानव आदि के द्वारा सरलतापूर्वक निष्पन्न हो जाता है—"अथ रौद्रो नाम क्रोधस्थायिभावात्मकः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यप्रभवः संग्रामहेतुकः ।...अत्राह यदभिहितं राक्षसदानवादीनां रौद्रो रसः, किमन्येषां नास्तीत्युच्यते । अस्त्यन्येषामपि रौद्रः । किन्त्वधिकारोऽत्र गृह्यते । ते हि स्वभावत एव रौद्राः । कस्मात्—बहुबाहवो बहुमुखाः प्रोद्धतविकीर्णपिङ्गलशिरोजाः रक्तोद्वृत्तविलोचना भीमासितरूपिणश्चैव । यच्च किञ्चित् समारभन्ते स्वभावचेष्टितं वागङ्गादिकं वा तत्सर्वं रौद्रमेवेति । शृङ्गारश्च तैः प्रायशः प्रसभं सेव्यते । तेषां चानुकारिणो ये पुरुषास्तेषामपि संग्रामसंप्रहारकृतो रौद्ररसोऽनुमन्तव्यः ।" ना० शा० ६ अध्याय पृ० ८४-८८

लथपथ नाच रहे कबन्धों, राक्षसों, आँतों के आभूषण, रक्तपान आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होकर उत्पन्न हुये वाचिक कृत्यों से प्रतीत किये जाने वाले भय, आवेश, शङ्का, अवहित्था आदि व्यभिचारियों के होने पर निष्पन्न होने वाला रस बीभत्स कहा जाता है।

स्व० द०—बीभत्स के विषय में भरत के ये शब्द दर्शनीय हैं—

अनभिमतदर्शनेन च रसगन्धस्पर्शशब्ददोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति ॥ ना० शा० ६.७३ ॥

पायमिति। कौणपाः राक्षसाः 'राक्षसः कौणपः क्रव्यादित्यमरः' तव अरीणां शत्रूणां शोणितं रक्तं करसम्पुटैः अञ्जलिभिरित्यर्थः पायं पायं पुनः पुनः पीत्वा अन्त्राणि उदरवर्त्तिन्यः नाड्यः भूषणानि हारादयः येषां तैः कबन्धैः अशिरःकलेवरैः 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्द्धकलेवर'मित्यमरः। सह नृत्यन्ति नृत्यं कुर्वन्ति ॥ ७२ ॥

इदमम्लायमानाया लग्नं स्तनतटे तव।
छाद्यतामुत्तरीयेण नवं नखपदं सखि ! ॥ ७३ ॥

अत्र काञ्चित् सखीं पूर्वं भर्त्तरि प्रगृहीतमानां तेनैव नवनखपदाङ्कित-स्तनीम् आलम्बनविभावभूताम् उपलभमानायाः कस्याश्चित् सख्या उत्पन्नो हासस्थायिभावः तदीयमानपरिग्रहस्मरणादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुत्पन्नेषु वागारम्भानुमितेषु शङ्कावहित्थगद्गदादिव्यभि-चारिषु निष्पाद्यमानो हास्यशब्देन अभिधीयते ॥

(८) हास्यरस

(गुरुजनों की उपस्थिति में भी) ग्लानि का अनुभव न कर रही हे सखि, अपने स्तन-तटों पर लगे हुये इस नवीन नखक्षत को उत्तरीय से ढक तो लो ॥ ७३ ॥

यहाँ किसी सखी को जो पहले अपने पति से मान कर बैठी थी उसी के द्वारा स्तनों पर नखक्षत से चिह्नित हो गई। उसी को आलम्बन बना कर किसी सखी का हास नामक स्थायी भाव उत्पन्न होता है, उसके मानग्रहण आदि के स्मृति आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होता है, वही उत्पन्न हुये वाचिक कृत्यों से अनुमित हो रहे शङ्का, अवहित्था, गद्गद आदि व्यभिचारियों के होने पर निष्पन्न हो रहा भाव हास्य शब्द से अभिहित होता है।

स्व० द०—धनञ्जय ने अत्यन्त संक्षेप में हास्य का निरूपण किया है—

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥ दशरूपक ४।५७ ॥

इदमिति। हे सखि ! अम्लायमानायाः गुरुजनादिदर्शनेनापि अलज्जमानाया इति भावः तव स्तनतटे लग्नं स्थितं इदं नवं सद्यः सम्भोगजातमिति भावः नखपदं प्रियतमनखा-घातचिह्नम् उत्तरीयेण उत्तरासङ्गेन वसनेन छाद्यतां गोप्यताम् ॥ ७३ ॥

यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया।
इति वेत्ति न जानाति यत् प्रियं तत् करोति सा ॥ ७४ ॥

अत्र वत्सलप्रकृतेर्धीरतया ललितनायकस्य प्रियानुभावादुत्पन्नः स्नेह-स्थायिभावो विषयसौकुमार्यात्मप्रकृत्यादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्य-मानः समुपजायमानैः मोहमतिधृतिस्मृत्यादिभिः व्यभिचारिभावैः अनु-भावैश्च प्रशंसादिभि. ससृज्यमानो निष्पन्नः प्रेयानिति प्रतीयते। रतिप्रीत्यो-रपि चायमेव मूलप्रकृतिः इष्यते ॥

(९) प्रेयान् रस

जो कुछ भी मुझे पसन्द है मेरी प्रेयसी वही करती है। वह ऐसा नहीं जानती कि मेरा प्रिय क्या है, किन्तु जो प्रिय समझती है वह करती है ॥ ७४ ॥

यहाँ वत्सल प्रकृति वाले ललित नायक की धीरता के कारण प्रिया रूप आलम्बन विभाव से उत्पन्न स्नेह स्थायी भाव विषय की सुकुमारता तथा अपनी प्रकृति आदि उद्दीपन विभावों से दीप्त होता हुआ उत्पन्न हो रहे मोह, धृति, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव तथा अनुभावों से मिला कर बना हुआ प्रेयान् नाम का रस प्रतीत होता है। रति और प्रीति दोनों की भी यही मूल प्रकृति अभीष्ट है।

स्व० द०—भरत, धनञ्जय आदि ने 'प्रेयान्' को रस नहीं माना है। केवल रुद्रट ही प्राचीन आलंकारिकों में ऐसे हैं जो इसको मानते हैं। उनके अनुसार सारी अपेक्षित बातें ये हैं—

स्नेहप्रकृतिः प्रेयान् संगतशीलार्यनायको भवति।
स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपचारसंबन्धात् ॥
निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्भावपेशलालापाः।
अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र ॥
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रुः सुस्निग्धस्फारलोचनालोकः।
आर्द्रान्तःकरणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र ॥ काव्यालंकार १५।१७-१९ ॥

यदेवेति। मह्यं यदेव रोचते स्वदते प्रिया तदेव कुरुते। इति वा इति प्रियमिति शेषः न जानाति नावबुध्यते किन्तु यत्प्रियं ममेति शेषः सा प्रिया तत् करोति। वेत्तीति पाठः प्रामादिक इति बोध्यम् ॥

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति ॥१६७॥

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ॥ ७५ ॥

अत्र कस्यचिदुपशान्तप्रकृतेः धीरप्रशान्तनायकस्य यथोपनतमनोऽनु-कूलदारादिसम्पत्तेः आलम्बनविभावभूतायाः समुत्पन्नो धृतिस्थायिभावो वस्तुतत्त्वालोचनादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानः समुपजायमानस्मृति-मत्यादिभिः व्यभिचारिभावैः वागारम्भादिभिः अनुषज्यमानो निष्पन्नः शान्त इति गीयते॥ अन्ये पुनः अस्य शमं प्रकृतिम् आमनन्ति। स तु धृतेरेव विशेषो भवति ॥

(१७) शान्त रस

जो निष्कारण होने वाला प्रेम है उसका प्रतिकार नहीं है। वही एक स्नेहमय सूत्र है जो (दोनों के) भीतरी हृदयों को परस्पर सी देता है ॥ १६७ ॥

जिसका मस्तिष्क संतुष्ट है, उसकी तो सभी ही सम्पत्तियाँ हैं। जूते से ढके हुये चरणों वाले के लिये तो समस्त पृथ्वी ही मानो चमड़े से ढकी है ॥

यहाँ किसी शान्त प्रकृति वाले धीरशान्त नायक की आलम्बन विभाव भूत विधिवत् मन के अनुसार काम करनेवाले स्त्री आदि तथा सम्पत्ति से धृति नामक स्थायी भाव उत्पन्न होता है, वस्तुओं के तत्वों की आलोचना आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होती है। वही उत्पन्न हो रही स्मृति आदि व्यभिचारी भावों तथा वाचिक कृत्यों के प्रारम्भ से अनुपक्त होकर व्यक्त हो रहा रस 'शान्त' नाम से गाया जाता है। दूसरे लोग इसका मूल 'शम' को मानते हैं, किन्तु वह तो धृति का ही एक विशिष्ट रूप है।

स्व० द०—रुद्रट ने शान्तरस का स्थायीभाव 'शान्त'—शम-को ही माना है। उनके मतानुसार—

सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात् ॥
जन्मजरामरणादित्रासो वैरस्यवासनाविषये।
सुखदुःखयोरनिच्छाद्वेषाविति तत्र जायन्ते ॥

काव्यालंकार १५।१५-१६ ॥

इस 'शम' को आनन्दवर्धन, अभिनव, मम्मट आदि ने 'निर्वेद' कहा है अर्थात् शान्त के स्थायी के स्थान पर 'निर्वेद' को माना है। धनञ्जय ने अवश्य ही इसे 'शम' नाम से ही स्मरण किया है—

"शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।" दशरूपक ४।३५ ॥

रतिप्रीत्योरिति। अयमेव प्रेयानेव मूलप्रकृतिः आदिकारणम् इष्यते। यत् यतः इत्थं एवम्प्रकारम् आहुः कथयन्ति बुधा इति शेषः। अहेतुरिति यः अहेतुः हेतुं विनोत्पन्न इत्यर्थः पक्षपातः स्नेहः, तस्य प्रतिक्रिया प्रतीकारः परिहारकारणमित्यर्थः नास्ति नासौ परिहर्त्तुं शक्यते इत्यर्थः। हि यतः सः स्नेहात्मकः स्नेहमयः तन्तुः सूत्रम् अन्तर्मर्माणि उभयोः अन्तरिन्द्रियाणि इत्यर्थः सीव्यति बध्नाति दृढं संयोजयतीत्यर्थः ॥ १६७ ॥

सर्वा इति। यस्य मानसं सन्तुष्टं सुतृप्तं तस्य सर्वाः सम्पत्तयः सम्पदः सुखोपाया इत्यर्थः हस्तगता इति भावः भवन्तीति शेषः। ननु तथाहि उपानद्भ्यां चर्मपादुकाभ्यां गूढौ आवृतौ पादौ यस्य तथाविधस्य जनस्य सम्बन्धिनी भू पृथिवी चर्मावृतैव चर्माच्छादितैव। तस्य भूस्पर्शाभावादित्यर्थः ॥ ७६ ॥

साधारण्यान्निरातङ्कः कन्यामन्योऽपि याचते।
किम्पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः ॥ ७६ ॥

अत्र रामस्य उदात्तप्रकृतेर्निसर्गत एव तत्त्वाभिनिवेशिनीमतिर्नाकृत्य-विषये प्रवर्त्तते। न च प्रवृत्ता उपरमति। सा च सीतेयं मम स्वीकारयोग्ये-

त्येवं रूपेण प्रवृत्ता रावणप्रार्थना-लक्ष्मणप्रोत्साहनाभ्यामुद्दीप्यमाना समुपजायमानचिन्तावितर्कव्रीडाऽवहित्थस्मृत्यादिभिः कालोचितोत्तरानुमीयमानैश्च विवेकचातुर्यौदार्यधैर्यादिभिः संसृज्यमाना उदात्तरसरूपेण निष्पद्यते ॥

(११)

सामान्यजन सुलभ होने के कारण कोई भी व्यक्ति निर्भय रूप से कन्या की कामना करता है, फिर भला ब्रह्मा का प्रपौत्र समस्त लोकों का विजेता 'रावण' क्यों न चाहे ॥ ७६ ॥

यहाँ उदात्त स्वभाव वाले राम की स्वभावतः तत्त्व में सन्निविष्ट रहने वाली मति अकरणीय कर्म में नहीं प्रवृत्त होती है, और जहाँ प्रवृत्त हो जाती है वहाँ रुकती नहीं (यही प्रतिपादित है ।) यह मति "यह सीता मेरे ग्रहण करने के योग्य है" इस रूप में उत्पन्न होती है, रावण की प्रार्थना तथा लक्ष्मण के प्रोत्साहन से उद्दीप्त होती है तथा उत्पन्न हो रही चिन्ता, वितर्क, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति आदि तथा समय के अनुसार बाद में अनुमित हो रहे विवेक, चातुर्य, औदार्य, धैर्य आदि के साथ मिलकर उदात्त रस के रूप में निष्पन्न होता है ।

साधारण्यादिति । अन्योऽपि सामान्यजनोऽपि साधारण्यात् साधारणजनानां लब्धुं योग्यत्वात् निरातङ्कः निर्भयः कन्यां कुमारीम् अनूढामित्यर्थः याचते प्रार्थयते, जगतां भुवनानां जेता विजयी परमेष्ठिनः ब्रह्मणः प्रपौत्रः रावणः किं पुनः ? किं वक्तव्य इत्यर्थः विश्वविजेतृत्वेन महावीरो ब्रह्मकुलोत्पन्नत्वेन महाकुलीनश्चेति असाधारण्येऽयमवश्यमेवास्याः कन्यायाः परिणयनयोग्य इत्यत्र किं वक्तव्यमस्तीति भावः । ब्रह्मणः पुत्रः पुलस्त्यः तस्य पुत्रः विश्रवाः तस्य पुत्रो रावण इति परमेष्ठिप्रपौत्रत्वमस्येत्यनुसन्धेयम् ॥

अपकर्त्ताऽहमस्मीति मा ते मनसि भूद्भयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्त्तुं जातु वाञ्छति ॥ ७७ ॥

अत्र मयाऽस्यापकारः कृत इति यत्ते चेतसि भयं तन्मा भूत् । न मम खड्गः पराङ्मुखेषु कदाचिदपि प्रहर्त्तुमुत्सहत इति सर्वदैव रूढाहङ्कारः प्रतीयते । सोऽयङ्गर्वप्रकृतिरुद्धतो नाम रसः । केचित् पुनः ।

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु ।
व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया ॥ ७८ ॥

इत्येवमूर्जस्वीत्युदात्तपक्षे निक्षिपन्तः पूर्वोक्तमेव गर्वप्रकर्षोदाहरणम् । धृतायुधो यावदहमित्यादि उद्धतनिष्पत्तौ वर्णयन्ति ॥

(१२) उद्धत रस

तुम्हारे मन में यह शङ्का नहीं होनी चाहिये कि मैं तुम्हारा अपहरण करने वाला हूँ । रण-विमुख लोगों पर मेरी तलवार प्रहार करना नहीं चाहती ॥ ७८ ॥

यहाँ पर "मैंने इसका अपकार किया है" इस प्रकार का जो भय मन में है, उसे निकाल दो । पराङ्मुख लोगों पर मेरी तलवार कभी भी प्रहार करने के लिये उत्साहित नहीं होती।"

इस प्रकार का सर्वदा ही रूढ़ रहने वाला अहंकार प्रतीत होता है। अतः यह गर्वमूलक उद्धत नाम का रस है। किन्तु कुछ लोग—

प्रयत्न का आश्रय लेकर वश में आये हुये क्षुद्र शत्रुओं पर दया करने वाला महान् लोगों के महत्त्व को स्पष्ट ही प्राप्त कर लेता है॥ ७८॥

इस प्रकार से यहाँ जो ऊर्जस्वी है उसे उदात्त के पक्ष में डालते हुये पूर्वकथित गर्वप्रकर्ष के उदाहरण 'धृतायुधो यावदहम्'—जब तक मैं शस्त्र धारण किये हूँ—इत्यादि को उद्धत की निष्पत्ति में ही वर्णन करते हैं।

स्व० द० —'ऊर्जस्वी' को भोज उदात्त में ही समाविष्ट कर देते हैं। अब आगे उन विशिष्ट रसों के विभिन्न भेदों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

अपकर्त्तेति। अहम् अपकर्त्ता अहितकारी अस्मि इति बुद्ध्येति शेषः ते तव मनसि भयं मत्त इति शेषः माभूत न भवतु। मे मम खड्गः असिः विमुखेषु पराङ्मुखेषु भीतेष्विति भावः प्रहर्त्तुं प्रहारं कर्त्तुं जातु कदाचित् न वाञ्छति नेच्छति॥

अत्रेति। रूढाहङ्कारः प्रकटाहङ्कारः।

आस्थामिति। आस्थां यत्नं प्रयासमित्यर्थः आलम्ब्य आश्रित्य वशम् अधीनतां नीतेषु क्षुद्रेषु हीनेषु अरातिषु शत्रुषु अनुकम्पया कृपया महतां महात्म्यं व्यक्तिं प्रकटताम् आयाति प्राप्नोति॥

रतिविशेषेषु नैसर्गिकी यथा—

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति॥७९॥

अत्र जन्मान्तरवासनया निसर्गत इयं भवति॥

(१) नैसर्गिकी रति का उदाहरण—

यह दृढ़प्रतिज्ञ पार्वती अधिक समृद्ध चारों दिशाओं के स्वामियों, इन्द्र आदि का तिरस्कार करके काम को जला देने के कारण रूप द्वारा वश में न किये जा सकने वाले भगवान् शिव को पति रूप में प्राप्त करना चाहती है॥ ७९॥

यहाँ दूसरे जन्म के संस्कार के कारण यह स्वभाव से होता है। ऐसा प्रदर्शित किया गया है।

रतिविशेषेषु इति। नैसर्गिकी स्वाभाविकीत्यर्थः।

इयमिति। इयं मानिनी मनस्विनी अधिश्रियः अधिकसमृद्धान् चतसृणां दिशाम् अधीशान् इन्द्रयमवरुणकुबेरानित्यर्थः अवमत्य अवज्ञाय मदनस्य कामस्य निग्रहात् दहनादित्यर्थः। अरूपहार्यं रूपेण सौन्दर्येण हर्त्तुमशक्यं पिनाकम् अजगवं धनुः पाणौ यस्य तथाविधं हरमित्यर्थः पतिं भर्त्तारम् आप्तुं लब्धुम् इच्छति। अत्रेति जन्मान्तरवासनया पूर्वजननसंस्कारेण निसर्गतः स्वभावतः इयं रतिरिति शेषः॥

सांसर्गिकी यथा—

भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।

आलिङ्ग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ।। ८० ।।

अत्र शैत्यसौरस्यादिभिर्विरहिणां उद्वेजनीया अपि वायवः प्रियतमाङ्ग-संसर्गसम्भावनया समालिङ्ग्यन्त इति संसर्गादियं रतिर्भवति ।।

(२) सांसर्गिकी रति का उदाहरण—

हे गुणशालिनि, जो हिमालय की हवायें तत्काल देवदारु वृक्षों के पत्रपुटों को अलग-अलग करके उनके दूध के प्रवाह की सुगन्ध से युक्त दक्षिण की ओर से आने पर मैं तभी उनका आलिङ्गन करता हूँ जब कि समझ जाता हूँ कि इन्होंने तुम्हारे अङ्गों का सम्पर्क प्राप्त कर लिया है ।। ८० ।।

यहाँ शीतलता, सुगन्धि आदि के द्वारा विरही जनों को उद्वेजित करने वाली भी हवायें प्रियतम के अङ्ग स्पर्श की संभावना से आलिङ्गित की जाती हैं । अतः यह संसर्गतः रति होती है।

सांसर्गिकी संसर्गजाता ।

भित्वेति । हे गुणवति ! सौन्दर्यादिगुणशालिनि ! ये तुषाराद्रिवाताः हिमाद्रिवायवः सद्यः तत्त्वणं देवदारुद्रुमाणां देवदारुतरूणां किसलयपुटान् पल्लवसंश्लेपान् भित्वा विश्लिष्य पृथक्कृत्येत्यर्थः तेषां क्षीराणि निर्यासाः तेषां स्रुतिभिः स्रावैः सुरभयः सुगन्धाः सन्तः दक्षिणेन दक्षिणदिग्भागेनेत्यर्थः प्रवृत्ताः प्रसृताः ते तुषाराद्रिवाताः मया यदि किल सम्भावनायाम् एभिः वातैः तव अङ्गं पूर्वं प्राक् स्पृष्टं भवेत् इति बुद्ध्येति भावः आलि-ङ्ग्यन्ते आश्लिष्यन्ते ॥ ८० ॥

औपमानिकी यथा—

अपि जनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं
स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति ।
ननु पुनरिव तन्मे गोचरीभूतमक्ष्णोः
अभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः ? ।। ८१ ।।

सेयं सीताविषयिणी रतिः तदुपमानदर्शनेन रामं रमयते ।।

(३) औपमानिकी

औपमानिकी का उदाहरण—

इन दोनों बच्चों में स्पष्ट रूप से जानकी के उन-उन अंगों की समानता कुशलता पूर्वक उन्नमित की जा सकती है । मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरी प्रेयसी का नव-कमल की शोभा से सम्पन्न मुख फिर से मेरी निगाहों के सामने आ गया है ।। ८२ ।।

यहाँ सीताविषयक-रति उसका औपम्य देखने से राम को आनन्दित कर रही है ।

अपीति । इहास्मिन् शिशुयुग्मे बालकयुगले जनकसुतायाः सीतायाः तच्च तच्च अनुरूपं सौसादृश्यमिति यावत् अपि नैपुणेन विशेषपर्यवेक्षणेन उन्नेयं लक्षणीयं स्फुटं स्पष्टम् अस्ति । प्रियायाः जानक्याः अभिनवं यत् शतपत्रं कमलं तस्येव श्रीर्विद्यतेऽस्येति तथाभूतं

सद्यः प्रफुल्लपद्मनिभमित्यर्थः तत् आस्यं वदनं पुनरपि मे मम अक्ष्णोः चक्षुषोः गोचरं विषयं ननु किम् ? ॥

आध्यात्मिकी यथा--

कामं प्रत्यादिष्टं स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानं प्रत्याययतीव मे चेतः ॥ ८२ ॥

अत्र सेयं दुर्वाससः शापाद्विस्मृतविवाहादिवृत्तान्तस्य दुष्यन्तस्य शकुन्तलायां रतिरध्यात्मं भवति ॥

(४) आध्यात्मिकी रति

आध्यात्मिकी रति का उदाहरण—

मुझे मुनि कण्व की पुत्री शकुन्तला के विवाह की तनिक भी याद नहीं, इसलिये वह यथेच्छ रूप से लौटा दी गई। किन्तु अत्यधिक खिन्न हो रहा मेरा मन उसमें विश्वास-सा करा रहा है ॥ ८२ ॥

यहाँ यह दुर्वासा के शाप से विवाह आदि के वृत्तान्त को भुला देने वाले दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति अध्यात्म है ।

काममिति । मुनेः कण्वस्य तनयां दुहितरं शकुन्तलां परिग्रहं स्वेन परिणीतामिति यावत् न स्मरामि न जानामीत्यर्थः अतः कामं यथेच्छतः प्रत्यादिष्टा निराकृता न गृहीतेत्यर्थः 'प्रत्यादेशो निराकृतिरित्यमरः' । प्रत्यादिष्टामिति पाठे प्रत्यादिष्टां मुनेस्तनयां परिग्रहं न स्मरामीत्यन्वयः । प्रत्यादिष्टमिति पाठे भावप्रयोगः । तु किन्तु बलवत् अतीव दूयमानं तप्यमानं निराकरणादिति भावः मे मम चेतः चित्तं प्रत्याययतीव परिग्रहत्वेन विश्वासयतीवेत्यर्थः । अत्र रतिरध्यात्मं भवति अध्यात्मम् आत्मानमधिकृत्येत्यध्यात्मम् अव्ययीभावसमासः ॥

आभियोगिकी यथा--

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दैः
अधिकविकसदन्तर्विस्मयस्मेरतारैः ।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षैः
अपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितञ्च ॥ ८३ ॥

सेयमनुरागातिशयसूचकमालतीकटाक्षाभियोगे माधवस्य रतिरेवोत्पद्यते ॥

(५) आभियोगिकी

आभियोगिकी का उदाहरण—

उस बड़े-बड़े नेत्र लोमों वाली मालती के अलसाये, वक्रिम, मनोज्ञ, स्नेहपूर्ण तथा मन्द-मन्द चलते हुये, आश्चर्य के कारण भीतर ही भीतर अधिक फैल गई नेत्र पुतलियों से युक्त कटाक्षों द्वारा मेरा बेचारा हृदय चुरा लिया गया, पटक दिया गया, पी लिया गया तथा जड़ समेत उखाड़ दिया गया है ॥ ८३ ॥

यहाँ पर यह अतिशय अनुराग के सूचक मालती के कटाक्षों का अभियोग होने पर माधव की रति ही उत्पन्न हो रही है।

अलसेति। पक्ष्मले शोभनघनरोमराजिशोभिते इत्यर्थः अक्षिणी नयने यस्याः तथाभूतायाः मालत्या इति शेषः अलसं मन्थरं यथा तथा वलिताः चलिताः मुग्धाः सुन्दराः मनोज्ञा इत्यर्थः स्निग्धाः स्नेहमया इत्यर्थः निष्पन्दाः अचञ्चलाः मन्दाः अल्पाः तैः अधिकं यथा तथा विकसन् प्रसरन् मद्दर्शनेनेति भावः अन्तर्विस्मयः अपूर्वोऽयं युवेति आभ्यन्तरिकचमत्कारबुद्धिरिति यावत् तेन स्मेरा विकसन्ती तारा कनीनिका येषु तैः कटाक्षैः अपाङ्गावलोकनैः मे मम अशरणम् निरुपायं हृदयं चित्तम् अपहृतं चोरितम् अपविद्धं पातितं पीतं पानीयवत् भक्षितम् उन्मूलितम् उत्पाटितञ्च ॥

साम्प्रयोगिकी यथा--

उन्नमय्य सकचग्रहमास्यं चुम्बति प्रियतमे हठवृत्त्या।
हु हुं मुञ्च मम मेति च मन्दं जल्पितं जयति मानधनायाः ॥८४॥

अत्र तर्जनार्थमोक्षार्थवारणार्थानां मन्दं मन्दं प्रयोगान्मानवत्या संप्रयोगे रत्युत्पत्तिः प्रतीयते ॥

(६) साम्प्रयोगिकी

साम्प्रयोगिकी का उदाहरण—
(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १।१२३)

यहाँ तर्जना के लिये, छोड़ने के लिये तथा निवारण के लिये मन्द-मन्द प्रयोग होने से मानवती की सम्प्रयोग से रति की उत्पत्ति प्रतीत होती है।

स्व० द०—मात्र लगाव होना, दूर-दूर का सम्बन्ध होना आभियोगिक है, और शारीरिक सम्बन्ध अथवा कार्य का सम्पादन साम्प्रयोगिक है।

उन्नमय्येति। प्रियतमे प्रेयसि हठवृत्त्या सहसेत्यर्थः सकचग्रहं केशग्रहणपुरःसरमित्यर्थः आस्यं वदनम् उन्नमय्य उत्तोल्य चुम्बति सति मानधनायाः मानिन्याः कान्तायाः हुम् हुम् मुञ्च त्यज्य मम मा वदनं चुम्बेति भावः इति मन्दं मृदु जल्पितं भाषितं जयति सर्वोत्कर्षेण शोभते इत्यर्थः।

अत्र तर्जनार्थेति। तर्जनार्थो हुम् हुम् शब्दः, मोक्षार्थो मुञ्चेतिशब्दः वारणार्थो माशब्दः ॥ २७१ ॥

आभिमानिकी यथा--

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोः
असावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो ? यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥ ८५ ॥

अत्र रुचिविशेषोऽभिमानस्तत एवंप्राया रतयो भवन्ति ॥

(७) आभिमानिकी रति

आभिमानिकी रति का उदाहरण—

यह हमारे घर में लक्ष्मी है, यह मेरे दोनों नयनों के लिये अमृतवर्तिका है। इसका यह स्पर्श मेरे शरीर में प्रगाढ़ चन्दन लेप की भांति (शान्ति तथा शीतलता) दायक है। मेरे गले में पड़ी हुई इसकी ये बाहें अत्यन्त शीतल मुक्ता की माला है। इसका भला ऐसा क्या है जो अत्यन्त प्रिय नहीं, यदि इसकी कोई भी अत्यन्त असह्य वस्तु है, तो है इसकी विरह ॥ ८५ ॥

यहाँ रुचिविशेष ही अभिमान है। उसी से इस प्रकार की रतियाँ हुआ करती हैं।

इयमिति। इयं जानकी गेहे भवने लक्ष्मीः मूर्त्तिमती श्रीरित्यर्थः। इयं नयनयोः चक्षुषोः अमृतवर्त्तिः सुधातूलिका नितरां नेत्रानन्दकरीत्यर्थः। अस्याः जानक्याः असौ अनुभूयमान इति भावः स्पर्शः वपुषि शरीरे बहुलः प्रभूतः चन्दनरसः चन्दनद्रवः। अयं कण्ठे बाहुः भुजः शिशिरः शीतलः मसृणः अपरुषः मौक्तिकसरः मुक्तादाम। अस्याः जानक्याः किं प्रेयः प्रीत्यतिशयकरं न ? अपि तु सर्वमेव प्रेय इत्यर्थः। तु किन्तु यदि विरहः विच्छेदः भवेदिति शेषः स परं केवलम् अत्यन्तं वा असह्यः सोढुमशक्य इत्यर्थः अतीव अप्रीतिकर इति भावः ॥

वैषयिकीषु शब्दे यथा—

विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोःकन्दली
परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्दन्तुराः ।
हरन्ति कलहुङ्कृतिप्रसभकम्पितोरःस्थली-
लुठद्गमकसङ्कुलाः कलमकण्डिनीगीतयः ॥ ८६ ॥

(८) वैषयिकी रति

विषय (भोग्यवस्तुओं) से सम्बद्ध रति के भेदों में शब्द का उदाहरण—

विभ्रम विशेष से संयुक्त ऊपर उठते तथा गिरते हुये मूसल से युक्त चञ्चल कर-कन्द के साथ गिर रहे कंगन की झनकार से उद्दीप्त, मनोरम हुङ्कारों के साथ हठात् उरोजों को कम्पित कर देने के साथ नीचे गिरने से उठी हुई गमक से संयुक्त धान कूटने वाली स्त्रियों की गीतियाँ चित्त को हर लेती हैं ॥ ८६ ॥

वैषयिकीति। विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः तत्सम्बन्धात् वैषयिकी रतिर्भवति। तत्र शब्दादिक्रमेणोदाहरणानि यथा ॥

विलासेति। विलासेन विभ्रमविशेषेण मसृणं मृदु यथा तथा उल्लसता पतनोत्पतनवतेत्यर्थः मुसलेन कण्डनसाधनाङ्गविशेषेण तच्चालनेनेति भावः लोले चञ्चले ये दोः कन्दल्यौ भुजलते तयोः परस्परम् अन्योन्यं परिस्खलतां श्लथीभवतां वलयानां निस्वनेन झणत्कारेण उद्दन्तुराः उत्तुङ्गाः उत्तराला इत्यर्थः कला मधुरास्फुटा या हुङ्कृतिः हुम्हुम् इत्याकारः शब्द इत्यर्थः तया प्रसभं बलवत् यथा तथा कम्पिता या उरःस्थली वक्षस्थलमित्यर्थः तत्र लुठता गमकेन हारविशेषेण तदीयरणनेनेति भावः सङ्कुला व्याप्ताः वर्द्धिता इति भावः कलमकण्डिनीनां धान्यकण्डनकारिणीनां गीतयः गानानि हरन्ति प्रीणयन्ति इत्यर्थः ॥

स्पर्शे यथा--

बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन् मनसि निर्वृतिम् ।
नेत्रे निमीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्त्तते ।। ८७ ।।

स्पर्श का उदाहरण—

अवयवों में रोमाञ्च करता हुआ, मन में आह्लाद उत्पन्न करता हुआ तथा आंखों को संकुचित किये दे रहा मेरी प्रियतमा का स्पर्श हो रहा है ।। ८७ ।।

बध्नन्निति । अनुभवगोचर इति भावः प्रियायाः स्पर्शः अङ्गेषु शरीरेषु रोमाञ्चं बध्नन् जनयन् मनसि निर्वृतिं सुखातिशयं कुर्वन् अर्पयन्नित्यर्थः नेत्रे नयने निमीलयन् आनन्दातिशयात् सङ्कोचयन् प्रवर्त्तते प्रकर्षेण विलसतीत्यर्थः ॥

रूपे यथा--

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यः नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ? ।। ८८ ।।

रूप का उदाहरण—

अपने नयनों से राम के रूप का पान करती हुई वे स्त्रियाँ दूसरे विषयों पर नहीं गईं । ऐसा लगता है जैसे अन्य इन्द्रियों की ग्रहणशक्तियाँ पूर्णतः इनकी निगाहों में ही समा गई हों ।। ८८ ।।

ता इति । ताः नार्यः पुरसुन्दर्यः दृष्टिभिः नयनैः रघोरपत्यं राघवः तं रघुनन्दनमित्यर्थः आपिबन्त्यः सातिशयं पश्यन्त्य इत्यर्थः विषयान्तराणि बाह्यानि वस्तूनीत्यर्थः न जग्मुः नाबबुध्यन्त । तथाहि तमेवार्थं जानीहि आसां नारीणां शेषेन्द्रियवृत्तिः शेषाणां चक्षुर्व्यतिरिक्तानाम् इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामित्यर्थः वृत्तिर्व्यापारः चक्षुरिव नयनमिव प्रविष्टा अधिष्ठिता नोचेत् कथं तेषां व्यापाराभाव इति भावः ॥

रसे यथा--

कस्य नो कुरुते तन्वि ! पिपासाकुलितं मनः ।
अयं ते विद्रुमच्छायो मरुमार्ग इवाधरः ? ।। ८९ ।।

रस का उदाहरण—

हे सुन्दरि, विशिष्ट वृक्ष की छाया से युक्त मरुस्थल के मार्ग की भांति मूँगे के सदृश कान्ति वाला तुम्हारा यह अधर किसके मन को पान करने के लिये विकल नहीं कर देता ।। ८९ ।।

कस्येति । हे तन्वि ! कृशाङ्गि ! ते तव अयं विद्रुमच्छायः प्रवालकान्तिः अधरः मरुमार्गः मरुदेशीयः पन्था इव कस्य जनस्य मनः पिपासया आकुलितं नो कुरुते ? अपि तु सर्वस्यैव कुरुते इत्यर्थः तवाधररसपानं सर्वेषामेव कामिनां वाञ्छनीयमिति भावः ॥

गन्धे यथा--

रन्धणकम्मणिउणिए मा लुरसुरत्तपाडलसुअन्धं ।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ ।। ९० ।।

गन्ध का उदाहरण—

पाक कर्म में निपुण सुन्दरी के श्रीफल तथा लालगुलाब की गन्ध से भरपूर (अथवा हे पाक कर्म में निपुण सुन्दरि, तू नाराज मत हो वस्तुतः लालगुलाब की सुगन्ध से भरपूर) तुम्हारे मुख की हवा को पीता हुआ अग्नि धुआँ रहा है जलता नहीं ॥ ९० ॥

स्व० द०—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध भोग के विषय हैं। इन विषयों का निरूपण होने से उक्त रति को वैषयिकी कहा गया है। प्रथम में मूसल की गमक, चूड़ियों की खनक तथा सुन्दरियों के मुँह से निकलने वाली 'हुँ-हुँ' की ध्वनि ये सब शब्द युक्तता का, प्रियतम के छू देने मात्र से रोमाञ्च, परमानन्द तथा अक्षिसंकोच स्पर्श का, अन्य विषयों को छोड़ कर केवल नयनों से निहारने के कारण रूप का, मन को प्यास से बेचैन कर देना रस का, तथा रक्त गुलाब की सुगन्धि के कारण अग्नि का प्रज्वलित न होना गन्ध का परिचायक है। गन्ध वाले उदाहरण के पूर्वार्ध का पाठान्तर भी है जो छाया के साथ नीचे दिया जा रहा है—

[रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु रत्तपाडलसुअन्धम् ।
रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम्] ॥ गाथा सप्तशती १।१४

रन्धनकर्मनिपुणाया मालूरसुरक्तपाटलसुगन्धम् ।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥

रन्धनेति। रन्धनकर्मणि पाकव्यापारे निपुणा दक्षा विचक्षणेति यावत् काचित् महिलेति शेषः तस्याः मालूरं श्रीफलं तथा सुरक्तं सुविकसितं यत् पाटलं पाटलपुष्पमित्यर्थः गोलापपुष्पमिति प्रसिद्धं तद्वत् सुगन्धं मुखमारुतं वदनसौरभमित्यर्थः पिबन् आस्वादयन्निति भावः शिखी अग्निः धूमायते धूममुद्गिरति न प्रज्वलति। धूमोद्गारे पुनः पुनः फूत्कारदानात् मुखसौरभप्राप्तिरिति भावः धूमायसे शिखी न प्रज्वलसीति पाठान्तरम् ॥ २७७ ॥

प्रीतिविशेषेषु नैसर्गिकी यथा—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैः
अव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृतीन् ।
अङ्कागतान् प्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति ॥ ९१ ॥

अत्र यदा रति र्जायते तदा पुत्रेषु स्निह्यति पुत्ररूपेण वा जायत इति जन्मान्तरवासनारूपो निसर्गः सङ्गच्छते ॥

(२) प्रीतिविशेष

प्रीतिविशेष में नैसर्गिकी का उदाहरण—

बिना किसी कारण के भी हँसने से दन्त कोरक जिनके दिखाई पड़ते हैं, तथा अस्पष्ट शब्दों के होने पर भी जिनके वाक्यों का निकलना अत्यन्त रम्य है उन गोद में आये हुये प्रिय बच्चों को उठाने से उनके शरीर की धूलि से जो मलिन हो जाया करते हैं, वे जन महाभाग्यशाली हैं ॥९१॥

यहाँ जब रति उत्पन्न होती है तभी पुत्रों में स्नेह होता है अथवा व्यक्ति पुत्र रूप में उत्पन्न होता हैं, इस नियम के अनुसार दूसरे जन्म की वासना के रूप में अवशिष्ट स्वभाव-प्रकृति-प्रतीत होता है।

आलक्ष्येति। **अनिमित्तहासैः निमित्तं विना हसितैः आलक्ष्याणि स्पष्टदृश्यानि दन्तमुकुलानि दशनकोरकाः येषां तान् अव्यक्तैः अस्पष्टैः वर्णैः रमणीया मनोहारिण्यः वचसां वाक्यानां प्रवृत्तयः प्रसराः येषां तान् अङ्कागतान् क्रोडवर्त्तिनः प्रणयिनः प्रेमपूर्णान् तनयान् पुत्रान् वहन्तः धारयन्तः धन्याः पुण्यवन्तः जनाः तेषां तनयानाम् अङ्गरजसा गात्ररेणुना अमलिना मलिना भवन्तीति मलिनीभवन्ति अङ्कागतप्रणयिन इति पाठस्तु समीचीनः अङ्के क्रोडे आगतम् आगमनं प्रणयन्ति प्रार्थयन्ते इति तथोक्तानित्यर्थः॥**

सांसर्गिकी यथा—

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि! पार्थिवानां
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयश्च॥ ९२॥

अत्र विश्वम्भरादिसंसर्गात् सीतायां वशिष्ठमिश्राः स्निह्यन्ति॥

(२) सांसर्गिकी

सांसर्गिकी का उदाहरण—

भगवती पृथ्वी ने तुमको उत्पन्न किया है (तुम्हारी माता पृथ्वी देवी हैं), प्रजापति के सदृश प्रतापी राजा जनक तुम्हारे पिता हैं। हे सुभगे, (सीते), तुम उन राजाओं के (कुल की) वधू हो जिनके कुल के गुरु सूर्य तथा हम हैं॥ ९२॥

यहाँ पृथ्वी आदि के सम्बन्ध के कारण पूज्य वशिष्ठ का सीता से स्नेह है।

विश्वम्भरेति। **भगवती देवी विश्वं बिभर्त्तीति विश्वम्भरा पृथ्वी भवतीं त्वाम् असूत प्रसूतवती, प्रजापतेः परमेष्ठिनः समः सदृशः राजा जनकः ते तव पिता। हे नन्दिनि! पुत्रि! आनन्दयित्रि! वा येषां कुलेषु वंशेषु सविता च सूर्यश्च गुरुः आदिपुरुषः, वयञ्च गुरव इति शेषः तेषां पार्थिवानां राज्ञां त्वं वधूः असि भवसि॥**

औपमानिकी यथा—

कुवलयदलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
वटुपरिषदं पुण्यश्रीकः श्रियैव सभाजयन्।
पुनरपि शिशुर्भूत्वा वत्सः स मे रघुनन्दनो
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम्॥ ९३॥

अत्र रामौपम्याल्लवे जनकः प्रीयते॥

(३) औपमानिकी

औपमानिकी का उदाहरण—

नीलकमल के सदृश चिकना तथा श्यामल, काकपक्ष से सुशोभित, पावन शोभा वाला यह

कोई बालक अपनी शोभा से इस बालमण्डली को अलंकृत करता हुआ दिखाई पड़ कर नेत्रों को अमृताञ्जन-सा सुखी करता हुआ ऐसा लग रहा है मानो मेरा राम ही फिर से बालक होकर उपस्थित हो ॥ ९३ ॥

यहाँ राम के सादृश्य के कारण लव में जनक प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

कुवलयेति। कुवलयदलवत् नीलोत्पलपत्रवत् स्निग्धः श्यामः स्नेहवर्षी श्यामलः शिखण्डकः काकपक्षः 'बालास्तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डक' इत्यमरः। मण्डनं भूषणं यस्य तथोक्तः शिखण्डकेनातितरां शोभमान इत्यर्थः। पुण्या पावनी श्रीः शोभा कान्तिर्वा यस्य तथाभूतः श्रियैव देहप्रभयैव वटूनां माणवकानां परिषदं समूहं दलमित्यर्थः। सभाजयन् अलङ्कुर्वन् कोऽयं पुनरपि स मे मम वत्सः रघुनन्दनः रामः शिशुर्भूत्वा दृष्ट इव इवशब्दोऽत्राध्याहार्यः। झटिति सहसा दर्शनमात्रेणैवेति भावः। दृशोः नयनयोः अमृताञ्जनं सुधाकज्जलं कुरुते नितरां नयनानन्दं जनयतीत्यर्थः ॥ ९३ ॥

आध्यात्मिकी यथा--

परितस्तं पृथासूनुः स्नेहेन परितस्तरे।
अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात् प्रह्लादते मनः ॥ ९४ ॥

अत्र अविज्ञातोऽपि वासवः स्वसूनुम् अर्जुनं दृष्टः प्रीणयति ॥

(४) आध्यात्मिकी प्रीति

आध्यात्मिकी प्रीति का उदाहरण—

कुन्तीपुत्र अर्जुन उन इन्द्र के सामने प्रेम से व्याप्त हो गये, क्योंकि रक्त सम्बन्ध वाले व्यक्ति के पूर्वतः ज्ञात न होने पर भी—पहचान न पाने पर भी—मन बरबस प्रसन्न हो उठा करता है ॥ ९४ ॥

यहाँ ज्ञात न होने पर भी इन्द्र दिखलाई पड़ने पर अपने पुत्र अर्जुन को आनन्दित करते हैं।

परित इति। पृथायाः कुन्त्याः सूनुरर्जुनः तमिन्द्रं परितः इन्द्रसमक्षमित्यर्थः। स्नेहेन प्रेम्णा परितस्तरे परिव्याप्तः स्नेहाकुलोऽभूदित्यर्थः। हि यतः बन्धौ रक्तसम्बन्धादिना मित्रभूते जने अविज्ञातेऽपि सोऽयं सम्बन्धीत्येवमविदितेऽपि मनश्चित्तं बलात् वेगेन सहसेत्यर्थः प्रह्लादते आनन्दमनुभवतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

आभियोगिकी यथा--

दुःखैकबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे
पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्त्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन
व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥ ९५ ॥

अत्र सीतान्वेषणादेरभियोगाद् रामस्य सुग्रीवविभीषणयोः प्रीतिरुत्पद्यते ॥

(५) आभियोगिकी प्रीति

आभियोगिकी का उदाहरण—

यह हैं मेरे दुःख में एकमात्र सहायक भालुओं तथा बन्दरों के स्वामी सुग्रीव, यह हैं युद्ध में आगे बढ़-बढ़ कर प्रहार करने वाले पुलस्त्य कुल के विभीषण। इस प्रकार आदर के साथ राम के द्वारा कहने पर भरत ने लक्ष्मण को छोड़ कर पहले उन्हीं दोनों सुग्रीव तथा विभीषण की ही वन्दना की ॥ ९५ ॥

यहाँ सीता की खोज आदि सम्बन्धों के कारण राम की सुग्रीव तथा विभीषण के प्रति प्रीति उत्पन्न हो रही है।

दुःखेति। अयं पुरोवर्त्तीति हस्तनिर्देशः। ऋक्षाणां भल्लूकानां हरीणां वानराणाञ्च ईश्वरः अधिपतिः सुग्रीव इत्यर्थः। मे मम दुःखेषु विपत्सु एकः अद्वितीयः बन्धुः सखा एषः सम्मुखवर्त्ती पुलस्त्यस्य अपत्यं पुमान् पौलस्त्यः विभीषण इत्यर्थः। समरेषु संग्रामेषु पुरः अग्रतः प्रहर्त्ता सेनापतिरिति भावः। इत्येवं आदृतेन आदरवता रघुनन्दनेन रामेण कथितौ निर्दिष्टौ उभौ सुग्रीवविभीषणौ भरतः लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य परित्यज्य प्रागनभिवन्द्येति भावः ववन्दे प्रणनाम ॥ ९५ ॥

साम्प्रयोगिकीस्थाने आभ्यासिकी यथा—

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं नराधिपम्।
परिवृद्धरागमनुबद्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥९६॥

(६) आभ्यासिकी प्रीति

साम्प्रयोगिकी के स्थान पर आभ्यासिकी का उदाहरण—

इस प्रकार चतुर नायिका की भांति मृगया ने अपने अन्य कृत्यों को भूले हुए, मन्त्रियों के द्वारा सँभाली गई राज्यधुरा वाले, बढ़े हुये अनुराग से युक्त राजा को अनेक बार सेवनों के कारण अपने वश में कर लिया ॥ ९६ ॥

इतीति। मृगया चतुरा निपुणा वशीकरणपटुरित्यर्थः। कामिनीव कान्तेव इत्येवम् आत्मनः स्वस्य विस्मृतानि अन्यानि करणीयानि कार्याणि येन तथोक्तं, सचिवैः अमात्यैः अवलम्बिता गृहीता धूः राज्यचिन्ताः राज्यभारो वा यस्य तथाविधं, धूः स्त्री स्याद्भार-चिन्तयोरित्यमरः। अनुबद्धा क्रमिकीत्यर्थः निरन्तरेति यावत् या सेवा परिचर्या तया परिवृद्धः वृद्धिं गतः रागः आसक्तिविशेषः यस्य तथाभूतं नराधिपं राजानं जहार आचकर्ष वशीचकारेत्यर्थः ॥ ९६ ॥

अत्र,

शब्दादिभ्यो वहिर्भूता या कर्माभ्यासलक्षणा।
प्रीतिः साऽभ्यासिकी ज्ञेया मृगयादिषु कर्मसु ॥ १६८ ॥

इति लक्षणं घटते ॥

यहाँ, शब्द आदि (वैषयिक पदार्थों) से पृथक्भूता जो किसी कर्म के अनेक बार किये जाने

से सम्पन्न होती है वह आखेट आदि कर्मों में होने वाली प्रीति आभ्यासिकी समझी जानी चाहिये ॥ १६८ ॥

यह लक्षण घटित होता है—

शब्दादिभ्य इति। शब्दादिभ्यः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य इत्यर्थः बहिर्भूता विशिष्टा कर्मणः अभ्यासः आम्रेडनं लक्षणं यस्याः तथाभूता या प्रीतिः सा मृगयादिषु कर्मसु व्यापारेषु आभ्यासिकी ज्ञेया वेदितव्या ॥ १६८ ॥

आभिमानिकी यथा—

दत्तेन्द्राभयदक्षिणैर्भगवतो वैवस्वतादामनोः
दृप्तानां दहनाय दीपितनिजक्षात्रप्रतापाग्निभिः।
आदित्यैर्यदि विग्रहो नृपतिभिर्धन्यं ममैतत्ततो
दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिभरैर्नीराजितज्यं धनुः ॥ ९७ ॥

अत्राभिमतप्रतिद्वन्द्विलाभात् लवानुपदी कुशस्तुष्यति ॥

(७) आभिमानकी प्रीति

आभिमानिकी का उदाहरण—

सूर्यपुत्र भगवान् मनु से लेकर इन्द्र को भी अभय का वरदान देने वाले, गर्वोन्मत्त राक्षसों को विनष्ट करने के लिये अपने क्षत्रियोचित प्रताप की ज्वाला को प्रज्वलित करने वाले सूर्यवंशी राजाओं के साथ यदि मेरा युद्ध होता है तव तो प्रचण्ड रूप से चमक उठे अस्त्रों की तीव्र किरण समूहों से उद्भासित प्रत्यञ्चा वाली मेरी धनुष सफल हो जाये ॥ ९७ ॥

यहाँ मन के अनुकूल शत्रु की प्राप्ति से लव के साथ चलने वाले कुश संतुष्ट होते हैं।

दत्तेति। भगवतः अशेषशक्तिसम्पन्नात् देवरूपादिति भावः विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं पुमान् वैवस्वतः तस्मात् मनोः आ तस्मादारभ्येत्यर्थः, अभिविधावाङ् योगे पञ्चमी। दत्ता इन्द्राय अभयदक्षिणा यैः तथोक्तैः इन्द्रसहकारिभिरिति भावः। दृप्तानां दर्पशालिनाम् असुराणां राज्ञां वा दहनाय भस्मीकरणाय विनाशायेति यावत् दीपिता निजाः स्वकीयाः क्षत्रप्रतापाः क्षात्रतेजांस्येव अग्नयः यैः तथाभूतैः आदित्यैः आदित्यः सूर्यः तस्यापत्यानि पुमांसः तैः सूर्यवंशीयैरित्यर्थः नृपतिभिः राजभिः यदि विग्रहः संग्रामः भवेत् ममेति शेषः। ततः तदा मम एतत् दीप्तानां ज्वलताम् अस्त्राणां स्फुरन्त्यः उल्लसन्त्यः उग्राः तीक्ष्णाः या दीधितयः किरणाः तासां भरैः अतिशयैः नीराजिता उद्भासिता ज्या मौर्वी यस्य तथाभूतं धनुः कार्मुकं धन्यं सफलमिति यावत् भवेदिति शेषः ॥ ९७ ॥

वैषयिकीषु शब्दे यथा—

लावण्यैः क्षणदाविराममधुराः किञ्चिद्विनिद्रालसं
श्रोत्रैः सव्रणमुग्धचारणवधूदन्तच्छदावासिनः।
पीयन्ते मृदुवक्त्रपीतमरुतः पौराणगीतिक्रम-
व्यालोलाङ्गुलिरुद्धमुक्तसुषिरश्रेणीधरा वेणवः ॥ ९८ ॥

(८) वैषयिकी प्रीति

वैषयिकी में शब्द होने पर उदाहरण—

सिन्धुदेश वाले लोगों के द्वारा रात्रि के अवसान में मधुर लगने वाली, (प्रियतम के दन्त-क्षति के कारण) घायल एवं आकर्षक वन्दीजनों की वधूटियों के अधरों पर रहने वाली कोमल मुख की वायु को पी रही, पुराने अर्थात् बार-बार गाये गये गान में क्रमशः चञ्चल अँगुलियों के द्वारा बन्द कर ली गई तथा छोड़ दी गई छिद्रावलियों को धारण करने वाली बाँसुरियाँ अथवा उनकी ध्वनियाँ अपने कानों से कुछ-कुछ ही निद्रा दूर होने से आलस्य के साथ सुनी जा रही हैं ॥ ९८ ॥

लावण्यैरिति । लावण्यैः सिन्धुदेशीयैः क्षणम् उत्सवं ददातीति क्षणदा रात्रिः, तस्याः विरामे अवसाने मधुराः मनोहराः सव्रणाः कान्तदन्तक्षतजनितव्रणचिह्निता इत्यर्थः। मुग्धानां सुन्दरीणां मुग्धः सुन्दरमूढयोरिति शेषः चारणवधूनां नटीनामित्यर्थः। ये दन्तच्छदाः अधराः तेषु आवसन्तीति तथोक्ताः मृदुना कोमलेन अल्पेनेति भावः। वक्त्रेण वदनेन मुखच्छिद्रेणेति यावत्, पीताः कवलिताः मरुतः वाताः यैः तथाविधाः पौराणी पुरातनी एकरूपत्वेन नित्यगीयमानेति भावः। या गीतिः प्राभातिकीति भावः, तस्याः क्रमेण नियमेन व्यालोलाभिः पेलाभिः अङ्गुलिभिः रुद्धाः बद्धाः तथा मुक्ताः त्यक्तरोधा इत्यर्थः। याः सुषिरश्रेण्यः रन्ध्रनिचयाः तासां धरन्तीति धराः पचाद्यच्प्रत्ययः। तद्वन्त इत्यर्थः वेणवः वाद्यभेदाः लक्षणया तन्निस्वना इति भावः किञ्चित् ईषत् असम्यगित्यर्थः विगता या निद्रा तया अलसं मन्दं यथा तथा श्रोत्रैः श्रवणेन्द्रियैः पीयन्ते सादरम् आकर्ण्यन्ते इति यावत् ॥ ९८ ॥

स्पर्शो यथा—

प्रशान्तधर्माभिभवः शनैर्विवान् विलासिनीभ्यः परिमृष्टपङ्कजः ।
ददौ भुजालम्बमिवात्तशीकरः तरङ्गमालान्तरगोचरोऽनिलः ॥ ९९ ॥

स्पर्श का उदाहरण—

धूप जनित क्लेश को शान्त करने वाले धीरे धीरे बह रहे कमलों का स्पर्श करके आते हुये लहरावलियों के भीतर प्रतीत होनेवाले अतएव जलकणों से भरे हुये पवन ने सुन्दरियों को मानो भुजाओं का सहारा दे दिया ॥ ९९ ॥

प्रशान्तेति । प्रशान्तः प्रकर्षेण शान्तिं नीतः घर्माभिभवः ग्रीष्मजनितक्लेश इत्यर्थः येन तथोक्तः, परिमृष्टानि स्पृष्टानि पङ्कजानि पद्मानि येन तथाविधः एतेन सौगन्ध्यसम्पत्तिः सूचिता। शनैः मन्दं यथा तथा विवान् प्रवहन् एतेन मान्द्योक्तिः। तरङ्गाणाम् ऊर्मीणां मालाः श्रेणयः तासाम् अन्तरम् अभ्यन्तरं गोचरः विषयः यस्य तथाभूतः अतएव आत्ताः गृहीताः शीकराः अम्बुकणाः येन तथाविधः 'शीकरोऽम्बुकणः स्मृत' इत्यमरः। एतेन शैत्यं सूच्यते। अनिलः वायुः विलासिनीभ्यः कामिनीभ्यः निदाघक्लान्ताभ्य इति भावः। भुजालम्बमिव हस्तावलम्बनमिव ददौ दत्तवान् यथा कश्चित् कूपरूपविपत्पतितान् हस्तेन उद्धरति तथा निदाघरूपविपत्पतिताः विलासिनीः शान्तिं निनायेति भावः ॥ ९९ ॥

रूपे यथा--

अयमभिनवमेघश्यामलोत्तुङ्गसानुः
मदमुदितमयूरीबद्धविश्रब्धनृत्यः ।
शकुनिशवलनीडानोकहस्निग्धवर्ष्मा
वितरति बृहदश्मा पर्वतः प्रीतिमक्ष्णोः ॥ १०० ॥

रूप का उदाहरण—

नवीन मेघों के कारण श्यामल ऊँची चोटियों वाला, मस्ती से मुखरित हो उठी मयूरी की छोड़ी गई ध्वनियों से भरा हुआ, पक्षियों के चित्रविचित्र घोंसलों से युक्त वृक्षों के कारण सुन्दर शरीर वाला यह बड़े पत्थरों से भरा हुआ पर्वत नेत्रों को आनन्द प्रदान कर रहा है ॥ १०० ॥

अयमिति। अभिनवैः नवोदितैः मेघैः जलधरैः श्यामलाः श्यामवर्णाः उत्तुङ्गाः उन्नताः सानवः प्रस्थदेशाः यस्य तथोक्तः 'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियामित्यमरः'। मदेन उल्लासेन मेघदर्शनादिति भावः मुदिताः प्रहृष्टाः या मयूर्यः, ताभिः बद्धम् आरब्धं विश्रब्धं निःशङ्कं यथा तथा नृत्यं यत्र तथाविधः, शकुनिभिः पक्षिभिः शवलाः चित्रा विविधवर्णा इत्यर्थः। नीलाः श्यामलाः ये अनोकहाः वृक्षाः तैः स्निग्धं शीतलं वर्ष्म शरीरं यस्य तथाभूतः। तथा बृहन्तः विपुलाः अश्मानः प्रस्तराः यत्र तथाभूतः अयं पर्वतः अक्ष्णोः चक्षुषोः प्रीतिं वितरति ददाति ॥ १०० ॥

रसे यथा--

इक्षुदण्डस्य मण्डस्य दध्नः पिष्टघृतस्य च।
वाराहस्य च मांसस्य सोऽयं गच्छति फाल्गुनः ॥ १०१ ॥

रस का उदाहरण—

ईख के दण्ड का, माड़ का, दही का, घी से पीसे गये पदार्थों तथा सुअर के मांस का जो समय है, वही यह फागुन का महीना बीता जा रहा है ॥ १०१ ॥

इक्षुदण्डस्येति। इक्षुदण्डस्य इक्षुकाण्डस्य मण्डस्य ओदनात् विक्लिन्नात् प्राक् निर्गलयमानरसविशेषस्य दध्नः प्रसिद्धस्य पिष्टघृतस्य घृतभृष्टपिष्टकस्येत्यर्थः तथा वराहस्य इदं वाराहं शौकरं तस्य मांसस्य उपयोगीति शेषः सोऽयं फाल्गुनः फल्गुनीनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी यत्र मासे स मासः फाल्गुनः गच्छति अतिक्रामति। फाल्गुने इक्षुदण्डादयोऽतीव व्यवह्रियन्ते इति भावः ॥ १०१ ॥

गन्धे यथा--

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ १०२ ॥

गन्ध का उदाहरण—

अपने गालों की खुजली मिटाने के लिये हाथियों के द्वारा रगड़े गये साल के वृक्षों से दूध बहने के कारण उत्पन्न हुआ गन्ध शिखरों को जहाँ सुगन्धित करता है ॥ १०२ ॥

कपोलेति। यत्र हिमाद्रौ करिभिः हस्तिभिः कपोलकण्डूः गण्डकण्डूतीः विनेतुं निरसितुं विघट्टितानां विशेषेण घर्षितानां सरलद्रुमाणां देवदारुवृक्षाणां स्रुतानि निःसृतानि क्षीराणि निर्यासा येभ्यः येषां वा तेषां भावः तत्ता तया प्रसूतः उद्गतः गन्धः सौरभं सानूनि प्रस्थदेशान् तटानित्यर्थः सुरभीकरोति सुगन्धीकरोति ॥ १०२ ॥

उपलक्षणञ्चैतत्। तेन उत्साहस्य युद्धदानदयावीरादयः, क्रोधस्य भीममन्युत्रासादयः, हासस्य स्मितहसितविहसितादयः, प्रसुप्तप्रलयमत्यादीनां स्वप्नमरणशमादयो भेदा जायन्ते। तत्र यद्यपि 'अजित्वा सार्णवामुर्वीम्' इत्यनेन युद्धवीरः, 'अनिष्ट्वा विविधैर्मखैः' इत्यनेन दानवीरः, 'अदत्त्वा चार्थमर्थिभ्यः' इत्यनेन दयावीरश्च उत्साहरूपेण रसनिष्पत्तौ वर्त्तते तथापि एकशोऽप्येतद् रसनिष्पत्तिरस्तीति प्रदर्श्यन्ते ॥

यह तो केवल निदर्शन है। इसी से उत्साह के युद्ध, दान, दया, वीर आदि, क्रोध के भीम, मन्यु, त्रास आदि, हास के स्मित, हसित, विहसित आदि, प्रसुप्त, प्रलय, मति आदि के स्वप्न, मरण, शम आदि भेद होते हैं। इनमें भी यद्यपि 'अजित्वा सार्णवामुर्वीम्' इससे युद्धवीर, 'अनिष्ट्वा विविधैर्मखैः' इससे दानवीर, 'अदत्वा चार्थमर्थिभ्यः' इससे दयावीर भी उत्साह के रूप में रसनिष्पत्ति में विद्यमान हैं, फिर भी एक-एक करके भी रसनिष्पत्ति होती है। इसलिये सभी प्रदर्शित किये जा रहे हैं।

स्व० द०—भोज ने अब तक रति तथा प्रीति के विभिन्न भेदों का उदाहरण दिया। ये भेद इनके स्वयं विचरित हैं। उत्साह की बात को लेकर वह कहते हैं कि वीर रस का उदाहरण देते समय जिस श्लोक का उल्लेख किया गया है यद्यपि उसमें उत्साह की दया, दान, युद्ध वीरता तीनों ही उपस्थित हैं, तथापि उनकी निष्पत्ति पृथक् पृथक् भी संभव होने से उनके उदाहरण दे रहे हैं।

भरत ने सर्वप्रथम—

> दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
> रसं वीरमपि प्राहुस्तज्ज्ञास्त्रिविधमेव हि ॥ ना. शा. ६।७९ ॥

कहा; फिर रुद्रट (काव्यालंकार १५।१), दशरूपककार (४।७२) आदि ने भी उसी बात को स्वीकार किया। इनका लक्षण इनके नाम से ही स्पष्ट है।

उपलक्षणञ्चैतत्। स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वमुपलक्षणम्। तथाहि यथा श्रृङ्गारस्थायिनो रतिभावस्य बहवः प्रकारा उक्तास्तथा वीरादिस्थायिनाम् उत्साहादीनामपि बहवो भेदा इति भावः। तथापि एकश इति। एकशः पृथग्रूपेणेति भावः ॥

तेषु युद्धवीरो यथा—

> एतां पश्य पुरस्तटीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
> कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः।
> इत्याकर्ण्य कथाऽद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापतेः
> मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥ १०३ ॥

(१) युद्धवीर

उनमें युद्धवीर का उदाहरण—

इस सामने की स्थली को देखो, यहीं पहले छल से किरात का रूप धारण करने वाले शिव के मस्तक पर अर्जुन ने वेग से प्रहार किया था। हिमालय पर सुभद्रा के पति अर्जुन की इस प्रकार की अद्भुत कथा को सुनकर जिस (शंकर) ने भी धीरे-धीरे अपनी दोनों भुजाओं को मण्डलाकार आयोजित कर सहलाया था। १०३ ॥

स्व० द०—यहाँ वीरता की स्पर्धा का भाव है।

एतामिति। पुरः अग्रतः एतां तटीं पर्वतैकदेशं पश्य अवलोकय, इह अस्यां किरीटिना अर्जुनेन क्रीडाकिरातः क्रीडार्थम् अर्जुनविप्रलम्भार्थमिति भावः किरातवेशधर इत्यर्थः हरः शम्भुः कोदण्डेन धनुषा चूडान्तरे शिरोभागे सरभसं सवेगं यथा तथा ताडितः प्रहृतः किल प्रसिद्धौ। पुरा पाण्डवः किरीटी हरं घोरेण तपसा प्रीणयामास स तु हरः प्रथमं तदीयोत्कटवीर्यप्रदर्शनार्थं स्वयं किरातराजरूपी छलेन तं प्रकोपयामास। स तु किरीटी तपसा तथा शीर्णकायोऽपि स्वं तेजः प्रकटयन् तेन किरातराजेन समं युयुधे। ततश्चातीव सन्तुष्टस्तेन तस्य धैर्येण तस्मै स्वाभिमतं वरं दत्तवानिति पौराणिकी वार्त्ता। हिमनिधौ अद्रौ हिमाद्रावित्यर्थः इत्येवं सुभद्रापतेः अर्जुनस्य कथाद्भुतम् अद्भुतां विक्रमकथामित्यर्थः आकर्ण्य श्रुत्वा येन निजयोः दोर्दण्डयोः बाहुदण्डयोः मण्डनम् अलङ्करणं मन्दं मन्दम् अकारि कृतं नाहं तथा वीर इति दुःखादिति भावः ॥ १०३ ॥

दानवीरो यथा—

> दधिक्षीरघृताम्भोधिव्यञ्जनस्पृहणीयया ।
> महादानोत्सवे यस्य हन्त कारायितं भुवा ॥ १०४ ॥

(२) दानवीर

दानवीर का उदाहरण—

(यह वह महाराज हैं) जिनके महादान के आनन्दोत्सव में बड़े आनन्द अथवा खेद की बात है दधि, क्षीर तथा घृत के समुद्रों से युक्त होने के कारण आदरणीय पृथ्वी कारा के सदृश हो गई ॥ १०४ ॥

दधीति। दधिक्षीरघृतानाम् अम्बुधयः समुद्राः दधिसमुद्रः क्षीरसमुद्रः घृतसमुद्रश्चेत्यर्थः तेषां व्यञ्जनेन प्रकटनेन स्पृहणीया प्रार्थनीया आदरणीयेति भावः यत्र तादृशाः सागराः सन्ति सा सर्वैरेव आदरणीया भवतीति भावः। किन्तु तथाभूतया भुवा पृथिव्या यस्य महादानोत्सवे महादानरूपानन्दव्यापारे कारायितं कारा बन्धनागारः तद्वत् आचरितं हन्तेति खेदे हर्षे च। अयं भावः। यथा कारायां न कोऽपि स्थातुमिच्छति नैव तामाद्रियते तथा अयं दानवीरः अवलीलया तादृशीं स्पृहणीयां निर्जितां महीं कारावत् अर्थिभ्यः त्यजतीति ॥ १०४ ॥

दयावीरो यथा—

> स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं यतस्व ।
> दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विमुच्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ १०५ ॥

क्रोधस्य यद्यपि भीमादयो विशेषाश्चतुर्विंशतिः सम्भवन्ति तथापि ललितालालितोभयभेदेन रूपेण क्रमेण सर्वसंग्रहात् तत्र त्रय एव प्रकाराः प्रदर्श्यन्ते ॥

दयावीर का उदाहरण—

तुम मेरी ही देह से अपनी जीविका सम्पन्न करने का यत्न करो। दिन की समाप्ति के समय व्याकुल बच्चे वाली इस महर्षि की गाय को छोड़ दो। १०५॥

यद्यपि क्रोध के भी भीम आदि चौबीस प्रकार के भेद संभव हैं, तथापि ललित, अललित तथा उभय रूप से ही क्रमशः सबका संग्रह हो जाने से इनके तीन ही भेद प्रदर्शित किये जा रहे हैं।

स्व० द०—ऊपर प्रथम में पौरुषाधिक्य, द्वितीय में दानाधिक्य तथा दयाधिक्य का निरूपण होने से उन उन नामों वाले लक्षणों से युक्त उत्साह है। भोज की दानवीरता भरत की धर्मवीरता है।

स इति। सः अङ्कागतसत्त्ववृत्तिः त्वं मम अयं मदीयः तेन देहेन कायेन शरीरवृत्तिं शरीररक्षणसाधनीं जीविकां निर्वर्त्तयितुं सम्पादयितुं यतस्व चेष्टस्व। दिनस्य अवसानेन अत्ययेन उत्सुकः उत्कण्ठितः बालः शिशुः वत्सः यस्याः तथाभूता महर्षेः वशिष्ठस्य इयं धेनुः विमुच्यतां त्यज्यताम् ॥ १०५॥

तेषु स्त्रीणां ललितः कोपभावो यथा—

> भ्रूभेदिभिः प्रकम्पोष्ठैः ललिताङ्गुलितर्जनैः।
> यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणां सम्प्रसादार्थिनः प्रियाः॥ १०६॥

इनमें से स्त्रियों के ललित नामक कोप भाव का उदाहरण—

जहाँ नगरों में भ्रूभङ्गों, ओष्ठ के स्फुरणों तथा सुन्दर अँगुलियों के तर्जनों से युक्त क्रोध कृत्यों के द्वारा स्त्रियों के प्रियतम प्रसन्नता के आकांक्षी बना दिये गये॥ १०६॥

स्व० द०—भोज ने क्रोध के भीम अथवा भाम आदि चौबी भेदों का उल्लेख किया है। भरत रुद्रट, धनञ्जय के ग्रन्थों में इनका नाम भी नहीं मिलता है।

भ्रूभेदिभिरिति। यत्र नगर्यां भ्रूभेदिभिः भ्रूभङ्गवद्भिः प्रकम्पः प्रकर्षेण कम्पमानः स्फुरन्नित्यर्थः ओष्ठः येषु तथोक्तैः सकम्पोष्ठैरिति पाठान्तरं ललितानि मनोज्ञानि 'ललितं त्रिषु सुन्दरमिति' त्रिकाण्डशेषः। अङ्गुलिभिः तर्जनानि येषु तैः स्त्रीणां कोपैः प्रणयजनितैरिति भावः प्रियाः कान्ताः सम्प्रसादं सम्यगनुग्रहम् अर्थयन्ते इति तथाभूताः कृताः॥ १०६॥

प्रियापराधजन्मा दुःखोत्पीडो मन्युर्यथा—

> धणुसो गुणवल्लरिविरइअकस्मावअंसदुप्पेच्छे।
> वाहगरुइ णिसम्मइ वाहीए बहुमुहे दिट्ठी॥ १०७॥

ननु इयमीर्ष्या कस्मात् न भवति? नात्र मानदानामर्षणमात्रविवक्षा अपि तु तज्जनितो दुःखातिशय इति।

प्रिय के अपराध से उत्पन्न दुःखराशि मन्यु है, उसका उदाहरण—

धनुष की प्रत्यञ्चा से बनाये गये कर्णभूषण के कारण दुष्प्रेक्ष्य, हलवाहे की वधू के मुख पर उसकी निगाहें वाष्प से भरी हुई दृष्टिगोचर होती हैं ।। १०७ ।।

भला यह ईर्ष्या क्यों नहीं होती ? उत्तर है कि यहाँ मान-दान-अमर्ष की विवक्षा नहीं है अपितु उससे उत्पन्न दुःख का आधिक्य है । (अतः ईर्ष्या नहीं हुई ।)

धनुषो गुणवल्लरिविरचितकर्णावतंसदुःप्रेक्ष्ये ।
वाष्पगुर्वी निशम्यते वाहीकवधूमुखे दृष्टिः ॥

धनुष इति । धनुषोऽर्पणेति संस्कृतपाठः प्रामादिकः धनुषो गुणेति पाठो युज्यते । अयमर्थः । धनुषः कार्मुकस्य भ्रूरूपस्येति ध्वन्यते गुणः मौर्वी स इव या वल्लरी मञ्जरी तया विरचितेन कर्णावतंसेन कर्णभूषणेन दुष्प्रेक्ष्यं दुर्दर्शं तस्मिन् धनुर्गुणदर्शनं भयहेतुरिति भावः वाहीकस्य कस्यचित् वहनकारिणः कृषीवलस्येति भावः या वधूः कान्ता तस्या मुखं तस्मिन् वाष्पगुर्वी अश्रुपूर्णेत्यर्थः दृष्टिः निशम्यते दृश्यते ॥ १०७ ॥

प्रियादिषु व्याजनिन्दोत्प्रासो यथा—

पहवन्ति व्विअ पुरिसा महिलाणं किं खु सुहअ ! विदिओसि ।
अणुराअलुलिआए को दोसो अहिजाईए ।। १०८ ।।

हासस्य यद्यपि उपहासादयो भेदाः सम्भवन्ति तथापि विहसितेन तेषां संग्रहादिति न्यूनाधिकमिति त्रयस्तद्भेदा उदाह्रियन्ते ।। १०८ ।।

प्रियतम आदि के प्रति व्याजनिन्दा के उत्प्रास होने का उदाहरण—

हे प्रिय, पुरुष स्त्रियों के प्रभु होते हैं क्या यह आपको मालूम हैं ? वस्तुतः अनुराग से समन्वित सुन्दरी का क्या दोष हो गया ।। १०८ ।।

हास के उपभेदों का निरूपण

हास के यद्यपि उपहास आदि भेद संभव हैं फिर भी विहसित के द्वारा उनका संग्रह हो जाने से न्यून-अधिक भेद से उसके तीन ही भेदों के उदाहरण दिये जा रहे हैं—

स्व० द०—यहाँ व्याजनिन्दा का उल्लेख है । किसी महिला पर व्यर्थ का प्रभुत्व प्रदर्शित करने वाले प्रिय से कोई नायिका कहती है कि वस्तुतः प्रेम ही वह तत्त्व है जिसके कारण पुरुष महिलाओं पर अपना प्रभुत्व प्रदर्शित करते हैं । यदि वह नहीं है तो क्यों अपना अधिकार जमा रहे हो ?

प्रभवन्त्येव पुरुषा महिलानां किं खलु सुभग ! विदितोऽसि ।
अनुराग लुलितायाः को दोषोऽभिजातः ॥ १०८ ॥

प्रभवन्तीति । हे सुभग ! प्रिय ! पुरुषाः पुमांसः महिलानां कामिनीनां प्रभवन्त्येव प्रभवः भवन्त्येव इति किं विदितोऽसि ज्ञातोऽसि ? अनुरागेण प्रेम्णा लुलितायाः वशं गताया इत्यर्थः नार्य्यं इति शेषः कः दोषः अभिजातः उत्पन्नः ? न कोऽपि दोष इत्यर्थः केवलं प्रेमैव महिलायाः कान्तप्रभुत्वे हेतुर्नोचेत् कुतः प्रभुत्वमिति व्याजेन निन्दोत्प्रासः ॥ १०८ ॥

तत्रेषद्धसितं स्मितं,यथा--

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात् मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्य्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्य्यस्तरुचः स्मितस्य ॥१०६॥

इनमें थोड़ा सा हँसना स्मित है। उसका उदाहरण—

यदि फूल नवकोपलों से उपहित हो जाये अथवा मोती के दाने प्रकट रूप से मूंगे पर रख दिये जाय तभी उस पार्वती के लाल-लाल ओष्ठों पर अपनी कान्ति बिखेर रही विशद मुसकान की तुलना की जा सकती है ॥ १०९ ॥

पुष्पमिति। यदि पुष्पं कुसुमं प्रवालेन नवकिसलयेन उपहितं युक्तं प्रवालोपरिस्थितमिति यावत् स्यात् वा अथवा मुक्ताफलं मौक्तिकं स्फुटे विकासं गते विद्रुमे प्रवालाख्यरत्नभेदे तिष्ठतीति यथोक्तं स्यादिति पूर्वेणान्वयः। ततस्तदा तस्याः पार्वत्याः ताम्रे रक्ते ओष्ठे पर्यस्ता पतिता रुक् कान्तिर्यस्य तथाभूतस्य स्मितस्य मन्दहसितस्य अनुकुर्यात् समीकुर्यादित्यर्थः कर्मणि षष्ठी। तादृशं पुष्पं मुक्ताफलं वेति कर्तृपदम् ॥ १०९ ॥

दृष्टदशनकान्ति हसितं यथा--

तिमिरनिरुद्धभीमरजनीमुखचन्द्रिकया
गणपतिताण्डवाभिनयदर्शनदीपिकया ।
अभिभवसि त्वमद्य शशिनः श्रियमुत्कटया
दशनमयूखमञ्जरितया हसितप्रभया ॥ ११० ॥

जिसमें दान्तों की चमक दिखाई पड़ती है वह हसित है। जैसे—

(किसी वेश्या से उसका उपनायक कहता है कि) हे कान्ते, अन्धकारच्छन्न भयंकर रात्रि के प्रारम्भ में फैल रही चन्द्रप्रभा के सदृश लग रही, पुरुष समूह के स्वामी अपने विशेष प्रेमी अथवा गणेश के ताण्डव नृत्य को देखने के लिये ली गई दीपिका के सदृश चमक वाली, दाँतों के किरण समूहों से समन्वित हँसने की शोभा द्वारा तो तुम चन्द्रमा की शोभा को परास्त कर दे रही हो ॥ ११० ॥

तिमिरेति। हे कान्ते! इत्यध्याहार्य्यं त्वं तिमिरेण अन्धकारेण निरुद्धा अतएव भीमा भयङ्करी या रजनी रात्रिः तस्या मुखे चन्द्रिका ज्योत्स्ना तया तत्स्वरूपयेत्यर्थः, गणः पुरुषाणां समूह एव पतिः कान्तः गणेशश्च तस्य ताण्डवाभिनयः नृत्याभिनयः तस्य दर्शने दीपिका तया तत्स्वरूपयेत्यर्थः उत्कटया महत्या दशनानां दन्तानां मयूखैः किरणैः मञ्जरिता सञ्जातमञ्जरीका मञ्जरीव आभासमानेत्यर्थः तथाभूतया हसितप्रभया हासश्रिया अद्य शशिनः चन्द्रस्य श्रियं कान्तिम् अभिभवसि तिरस्करोषि। कामपि गणिकां प्रति तदुपनायकस्योक्तिरियम् ॥ ११० ॥

तदेव सविशेषं विहसितं यथा--

च्युतामिन्दोर्लेखां रतिकलहभग्नञ्च वलयं
द्वयं चक्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया ।

अवोचद् यं पश्येत्यवतु स शिवः सा च गिरिजा
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥ १११ ॥

विशिष्टता से युक्त वही (अर्थात् हसित ही) विहसित है, जैसे—

गिरी हुई चन्द्रकला तथा रतिकलह में टूटे हुये कंगन दोनों को एक साथ चन्द्राकार जुटाकर हँसते हुये मुख वाली पर्वत पुत्री पार्वती ने जिसको कहा कि "देखो" वह शिव, वही पार्वती और दन्तच्छटा से प्रकाशित शरीर वाला खेल का चन्द्रमा रक्षा करे ॥ १११ ॥

स्व० द०—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में (६।५१-६१) षड्विध हास्य का विवेचन किया है। दशरूपक में अत्यन्त संक्षेप में उनकी लक्षण के साथ गणना है—

स्मितमिह विकासिनयनम्, किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात्।
मधुरस्वरं विहसितम् सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥
अपहसितं सास्राक्षम्, विक्षिप्ताङ्गम् भवत्यतिहसितम्।
द्वे द्वे हसिते चैषा ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥ ४।७६-७७ ॥

च्युतामिति। शैलतनया पार्वती च्युतां शिरसः भ्रष्टां रतिकलहेनेति भावः इन्दोश्चन्द्रस्य लेखां हरशिरश्चन्द्रकलामित्यर्थः, रतिकलहेन भग्नं दलितं वलयञ्च स्वकरस्थितमिति भावः स्वयं चक्रीकृत्य अर्द्धचन्द्रार्द्धवलययोजनात् वर्त्तुलीकृत्य पश्य अवलोकय पूर्णचन्द्रमिति शेषः इति यम् अवोचत् उक्तवती, स शिवः, सा गिरजा पार्वती च तथा दशनकिरणैः उभयोः पार्वतीपरमेश्वरयोरिति भावः आपूरिता परिपुष्टा तनुरवयवः यस्य तथाभूतः स क्रीडाचन्द्रश्च क्रीडनार्थं पूर्वोक्तोभययोजनात् कृत्रिमचन्द्रश्चेत्यर्थः अवतु रक्षतु अस्मान् युष्मान् वेति शेषः ॥ १११ ॥

सुप्तविशेषः स्वप्नो यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः।
नो यावत्परिरभ्य चाटुकशतैराश्वासयामि क्षणं
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ११२ ॥

(स्वप्न)

विशेष प्रकार की सुप्ति स्वप्न है, जैसे—

(हे भाई) स्वप्न में मुझे लगा कि क्रोध के कारण विमुख रहने वाली मेरी प्रेयसी आज दिख गई। "मुझे मत छुओ, मत छुओ" यह हाथ से संकेत करने के साथ रोती हुई आगे जाने के लिये प्रवृत्त हो गई। आलिङ्गन करके जब तक मैं सैकड़ों चापलूसियों द्वारा अपनी उस प्रेयसी को प्रसन्न भी नहीं कर पाया था, कि तब तक इस दुष्ट विधाता के द्वारा निद्रा से दरिद्र कर दिया गया ॥ ११२ ॥

जाने इति। हे भ्रातः ! जाने अनुभवामीत्यर्थः। अद्य स्वप्ने निद्रावस्थायां मया कोपेन पराङ्मुखी विमुखी प्रियतमा कान्ता दृष्टा अवलोकिता। सा पाणिना करेण मा न संस्पृश इति उक्तेति शेषः रुदती क्रन्दन्ती पुरः अग्रतः गन्तुं प्रचलितुं प्रवृत्ता उद्यता। अहं यावत् परिरभ्य आलिङ्ग्य क्षणं चाटुकशतैः प्रियवचनसमूहैरित्यर्थः आश्वासयामि प्रसादयामि

तावत् शठेन धूर्त्तेन वञ्चकेनेत्यर्थः विधिना दैवेन निद्रादरिद्रीकृतः विनिद्रः कृत इत्यर्थः। सखायं प्रति प्रोषितस्योक्तिः ॥ ११२ ॥

मूर्च्छाविशेषो मरणं यथा--

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरेन्द्रसुन्दरी हृतचन्द्रा तमसेव शर्वरी ॥११३॥

विशेष प्रकार की मूर्च्छा मरण है—जैसे—

दोनों सुन्दर स्तनों की एक क्षण की सखी उस माला को देख कर व्याकुल हुई वह राजा की सुन्दरी इन्दुमती राहु के द्वारा जिसका चन्द्रमा हर लिया गया है, उस रात्रि की भाँति समाप्त हो गई ॥ ११३ ॥

क्षणेति। नरेन्द्रस्य नरपतेः सुन्दरी इन्दुमती सुजातयोः सुन्दरयोः स्तनयोः क्षणमात्रसखीं पतनमात्रसङ्गिनीं तां मालाम् अवलोक्य दृष्ट्वा विह्वला विवशा सती तमसा राहुणा 'तमस्तु राहुः स्वर्भानु'रित्यमरः। हृतः तिरोहित इत्यर्थः चन्द्रो यस्याः तथाभूता शर्वरीव रात्रिरिव निमिमील निमीलनं चकार ममारेत्यर्थः ॥ ११३ ॥

मतिविशेषः शमो यथा--

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितं
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥ ११४ ॥

विशेष प्रकार की मति शम है। जैसे—

जब तक कामदेव रूपी अंधकार के संस्कार से उत्पन्न अज्ञान था, तब तक यह सम्पूर्ण संसार ही नारीमय दिखा, किन्तु इस समय विशिष्ट विवेक रूपी अञ्जन से युक्त हमारी दृष्टि समान हो गई है और तीनों लोकों को भी ब्रह्म मानती है ॥ ११४ ॥

स्व० द०—ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि विशेष प्रकार की सुषुप्ति ही स्वप्न है, चेतना का लोप मरण है और बुद्धि निखार का एक प्रकार 'शम' है।

रुद्रट के मतानुसार भी त्रिविध हास्य तीन प्रकार के पात्रों के आधार पर होता है—

नमनकपोलविलासी किंचिल्लक्ष्यद्विजोऽप्यसौ महताम्।
मध्यानां विवृतास्य सशब्दवाष्पश्च नीचानाम् ॥ काव्यालंकार १५।१२।

इसके पश्चात् भोजराज पहले संकेतित सुप्त, प्रलय, मति आदि के स्वप्न, मरण, शम आदि भेदों का उदाहरण देंगे।

यदेति। यदा स्मरः काम एव तिमिरं तमः तस्य संस्कारेण आवेशेन जनितम् उत्पादितम् अज्ञानं मोह इति यावत् आसीत् अस्माकमिति शेषः तदा इदम् अशेषं समस्तं जगत् नारीमयं कान्तामयं दृष्टम् अवलोकितम्। इदानीम् अधुना पटुतरः समुज्ज्वलतरः यो विवेकः सदसज्ज्ञानमित्यर्थः स एव अञ्जनं कज्जलं तज्जुषां तत्सेविनां

तादृशविवेकवतामित्यर्थः अस्माकं दृष्टिः समीभूता समतां प्राप्ता असारताज्ञानेन सर्वं लोष्ट्रकाञ्चनादिकं सममित्येवं दर्शनमिति भावः त्रिभुवनमपि त्रिलोकीतलगतं सर्वमेव वस्तु इत्यर्थः ब्रह्म मनुते अवधारयति 'सर्वं ब्रह्ममयं जगदिति' श्रुतेरिति भावः ॥ ११४ ॥

एवमन्येऽपि विज्ञेयाः रसा भावादिसंश्रया ।
विशेषः प्राप्तकालोऽथ परिपोषो निगद्यते ॥ १६९ ॥

तत्राश्रयस्त्रिधा पुमान् स्त्री तिर्य्यगादयः ।

परिपोष

इसी प्रकार से दूसरे भी भाव आदि पर आश्रित रस समझे जाने चाहिये। समयोचित विलक्षण परिपोष का कथन हो रहा है ॥ १६९ ॥

इनमें से आश्रय तीन प्रकार का है—पुरुष, स्त्री, तिर्यक् आदि ।

एवमिति । अन्येऽपि शृङ्गारवीरादिव्यतिरिक्ता अपि भावादिसंश्रयाः भावाद्यवलम्बना रसा विज्ञेयाः वेदितव्याः । अथेदानीं प्राप्तकालः समयोचित इति यावत् विशेषः विलक्षण इत्यर्थः परिपोषः पुष्टिः स्फुरणमिति यावत् रसानामिति शेषः निगद्यते कथ्यते। परिपोष इत्यत्र परिशेष इति पाठान्तरम् ।

तत्रेति । तत्र परिपोषे परिपोषस्येत्यर्थः आश्रयः अवलम्बनम् ॥ १६९ ॥

तेषु पुमान् यथा—

आश्चर्य्यमुत्पलदृशो वदनामलेन्दु-
सान्निध्यतो मम मुहुर्जडिमानमेत्य ।
जाड्येन चन्द्रमणिनेव महीधरस्य
सन्धार्य्यते द्रवमयो मनसा विकारः ॥ ११५ ॥

इनमें से पुरुष (आश्रय) का उदाहरण—

(मित्र के प्रति किसी कामी की उक्ति है। वह कहता है कि—) बड़े आश्चर्य की बात है कि नीलकमल के सदृश नयनों वाली सुन्दरी के निर्मल चन्द्रसदृश मुख के सन्निधान के कारण बारबार जड़ता प्राप्त करके पुनः शीतल चन्द्रकान्तमणि की संन्निधि से पर्वत की भाँति मेरे मन के द्वारा भी द्रवमय विकार धारण किया जा रहा है ॥ ११५ ॥

स्व० द०—यहाँ आश्रय है एक कामी पुरुष जो आत्मदशा का वर्णन कर रहा है ।

आश्चर्य्यमिति । मम मनसा चित्तेन उत्पले नीलपद्मे इव दृशौ यस्याः तथाभूतायाः कान्ताया इति शेषः वदनम् अमलः निर्मल इन्दुश्चन्द्र इव वदनामलेन्दुः तस्य सान्निध्यतः सन्निधाववस्थानादित्यर्थः मुहुः पौनःपुन्येन जडिमानं जाड्यं शैत्यातिशयमित्यर्थः पुनः पुनर्वदनचन्द्रदर्शनजनितेनानन्देनेति भावः एत्य प्राप्य जाड्येन चन्द्रमयूखस्पर्शजनितेन शैत्येनेति यावत् हेतुना महीधरस्य पर्वतस्य चन्द्रमणिनेव चन्द्रकान्तोपलेनेवेत्यर्थः द्रवमयः रसमय इत्यर्थः विकारः विकृतिभावः सन्धार्य्यते गृह्यते । सखायं प्रति कस्यचित् कामिनः उक्तिः ॥ ११५ ॥

स्त्री यथा--

तेनाथ नाथदुरुदाहरणातपेन
सौम्यापि नाम परुषत्वमभिप्रपन्ना ।
जज्वाल तीक्ष्णविशदाः सहसोद्गिरन्ती
वागर्च्चिषस्तपनकान्तशिलेव सीता ।। ११६ ।।

स्त्री के आश्रय होने पर उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य—१।२००)

तेनेति। अथानन्तरं सीता जानकी सौम्यापि शान्तप्रकृतिरपि तेन पूर्वोक्तेन नाथस्य पत्युः रामस्य दुरुदाहरणेन दुर्वचसेत्यर्थः परुषत्वं तीक्ष्णत्वं अभिप्रपन्ना प्राप्ता कुपितेति यावत् तपनकान्तशिलेव सूर्य्यकान्तदृषदिव सहसा तत्क्षणमित्यर्थः तीक्ष्णाः कठिनाः विशदाः स्पष्टाश्च ताः वाचः अर्च्चिष इव ज्वाला इव वागर्च्चिषः उद्गिरन्ती उद्वमन्ती प्रकटयन्तीति यावत् सती जज्वाल भृशं सन्तापमवापेत्यर्थः ॥ ११६ ॥

तिर्य्यगादिषु यथा---

उत्कूजति श्वसिति मुह्यति याति तीरं
तीरात् तरुं तरुतलात् पुनरेव वापीम् ।
वाप्यां न रज्यति न चात्ति मृणालखण्डं
चक्रः क्षपासु विरहे खलु चक्रवाक्याः ।। ११७ ।।

विषयस्त्रिधा चेतनस्तिर्य्यगचेतनश्च ।

तिर्यक् आदि के आश्रय होने पर उदाहरण—

चक्रवाक पक्षी रात्रियों में चक्रवाकी के वियोग में जोर-जोर से चिल्लाता है, दीर्घ उसासें भरता है, मूर्च्छित हो जाता है, तालाब के तट पर जाता है, तट से वृक्ष की ओर जाता है और वृक्ष से पुनः तडाग में जाता है। वापी में भी वह सुख नहीं पाता और न बिसतन्तु को खाता ही है ॥ ११७ ॥

विषय तीन प्रकार का है—चेतन, तिर्यक् तथा अचेतन ।

स्व० द०—आश्रय के पश्चात् अब रस के विषयों का निरूपण हो रहा है ।

उत्कूजतीति। चक्रः चक्रवाकः पक्षिविशेषः क्षपासु रजनीषु चक्रवाक्याः स्वभार्य्यायाः विरहे उत्कूजति उच्चैः रौति, श्वसिति दीर्घनिश्वासं त्यजति, मुह्यति मोहं प्राप्नोति, तीरं तटं जलाशयस्येति भावः याति तत्र प्रिया गतेति भ्रान्त्येति भावः एवम् उत्तरत्र। तीरात् तरुं याति, तरुतलात् पुनरेव वापीं सरसीं यातीति पूर्वेणान्वयः। वाप्यां सरसि न रज्यति न तुष्यति, मृणालखण्डं न च अत्ति न च खादति। खल्विति कविसमयप्रसिद्धि-सूचकम् ॥ ११७ ॥

तेषु चेतनो यथा--

इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः
स चायं दुष्टात्मा स्वसुरपकृतं येन मम तत् ।

इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चायं कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ॥ ११८ ॥

रस का विषय

इनमें से चेतन का उदाहरण—

यह है वह चञ्चलनयना जो त्रैलोक्य के सौन्दर्य का एकमात्र निधान है, यह है वह पापी जिसने मेरी बहन का उस प्रकार अपकार किया। इधर प्रचण्ड काम है और इधर है यह महती क्रोधाग्नि। वेष यह बनाया गया है। अब यह कार्य कैसे हो, यही सोचकर मन चकरा रहा है ॥ ११८ ॥

स्व० द०—यहाँ की यह उक्ति रावण की है।

इयमिति। सा यदर्थं मया सततं चिन्त्यते यदर्थञ्च मम सर्वनाशो जात इति भावः इयं पुरो वर्त्तमानेति हस्तनिर्देशः लोलाक्षी चपलनयना जानकीति शेषः। अयञ्च द्वारस्थितश्चेति भावः सः मम सर्वनाशक इति भावः दुष्टात्मा दुराचारः राम इति शेषः। येन रामेण मम स्वसुः भगिन्याः शूर्पणखाया इत्यर्थः तत् नासाकर्णच्छेदनरूपमिति भावः अपकृतं अनिष्टमाचरितम्। इतः अस्यां जानक्यां तीव्रः दुष्परिहर इति भावः कामः भोगासक्तिरिति यावत्। इतः अस्मिन् रामे अयं गुरु महान् क्रोधदहनः कोपाग्निः। अयञ्च वेषः जानकी-प्राणनाशार्थमुत्कटः परिच्छद इति यावत् कृतः धृतः। इदं जानकीहननं कथं केन प्रकारेण क्रियते इति शेषः इति हेतोः मनः भ्राम्यति दोलायमानं तिष्ठतीत्यर्थः रावणस्यो-क्तिरियम् ॥ ११८ ॥

तिर्य्यग् यथा--

आयाते दयिते मरुस्थलभुवां सञ्चिन्त्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषवाष्पतरलामासज्य दृष्टिं मयि।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान् स्वेनाञ्चलेनादरात्
उन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥ ११९ ॥

तिर्यक् का उदाहरण—

प्रियतम के परदेश से लौट आने पर मरुस्थल की भूमि को पार करने की कठिनाइयों को सोचकर गृहिणी ने संतोष से आये हुये अश्रुबिन्दुओं से चञ्चल निगाहों को मुझ पर लगा कर उसने ऊँट को पीलु, शमी तथा करीर के ग्रास दिये और बड़ी भावभक्ति के साथ अपने अञ्चल से ही उसकी गर्दन की रोमराजियों के अग्रभाग में लगी हुई धूलि को पोंछ दिया ॥ ११९ ॥

आयाते इति। दयिते कान्ते मयि आयाते आगते सति मरुदेशप्रवासादिति भावः गेहिन्या मम प्रिययेत्यर्थः मरुस्थलभुवां मरुभूमिप्रदेशानां दुर्लङ्घ्यतां लङ्घितुमशक्यतां सञ्चिन्त्य भावयित्वा परितोषेण सन्तोषेण वाष्पाणि अश्रूणि तैः तरलां चञ्चलां दृष्टिम् आसज्य आसक्तीकृत्येत्यर्थः मयीति शेषः पीलुशमीकरीरकवलान् तत्तद्वृक्षभक्ष्याणि द्रव्याणीत्यर्थः दत्त्वा मद्वाहकाय उष्ट्रायेति भावः आदरात् अतीव मे उपकृतमनेन दुर्लङ्घ्य-मरुदेशात् प्रियतमानयनेनेति यत्नातिशयात् स्वेन निजेन अञ्चलेन वसनप्रान्तेन करभस्य

उष्ट्रस्य केसराणां गात्रलोम्नां सटानां जटानाञ्च अग्रेषु लग्नं संसक्तं रजः धूलिः उन्मृष्टम् अपनीतम् ॥ ११९ ॥

अचेतनो यथा—

क्षिप्तं पुरो न जगृहे मुहुरिक्षुकाण्डं
नापेक्षते स्म निकटोपगतां करेणुम् ।
सस्मार वारणपतिः परिमीलिताक्षं
इच्छाविहारवनवासमहोत्सवान्तम् ॥ १२० ॥

ज्ञानं त्रिधा दृष्टं श्रुतम् अनुमानञ्च ।

अचेतन का उदाहरण—

सामने फेंके गये ईख के टुकड़े को उसने ग्रहण नहीं किया, पास में आई हुई हस्तिनी की ओर भी उसने नहीं देखा, वह गजराज तो बस अपनी आँखों को बन्द किये हुये वनवास कालीन स्वेच्छापूर्वक विहार के महान् उत्सव की समाप्ति के विषय में सोचता रहा ॥ १२० ॥

ज्ञान तीन प्रकार का है दृष्ट, श्रुत तथा अनुमान ।

स्व० द०—अन्तिम श्लोक में गजराज का निरूपण होने से ऐसी भ्रान्ति होती है कि यहाँ भी तिर्यक् का ही उदाहरण मानना चाहिये, किन्तु वस्तुतः प्रतिपाद्य हाथी नहीं उसकी स्वाधीनता की समाप्ति और तद्विषयक चिन्तन है जो बेजान है ।

क्षिप्तमिति । वारणपतिः गजराजः नवधृत इति भावः मुहुः पुनः पुनः पुरः अग्रतः क्षिप्तं दत्तम् इक्षुकाण्डम् इक्षुदण्डं न जगृहे न गृह्णाति स्म । निकटे उपगताम् उपस्थितां करेणुं हस्तिनीं न अपेक्षते स्म नावलोकयति स्म । केवलं परिमीलिते मुद्रिते अक्षिणी यत्र तद् यथा तथा इच्छया विहारो यत्र तथाभूतः यो वनवासः स एव महोत्सवः तस्य अन्तः रम्यता तं सस्मार स्मरति स्म । स्वाधीनतैव सर्वेषां प्रीतये इति भावः ॥ १२० ॥

तेषु दृष्टं यथा—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनम् ॥ १२१ ॥

ज्ञाननिरूपण

इनमें से दृष्ट का उदाहरण—

सेवार से संसक्त रहने पर भी कमल रमणीय होता है, मैला होने पर भी चिह्न चन्द्रमा की शोभा का विस्तार करता है । यह तन्वी शकुन्तला इस वल्कल वस्त्र के द्वारा भी अधिक मनोहर प्रतीत होती हैं क्योंकि मनोहर स्वरूप वालों के लिये क्या आभूषण सा नहीं हो जाता ? ॥१२१॥

सरसिजमिति । शैवलेन जलनील्या 'जलनीली तु शैवालं शैवलमि'त्यमरः । अनुविद्धम् उपहितमपि सरसिजं पद्मं रम्यं मनोहरम् । हिमांशोः चन्द्रस्य लक्ष्म कलङ्करेखा मलिनमपि श्यामलमपि लक्ष्मीं श्रियं तनोति विस्तारयति । तथा इयं पुरोदृश्यमाना तन्वी

कृशाङ्गी शकुन्तलेति शेषः वल्कलेनापि चीरपरिधानेनापि अधिकं यथा तथा मनोज्ञा मनोहारिणी। हि तथाहि मधुराणां रम्याणाम् आकृतीनाम् अवयवानां किमिव वस्त्विति शेषः मण्डनं न ? भूषणं न ? अपितु सर्वमेव वस्तु रम्यमङ्गं भूषयतीति भावः ॥ १२१ ॥

श्रुतं यथा--

किं रूपं स्फुटमेव सा शशिमुखी धत्ते तदत्यद्भुतं
मामुत्साहयितुं परापकरणे चित्त किमस्मत् स्वसुः।
इत्यन्तर्विकसद्वितर्कविधुरं चेतस्तथा वर्त्तते
स्वल्पोऽप्येष मम प्रयाति पुरतः पन्था यथा दीर्घताम् ॥१२२॥

श्रुत का उदाहरण—

वह चन्द्रमुखी सीता क्या सच ही उस प्रकार का अद्भुत रूप धारण करती है अथवा कहीं दूसरे का अपकार करने के लिये मेरी बहन (शूर्पणखा) का चित्त मुझे उत्साहित करने के लिये तो नहीं है ? इस प्रकार भीतर ही भीतर उठ रहे विभिन्न तर्कों के कारण विह्वल मेरा चित्त इस प्रकार का हो गया है कि मेरे लिये यह थोड़ा सा ही होने पर भी (पञ्चवटी का) मार्ग मेरे सामने बढ़ता ही चला जा रहा है ॥ १२२ ॥

किमिति। सा शशिमुखी चन्द्रवदना सीता तत् यथा शूर्पणखया अभिहितं यदिति भावः अत्यद्भुतम् अत्याश्चर्यं रूपं सौन्दर्य्यं स्फुटमेव सत्यमेव धत्ते धारयति किम् ? परस्य अपकरणे अनिष्टविधाने माम् उत्साहयितुम् उत्तेजयितुम् अस्मत्स्वसः अस्मद्भगिन्याः शूर्पणखायाः चित्तं मनः किम् ? इत्येवम् अन्तर्विकसता मनसि स्फुरता वितर्केण सन्देहेन विधुरं व्याकुलम् आन्दोलितमिति यावत् चेतः चित्तं मदीयमिति शेषः तथा वर्त्तते तद्रूपेण तिष्ठति यथा स्वल्पोऽपि अत्यल्पोऽपि एषः पन्थाः पञ्चवटीप्रमाणमार्ग इति यावत् मम पुरतः अग्रतः दीर्घतां विपुलतां प्रयाति गच्छति। रावणस्य शूर्पणखावाक्यात् सीतां हर्त्तुं प्रस्थितस्य अध्वनि वितर्कोक्तिरियम् ॥ १२२ ॥

अनुमानं यथा--

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहाऽस्य ?
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ १२३ ॥

अनुमान का उदाहरण—

यह शान्त तपोवन है, किन्तु भुजा फड़क रही है। यहाँ इस भुजा के फड़कने का फल (स्त्रीप्राप्ति) कहाँ ? अथवा होनी के द्वार तो सर्वत्र होते हैं ॥ १२३ ॥

स्व० द०—इन तीन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि भोज और किसी प्रकार का ज्ञान भेद नहीं मानते। प्रथम की सारी वस्तुयें स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष हैं। रूपसी शकुन्तला स्वयं भी दृष्टिगोचर। दूसरे में बहन की कही बातों को सुनने से वितर्क आदि का अभ्युदय है, अतः श्रुति पर आधारित है। यहाँ श्रुति का अर्थ न तो आप्तवचन है न वेद शास्त्र। केवल सुनी सुनाई बात ही इसका विषय है। यहाँ के अनुमान में भी विवेचना करने पर अनेक हेत्वाभास मिलेंगे। अतः वह भी निर्दुष्ट नहीं है। इससे सिद्ध है कि साहित्य का अनुमान आदि अर्थ में न्यूनाधिक समान होने पर भी दर्शनशास्त्र का ही नहीं है।

संस्कार निरूपण

संस्कारस्त्रिधा आदृतः पटुरभ्यस्तश्चेति

संस्कार तीन प्रकार का होता है—आदृत, पटु तथा अभ्यस्त।

शान्तमिति। इदम् आश्रमपदं तपोवनविभागः शान्तं शान्तिरसपूर्णं, नात्र कामादीनामवकाशोऽस्तीति भावः। बाहुश्च दक्षिणः इति शेषः स्फुरति स्पन्दते। पुंसां दक्षिणबाहुस्फुरणस्य स्त्रीलाभसूचकत्वमुक्तं निमित्तज्ञैरिति। अस्य बाहुस्फुरणस्य फलं स्त्रीलाभरूपमिति भावः इह अस्मिन् शान्ते आश्रमपदे कुतः? कथम्?। अथवा पक्षान्तरे सर्वत्र सर्वस्मिन्नेव स्थाने भवितव्यानाम् अवश्यम्भाविनां विषयाणां द्वाराणि पन्थानः भवन्ति। अविलम्बभाविनां विषयाणां यस्मिन् कस्मिन्नपि स्थाने सूचनं सम्भवतीति भावः॥ १२३॥

तत्र आश्रयगुणेनादरादुत्पन्न आदृतो यथा—

कन्यारत्नमयोनिजन्म भवतामास्ते वयञ्चार्थिनो
रत्नं यत् क्वचिदस्ति तत्परिणमत्यस्मासु शक्रादपि।
कन्यायाश्च परार्थतैव हि मता तस्याः प्रदानादहं
बन्धुर्वो भविता पुलस्त्यपुलहप्रष्ठाश्च सम्बन्धिनः॥ १२४॥

इनमें से आश्रय के गुण के कारण आदर से उत्पन्न संस्कार आदृत है। जैसे—(जनक से रावण कह रहा है कि—) आपके पास योनि से न उत्पन्न होने वाली रत्नभूता कन्या है और हम उसके याचक हैं। जो कोई भी रत्न कहीं है, वह इन्द्र की भी तुलना में परिणामतः हमारे ही पास आता है। (इसके अतिरिक्त भी आखिर) कन्या दूसरों को देने के लिये ही तो मानी गई है। उसको मुझे देने से मैं आपका मित्र बन जाऊँगा और पुलस्त्य तथा पुलह रूप अग्रज आपके सम्बन्धी हो जायेंगे॥ १२४॥

कन्येति। नास्ति योनितः जन्म यस्य तत् अयोनिजन्म कन्यारत्नं रत्नभूता कन्येत्यर्थः भवतां युष्माकम् आस्ते तिष्ठति। वयञ्च अर्थिनः तत् कन्यारत्नाकाङ्क्षिण इत्यर्थः। क्वचित् कुत्रापि स्थाने यत् रत्नम् अस्ति विद्यते, तत् रत्नं शक्रादपि इन्द्रमपेक्ष्यापि अस्मासु परिणमति अस्मद्भोग्याय भवति इन्द्रोऽपि न तस्याधिकारी अपिकारात् अन्येषां कथा दूरे तिष्ठत्विति गम्यते। कन्या गृहे एव रक्ष्यत न कस्मैचिदपि दीयते तत्कथं तवेदृशी प्रार्थनेत्यत्राह कन्याया इति। हि यतः कन्यायाः परार्थता परप्रतिपादनीयतेत्यर्थः एव मता निरूपिता धीरैरिति शेषः नतु स्वगृहरक्षणीयतेति एवकारार्थः। तस्याः कन्यायाः प्रदानात् अहं विश्वविजेता रावण इत्यात्मनिर्देशः वः युष्माकं बन्धुः सखा भविता भावी तृच् प्रत्ययः। पुलस्त्यपुलहप्रष्ठाः पुलस्त्यपुलहौ प्रष्ठौ अग्रगौ येषां ते ब्रह्मपुत्रा इत्यर्थः सम्बन्धिनः पौत्रस्य मम विवाहसम्बन्धात् बन्धवः भविष्यन्तीति निष्कर्षः। जनकं प्रति रावणस्योक्तिः॥ १२४॥

विषयगुणेन पटुप्रत्ययादुत्पन्नः पटुर्यथा—

उत्पत्तिर्देवयजनाद् ब्रह्मवादी नृपः पिता।
सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्त्तिरस्याः स्नेहं करोति मे॥ १२५॥

विषय के गुण के कारण पटु प्रत्यय से उत्पन्न पटु का उदाहरण—

इसका जन्म देवताओं के यज्ञ क्षेत्र से हुआ। इसके पिता ब्रह्मवादी राजा जनक हैं। अतः इसकी यह उज्ज्वल मूर्ति अत्यन्त प्रसन्नता के कारण मुझ में स्नेह उत्पन्न किये दे रही है॥ १२५॥

विषयगुणेनेति। विषयाणां कारणभूतानां वस्तूनां गुणेन प्रभावेण पटुप्रत्ययात उत्कृष्टविश्वासात् पटुः उज्ज्वलः श्रृङ्गाररस इति शेषः।

उत्पत्तिरिति। अस्याः कन्यायाः देवयजनात् देवानां यज्ञक्षेत्रात् उत्पत्तिः उद्भवः एतेन अतिविशुद्धता गम्यते। ब्रह्मवादी ब्रह्मतत्त्वज्ञः नृपः जनकः पिता पालक इति यावत् एतेन विद्यादिगुणवत्तातिशयी गम्यते। तथा सुप्रसन्ना सम्यक् प्रसादगुणसम्पन्ना उज्ज्वला रुचिरा च मूर्त्तिः अवयवः मे मम स्नेहं प्रणयं करोति जनयति॥ १२५॥

ज्ञानपौनःपुन्येनाभ्यासप्रत्ययादुत्पन्नोऽभ्यस्तः।

स यथा—

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्य्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।
साक्षात् कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यत्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति॥ १२६॥

अत्र यद्यपि विषयगुणात् पटुः आश्रयगुणाच्च आदृतोऽपि प्रत्ययः पटुमादृतं संस्कारं प्रसूयते तथापि अभ्यासात् पटीयानादृततमश्च जायमानोऽभ्यस्त इत्युच्यते॥ १२६॥

उद्दीपनविभाव के तत्त्व

ज्ञात वस्तु के बार-बार अभ्यास के विधान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अभ्यास है। उसका उदाहरण—

गृह के सर्वोच्च कक्ष में ऊँचे वातायन के पास बैठी हुई रति की भाँति सुन्दर मालती ने बार-बार साक्षात् नये कामदेव की भाँति निकटवर्ती नगर के मार्ग से घूमते हुये माधव को जो बार-बार देखा उससे उत्पन्न उग्र अभिलाषा के कारण चञ्चल-चञ्चल शरीर के अवयवों से अत्यन्त कृश होती जा रही है॥ १२६॥

यहाँ यद्यपि विषय के गुण से पटु तथा आश्रय के गुण से आदृत भी प्रत्यय पटु तथा आदृत संस्कार को उत्पन्न करता है, फिर भी अभ्यास अर्थात् बार-बार के कर्मविधान से बहुत अधिक पटु तथा सबसे अधिक आदृत उत्पन्न होकर 'अभ्यस्त' कहा जाता है।

स्व० द०—यहाँ भोज ने 'अभ्यास' का उक्त दोनों संस्कारों से भेद स्पष्ट किया। वस्तुतः अभ्यास भी पटु और आदृत के सदृश ही विषय तथा आश्रय के गुणों से निष्पन्न होता है, अतः उनसे पृथक् नहीं प्रतीत होता, तथापि दोनों में अन्तर यह है कि अनेक बार उक्त विधानों के होने से पटु तथा आदृत दोनों में विशेष निखार आ जाता है। यही अभ्यास है। अतः यह उक्त दोनों से भिन्न सिद्ध हो जाता है।

भूय इति। भवनस्य गृहस्य या वलभी शिरोगृहविशेषः तस्याः तुङ्गम् उन्नतं यद् वातायनं गवाक्षः तत्र तिष्ठतीति तथोक्ता मालती रतिः कामपत्नी साक्षात् मूर्त्तिमन्तं नवं

नूतनं हरकोपानलदहनात् परम् उत्पन्नमिति भावः सविधे समीपे गृहस्येति भावः या नगरीरथ्या नगरीमार्गः तया पर्य्यटन्तं गमनागमनं कुर्वन्तं माधवं भूयोभूयः पुनः पुनः दृष्ट्वा दृष्ट्वा सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः गाढोत्कण्ठया अतीव औत्सुक्येन लुलितलुलितैः अतितरां चलितैरित्यर्थः अङ्ककैः कोमलैः अङ्गैः यत् ताम्यति सन्तापमनुभवतीति ॥ १२६ ॥

उद्दीपनविभावेषु माल्यवस्त्रविभूषणादयो माल्यादयः ।

तेषु माल्यं यथा--

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागं आकृष्टहेमद्युति कर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ १२७ ॥

उद्दीपन विभावों (के प्रसंग) में कहे गये माल्यादि का अर्थ है माल्य, वस्त्र, आभूषण आदि।

इनमें से माल्य का उदाहरण—

अशोक के पुष्पों से पद्मराग को तिरस्कृत करने वाले, सोने की कान्ति खींच लेने वाले कनेर के फूल, तथा मोती की माला के स्थान पर सिन्धुवार के जो पुष्प थे, उन्हीं वसन्त के फूलों का अलंकार वह धारण कर रही थी ॥ १२७ ॥

अशोकेति । अशोकेन तत्कुसुमेनेत्यर्थः निर्भर्त्सितः तिरस्कृतः पद्मरागो यत्र तथोक्तम् आकृष्टा आहृता हेम्नः काञ्चनस्य द्युतिः येन तादृशं कर्णिकारं तदाख्यकुसुमं यस्मिन् तथाभूतं तथा मुक्ताकलापः मौक्तिकस्रक् अमुक्ताकलापः मुक्ताकलापः कृतः सिन्धुवारेण तदाख्यकुसुमेन यस्मिन् तथाविधं वसन्तपुष्पमेव आभरणम् अलङ्कारं वहन्ती धारयन्ती ॥ १२७ ॥

वस्त्रं यथा--

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
सुजातपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥ १२८ ॥

वस्त्र का उदाहरण—

दोनों स्तनों के कारण कुछ-कुछ झुकी हुई सी तथा तरुण सूर्य की कान्ति के सदृश चमकते हुये वस्त्रों को पहने हुई वह पार्वती निकले हुये फूलों के गुच्छों से कुछ-कुछ झुकी हुई चलने फिरने वाली लता के सदृश लग रही थी ॥ १२८ ॥

आवर्जितेति । स्तनाभ्यां पयोधराभ्यां किञ्चिदिव ईषदिव आवर्जिता आनमिता तरुणः नवोदित इत्यर्थः अथवा माध्याह्निकः अर्कः सूर्य्यः तस्य राग इव रागो लौहित्यं यस्य तादृशं वासः वसनं दधाना धारयन्ती अतएव सुजातैः सुष्ठु विकसितैरित्यर्थः सञ्जातेति पाठे सञ्जातैः समुत्पन्नैः पुष्पाणां स्तवकैः गुच्छैः अवनम्रा अवनता पल्लविनी नवकिसलयवती सञ्चारिणी चलन्ती लतेव वल्लीव ॥ १२८ ॥

विभूषणं यथा--

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननात् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥ १२९ ॥

अलंकार का उदाहरण—

(श्लोकार्थ के लिये द्रष्टव्य ३।७२)॥ १२९॥

कण्ठस्येति। तस्याः पार्वत्याः स्तनाभ्यां बन्धुरस्य नताननस्य 'बन्धुरन्तून्नतानतमि'त्यमरः। कण्ठस्य गलदेशस्य, निस्तलस्य वर्त्तुलस्येत्यर्थः मुक्ताकलापस्य मौक्तिकदाम्नश्च अन्योन्यशोभाजननात् परम्पराऽलङ्करणादित्यर्थः। भूष्यते अनेनेति भूषणम् अलङ्कारः भूष्यते अलङ्क्रियते इति भूष्यः अलङ्कार्य्यः तयोर्भावः साधारणः समान इत्यर्थः बभूव। तादृशः कण्ठः मुक्तादाम अलङ्कृतवान् तादृशं मुक्तादाम च कण्ठमलङ्कृतवानित्यनयोर्भूष्यभूषणत्वं सामान्यमासीदित्यर्थः॥ १२९॥

ऋतुवयोमदादयो ऋत्वादयः।

तेषु ऋतुर्यथा—

> इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं
> प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
> किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रैः
> उपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु॥ १३०॥

ऋतु, आयु, मद आदि ऋत्वादि कहे जाते हैं।

इनमें से ऋतु का उदाहरण—

कामदेव दुर्लभ (कन्या रूप) वस्तु की अभिलाषा से निवृत्त करने में अशक्य मेरे मन को पहले से ही पीड़ित कर रहा है, फिर दक्षिण पवन से गिराये जा रहे हैं पीले पत्ते जिनके उन उपवन के आम्रवृक्षों द्वारा अङ्कुरों को प्रकट करने पर क्या होगा?॥ १०॥

इदमिति। पञ्चबाणः कामः असुलभं दुर्लभं वस्तु तादृशं कन्यारत्नमिति भावः तस्य प्रार्थनायाः अभिलाषात् दुर्निवारं वारयितुमशक्यमित्यर्थः मे मम मनः प्रथममपि प्रागेवेत्यर्थः वसन्तोदयादिति भावः क्षिणोति पीडयति। मलयवातेन दक्षिणपवनेनेत्यर्थः उन्मूलितानि पातितानीत्यर्थः आपाण्डूनि पक्वानीत्यर्थः पत्राणि येषां तैः उपवनसहकारैः उद्यानाम्रतरुभिः दर्शितेषु प्रकटितेष्विति यावत् अङ्कुरेषु प्ररोहेषु किमुत? वसन्तोदयात् सहकारमञ्जरीषु विकसितासु कामस्य नितरामुद्दीपकत्वात् चित्तं मे भृशमुत्कलितमिति किं वक्तव्यमिति निष्कर्षः॥ १३०॥

वयो यथा—

> मा मूमुहत् खलु भवन्तमनन्यजन्मा
> मा ते मलीमसविकारघना मतिर्भूत्।
> इत्यादि नन्विह निरर्थकमेव यस्मात्
> कामश्च जृम्भितगुणो नवयौवनञ्च॥ १३१॥

आयु का उदाहरण—

'स्वयंभू काम आपको मोहित न करे, आपकी बुद्धि कालुष्य विकारों से आच्छन्न न हो' इत्यादि बातें यहाँ कहना व्यर्थ ही होगा, क्योंकि इस समय तो कामदेव अपनी धनुष की प्रत्यञ्चा की टङ्कार कर रहा है और अवस्था भी जवानी की हैं॥ १३१॥

मेति। अनन्यजन्मा आत्मभूः काम इत्यर्थः भवन्तं त्वां मा मूमुहत् खलु नैव मोहमा-

पादयत्वित्यर्थः, ते तव मतिः बुद्धिः मलीमसेन मलदूषितेन 'मलीमसन्तु मलिनं कचरं मलदूषितमि'त्यमरः। विकारेण प्रकृत्यन्यथाभावेनेत्यर्थः घना पूर्णेत्यर्थः मा भूत् न भवतु। ननु भोः इत्यादि उपदेशवचनमिति भावः। इह अस्मिन् माधवे समये वा निरर्थकं निष्फलमेव यस्मात् यतः कामः मदनः जृम्भितः संहितः गुणः मौर्वी स्वधनुषीति भावः येन तथाभूतश्च नवं नूतनं यौवनं तारुण्यञ्च माधवस्येति भावः। नवे यौवने हि कामस्य प्रथमवेगस्य असंवरणीयत्वात् नात्रमुपदेशावसर इति भावः॥ १३१॥

मदो यथा—

तत्क्षणं विपरिवर्त्तितह्रियोः नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः।
सा बभूव वशवर्त्तिनी तयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च॥१३२॥

मद का उदाहरण—

(अर्थहेतु द्रष्टव्य ४।१४३)॥ १३२॥

तत्क्षणमिति। सा सुवदना सुमुखी गौरी तत्क्षणं सङ्गमसमये इत्यर्थः विशेषेण परिवर्त्तिता क्षयं नीतेत्यर्थः ह्रीर्लज्जा याभ्यां तथाभूतयोः शयनं शय्यातलं नेष्यतोः प्रापयिष्यतोः इद्धः प्रदीप्तः रागः कामावेश इत्यर्थः याभ्यां तथाविधयोः तयोः शूलिनः हरस्य मदस्य मद्यरसस्य चेत्यर्थः उभयोः वशवर्त्तिनी वशंगता बभूव। सुरापानेन विलासिनो हरस्य तात्कालिकविलासवचनेन च गौरी लज्जात्यागेन कामवशवर्त्तिनी अभूदिति निष्कर्षः॥ १३२॥

चन्दनस्नानधूपादयश्चन्दनादयः।

तेषु चन्दनं यथा—

चन्दनं विषधराश्रयः शशी वारुणी च विषमोदरावुभौ।
तापयन्ति विरहे किमुच्यते मारयन्ति न यदेतदद्भुतम्॥ १३३॥

(वहाँ चर्चित) चन्दन, स्नान, धूप आदि ही चन्दनादि हैं।

इनमें चन्दन का उदाहरण—

चन्दन साँपों का आश्रय है, चन्द्रमा तथा मदिरा दोनों ऐसे हैं जिनका उदर अत्यन्त विषम है। ऐसी दशा में यह क्यों कहते हैं कि ये संताप देते हैं, अरे ये मार नहीं डालते हैं यही आश्चर्य की बात है॥ १३३॥

चन्दनमिति। विरहे चन्दनं मलयजरसः विषधराश्रयः मलयपवन इत्यर्थः। शशी चन्द्रः वारुणी मदिरा च तथा विषमं दारुणञ्च उदरं ययोः तौ उभौ शशिः वारुणी च एतानि द्रव्याणि तापयन्ति व्यथयन्ति इति किमुच्यते? किं कथ्यते? मारयन्तीति न यत्, एतदद्भुतमाश्चर्य्यम्॥ १३३॥

स्नानं यथा—

काअम्बलोअणाणं उदंसुअपअडोरुजहणाणं।
अवरुण्हमञ्जरीणं किदे कामो वहइ चावं॥ १३४॥

स्नान का उदाहरण—

खञ्जन के सदृश नयनों वाली, उड़ते हुये वस्त्रों के कारण खुल गये जाँघों वाली, एकत्र किये हुये फूलों वाली विलासिनियों के लिये कामदेव धनुष धारण करता है॥ १३४॥

कादम्बलोचनानामुदंशुकप्रकटजघनानाम् ।
अवरुणमञ्जरीणां कृते कामो वहति चापम् ॥

कादम्बेति । कामः मदनः कादम्बः खञ्जनाख्यः पक्षिविशेषः तद्वत् लोचने नेत्रे यासां तथोक्तानाम् उदंशुकेन उड्डीनवसनेन हेतुना प्रकटं दृश्यमित्यर्थः जघनं कटिपुरोभागः यासां तथाभूतानाम् अवरुणः स्वविलासार्थम् उच्चिताः मञ्जर्य्यः पुष्पाणामिति भावः याभिः तथाभूतानां विलासवतीनामिति भावः कृते निमित्तं चापं धनुः वहति धत्ते तादृशी-विलासिनीर्दृष्ट्वा तरुणाः कामवशंवदा भवन्तीति भावः ॥ १३४ ॥

स्व० द०—स्नान प्रकरण में यहाँ दिया गया श्लोक उपयुक्त नहीं लगता, क्योंकि इसमें सद्यः स्नाता का स्वरूप नहीं है । गाथासप्तशती (५।७३) तथा निर्णय सागर से निकली सरस्वतीकण्ठाभरण की प्रति में यह गाथा इस रूप में मिलती है उसकी छाया भी नीचे ही दी जा रही है—

आअम्बलोअणाणं ओल्लंसुअपाअडोरुजहणाणं ।
अवरण्हमज्जिरीणं कए ण कामो धणुं वहइ ॥
[आताम्रलोचनानामार्द्रांशुकप्रकटोरुघनानाम् ।
अपराह्णमज्जनशीलानां कृते न कामो धनुर्वहति ॥]

धूपो यथा—

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्य्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥१३५॥

धूप का उदाहरण

वसन्त बीत जाने से क्षीण पराक्रम वाले कामदेव ने स्नान से भीग जाने के कारण खोल दिये गये तथा उनको धूपित करने के बाद सायंकाल में मल्लिका पुष्पों को जिनमें लगा दिया गया है, कामिनियों के उन्हीं केशों में बल प्राप्त किया ॥ १३५ ॥

स्नानेति । वसन्तस्य ऋतोः अत्ययेन अवसानेन मन्दं क्षीणं वीर्य्यं तेजः यस्य तथाविधः कामः स्नानेन आर्द्राः अतएव मुक्ताः बन्धनात् स्खलिताः तेषु अनुधूपवासं धूपस्य वासः सौरभं धूपवासः धूपवासादनु अनुधूपवासं धूपवासनानन्तरमित्यर्थः विन्यस्ताः सायन्तन्यः सन्ध्याकालीनाः मल्लिका येषु तादृशेषु अङ्गनानां नारीणां केशेषु बलं सामर्थ्यं लेभे प्राप । ग्रीष्मे नारीणां तथाविधः केशपाशः कामोद्दीपक इति भावः ॥ १३५ ॥

चन्द्रोदयो घनध्वनिरुपकारस्मरणमित्याद्याश्चन्द्रोदयादयः ।।

तेषु चन्द्रोदयो यथा—

विलिम्पत्येतस्मिन्मलयरजसार्द्रेण महसा
दिशां चक्रश्चन्द्रे सुकृतमथ तस्या मृगदृशः ।
दृशोर्बाष्पः पाणौ वदनमसवः कण्ठकुहरे
हृदि त्वं ह्रीः पृष्ठे वचसि च गुणा एव भवतः ।। १३६ ।।

चन्द्रोदय, मेघगर्जन, उपकार का स्मरण आदि ही चन्द्रोदय आदि हैं।

इनमें से चन्द्रोदय का उदाहरण—

इस चन्द्रमा के चन्दन के लेप की भाँति शीतलकिरणों से दिङ्मंडल को व्याप्त करने पर इससे उस मृगनयनी के दोनों नेत्रों में आँसू आ गये, मुँह हाथों पर आ गया, प्राण कण्ठकूप में आ गये, हृदय में तुम आ गये, लज्जा पीठ पर हो गई और वाणी में आपके ही गुण आ गये ॥ १३६ ॥

चन्द्र इति। एतस्मिन् चन्द्रे मलयजरजसार्द्रेण चन्दनद्रवशीतलेन महसा तेजसा मयूखेनेत्यर्थः दिशां चक्रं दिङ्मण्डलं वक्त्रमिति पाठे दिङ्मुखं विलिम्पति व्याप्नुवति सति अथेदानीं तस्या मृगदृशः दृशोर्नेत्रयोः वाष्पः, सुकृतः सुष्ठु कृतः लिङ्गव्यत्ययेन अन्वयः। पाणौ करे वदनं मुखं सुष्ठु कृतम्। कण्ठकुहरे गलरन्ध्रे असवः प्राणाः सुकृता इति लिङ्ग-वचनव्यत्ययेन अन्वयः। हृदि मनसि त्वं सुकृतः लिङ्गव्यत्ययेन अन्वयः। ह्रीः लज्जा पृष्ठे सुकृता पश्चात् कृता इत्यर्थः लिङ्गव्यत्ययेन अन्वयः। निर्लज्जा जातेति भावः। वचसि वाक्ये भवतः तव गुणा एव सुकृताः सुष्ठु कृताश्च। प्रोषितं प्रति दूत्या उक्तिः ॥ १३६ ॥

घनध्वनिर्यथा—

> अज्ज मए तेण विणा अणुभूदसुहाइं अणिसं समरन्तीए।
> अहिणवमेहाणं रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥ १३७ ॥

मेघगर्जन का उदाहरण—

आज उसके न रहने पर जब मैं उसके साथ पहले अनुभव किये गये सुखों का स्मरण कर रही थी, तब उठे हुये नवीन मेघों का गर्जन मुझे वधकालीन नगाड़े की ध्वनि के सदृश सुनाई पड़ा ॥ १३७ ॥

> अद्य मया तेन विनाऽनुभूतसुखानि अनिशं स्मरन्त्या।
> अभिनवमेघानां रवो निशामितो वध्यपटह इव ॥

अद्येति। अद्य अस्मिन् दिने वर्षादिने इत्यर्थः तेन कान्तेनेति भावः विना तद्विरहेणेत्यर्थः अनिशं सततम् अनुभूतानि आस्वादितानि सुखानि स्मरन्त्या स्मृतिपथं नयन्त्येत्यर्थः अभिनवमेघानां नूतनजलधराणां रवः ध्वनिः अभिनवमोहनरव इति पाठान्तरं वध्यस्य पटह इव वाद्यविशेषरव इवेत्यर्थः निशामितः आकर्णितः ॥ १३८ ॥

उपकारस्मरणं यथा—

> तन्मे मनः क्षिपति यत् सरसप्रहारम्
> आलोक्य मामगणितस्खलदुत्तरीया।
> त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टि-
> राश्लिष्टवत्यमृतसंवलितैरिवाङ्गैः ॥ १३८ ॥

उपकारस्मरण का उदाहरण—

(प्रवास से लौटे हुये) मुझे देखकर अपने गिरते हुये दुपट्टे का बिना ख्याल किये भय से

चकित एकवर्षीय हरिण के सदृश चञ्चल नयनों वाली मेरी प्रेयसी ने जो सानन्द ताडनपूर्वक अपने सुधासिक्त से अङ्गों से मेरा आलिङ्गन किया था, वही अब मुझे कष्टदायक हो रहा है ॥१३८॥

स्व० द०—प्रियतम के द्वारा प्रियतमा को अथवा प्रियतमा के द्वारा प्रियतम को रति सुख में परस्पर सहयोग देना उपकार है।

अब तक विभिन्न प्रकार के उन उद्दीपनों का निरूपण किया गया है जिनका गणपाठ सा प्रथम पद का ही उल्लेख करके अनेक का ज्ञान पूर्व प्रसङ्गों में करा दिया गया है। अब आगे विभिन्न अनुभावों और संचारियों का भी सोदाहरण विवेचन होगा।

तदिति। मां प्रवासादागतमिति भावः आलोक्य दृष्ट्वा अगणितम् अलक्षितं स्खलत् उत्तरीयम् उत्तरासङ्गः यया तथाविधा त्रस्तः भयचकितः एकहायनः एकवर्षीयः यः कुरङ्गः हरिणः तस्येव विलोला चपला दृष्टिः यस्याः तथोक्ता सा मत्कान्तेति भावः सरसः सानन्द इति यावत् प्रहारस्ताडनं यत्र तद् यथा तथा अमृतसंवलितैरिव सुधासिक्तैरिव अङ्गैः अवयवैः यत् आश्लिष्टवती आलिङ्गितवती, तत् मे मम मनः क्षिपति व्यथयति। सखायं प्रति प्रोषितस्य उक्तिः ॥ १३८ ॥

अनुभावे स्मरतिर्यथा—

खणमेत्तंपि ण फिट्टइ अणुदिअहं दिण्णगरुअसन्तावा।
पच्छण्णपावसङ्के व्व सामला मज्झहिअआ हि ॥ १३९ ॥

अनुभाव

अनुभाव में स्मृति का उदाहरण—

अपने मित्र से कोई कह रहा है कि मुझ में ही अपना चित्त लगायी हुई, पाप की आशंका को मद में छिपायी हुई, मलिन पड़ गई, काम के द्वारा प्रतिदिन संतापित की गई भी वह एक क्षण के लिये भी अपने सन्ताप को प्रकट नहीं होने देती ॥ १३९ ॥

स्मरतिः स्मृतिरित्यर्थः निपातनात् साधुः।

क्षणमात्रमपि न स्फुटति अनुदिवसं दत्तगुरुसन्तापा।
प्रच्छन्नपापशङ्केव श्यामला अस्मद्धृदया हि ॥

खणेति। अस्मासु हृदयं यस्याः सा मदेकचित्तेति यावत् प्रच्छन्ना गूढा पापात् स्वकृतादिति भावः शङ्का यस्याः तादृशीव तथाभूता नारी वेत्यर्थः श्यामला मलिनीभूतेत्यर्थः तथा अनुदिवसं प्रत्यहं दत्तः कामेनेति भावः गुरुर्महान् सन्तापो यस्यै तथाभूता मद्विरहेण भृशं कामसन्तप्तेत्यर्थः तथापि क्षणमात्रमपि न स्फुटति न प्रकाशयति स्वसन्तापानिति भावः। सखायं प्रति कस्यचित् विरहिण उक्तिः ॥ १३९ ॥

वाञ्छतिर्यथा—

एअमेअ अकिदपुण्णा अप्पत्तमणोरहा विपज्जिस्सम्।
जणवादो वि हि जादो तेण समं हलिअउत्तेण ॥ १४० ॥

वाञ्छा का उदाहरण—

मैं ऐसी अभागिनी हूँ कि (रति रूप) मनोरथ की प्राप्ति भी नहीं हुयी और उस हलवाले

के लड़के के साथ सम्बन्ध होने की लोक में चर्चा भी फैल गई । इसीलिये मैं मर जाऊँगी ॥ १४० ॥

वाञ्छतिर्वाञ्छेत्यर्थः पूर्ववत् निपातनात् साधुः एवमुत्तरत्र द्रष्टव्यम् ।

एवमेवाकृतपुण्या अप्राप्तमनोरथा विपत्स्ये ।
जनवादोऽपि हि जातस्तेन समं हलिकपुत्रेण ॥

एवमिति । तेन हली लाङ्गलमस्यास्तीति हली ततः स्वार्थे कन्प्रत्ययः हलिकः कृषीवल इत्यर्थः तस्य पुत्रः तेन समं सह जनवादः लोकप्रवादः हि यतः जातः भूतः । एवमेव एवमवस्थायामेवेत्यर्थः तेन मत्प्रणयस्य अस्पष्टतायामेवेति भावः। न कृतं पुण्यं सुकृतं यया तथाभूता अतएव न प्राप्तः मनोरथः अभिलाषः तत्सङ्गमेन इति भावः यया तादृशी अहं विपत्स्ये प्राणान् त्यक्ष्यामि इत्यर्थः । कस्याश्चित् कृषकपुत्रं प्रति जातानुरागायाः निकृष्टरति-प्रकटनभिया अग्रत एव मरणाभिलाषोक्तिः ॥ १४० ॥

द्वेष्टिर्यथा--

गोत्तक्खलणं सुणिअ पिअदमे अज्ज यादि छणदिअहे ।
वज्झमहिसस्स मालेव्व मंडणं से पडिहाइ ॥ १४१ ॥

द्वेष का उदाहरण—

नाम का व्यत्यय सुनकर आज खुशी के दिन भी प्रियतम के चल देने पर नायिका के आभूषण मारणीय भैंसे के (गले में बँधी) माला सी प्रतीत हो रहे हैं ॥ १४१ ॥

गोत्रस्खलनं श्रुत्वा प्रियतमे अद्य याति उत्सवदिवसे ।
वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनमस्य प्रतिभाति ॥

गोत्रेति । गोत्रस्य नाम्नः स्खलनं व्यत्ययमित्यर्थः । 'गोत्रं नाम्न्यचले कुले' इत्यमरः । पतिमागतं दृष्ट्वा उपपतेर्नाम्ना सम्बोधिते इति भावः प्रियतमे पत्यौ अद्य अस्मिन् उत्सव-दिवसे वसन्तदिने इति भावः याति गच्छति कोपादिति भावः सति अस्याः जारगामिन्याः कामिन्या इति भावः भूषणम् अङ्गरागादिरलङ्कारश्च वध्यमहिषस्य मालेव प्रतिभाति प्रतिभासते । स्वस्य जारसङ्गतिप्रकटनात् क्रुद्धेन पत्या अस्या अत्याहितं करणीयमिति भावः ॥ १४१ ॥

प्रयतते यथा--

अनुगच्छन्[1] मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः ।
स्वस्थानादचलन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः ॥ १४२ ॥

प्रयत्न करने का उदाहरण—

मुनिपुत्री शकुन्तला का पीछा करते हुये मैं एकाएक विनय के द्वारा आगे बढ़ने से रोक दिया गया । इस प्रकार अपने स्थान से बिना गये भी मैं मानों जाकर लौट आया ॥ १४२ ॥

अनुगच्छन्निति । मुनितनयां शकुन्तलाम् अनुगच्छन् अनुयातुमुद्यन्नित्यर्थः सहसा

---

१. अनुयास्यन्नित्यपि पाठो दृश्यते ।

उपस्थितेनेति भावः। विनयेन शिष्टाचारेण वारितः निवर्त्तितः प्रसरः अनुगमनरूप इति यावत् यस्य तथाभूतः अतएव स्वस्थानात् निजासनस्थानात् अचलन्नपि अगच्छन्नपि गत्वेव पुनः प्रतिनिवृत्तः प्रत्यागतः अस्मीति शेषः ॥ १४२ ॥

अवैतिर्यथा--

चन्दसरिसं मुहं से सरिसो अमिअस्स मुहरसो तिस्सा।
सकचग्गहरहसुज्जलचुम्बणं कस्स सरिसं मे ।। १४३ ।।

समझने का उदाहरण—

(अर्थ द्रष्टव्य ४१२)

चन्द्रसदृशं मुखमस्याः सदृशोऽमृतस्य मुखरसस्तस्याः।
सकचग्रहरभसोज्ज्वलचुम्बनं कस्याः सदृशं स्यादिति ॥ १४३ ॥

चन्द्रेति। अस्याः कान्तायाः मुखं चन्द्रस्य सदृशं तुल्यम्। तस्याः अस्या इत्यर्थः मुखस्य रसः अमृतस्य सदृशः तुल्यः। सकचग्रहं केशग्रहणपुरःसरं रभसेन वेगेन उज्ज्वलम् उत्कटमिति भावः चुम्बनं कस्याः नायिकायाः सदृशं तुल्यं स्यात्? न कस्या अपीत्यर्थः। अनन्यसदृशस्तस्याः प्रणय इति भावः ॥ १४३ ॥

मन्यते यथा--

परिवट्ट दिआणिसं सहे! मंडलिअकुसुमाऊहं व्व अणंगं।
विरहम्मि मण्णइ हरीणहे अणत्थे पड़िउत्थिअं मिअंकं ।।१४४।।

मानने का उदाहरण—

(एक दूती किसी प्रोपित से कह रही है कि) हे मित्र, तुम्हारी विरह में उसको कामदेव दिन-रात अपनी धनुष को मण्डलाकार किये हुये अर्थात् प्रत्यञ्चा चढ़ाकर प्रहार के लिये उसे खींचे हुये प्रतीत होता है, और चन्द्रमा ऐसा लगता है मानों अनर्थकारी सिंह के तीव्र नाखूनों के पड़ने पर पुनः (मृगचिह्न रहित होकर) बाहर निकल आया हो (तथा उसे पूर्ण सन्ताप दे रहा है) ।। १४४ ।।

परिवृत्तं दिवानिशं सखे! मण्डलितकुसुमायुधमिवानङ्गम्।
विरहे मन्यते हरिनखे अनर्थे पतितोत्थितं मृगाङ्कम् ॥

परिवृत्तमिति। हे सखे! विरहे तवेति शेषः अनङ्गं कामं दिवानिशम् अहोरात्रं मण्डलितं चक्रीकृतं कुसुमायुधं कुसुमकार्मुकं येन तथाभूतमिव परिवृत्तं सञ्जातं तथा हरिनखे सिंहनखरे अनर्थे आपदि मृगस्वीकारार्थमुद्यतस्य सिंहस्य दारुणे नखरे इत्यर्थः। पतितः पश्चादुत्थितः कलङ्करूपमृगे सिहेन कवलिते इति भावः तं अकलङ्कम् उदितं चन्द्रमिति यावत् मन्यते अवधारयति। कामस्य रात्रावेव मण्डलितकार्मुकत्वं तां प्रति तु अहोरात्रं चन्द्रस्तु मृगाङ्कत्वेन सकलङ्कः उदेति तां प्रति तु निष्कलङ्कतया अतीवोद्दीपक इति त्वद्विरहे सा भृशमुत्ताम्यतीति निष्कर्षः। प्रोषितं प्रति दूत्या उक्तिरियम् ॥ १४४ ॥

वक्तियथा—

आलाओ मा दिज्जउ लोअविरुद्धो त्ति णाम काऊण ।
सम्मुहापडिए कोवेरिएवि दिट्ठिं ण पाडेइ ॥ १४५ ॥

बात करने का उदाहरण—

"(सबके समक्ष अपने पति से) बातचीत नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह लोकमर्यादा के विपरीत है" यह सोचकर (अपराध करके आने से) क्रोध के पात्र प्रिय के आने पर भी वह उस पर अपनी निगाह तक नहीं डालती ॥ १४५ ॥

आलापो मा दीयतां लोकविरुद्ध इति नाम कृत्वा ।
सन्मुखापतिते कोपार्हेऽपि दृष्टिं न पातयति ॥

आलापो इति । लोकविरुद्धः सदाचारगर्हित इत्यर्थः आलापः स्वामिना सह प्रकाश-संलाप इति यावत् इति नाम कृत्वा इति प्रसिद्धिमवलम्ब्येत्यर्थः। कोपार्हेऽपि-दण्डार्हेऽपीति यावत् सन्मुखापतिते सन्मुखमागते स्वामिनीति भावः दृष्टिं न पातयति न ददाति ॥१४५॥

चेष्टते यथा—

अज्ज मए गंतव्वं घणांधआरम्मि तस्स सुहअस्स ।
अज्जा णिमीलिअच्छी पदपडिवाडिं घरे कुणइ ॥ १४६ ॥

चेष्टा करने का उदाहरण—

'निविड' अन्धकार होने पर भी आज मुझे अपने प्रिय के पास अभिसार करना ही है।' यह सोचकर नायिका अपनी आँखें मूँदकर पैर रखने का अभ्यास घर में ही कर रही है ॥१४६॥

अद्य मया गन्तव्यं घनान्धकारेऽपि तस्य सुभगस्य ।
चार्य्या निमीलिताक्षी पदपरिपाटीं गृहे करोतु ॥

अद्येति । अद्य घनान्धकारे निविड़ान्धकारेऽपि तस्य सुभगस्य सौभाग्यवतः कान्तस्य स मदर्थं न प्रयास्यति अहस्तु तस्य कृते एतादृशं प्रयासं करोमीति तस्य सुभगत्वमिति भावः । तत्समीपे इत्यर्थः मया गन्तव्यम् यातव्यम् । श्वश्रूरित्यर्थः निमीलिताक्षी निद्रया मुद्रितनयना सती गृहे पदानां पदविक्षेपाणां मदीयानामिति भावः परिपाटीम् आनुपूर्विक-गणनामिति यावत् करोतु । गृहस्थिता निद्रावशवर्त्तिनी वृद्धा श्वश्रूः मम वल्लभार्थं गमना-गमनेषु पदविक्षेपान् गणयतु इति निष्कर्षः ॥ १४६ ॥

स्व० द०—इस श्लोक का उपर्युक्त अर्थ ही संगत लगता है । पण्डित जीवानन्द विद्यासागर जी का सम्मत अर्थ कि 'गृहस्थिता निद्रावशवर्त्तिनी वृद्धा श्वश्रूः मम वल्लभार्थं गमनागमनेषु पदविक्षेपान् गणयतु इति निष्कर्षः' अपेक्षाकृत अवर लगता है ।

अभी तक अनुभावों का निरूपण हो चुका । सारे भाव नाम से ही स्पष्ट हो जाते हैं, अतः अलग से उदाहरण के साथ लक्षणों की संगति आदि नहीं दिखलाई पड़ी ।

सञ्चारिषु स्वेदरोमाञ्चवेपथवो यथा—

दिट्ठे जं पुलइज्जसि रहघरं पिअम्मि समासण्णे ।
तुह संभासणप्फस्सणादिकारिणि किंत्ति णिज्जिहसि ॥ १४७ ॥

संचारी में, स्वेद, रोमाञ्च तथा कम्प का उदाहरण—

जिसके केवल दिखाई पड़ जाने से तू इस प्रकार रोमाञ्चित हो रही है, उसी प्रियतम के एकान्तगृह में आकर बातचीत करने, स्पर्श आदि करने पर इतना अधिक लजाती क्यों है ?।

दृष्टे यत्पुलकयसि रहोगृहं प्रिये समासन्ने।
तव सम्भाषणस्पर्शनादिकारिणि किमिति निर्जिह्नेपि ॥

दृष्टे इति। यत् यतः दृष्टे अवलोकिते प्रिये पुलकयसि रोमाञ्चिता भवसीत्यर्थः ततः रहोगृहं विजनगृहं समासन्ने समापतिते प्रिये तव सम्भाषणस्पर्शनादिकारिणि सति किमिति कथं निर्जिह्नेपि लज्जसे ? इत्यर्थः ॥ १४७ ॥

अश्रु यथा--

णअणब्भंतरघोलंतवाहभरमंथराए दिट्ठीए।
पुणरुत्तपेच्छणीए बालअ ! किं जं ण भणिओसि ॥ १४८ ॥

अश्रु का उदाहरण—

अरे निरे बालक ! (अबोध) जिसके भीतर आँसुओं ने आकर मन्दता ला दी है उस बार-बार दर्शनीय मनोहर दृष्टि के द्वारा कौन सी ऐसी बात शेष रह गई जो कह नहीं दी गई। अथवा उक्त दृष्टि से भी यदि तुम सब कुछ नही जान पाये तो क्या कहा जाये ॥ १४८ ॥

नयनाभ्यन्तरघूर्णद्वाष्पभरमन्थरया दृष्टया।
पुनरुक्तप्रेक्षणीयया बालक ! किं यन्न भणितोऽसि ॥

नयनेति। हे बालक ! निर्बोध इति भावः। नयनयोः अभ्यन्तरे घूर्णता सञ्चरता वाष्पभरेण अश्रुचयेन मन्थरा जडा आकुलेत्यर्थः तथा पुनरुक्तप्रेक्षणीयया अतिशयेन दर्शनीययेत्यर्थः मनोहारिण्येति भावः दृष्ट्या अवलोकनेन यत् न भणितः न स्वाभिप्रायमावेदितः असि तत् किम् ? तादृशनयनावलोकनेनापि तदभिप्रायस्त्वया न विदितः ? ततः बालकत्वं न गतं तवेति भावः ॥ १४८ ॥

हर्षो यथा--

सव्वस्सिं वि णट्ठे तहविहु हिअअस्स णिब्बुदिज्जेव।
जं तेण णअरडाहे हत्थाहत्थि कुंडो गहीओ ॥ १४९ ॥

हर्ष का उदाहरण—

कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि नगर में आग लग जाने पर सब कुछ नष्ट हो जाने पर भी हृदय में परम प्रसन्नता ही रही, क्योंकि उस प्रिय ने (आग बुझाने के लिये जलपूर्ण) कुम्भ मुझसे हाथोहाथ ग्रहण किये ॥ १४९ ॥

(हिन्दी में भी इसी भाव का एक अच्छा बरवे छन्द है—

आगि लागि घर जरिगा, भल सुख कीन्ह।
पिउ के हाथ घयलवा, भरि भरि दीन्ह ॥)

सर्वस्मिन्नपि नष्टे तथापि खलु हृदयस्य निर्वृतिरेव।
यत्तेन नगरदाहे हस्ताहस्ति कुण्डो गृहीतः॥

सर्वस्मिन्निति। तथा सर्वस्मिन् अपि नष्टे नाशं गतेऽपि हृदयस्य चित्तस्य तवेति शेषः निर्वृतिरेव शान्तिरेव। यत् यतः तेन जनेनेति शेषः नगरदाहे नगरभस्मीकरणे कुण्डः होमीयाग्निस्थालीविशेषः हस्ताहस्ति गृहीतः। अथवा कुण्डः मानविशेष इत्यर्थः। अग्निहोत्रिणः अग्निकुण्ड एव सारवस्तु, सर्वनाशेऽपि तद्ग्रहणे तस्य निर्वृतिः॥ १४९॥

अमर्षो यथा--

कुदो संपडइ मं पिअसहि! पिअसंगमो पदोसेवि।
जं जअइ गहीदकरणिअरशिरी चंदचंडालो॥ १५०॥

अमर्ष का उदाहरण—

हे प्रिय सखि, संध्याकाल में भी प्रिय का समागम कहाँ होता है? यह चण्डाल चन्द्रमा उस समय अपनी किरण समूह के साथ अत्यन्त चमकने लगता है॥ १५०॥

कुतः सम्पतति मां प्रियसखि! प्रियसङ्गमः प्रदोपेऽपि।
यज्जयति गृहीतकरनिकरश्रीश्चन्द्रचण्डालः॥

कुत इति। हे प्रियसखि! प्रदोपेऽपि रजनीमुखेऽपि रजन्यामपि वा प्रियसङ्गमः कुतः कस्मात् मां सम्पतति? सम्प्राप्नोति? न कथमपि मे प्रियसङ्गमः स्यादित्यर्थः। यत् यतः गृहीता करनिकराणां किरणनिचयानां श्रीः शोभा येन तादृशः सम्पूर्णमण्डल इति भावः चन्द्र एव चण्डालः पापपुरुष इति यावत् जयति प्रखरतां गच्छतीति भावः मत्प्रियसङ्गमे समापतिते अयं शीतकिरणः सन् माम् न आह्लादयतीति तस्मात् नाद्य मे प्रियसङ्गम इति भावः॥ १५०॥

लीलादिषु प्रियजनचेष्टानुकृतिर्यथा,

जंजंकरेसि जं जं जप्पसि जं जं णिअच्छेसि।
तं तमणु सिक्खदाए दीहो दिहओ ण संपडइ॥ १५१॥

लीला आदि में अपने प्रिय व्यक्ति की चेष्टाओं के अनुकरण का उदाहरण—

(एक नायिका अपनी सखी से कहती है कि-) तुम जो-जो करती हो, जो-जो कहती हो, जो-जो निर्देश देती हो यह सीखकर (रात में प्रियतम के साथ करना चाहती हूँ,) किन्तु यह लम्बा दिन व्यतीत ही नहीं होता॥ १५१॥

अथवा हे प्रिय, तुम जो-जो करते हो, जो-जो कहते हो, तथा जैसा निर्देश देते हो उसका अनुसरण करने पर दिन दूभर नहीं हो पाता अर्थात् तुम्हारा अनुकरण करते-करते दिन बीत जाता है।

यद्यत्करोषि यद्यज्जल्पसि यद्यन्नियच्छसि।
तत्तदनुशिक्षिताया दीर्घो दिवसो न सम्पतति॥

यद्यदिति। यत् यत् करोषि यत् यत् जल्पसि आलपसि यत यत् नियच्छसि नियमं करोषि, उपदिशसीत्यर्थः तत् अनुशिक्षिताया उपदिष्टायाः ममेति दीर्घः दिवसः न सम्पतति

नातिक्रामतीत्यर्थः, दिवसापगमे कान्तं प्रति तत्तद् व्यवहरिष्यामि, किन्तु दिवसो नापगच्छतीति भृशमाकुलितायाः नायिकायाः सखीं प्रत्युक्तिरियम् ॥ १५१ ॥

नेत्रभ्रूवक्त्रकर्मणां विशेषेण लसनं विलासो यथा,

सभ्रूविलासमथ सोऽयमितीरयित्वा
सप्रत्यभिज्ञमिव मामवलोक्य तस्याः ।
अन्योन्यभावचतुरेण सखीजनेन
मुक्तास्तदा स्मितसुधामधुराः कटाक्षाः ॥ १५२ ॥

नेत्र, भौंह, तथा मुख की क्रियाओं का विशेष रूप से सुशोभित होना विलास है, जैसे—

भौहों को मटका कर 'यही वह है' इस प्रकार कहती हुई, और जाने पहचाने की भाँति मुझे देखती हुई उस मालती की एक दूसरे के भावों को जानने वाली सखियों के द्वारा उस समय मुसकान रूपी अमृत से युक्त होने के कारण मधुर कटाक्ष मुझ पर चलाये गये ॥ १५२ ॥

तत्रेति । लसनं क्रियाविशेषः ।

सभ्रूविलासमिति । अथान्तरं तस्याः मालत्याः अन्योऽन्यभावे परस्परविलासे चतुरः विचक्षणः तेन सखीजनेन सङ्गिनीवर्गेण सभ्रूविलासं भ्रूविलाससहितं यथा तथा सोऽयं युवेति शेषः इति ईरयित्वा कथयित्वा प्रत्यभिज्ञा परिचयविशेषः तया सह वर्त्तमानं तदिव सप्रत्यभिज्ञमिव माम् अवलोक्य दृष्ट्वा तदा तस्मिन् काले स्मितं मृदु हसितमेव सुधा अमृतं तथा मधुराः मनोहराः कटाक्षाः अपाङ्गदर्शनविशेषाः मुक्ताः मयि निक्षिप्ताः इत्यर्थः ॥ १५२ ॥

विभूषणादीनामनादरविन्यासो विच्छित्तिः, यथा—

अङ्गानि चन्दनरजः परिधूसराणि
ताम्बूलरागसुभगोऽधरपल्लवश्च ।
अच्छाञ्जने च नयने वसनं तनीयः
कान्तासु भूषणमिदं विभवश्च शेषः ॥ १५३ ॥

अलङ्कार आदि का अनादर के साथ विन्यास होना विच्छित्ति है, जैसे—

अङ्ग चन्दन के कणों से पूर्णतः धूसरित हों, पल्लव के सदृश अधर ताम्बूल की लाली से सुन्दर हों, दोनों नेत्र निर्मल अञ्जन से युक्त हों, वस्त्र जरा झीने हों, यही तो सुन्दरियों के आभूषण हैं, शेष तो केवल वैभव के प्रदर्शन हैं ॥ १५३ ॥

अङ्गानीति । अङ्गानि अवयवाः चन्दनरजसा परिधूसराणि सर्वतो धूसरवर्णानि । अधरः पल्लव इव अधरपल्लवः ताम्बूलस्य रागेण लौहित्येन सुभगः रम्य इत्यर्थः । नयने नेत्रे अच्छं निर्मलम् अञ्जनं ययोः तादृशे । वसनं परिधानवस्त्रं तनीयः अतीव सूक्ष्मम् । कान्तासु नारीषु इदम् भूषणम् उक्तप्रकारोऽलङ्कारः विभवस्य विभुतायाः शेषः चरमोत्कर्षः इति भावः ॥ १५३ ॥

विभूषणादीनामस्थानविन्यासो विभ्रमः यथा--

चकार काचित् सितचन्दनाङ्के
काञ्चीकलापं स्तनभारपृष्ठे ।
प्रियं प्रति प्रेषितचित्तवृत्तिः
नितम्बविम्बे च बभार हारम् ।। १५४ ।।

अलङ्कारों का अनुचित स्थानों पर पहनना विभ्रम है, जैसे—

अपने प्रियतम में ही मन लगाये हुई किसी सुन्दरी ने श्वेतचन्दन से लिप्त बृहद् स्तनों पर मेखला को पहन लिया और नितम्बफलकों पर हार को धारण कर लिया ॥ १५४ ॥

चकारेति। प्रियं कान्तं प्रति प्रेषिता नियोजिता चित्तवृत्तिर्मनोवृत्तिर्यया तथाभूता प्रियं मनसा स्मरन्तीति यावत् काचित् कामिनी सितचन्दनाङ्के श्वेतचन्दनलेपिते इति यावत् स्तनयोरुपरीत्यर्थः काञ्चीकलापो मेखलादाम इत्यर्थः चकार । नितम्बबिम्बे नितम्बमण्डले हारं बभार च धारयामास च । प्रियचिन्तायामुन्मनस्कतया अलङ्काराणां यथास्थानभ्रम इति भावः ॥ १५४ ॥

स्मितरुदितहसितादीनां हर्षात् एकीकरणं किलकिञ्चितं यथा--

पाणिपल्लवविधूननमन्तःसीत्कृतानि घनरोमविभेदाः ।
योषितां रहसि गद्गदवाचामस्त्रतामुपययुर्मदनस्य ।। १५५ ।।

मुसकान, रोदन, हँसना आदि का प्रसन्नता के कारण एक हो जाना किलकिञ्चित है, जैसे—
अवरुद्ध कण्ठ वाली रमणियों का पल्लव सदृश हाथों को झटकारना, भीतर ही भीतर सी-सी करना तथा सघन रूप से रोमाञ्चित हो जाना एकान्त में कामदेव के हथियार बन गये ॥ १५६ ॥

पाणीति। योषितां नारीणां रहसि विजने गद्गदा अलभ्यगुच्चारिता वाक् यासां तथाभूतानां सतीना पाणिः गुणः पल्लव इव तस्य विधूननं कम्पनम्, अन्तःसीत्कृतानि सीत्कारान् घनानां रोम्णां विभेदाः लोमाञ्चा इत्यर्थः मदनस्य कामस्य अस्त्रताम् उपययुः प्रापुः कामोद्दीपका जाता इति भावः ॥ १५५ ॥

इष्टजनकथायां तद्भावभावनोत्थितविकारो मोट्टायितं यथा--

तव मा कथासु परिघट्टयति श्रवणं यदङ्गुलिमुखेन मुहुः ।
घनतां ध्रुवं नयति तेन भवद्गुणपूगपूरितमतृप्ततया ।।१५६।।

अपने प्रियजन की कथा में उसके भावों की भावना से उत्पन्न विकार मोट्टायित है, जैसे—

कोई दूती नायक से कहती है कि जब तुम्हारी वार्ता चलती है तब तुम्हारी प्रियतमा जो बार-बार अपने कान में अँगुली के अग्रभाग को डालकर खुजलाती है उससे ऐसा लगता है, मानों आपके गुणों की अत्यन्त अतृप्त रहने के कारण उन्हें उनमें ठूँस-ठूँस कर भर रही है ॥ १५६ ॥

तवेति। सा तव कान्तेरयर्थः तव कथासु वार्त्तासु अङ्गुलिमुखेन अङ्गुल्यग्रेण यत् श्रवणं कर्णकुहरं परिघट्टयति कण्डूयते इत्यर्थः, ध्रुवमुत्प्रेक्षे तेन परिघट्टनेन भवतो गुणानां पूगैः समूहैः पूरितं श्रवणम् अतृप्ततया पुनः पुनराकर्णनोत्सुकतया घनतां सान्द्रतां नयति प्रापयति। यथा कश्चित् कस्यचित् द्रव्यपात्रस्य अधिकपूरणार्थं लगुडादिभिः सुदृढं पूरयति तद्वत् कण्डूयनच्छलेन अङ्गुलिमुखेन तव गुणरूपं वस्तु श्रवणेन्द्रिये अधिकं यथा तथा पूरयतीति भावः॥ १५६॥

केशस्तनाधरादिग्रहणाद् दुःखेऽपि सुखबुद्धिचेष्टा कुट्टमितं, यथा——

ह्रीभरादवनतं परिरम्भे रागवानवटुजेष्ववकृष्य।
अर्पितोष्ठदलमाननपद्मं योषितो मुकुलिताक्षमधासीत्॥१५७॥

केश, स्तन, अधर आदि पकड़ने पर कष्ट होने पर भी सुखात्मक अनुभव का प्रयास करना कुट्टमित है, जैसे—

प्रेमासक्त नायक ने आलिङ्गन करने पर प्रेयसी के मुखकमल को लज्जा के कारण झुका हुआ देखा। उसने उसके कण्ठ के पीछे पड़े हुये केशों को खींचकर कुछ-कुछ बन्द किये हुये नयनों से संयुक्त नायिका के मुख-कमल का अपना अधर रखकर चुम्बन किया॥ १५७॥

ह्रीति। नायकः रागवान् प्रेमातिशयवान् सन् परिरम्भे आलिङ्गने ह्रीभरात् लज्जातिशयात् अवनतं मुखं दृष्ट्वेति शेषः। योषितः कान्तायाः अवटुजेषु ग्रीवापश्चाद्भागवर्त्तिषु केशेष्विति भावः अवकृष्य आकृष्य अर्पितः दत्तः ओष्ठदलः अधरपत्रं यस्मिन् तत् तथा मुकुलिते निमीलिते अक्षिणी नेत्रे यस्मिन् तथाभूतम् आननपद्मं मुखपङ्कजम् अधासीत् पपौ चुचुम्बेत्यर्थः। धेट्पाने इत्यस्य लुङिरूपम्॥ १५७॥

अभीष्टप्राप्तौ अभिमानगर्वसम्भावनाऽनादरकृतो विकारो विव्वोको यथा——

निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्त्तुरवधीरणापरा।
शैलराजतनया समीपगाम् आललाप विजयामहेतुकम्॥ १५८॥

अपनी मनचाही वस्तु के मिल जाने पर अभिमान, गर्व आदि की संभावना से अनादर के साथ होनेवाला विकार विव्वोक है। जैसे—

उसके पश्चात् उमा ने अपने होठों को टेढ़ा करके अपने पति शिव की बातों पर ध्यान नहीं दिया। वह तो अपने ही निकटवर्तिनी विजया से अप्रासंगिक बातें करने लगी॥ १५८॥

निर्विभुज्येति। ततः तदनन्तरं शैलराजतनया गौरी दशनच्छदम् अधरं निर्विभुज्य निर्भुग्नं कृत्वा कुटिलीकृत्येति यावत् भर्त्तुः हरस्य वचसि वाक्ये अवधीरणापरा अवज्ञां कुर्वती भर्त्तृवचनमशृण्वतीति यावत् सती समीपगाम् अन्तिकवर्त्तिनीं विजयां तदाख्यां सखीम् अहेतुकं हेतुव्यतिरिक्तं यथा तथा-हेतुं विनेत्यर्थः आललाप आलपितवतीत्यर्थः॥१५८॥

सुकुमारतया करचरणाङ्गन्यासो ललितं यथा——

गुरुतरकलनूपुरानुरावं सुललितनर्त्तितवामपादपद्मा।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम॥ १५९॥

अत्यन्त कोमलता के साथ हाथ, पाँव तथा अंगों को रखना ललित है, जैसे—

कोई दूसरी नायिका बड़े-बड़े घुँघुरुओं से कर्णप्रिय ध्वनि निकालती हुयी, अत्यन्त सुन्दरता के साथ अपने बायें चरणकमल को नचाती हुई, कुछ-कुछ चञ्चल चरणों को रखती हुई कामाकुलता के कारण धीरे-धीरे चल पड़ी ॥ १५९ ॥

गुर्विति। अथानन्तरं काचित् गुरुतरः विपुलतर इत्यर्थः कलः मधुरास्फुटः नूपुरस्य चरणालङ्कारभेदस्य अनुरावः पश्चाद्रवः यत्र तद् यथा तथा सुललितम् अतिसुन्दरं यथा तथा नर्त्तितं वामं सव्यं पादपद्मं चरणकमलं यथा तथोक्ता तथा इतरद् अन्यद् दक्षिण-मित्यर्थः पदं चरणम् अनतिलोलं नातिचपलं यथा तथा दधाना धारयन्ती सती मन्मथेन कामेन मन्थरं मन्दं यथा तथा जगाम ययौ ॥ १५९ ॥

वक्तव्यसमयेऽपि वचसा अनभिभाष्य क्रियानुष्ठानं विहृतं यथा—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥१६०॥

कहने के उपयुक्त समय पर भी वाणी से कुछ न कहकर केवल कुछ क्रिया करने लगना 'विहृत' है—जैसे—

"इस चरण से तुम अपने पति शङ्कर के मस्तक की चन्द्रलेखा का स्पर्श करो" इस प्रकार से सखी के द्वारा मज़ाक में कहने पर पार्वती ने अपने दोनों चरणों में आलता लगवाने के बाद आशीर्वाद लेकर उसे विना कुछ कहे ही माला से मारा ॥ १६० ॥

पत्युरिति। सा पार्वती अनेन चरणेन पत्युः हरस्य शिरश्चन्द्रकलां मस्तकस्थितां चन्द्ररेखां स्पृश प्रहरेति यावत् इत्येवं सख्या प्रसाधिकयेति शेषः चरणौ रञ्जयित्वा अलक्तकादिना अलङ्कृत्य कृतः आशीर्वादः यस्याः तथाभूता सती माल्येन पुष्पदाम्ना तां सखीं निर्वचनम् अवचनं यथा तथा किमपि न कथयित्वेति भावः जघान प्रजहार ॥१६०॥

बाल्यकौमारयौवनसाधारणो विहारविशेषः क्रीडितं यथा—

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥ १६१ ॥

बाल्यावस्था, कुमारावस्था तथा युवावस्था में सामान्य रूप से किया जाने वाला खिलवाड़-विशेष क्रीडित है। जैसे—

वह पार्वती बाल्यकाल में अपनी सखियों के बीच में बार-बार गंगा की बालू की वेदी आदि बनाकर, गेंद खेल कर, गुड्डा-गुड्डी बनाकर क्रीड़ा के रस में प्रवेश करती हुई सी, आनन्द लेती रही ॥ १६१ ॥

मन्दाकिनीति। सा पार्वती सखीनां सङ्गिनीनां मध्यगता मध्यवर्त्तिनी सती बाल्ये शैशवक्रीडारसं खेलनास्वादं निर्विशतीव उपभुञ्जानेव मुहुः पुनः पुनः मन्दाकिन्याः स्वर्गङ्गायाः सैकतवेदिकाः ताभिः कन्दुकैः क्रीडनकैः गोलवस्तुविशेषैः सपुत्रकैः क्रीडन-पुत्तलिकाभिरित्यर्थः मुहुः पुनः पुनः रेमे चिक्रीड ॥ १६१ ॥

क्रीडितमेव प्रियतमविषये केलिर्यथा--

व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ।१६२॥

अपने प्रियतम के प्रति की गई क्रीडा ही केलि है। जैसे—

अपने मुख से फूँक-फूँक कर आँख में पड़े हुये पराग को निकाल पाने में असमर्थ होने पर किसी ऊँचे और बड़े-बड़े उरोजों वाली नायिका ने अपने प्रियतम को उन्मन होकर स्तनों से वक्षस्थल पर मारा ॥ १६२ ॥

व्यपोहितुमिति। उन्नतौ उत्तुङ्गौ पीवरौ स्थूलौ स्तनौ यस्याः तथोक्ता काचिद् रमणी उन्मनाः विरक्तमनाः सती मुखानिलैः वदनवायुभिः लोचनतः स्वात् लोचनात् पुष्पजं रजः परागं व्यपोहितुं निरसितुम् अपारयन्तम् अशक्नुवानं प्रियं कान्तं पयोधरेण स्तनेन उरसि वक्षसि जघान किल आहतवती खलु ॥ १६२ ॥

हेलादिषु रागतः सहसा प्रवृत्तिहेतुः चित्तोल्लासो हेला।

सा स्त्रियां यथा--

राजइ पिअपरिरंभणपसारिअं सुरदमंदिरदुआरं।
हेलाहलहलिअं थोरत्थगहरे भुजलआजुअलं॥ १६३॥

हेला आदि में प्रेम के कारण एकाएक कार्य में प्रवृत्त कराने का कारणभूत चित्त का उल्लास 'हेला' है। वह जब स्त्री में होती है, तब का उदाहरण—

प्रियतम के आलिङ्गन के लिये फैलाया हुआ, संभोग मन्दिर का द्वारभूत, काँपता हुआ, दीर्घ भुजयुगल विशाल उरोजों पर सुशोभित होता है॥ १६३॥

राजते प्रियपरिरम्भणप्रसारितं सुरतमन्दिरद्वारम्।
हेलाहलहलायमानं स्थूलस्तनभरे भुजलतायुगलम्॥

राजते इति। प्रियस्य परिरम्भणाय आलिङ्गनाय प्रसारितं विस्तारितम् अतएव सुरतमन्दिरस्य द्वारं द्वारभूतमित्यर्थः भुजलतायुगलं बाहुवल्लीद्वयं भुजलताकमलमिति पाठान्तरम्। हेलया विलासविशेषेण हलहलायमानं कम्पमानम् सत् स्थूले स्तनभरे राजते शोभते॥ १६३॥

सैव पुरुषे यथा--

उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनैकेन कृत्वा
धृत्वा चान्येन वासो विलुलितकवरीभारमंसे वहन्त्या।
भूयस्तत्कालकान्तिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा वः
शय्यामालिङ्ग्य नीतं वपुरलसलसद्बाहु लक्ष्म्याः पुनातु ॥१६४॥

पुरुष में होने वाली हेला का उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।३३)॥ १६४॥

उत्तिष्ठन्त्या इति। एकेन पाणिना भुजेन उरगपतौ शेषनागे भरम् अवलम्बनं कृत्वा रतान्ते सम्भोगावसाने उत्तिष्ठन्त्या उत्पतन्त्याः अन्येन पाणिना वासः वसनं धृत्वा विलु-

लितः विस्रस्तः कवरीभारः केशपाशनिचयः यस्मिन् तद् यथा तथा अंसे स्कन्धे वहन्त्याः धारयन्त्याः लक्ष्म्याः पुनः तत्काले तस्मिन् समये या कान्तिः श्रीः तया द्विगुणिता द्विरावृत्ता वर्द्धितेत्यर्थः सुरते प्रीतिः आसक्तिर्यस्य तथाभूतेन शौरिणा नारायणेन आलिङ्ग्य आश्लिष्य शय्यां नीतं पातितम् अतएव अलसं मन्दं तथा यथा लसन्तौ स्फुरन्तौ बाहू यस्य तथाभूतं वपुः शरीरं वः युष्मान् पातु रक्षतु ॥ १६४ ॥

हेलैव सवचनविन्यासो हावः ।

स स्त्रियां यथा—

जइ ण छिवसि पुप्फवइं पुरदो ता कीस वारिओ ठासि ।
छित्तोसि चुलुचुल ! धाविऊण एदेहिं मए हत्थेहिं ॥ १६५ ॥

हेला जब शब्दप्रयोग के साथ होती है तब वही हाव होती है ।

उसके स्त्री में होने का उदाहरण—

यदि तू रजस्वला का स्पर्श नहीं करता है तो वर्जित होकर सामने खड़ा क्यों है ? हे चञ्चल, दौड़ कर मेरे इन हाथों से तुम छू लिये गये हो ॥ १६५ ॥

यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरतस्तत्किमिति वारितस्तिष्ठसि ।
स्पृष्टोऽसि चञ्चल ! धावित्वा एतैः मया हस्तैः ॥

जइ इति । यदीति । यदि पुष्पवतीम् ऋतुमतीमित्यर्थः न स्पृशसि न गच्छसीत्यर्थः तदा वारितः मा मां स्पृश पुष्पवतीमिति निषिद्धः सन् पुरतः समक्षं किमिति कथं तिष्ठसि ? अत्र स्थातुमनुचितमिति भावः । किन्तु हे चञ्चल ! मया एतैः हस्तैः धावित्वा स्पृष्टोऽसि । तस्मात् स्पर्शदोषः तव जात एव तत् किं मां त्यक्त्वा गच्छसीति भङ्ग्यन्तरेणोक्तम् ॥१६५॥

स एव पुरुषे यथा—

लोओ झूरइ झूरउ अवअणिज्जं होइ होउ तं णाम ।
एह्नि णिमज्जमु पास्से पुप्फवइ ! ण एइ मे णिद्दा ॥ १६६ ॥

उसी के पुरुष में होने का उदाहरण—

यदि लोक निन्दा करता है तो करे, यदि यह अवद्य है तो मज़े से हो । अरी रजस्वले ! आ, पास में बैठ, मुझे नींद नहीं आ रही है ॥ १६६ ॥

लोको निन्दति निन्दतु अवचनीयं भवति भवतु तत् नाम ।
एहि निमज्ज पार्श्वे पुष्पवति ! न एति मे निद्रा ॥

लोक इति । लोकः जनः निन्दति गर्हयते पुष्पवतीस्पर्शादिति भावः निन्दतु निन्दां करोतु अवचनीयम् अपवादः अकीर्त्तिरित्यर्थः भवति, तत् अवचनीयं भवतु नाम सम्भावनायाम् । एहि आगच्छ पार्श्वे निमज्ज शेष्व, हे पुष्पवति ! मे मम निद्रा न एति नागच्छति त्वत्सङ्गमोत्सुकत्वादिति भावः ॥ १६६ ॥

आदिग्रहणाद् भावादयो गृह्यन्ते ।

तेषु भावः स्त्रियां यथा—

तावच्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअंति ।
जाव ण कुवलअदलसच्छाहाइं मउलंति णअणाइं ॥ १६७ ॥

(हेलादि में) 'आदि' पद का ग्रहण होने से भाव आदि का ग्रहण होता है।

उनमें स्त्री में भाव का उदाहरण—

भोग काल में तब तक ही रमणियों के विलास अवशिष्ट रहते हैं जब तक कि उनकी नीलकमल के सदृश छटा वाली आँखे निमीलित नहीं हो जातीं ॥ १६७ ॥

तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते।
यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलयन्ति नयनानि ॥

तावदिति। रतिसमये सम्भोगकाले महिलानां कामिनीनां विभ्रमाः विलासभावाः तावद् एव विराजन्ते शोभन्ते, यावत् तासां कुवलयदलसच्छायानि नीलोत्पलदलसदृशानि नयनानि न मुकुलयन्ति न निद्रावशं गच्छन्तीत्यर्थः निद्रामुकुलतायां न केऽपि विभ्रमाः सन्तीति भावः ॥ १६७ ॥

व्याजः पुंसो यथा--

अलिअपसुत्त ! विणिमीलिअच्छ ! देसु सुहअ ! मज्झं ओआसं।
गण्डपरिचुंवणपुलइआंग ! ण उण चिराइस्सं ॥ १६८ ॥

पुरुष के व्याज का उदाहरण—

हे सोने का बहाना बनाये हुये, आँखों को बन्द करनेवाले प्रिय, मुझे भी अवसर दो। कपोलों को चूमने से हे पुलकित अङ्गों वाले, अब फिर कभी देरी नहीं करूँगी ॥ १६८ ॥

अलीकप्रसुप्त ! विनिमीलिताक्ष ! देहि सुभग ! मे अवकाशम्।
गण्डपरिचुम्बनपुलकिताङ्ग ! न पुनरपि चिरयिष्ये ॥

अलीकेति। हे अलीकप्रसुप्त ! विनिमीलिताक्ष ! अथवा अलीकेन कपटेन प्रसुप्तेन निद्रया विनिमीलिते अक्षिणी नेत्रे यस्य तत्सम्बुद्धौ। हे सुभग ! मे मह्यम् अवकाशं स्थानं देहि। गण्डस्य कपोलस्य परिचुम्बनेन पुलकितं लोमाञ्चितम् अङ्गं यस्य तत्सम्बुद्धौ हे नाथ ! पुनः नाहं चिरयिष्ये नैव विलम्बं करिष्यामीत्यर्थः ॥ १६८ ॥

विश्रम्भभाषणं स्त्रियां यथा--

जाओ सो वि विलच्छो मए वि हसिऊण गाढमुवऊढो।
पढमोपसरिअस्स णिअसणस्स गंठिं विमग्गंतो ॥ १६९ ॥

स्त्रियों में विश्रम्भ-भाषण का उदाहरण—

(आलिंगन के) पूर्व ही खुल गई वस्त्र की गाँठ को खोजता हुआ मेरा वह प्रिय भी लज्जित हो गया और मैंने भी हँस कर उसका प्रगाढ आलिंगन कर लिया ॥ १६९ ॥

जातः सोऽपि विलक्षो मयापि हसित्वा गाढमुपगूढः।
प्रथममपसरितस्य निवसनस्य ग्रन्थिं विमार्गयन् ॥

जात इति। मया हसित्वा गाढमुपगूढः आलिङ्गितः सोऽपि मत्कान्तोऽपीत्यर्थः प्रथमं प्राक् आलिङ्गनात् प्राक् अपसरितस्य स्वतः स्खलितस्य कामावेशातिरेकादिति भावः निवसनस्य परिधानवसनस्य ग्रन्थिं विमार्गयन् अन्विच्छन् विलक्षः लज्जितः जातः अभूत्। सखीं प्रति स्वैरविहारिण्या उक्तिः ॥ १६९ ॥

चाटु स्त्रीपुंसयोर्यथा,--

एक्कं पहरुच्चाटं हत्थं मुहमारुएण वीअंतो।
सोवि हसन्तीए मए गहीदो दुवीएण कंठम्मि ॥ १७० ॥

स्त्री-पुरुष दोनों में चाटु का उदाहरण—

प्रहार करने से चोट खा गये मेरे एक हाथ को मेरा प्रियतम अपने मुख की वायु से फूंकने लगा और मैंने भी हँस कर अपने दूसरे हाथ से कण्ठ प्रदेश में (आलिंगन करने के लिये) उसे पकड़ लिया गया ॥ १७० ॥

एकं प्रहारोच्चाटं हस्तं मुखमारुतेन वीजयन्।
सोऽपि हसन्त्या मया गृहीतो द्वितीयेन कण्ठे ॥

एकमिति। प्रहारेण ताडनेन उच्चाटं व्यथितमिति यावत् हस्तं मदीयमिति शेषः मुखमारुतेन वदनवायुना वीजयन् व्यथाशान्त्यर्थमिति भावः सोऽपि मत्कान्तोऽपि हसन्त्या हासं कुर्वत्या मत्कृतप्रहारमपि अगणयित्वा प्रहारजातव्यथं मदीयमेव हस्तं वीजनेन अनुरागातिशयदर्शनात् मानत्यागादिति भावः मया द्वितीयेन अन्येन कण्ठे गृहीतः आलिङ्गितः ॥ १७० ॥

प्रेमाभिसन्धानम् पुंसो यथा--

केलीगोत्तक्खलणे वरस्स पप्फुल्लाइं हिणत्ति।
बहुवासअवासघरे बहुए वाप्फाद्दिदा दिठ्ठी ॥ १७१ ॥

पुरुष के प्रेमाभिसंधान का उदाहरण—

प्रेम पूर्वक नाम लेने में व्यत्यय हो जाने से बहुत-सी स्त्रियों से भरे हुये घर में नवोढ़ा की आँसू से भरी हुई आँखें वर की प्रसन्नता को नष्ट किये दे रही हैं ॥ १७१ ॥

केलिगोत्रस्खलने वरस्य प्रफुल्लतां हिनस्ति।
बहुवासकवासगृहे वध्वा वाष्पार्द्रिता दृष्टिः ॥

केलीति। बह्वीनां नारीणामिति भावः वास एव वासकम् अवस्थानं यत्र तादृशे वासगृहे वासकमन्दिरे वरस्य केलिः नर्मोक्तिरिति यावत् तत्र यत् गोत्रस्खलनं नामव्यत्ययः परनारीनामोच्चारणमिति यावत् तत्र सति वध्वाः नवोढाया इति यावत् वाष्पार्द्रिता पत्युर्गोत्रस्खलनादिति भावः अश्रुसिक्ता दृष्टिः वरस्य जामातुः प्रफुल्लतां हर्षविकसित्वं हिनस्ति नाशयतीत्यर्थः॥ १७१ ॥

परिहासः स्त्रिया यथा--

अइ दिअर ! किं ण पेच्छसि आआसे ? किं मुहा पलोएसि।
जाआए बाहुमूलम्मि अद्धचंदाणं पड़िवाड़िम् ॥ १७२ ॥

स्त्री के द्वारा किये गये परिहास का उदाहरण—

अरे देवर, आकाश में क्या नहीं देखते ? रमणी के 'भुजमूल में अर्धचन्द्रावलियों को व्यर्थ में क्या देख रहे हो ? अर्थात् अर्धचन्द्र के दर्शन में कालातिपात न करके सुरत में लग जाओ ॥ १७२ ॥

अयि देवर ! किं न प्रेक्षसे अकाशे ? किं मुधा विलोकयसि ।
जायाया बाहुमूले अर्द्धचन्द्राणां परिपाटीम् ? ॥

अइ इति। अयीति कोमलामन्त्रणे। हे देवर ! आकाशे किं न प्रेक्षसे न पश्यसि ? अर्द्धचन्द्राणां परिपाटीमिति भावः अपि तु पश्यस्येवेत्यर्थः तर्हि जायायाः कान्तायाः बाहुमूले अर्द्धचन्द्राणाम् अर्द्धचन्द्राकारान् अलङ्कारविशेषानित्यर्थः मुधा वृथा किं कथं विलोकयसि ? पश्यसि ? अर्द्धचन्द्रविलोकने समयातिपातमकृत्वा सुरतव्यापारमाचरेति भङ्गया उक्तम् ॥ १७२ ॥

कुतूहलं पुंसो यथा--

असमत्तमंडणा वज घरं भत्तुणो सकोदुहलस्स ।
वदिकांतहलहलस्स पुत्ति ! चित्ते ण लगिस्ससि ॥ १७३ ॥

पुरुष के कौतूहल का वर्णन, जैसे—

(कोई वेश्या अपनी पुत्री से कह रही है कि) हे बेटी, अपने शृङ्गार को विना पूरा किये भी तू अपने उत्कण्ठित प्रियतम के घर जा। कहीं ऐसा न हो कि कौतूहल समाप्त हो जाने पर तू उसके हृदय में न सट सके ॥ १७३ ॥

असमाप्तमण्डना व्रज गृहं भर्त्तुः सकौतूहलस्य ।
व्यतिक्रान्तहलहलस्य पुत्रि ! चित्ते न लगिष्यसि ॥

असमाप्तेति । हे पुत्रि ! असमाप्तं समाप्तिं न प्राप्तं मण्डनम् अलङ्करणं यस्याः तथाभूता सती सकौतूहलस्य सोत्सुकस्य भर्त्तुः गृहं व्रज शीघ्रं गच्छ इति यावत् कान्तमनोरथपूरणस्य चिरायितत्वे विरक्तया चरमामोदस्य नावसर इति भावः। अतः व्यतिक्रान्तं विगतं हलहलम् औत्सुक्यं यस्य तथाभूतस्य विगतकामावेशस्य कान्तस्येति शेषः चित्ते मनसि न लगिष्यसि न लग्ना भविष्यसि न प्रणयिनी भविष्यसीति भावः तस्मात् त्वया कान्तसङ्गमे असमाप्तमण्डनत्वादिना न चिरायितव्यमिति भावः। उपमातुरुक्तिः ॥ १७३ ॥

चकितं स्त्रिया यथा--

णवलइआ पाकारे तुट्ठाए किदं किम्पि हलिअसोण्हाए ।
जं अज्जवि जुवइजणो घरे घरे सिक्खिदुं भमइ ॥ १७४ ॥

स्त्री के चकित का उदाहरण—

हलवाहे की पुत्रवधू ने प्रसन्न होकर अपनी घर की भीति पर एक नई बेल किसी प्रकार बनाई थी। उसे सीखने के लिये आज भी प्रत्येक घर में युवतियाँ विचरण कर रही हैं ॥ १७४ ॥

नवलतिका प्राकारे तुष्टया कृता किमपि हलिकस्नुषया ।
यदद्यापि युवतिजनो गृहे गृहे शिक्षितुं भ्रमति ॥

नवेति। हलिकस्य हलवाहिनः कृषीवलस्येति यावत् स्नुषा पुत्रवधूः तया तुष्टया सहर्षया नवलतिका नवा वल्ली प्राकारे गृहभित्तावित्यर्थः किमपि कृता विरचिता। यद् लताविरचनामित्यर्थः शिक्षितुं गृहे गृहे प्रतिगृहं युवतिजनः तरुणीजनः भ्रमति विचरति ॥ १७४ ॥

हेला हावश्च भावश्च व्याजो विश्रम्भभाषणम् ।
चाटु प्रेमाभिसन्धानं परिहासः कुतूहलम् ॥१६८॥
चकितं चेति निर्दिष्टाश्चेष्टाः काश्चिद्विलासिनाम् ।
शेषाणां विप्रलम्भादौ रूपमाविर्भविष्यति ॥१६९॥

इस प्रकार हेला, हाव, भाव, व्याज, विश्रम्भभाषण, चाटु, प्रेमाभिसन्धान, परिहास, कुतूहल और चकित—ये विलासियों की कुछ चेष्टायें वर्णित की गई हैं। शेष (चेष्टाओं) का स्वरूप विप्रलम्भ आदि के प्रसङ्ग में प्रकट होगा।

स्व० द०—ये प्रधानतः स्त्रियों की तथा दो-एक पुरुषों की ललित चेष्टायें हैं। इनसे प्रेम में अभिवृद्धि होती है। इनका विशद विवेचन इसी परिच्छेद में पहले सामान्यरूप से आये हुए प्रसंग के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

हेलेति। हेलादयः दश काश्चित् विलासिनां चेष्टाः विलसनव्यापाराः निर्दिष्टाः कथिताः। शेषाणां भावानां विप्रलम्भादौ वक्ष्यमाणरूपे रूपं लक्षणमित्यर्थः आविर्भविष्यति प्रकटीभविष्यतीत्यर्थः॥ १६८-१६९॥

विप्रलम्भशृङ्गार

तत्र नायकयोः प्रागसङ्गतयोः सङ्गतयोश्च सङ्गतवियुक्तयोर्वा मिथोदर्शनश्रवणाभ्याम् उपस्थिताभिमानजन्मा परस्परानुरागोऽन्यतरानुरागो वा अभिलषणीयालिङ्गनादीनाम् अनवाप्तौ सत्यां समुपजायमानैः तैः तैः उत्कण्ठादिभिः व्यभिचारिभावैः मनोवाग्बुद्धिशरीरारम्भजन्मभिश्च अनुभावैः अनुबद्धः प्राप्तप्राप्यप्रकर्षावस्थो विप्रलम्भशृङ्गाराख्यां लभते। स चतुर्धा-पूर्वानुरागो मानः प्रवासः करुणश्च ॥

वहाँ पहले न मिले हुये, मिले हुये अथवा मिलकर वियुक्त हो गये नायक तथा नायिका दोनों के परस्पर देखने तथा सुनने के कारण वर्तमान अभिमान से उत्पन्न परस्पर अथवा एक का दूसरे के साथ प्रेमभाव अभीष्ट आलिङ्गन आदि की प्राप्ति न होने पर, उत्पन्न होने वाले उन-उन उत्कण्ठा आदि व्यभिचारीभावों के द्वारा, मन, वाणी, बुद्धि तथा शरीर से आरम्भ होकर जन्म लेनेवाले अनुभावों से अनुबद्ध, अपेक्षित प्रकर्ष की अवस्था को प्राप्त करके विप्रलम्भ शृङ्गार की संज्ञा प्राप्त करता है। वह चार प्रकार का है, १—पूर्वानुराग, मान, प्रवास तथा करुण।

स्व० द०—इन विषयों का भी विवेचन इसी परिच्छेद में विप्रलम्भ शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में किया जा चुका है। आगे मात्र अनुवाद तथा यथावश्यक तुलनात्मक सामग्री दी गई है।

तत्रेति। असङ्गतयोः अमिलितयोः सङ्गतयोः मिलितयोः। सङ्गतवियुक्तयोः आदौ सङ्गतौ पश्चात् वियुक्तौ तयोः। मिथोदर्शनश्रवणाभ्यां परस्परावलोकनगुणाकर्णनाभ्याम् उपस्थिताभिमानजन्मा उपस्थितं यत् अभिमानं ममायं ममेयं वेति अहङ्कारः तस्मात् जन्म उत्पत्तिर्यस्य तथाभूतः परस्परानुरागो वा अन्योन्यप्रणय एव। अभिलषणीयानाम्

आकाङ्क्षणीयानाम् आलिङ्गनादीनाम् अनवाप्तौ अप्राप्तौ। समुपजायमानैः। अनुबद्धः संवलितः। प्राप्तेति। प्राप्ता प्राप्या प्रकर्षावस्था येन तथाभूतः॥

तेषु प्रागसङ्गतयोः पूर्वानुरागः पुरुषप्रकाण्डे यथा--

दूरं मुक्तालतया बिससितया विप्रलभ्यमानो मे।
हंस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वया नीतः॥ १७५॥

अत्र पुण्डरीकस्य महाश्वेतायां प्रागसङ्गतायां समुत्पन्नः संकल्परमणीयोऽभिलाषः तदनाप्तौ उक्तप्रकारेण प्रकृष्यमाणः त्वया मे मानसजन्मा दूरं नीत इति उत्तरकामावस्थया प्रकाश्यते॥ १७५॥

विप्रलम्भ के उन भेदों में से पहले न मिले हुये नायक तथा नायिका के पूर्वानुराग का पुरुष के विषय में होने का उदाहरण—

जिस प्रकार कोई पुरुष बिसतन्तुओं के सदृश श्वेत मोती के दानों से आशा दिलाकर मानसरोवर में उत्पन्न हंस को बहुत दूर तक अपनी दिशा में ले जाये, उसी प्रकार हे महाश्वेता, मृणालसूत्र की भाँति निर्मल अपनी मोती की माला से ठग कर आशा दिलाकर मेरे कामदेव को तुमने बहुत दूर ला दिया है, बहुत आगे बढ़ा दिया है॥ १७५॥

यहाँ पहले न मिली हुई महाश्वेता के प्रति पुण्डरीक की उत्पन्न, विचार में अत्यन्त मनोज्ञ लगने वाली अभिलाषा है जो अभीष्ट की प्राप्ति न होने पर कहे गये प्रकार से प्रकर्ष को पहुँचाई जाती हुई "तुम्हारे द्वारा मेरा कामदेव बहुत आगे बढ़ा दिया गया है" इस उत्तरकालीन अवस्था से प्रकाशित होती है।

तेषु पूर्वानुरागादिषु। पुरुषप्रकाण्डे पुरुषविषये इत्यर्थः।

दूरमिति। बिससितया मृणालशुभ्रया मुक्तालतया मौक्तिकहारेण मुक्ताहारविनिमयेनेति भावः विप्रलभ्यमानः प्रलोभ्यमानः मे मम मानसजन्मा काम इत्यर्थः दर्शिताशः मृणालप्रदर्शनात् दत्ताश इत्यर्थः हंस इव त्वया दूरं वृद्धिं दूरदेशञ्च नीतः प्रापितः॥१७५॥

स एव स्त्रीप्रकाण्डे यथा--

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परवसो अप्पा।
पिअसहि! विसमं पेम्म मरणं सरणं णवरि एक्कम्॥

अत्रापि प्राग्वदेव सागरिकाया वत्सराजे अनुरागः प्रकृष्यमाणो मरणं शरणम् इति उत्तरया एव कामावस्थया कथ्यते॥ १७६॥

उसी के स्त्री के विषय में होने का उदाहरण—

बड़ी कठिनाई से मिल पानेवाले व्यक्ति के प्रति प्रेम है, लाज भी बहुत अधिक है। स्वयं भी परतन्त्र हैं। प्रेम बड़ा विषम हुआ करता है। ऐसी दशा में तो हे प्रिय सखी, अब बस केवल एक मरण ही आश्रय है॥ १७६॥

यहाँ भी पहले की ही भांति सागरिका का वत्सराज के प्रति प्रेम है, वह उत्कर्ष प्राप्त करत हुआ "मरणं शरणं" में परवर्ती कामावस्था के द्वारा ही कहा जा रहा है।

दुर्लभजनानुरागी लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि ! विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम् ॥

दुर्लभेति। दुर्लभे दुष्प्रापे जने अनुरागः प्रणयः ननु चेष्टया स लब्धुं शक्यत इत्यत्राह लज्जेति। लज्जा गुर्वी महती लज्जया स न प्रकाश्यते इति भावः आत्मा परवशः पराधीनः स्वाधीनतया लज्जात्यागेनापि तत्प्राप्तये यत्नः क्रियते किन्तु पराधीनत्वात् तन्न शक्यते इति भावः। हे प्रियसखि ! प्रेम अनुरागः विषमं दारुणं दुर्वारमिति भावः। अतः केवलम् एकम् एकमात्रं मरणं मृत्युः शरणमाश्रयः प्रतीकार इति यावत् ॥ १७७ ॥

सङ्गतयोः मानः, स निर्हेतुर्यथा--

अत्थ वक रुसणं अलिअवअणणिब्बन्धे पसीद खणेण।
उम्मच्छरसन्तावो पुत्तअ ! पअवी सिणेहस्स ॥ १७७ ॥

अत्र प्रेमगतेः स्वभावकौटिल्यात् हेतुमन्तरेण उपजायमानो निर्हेतुरुच्यते ॥

मिले हुए नायक तथा नायिका दोनों में विना किसी कारण के ही होनेवाले मान नामक विप्रलम्भ का उदाहरण—

"अरे झूठी बातों पर यहाँ रोष के लिये अवसर ही क्या है ? शीघ्र प्रसन्न होओ। हे बेटे, बढ़े हुये द्वेष से उत्पन्न क्रोध तो प्रेम का मार्ग है" ॥ १७७ ॥

यहाँ, प्रेम की गति के सहज रूप से कुटिल होने के कारण विना कारण के भी उसके उत्पन्न होने से वह निर्हेतु है।

स्व० द०—उपर्युक्त गाथा की अपेक्षा इसी के पूर्वार्ध का पाठान्तर अधिक सुन्दर अर्थ का प्रत्यायन कराता है। वहाँ पूरी उक्ति ही किसी उपमाता की है।—

अत्थक्करूसणं खणपसिज्जणं अलिअवअणणिब्बन्धो।
उम्मच्छरसंताओ उत्तअपदवी सिणेहस्य ॥
[अकस्माद् रोषणं क्षणप्रसादनमलीकवचननिर्बन्धः]
अत्र क रोषोऽलीकवचननिर्बन्धे प्रसीद क्षणेन।
उन्मत्सरसन्तापः पुत्रक ! पदवी स्नेहस्य ॥

अत्रेति। हे पुत्रक ! अत्र अस्मिन् अलीकवचननिर्बन्धे त्वया मदन्यः काम्यते इत्येवं मृषावादस्य निर्बन्धे साग्रहवचने इत्यर्थः रोषः कोपः क ? न कोपः कार्य्य इति भावः। क्षणेन अल्पेनैव कालेन प्रसीद प्रसन्नतां भज उद्गतः उत्थित इत्यर्थः मत्सरः द्वेषः तेन सन्तापः कियन्तं कालं दुःखभोग इत्यर्थः स्नेहस्य प्रेम्णः पदवी पन्थाः। 'न विना विप्रलम्भेण सम्भोगः पुष्टिमश्नुते' इतिवत् मानेनापि विना सम्भोगस्य पुष्टेरभावात् स्वत एव निर्हेतुर्मानः प्रसरतीति नात्र त्वया वैमनस्यमवलम्बितव्यमिति भावः। उपमातुरुक्तिः ॥ १७७ ॥

स एव सहेतुः यथा--

पडिउत्थिआ ण जप्पइ गहीआ विप्फुरइ चुंबिआ रुसइ।
तुण्हि भुआ णवबहुआ किदा वराकेण दइएण ॥ १७८ ॥

यद्यपि आलिङ्गनादेर्मेति न इत्यादिभिः प्रतिषेधो न विद्यते तथापि तदर्थोऽस्ति एवेति मानलक्षणं घटते ।। १७८ ।।

उसी के सहेतु होने का उदाहरण—

बेचारे प्रिय के द्वारा उठकर स्वागत करने अथवा पूँछने पर भी नायिका बात नहीं करती, पकड़ने पर छुड़ा कर भागना चाहती है, चुम्बन लेने पर क्रुद्ध हो जाती है। इस प्रकार वह नवोढा एकदम चुपचाप बनी रहती है ॥ १७८ ॥

यहाँ यद्यपि आलिङ्गन आदि का 'मा', 'न' आदि निषेधात्मक पदों के प्रयोग द्वारा प्रतिषेध नहीं है तथापि (चेष्टाओं द्वारा) उसका भाव तो है ही, इस प्रकार यहाँ मान का लक्षण घटित होता है।

प्रत्युत्थिता न जल्पति गृहीता विस्फुरति चुम्बिता रुष्यति ।
तूष्णींभूता नववधूः कृता वराकेण दयितेन ॥

प्रत्युत्थितेति। **वराकेण निर्दोषेण सरलभावापन्नेनेति यावत् दयितेन प्रियेण नववधूः नवोढा कान्ता प्रत्युत्थिता उपस्थितिमात्रेण उत्थाय सम्वर्द्धिता सती न जल्पति न भाषते। धृता सती विस्फुरति पलायनार्थं चेष्टते, चुम्बिता सती रुष्यति अतएव रोषात् तूष्णीम्भूता मौनावलम्बिनी कृता ॥ १७८ ॥**

सङ्गतवियुक्तयोः प्रवासः । स नवानुरागो यथा--

प्रियमाधवे ! किमसि मय्यवत्सला ननु सोऽहमेव यमनन्दयत्पुरा ।
अयमागृहीतकमनीयकङ्कणस्तवमूर्त्तिमानिव महोत्सवः करः ।।१७९।।

अत्र विवाहान्तरमेव मालत्याः कपालकुण्डलया अपहारात् माधवमालत्योः अयं नवानुरागः प्रवास उच्यते ।। १७९ ।।

मिलकर वियुक्त होनेवालों में प्रवास होता है। नये अनुराग से युक्त प्रवास का उदाहरण—

हे माधव को प्रेम करने वाली मालती ! मुझ पर तू कैसे प्रेम रहित हो गई, निश्चित ही मैं वही हूँ जिसे पहले इस मनोज्ञ कंगन को-वैवाहिकसूत्र को-धारण करने वाले साक्षात् महान् आनन्द की भांति तुम्हारे हाथ ने आनन्दित किया था ॥ १७९ ॥

यहाँ विवाह के पश्चात् ही कपालकुण्डला के द्वारा मालती का अपहरण हो जाने से मालती और माधव का यह सब अनुराग प्रवास कहा जाता है।

प्रियेति। **प्रियः माधवो यस्याः सा प्रियमाधवा तत्सम्बुद्धौ हे प्रियमाधवे ! माधवानुरागिणि ! मयि माधवे इति भावः अवत्सला अस्नेहा किं कथम् असि ? भवसि ? ननु भोः ! अयम् आगृहीतं धृतं कमनीयं मनोज्ञं कङ्कणं वैवाहिकहस्तभूषणं येन तथाभूतः अतएव मूर्त्तिमान् शरीरबद्धः महोत्सव इव तव करः पाणिः पुरा प्राक् यं समनन्दयत् आनन्दयामास अहं स माधव एवेत्यर्थः ॥ १७९ ॥**

स एव प्रौढानुरागो यथा--

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्त्तुम् ।

अस्त्रैस्तावन् मुहुरुपचितैः दृष्टिरालिप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥१८०।

अत्र प्राचीनप्रणयकोपप्रसादनादिभिः अनुरागस्य प्रौढिः अवगम्यते ॥१८०॥

प्रयास में ही प्रौढ़ अनुराग का उदाहरण—

पत्थर पर गेरू आदि धातुओं के रंग से प्रेम में क्रुद्ध हो गई तुमको चित्रित करके जब तक मैं अपने को तुम्हारे चरणों पर डालने की इच्छा करता हूँ, तब तक बार बार आँसुओं से मेरी आँख डबडबा जाती है। यह निष्ठुर दैव उसमें भी हम दोनों का मिलन नहीं बर्दाश्त कर सकता ॥ १८१ ॥

यहाँ पुराने प्रणयकोप से प्रसन्न करने आदि की क्रियाओं के कारण प्रेम की प्रौढ़ता प्रतीत होती है।

त्वामिति। हे प्रिये इति अध्याहार्य्यम्। प्रणयेन प्रेम्णा कुपितां मानवतीमिति भावः त्वां धातुरागैः गैरिकादिद्रवैः शिलायाम् आलिख्य चित्रीकृत्येत्यर्थः यावत् आत्मानं स्वस्वरूपं ते तव आलेख्यगताया इति भावः चरणपतितं मानभञ्जनार्थं पदानतं कर्त्तुम् इच्छामि अभिलषामि, तावत् मुहुः पुनः पुनः उपचितैः उद्गतैः दुःखादिति भावः अस्रैः नेत्रवारिभिः मे मम दृष्टिः आलुप्यते आव्रियते, कथमित्याह क्रूर इति। क्रूरः दारुणः कृतान्तः दैवं 'कृतान्तो यमदैवयो'रित्यमरः। तस्मिन्नपि आलेख्येऽपि नौ आवयोः सङ्गमं मेलनं न सहते न क्षमते ॥ १८० ॥

सङ्गतयोरेव अन्यतरव्यपाये करुणः ॥

स स्त्रीव्यपाये पुरुषस्य यथा—

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते ! कलितः कैतववत्सलस्त्वया।
परलोकमसन्निवृत्तये यदनामन्त्र्य गताऽसि मामितः ॥

अत्र इन्दुमतीव्यपायात् अजस्य दुःखातिशयः करुण उच्यते ॥१८१॥

मिले हुये प्रेमियों में से एक का नाश हो जाने पर करुण होता है।

स्त्री के विनाश पर पुरुष के करुण का उदाहरण—

हे पवित्र मुसकान वाली, अपने कपट प्रेम के कारण निश्चित ही मैं तुम्हारे द्वारा शठ समझ लिया गया हूँ। इसीलिये तुम बिना मुझसे कुछ कहे सुने स्वर्गलोक को फिर कभी न लौटने के लिये चली गई हो ॥ १८१ ॥

यहाँ इन्दुमती के विनाश से अज का अत्यधिक दुःख करुण कहा जाता है।

अन्यतरव्यपाये उभयोः नायकनायिकयोः एकस्य नाशे इत्यर्थः।

ध्रुवमिति। हे शुचिस्मिते ! विशुद्धमन्दहासिनि ! त्वया अस्मि अहं कैतववत्सलः कपटप्रेमिकः अतएव शठः धूर्त्तः ध्रुवं निश्चितं विदितः ज्ञातः। यत् यतः मम शठतानिश्चयादित्यर्थः माम् अनामन्त्र्य अनापृच्छ्य असन्निवृत्तये अपुनरागमनाय इतः अस्मात् लोकात् परलोकं स्वर्गं गतासि प्रस्थितासि ॥ १८१ ॥

स एव पुरुषव्यपाये स्त्रिया यथा--

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ? ॥१८२॥

अत्र अनङ्गविषये रतेः शोकप्रकर्षात् करुण इति आख्यायते ।

पुरुष के मरण पर स्त्री के करुण (विलाप) का ही उदाहरण—

मुझे प्रसन्न करने के लिये तुमने जो कहा था कि "तुम मेरे हृदय में बसती हो" मैं उसे केवल धूर्तता समझती हूँ । यदि यह केवल औपचारिक चर्चा न होती तो तुम निःशरीर हो जाते और रति को तनिक भी क्षति न पहुँचती ॥ १८२ ॥

यहाँ काम के प्रति रति के शोक के चरमसीमा पर पहुँच जाने पर करुण कहा जाता है ।

हृदय इति । हे प्रिय ! इति अध्याहार्य्यम् । त्वं मे मम हृदये अन्तरिन्द्रिये वससि तिष्ठसि इति यत् मम प्रियं प्रीतिकरं वचः अवोचः कथितवानसि, तत् कैतवं कपटम् अलीकमित्यर्थः अवैमि अवगच्छामि, चेति यदि इदम् उपचारपदम् आरोपितवाक्यं न स्यादिति शेषः तदा त्वम् अनङ्गः अशरीरः दग्धावयव इत्यर्थः, रतिः अहमित्यर्थः तव हृद्गतेति भावः कथं अक्षता अविनष्टा अदग्धेति यावत् आश्रयदहने आश्रितस्य दाहोऽवश्यम्भावीति भावः ॥ १८२ ॥

हीनपात्रादिषु च एतदाभासा भवन्ति ॥

तत्र हीनपात्रेषु पुंसि प्रेमानुरागो यथा--

कअलीगब्भसरिच्छे ऊरू दट्ठूण हलिअसोण्हाए ।
उल्लसइ णहरञ्जणचट्टुलस्स चित्तं सेउल्लिअकरस्स ॥ १८३ ॥

आभास

हीन पात्र आदि में इनके आभास होते हैं ।

वहाँ हीन पात्रों (के निरूपण के प्रसङ्ग में) पुरुष में प्रेमानुराग का उदाहरण—

हलवाहे की पुत्रवधू के केले के स्तम्भ की भांति दोनों जघनो को देख कर नाखून को रंगने की इच्छा वाले तथा पसीने से भीग गये हाथों वाले (नापित) का दिल उछल रहा है ॥ १८३ ॥

स्व० भा०—निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित प्रति में उत्तरार्द्ध में पाठान्तर है । वह स्पष्ट भी अधिक है । यद्यपि छाया के विषय में विवाद हो सकता है ।—

उल्लइ णहरंजणं चंदिलस्स सेडल्लिअ करस्स ॥
[आर्द्रीभवति नखरंजनं नापितस्य स्वेदार्दितकरस्य ॥]

कदलीगर्भसदृशे ऊरू दृष्ट्वा हलिकस्नुषायाः ।
उल्लसति नखरञ्जनकाङ्क्षिणश्चित्तं स्वेदार्द्रितकरस्य ॥

कदलीति । **हलिकस्य कर्षकस्य स्नुषायाः पुत्रवध्वाः कदलीगर्भसदृशे रम्भास्तम्भसदृशे**

ऊरू दृष्ट्वा नखरञ्जनकारिणः नखाग्रकर्त्तनपुरःसरं तद्रञ्जनकारिणः नापितस्येति शेषः स्वेदेन सत्त्वोदयजनितेन धर्मेण आर्द्रितः सिक्तः करः पाणिः यस्य तथाभूतस्य सतः चित्तम् उल्लसति कामावेशेन विस्फुरति इति शेषः ॥ १८३ ॥

अत्रैव स्त्रियां मानो यथा--

पढमघरिणीए समए तुह पिंडेहिम् आदरं कुणंतम्मि ।
णवबहुआए इसरोसं संव्वच्चिअ वच्छआ मुक्का ॥ १८४ ॥

इसी संदर्भ में स्त्री में मान का उदाहरण—

प्रथम स्त्री के समय से अन्न-भोजन देकर तुम्हारा आदर करने पर नवविवाहिता स्त्री के द्वारा थोड़ा सा क्रोध को रोककर बच्चे छोड़ दिये गये ॥ १८४ ॥

प्रथमगृहिण्यां समये तव पिण्डैरादरं कुर्वन्त्याम् ।
नववध्वा ईषद्रोपं संवृत्य वत्सा मुक्ताः ॥

प्रथमेति । प्रथमगृहिण्यां समये मध्याह्नकाले पिण्डैः अन्नैः तव आदरं कुर्वन्त्यां सादरं त्वाम् अन्नं भोजयन्त्यामित्यर्थः नववध्वा नूतनमूढया भार्य्ययेत्यर्थः ईषद्रोपं संवृत्य अप्रकटय्येत्यर्थः वत्साः शिशवः मुक्ता त्यक्ताः भर्त्तारं विरक्तीकर्त्तुमिति भावः ॥ १८४ ॥

तिर्य्यक्षु पक्षिणि प्रवासो यथा--

आपृच्छामि व्यथयति मनो दुर्बला वासरश्रीः
एह्यालिङ्ग क्षपय रजनीमेकिका चक्रवाकि !
नान्यासक्तो न खलु कुपितो नानुरागच्युतो वा
दैवाधीनः सपदि भवतीमस्वतन्त्रस्त्यजामि ॥ १८५ ॥

तिर्यक् योनि के पक्षियों में भी प्रवास का उदाहरण—

हे प्रिये चक्रवाकी, मैं तुमसे विदा लेता हूँ, दिन की छटा क्षीण होती जा रही है, अतः मन को खिन्नता हो रही है। आओ, आलिङ्गन करो और अकेली ही इस रात्रि को बिताओ। तुम निश्चिन्त रहो क्योंकि न तो मैं किसी दूसरे में अनुरक्त हूँ, न तुम पर क्रुद्ध हूँ, न तुमसे मेरा प्रेम ही समाप्त हुआ है। भाग्य के वश में होकर, पराधीनता के कारण ही मैं एकाएक तुम्हारा परित्याग कर रहा हूँ ॥ १८५ ॥

आपृच्छामीति । हे चक्रवाकि ! आपृच्छामि तां सम्बोधयामि, वासरस्य दिवसस्य श्रीः कान्तिः दुर्बला क्षीणा अवसितप्रायेत्यर्थः अतः मे मम मनः व्यथयति व्याकुलयति तव भाविनो विच्छेदस्य स्मरणादिति भावः। एहि आगच्छ, आलिङ्ग, एकिका एकाकिनी सती रजनीं रात्रिं क्षपय यापय । अहं न अन्यस्याम् नार्य्याम् आसक्तः अनुरक्तः, न खलु नैव कुपितः त्वां प्रति नैव क्रुद्धः, वा पक्षान्तरे न अनुरागात् त्वत्प्रणयात् च्युतः भ्रष्टः, किन्तु दैवस्य अधीनः वशगः अत एव अस्वतन्त्रः अक्षम इत्यर्थः सपदि सहसा भवतीं त्वां त्यजामि ॥ १८५ ॥

अत्रैव करिणीकरुणो यथा—

> नान्तर्वर्त्तयति ध्वनत्सु जलदेष्वामन्द्रमुद्गर्जितं
> नासन्नात् सरसः करोति कवलानावर्जितैः शैवलैः ।
> दानज्यानिविषण्णमूकमधुपव्यासङ्गदीनाननो
> नूनं प्राणसमावियोगविधुरः स्तम्बेरमस्ताम्यति ॥१८६॥

इसी प्रसङ्ग में करिणी से संबद्ध करुण का उदाहरण—

मेघों के गरजने पर यह रह रहकर गम्भीर गर्जनायें नहीं करता है, समीपवर्ती सरोवर से लाये गये सेवार से अपना कवल नहीं बनाता हैं, मदवारि के सूख जाने से दुःख के कारण चुप हो गये भ्रमरों के कष्ट से व्यथित मुख वाला, अपने प्राणों के सदृश प्रिय प्रियतमा के वियोग से शोकाकुल होकर बेचारा हाथी दुःखी हो रहा है ॥ १८६ ॥

स्व० द०—यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार तथा उसके आभास की चर्चा की गई है। इन पर इसी परिच्छेद के प्रारंभ में विशद विचार किया जा चुका है। यहाँ नापित, हालिकस्नुषा, आभीर कुलांगना आदि हीन पात्रों, चक्रवाक, हाथी आदि पक्षी तथा पशुओं का निरूपण होने से शृङ्गाराभास है।

आचार्य रुद्रट ने केवल हीन पात्रों तथा पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनि के प्राणियों में ही शृङ्गार चेष्टाओं का निरूपण करने पर नहीं अपितु दोनों में से किसी एक के भी प्रेम न करने पर दूसरे की आसक्ति के प्रदर्शन में भी शृङ्गाराभास माना है। उनके अनुसार—

> शृङ्गाराभासः स तु यत्र विरक्तेऽपि जायते रक्तः ।
> एकस्मिन्नपरोऽसौ नाभाष्येषु प्रयोक्तव्यः ॥ काव्यालङ्कार (१४।३६)

नान्तरिति। स्तम्बेरमः हस्ती जलदेषु मेघेषु ध्वनत्सु गर्जत्सु आमन्द्रम् ईषद्गम्भीरम् उद्गर्जितम् उच्चैर्गर्जनं न अन्तर्वर्त्तयति न अन्तरावर्त्तयति। तथा आसन्नात् सन्निहितात् सरसः सरोवरात् आवर्जितैः आहृतैः शैवलैः जलनीलीभिः कवलान् ग्रासान् न करोति। नूनमुत्प्रेक्षते 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः' इत्युक्तेः। प्राणसमायाः कान्ताया वियोगेन विच्छेदेन विधुरः कातरः अतएव दानस्य मदवारिणः ज्यानिः अपगमः उल्लासाभावादिति भावः तया हेतुना विषण्णाः विषादं गता अतएव मूका निःशब्दा ये मधुपाः भ्रमराः तेषां व्यासङ्गेन सङ्गत्या दीनं दुःखितं विषण्णमित्यर्थः मधुपानां दुःखदर्शनादिति भावः आननं यस्य तथाभूतः सन् ताम्यति कष्टं प्राप्नोति ॥ १८६ ॥

सम्भोग प्रकरण

अथ सम्भोगः। तत्र नायकयोः प्राणसङ्गतयोः सङ्गतिवियुक्तयोर्वा मिथः समागमे प्रागुत्पन्नः तदानीन्तनो वा रत्याख्यः स्थायिभावः अभिलषणीयालिङ्गनादीनाम् अवाप्तौ सत्यां समुपजायमानैः हर्षधृतिस्मृतिप्रभृतिभिः व्यभिचारिभावैः संसृज्यमानः ऋतूद्यानोपगमनजलक्रीडापर्वतोपदेशप्रसाधन-गृहमधुपानेन्दूदयादिभिः उद्दीप्यमानः सविभ्रमभ्रूकटाक्षविक्षेपालापसम्भ्र-

मस्मितादिभिः अनुभावैः अभिव्यज्यमान ईप्सितमासादयन् जिहासितं वा आजिहानः प्राप्तप्राप्यप्रकर्षारम्भः सम्भोगश्रृङ्गाराख्यां लभते। स चतुर्द्धा प्रथमानुरागानन्तरः, मानानन्तरः, प्रवासानन्तरः करुणानन्तर इति ॥

अब सम्भोग (का प्रकरण) प्रारंभ किया जा रहा है। यहाँ नायक तथा नायिका का जो पहले नहीं मिल पाये हैं अथवा मिलकर बिछुड़ गये हैं, परस्पर मिलन हो जाने पर पहले से ही उत्पन्न अथवा उसी घड़ी उत्पन्न हो गया रति नामक स्थायीभाव चाहे जा रहे आलिङ्गन आदि की उपलब्धि पर उत्पन्न हो रहे हर्ष, धृति, स्मृति, मति आदि व्यभिचारियों से संसृष्ट होता हुआ, ऋतु, उद्यानगमन, जलक्रीडा, पर्वत के भाग, प्रसाधनगृह, मधुपान, चन्द्रोदय आदि से उद्दीप्त होता हुआ, विभ्रम के साथ भ्रूकटाक्ष का विक्षेप, आलाप, सम्भ्रम, स्मित आदि अनुभावों से अभिव्यक्त किया जाता हुआ अभीष्ट को प्राप्त तथा त्याज्य का त्याग कराता हुआ उपलब्ध तथा उपलभ्य के प्रकर्ष से प्रारम्भ होकर संभोग श्रृङ्गार का नाम प्राप्त करता है। वह चार प्रकार का है— (१) प्रथमानुरागानन्तर (२) मानानन्तर (३) प्रवासानन्तर तथा (४) करुणानन्तर।

स्व० द०—उक्त पंक्तियों में भोज ने संभोग श्रृङ्गार के समस्त आवश्यक तत्त्वों का उल्लेख कर दिया है। भरत के नाट्यशास्त्र में भी प्रतिपादन लगभग इसी ढंग से किया गया है। उनके शब्दों में—

"तत्र श्रृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभवः उज्ज्वलवेषात्मकः'' ...... तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलंभश्च। तत्र सम्भोगस्तावत् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य नयनचातुर्यभ्रूविक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः। विप्रलम्भकृतस्तु निर्वेदग्लानिशङ्कासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्यमोहमरणादिभिरनुभावैरभिनेतव्यः। अत्राह—यद्ययं रतिप्रभवः श्रृङ्गारः कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति। अत्रोच्यते—पूर्वमेवाभिहितं सम्भोगविप्रलम्भकृतः श्रृङ्गारः इति। ......करुणस्तु शापक्लेशविनिपतनेष्टजनविप्रयोग-विभवनाशवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्षभाव औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणः अन्यश्च विप्रलम्भः।'' ना० शा० पृ० ८४-८५ षष्ठ अध्याय।

भरत के वाक्यों से विप्रलम्भ तथा करुण का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है।

अथ सम्भोग इत्यादि। संसृज्यमानः सङ्गम्यमानः। अभिव्यज्यमानः व्यक्तीक्रियमाणः। आसादयन् प्रापयन्। जिहासितं हातुमिष्टं त्यक्तुमिष्टमित्यर्थः आजिहानः आत्यजन्॥

तेषु प्रथमानुरागानन्तरो यथा—

पाणिग्गहणे एअ पव्वतिए ण्हादं सहीहिं सोहग्गम्।
पशुपइणा वासुइकंकणम्मि ओसारिए दूरम्॥ १८७॥

इनमें से प्रथमानुरागानन्तर का उदाहरण—

विवाह के समय ही शिव के द्वारा वासुकी के ही बने हुये कङ्कण को दूर हटा देने से सखियों ने पार्वती का सौभाग्य जान लिया॥ १८७॥

पाणिग्रहण एव पार्वत्या ज्ञातं सखीभिः सौभाग्यम् ।
पशुपतिना वासुकिकङ्कणे अपसारिते दूरम् ॥

पाणीति । पार्वत्या गौर्य्याः पाणिग्रहणे पाणिग्रहणसमये एव पशुपतिना वासुकिः नागराज एव कङ्कणः वलयाकारालङ्कारविशेषः तस्मिन् दूरम् अपसारिते अपनीते सति मुग्धायाः पार्वत्या भीतिशङ्कयेति भावः सखीभिः सौभाग्यं पार्वत्याः प्रियवाल्लभ्यं ज्ञातं विदितम् ॥ १८७ ॥

मानान्तरो यथा--

उव्वहइ दइअगहिआहरोट्ठखिज्जन्तरोसपडिराअम् ।
पाणीसरंतमइरं चसअं विअ णि अंमुहं बाला ॥ १८८ ॥

मानान्तर का उदाहरण—

प्रियतम के द्वारा हाथों से अधरोष्ठों को पकड़ लेने से समाप्त हो रहे रोष के विलास वाले, हाथ पर ही उड़िलो पड़ रही मदिरा वाले प्याले के सदृश अपने मुख को मुग्धा नायिका धारण कर रही है ॥ १८८ ॥

उद्वहति दयितगृहीताधरौष्ठक्षीयमाणरोषप्रतिरागम् ।
पाण्यवसरन्मदिरं चषकमिव निजमुखं बाला ॥

उद्वहतीति । बाला मुग्धा कान्ता दयितेन प्रियेण गृहीतः पाणिना धृतः अधरोष्ठः तेन क्षीयमाणः अपगच्छन् रोषस्य प्रणयकोपस्य प्रतिरागः स्फुरणादिरूपो विलासो यत्र तादृशं पाणौ भुजे अवसरन्ती पतन्ती मदिरा यस्य तथाभूतं चषकमिव पानपात्रमिव निजं मुखम् उद्वहति धत्ते ॥ १८८ ॥

प्रवासानन्तरो यथा--

मंगलवलअं जीअणं विअ रक्खिअं जं पोसिदवहुआए ।
पत्तपिअदंसणससिणहवाहुलदिआए तं भिण्णम् ॥ १८९ ॥

प्रवासानन्तर का उदाहरण—

प्रोषितभर्तृका नायिका ने जिस मङ्गलवलय को अपने प्राणों की भांति सुरक्षित रखा था, वही प्रियतम के दर्शन के कारण अतिशय स्नेह से संयुक्त भुजलता के द्वारा तोड़ दिया गया ॥ १८९ ॥

मङ्गलवलयं जीवनमिव रक्षितं यत् प्रोषितवध्वा ।
प्राप्तप्रियदर्शनसस्नेहवाहुलतिकया तद्भिन्नम् ॥

प्रोषितस्य वध्वा नार्य्या यत् मङ्गलवलयं जीवनमिव प्रियस्येति भावः रक्षितं तत् प्राप्तेन प्रियस्य प्रवासादागतस्येति भावः दर्शनेन सस्नेहा स्नेहवती या बाहुलतिका भुजलता तया भिन्नं सादरं गृहीतमित्यर्थः ॥ १८९ ॥

करुणानन्तरो यथा--

ण मुद्धम्मि मए विपिणे दिट्ठो पिअदमो जिअंतीए ।
इह लज्जा अ परिहासो तिस्से हिअए ण संमाइ ॥ १९० ॥

तेऽमी चत्वारोऽपि सम्भोगाः चतुर्भिरेव विप्रलम्भैः प्रकर्षमापद्यन्ते ॥ १९० ॥

करुणानन्तर का उदाहरण—

'मैं अबोध नहीं हूँ, मैंने जीवित ही प्रियतम को वन में देखा है।' इस उक्ति से उसके हृदय में लज्जा तथा परिहास समा ही नहीं रहा है ॥ १९० ॥

ये चारो संभोग चारो ही विप्रलम्भों से प्रकृष्टता को प्राप्त होते हैं।

स्व० द०—ऊपर के चारो उदाहरणों में विप्रलम्भ के भेदों का समावेश है। उनके कारण रति में विशेष पुष्टता आती है। चतुर्थ की छाया निर्णयसागर वाली प्रति में निम्नलिखित है—

"न मृतास्मि मृतेऽपि प्रिये दृष्टः पुनः प्रियतमो जीवन्त्या ।
इति लज्जा च प्रहर्षस्तस्या हृदये न संमाति ॥"

किन्तु इस छाया के अर्थ की अपेक्षा पूर्व वाली का अर्थ अधिक सुन्दर तथा सङ्गत है।

न मुग्धास्मि मया विपिने दृष्टः प्रियतमो जीवन् ।
इह लज्जा च परिहासस्तस्या हृदये न सम्माति ॥

अहं न मुग्धास्मि बालिका नाहमित्यर्थः मद्वचनमसत्यं भ्रान्तं वा न मन्यतामिति भावः। मया विपने अरण्ये जीवन् प्रियतमः तस्या इति शेषः दृष्टः अवलोकितः। इह अस्मिन् वचने कथिते इति शेषः तस्याः हृदये लज्जा च परिहासश्च न सम्माति न पर्याप्नोतीत्यर्थः। सा हि एतद्वचनेन प्रियतमजीवनस्य सत्यताप्रतीतेः लज्जावती मृतस्य जीवनमसम्भवमिति बुद्धया च परिहासः सख्या कृत इति अवबुद्धवती चासीदिति भावः। कस्याश्चित् प्रतिवासिनीं काञ्चित् प्रत्युक्तिरियम् ॥ १९० ॥

तेषु प्रथमानुरागेण यथा--

इन्दुर्यत्र न निन्द्यते न मधुरं दूतीवचः श्रूयते
नालापा निपतन्ति बाष्पकलुषा नोपैति कार्श्यं वपुः ।
स्वाधीनामनुकूलिनीं निजवधूमालिङ्ग्य यत्सुप्यते
तत्किं प्रेम गृहाश्रमव्रतमिदं कष्टं समाचर्य्यते ॥१९१॥

इनमें से प्रथमानुराग के द्वारा (प्रकर्षप्राप्ति का) उदाहरण—

जिस प्रेम में चन्द्रमा की निन्दा नहीं की जाती, न मीठी-मीठी दूती की वाणी सुनने को मिलती है, न आँखों में आँसू भर कर बातें निकाली जाती हैं, और न शरीर ही कृशता को प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने वश में रहनेवाली अनुरक्त अपनी वधू का आलिङ्गन करके जो शयन किया जाता है, उस प्रेम का क्या कहना? यह गृहस्थाश्रम रूप व्रत का आचरण दुर्लभ है ॥ १९१ ॥

इन्दुरिति। यत्र प्रेम्णि इन्दुश्चन्द्रः न निन्द्यते न तिरष्क्रियते विरहे असह्यतयेति भावः, मधुरं नानाभङ्गियुतमिति भावः दूत्याः प्रियाप्रेषिताया इति भावः वचः वचनं न श्रूयते नाकर्ण्यते प्रवासाभावादिति भावः। वाष्पकलुषा अश्रुभिराविलाः आलापाः वचनानि न निपतन्ति न प्रसरन्ति, तथा वपुः शरीरं कार्श्यं तनुतां न उपैति न प्राप्नोति विरहादिति भावः। यत यत्रेत्यर्थः अव्ययमेतत् स्वाधीनां स्ववशाम् अनुकूलिनीम् अनुरक्तां निजवधूम् आलिङ्ग्य उत्सङ्गे कृत्वा सुप्यते निद्रायते तत् प्रेम किम्? अनिर्वचनीयमित्यर्थः इदम्, इत्थं गृहाश्रमव्रतं गार्हस्थधर्मनियमः कष्टं समाचर्य्यते अनुष्ठीयते लभ्यते इत्यर्थः ईदृक् गार्हस्थधर्मपालनमतिदुर्लभमिति भावः ॥ १९१ ॥

मानेन यथा--

रइविग्गहम्मि कुण्ठीकिदाओ धाराओ पेम्मखग्गस्स।
अणम्माइं एअ सिज्जन्ति माणसाइं णात्थ मिहुणाणम् ॥१९२॥

मान के द्वारा (प्रकर्षप्राप्ति) का उदाहरण—

प्रेम कलह में प्रेम रूपी तलवार की धारें कुण्ठित हो जाया करती हैं क्योंकि इसमें नायकों तथा नायिकाओं के मानस बिना झुके हुये सिद्ध नहीं होते ॥ १९२ ॥

रतिविग्रहे कुण्ठीकृता धाराः प्रेमखड्गस्य।
अनम्राण्येव सिध्यन्ति मानसानि नात्र मिथुनानाम् ॥

रतिविग्रहे। प्रणयकलहे प्रेमखड्गस्य प्रणयरूपस्य असेः धाराः कुण्ठीकृताः क्षीयतां गता इत्यर्थः। यतः मिथुनानां स्त्रीपुरुषाणां मानसानि अनम्राणि अनतानि एव अत्र रतिविग्रहे च सिध्यन्ति स्वत एव परस्परं नतानि एव सिध्यन्तीत्यर्थः ॥ १९२ ॥

प्रवासेन यथा--

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
मासानेतान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥ १९३ ॥

प्रवास के कारण प्रकर्ष का उदाहरण—

विष्णु के शेषशय्या से उठते ही मेरे शाप की समाप्ति है, अतः आँखें मूँद कर इन चार महीनों को बिता लो। इसके बाद हम दोनों अपनी उन-उन कामनाओं को जो विरह के कारण बढ़ गई हैं अथवा विरह में एक-एक करके गिनी गई हैं, पूर्णचन्द्र से युक्त शरत्काल की चाँदनी रातों में देखेंगे ॥ १९३ ॥

शापान्त इति। शार्ङ्गपाणौ नारायणे भुजगशयनात् अनन्तशय्यायाः उत्थिते कार्तिकपौर्णमास्यामिति भावः मे मम शापस्य अन्तः अवसानं भवितेति शेषः। अतः एतान् चतुरः मासान् आषाढादीन् इत्यर्थः लोचने नयने मीलयित्वा निमील्य गमय अतिवाहय। पश्चात् शापावसानात् परम् आवां त्वम् अहञ्चेत्यर्थः परिणताः पूर्णतां गताः शरच्चन्द्रिकाः

शारदीयाः चन्द्ररश्मयः यासु तथाभूतासु क्षपासु रात्रिषु विरहे गुणितं संख्यातम् एवमेव करिष्यामीत्येवं रूपमित्यर्थः तं तं आत्मनः अभिलाषं मनोरथं निर्वेशयावः भोचयावहे। 'निर्वेशो भृतिभोगयोरि'त्यमरः ॥ १९३ ॥

करुणेन यथा--

न मर्त्यलोकस्त्रिदिवात् प्रहीयते म्रियेत नाग्रे यदि वल्लभो जनः ।
निवृत्तमेव त्रिदिवप्रयोजनं मृतः स चेज्जीवत एव जीवति ॥१९४॥

करुण के कारण (रस प्रकर्ष) का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।१८४)

नेति। यदि वल्लभो जनः प्रियजनः अग्रे न म्रियेत न पञ्चतां प्राप्नुयात् तदा मर्त्यलोकः पृथिवीत्यर्थः त्रिदिवात् स्वर्गात् न प्रहीयते न प्रहीनो भवति पृथिवी स्वर्गतुल्यतया प्रतिभासते इति भावः। चेत् यदि मृतः पञ्चतां गतः स प्रियजनः जीवत एव जीवितस्य जनस्य एव जीवति तदा त्रिदिवस्य स्वर्गस्य प्रयोजनम् उपयोगः आकाङ्क्षेति यावत् निवृत्तं गतमेव। मरणानन्तरजीवनं प्रियजनस्य स्वर्गादपि सुखकरमिति भावः ॥ १९४ ॥

तिर्य्यगादिषु च एतदाभासा भवन्ति ॥

तेषु सरीसृपमृगयोः यथा--

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः ।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥१९५॥

तिर्यक् आदि में इनके आभास होते हैं।

इनमें से सरीसृप तथा मृग में (इनके निरूपण से आभास का) उदाहरण—

अपनी प्रेयसी का अनुकरण करते हुये भ्रमर ने एक ही पुष्प की प्याली में पराग का पान किया। काले मृग ने भी स्पर्श के आनन्द से आँखें मूँदे हुई मृगी को सींग से खुजला दिया ॥१९५॥

मध्विति। द्विरेफो भ्रमरः स्वां निजां प्रियां भ्रमरीमित्यर्थः अनुवर्त्तमानः अनुसरन् कुसुममेव एकं पात्रं तस्मिन् पुष्परसं पपौ पीतवान्। कृष्णसारः मृगविशेषः स्पर्शेन प्रियाङ्गस्येति भावः निमीलिते आनन्दातिशयात् मुकुलिते अक्षिणी यस्याः तथाभूतां मृगीं हरिणीम् अकण्डूयत कण्डूयितवान् ॥ १९५ ॥

पशुपक्षिणोः यथा--

ददौ सरःपङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा ॥१९६॥

पशु तथा पक्षियों में भी (निरूपण से रसाभास का) उदाहरण—

हस्तिनी ने हाथी को सरोवर के कमल के पराग से सुगन्धित कुल्ले का जल हाथी को दिया। चक्रवाक ने आधी खाई हुई बिसतन्तु से अपनी प्रियतमा चक्रवाकी का स्वागत किया ॥ १९६ ॥

ददाविति। करेणुः हस्तिनी गजाय प्रियतमायेति भावः सरसः सरोवरस्य पङ्कजरेणुगन्धि पद्मरजःसुरभि गण्डूषजलं स्वपीतावशिष्टं जलमित्यर्थः ददौ दत्तवती। सर इत्यत्र रसादिति पाठे रसात् रागादित्यर्थः। रथाङ्गनामा चक्रवाकः अर्द्धोपभुक्तेन अर्द्धजग्धेन विसेन मृणालेन जायां चक्रवाकीं सम्भावयामास प्रीणयामास ॥ १९६ ॥

किन्नरेषु यथा--

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैरीषत्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे ॥ १९७॥

किन्नरों का उदाहरण—

गीतों के बीच-बीच में परिश्रम के कारण छा गये स्वेद-विन्दुओं से कुछ कुछ छूट गये पत्र-लेखा वाले, पुष्परस के पान से घूम रहे नयनों से सुशोभित अपनी प्रियतमा के मुख को किंपुरुष ने चूम लिया ॥ १९७ ॥

स्व० द०—जिन चेष्टाओं को मनुष्यों में प्रदर्शित करना चाहिये, उनको यदि मानवेतर पशु, पक्षी, वृक्ष, सरीसृप आदि में दिखला दिया जाये तब वहाँ रस न होकर रसाभास होता है। वस्तुतः मानव-मानव की चेष्टाओं और प्रवृत्तियों को देख अथवा सुनकर उनसे साक्षात् रूप से अत्यन्त प्रभावित हो सकता है, क्योंकि यहाँ उसे उनको ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेना होता है। इससे तादात्म्यभाव सरलता से ही निष्पन्न हो जाता है। इनके अतिरिक्त किसी में भी किसी प्रकार की चेष्टाओं को देखने से रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता है। वहाँ दूसरी योनि को अपनी भावनाओं के अनुकूल आरोपित करने में व्यवधान हो जाता है। इस व्यवहितत्व के कारण ही वह रस न होकर रसाभास होता है।

गीतान्तरेषु इति। किम्पुरुषः किन्नराख्यो देवयोनिविशेषः गीतान्तरेषु सङ्गीताभ्यन्तरेषु श्रमेण सङ्गीतकरणजनितेनेति भावः ये वारिलेशाः स्वेदविन्दवः तैः ईषत् किञ्चित् समुच्छ्वासिता विलुप्ता पत्रलेखा पत्ररचना यस्मिन् तथोक्तं पुष्पासवेन कुसुममधुना तत्पानेनेति भावः आघूर्णिताभ्यां नेत्राभ्यां शोभते इति तथाभूतं प्रियायाः किन्नर्या मुखं चुचुम्बे चुम्बितवान् ॥ १९७ ॥

तरुषु यथा--

पर्य्याप्तपुष्पस्तवकस्तनीभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुः विनम्रशाखाभुजवन्धनानि ॥ १९८॥

वृक्षों में (रतिनिरूपण का) उदाहरण—

अत्यन्त खिले हुये पुष्पगुच्छ रूपी स्तनों वाली, फड़क रहे पल्लव रूप ओष्ठों से मनोहर लग रही, लता रूपी वधुओं से वृक्षों ने भी झुकी हुई शाखा रूपी भुजाओं का बन्धन प्राप्त किया ॥ १९८ ॥

पर्य्याप्तेति। तरवोऽपि अचेतना वृक्षा अपि का कथा सचेतनानामित्यपि कारेण द्योत्यते। पर्य्याप्ताः सम्यक् प्रस्फुटाः ये पुष्पाणां स्तवकाः ते एव स्तना यासां ताभ्यः स्फुरद्भि

राजद्भिः प्रवालैः नवपल्लवैरेव ओष्ठैः मनोहराभ्यः मनोहारिणीभ्यः लता एव वध्वः ताभ्यः वल्लीनारीभ्यः विनम्राः शाखा एव भुजाः बाहवः तै बन्धनानि आलिङ्गनानीति भावः अवापुः लेभिरे ॥ १९८ ॥

विप्रलम्भचेष्टासु प्रथमानुरागे स्त्रिया यथा--

पेच्छइ अलद्धलच्छं दीहं णीससई सुण्णअं हसइ।
जह जप्पइ अप्फुडन्तं तह से हिअए ट्ठिअं किम्पि ॥ १९९ ॥

विप्रलंभ की चेष्टाओं में प्रथमानुराग के विषय में स्त्री की (चेष्टाओं का) उदाहरण—

वह सुन्दरी जो बिना लक्ष्य के ही देखती है, लम्बी-लम्बी साँसे लेती हैं, झूठ-मूठ की हँसती हैं, और अस्पष्ट रूप से बातें करती है, इससे यह प्रतीत होता है कि इसके हृदय में कुछ बात है ॥ १९९ ॥

पश्यति अलब्धलक्ष्यं दीर्घं निःश्वसिति शून्यकं हसति।
यथा जल्पति अस्फुटं तथास्या हृदये स्थितं किमपि ॥

पश्यतीति। इयं अलब्धं लक्ष्यं यस्मिन् तत् यथा तथा लक्ष्यं विनेत्यर्थः यथा पश्यति अवलोकयति। दीर्घम् आयतं यथा तथा निःश्वसिति निश्वासं त्यजति। शून्यकम् अहेतुकमिति भावः यथा हसति, तथा अस्फुटम् अस्पष्टं यथा तथा जल्पति आलपति तथा अस्या हृदये स्थितं किमपि वस्तु इति तर्कयामीति शेषः ॥ १९९ ॥

पुंसो यथा—

सो तुह किदे सुंदरि ! तह च्छीणो सुमहिमओ हलिअऊत्तो।
जह मे मच्छरिणी अवि दिव्वजाआ पडिवण्णा ॥२००॥

पुरुष की (चेष्टाओं का) उदाहरण—

हे सुन्दरी, वह हलवाहे का लड़का जो अत्यन्त महानुभाव था, तुम्हारी विरह में इतना दुबला हो गया है कि देवाङ्गनायें भी उसके लिये विद्वेषिणी अर्थात् विरक्ति योग्य हो गई हैं ॥ २०० ॥

स्व० द०—निर्णयसागर की प्रति में उक्त गाथा के उत्तरार्द्ध की छाया इस प्रकार दी गई है, जिसका अर्थ अधिक चामत्कारिक है—

(यथास्व मत्सरिण्यापि दौत्यं जायया प्रतिपन्नम्।)

इसकी छाया गाथासप्तशती (४।५२) में इस प्रकार है—

स तव कृते सुन्दरि ! तथा क्षीणो सुमहिमा हलिकपुत्रः।
यथास्य मत्सरिणी अपि दिव्यजाया प्रतिपन्ना ॥

हे सुन्दरि ! सः सुष्ठु महिमा यस्य तथाभूतः महानुभाव इत्यर्थः हलिकस्य पुत्रः तव कृते तन्निमित्तं तथा क्षीणः कार्श्यं गत इत्यर्थः यथा दिव्यजाया अपि सुरसुन्दरी अपि अस्य मत्सरिणी विद्वेषिणी विरागार्हेति भावः प्रतिपन्ना प्रतिबभौ इत्यर्थः ॥ २०० ॥

मानो स्त्रिया यथा--

कणुज्जुआ वराई सा अज्ज तए किदावराहेण ।
जम्भाइआ रुवखपलोअइआइं दिअहेण सिक्खविआ ।। २०१ ।।

मान में स्त्री की (चेष्टाओं का) उदाहरण—

इस समय अपराध करके तुमने सरकण्डे सी सीधी, सरल स्वभाव वाली बेचारी सुन्दरी को एक ही दिन में उदासीनता, रुदन तथा जम्हाई की शिक्षा दे दी है ॥ २०१ ॥

काण्डर्जुका वराकी अद्य त्वया सा कृतापराधेन ।
अलसायितरुदितविजृम्भितानि दिवसेन शिक्षिता ॥

कणुज्जुआ इति ॥ २०१ ॥

पुंसो यथा--

अविभाविअ रअणिमुहं तस्स असच्चरिअविमलचंदुज्जोअम् ।
जाअं पिआविरहे वड्ढंताणुसआ मूढलक्खहिअअम् ।। २०२ ।।

पुरुष की (चेष्टाओं) का उदाहरण—

विशुद्धरूप से चल रहे निर्मल चन्द्रमा की किरणों से धवल संध्याकाल का बिना निरूपण किये ही उसका हृदय प्रियतमा के विरोध करने पर अथवा प्रिया के वियोग में बढ़ रहे पश्चाताप के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है ।। २०२ ।।

स्व० द०—इसकी छाया निर्णयसागर की प्रति में इस प्रकार दी गई है—

अविभावितरजनीमुखं तस्य च सच्चरितविमलचन्द्रोद्द्योतम् ।
जातं प्रियाविरोधे वर्धमानानुशयमूढलक्ष्यं हृदयम् ।।

अविभाविअ इति ॥ २०२ ॥

प्रवासे स्त्रिया यथा--

पिअसम्भरणपओट्टन्तवाहधाराणिवादभीआए ।
दिज्जवंकग्गीवाइ दीवहो पहिअजाआए ।। २०३ ।।

प्रवास में स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

प्रिय जन की याद आने पर छलक उठी आँसुओं की धारा के दीपक पर गिरने के भय से पथिक की पत्नी गर्दन को मोड़कर दीपक जलाती है ।। २०३ ।।

[स्व० द०—इस गाथा की छाया इस प्रकार है—

प्रियसंस्मरणप्रलुठद्बाष्पधारानिपातभीतया ।
दीयते वक्रग्रीवया दीपकः पथिकजायया ॥

पिअ इति ॥ २०३ ॥

पुंसो यथा--

मज्झण्हपत्थिदस्स वि गीम्हे पहिअस्स हरइ सन्तावम् ।
हिअअठ्ठिअजाआमुहमिअंकजोण्हजलप्पवाहो ॥ २०४ ॥

पुरुष की (चेष्टाओं का) उदाहरण—

ग्रीष्म ऋतु की दोपहरी में भी चल पड़े पथिक के सन्ताप को हृदय में विद्यमान प्रियतमा के मुखचन्द्र का ज्योत्स्ना रूपी जलप्रवाह अपहृत कर लेता है ॥ २०४ ॥

मध्याह्नप्रस्थितस्यापि ग्रीष्मे पथिकस्य हरति सन्तापम् ।
हृदयस्थितजायामुखमृगाङ्कज्योत्स्नाजलप्रवाहः ॥

मध्याह्नेति । ग्रीष्मे निदाघे मध्याह्ने मध्यन्दिने प्रस्थितस्यापि चलितस्यापि पथिकस्य हृदये स्थिताया जायायाः कान्तायाः मुखमेव मृगाङ्कः चन्द्रः तस्य ज्योत्स्ना कान्तिरेव जलप्रवाहः जलधारा सन्तापं हरति प्रियामुखानुध्यानेन अन्यमनस्कतया ग्रीष्मसन्तापो नानुभूयते इति भावः ॥ २०४ ॥

करुणे स्त्रिया यथा—

णवरिअपसारिअंगीरअभरिऊप्पहपइणवेणीबन्धा ।
पडिआ उरसंदाणिअमहिअलचक्कलइ अत्थणीजणअसुआ ॥२०५॥

करुण में स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

इसके पश्चात् अङ्गों को फैलाई हुई, धूल से भरे हुए उन्मार्ग पर चलने से शिथिल केशों के बन्धनवाली, वक्षस्थल पर आबद्ध, पृथ्वीतल के चक्रवाकों को स्तन बनाये हुये जानकी गिर पड़ी ।

[स्व० द०—इसकी छाया दूसरी प्रतियों में यह है—

अनन्तरं च प्रसारिताङ्गी रजोभरितोत्पथप्रकीर्णवेणीबन्धा ।
पतितोरःसंदानित-महीतलचक्रीकृतस्तनी जनकसुता ॥ २०५ ॥]

णवरिअ इति ॥ २०५ ॥

पुंसो यथा—

अहोमुहो चिठ्ठइ जाआसुण्णे घरे हलिअउत्तो ।
उक्खित्तणिहाणाइं व रमणट्ठाणाणि पेक्खन्तो ॥ २०६ ॥

पुरुष की (चेष्टाओं) का उदाहरण—

पत्नी से रहित घर में हलवाहे का बेटा मुँह नीचे किये बैठा है और अपने केलि के स्थानों को इस प्रकार देख रहा है मानो वहाँ से कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति खोद ली गई हो ॥ २०६ ॥

स्व० द०—यहाँ विप्रलम्भ की अवस्था में स्त्री तथा पुरुष की चेष्टाओं का निरूपण हो चुका है । अब आगे उन्हीं की विभिन्न चेष्टाओं का भी उदाहरण दिया जा रहा है ।

अधोमुखस्तिष्ठति जायाशून्ये गृहे हलिकपुत्रः ।
उत्खातनिधानानीव रमणस्थानानि पश्यन् ॥

अध इति । हलिकस्य पुत्रः जायाशून्ये कान्ताविरहिते गृहे उत्खातनिधानानीव उद्धृतनिधीनीव रमणस्थानानि सुरतक्षेत्राणि पश्यन् अवलोकयन् अधोमुखः तिष्ठति । अधोमुखः

तिष्ठतीत्यत्र अन्तर्मूर्तिर्दह्यते इति पाठे अन्तर्मूर्ति शरीरान्तरित्यर्थः दह्यते अन्तस्तापेनेति शेषः ॥ २०६ ॥

एवमन्यत्रापि ॥

इसी प्रकार दूसरे स्थानों पर भी (चेष्टायें होती) हैं ।

करुणवर्जं स्त्रिया यथा--

सौधादुद्विजते त्यजत्युपवनं द्वेष्टि प्रभामैन्दवीं
द्वारात् त्रस्यति चित्रकेलिसदसो वेशं विषं मन्यते ।
आस्ते केवलमब्जिनीकिसलयप्रस्तारशय्यातले
सङ्कल्पोपनतत्वदाकृतिरसायत्तेन चित्तेन सा ॥ २०७ ॥

करुण के अतिरिक्त स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

वह सुन्दरी महलों से उद्विग्न है, उपवनों का भी परित्याग कर दी है, चन्द्रमा की किरणों की निन्दा करती है, विभिन्न प्रकार की केलियाँ जहाँ घर में हुई थीं, उसके द्वार से ही वह भयभीत रहा करती थी, वह वस्त्रसज्जा को जहर के सदृश मानती है । वह तो बस कमलिनी के पत्तों की बिछी सेज के ऊपर आपके रूप के निरन्तर चिन्तन के कारण आनन्द से आप्लुत चित्त के साथ पड़ी भर रहती है ॥ २०७ ॥

सौधादिति । सा कान्ता सौधात् हर्म्यात् उद्विजते विरक्ता भवतीत्यर्थः उपवनम् उद्यानं त्यजति, इन्दोरियम् ऐन्दवी तां चान्द्रमसीमित्यर्थः प्रभां द्वेष्टि निन्दति । चित्रकेलिसदसः आलेख्यगृहस्य च द्वारात् त्रस्यति बिभेति । वेशं विषं मन्यते केवलं परम् अब्जिन्याः पद्मिन्याः किसलयप्रस्तारः पत्ररचना एव शय्यातलं तस्मिन् सङ्कल्पेन वासनया उपनता उपनीता या त्वदाकृतिः तव मूर्त्तिः तत्र यो रसः रागः तस्य आयत्तम् अधीनं तेन चित्तेन मनसा आस्ते तिष्ठति ॥ २०७ ॥

स्त्रिया एव प्रथमानुरागवर्जं यथा,--

तिष्ठ द्वारि भवाङ्गणे व्रज बहिः स प्रैति वर्त्मेक्षते
शालामञ्च तमङ्गमञ्च वलभीमञ्चेति वेश्माञ्चति ।
दूतीं सन्दिश सन्दिशेति बहुशः सन्दिश्य सास्ते तथा
तल्पे कल्पमयीव निर्घृण ! यथा नान्तं निशा गच्छति ॥ २०८ ॥

प्रथम अनुराग से रहित स्त्री की ही चेष्टाओं का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।५६) ॥ २०८ ॥

तिष्ठेति । हे निर्घृण ! निर्दय ! द्वारि द्वारदेशे तिष्ठ स्थितिं कुरु, अङ्गणे अजिरे भव अवतिष्ठस्व बहिः बाह्यं देशं व्रज गच्छ, यतः स मत्कान्त इति भावः प्रैति प्रकर्षेण आगच्छति पन्थानम् ईक्षते अवलोकयति त्वं द्वारि स्थित्वा अङ्गणे अवस्थाय बहिर्गत्वा च तं प्रतीक्षस्वेति भावः । स मत्कान्त इति भावः वेश्म शालाम् अञ्चति अलङ्करोति अलंकरि-

ष्यतीत्यर्थः इति हेतोः त्वं शालां गृहम् अङ्ग पूजय सज्जीकुर्वित्यर्थः तम् अङ्गं शालास्थित-मुपकरणं परिच्छदादिकमित्यर्थः अङ्ग परिष्कुर्वित्यर्थः वलभीं गृहोपरिस्थितं गृहविशेषम् अङ्ग सज्जय। दूतीं मामिति शेषः सन्दिश सन्दिश दूतीमुखेन एवमेवं वाचिकं तत्समीपे प्रेषयेति भावः इति बहुशः पुनः पुनः सन्दिश्य सखीमिति शेषः सा तव कान्ता कल्पमयीव इत्थं कल्पनामयीव तल्पे शय्यायां तथा आस्ते तिष्ठति यथा निशा रजनी अन्तम् अवसानं न गच्छति न प्रभाता भवतीति भावः ॥ २०८ ॥

प्रथमानुरागवर्जं पुंसो यथा,

> रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते
> शय्योपान्तविवर्त्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः ।
> दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितामन्तःपुरेभ्यो यदा
> गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविनम्रश्चिरम् ॥ २०९ ॥

प्रथम अनुराग के अतिरिक्त, पुरुष की चेष्टाओं का वर्णन—

वह रमणीय पदार्थों से द्वेष करता है, पहले की भांति सेवकों की सेवाओं को भी स्वीकार नहीं करता है, सेज के किनारे किनारे करवटें बदल बदल कर बिना सोये ही रातें बिता देता है। वह बड़ी चतुराई के साथ अपनी रानियों को उत्तर देता है, और जब नाम पुकारने में चूक जाता है—उनके स्थान पर शकुन्तला का नाम ले लेता है- तब बहुत देर तक लज्जा से झुक जाता है ॥ २०९ ॥

रम्यमिति। स राजा रम्यं रमणीयं वस्तु द्वेष्टि निन्दति पुरा यथा पूर्ववदित्यर्थः प्रकृतिभिः अमात्यादिभिः न सेव्यते न कार्य्यार्थमनुगम्यते इति यावत् शय्यायाः शयनतलस्य उपान्तेषु विवर्त्तनैः लुण्ठनैः उन्निद्र एव निद्रारहित एव क्षपाः रात्रीः विगमयति अतिवाहयति। यदा यस्मिन् समये दाक्षिण्येन दक्षिणः सर्वासु समरागो नायकः तस्य भावः तेन सर्वासु समदृष्ट्येति भावः अन्तःपुरेभ्यः अन्तःपुरवर्त्तिनीभ्यो नारीभ्यः उचिताम् अवश्यं प्रतिवचनीयामित्यर्थः वाचं वाक्यं ददाति ताः प्रतिवक्तीत्यर्थः तदा गोत्रेषु नामसु स्खलितः व्यत्ययित इत्यर्थः एकस्या नाम्नि उच्चरितव्ये हृदयस्थिताया नाम प्रयोक्तेति यावत् सन् चिरं बहुक्षणमित्यर्थः व्रीडया लज्जया अवनम्रः अवनतः भवति ॥ २०९ ॥

पुंस एव प्रवासकरुणे यथा,

> सीतावेश्म यतो निरीक्ष्य हरते दृष्टिं झटित्याकुलाम्
> अन्योन्यार्पितचञ्चुदत्तकवलैः पारावतैर्भूयते ।
> इन्दोर्दूरत एव नश्यति विशत्यन्तर्गृहं दुःखितः
> प्रच्छाद्याननमञ्चलेन रजनीष्वस्तत्रपं रोदिति ॥ २१० ॥

प्रवास करुण में पुरुष की ही चेष्टाओं का उदाहरण—

जहाँ पर कबूतर एक दूसरे को अपनी चोंचों से चारे का आदान-प्रदान किया करते हैं, उसी सीता के घर को देखते ही एकाएक (राम की) दृष्टि व्याकुलता से हटा लेते हैं, वह

चन्द्रमा से तो दूर से ही छिप जाते हैं और बहुत अधिक खिन्न होकर घर में प्रवेश करते हैं। रातों में अपने आँचल से मुख ढक कर लज्जा का बिना ख्याल किये ही रोते रहते हैं ॥ २१० ॥

स्व० द०—यहाँ तक विप्रलम्भकालीन चेष्टाओं का स्त्री पुरुष आदि आश्रय के भेद से निरूपण हुआ। अब आगे संभोग कालीन चेष्टाओं के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

सीतेति। यतः यत्र सीतावेश्मनीत्यर्थः पारावतैः कपोतैः अन्योऽन्यस्मै परस्परस्मै चञ्चुभिः मुखाग्रैः दत्तः कवलः ग्रासः यैः तथाभूतैः भूयते विचर्यते इति यावत् तत् सीताया वेश्म वासगृहं निरीक्ष्य अवलोक्य झटिति सहसा आकुलाम् अश्रुकलुषामिति भावः दृष्टिं हरते वहति राम इति कर्तृपदमूह्यम् एवमुत्तरत्रापि। इन्दोः चन्द्रात् दूरत एव नश्यति अदर्शनं गच्छतीत्यर्थः उद्दीपकत्वात् चन्द्रं नालोकयतीति भावः दुःखितः अतीव कातरः सन् अन्तर्गृहं गृहाभ्यन्तर विशति गच्छतीत्यर्थः। तथा रजनीषु रात्रिषु अञ्चलेन वसनप्रान्तेन आननं प्रच्छाद्य आवृत्य अस्ता गता त्रपा लज्जा यत्र तत् अस्तत्रपं निर्लज्जमित्यर्थः यथा तथा रोदिति क्रन्दति ॥ २१० ॥

सम्भोगचेष्टासु पूर्वानुरागानन्तरे चुम्वनं यथा,—

आदरपणामिओठ्ठं अघड़िअणासं संवलिअणिचोलं।
वणभअलुप्पमुहीए तीए परिउम्वणं सुमरिमो ॥ २११ ॥

सम्भोग की चेष्टाओं में पूर्वराग के पश्चात् वाली दशा में चुम्बन का उदाहरण—

व्रण के भय से अपने मुख को घुमा लेनेवाली अथवा ढक लेनेवाली अपनी प्रेयसी का वह चुम्बन मुझे याद आता है जिसमें उसने अत्यन्त आदर के साथ अपने अधरों को झुका लिया था, उसके अधर पहले से किसी को भी नहीं दिये गये थे और उसने अपने घूंघट के पट को समेट लिया था ॥ २११ ॥

स्व० द०—गाथासप्तशती, तथा निर्णय सागर से प्रकाशित प्रति में इस छन्द का पाठान्तर मिलता है। उसकी छाया इस प्रकार है—

आदरप्रणामितौष्ठमघटितनासमसंहृतललाटम्।
वर्णघृतलिप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्मरामः ॥ गा० स० १.२२ ॥

आदरप्रणामितोष्ठमघटितन्यासं संवलितनिचोलम्।
व्रणभयलुप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्मरामः ॥

आदरेति। आदरेण यत्रातिशयेन प्रणामितः अवनतिं नीतः ओष्ठः अधर इत्यर्थः यस्मिन् तथोक्तम् अघटितः अकृतः न्यासः अर्पणं दानमित्यर्थः यस्य तादृशं प्रागदत्तमिति भावः संवलितनिचोलम् आवृतमुखावरणवस्त्रं व्रणात् क्षतात् चुम्बनजनितादिति भावः भयं तेन लुप्तं परिवर्त्तितमित्यर्थः मुखं यया तथाभूतायास्तस्याः मत्कान्ताया इत्यर्थः परिचुम्बनं स्मरामः स्मरणपथं नयामः। प्रोषितस्योक्तिः ॥ २११ ॥

अत्रैव आलिङ्गनं यथा—

तावमवणेइ ण तहा चन्दनपङ्को वि कामिमिहुणाणम्।
जह दूसहे गिह्मे अण्णोण्णालिङ्गणसुहम् ॥ २१२ ॥

ईर्ष्या दशा में आलिङ्गन का उदाहरण—

कामासक्त जोड़ों का ताप चन्दन का लेप भी उस प्रकार नहीं दूर कर पाता जितना कि असह्य गर्मी की ऋतु में परस्पर आलिङ्गन का सुख दूर कर देता है ॥ २१२ ॥

तापमपनयति न तथा चन्दनपङ्कोऽपि कामिमिथुनानाम् ।
यथा दुष्सहे ग्रीष्मे अन्योन्यालिङ्गनसुखम् ॥

तापमिति । दुःसहे सोढुमशक्ये ग्रीष्मे निदाघे यथा अन्योन्यस्य परस्परस्य आलिङ्गनेन सुखं कामिमिथुनानां कामिद्वन्द्वानां तापम् अपनयति निराकरोति, चन्दनपङ्कः चन्दनद्रवः अपि तथा न तापमपनयतीति शेषः ॥ २१२ ॥

मानानन्तरे चुम्बनं यथा,—

जह जह से उम्बइ मण्ण भरिआइं णिहुवणे दइओ ।
अच्छीइं उवरि उवरि तह तह भिण्णाइं विगलन्ति ॥ २१३ ॥

मानानन्तर संभोग में चुम्बन का उदाहरण—

प्रियतम सुख प्रसङ्ग में इस सुन्दरी के क्रोधपूर्ण नयनों का ज्यों ज्यों चुम्बन करता जाता है, त्यों त्यों ऊपर ऊपर उसके नेत्र टपकते जाते हैं अथवा खिलते जाते हैं ॥ २१३ ॥

यथा यथाऽस्याश्चुम्बति मन्युभरिते निधुवने दयितः ।
अक्षिणी उपरि उपरि तथा तथा भिन्ने विगलतः ॥

यथेति । दयितः प्रियः निधुवने भुक्तिप्रसङ्गे अस्याः कान्तायाः मन्युभरिते कोपकलुषिते अक्षिणी नयने यथा तथा भावति तथा तथा उपरि उपरि भिन्ने विदलिते विकसिते इत्यर्थः अक्षिणी इति शेषः विगलतः अश्रूणि वर्षत इत्यर्थः ॥ २१३ ॥

अत्रैव आलिङ्गनं यथा,—

माणदुमपरुसपवणस्स मामेत्ति सव्वंगणिव्वुदिकरस्स ।
उवऊहणस्स भद्दं रइणाडअपुव्वरंगस्स ॥ २१४ ॥

इसी में आलिङ्गन का उदाहरण—

मान रूपी वृक्ष को उखाड़ फेंकने वाले वायु के सदृश, 'मुझे मत छुओ', मुझे मत छुओ' इस प्रकार के वचनों से युक्त, सभी अवयवों को पूर्ण प्रहर्ष देने वाले सुरति रूपी नाटक की प्रस्तावना के सदृश आलिङ्गन का कल्याण हो ॥ २१४ ॥

मानद्रुमपरुषपवनस्य मा मामिति सर्वाङ्गनिर्वृतिकरस्य ।
उपगूहनस्य भद्रं रतिनाटकपूर्वरङ्गस्य ॥

मानेति । मानः प्रणयकोपः एव द्रुमः वृक्षः तस्य परुषः निष्ठुरः उन्मूलनकर इति भावः पवनः वायुः तस्य माननिरासकस्येति भावः मा माम् इति उच्चार्यते अस्मिन्निति मा मामिति मा मां स्पृशेति सकोपवचनम् तेन सर्वाङ्गेषु सर्वावयवेषु निर्वृतिं सुखम् करोतीति तस्यः रति सुरतमेव नाटकम् अभिनयग्रन्थः तस्य पूर्वरङ्गः प्रथममनुष्ठीयमानव्यापार-

विशेषः प्रस्तावनापरपर्य्याय इत्यर्थः तस्य उपगूहनस्य समालिङ्गनस्य भद्रं कुशलं भवतु इति शेषः। तादृशमुपगूहनमतीव मनोरममिति भावः॥ २१४॥

प्रवासानन्तरं चुम्बनं यथा,--

केनचिन्मधुरमुल्वणरागं बाष्पतप्तमधिकं विरहेषु।
ओष्ठपल्लवमपास्य मुहूर्त्तं सुभ्रुवः सरसमक्षि चुचुम्बे॥ २१५॥

प्रवास के बाद वाली संभोग दशा में चुम्बन का उदाहरण—

किसी नायक ने माधुर्यंयुक्त, चमकती लाली वाले, विरह काल में आँसुओं से अत्यधिक सन्तुष्ट हो गये पल्लवके सदृश अधरों को छोड़कर एक क्षण के लिये सुन्दर भौहोंवाली सुन्दरी के रसीले, नयनों का चुम्बन किया॥ २१५॥

केनचिदिति। केनचित् कामिनेत्यर्थः सुभ्रुवः सुन्दर्य्याः कान्तायाः विरहेषु अधिकं यथा तथा बाष्पतप्तम् अश्रुभिः तत्पातैरित्यर्थः तप्तम् उष्णं दुःखाश्रूणामुष्णताप्रसिद्धिः। मधुरं मनोज्ञम् उल्बणरागम् उज्ज्वललौहित्यम् ओष्ठपल्लवम् अधरकिसलयम् अपास्य विहाय मुहूर्त्तं कियन्तं क्षणमित्यर्थः सरसं सबाष्पमित्यर्थः स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते इति भावः अक्षि नयनं चुचुम्बे पपौ॥ २१५॥

करुणानन्तरमालिङ्गनं यथा,--

चन्द्रापीडं सा च जग्राह कण्ठे कण्ठस्थानं जीवितञ्च प्रपेदे।
तेनापूर्वां सा समुल्लासलक्ष्मीमिन्दुं दृष्ट्वा सिन्धुवेलेव भेजे॥२१६॥

करुणानन्तर संभोग में आलिङ्गन का उदाहरण—

उस कादम्बरी ने चन्द्रापीड के गले का आलिंगन किया और तत्काल ही उसका कण्ठस्थान जी उठा। उसे (जीवित) देखकर वह चन्द्रमा को देखने से समुद्र के जल की भांति एक विलक्षण तरङ्ग की छटा को प्राप्त की॥ २१६॥

चन्द्रापीडमिति। सा कादम्बरी चन्द्रापीडं कण्ठे जग्राह च आलिलिङ्ग च कण्ठस्थानं चन्द्रापीडस्येति शेषः जीवितं प्रपेदे प्राप च चकारद्वयं समकालत्वसूचकम्। सा कादम्बरी इन्दुं चन्द्रं दृष्ट्वा सिन्धुवेलेव सागरजलमिव तेन चन्द्रापीडजीवनदर्शनजेनेत्यर्थः अपूर्वां समुल्लासलक्ष्मीं समुल्लासशोभां भेजे प्राप॥ २१६॥

प्रथमानुरागानन्तरं दशनक्षतं यथा,--

णासं विअ सा कवोले अज्ज वि तुह दंतमंडलं वाला।
उव्भिण्णपुलअपरिवेढ़परिगअं रक्खइ वराई॥ २१७॥

प्रथमानुराग के पश्चात् दशन क्षत का उदाहरण—;

दूती किसी नायक से कहती है कि वह बेचारी मुग्धा नायिका कपोलों पर तुम्हारे दन्तक्षति रूप अलङ्कार को निकल आये हुये रोमाञ्चों की परिधि से घेर कर धरोहर की भांति सुरक्षित रखती है॥ २१७॥

न्यासमिव सा कपोले अद्यापि तव दन्तमण्डनं बाला।
उद्भिन्नपुलकपरिवेषपरिगतं रक्षति वराकी॥

न्यासमिति। सा वराकी तपस्विनी अनुकम्पार्हेति भावः बाला मुग्धा कान्ता कपोले गण्डदेशे तव दन्तमण्डनं दशनक्षतरूपमलङ्करणम् उद्भिन्नानां स्मरगादुद्गतानां पुलकानां रोमहर्षाणां परिवेषेण परिधिना परिगतं परिवेष्टितं न्यासमिव निक्षेपधनमिव रक्षति पालयति। दूत्या नायकं प्रत्युक्तिः ॥ २१७ ॥

तदेव मानानन्तरं यथा,--

पवणुव्वेल्लिअसाहुलित्थए वसट्ठिअ दंतमंडले।
ऊरू चट्टु आरअं माइ पुत्ति ! जणहासणं कुणसु ॥ २१८ ॥

मानानन्तर (दशन क्षति) का उदाहरण—

दन्त क्षतिसमूह से समन्वित अपनी दोनो जाँघों को रोक दे। उन पर से वायु के कारण वस्त्र का अञ्चल उड़ रहा है, अतः हे पुत्री, अपने चाटुकार पति की इस प्रकार लोगों से हँसी मत कराओ[1] ॥ २१८ ॥

पवनेति ॥ २१८ ॥

प्रवासानन्तरे दन्तक्षतादयो यथा--

दंतक्खअं कवोले कअग्गहो वेल्लिओ धम्मिलो।
पडिघुण्णिआत्थ दिठ्ठी पिआगमं साहइ वहूए ॥ २१९ ॥

प्रवासानन्तर सम्भोग में दन्तक्षत आदि का उदाहरण—

वधू के कपोलों पर दाँतों के चिह्न, केश पकड़ने से बिखरी हुई लटें, तथा अलसाये हुये नयन प्रियतम के आगमन की सूचना देते हैं ॥ २१९ ॥

दन्तक्षतं कपोले कचग्रहोद्वेल्लितो धम्मिलः।
परिघूर्णितात्र दृष्टिः प्रियागमं साधयति वध्वाः ॥

दन्तक्षतमिति। कपोले गण्डे दन्तक्षतं दशनाघातः कचानां केशानां ग्रहेण ग्रहणेन उद्वेल्लितः स्खलित इत्यर्थः धम्मिलः केशपाशः परितो घूर्णिता भ्रान्ता दृष्टिः वध्वाः महिलायाः प्रियस्य आगमम् उपस्थितिं साधयति सूचयति ॥ २१९ ॥

प्रथमानुरागानन्तरं नखक्षतं यथा,--

अज्जाइ णवणहक्खदणिहिरक्खणे गरुअजोव्वणु तुंगम्।
पडिमागअणिअणअणुप्पलं चिदं होइ त्थणवट्टम् ॥ २२० ॥

प्रथमानुरागानन्तर नखक्षत का उदाहरण—

नवीन नखक्षत रूपी सम्पत्ति की रक्षा के लिये मानो वह भद्रगृह की सुन्दरी पूर्ण यौवन के कारण ऊँचे-ऊँचे तथा अपने नयन कमलों के प्रतिबिम्ब से युक्त स्तन प्रान्त को ढक लेती है ॥ २२० ॥

---

१. इसकी छाया यह है—

पवनोद्वेल्लितवस्त्राञ्चले स्थगय स्थितदन्तमण्डले ऊरू।
चाटुकारकं पतिं मा खलु पुत्रि जनहसितं कुरु ॥

आर्य्याया नवनखक्षतनिधिरक्षणे गुरुयौवनोत्तुङ्गम् ।
प्रतिमागतनिजनयनोत्पलं चितं भवति स्तनपट्टम् ॥

आर्य्याया इति । आर्य्यायाः मान्यायाः कस्याश्चित् नार्य्या इति भावः गुरुणा पूर्णेनेति भावः यौवनेन उत्तुङ्गम् उन्नतं प्रतिमया प्रतिबिम्बेन गते संक्रान्ते नयने उत्पले इव यस्मिन् तादृशं स्तनपट्टं कुचतटं नवं नखपदं नखरक्षतं तस्य रक्षणे रक्षणायेत्यर्थः चितं वसनादिना छन्नम् आवृतं भवति ॥ २२० ॥

अत्रैव पुरुषायितं यथा,--

दरवेविऊरुजुअलासु मउलिअच्छीसु ललिअचिउरासु ।
पुरुषाइदासु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ ॥ २२१ ॥

इसी में पुरुषायित का उदाहरण—

जरा-जरा सी हिल रही जंघों वाली, आखें मीच ली हुई, सुन्दर केशों वाली पुरुषायित कार्य कर रही प्रियतमाओं में तो कामदेव हथियार से सुसज्जित होकर निवास करता है ॥ २२१ ।

दरवेपमानोरुयुगलासु मुकुलिताक्षीषु ललितचिकुरासु ।
पुरुषायितासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति ॥

दरेति । दरम् ईषत् यथा तथा वेपमानं कम्पमानम् ऊरुयुगलं यासां तासु मुकुलिते निमीलिते अक्षिणी यासां तथोक्तासु ललितः सुन्दरः सुष्ठु विन्यस्त इत्यर्थः चिकुरः कुन्तलः यासां तथाविधासु पुरुषायितासु पुरुषा इव आचरन्तीति पुरुषायिताः तासु पुरुषमधोकृत्य तदुपरि स्थित्वा रममाणास्विति भावः प्रियासु कान्तासु कामः सज्जम् आयुधं यस्य तथाभूतः सज्जितास्त्र इत्यर्थः सन् वसति तिष्ठति ता अतीव कामसक्ता भवन्तीति भावः ॥२२१॥

सर्वं सर्वत्र यथा,--

पोढमहिलाणं जं जं सुठ्ठुसिक्खिअं तं रइए सुहावेदि ।
जं जं असिक्खिअं णववहुणं तं तं वि रइं देइ ॥ २२२ ॥

सभी के सर्वत्र होने का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।५६) ॥ २२२ ॥

स्व० द०—अब तक संयोग कालीन चुम्बन, आलिंगन, दन्तक्षत, नखक्षत, रति, केशग्रह, पुरुषायित आदि का उदाहरण दिया जा चुका । अब प्रेम की परीक्षाओं का उदाहरण आगे दिया जायेगा । रतिक्रिया में स्त्री के द्वारा पुरुष की भांति अपेक्षाकृत अधिक क्रियाशील होकर सहयोग देना पुरुषायित रति है ।

प्रौढमहिलानां यत् यत् सुष्ठु शिक्षितं रतये सुखयति ।
यत् यत् अशिक्षितं नववधूनां तत्तदपि रतिं ददाति ॥

प्रौढेति । प्रौढा गाढतारुण्याःया महिलाः नार्य्यः तासां रतये रत्यर्थं सुष्ठु शिक्षितं सखीजनोपदेशादिभिरिति भावः सुखयति सुखं जनयति यत् यत् अशिक्षितम् अनुपदिष्टं सखीभिरिति शेषः तत् तत् नववधूनां नवोढानां सम्बन्धे अपि रतिं सुखं ददाति ॥ २२२ ॥

विप्रलम्भपरीष्टिषु अभियोगतः प्रेमपरीक्षा यथा,--

हुं हो कण्णुल्लोणा भणामि रे अहुअ ! किम्पि मा झूर।
णिज्जणपारद्धीसु कहं पि पुण्णहिं लद्धोसि ॥ २२३ ॥

विप्रलम्भ की परोष्टियों में अभियोग से प्रेम की परीक्षा का उदाहरण—

हे प्रियतम, तुम्हारे कानों के पास लग कर कहती हूँ, आप तनिक भी दुःखो मत होना। किसी तरह बड़े भाग्य से इस विजन गली में मिले हो[1] ॥ २२३ ॥

हं हो इति ॥ २२३ ॥

प्रत्यभियोगतो यथा,--

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को।
अणुअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा गाढमुवऊढा ॥ २२४ ॥

प्रत्यभियोग से (प्रेमपरीक्षा) का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ३।७४) ॥ २२४ ॥

गोलेति ॥ २२४ ॥

विषहणेन यथा,--

अज्ज वि मेअजलोल्लं पच्चाइ ण तीअ हलिअसोह्लाए।
फग्गुच्छणचिक्खिल्लं जं तुइ दिणं त्थणुच्छङ्गे ॥ २२५ ॥

विमर्श से होनेवाली (परीष्टि का) उदाहरण—

विषहण के कारण परीष्टि का उदाहरण—

विस्तृत उरोजों पर तुमने जो फल्गु की पङ्क लगा दी थी, आज भी पसीने के जल से आर्द्र उस हलवाहे की पुत्रवधू (के अङ्ग) (स्वेदार्द्रता) में विश्वास ही नहीं करते हैं ॥ २२५ ॥

स्व० द०—इससे भी अधिक अर्थ तथा विषय का स्पष्टीकरण उक्त गाथा की किञ्चित् परिवर्तित पाठभेद की छाया से होता है—

अद्यापि स्वेदजलार्द्रितः प्रम्लायते न तस्या हालिकस्नुषायाः।
फल्गूत्सवकर्दमो यस्तस्याः दत्तः स्तनोत्सङ्गे ॥ (द्रष्टव्य निर्णयसागर की प्रति)

अद्यापि स्वेदजलार्द्रं प्रत्येति न तस्या हलिकस्नुषायाः।
फल्गूत्सवकर्दमो यस्त्वया दत्तस्स्तनोत्सङ्गे ॥

अद्यापीति। त्वया स्तनोत्सङ्गे स्तनान्तराले यः फल्गूत्सवकर्दमः फल्गुद्रव इत्यर्थः दत्तः निहितः अलक्षितरूपेणेति भावः अद्यापि स्वेदजलेन आर्द्रं तस्या हलिकस्नुषायाः अङ्गमिति शेषः न प्रत्येति त्वद्दत्तफल्गुकर्दमयोगेन सत्त्वोदयात् अङ्गस्य स्वेदार्द्रतेति न विश्वसितीत्यर्थः ॥ २२५ ॥

---

१. हुं हो कर्णोल्लीना भणामि रे सुभग किमपि मा खिद्यस्व।
निर्जनरथ्यासु त्वं कथमपि पुण्यैर्लब्धोऽसि ॥

विमर्शन यथा,—

तत्तो च्चिअ णेन्ति कहा विआसन्ति तहिं तहिं समत्थन्ति ।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो ॥ २२६ ॥

हे मौसी, उस विषय को लेकर ही कहानी शुरू होती है, उसी से विकसित होती है और वहीं समाप्त भी हो जाती है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है मानो इस ग्राम में एक ही जवान रहता है ॥ २२६ ॥

स्व० द०—गाथासप्तशती आदि में इस गाथा की छाया इस प्रकार मिलती है—

तत एव निर्यान्ति कथाः विकसन्ति तत्र तत्र समाप्यन्ते ।
किं मन्ये मातृष्वसः एकयुवकोऽयं ग्रामः ॥ गा० स० ७४८ ॥

तत्तो इति ॥ २२६ ॥

बहुमानेन यथा,—

तेण हिरण्णवलआए दिणो पहरो इमाए त्थणवट्ठे ।
गामतरुणीहिं अज्ज वि दिअहं परिवालिआ भमइ ॥ २२७ ॥

बहुमान के द्वारा परीष्टि का उदाहरण—

उस युवक के द्वारा सोने के कंगन वाली उस नायिका के स्तनतट पर प्रहार किया गया था, उसी कारण आज भी ग्राम की युवतियों से सुरक्षित हो कर सारा दिन उस युवक को (खोजती) फिरती है (कि उसने आखिर इसे मारा क्यों ?) ॥ २२७ ॥

तेन हिरण्यवलयाया दत्तः प्रहारोऽस्याः स्तनपट्टे ।
ग्रामतरुणीभिरद्यापि दिवसं परिपालिता भ्रमति ॥

तेनेति। तेन यूनेति शेषः हिरण्यं स्वर्णमयं वलयं यस्याः तथाभूतायाः अस्याः नार्य्याः स्तनपट्टे स्तनतटे इत्यर्थः प्रहारः मोटनमिति भावः दत्तः अर्पितः कृतः इत्यर्थः अद्यापि ग्रामतरुणीभिः ग्राम्ययुवतीभिः परिपालिता परिरक्षिता सती इयं दिवसम् 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया'। भ्रमति तस्य यूनोऽनुसन्धानार्थं पर्य्यटति कथं तेन प्रहारो दत्त इति निर्णयार्थमिति भावः ॥ २२७ ॥

श्लाघया यथा,—

सा तइ सहत्थदिण्णं फग्गुच्छणकद्दमं त्थणुच्छङ्गे ।
परिकुविआ विअ साहइ सलाहिणी गामतरुणीणम् ॥ २२८ ॥

श्लाघा के द्वारा (परीष्टि) का उदाहरण—

वह तुम्हारी प्रियतमा अपने उन्नत उरोजों पर तुम्हारे ही हाथों से लगाये गये फल्गु द्रव को क्रुद्ध सी होकर वहन करती हुई गाँव की युवतियों में अपने को अधिक सम्मानित समझती है ॥ २२८ ॥

सा त्वया स्वहस्तदत्तं फल्गूत्सवकर्दमं स्तनोत्सङ्गे ।
परिकुपिता इव साधयति श्लाघिनी ग्रामतरुणीनाम् ॥

सेति। सा त्वद्वल्लभेति भावः। स्तनोत्सङ्गे स्तनाभ्यन्तरे त्वया स्वहस्तेन दत्तं फल्गूत्सवकर्दमं फल्गुद्रवं परिकुपितेव परिक्रुद्धेव ग्रामतरुणीनां ग्राम्याणां युवतीनां मध्ये श्लाघिनी सती अहमिति आत्मश्लाघावती साधयति धारयति। ग्रामतरुणीनामित्यनेन ऋजुमतित्वं सूचितं तेन समक्षम् अस्याः कोपनचातुरी न प्रकटितेति भावः॥ २२८॥

इङ्गितेन यथा,—

जइ सो ण वल्लहो च्चिअ णामग्गहणेण तस्स सहि ! कीस।
होइ मुहं ते रविअरफंसविसट्टं व्व तामरसं॥२२९॥

संकेत के द्वारा (परीष्टि) का उदाहरण—

हे सखि, यदि वही (मेरा प्रिय ही) तुम्हारा प्रिय न होता तो उसका नाम लेने से तुम्हारा मुख सूर्य की किरणों के स्पर्श से खिल गये कमल की भांति क्यों हो जाता ?॥ २२९॥

यदि स न वल्लभ एव नामग्रहणेन तस्य सखि ! कथम्।
भवति मुखं ते रविकरस्पर्शविसंस्थमिव तामरसम्॥

यदीति। हे सखि ! यदि सः न वल्लभ एव प्रिय एव तवेति शेषः तदा तस्य नामग्रहणेन नामोच्चारणेन ते तव मुखं रवेः सूर्य्यस्य करस्पर्शेन किरणसङ्गेन विसंस्थं चञ्चलम् उत्सुकमिति यावत् तामरसमिव रक्तकमलमिव कथं भवति॥ २२९॥

दूतसम्प्रेषणेन यथा,—

समुल्लसिअसवंगी णामग्गहणेण तस्स सुहअस्स।
दुइं अ प्पाहेन्ती तस्से अ घरंगणं पत्ता॥ २३०॥

दूत भेजने के द्वारा (परीष्टि) का उदाहरण—

उस प्रियतम का नाम लेते ही पुलकित सम्पूर्ण शरीर वाली वह नायिका दूती को भेजती हुई अपने उसी प्रिय के घर के आंगन में पहुँच गई॥ २३०॥

समुल्लसितसर्वाङ्गी नामग्रहणेन तस्य सुभगस्य।
दूतीञ्च प्रहिण्वती तस्मै च गृहाङ्गणं प्राप्ता॥

समुल्लसितेति। तस्य सुभगस्य नामग्रहणेन नामकीर्त्तनेन समुल्लसितानि सर्वाणि अङ्गानि यस्याः तथाभूता स्वेदार्द्रितसर्वाङ्गीति पाठान्तरम्। सती दूतीं प्रहिण्वती प्रेषयन्ती सती तस्यैव कान्तस्य गृहाङ्गणं वासभूमेश्चत्वरं प्राप्ता च दूतीप्रेषणेनापि औत्सुक्यानपगमात् स्वयं तदभिसरणमिति भावः॥ २३०॥

दूतप्रश्नेन यथा,—

कहं णु गओ कहं दिट्ठो किं भणिओ किं च तेण पडिवण्णं।
एअं च्चिअ ण समप्पइ पुणरुत्तं जप्पमाणाए॥ २३१॥

दूत से पूछने का उदाहरण—

'तुम कैसे उसके पास गये, तुमने उसे कैसे देखा, क्या कहा और उसने क्या समझा' इसीप्रकार बार-बार कह रही उस नायिका की बात ही नहीं समाप्त हो पाती है॥ २३१॥

कथं नु गतः कथं दृष्टः किं भणितः किञ्च तेन प्रतिपन्नम् ।
एवमेव न समत्येति पुनरुक्तं जल्पमानायाः ॥

कथं केन प्रकारेण, नु प्रश्ने, गतः प्राप्तः स मत्कान्त इति भावः । एवमुत्तरत्र कथं किम्प्रकार इत्यर्थः दृष्टः अवलोकितः । किञ्च त्वया भणितः उक्तः, तेन च मत्कान्तेन किं प्रतिपन्नं किमवधारितम् ? एवमेव जल्पमानायाः भाषमाणायाः पुनरुक्तं पुनः पुनरुक्तिरित्यर्थः न समत्येति न समाप्नोतीत्यर्थः ॥ २३१ ॥

लेखविधानेन यथा,—

वेवमाणसिण्णकरंगुलिपरिग्गहक्खलिअलेहणीमग्गे ।
सोत्थि च्चिअ ण समप्पइ पिअसहि ! लेहम्मि किं लिहिमो ॥२३२॥

लेखविधान के द्वारा (परीष्टि) का उदाहरण—

काँपती हुई तथा पसीने से भीगी हुई हाथ की अँगुलियों की पकड़ से जिस पर लेखनी की लकीर फिसल जाती है उस लेख में "स्वस्ति' पद ही पूरी तरह नहीं लिखा जा पा रहा है, अरी सखि, अब भला उसमें क्या लिखूं ? ॥ २३२ ॥

वेपमानस्विन्नकराङ्गुलिपरिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे ।
स्वस्तिरेव न समभ्येति प्रियसखि ! लेखे किं लिखामः ॥

वेपमानेति । हे प्रियसखि ! वेपमानाः कम्पमानाः स्विन्नाः घर्माक्ताः या कराङ्गुल्यः तासां परिग्रहेण ग्रहणेन स्खलितः लेखन्या मार्गः पन्था यत्र तथाभूते लेखे लेखनसाधने पत्रादावित्यर्थः स्वस्तिरेव प्रथमं लेखनीयं स्वस्तीति माङ्गल्यं पदं न समभ्येति न निर्गच्छति, किं कथं लिखामः । सखीनामुरदेशात् कान्तं प्रति लेखं प्रेषयिष्यन्त्याः सत्त्वोदयेन स्वेदार्द्रकरत्वात् कस्याश्चित् नायिकाया उक्तिरियमिति बोध्यम् ॥ २३२ ॥

लेखवाचनेन यथा,—

प्रीत्या स्वस्तिपदं विलोकितवती स्थानं श्रुतं तुष्टया
पश्चात् ज्ञातमनुक्रमेण पुरतस्तत् तावकं नामकम् ।
तन्व्या संमदनिर्भरेण मनसा तद्वाचयन्त्या मुहुः
न प्राप्तो घनबाष्पपूरितदृशा लेखेऽपि कण्ठग्रहः ॥ २३३ ॥

लेख पढ़ने का उदाहरण—

(कोई व्यक्ति अपने मित्र से कहता है) उसकी प्रियतमा ने सर्वप्रथम बड़े प्रेम से 'स्वस्ति' पद को देखा, सन्तुष्ट होकर तुम्हारे निवास स्थान के बारे में सुना, उसके बाद क्रमशः उसके आगे तुम्हारा नाम भी उसे मालूम हुआ । इस प्रकार आनन्दनिर्भर मन से बार-बार पढ़ने पर भी उस कृशाङ्गी के आँसुओं से डबडबाये नयनों को उस लेख में भी 'कण्ठग्रह' शब्द न मिल सका अर्थात् आंखों में आंसू भर आने से वह आगे लिखे गये शब्दों को कि मैं तुम्हारा कण्ठ प्रगाढ़ रूप से पकड़ कर आलिंगन पूर्वक सूचित कर रहा हूँ कि'—इत्यादि पढ़ ही न सकी ॥ २३३ ॥

प्रीत्येति । प्रीत्या आनन्देन स्वस्तिपदं लेखोपरिलिखितमिति भावः विलोकितवती

दृष्टवती प्रथममिति शेषः। ततः तुष्टया प्रीतया स्वस्तीत्यनेन माङ्गलिकेन पदेन प्रियतमस्य कुशलमवश्यं भवेदिति सूचनादिति भावः। स्थानम् अवस्थानक्षेत्रमित्यर्थः श्रुतं सम्मुखादिति भावः। पश्चात् स्थानश्रवणानन्तरं पुरतः प्राक् अनुक्रमेण तत् तव इदं तावकं त्वदीयमित्यर्थः नामकं ज्ञातं विदितम्। तन्व्या कृशाङ्गया सम्मदनिर्भरेण आनन्दभरितेन मनसा मुहुः पुनः पुनः तत् त्वदीयं नामकं वाचयन्त्या पठन्त्या तदानीं घनेन सान्द्रेण बाष्पेण अश्रुणा पूरिते दृशौ नयने यस्याः तथाभूतया सत्या लेखे लिखिते नामनि अपीत्यर्थः कण्ठग्रहः कण्ठाश्लेषः न प्राप्तः॥ २३३॥

सम्भोगपरीष्टिषु प्रथमानुरागानन्तरे साध्वसेन पुंसो यथा,--

लीलाइओ णिअसणे रक्खउ तं राहिआइ त्थणवट्टे।
हरिणो पढ़मसमागमसज्झसवरेहिँ वेविदो हत्थो॥ २३४॥

सम्भोग-परीष्टियों में प्रथमानुरागानन्तर दशा में साध्वस के साथ पुरुष की चेष्टाओं का उदाहरण—

राधिका के स्तन प्रदेश पर लीलापूर्वक रखने में प्रथम प्राप्ति के कारण भय फैलने से काँप रहा कृष्ण का हाथ तुम्हारी रक्षा करे॥ २३४॥

लीलायितो निवसने रक्षतु त्वां राधिकायाः स्तनपृष्ठे।
हरेः प्रथमसमागमसाध्वसप्रसरैर्वेपनशीलो हस्तः॥

लीलेति॥ २३४॥

अत्रैव दोहदेन मुग्धा यथा,--

किं किं दे पडिहासइ सहीहिँ इअ पुच्छिआए मुद्धाए।
पढ़मुल्लुअ दोहलिणीए णवरि दइअंगआ दिठ्ठी॥ २३५॥

इसी प्रसंग में दोहद से युक्त मुग्धा का उदाहरण—

"तुम्हे क्या क्या चीजें रुचिकर प्रतीत होती हैं?" इस प्रकार सखियों से पूँछी गई प्रथम उत्पन्न दोहद वाली मुग्धा नायिका की निगाहें केवल प्रियतम पर पड़ीं॥ २३५॥

[किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्टाया मुग्धायाः।
प्रथमोद्गतदोहदिन्याः केवलं दयितं गता दृष्टिः॥]

किं किमिति॥ २३५॥

अत्रैव प्रगल्भायाः प्रियवाक्यवर्णनं यथा,--

हुं हुं दे भणसु पुणो ण सुअन्ति करेइ कालविक्खेवं।
घरिणीहिअअसुहाइं पइण्णो कण्णे भणन्तस्स॥ २३६॥

वहीं पर प्रगल्भा के प्रिय के वाक्य के वर्णन का उदाहरण—

'हुं हुं, अरे फिर से कह, ये सो नहीं रहे हैं, ये समय बिता रहे हैं" आदि कान में कहने वाले पति की बातें गृहिणी के हृदय को सुख देनेवाली हैं॥ २३६॥

स्व० द०—इसकी छाया है—

हुं हुं हे भण पुनर्न स्वपन्ति कुर्वन्ति कालविक्षेपम् ।
गृहिणीहृदयसुखानि पत्युः कर्णे भणतः ॥ (द्रष्टव्य नि. सा. की प्रति, पृ. ६३८)

जहुं जहुं इति ॥ २३६ ॥

मानानन्तरे स्त्रियाः कैतवस्वप्ने यथा--

सुमरिमो से सअगपरंमुहीए विअलन्तममाणपसराए ।
कइअवसुत्तुव्वत्तणत्थाणहरप्पेल्लणसुहेल्लि ॥ २३७ ॥

मानानन्तर दशा में कैतवस्वप्न में स्त्री की चेष्टाओं का उदाहरण—

पहले शयन से विमुख होकर बाद में मान का विस्तार कम होने से उस सुन्दरी ने झूठ-मूठ निद्रा का बहाना बनाकर करवट बदलते समय अपने कुचकुम्भों की प्रेरणा से जो सुखपूर्णकेलि उत्पन्न की थी, उसी की मुझे याद आ रही है ॥ २३७ ॥

छाया—स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः ।
कैतवसुप्तोद्वर्तनस्तनकलशप्रेरणसुखकेलिम् ॥ गा० स० ४।६८ ॥

सुमरिम इति ॥ २३७ ॥

स्त्रिया एव सखीवाक्यस्य आक्षेपेण यथा,--

भिउडीहिं पलोइस्सं णिब्भच्छिस्सं परंमुही होस्सं ।
जं भणह तं करिस्सं सहिओ जइ तं णु पेच्छिस्सं ॥ २३८ ॥

सखी के वाक्य के आक्षेप द्वारा स्त्री की ही (परीष्टि का) उदाहरण—

मैं भौहों से उसे देखूँगी, उसकी भर्त्सना भी करूँगी, और उसकी ओर से मुँह भी फेर लूँगी, हे सखियों ! तुम लोग जो कहती हो सब करूँगी, बस वह दिखाई भर न पड़े ॥ २३८ ॥

छाया—भ्रुकुट्या प्रलोकयिष्ये निर्भर्त्स्यें पराङ्मुखी भविष्यामि ।
यद्भणत तत्करिष्ये सख्यो यदि तं न प्रेक्षिष्ये ॥ नि. सा. की प्रति से]

भिउडीति ॥ २३८ ॥

तस्या एव तदनुष्ठानविघ्नेन यथा--

ग्रन्थिमुद्ग्रथयितुं हृदयेशे वाससः स्पृशति मानधनायाः ।
भ्रूयुगेन सपदि प्रतिपेदे रोमभिश्च सममेव विभेदः ॥ २३९ ॥

उसमें अनुष्ठान के विघ्न के द्वारा स्त्री की ही (परीष्टि का) उदाहरण—

उस मानिनी की नीवी-ग्रन्थि खोलने के लिये प्रियतम के हाथ लगाते ही सहसा दोनो भौंहों के साथ ही उसके रोमों ने भी विभेद प्राप्त कर लिया अर्थात् जैसे ही भौंहे टेढ़ी हुईं क्रोध से, वैसे ही रोमाञ्चरूप सात्त्विक भाव स्वतः उत्पन्न हो गये ॥ २३९ ॥

ग्रन्थिमिति । हृदयेशे कान्ते वाससः वसनस्य ग्रन्थिम् उद्ग्रथयितुं स्खलयितुमित्यर्थः स्पृशति गृह्णाति सति मानधनायाः मानिन्याः भ्रूयुगेन भ्रुवोर्द्वयेन रोमभिश्च सपदि तत्क्षणं

सममेव युगपदेव विभेदः भङ्गः हर्षश्च प्रतिपेदे प्राप्तः। अभङ्गो रोमहर्षश्च सममेव जात इत्यर्थः ॥ २३९ ॥

प्रवासानन्तरे स्त्रिया यथा,--

अत्थक्कागअहिअए बहुआ दइअउम्मिजणपुरओ।
झुरइ विअं लताणं हरिस विसट्टाणवलआणं ॥ २४० ॥

प्रवासानन्तर की दशा में स्त्री की ह्री (परीष्टि) का उदाहरण—

बड़े बूढ़ों के सामने एकाएक ही हृदयवल्लभ प्रियतम के आ जाने पर, वधू अत्यन्त प्रसन्नता के कारण बढ़ जाने से गिर रहे कंगन पर क्रोध करती है ॥ २४० ॥

छाया—अकस्मादागतहृदये वधूका दयिते गुरुपुरतः।
क्रुध्यति विगलद्भ्यो हर्षविकसद्भ्यो वलयेभ्यः ॥

अत्थक्का इति ॥ २४० ॥

अत्रैव स्त्रीपुंसयोः यथा--

रमिऊण पइम्मि गए जाहे अबगूहिअं पडिणिउत्तो।
अहअं पउत्थ पइअ व्व तक्खणं सोपवासिव्व ॥ २४१ ॥

यहीं स्त्री तथा पुरुष दोनों की परीष्टि का उदाहरण—

रमण करने के बाद एक कदम भी जा कर जब वह आलिंगन के लिये पुनः लौटता है तब मैं अपने को प्रोषितभर्तृका समझती हूँ और वह प्रवासी-सा लगता है ॥ २४१ ॥

छाया—रन्त्वा पदमपि गतो यदोपगूहितं प्रतिनिवृत्तः।
अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव ॥ द्रष्टव्य गा. स. ११९८ ॥

रमिऊण इति ॥ २४१ ॥

सामान्यत एव प्रवाससाध्वसेन स्त्रिया यथा--

होन्त पहिअस्स जाआ आमोच्छणजीवणधारणरहस्सं।
पुच्छन्तीं भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीआ ॥ २४२ ॥

सामान्य रूप से ही प्रवास तथा साध्वस के कारण स्त्री की (परीष्टि) का उदाहरण—

जिसका पति भविष्य में परदेश जानेवाला है वह नायिका अपने प्रियतमों के वियोग को सहन कर रही स्त्रियों से एक घर से दूसरे घर प्रिय के लौटने तक जीवन धारण किये रहने के उपाय पूछती फिरती है ॥ २४२ ॥

भवत्पथिकस्य जाया आमोचणजीवनधारणरहस्यम्।
पृच्छन्ती भ्रमति घरं घरात् प्रियविरहसाध्वसा ॥

होन्त इति। भवतः भाविन इत्यर्थः भविष्यत् सामीप्ये लटः शत्रादेशः। पथिकस्य प्रवासिनः कस्यचित् जाया कान्ता प्रियस्य विरहात् भाविनो विच्छेदात् साध्वसं भयं यस्याः तथाभूता सती घरात् घरं गृहाद् गृहम् आमोचणात् प्रत्यावर्त्तनात् कान्तस्येति

भावः जीवनधारणस्य रहस्यं कथमेतावन्तं कालं जीविष्यामीति जीवनोपायप्रकारमित्यर्थं पृच्छन्ती जिज्ञासमाना सती भ्रमति विचरति ॥ २४२ ॥

प्रवासविलम्बेनैव पुंसो यथा--

एक्को वि कालसारो ण देइ गन्तुं पआहि ण वसन्तो।
किं उण बाहाउलिअं लोअणजुअलं मिअच्छीए ॥ २४३ ॥

प्रवास में विलम्ब के कारण पुरुष की परीष्टि का उदाहरण—

एक ही कृष्णसार चारो ओर घूम कर जब गमनेच्छु को जाने नहीं देता, तब भला मृगनयनी के अश्रुसंवलित दो-दो नेत्रों का क्या कहना अर्थात् वे कैसे जाने देगें ? ॥ २४३ ॥

छाया—एकोऽपि कृष्णसारो न ददाति गन्तुं प्रदक्षिणं वलन्।
किं पुनर्बाष्पाकुलितं लोचनयुगलं मृगाक्ष्याः ॥ गा. स. १।२५ ॥

एक्क इति ॥ २४३ ॥

परिहारे स्वेदादिभिः स्त्रियाः यथा--

उल्लाअइ से अंगं ऊरु वेवन्ति कूप्पलो गलइ।
छुच्छुरा ले हिअअं पिआगमे पुप्फुइआइए ॥ २४४ ॥

परिहार की अवस्था में स्वेद आदि के द्वारा स्त्री की परीष्टि का उदाहरण—

प्रियतम के आ जाने पर रजस्वला का शरीर पसीने से लथपथ हो जाता है, दोनों जाँघें काँपने लगती हैं, नितम्बों से वस्त्र सरकने लगता है और हृदय जोर-जोर से धड़कने लगता है ॥ २४४ ॥

[छाया—आर्द्रीभवत्यस्या अङ्गमूरू वेपते जघनवसनं गलति।
उत्कम्पते हृदयं प्रियागमे पुष्पवत्याः ॥ नि० सा० ॥]

उल्लाअइ इति ॥ २४४ ॥

करुणानन्तरे पुंसो यथा--

करस्पर्शारम्भोत्पुलकितपृथूरोजकलसे
श्रमाम्भो वामार्द्धे वहति मदनाकूतसुभगम्।
विभोर्वारं वारं कृतसमयिकोद्धूननविधे-
स्तनौ भस्मस्नानं कथमपि समाप्तं विजयते ॥ २४५ ॥

करुणानन्तर संयोग में पुरुष की परीष्टि का उदाहरण—

हाथों से मर्दन प्रारम्भ करने पर रोमाञ्चित हो गये विशाल कुच कुम्भों वाले (अर्धनारीश्वर शिव के) बायीं ओर के आधे शरीर के कामोत्कण्ठा के कारण सुन्दर प्रस्वेद धारण करने पर शङ्कर के बार-बार समय-समय पर शरीर पर किया जाने वाला भस्म का स्नान जो किसी प्रकार समाप्त हो सका, वह सर्वोत्कृष्ट है ॥ २४५ ॥

करस्पर्शादिति। करस्पर्शस्य हस्तामर्शनस्य आरम्भे हस्तेन स्पर्शे क्रियमाणे इत्यर्थः उत्पुलकितः उद्गतपुलक इत्यर्थः सञ्जातरोमाञ्च इत्यर्थः पृथुः विपुलः उरोजकलसः स्तन-

कुम्भः यस्य तथाभूते वामार्द्धे हरगौरीरूपस्य वामभागे गौर्या अंशे इत्यर्थः। मदनस्य कामस्य आकूतः आवेशः तेन सुभगं मनोरमं श्रमाम्भः स्वेदसलिलं सत्त्वोदयजनितमिति भावः वहति धारयति सति वारं वारं पुनः पुनः कृतः सामयिकः कालिकः उद्धूननविधिः उत्क्षेपणानुष्ठानं गात्रे भस्मक्षेपणमिति भावः येन तथाभूतस्य विभोः हरस्य दक्षिणार्द्धभूतस्येति भावः तनौ शरीरे दक्षिणार्द्धरूपे इत्यर्थः भस्मना स्नानं कथमपि समाप्तम् अवसितं विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। देव्या वामार्द्धभूतायाः सत्त्वोदयजनितश्रमजलेन दक्षिणार्द्धस्यापि सञ्जात तेनैव स्नानक्रियायाः समाधानेन भस्मस्नानं निवृत्तमिति भावः॥ २४५॥

विप्रलम्भनिरुक्तिषु प्रथमानुरागे प्रतिश्रुत्यादानं यथा--

किं ण भणिओसि बालअ ! गामणिधूआए गुरुअणसमक्खं ।
अणिमिसवक्कवलंतवअणणअणद्धदिट्ठेहिं ॥ २४६ ॥

अत्र वक्रेक्षितादिभिः प्रतिश्रुत्य आलिङ्गनादयः ह्रीभयादिभिर्न दीयन्ते॥ २४६॥

विप्रलम्भ के निरूपण में प्रथम अनुराग होने पर वादा कर के भी न देने का उदाहरण—

अरे बच्चे कहीं के, अपने बड़े-बूढ़ों के सामने उस ग्रामप्रधान की पुत्री ने अपने एक टक, कुटिल एवं चञ्चल मुख के साथ अपनी आँखों को आधा मूँद कर किये गये कटाक्षपात के द्वारा क्या नहीं कह दिया॥ २४६॥

यहाँ टेढ़ी चितवन आदि के द्वारा प्रतिज्ञा कर के भी लज्जा, भय आदि के कारण आलिंगन आदि नहीं दिये जा रहे हैं।

किं न भणितोऽसि बालक ! ग्रामणीधूतया गुरुजनसमक्षम् ।
अनिमिषवक्रवलद्वदननयनार्द्धदृष्टिभिः॥

किं नेति। हे बालक ! ग्रामणीः ग्रामाधिपः तस्य धूता कन्या तया गुरुजनानां समक्षम् अनिमिषं निमेषरहितं तथा वक्रं यथा तथा वलतः चलतः नयनस्य अर्द्धदृष्टिभिः अर्द्धावलोकनैः अपाङ्गवीक्षणैरित्यर्थः किं न भणितः ? कथितः असि ? अपि तु सर्वमेव मनोगतं कथितोऽसीत्यर्थः। एतावतापि त्वदभिप्रायो न बुद्ध इति तव बालकत्वमिति सम्बोधनेनोक्तम्॥ २४६॥

माने विसंवादनं यथा--

अणुअ ! णाहं कुविआ उवगूअसि किं मुहा पसाएसि ।
तुह मणु समुप्पण्णे ण मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥ २४७॥

अत्र मानिनी पूर्वमालिङ्गनादीन् निषिध्य पश्चाद् यथावत् प्रयच्छति यथा कश्चित् अष्टशतं दास्यामि इति प्रतिश्रुत्य अष्टाभिरधिकं शतं प्रयच्छति न तु अष्टौ शतानि इति। तदेतद् व्यलोकविप्रयोगादिभिः आलिङ्गनादीनां निराकरणमयथावत् प्रदानत्वाद् विसंवादनमत्र उच्यते॥२४७॥

मान में विसंवादन का उदाहरण—

हे कामुक, मैं क्रुद्ध नहीं हूँ, मेरा आलिङ्गन क्यों करते हो, व्यर्थ ही क्यों प्रसन्न करते हो? तुममें दुःख उत्पन्न करने वाले मेरे मान से भी कोई प्रयोजन नहीं ॥ २४७ ॥

यहाँ (कोई) मानवती नायिका पहले आलिङ्गन आदि का निषेध कर के बाद में पूर्ण रीति के अनुसार प्रदान करती है। जैसे कोई आदमी 'अष्टशत' दूँगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके आठ से अधिक सौ देता है न कि आठ सौ। तो यह 'व्यलीक' (झूठ का), वि (उपसर्ग) आदि के प्रयोग द्वारा आलिंगन आदि का निराकरण जैसा न चाहिये उस प्रकार से देने के कारण विसंवादन ही कहा जाता है ॥ २४७ ॥

अनुक ! नाहं कुपिता उपगूहसि किं मुधा प्रसादयसि।
तव मन्युसमुत्पन्नेन मम मानेनापि न कार्य्यम् ॥

अनुक इति। हे अनुक ! कामुक ! अहं न कुपिता न क्रुद्धा, किम् उपगूहसि आलिङ्गसि ? मुधा वृथा किं प्रसादयसि उपगूहनेनेति भावः तव मन्युः शोकः दुःखमिति यावत् समुत्पन्नः जातः यस्मात् तथाभूतेन मम मानेन कोपेन न कार्य्यं न प्रयोजनमित्यर्थः ॥ २४७ ॥

प्रवासे कालहरणं यथा--

एहि इसो पउत्थो अहअं कुप्पे ज्जस्सो अणुणेज्ज।
इह फलइ कस्स वि मणोरहाणं माला पिअअमम्मि ॥ २४८ ॥
अत्र आलिङ्गनादीनां व्यक्तैव कालहरणप्रतीतिः।

प्रवास में कालहरण का उदाहरण—

'वह परदेशी भी लौटेगा, मैं कोप करूँगी और वह मेरी मनौवल करेगा।' प्रियतम के विषय में इस प्रकार की कामनाओं का समूह किसी सौभाग्यवती का ही सफल होता है ॥ २४८ ॥

आलिङ्गन आदि की कालहरण की प्रतीति व्यक्त ही है अर्थात् प्रोषितभर्तृका इसी प्रकार की कामनाओं से ही विरह के दिन व्यतीत करती है।

[छाया—एष्यति सोऽपि प्रोषितोऽहं च कुपिष्यामि सोऽप्यनुनेष्यति।
इति कस्या अपि फलति मनोरथानां माला प्रियतमे ॥ गा० सं० १।१७ ॥]

एहि इति ॥ २४८ ॥

करुणे प्रत्यादानं यथा--

समसोक्खदुक्खसंवड्ढिआणं कालेण रूढपेम्माणं।
मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुतं होइ ॥ २४९ ॥

करुण में प्रत्यादान का उदाहरण—

सुख तथा दुःख में समान रूप से विद्यमान रहने वाले तथा समय के साथ प्रगाढ़ प्रेम वाले जोड़ों में से जो एक मर जाता है वही जीवित रहता है तथा जो जीवित रहता है वही मृत होता है ॥ २४९ ॥

समसौख्यदुःखसंवर्त्तितानां कालेन रूढप्रेम्णाम्।
मिथुनानां म्रियते यत् तत् खलु जीवति इतरत मृतं भवति ॥

समेति। समं तुल्यं सुखमेव सौख्यं दुःखञ्च तेन संवर्त्तितानां तिष्ठतामित्यर्थः कालेन क्रमिकेण समयेन रूढः बद्ध इत्यर्थः प्रेमा प्रणयः येषां तथाभूतानां मिथुनानां स्त्रीपुरुषाणां मध्ये यत् यो जन इत्यर्थः मिथुनशब्दस्य क्लीवत्वात् तेनैव व्यपदेशः। म्रियते पञ्चतां गच्छति तत् मृतमित्यर्थः जीवति खलु जीवत्येवेत्यर्थः वियोगदुःखासहनादिति भावः। इतरत् अन्यत् जीवितो जन इति भावः मृतं भवति मरणसमविच्छेदयातनावाहेरिति भावः ॥ २४९ ॥

अत्र

सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदः प्रथममेकरसामनुकूलताम्।
पुनरकाण्डविवर्त्तनदारुणः प्रविशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम् ॥२५०॥

इति अयमर्थः सम्बध्यते। तस्य च प्रत्यादानमेवार्थो भवति।

यहाँ—दैव पहले तो सुख देने वाले हितैषी की भाँति एक मात्र आनन्द देने वाली हितैषिता को प्रकट करता है, पुनः एकाएक विपरीत आचरण के द्वारा निष्ठुर होता हुआ मन में विशेष प्रकार की व्यथा उत्पन्न करता है ॥ २५० ॥

यह अर्थ सम्बद्ध होता है, उसका प्रत्यादान ही अर्थ होता है।

सुहृदिवेति। विधिः दैवं, विधिर्विधाने दैवे चे'त्यमरः सुहृदिव सखेव सुखप्रदः प्रीतिप्रदः सन् प्रथमं प्राक् एकरसाम् एकरूपामित्यर्थः अनुकूलतां हितैषितामित्यर्थः प्रकटय्य प्रकाश्य पुनः अकाण्डे सहसा यद् विवर्त्तनं वैपरीत्याचरणं तेन दारुणः निष्ठुरः सन् मनसः चित्तस्य रुजं व्यथां विशिनष्टि विशेषेण जनयतीत्यर्थः ॥ २५० ॥

प्रथमानुरागे वञ्चनं विविधं तथा—

दिट्ठाए जं ण दिट्ठो आलविआए वि जं ण आलत्तो।
उवआरो जं ण किदो तं चिअ कलिदं छइल्लेहिं ॥

अत्र व्रीडादिभिः दर्शनादिभिः वञ्चनादिभिः वैविध्यं प्रतीयते ॥२५१॥

प्रथमानुराग में वञ्चना तथा विविधता का उदाहरण—

उस देखी गई नायिका के द्वारा जो वह देखा नहीं गया, बात चीत करने पर भी जो उसने बाते नहीं की और उसने जो उपकार नहीं किया वही विदग्ध जनों के द्वारा प्रशंसित है ॥ २५१ ॥

यहाँ व्रीडा आदि, दर्शन आदि, वञ्चना आदि से विविधता प्रतीत होती है।

[छाया—दृष्टया यन्न दृष्टः आलपितया यन्नालापितः।
उपकारो यन्न कृतस्तदेव कलितं विदग्धैः ॥ नि० सा०]

दिट्ठाए इति ॥ २५१ ॥

माने विरुद्धं यथा—

ण मुअन्ति दीहसासेण रुअन्ति ण होन्ति विरहकिसिआओ।
धण्णाओ ताओ जाणं बहुवल्लह वल्लहो ण तुमं ॥२५२॥

अत्र ईर्ष्यायितादिभिः वल्लभालिङ्गनादिविरुद्धैः मानवती वञ्चयते ॥

मान में विरुद्धता का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।११५) ॥ २५२ ॥

यहाँ ईर्ष्या आदि करने के कारण, जो कि वल्लभ के आलिङ्गन आदि के विरुद्ध हैं, मानवती वञ्चित की जाती है।

ण मुञ्चन्ति दीह ॥ २५२ ॥

प्रवासे व्याविद्धं यथा—

कइ आगओ पिओ अज्ज पुत्ति ! अज्जेण कइ दिणाइं होन्ति ।
एक्को एद्दहमेत्तो भणिअं मोहं गदा बाला ॥ २५३ ॥

अत्र एकस्यापि दिवसस्य वर्षायमानतया प्रियालिङ्गनादिवञ्चनया विशेषतो दैर्घ्यं प्रतीयते ।

प्रवास में व्याविद्धता का उदाहरण—

"वह प्रियतम कब गये"? "बेटी, आज गये हैं" "आज भला कितने दिनों के बराबर होता है "एक (दिन के बराबर)" इतना कहते ही वह सुन्दरी मूर्च्छित हो गई ॥ २५३ ॥

यहाँ एक ही दिन के साल के बराबर होने से प्रियतम के आलिङ्गन आदि से वञ्चित होने के कारण विशेष प्रकार से दीर्घता प्रतीत होती है।

[छाया—जीवानन्द विद्यासागर जी के द्वारा दी गई छाया से उपर्युक्त अर्थ नहीं निकलता उसे संस्कृत टीका में देखना चाहिये। पद समान हैं किन्तु वर्णों का पूर्व तथा परवर्ती पदों से योग हो जाने से निम्नलिखित छाया अधिक चमत्कार पूर्ण अर्थ प्रदान करती है। वृत्ति का अर्थ भी इसी से संगत होता है।

कदा गतः प्रियोऽद्य पुत्रि अद्येति कति दिनानि भवन्ति ।
एक एतावन्मात्रे भणिते मोहं गता कुमारी ॥]

कुत्र आगतः प्रिय आर्य्यपुत्रि ! आर्य्येण कति दिनानि भवन्ति ।
एका एतावद् भणित्वा मोहं गता बाला ॥

कुत्रेति । हे आर्य्यपुत्रि ! ननान्दरित्यर्थः प्रियः मत्कान्त इत्यर्थः आर्य्येण श्वशुरेण ठक्कुरेणेत्यर्थः सह कुत्र कस्मिन् स्थाने आगतः प्रस्थित इत्यर्थः गमनस्य अमङ्गलसूचकत्वात् आङ् पूर्वकत्वेन प्रयोगः। एका काचित् बाला मुग्धा कान्ता एतावत् भणित्वा कथयित्वा मोहं गता मूर्च्छितेत्यर्थः ॥ २४३ ॥

करुणे निषिद्धं यथा—

आवाअभअअरं विअ ण होइ दुक्खस्स दारुणं अवसाणं ।
णाह जिअन्तीए मए दिट्ठं सहिअं अ तुह इअं अवसाणं ॥२५४॥

तदेतत् रामविषयं सीतायाश्चिराशंसितसमागमसुखावाप्तिव्यपायरूपं वचनं करुणमिति निषिध्यते।

करुण में निषिद्ध का उदाहरण—

केवल आने के समय ही भीषण प्रतीत होता है, वस्तुतः दुःख की समाप्ति असह्य नहीं होती। प्राणवल्लभ, जो रही मैंने आप का यह अवसान देखा और सहा ॥ २५४ ॥

राम के विषय में सीता की बहुकाल प्रतीक्षित मिलन के सुख की प्राप्ति के व्यपाय के रूप में यह वचन करुण में निषिद्ध है।

[छाया—आपातभयङ्करमेव न भवति दुःखस्य दारुणं निर्वहणम् ।
नाथ जीवन्त्या मया दृष्टं सोढं च तवेदमवसानम् ॥]

आवाअ इति ॥ २५४ ॥

प्रथमानुरागेण सह रागो यथा—

सा महइ तस्स ण्हाउं अणुसोत्ते सा वि से समुव्वहइ ।
थणवट्टभिउणविलुलिअकल्लोलमहग्घिए सलिले ॥ २५५ ॥

अत्र युद्धयोः द्वयोः अपि एककालम् अन्योन्यानुरागः प्रतीयते। तत्र एका लावण्यादिना रज्यते द्वितीयस्तु स्नेहादिना रज्यत इति।

प्रथम अनुराग के साथ राग का उदाहरण—

उस समीपवर्ती नदी में वह नायिका उस नायक का स्नान पसन्द करती है और स्तन प्रदेश से मिलकर छिन्नभिन्न प्रवाह युक्त होने से महत्त्वशील हो गये बह रहे जल में वह नायक भी उस सुन्दरी का स्नान पसन्द करता है ॥ २५५ ॥

यहाँ दोनों का ही एक ही समय परस्पर अनुराग प्रतीत होता है। इनमें नायिका लावण्य आदि के द्वारा अनुरक्त होती है और दूसरा अर्थात् नायक स्नेह आदि के द्वारा।

[छाया—सा वाञ्छति तस्य स्नातुमनुस्रोतसि सोऽप्यस्याः समुद्वहति ।
स्तनपृष्ठमिलनविलुलितकल्लोलमहार्घिते सलिले ॥]

सा महइ इति ॥ २५५ ॥

तत्रैव पश्चात् यथा—

मम हिअअं विअ पीदं तेण जुणा मज्जमाणाए ।
ण्हाणहलिद्दाकडुअं अणुसोत्तजलं पिअन्तेण ॥
अत्रैकस्य अनुरागं दृष्ट्वा पश्चाद् द्वितीयो रज्यते ॥ २५६ ॥

वहीं में परवर्ती प्रेम का उदाहरण—

(हे मामी), इस युवक ने नदी में स्नान कर रही मेरी स्नान के समय छूट रही हल्दी से कडुये हो गये जल को पीकर मानो मेरा हृदय ही पी लिया है। अर्थात् इस क्रिया के कारण वह युवक मेरा मन हर ले गया ॥ २५६ ॥

यहाँ पुरुष के प्रेम को देख कर बाद में दूसरा व्यक्ति (नायिका) अनुरक्त होती है।

मम हृदयमिव पीतं तेन यूना मज्जमानायाः ।
स्नानहरिद्राकटुकमनुस्रोतोजलं पिबता ॥

ममेति । तेन यूना युवकेन मज्जमानायाः अवगाहमानाया मे मम अनुस्रोतसि विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः स्नानस्य हरिद्रया विलेपनभूतया इति भावः कटुकं हरिद्राद्रवमिश्रणेन कटुत्वं प्राप्तं जलं पिबता सता मम मदीयं हृदयमिव पीतम् कवलितम् । तथाभूतः स युवा मन्मनोहरो जात इति भावः ॥ २५६ ॥

तत्रैवानुरूपो यथा--

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से ॥ २५७ ॥

अत्र न केवलं लावण्यादिनैव रज्यते, किं तर्हि अनुरूपविषयिणा अभिलाषेणापीति प्रतीयते ।

प्रथमानुराग में ही अनुरूपता का उदाहरण—

यह सत्य (असत्य के) विवेचन में समर्थ है, समान व्यक्ति के प्रति प्रेम उचित होता है । यह नायिका मर जाये तो भी तुम से कुछ नहीं कहूँगी, इस सुन्दरी का तो मर जाना ही श्रेयस्कर है, अर्थात् पति के वियोग में विरहिणी का मरण भी अच्छा है ॥ २५७ ॥

यहाँ केवल लावण्य आदि के द्वारा ही अनुराग नहीं होता है । तब क्या ? समान विषय की अभिलाषा के द्वारा भी राग की-अनुरूपता की-प्रतीति होती है ।

सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः ।
म्रियतां न त्वां भणिष्ये मरणमपि श्लाघनीयमस्याः ॥

सत्यमिति । सत्यं यथार्थं द्रष्टुं विवेक्तुमिति भावः जानाति, सदसद् विवेक्तुं शक्नोतीत्यर्थः इयमिति शेषः । सदृशे अनुरूपे जने रागः प्रणयः युज्यते अनुरूपो भवति अतः म्रियतां पञ्चतां गच्छतु इयमिति शेषः । त्वां न भणिष्ये न किञ्चिद् वक्ष्यामीत्यर्थः अस्याः त्वत्कान्ताया इत्यर्थः मरणमपि श्लाघनीयं प्रशंसनीयम् । पतिविरहे दुष्कार्य्यकरणात् मरणमेव श्लाघ्यं अस्या इति भावः । दूत्याः प्रोषितं प्रत्युक्तिः ॥ २५७ ॥

तत्रैवानुगतो यथा--

गहवइसुएण समअं सव्वं अलिअं विअ किं विआरेइ ।
धाणइआए हलिअकुमारिआइ ठाणम्मि जणवाओ ॥ २५८ ॥

अत्र यद्यपि सौभाग्यादि प्रसिद्धिकृतमानुरूप्यं न विद्यते तथापि स्त्रियाः उत्तमप्रार्थनमगर्हितत्वादनुगतमेव भवति । सोऽयं करुणसाधारणसाधनोत्पत्तिपक्षे उक्तः ॥

भावसाधनपक्षे तु सर्वत्र सहार्थादिविशिष्टैरतिर्दीप्तिः वा अनुरागशब्देन उच्यते । प्रथमश्च उपजायमानत्वात् अयं प्रथमानुराग इति ।

वहीं (प्रथमानुराग में ही) राग के अनुगत होने का उदाहरण—

उस पुण्यशालिनी हलवाहे की पुत्री का गृहपति के पुत्र के साथ मिलन रूप लोकापवाद युक्त ही है। गृहपति के पुत्र के द्वारा परस्पर की गई सभी प्रतिज्ञाओं को असत्य सा क्यों समझती हो ॥ २५८ ॥

यहाँ यद्यपि प्रख्याति के द्वारा किया गया सौभाग्य आदि का सारूप्य नहीं है तथापि स्त्री की अपने से उच्चतर व्यक्ति की कामना निन्दित न होने से अनुरूप ही है।

उक्त लक्षणों वाले अनुराग की यहाँ करुण रस के सामान्य साधन की उत्पत्ति वाले के रूप में अभिव्यक्ति है। (अथवा करण अर्थ में साधारण साधन के रूप में उत्पन्न माना गया है।) भाव के अर्थ में अनुराग पद की सिद्धि मानने पर तो अनुराग शब्द से 'सह' के अर्थ आदि से विशिष्ट रति अथवा दीप्ति अर्थ व्यक्त होता है। सर्व प्रथम उत्पन्न होने से इसे प्रथमानुराग कहा जाता है।

स्व० द०—यह बात इसी परिच्छेद के प्रारम्भ में कह दिया गया है कि अनुराग पद 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'रञ्ज' धातु का घञन्त रूप है। घञ् प्रत्यय का प्रयोग पाणिनि के 'भावे' ३।३।१८ ॥ तथा 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३।३।१९ ॥ सूत्रों के अनुसार भाव तथा कर्तृभिन्न तृतीया आदि विभक्तियों के अर्थ में होता है। इनके अनुसार अनुराग पद की 'अनुरञ्जनं अनुरागः' तथा अनुरज्यते अनेन इति अनुरागः" इन दो रूपों में क्रमशः भाव तथा करण अर्थ प्रकट होता है। अनुराग पद की सिद्धि भाव तथा करण अर्थ में होने से ही 'घञि च भावकरणयोः' ६।४।२७॥ सूत्र से 'ञकार' का लोप हुआ है। इनसे भिन्न सप्तमी आदि विभक्तियों के अर्थ में जैसे 'रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः' में अनुनासिक का लोप नहीं होता है। भोज ने वृत्ति में यही बात स्पष्ट की है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि अभी तक जो उदाहरण दिये गये वे सब 'अनुराग' को करण अर्थ में घञन्त रूप मान कर कहे गये हैं। उक्त सभी उदाहरणों में इस अनुराग को साधन के रूप में—करण के रूप में-चित्रित किया गया है। जब इसका भाव अर्थ में घञन्त रूप स्वीकार किया जायेगा वहाँ तो अर्थ के रूप में 'रति' अथवा दीप्ति अर्थ प्रकट होगा। 'रति' प्रेम अथवा स्थायी भाव का नाम है और दीप्ति चित्तवृत्ति की अवस्था विशेष का पर्याय है।

प्रेम की समस्त अवस्थाओं में अनुराग ही सर्वप्रथम अपेक्षित रूप से उपस्थित होता है, अतः इसे प्रथमानुराग भी कहते हैं।

गृहपतिसुतेन समयं सर्वमलीकमिव किं विचारयसि।
धन्याया हलिककुमार्य्याः स्थाने जनवादः ॥

गृहपतीति। धन्यायाः सुकृतवत्याः हलिकस्य कुमर्य्याः जनवादः अपवादः गृहपतिसुतेन सह सङ्घटनरूप इति भावः स्थाने युक्तः अनुरूपः 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः। असत्यमेतद् इत्याशङ्क्याह गृहेति। गृहपतेः गृहस्थस्य सुतेन पुत्रेण सर्वं समयं हलिककुमारीसङ्घटने अन्योन्यप्रतिज्ञायामिति यावत् अलीकमिव असत्यमिव किं कथं विचारयसि अवबुध्यसे ? ॥ २५८ ॥

प्रथमतो मानः मान्यते येनेति यथा—

पाअपडणाणं मुद्धे रहसवलामोडिअव्वाणं।
दंसणमेत्तपसिज्जरिचुक्का वहुआ ण सोक्खाणं ॥ २५९ ॥

अत्र मानपूजायामिति धातोः स्वार्थे णिजन्तात् णिचि घञि च मान इति रूपम्। स हि प्रेयांसम् अस्याः पादपतनादिपूजायां प्रयोजयति।

(अब मान के प्रसङ्ग में) सर्व प्रथम 'मान' पद के 'मान्यते येन'-जिसके द्वारा माना जाता है—अर्थ में प्रयोग का उदाहरण—

अरी भोली, हे प्रियतम के दर्शनमात्र से प्रसन्न हो जानेवाली सखि, प्रिय के पाद-पतन, जल्दी तथा जबर्दस्ती करके चुम्बन आदि अनेक प्रकार के सुखों से तो तुम वञ्चित रह जाती हो ॥ २५९ ॥

यहाँ स्व अर्थ में णिच् प्रत्ययान्त पूजार्थक 'मान' धातु से णिच् तथा घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'मान' यह रूप (अभीष्ट है।) वही प्रियतम को इस नायिका के चरणपात आदि पूजा में प्रयुक्त करता है।

स्व० द०—इसी परिच्छेद की ६९वीं कारिका में 'मान' शब्द का चार अर्थों में प्रयोग होता है, यह उल्लेख कर दिया गया है। यहाँ उनका उदाहरण आदि प्रस्तुत है। वृत्ति में केवल इतनी सी बात स्पष्ट की गई है कि प्रथम अर्थ में 'मान' धातु पूजार्थक है। यहाँ स्वार्थभाव में 'णिच्' नाम के प्रेरणार्थक प्रत्यय तथा करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय दोनों एक साथ लगाने से बना 'मान' पद अभीष्ट है। उदाहरण में अभीष्ट पादपतन, रभस, बलपूर्वक चुम्बन आदि मानिनी की पूजा के रूप में अभीष्ट है। अतः यहाँ 'मान' का अभिप्राय हुआ वह दशा जिसके कारण नायक-नायिका परस्पर अनुनयविनय रूप कार्य करते हैं'।

[छाया—पादपतनानां मुग्धे रभसबलात्कारचुम्बितव्यानाम्।
दर्शनमात्रप्रसन्ने भ्रष्टासि सुखानां बहुकानाम् ॥ गा० स० ५।६५ ॥]

पाअ इति ॥ २५९ ॥

यं प्रियत्वेन मन्यते यथा—

कारणगहिओ वि मए माणो एमेअ जं समोसरिओ।
अत्थ क्क पुल्लिअंकोल्ल तुज्झ तं मत्थए पडउ ॥ २६० ॥

अत्र मनज्ञाने इति धातुः। तथा हि। मानं प्रियत्वेन मन्यमाना तदपहारिणे अङ्कोल्लाय कापि मानिनी कुप्यति।

'जिसे प्रिय के रूप में जानते हैं (मान पद का इस अर्थ में ग्रहण करने का उदाहरण)—

सकारण किया गया भी मेरा मान (जिसकी वजह से अथवा जो) यों ही एकाएक दूर हो गया, वही खूब फूला हुआ अंकोल पुष्प अथवा हे एकाएक फूल उठे अङ्कोल, वही मान—एकाएक तुम्हारे सिर पर पड़े ॥ २६० ॥

यहाँ 'मन ज्ञाने' धातु है (अर्थात् इस प्रसङ्ग में प्रयुक्त मान पद उस 'मन' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ 'ज्ञान' होता है। जैसे कि 'मान' को ही प्रिय रूप में जानती हुई कोई मानवती नायिका उस मान का अपहरण करनेवाले अङ्कोल पर क्रुद्ध होती है।

[छाया—कारणगृहीतोऽपि मया मान एवमेव यत्समुपसृतः।
अकस्माव फुल्लिङ्कोल तव तन्मस्तके पततु ॥ नि० सा० ॥]

कारणेति ॥ २६० ॥

यः प्रेम मनुते यथा--

जत्थ ण उज्जागरओ जत्थ ण ईसाविरूरणं माणं ।
सब्भाववाहुअं जत्थ णत्थि णेहो तहिं णत्थि ॥ २६१ ॥

अत्र मनु अवबोधने इति धातुः । मानेन हि प्रेमास्ति नास्ति वेति जनो बुध्यते । तस्य च करणभूतस्यापि प्राधान्यादत्र कर्तृत्वोपचारः । तद्यथा "प्रज्ञा पश्यति नो चक्षुर्दृष्टिः सारस्वती हि सा" इति ।

'जो प्रेम का अवबोध कराता है' जैसे—

जहाँ जागरण नहीं है, जहाँ ईर्ष्या तथा खेद युक्त मान नहीं हैं, जहाँ पर प्रसन्न करने के लिये चाटुकारिता नहीं है, वहाँ स्नेह नहीं है ॥ २६१ ॥

यहाँ 'मनु अवबोधने' यह धातु हैं । अर्थात् इस तृतीय अर्थ में प्रयुक्त 'मान' की निष्पत्ति उस 'मनु' धातु से हुई है जिसका अर्थ समझना, बोध है । मान के द्वारा ही मनुष्य यह जान पाता है कि प्रेम है अथवा नहीं है । यद्यपि यह मान वस्तुतः करण के अर्थ में है तथापि प्रधानता होने से यहाँ उसका ग्रहण कर्ता के रूप में हो रहा है । जैसे कि 'बुद्धि देखती है चक्षु नहीं, क्योंकि बुद्धि सरस्वती से उत्पन्न या सम्बद्ध आँख है ।'

स्व० द० यहाँ 'मान' धातु अवबोधन अर्थ में है, करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। किन्तु उक्त गाथा में मान-क्रिया के अङ्गभूत जागरण आदि प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त हुये हैं, क्रिया भी-'अस्ति' भी-कर्तृवाच्य में है। इस प्रकार सामान्य रूप से देखने में इनका प्रयोग करण में न होकर कर्त्ता में प्रतीत हो रहा है। अतः 'मान' का करण अर्थ में प्रयुक्त ल्युट् असिद्ध हो रहा है। भोज इस शङ्का का समाधान करते हुये यह स्पष्ट करते हैं कि ये हैं तो करण रूप ही, किन्तु प्रधानता के कारण कर्त्ता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। यह बात नहीं है कि करण की प्रधानता होती ही नहीं। अन्य कवियों ने इस प्रकार के प्रयोग किये हैं। जैसे—"प्रज्ञा पश्यति०" आदि में 'चक्षु' आदि कर्ता के रूप में प्रयुक्त हैं जब कि ज्ञान का साधन होने से उनकी करणता-गौणता-ही सिद्ध होती है। वही भाव यहाँ भी है।]

छाया—यत्र नास्त्युज्जागरको यत्र नेर्ष्याखेदी मानः ।
सद्भावचाटुकं यत्र नास्ति स्नेहस्तत्र नास्ति ॥

जन्मेति ॥ २६१ ॥

प्रेम मिमीते यथा--

कुविआ अ सच्चहामा समेवि बहुआणं णवरमाणक्खलणे ।
पाअडिअहिअअसारो पेमसङ्करिसो पअट्टई मणू ॥ २६२ ॥

अत्र माङ्माने इति धातोः 'कृत्यल्युटो बहुलमि'ति कर्त्तरि ल्युट् । कोऽसावनुमान इति भाष्यप्रयोगात् । तेन च यद्यपि करणभूतेनैव आत्मनि रुक्मिण्यां च प्रियप्रेम्णः परिमाणं सत्यभामा प्रत्याययति तथापि पूर्ववदिह अयं कर्त्तृत्वेन उपयुज्यते ।

'जिससे प्रेम नापा जाता है' (इस अर्थ में मान का) उदाहरण—

स्त्रियों के केवल मान का क्षरण तुल्य होने पर भी सत्यभामा जो कोप करती हैं क्योंकि अपने अन्तस् के बल को प्रकट कर देने वाला प्रेम-युद्ध रूप मन्यु उत्पन्न होता है ॥ २६२ ॥

यहाँ मापन के अर्थ में प्रयुक्त होने वाली 'माङ्' धातु से 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इस सूत्र के अनुसार कर्ता अर्थ में ल्युट् का प्रयोग हुआ है। (ल्युडन्त पदों का प्रयोग-नपुंसक लिङ्ग में होना चाहिये, न कि पुल्लिग में। किन्तु यहाँ जो पुल्लिग किया गया है वह इसलिये क्योंकि महावैयाकरण पतञ्जलि सदृश विद्वानों के भाष्य में 'कोऽसावनुमानः' सदृश वाक्यों में पुल्लिग प्रयोग दृष्टिगोचर होता है) इसके करण रूप के द्वारा ही यद्यपि सत्यभामा अपने में तथा रुक्मिणी में प्रिय के प्रेम के परिमाण का विश्वास दिलाती हैं फिर भी पहले की भांति यह कर्तृरूप में ही प्रयुक्त हुआ है।

स्व० द०-यहाँ 'मान' पद की व्युत्पत्ति 'माङ्' धातु से अभीष्ट है जिसका अर्थ परिमाण या माप है। इसकी निष्पत्ति 'ल्युट्' प्रत्यय के प्रयोग से है। प्रश्न यहाँ यह उठता है कि ल्युट् प्रत्ययान्त पद तो नपुंसक लिङ्ग में होते हैं, अतः मान पद का यहाँ पुल्लिग में प्रयोग अयुक्त है। किन्तु भोज महर्षि पतञ्जलि के प्रयोग के आधार पर इसे इस लिङ्ग में स्वीकार करने में कोई दोष नहीं समझते। यदि यह रूप अशुद्ध होता तो उनके जैसा विद्वान् पुल्लिग में उसका प्रयोग न करता। उनके ग्रन्थ में उपलब्ध हो रहे वाक्य 'कोऽसावनुमानः' में मान पद पुल्लिग में ही है। अतः प्रयोग परम्परा के कारण यहाँ दोष नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि ल्युट् का प्रयोग करण अर्थ में होता है, कर्ता के अर्थ में नहीं। यही सामान्यविधान है। किन्तु यहाँ 'सत्यभामा' आदि प्रत्यायक कर्तृत्व रूप में उक्त हैं। इस शङ्का का समाधान भोज पाणिनि के एक सूत्र 'कृत्यल्युटो बहुलम्' ३।३।११३॥ से देते हैं। बहुलता का अर्थ लघुसिद्धान्तकौमुदी में इस प्रकार है—

> क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
> विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

इस प्रकार यहाँ विभाषा अर्थ में ल्युट् का प्रयोग करण रूप में न करके कर्तृ रूप में किया गया है। अतः ल्युडन्त 'मान' पद कर्तृत्वेन प्रयुक्त होने पर भी अशुद्ध अथवा अनुपयुक्त नहीं।

> कुपिता च सत्यभामा समेऽपि वधूनां केवलमानक्षरणे।
> प्रकटितहृदयसारः प्रेमसङ्घर्षः प्रवर्त्तते मन्युः ॥

कुपितेति। वधूनां नारीणां केवले मानक्षरणे मानहानौ समे तुल्येऽपि सत्यभामा तदाख्या महिषी कुपिता च कोपवती एवेत्यर्थः। प्रकटितः प्रकाशितः हृदयस्य सारो बलं श्रेष्ठाशयश्च यत्र तथाभूतः प्रेम्णः प्रणयस्य सङ्घर्षः अन्येन संविभाग इत्यर्थः मन्युः दुःखं कोपकारणमिति भावः सन् प्रवर्त्तते प्रजायते ॥ २६२ ॥

प्रवासे वसत इत्युपलक्षणेन न आत्मानमङ्गना भूषयन्ति यथा—

> साहीणेवि पिअअमे पत्तेवि च्छणे ण मण्डिओ अप्पा।
> दुक्खिअपउत्थवइअं सअं ज्जिअं सण्ठवन्तीए ॥ २६३ ॥

अत्र वस आच्छादन इत्यस्य प्रस्मरति इत्यादिवन्निषेधार्थे प्रपूर्वस्य घञि च प्रवास इति रूपं निरूप्यते ।।

प्रवास में 'वसते'—वस्त्र धारण—इस उपलक्षण के अनुसार अथवा चिह्नों से सुन्दरियाँ अपने को सुशोभित नहीं करती हैं, इस अर्थ में (प्रवास का) उदाहरण—

अत्यन्त दुःख का अनुभव कर रही अपनी विरहिणी पड़ोसिन को सांत्वना देती हुई इस सुन्दरी ने अपने वश में रहने वाले तथा अपेक्षित घड़ियों में सदा विद्यमान रहने वाले पति की उपस्थिति में भी अपने को अलंकृत नहीं किया ॥ २६३ ॥

यहाँ 'वस आच्छादने'—'वस' धातु का आच्छादन अर्थ में प्रयोग अभीष्ट होने से—इसको 'प्रस्मरति' आदि प्रयोगों की भांति निषेधार्थ में विद्यमान 'प्र' उपसर्ग पूर्वक घञ् प्रत्यय करने से 'प्रवास' यह रूप निष्पन्न होता है।

स्व० द०—'प्र' उपसर्ग के जहाँ प्रगत, प्रकृष्ट आदि अर्थ होते हैं, वहीं स्त्रियों के वियोग सन्दर्भ में इससे 'अभाव', 'विना' 'रहित' आदि का भी ज्ञान होता है। यहाँ इसी अभाव अर्थ में यह आच्छान अर्थ वाली 'वस' धातु से युक्त हुआ है। इस प्रकार प्रवास का अर्थ वह दशा हुई जिसमें स्त्रियाँ अपने को वस्त्रालंकार आदि से सुसज्जित नहीं करतीं।

स्वाधीनेऽपि प्रियतमे प्राप्तेऽपि क्षणे न मण्डित आत्मा।
दुःखितप्रोषितपतिकां प्रतिवेशिनीं संस्थापयन्त्या ॥ गा० स० १।३९ ॥

साहीणे इति ॥ २६३ ॥

युवानः प्रियासन्निधौ न वसन्ति यथा—

विरहाणलो सहिज्जइ आसाबन्धेण दुल्लहजणस्स।
एक्कग्गामपवासो माए मरणं विसेसेइ ॥ २६४ ॥

अत्र दूरस्थयोरिव अन्तिकस्थयोरपि सन्निकर्षाभावात् प्रवासो भवति।

'जब युवक अपनी प्रियतमाओं के पास नहीं रहते हैं' इस अर्थ में प्रवास का उदाहरण—

दुष्प्राप्य प्रियतम की आशा से विरहाग्नि सही जा सकती है, किन्तु हे माँ, एक ही गाँव में रह कर न मिल पाना तो मृत्यु से भी बढ़ कर है ॥ २६४ ॥

यहाँ दूर दूर स्थित प्रियतम तथा प्रियतमा की भांति निकटस्थ होने पर भी उन दोनों का मिलन न हो पाने से प्रवास (सिद्ध) होता है।

स्व० द०—यहाँ भी 'प्र' उपसर्ग का अर्थ तो 'अभाव' ही है, किन्तु 'वास' पद आच्छादन अर्थ में न होकर 'रहना' अर्थ में है। अतः यहाँ 'प्रवास' का अर्थ हुआ वह दशा जिसमें प्रियतमा तथा प्रियतम के संनिकर्ष का अभाव होता है।

विरहानलः सह्यत आशाबन्धेन दुर्लभजनस्य।
एकग्रामप्रवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥ गा० स० १।४३ ॥

विरहेति ॥ २६४ ॥

उत्कण्ठादिभिश्चेतो वासयति यथा—

आलोअन्ति दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त।
मुञ्झन्त पड़न्त हसन्त पहिअ ! किं तेण पउत्थेण ।। २६५ ।।

अत्र उत्कण्ठादिभिः वासिते चेतसि शून्यावलोकनादयः अनुभावा जायन्ते ।।

'उत्कण्ठा आदि के द्वारा चित्त को भावित करने के अर्थ में प्रयुक्त 'प्रवास' का उदाहरण—

अरे पथिक, जब तुम अभी से दिशाओं की ओर ताकने लगे, लम्बी लम्बी उसांसे लेने लगे, जमुहाई लेने लगे, गाने लगे, रोने लगे, मूर्च्छा आ गई, गिरने लगे, और हँसी आने लगी, तब भला प्रवास हो जाने पर क्या होगा ।। २६५ ।।

यहाँ उत्कण्ठा आदि से वासित हृदय में ही आकाश की ओर देखना आदि अनुभाव उत्पन्न होते हैं, (इसका निरूपण किया गया है।)

छाया—आलोकयन् दिशः श्वसन् जृम्भमाणो गायन् रुदन्।
मुह्यन् पतन् हसन् पथिक ! किं तेन प्रोषितेन ।। गा० स० ६।४६ ।।

स्व० द० यहाँ 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट तथा 'वास' का अर्थ वासित करना, भावित करना, भावना देना अथवा अपनी गन्ध डालना है। जिसका हृदय अभिलाषा आदि से वासित है, उसी के उक्त अनुभाव होते हैं, अन्यों के नहीं।

आलोअन्ति इति ।। २६५ ।।

प्रमापयति यथा—

सञ्जीवणोसहिम्मि व पिअस्स रक्खेइ अणण्णवावारा।
सासूणवाप्फदंसणकण्ठागदजीविआं सोण्हां ।। २६६ ।।

अत्र प्रसादं करोतीत्यादिवत् प्रमापणोपक्रमोऽपि प्रमापणम् उच्यते ।।

प्रमापण (अर्थात् चुपके चुपके सह लेने, भीतर ही भीतर किसी बात को छिपा लेने या दबा लेने, अथवा प्रच्छन्न रूप से रख छोड़ने या मरण के अर्थ में प्रवास का ग्रहण होने का) उदाहरण—

नायिका की सास सारे कामों को छोड़कर अपने पुत्र के लिये सञ्जीवनी ओषधि समझ कर नव बादलों को देखने से कण्ठ तक आ गये प्राणों वाली अपनी पुत्रवधू की सुरक्षा में मग्न है ।। २६६ ।।

यहाँ 'प्रसन्न करता है' आदि की भांति प्रमापण का उपक्रम भी प्रमापण ही कहा जाता है।

स्व० द०—यहाँ 'प्रवास'पद प्रमापण-वध-के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् वह दशा जिसमें प्रेमीजन मृत से हो जाते हैं, उनका वध सा हो जाता है, प्रवास है। यहाँ 'प्र' का अर्थ अभाव रूप तथा 'वास' का रहना, वसना अथवा प्राणधारण रूप है। प्रमापण की निष्पत्ति प्र+मी+णिच्+ल्युट्, का पुगन्त रूप करने पर होती है।

उक्त उदाहरण में नायिका मृतप्राय सी है, उसके प्राण गले तक आ गये हैं, किन्तु निकले नहीं। इस अर्थ में वध न होने से—प्राणविसर्जन पूर्णतः न होने से—उसका प्रमापण अर्थ

समझना असंगत प्रतीत हो सकता है। किन्तु जिस प्रकार प्रसन्न करना आदि क्रियाओं की निष्पत्ति उनका उपक्रम करने से होती है, उसी प्रकार गले तक प्राणों का आ जाना भी वधू-मरण का एक उपक्रम ही है, अतः यहाँ प्रवास को प्रमाण-वध-अर्थ में स्वीकार कर लेना चाहिये।

संजीवनौषधिमिव सुतस्य रक्षत्यनन्यव्यापारा।
श्वश्रूर्नवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां स्नुषाम् ॥ गा० स० ४।३६ ॥

सञ्जीवनेति ॥ २६६ ॥

प्रथमानुराग, मान तथा प्रवास का निरूपण करने के पश्चात् अब क्रम प्राप्त करुण का विवेचन किया जा रहा है। इसी परिच्छेद में (७४-६) करुण की निष्पत्ति उस 'कृ' धातु से मानी गई है जिसका अर्थ अभूतोत्पादन, उच्चारण, अवस्थापन तथा अभ्यञ्जन होता है। इन्हीं अर्थों में उनका क्रमशः उदाहरण दिया जा रहा है।

करुणे करोतेः अभूतोत्पादनार्थत्वे कुरुते मूर्च्छां यथा—

विअलिअविओअवेअणं तक्खणपब्भट्टराममरणाआसं।
जणअतणआए णवरं लद्धं मुच्छाणिमीलिअच्छीए मुहं ॥ २६७ ॥

अत्र सीतायाः पतिशोकप्रकर्षेण अभूता मूर्च्छा उत्पद्यते ॥

करुण में विद्यमान 'करोति' (कृ धातु) के अनुद्भूत वस्तु के ग्रहण रूप अर्थ में प्रयुक्त होने पर 'मूर्च्छा करने' का उदाहरण—

मूर्च्छा के कारण नयनों को बन्द की हुई सीता ने उस घड़ी राम के मरण (श्रवण) से उत्पन्न दुःख से रहित, वियोग कालीन कष्टों से विहीन निरवच्छिन्न सुख को प्राप्त किया ॥ २६७ ॥

यहाँ सीता की पति के शोक के आधिक्य से पहले न उत्पन्न हुई मूर्च्छा उत्पन्न हो रही हैं।

स्व० द०—यहाँ प्राकृत गाथा के पूर्व भोज द्वारा दी गई वृत्ति में 'अनुभूतोपादानार्थत्वे,' 'भूतोपादानार्थत्वे' तथा 'अभूतोत्पादानार्थत्वे' पाठान्तर मिलते हैं। इनमें से अन्तिम ही युक्ततम हैं,क योंकि इसकी संगति यही' प्राकृत गाथा के बाद वृत्ति में प्रयुक्त 'अभूता मूर्च्छा उत्पद्यते' तथा इसी परिच्छेद की चौहत्तरवीं कारिका में दिये गये 'अभूतोत्पादनायां कृञ् दृष्टः कुरु घटे यथा' पदों से सिद्ध होती है।

विगलितवियोगवेदनं तत्क्षणप्रभ्रष्टराममरणायासम्।
जनकतनयया केवलं लब्धं मूर्च्छानिमीलिताक्ष्या सुखम् ॥

विगलितेति। मूर्च्छया मोहेन प्रियमरणश्रवणजनितेनेति भावः निमीलिते मुकुलिते अक्षिणी नयने यस्याः तथाभूतया जनकतनयया सीतया तस्मिन् क्षणे प्रभ्रष्टः विगतः राममरणायासः रामस्य मरणश्रवणजनितः क्लेश इत्यर्थः यस्मिन् तथाविधम् अतएव विगलिता विनष्टा वियोगस्य विच्छेदस्य वेदना यस्मिन् तथाभूतं केवलं निरवच्छिन्नं सुखं लब्धं प्राप्तम् ॥ २६७ ॥

उच्चारणार्थत्वे कुरुते विलापं यथा—

पुहवीअ होइ हि पई बहुपुरिसविसेसचञ्चला राअसिरी।
कह ता महच्चिअइम णिसामाणं उवट्ठिअं वेहव्वं ॥ २६८ ॥

अत्र प्रवासदुःखेन सीता विलपन्ती इदमुच्चरति ॥

उच्चारण के अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग करने पर (करुण में) विलाप का उदाहरण—

(हे राम तुम्हारे दिवंगत हो जाने पर) इस पृथ्वी का कोई पति हो जायेगा अर्थात् दूसरा राजा होगा जो पृथ्वी का पालन करेगा, इसका पति होगा, राज्यलक्ष्मी अनेक पुरुषों में से किसी विशिष्ट के पास चली जायेगी अर्थात् वह भी किसी न किसी विशिष्ट पुरुष को पति रूप में प्राप्त कर लेगी, फिर भला मुझको ही यह असाधारण वैधव्य कैसे उपस्थित हो गया है ॥ २६८ ॥

यहाँ विरह के दुःख से पीड़ित सीता विलाप करती हुई इस गाथा का उच्चारण करती हैं।

पृथिव्या भविष्यति पतिः बहुपुरुषविशेषचञ्चला राज्यश्रीः।
कथं तन्ममैवेदं निःसामान्यमुपस्थितं वैधव्यम् ॥

पुहवीअ इति ॥ २६८ ॥

अवस्थापनार्थत्वे कुरुते साहसे मनो यथा——

इयमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयिणी भवामि ते।
चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय ! यावन् न विलोभ्यसे दिवि ॥२६९॥
अत्र रतेः कामशोकेन मरणसाहसे मनोऽवस्थाप्यते।

अवस्थापन अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग होने पर 'साहस' के काम में मन को अवस्थापित करने का उदाहरण—

हे प्रियतम कामदेव, स्वर्ग में निपुण देवाङ्गनाओं के द्वारा तुम लुब्ध भी न किये जा सकोगे, कि इसी बीच में यह मैं पुनः पतङ्ग—शलभ—के मार्ग से (अग्नि में कूद कर) आकर तुम्हारी गोद में बैठती हूँ ॥ २६९ ॥

यहाँ रति का मन कामदेव के शोक के कारण मरणरूप साहस कर्म में अवस्थापित किया जा रहा है।

इयमिति। हे प्रिय ! दिवि स्वर्गे चतुरैः निपुणैः वशीकरणदक्षैरिति यावत् सुरकामिनीजनैः अप्सरोभिरित्यर्थः यावत् न विलोभ्यसे प्रलोभ्य नीयसे इत्यर्थः तावत् इयमहं पतङ्गवर्त्मना पतङ्गमार्गेण अग्निपतनेनेति यावत् ते तव पुनः अङ्काश्रयिणी उत्सङ्गवर्त्तिनी भवामि ॥ २६९ ॥

अभ्यञ्जनार्थत्वे करोति चित्तं दुःखेन यथा——

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा न तु भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलति च तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥ २७० ॥

अत्र रामादेः दुःखेन चित्तमभ्यज्यते ॥

'अभ्यञ्जन—लेप—के अर्थ में 'कृ' का प्रयोग होने पर' दुःख से चित्त के लिप्त होने का उदाहरण—

दृढ़ उत्कण्ठा से युक्त हृदय विदीर्ण तो हो रहा है, किन्तु दो टूक नहीं हो पा रहा है, बेचैन शरीर मूर्च्छा का वहन तो करता है किन्तु चेतना का परित्याग नहीं करता। हृदय की अग्नि शरीर को जला तो रही है, किन्तु उसे राख नहीं कर डालती। हृदय को छेद डालने वाला दैव प्रहार तो करता है, किन्तु प्राणों को काट नहीं डालता ॥ २७० ॥

यहाँ राम आदि का चित्त दुःख से लिप्त किया जा रहा है।

स्व० द०—यहाँ ऊपर करुण के मूलभूत 'कृ' धातु के विभिन्न अर्थों में प्रयोग के उदाहरण दिये जा चुके। अब आगे क्रमप्राप्त 'संभोग' के विभिन्न अर्थों के विभिन्न दशाओं में उदाहरण दिये जा रहे हैं।

दलतीति। गाढः दृढः उद्वेगः उत्कण्ठा यत्र तादृशं हृदयं दलति विदीर्यते इत्यर्थः, तु किन्तु द्विधा न भिद्यते द्विखण्डं न भवतीत्यर्थः। कायो देहः विकलः विवशः सन् मोहं वहति धत्ते, किन्तु चेतनां न मुञ्चति न त्यजति, अन्तर्दाहः अन्तःसन्तापः तनूमङ्गं ज्वलयति, किन्तु भस्मसात् न करोति न दहतीत्यर्थः। विधिर्दैवं मर्मच्छेदी अरुन्तुदः सन् प्रसरति प्रवर्त्तते, किन्तु जीवितं न निकृन्तति न नाशयतीत्यर्थः ॥ २७० ॥

सम्भोगनिरुक्तिषु प्रथमानुरागानन्तरे पालनार्थो यथा—

> दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता
> शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिता वेपते।
> निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते
> जाता वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥ २७१ ॥

अत्र प्रागल्भ्यवामताभ्यामननुकूलायामपि नवोढायामिच्छामुवृत्त्या रतिः पाल्यते।

संभोग की निरुक्तियों में प्रथमानुरागानन्तर की दशा में पालन अर्थ का उदाहरण—

देखने पर वह अपनी निगाहों को नीचे झुका लेती है, बुलकारने पर बोलती नहीं है, सेज पर मुड़कर पड़ी रहती है और हठात् आलिङ्गन करने पर काँपती रहती है। निवास कक्ष से सखियों के चली जाने पर वह भी बाहर निकल जाना ही चाहती है। इस प्रकार इस समय तो मेरी नवोढ़ा प्रियतमा विपरीत आचरण करने पर भी मेरे लिये प्रीति उत्पन्न करती हैं ॥ २७१ ॥

यहाँ प्रगल्भता तथा वामता के कारण नवविवाहिता प्रियतमा के अनुकूल न होने पर भी इच्छा की अनुवृत्ति होने से रति-प्रेम का पालन हो रहा है।

दृष्टेति। नवोढा नवविवाहिता प्रिया कान्ता सम्प्रति वामतयैव प्रतिकूलतयैव मम प्रीत्यै आनन्दाय जाता। तथाहि-दृष्टा अवलोकिता सती अधः दृष्टिं ददाति दधातीति वा पाठः। आभाषिता किमपि कथिता सती आलापं न कुरुते न प्रतिवक्तीत्यर्थः। परिवृत्य पराङ्मुखीभूय शय्यायां तिष्ठति, बलात् बलमाश्रित्येत्यर्थः ल्यब्लोपे पञ्चमी। आलिङ्गिता सती वेपते कम्पते। सखीषु सङ्गिनीषु वासभवनात् निर्यान्तीषु निर्गच्छन्तीषु निर्गन्तुं बहिर्गन्तुमेव ईहते चेष्टते ॥ २७१ ॥

मानानन्तरे कौटिल्यार्थो यथा—

पादे मूर्द्धनि ताम्रतामुपगते कर्णोत्पले चूर्णिते
छिन्ने हारलतागुणे करतले सम्पातजातव्रणे।
अप्राप्तप्रियताडनव्यतिकरा हन्तुं पुनश्चेतसा
वाञ्छन्ती मुहुरेणशावनयना पर्य्याकुलं रोदिति ॥ २७२ ॥

अत्र प्रेम्णः स्वभावकुटिलत्वात् मानवत्याः कचग्रहणेन यत् पादताडनादिरूपाः कुटिला एव सम्भोगा जायन्ते ॥

मान के पश्चात् वाले संभोग में कुटिलता (भुग्नता) रूप अर्थ लेने का उदाहरण—

(प्रियतम के) मस्तक के चरणों से प्रहार करने से लाल लाल हो जाने पर, कर्णावतंस के चूर चूर हो जाने पर, मौक्तिक माला का सूत्र टूट जाने पर तथा निरन्तर पड़ते रहने से हाथों के घायल हो जाने पर जब उस कुरङ्ग शावक के सदृश नयनो वाली सुन्दरी को प्रियतम को मारने का और कोई साधन न मिला तब भी मनसे बार बार मारने की इच्छा से वह अत्यन्त व्याकुलता के साथ रोने लगी ॥ २७२ ॥

यहाँ प्रेम के सहज रूप से कुटिल होने के कारण मान की हुई सुन्दरी के केश पकड़ने से जो चरणों की मार आदि क्रियायें हैं, (उनसे) संभोगों की कुटिलता ही प्रतीत होती है।

पादे इति। पादे चरणे मूर्द्धनि मस्तके मानभञ्जनार्थमुद्यतस्य प्रियस्येति भावः ताम्रताम् अलक्तकरसरक्तामिति भावः उपगते प्राप्ते, कर्णोत्पले चूर्णिते दूरनिक्षेपेणेति भावः खण्डिते इत्यर्थः हारलतागुणे मौक्तिकहारसूत्रे छिन्ने छेदं गते, करतले सम्पातेन सम्प्रहारेण जातं व्रणं क्षतं यत्र तादृशे सति एणशावनयना हरिणशावकाक्षी कान्ता न प्राप्तः प्रियस्य ताडने प्रहारे व्यतिकरः उपायः यया तथाभूता पुनः चेतसा मनसा हन्तुं वाञ्छन्ती अभिलषन्ती सती मुहुः पुनः पुनः पर्य्याकुला अतीव व्याकुला सती रोदिति क्रन्दति ॥ २७२ ॥

प्रवासानन्तरे अभ्यवहारार्थो यथा—

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ २७३ ॥

अत्रोत्तरार्द्धे उपोषितस्य अन्नोपयोग इव प्रियालोकजन्मा पिबतेरभ्यवहारः कथ्यते ॥

प्रवासानन्तर अवस्था में (संभोग के) अभ्यवहार-भोजन-अर्थ में प्रयुक्त होने का उदाहरण—

पत्नी सुदक्षिणा वसिष्ठ की धेनु नन्दिनी के पीछे पीछे वनभूमि से लौट कर आ रहे दिलीप का एकटक नेत्र की रोमावलियों को एक लक्ष्य में स्थिर करके उपवास किये हुये से दोनो नयनों से पान करती थीं ॥ २७३ ॥

यहाँ श्लोक के उत्तरार्ध में उपवास करने वाले के अन्न के ग्रहण की भांति प्रिय के अवलोकन से उत्पन्न होने वाला अभ्यवहार 'पिबति'—'पपौ'—क्रिया के द्वारा कहा जा रहा है।

वसिष्ठेति। वनिता पत्नी सुदक्षिणा वसिष्ठधेनोः नन्दिन्याः अनुयायिनम् अनुगामिनं वनान्तात् काननसीम्नः आवर्त्तमानम् आगच्छन्तं तं दिलीपं निमेषे अलसा मन्थरा पक्ष्मणां नेत्रलोम्नां पङ्क्तिः राजिर्यस्याः तथाभूता सती उपोषिताभ्यामिव कृतोपवासाभ्यामिव लोचनाभ्यां पपौ सातिशयं दृष्टवतीत्यर्थः ॥ २७३ ॥

करुणानन्तरे अनुभवार्थो यथा--

अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविएम्मि पिअअम्मि ।
वेहव्वमंडणं कुलबहुए सोहणअं जाअं ॥ २७४ ॥

अत्र यथेयं मत्प्राणभूता एवमस्या अहमपि जीवितमेवेति पत्या विश्रम्भजो रागः पत्न्याः पुनः प्रेत्यापि यत्सङ्गमो मया अभिलषितः सोऽयं जीवन्त्यैव जीवितेश्वरः समासादित इति विश्रम्भाद् अतिसुखमेव अनुभूयते ॥

करुणानन्तर दशा में अनुभव अर्थ ग्रहण करने का उदाहरण—

प्रियतम के पीछे ही पीछे कुलाङ्गना के मरने के लिये तैयार होने पर जब प्रियतम पुनः जी उठे तब उसके वैधव्य की सूचना देने के लिये पहने गये पदार्थ उसके लिये शुभ-माङ्गलिक-हो उठे ॥ २७४ ॥

यहाँ पर 'जिस प्रकार से यह मेरी प्राणस्वरूपा है, इसी प्रकार मैं भी इसका प्राण ही हूँ' इस प्रकार का पति के द्वारा विश्वासपूर्ण प्रेम अनुभूत होता है। मरकर भी पुनः जो मेरे साथ मिलन पत्नी को अभीष्ट है, वह प्राणेश्वर विना मरे भी इसके द्वारा प्राप्त कर लिया गया। इस विश्रम्भ के कारण अत्यन्त सुख का ही अनुभव किया जा रहा है।

स्व० द०—ऊपर 'भोग' के पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार तथा विश्रब्ध अनुभव रूप अर्थ सनिदर्शन स्पष्ट किये गये। अब आगे 'सम्' उपसर्ग का भोगार्थक अन्य पदों के साथ समास करके उनके विभिन्न रूपों—संक्षिप्त, सङ्कीर्ण, सम्पूर्ण तथा समृद्ध-का उदाहरण उपस्थित किया जायेगा।

अनुमरणप्रस्थितया प्रत्यागतजीविते प्रियतमे ।
वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः शोभनकं जातम् ॥

अनुमरणेति। अनुमरणाय सहमरणायेत्यर्थः प्रस्थितायाः गतायाः कुलवध्वाः कुलाङ्गनायाः वैधव्यमण्डनं सहमरणार्थं परिहितमलङ्करणं प्रियतमे कान्ते प्रत्यागतं पुनरागतं जीवितं यस्य तथाभूते सति शोभनकम् अतीव शोभाजनकमित्यर्थः जातम् ॥ २७४ ॥

अत्र प्रथमानुरागानन्तरे सम्भोगः संक्षिप्तो यथा--

अपेतव्याहारं च्युतविविधशिल्पव्यतिकरं
करस्पर्शारम्भे प्रगलितदुकूलान्तशयनम् ।
मुहुर्बाहोत्कम्पं दिशि दिशि मुहुः प्रेरितदृशो-
रहल्यासूत्राम्णोः क्षणिकमिह तत्सङ्गतमभूत् ॥ २७५ ॥

अत्र संक्षेपो निगदेनैव व्याख्यायते ॥

यहाँ प्रथमानुरागानन्तर दशा में संक्षिप्त संभोग का उदाहरण—

इधर उधर बार बार निगाहें डालने वाले अहल्या तथा सूत्रामा—इन्द्र का यहीं वह अल्प-संयोग हुआ था जिस संयोग के समय वे परस्पर मधुर-आलाप नहीं कर सके थे, उनके अनेक प्रकार के रतिबन्ध युक्त कर्म नहीं सम्पन्न हो पाये थे, हाथों से स्पर्श करते ही जब वस्त्रों का अञ्चल शय्या की एक ओर खिसक गया था और जब बार बार उनका शरीर सात्विक भावों का उदय होने से थरथरा रहा था ॥ २७५ ॥

यहाँ पर संक्षेप स्पष्ट उक्ति द्वारा ही कह दिया जा रहा है।

अपेतेति। अहल्या च सूत्रामा च तयोः अहल्यादेवेन्द्रयोः दिशि दिशि प्रतिदिशं मुहुः पुनः पुनः प्रेरिते चालिते दृशौ याभ्यां तयोः कश्चित् पश्यतीति भियेति भावः सभीः इह अस्मिन् समये स्थाने वा तत् सङ्गतं रतम्। अपेतः अपगतः व्याहारः अन्योन्यमधुरालाप इति यावत् यस्मिन्, यतः च्युतः विगतः विविधः बहुप्रकारः शिल्पस्य रतिप्रकारस्येति भावः व्यतिकरः सम्बन्धः यस्मिन् तथोक्तं, करस्य स्पर्शः ग्रहणं तस्य आरम्भे उद्यमे एवेत्यर्थः प्रगलितं प्रभ्रष्टं दुकूलं वसनम् अन्ते प्रान्तदेशे यस्य तादृशं शयनं शय्यातलं यस्मिन् तथाभूतं मुहुः पुनः पुनः बद्धा जाता उत्कम्पा आतङ्केत्यर्थः गोतमभयजनितेति भावः यस्मिन् तत् अतएव क्षणिकम् अल्पक्षणमित्यर्थः अभूत् आसीत्। क्षणिकमिवेति पाठः समीचीनः ॥ २७५ ॥

स एव मानान्तरे सङ्कीर्णो यथा—

> अणुणीअ खणलद्धसुहे पुणोवि सम्भरिअमण्णुदूणविहले।
> हिअए माणवईणं चिरेण पणअगरुओ पसप्पइ रोसो ॥२७६॥

अत्रावस्थिता प्रकृष्टा च रतिर्व्यलीकस्मरणादिभिः सङ्कीर्यते ॥

उसी अर्थात् संभोग ही के मानानन्तर की दशा में संकीर्ण का उदाहरण—

अनुनय करके एक क्षण प्रसन्नता प्राप्त कराये गये तथा फिर बाद में भर गये दुःख से सन्तप्त होने के कारण विकल मानिनियों के हृदय में बहुत काल के बाद प्रेम जनित कोप शान्त होता है, अथवा ('पसप्पइ' पाठ होने पर) बहुत समय तक प्रेम के कारण प्रवृद्ध रोष बढ़ता ही रहता है ॥ २७६ ॥

यहाँ अवस्थित तथा प्रकृष्ट प्रेम व्यलीकों—वञ्चनाओं—की स्मृति आदि से संकीर्ण हो रहा है।

स्व० द०—यहाँ संकीर्णता का उदाहरण होने से 'पसप्पइ'—प्रसर्पति के स्थान पर 'पसम्मई'—प्रशाम्यति—पाठ अधिक युक्त है।

> अनुनीय क्षणलब्धसुखे पुनरपि सम्भरितमन्युदूनविह्वले।
> हृदये मानवतीनां चिरेण प्रणयगुरुः प्रसर्पति रोषः ॥

अनुनीयेति। अनुनीय प्रसाद्य क्षणेन लब्धं जनितमित्यर्थः सुखं यस्य तथोक्ते कान्तप्रसादानन्तरं क्षणिकसन्तोषवतीत्यर्थः पुनरपि सम्भरितेन सम्यक् प्रपूरितेन मन्युना दुःखेन दूनं सन्तप्तम् अतएव विह्वलं विवशं तस्मिन् मानवतीनां मानिनीनां हृदये चिरेण दीर्घकालेन प्रणयेन गुरुः महान् रोषः कोपः प्रसरति प्रवर्त्तते ॥ २७६ ॥

प्रवासानन्तरे सम्पूर्णो यथा—

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
मासानेतान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा ।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ।। २७७ ।।

अत्र अमुना विरहिवाक्येनापि निर्वेक्ष्याव इति भविष्यत्कालोपाधेः प्रवासानन्तरेऽप्यविरुध्यमानेन तं तम् आत्माभिलाषमित्यादिना तदानीन्तनभोगस्य सम्पूर्णत्वं वर्ण्यते ।।

प्रवासानन्तर संभोग में सम्पूर्णता का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।३७)

यहाँ इसके विरह वाक्य होने पर भी 'निर्वेक्ष्यावः—' 'हम पूरी तरह से देखेगें—इस भविष्यत् काल में होने वाली उपाधि के प्रवासानन्तर सम्भोग में भी बाधित न होने वाले 'तं तं आत्माभिलाषम्'—अपनी उन उन आकांक्षाओं को—आदि शब्दों द्वारा उस समय होने वाले भोग की सम्पूर्णता का वर्णन होता हैं ।

शापान्त इति । प्राग् व्याख्यातम् ॥ २७७ ॥

करुणानन्तरे समृद्धो यथा—

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्यो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ।। २७८ ।।

अत्र उत्तरार्द्धेन इन्दुमत्यजयोः लोकान्तरप्रत्युज्जीवनेन सम्भोगसमृद्धिः प्रतिपाद्यते ।।

करुणानन्तर सम्भोग में समृद्धि का उदाहरण—

इस गंगा तथा सरयू के जल के मिलने के कारण सङ्गम पर बन गये तीर्थ में शरीर का त्याग करने से तत्काल ही देवताओं के गणना-क्रम में उल्लिखित होकर पहले के आकार से भी उत्कृष्ट कान्ति वाली प्रियतमा से मिलकर अज ने फिर से नन्दनवन में केलिगृहों में भोग करना प्रारम्भ कर दिया ॥ २७८ ॥

यहाँ उत्तरार्ध के द्वारा इन्दुमती तथा अज दोनों के दूसरे लोक में पुनः जीवित हो उठने से संभोग की समृद्धि प्रतिपादित होती है ।

तीर्थे इति । असौ अजः जह्नुकन्या गङ्गा सरयूस्तदाख्या नदी तयोः तोयस्य जलस्य व्यतिकरः सम्बन्धः सङ्गम इत्यर्थः तेन भवः उत्पत्तिर्यस्य तथोक्ते गङ्गासरयूसङ्गमे इत्यर्थः तीर्थे पुण्यक्षेत्रे इत्यर्थः देहस्य त्यागः विसर्जनं तस्मात् प्राणत्यागादित्यर्थः सद्यः तत्क्षणम् अमरेषु देवेषु मध्ये गणना संख्यानं तस्या लेख्यं पत्रं देवत्वमिति भावः आसाद्य प्राप्य

पूर्वाकाराद् इन्दुमतीरूपादिति यावद् अधिकतरा अधिकोज्ज्वला रुक् कान्तिः यस्याः तथाभूतया कान्तया प्रेयस्या सङ्गतः सम्मिलितः सन् नन्दनस्य देवोद्यानस्य अभ्यन्तरेषु मध्यवर्त्तिषु इत्यर्थः लीलागारेषु क्रीडामन्दिरेषु अरमत विजहार ॥ २७८ ॥

प्रथमानुरागानन्तरे सहार्थान्वयो यथा--

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु पिअरूअदंसणुम्मत्ता ।
दो वि किअत्था पुहविअं पुरिसमहिलाणं त्ति मण्णन्ति ॥२७९॥

अत्र पूर्वार्द्धे रञ्जयत्यर्थः । उत्तरार्द्धे राजत्यर्थः । प्रथमानुरागे सह सिद्धभावेन सिद्धः तदनन्तरेऽपि तथैव अनुवर्त्तते ॥

प्रथमानुरागानन्तर दशा में 'सह' के अर्थ से सम्बद्ध संभोग का उदाहरण—

इस सुन्दरी का पति निरन्तर इसके मुख को निहारा करता है तथा यह सुन्दरी भी उसके रूप को देखकर पागल हो उठती है। अतः यही दोनो धरती के स्त्री पुरुषों के बीच अपने को परस्पर धन्य मानते हैं ॥ २७९ ॥

यहाँ पूर्वार्ध में रञ्जन (रञ्जयति) अर्थ है तथा उत्तरार्ध में 'राजति' 'सुशोभित होना' अर्थ है । प्रथमानुराग में साथ ही सिद्धभाव से सिद्ध हो कर प्रथमानुरागानन्तर में भी उसी प्रकार से अनुवृत्त होता है ।

मुखप्रेक्षकः पतिरस्याः सापि खलु प्रियरूपदर्शनोन्मत्ता ।
द्वावपि कृतार्थौ पृथिव्यां पुरुषमहिलानामिति मन्येते ॥

मुखेति । पतिः प्रियः अस्याः रमण्या मुखं प्रेक्षते इति मुखप्रेक्षकः सततं मुखप्रेक्षणसमुत्सुक इति भावः । सापि रमणी प्रियस्य कान्तस्य रूपदर्शने सौन्दर्य्यावलोकने उन्मत्ता अतीव व्यग्रेति भावः । अतः द्वावपि तौ दम्पती इत्यर्थः पृथिव्यां पुरुषमहिलानां स्त्रीपुरुषाणां मध्ये कृतार्थौ धन्याविस्यर्थः इति मन्येते स्वस्वमात्मानमिति शेषः ॥ २७९ ॥

तत्रैव पश्चादर्थान्वयो यथा--

अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि ! तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ २८० ॥

अत्र रञ्जयत्यर्थः प्रथमानुरागे पुंसि पश्चाद्भावेन सिद्धस्तदनन्तरेऽपि तथैवानुवर्त्तते ॥

वहीं अर्थात् प्रथमानुरागानन्तर में ही 'पश्चात्' के अर्थ से अन्वित संभोग का उदाहरण—

'हे झुके हुये अंगों वाली, आज से मैं तुम्हारा तपस्या के द्वारा खरीदा गया सेवक हो गया हूँ।' इस प्रकार से शिव के कहने पर पार्वती ने तत्काल तपस्या से होने वाले कष्टों को छोड़ दिया अर्थात् उनके कष्ट समाप्त हो गये, क्योंकि फल की प्राप्ति हो जाने से कष्ट पुनः एक दूसरा ही नया रूप धारण कर लेता है ॥ २८० ॥

यहाँ रञ्जनरूप अर्थ प्रथमानुराग वाले पुरुष में पश्चाद्भाव से सिद्ध हुआ था, जो उसके पश्चात् अर्थात् प्रथमानुरागानन्तर संभोग में भी उसी रूप में अनुवृत्त होता है।

अद्येति। हे अवनतानि यौवनभरादिति भावः अङ्गानि यस्याः तत्सम्बुद्धिः हे अवनताङ्गि ! अद्यप्रभृति अद्यारभ्य तव तपोभिः क्रीतः दासः किङ्करः अस्मि भवामि इति एवं चन्द्रमौलौ शशिशेखरे हरे वादिनि ब्रुवति सति सा पार्वती अह्नाय झटिति तत्क्षणमित्यर्थः नियमजं तपस्याव्रतजातक्लेशम् उत्ससर्ज तत्याज। तथाहि क्लेशः फलेन फलसिद्ध्या इत्यर्थः पुनर्नवतां पूर्ववदक्लेशरूपत्वमिति यावत् विधत्ते जनयतीत्यर्थः। सफलक्लेशः क्लेश एव न गण्यते इति भावः॥ २८० ॥

अत्रैव अनुरूपार्थान्वयो यथा—

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥ २८१ ॥

अत्र राजत्यर्थः प्रथमानुरागे स्त्रीपुंसयोरपि आनुरूप्येण सिद्धस्तदनन्तरेऽपि तथैव अनुवर्त्तते॥

इसी संभोग में ही अनुरूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

समान गुण वाले दम्पति के मिलन से प्रसन्न पुरवासियों ने वहाँ उपस्थित राजाओं को सुनने में अत्यन्त दुःख देने वाला एक वाक्य विशेष रूप से कहा कि—यह इन्दुमती अज से क्या मिली है, मानो घन निर्मुक्त चन्द्रमा को उसकी ज्योत्स्ना मिल गई है, अथवा मानो समानगुण वाले समुद्र में गङ्गा उतर पड़ी हैं॥ २८१ ॥

यहाँ 'राजति'—सुशोभित होना—अर्थ प्रथमानुराग में स्त्री तथा पुरुष दोनो में अनुकूलता के साथ समान रूप से सिद्ध है, वह प्रथमानुरागानन्तर अवस्था में भी उसी प्रकार से अनुवृत्त होता है।

शशिनमिति। इयम् इन्दुमती मेघमुक्तं मेघावरणशून्यमित्यर्थः शशिनं चन्द्रम् उपगता अधिगता कौमुदी चन्द्रिका। तथा अनुरूपं स्वयोग्यं जलनिधिं सागरमवतीर्णा प्रविष्टा जह्नुकन्या गङ्गा। समो गुणो ययोः तयोः समगुणयोर्दम्पत्योरिति भावः योगात् सम्मेलनात् प्रीतिरानन्दः येषां तथाभूताः पौराः पुरवासिन इति इत्थं नृपाणां विपक्षाणां राज्ञां श्रवणकटु श्रुतिकष्टम् एकं वाक्यं विवव्रुः विशेषेण ऊचुरित्यर्थः॥ २८१ ॥

तत्रैव अनुगतार्थान्वयो यथा—

स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयाभितप्तम्।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात् कृतार्था किमुताङ्कशय्या ॥२८१॥

अत्र पूर्वार्द्धे रञ्जयत्यर्थः प्रथमानुगतार्थत्वेन सिद्धस्तदनन्तरे तथैवानुवर्त्तते। सोऽयं करुणसाधनः प्रत्ययोत्पत्तिपक्ष उक्तः। भावसाधनपक्षे तु सर्वत्र

सहार्थादिविशिष्टा रतिर्दीप्तिर्वा अनुरागशब्देन उच्यमाना तदनन्तरेऽपि समाससामर्थ्याद् अनुवर्त्तते। कः पुनरत्र समासः, षष्ठीलक्षणस्तत्पुरुषः। प्रथमानुरागस्य अनन्तर इति प्रथमानुरागानन्तर इति। कात्र वृत्तिः, अजहत्स्वार्था। नहि अत्र नायकौ मिथः समागतावपि प्रथमानुरागमुत्सृजतः। युक्तम्। पुनः यदजहत्स्वार्था परार्थाभिधानरूपा वृत्तिः स्यात्, अवश्यं हि अनेन परस्यार्थम् अभिदधता स्वार्थ उत्सृष्टव्यः। वाढ़ं युक्तम्। एवं हि दृश्यते लोके, भिक्षुको यद् द्वितीयां भिक्षामासाद्य पूर्वां न जहाति सञ्चयायैव यतते। एवं तर्हि द्वयोर्द्विवचनमिति, द्विवचनं प्राप्नोति। कस्या विभक्तेः, षष्ठ्याः। न षष्ठीसमर्थोऽनन्तरः। तर्हि प्रथमायाः। न प्रथमासमर्थः प्रथमानुरागः सम्बन्धाधिक्यात्। अभिहितः सोऽर्थोऽत्रान्तर्भूतः प्रातिपदिकार्थः सम्पन्न इति सामर्थ्यं भविष्यति। मैवम्। इह प्रथमानुरागानन्तरे इत्यस्मात् समुदायात् विभक्त्या उत्पत्तव्यम्। तेन चैकोऽर्थपिण्डो मृत्पिण्ड इवाविभागोत्पन्नपांसूदकविभागः अवयवार्थशक्त्या अनुगृहीतः पृथगव्यपदेश्यावयवशक्तिः अभिधीयते। तस्मिंश्च समुदायार्थे एकत्वं समवेतमतो विद्यमानायामप्यवयवसंख्यायां तदाश्रया सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति॥ २८२॥

यहीं पर अनुगत रूप अर्थ का अन्वय होने पर संभोग का उदाहरण—

अत्यन्त कोमलांगी अपर्णा ने जो इनके लिये कठोर तपस्या की वह उचित ही थी, क्योंकि जो स्त्री इनकी दासता भर पा जाये वही धन्य होती है, फिर गोदी में सो पाने वाली की बात ही क्या?॥ २८२॥

यहाँ पूर्वार्ध में रञ्जन रूप अर्थ पहले ही अर्थ में अनुगत होने के कारण सिद्ध है और उसी रूप में आगे भी अनुवृत्त होता है। उक्त लक्षणो से समन्वित यह करण रूप साधन प्रत्यय की उत्पत्ति के पक्ष में कहा गया। भाव साधन के पक्ष में तो सभी स्थानो पर 'सह'—अर्थ आदि से विशिष्ट रति अथवा दीप्ति अनुराग शब्द से कही जाती हुई तदनन्तर-अनुरागानन्तर-दशा में भी समास की सामर्थ्य से अनुवृत्त हो रही है। 'फिर यहाँ समास कौन सा है?' 'षष्ठी का लक्षण वाला तत्पुरुष है। (जिसका विग्रह है)— प्रथमानुराग के अनन्तर ही प्रथमानुरागानन्तर है।' (यहाँ) शब्द शक्ति कौन सी है? (वृत्ति है) 'अजहत्स्वार्था, (क्योंकि) इसमें नायक तथा नायिका दोनों परस्पर मिलने पर भी प्रथमानुराग का परित्याग नहीं करते हैं।' ठीक है, परार्थ की अभिधान रूपिणी अजहत्स्वार्थावृत्ति भले ही हो, फिर भी दूसरे के अर्थ का अभिधान करते हुये इसे अपना अर्थ तो अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।' बिल्कुल ठीक है। ऐसा लोक में देखा जाता है कि भिखारी दूसरी भिक्षा को पाकर पहली भिक्षा का परित्याग नही कर देता है, अपितु वह संचय करने का प्रयास करता है। तो इसी प्रकार 'द्वयोर्द्विवचनम्'—के अनुसार द्विवचनत्व को प्राप्त करता है। किस विभक्ति की (द्विवचनता को प्राप्त करता है? 'षष्ठी के।' (किन्तु) अनन्तर तो षष्ठीविभक्ति में समर्थ नहीं है। तो फिर प्रथमा विभक्ति (का समझ लीजिये)।' 'प्रथमानुराग सम्बन्ध के आधिक्य से प्रथमा में समर्थ नहीं है।' अभिधा से कहा गया वह अर्थ

यहाँ अन्तर्भूत होकर (अथवा 'अनन्तर्भूतः पाठ होने पर—अन्तर्भूत न होने से) प्रातिपदिकार्थ हो जाता है। इस प्रकार सामर्थ्य हो जाती है।' 'ऐसा मत कहिये' प्रथमानुरागानन्तर' इस (पद) समुदाय से विभक्ति को उत्पन्न होना चाहिये। इससे एक अर्थ पिण्ड उस मिट्टी के पिण्ड की भांति जिसमें धूल तथा जलकणों का भाग अविभक्त रूप से उपस्थित होता है, अवयव रूप अर्थ की शक्ति से युक्त होकर भी पृथक् पृथक् अनभिधेय अवयव शक्ति वाला कहा जाता है।

उस समुदाय के अर्थ में एकता समवेत होती है। अतः अवयवों की संख्या विद्यमान होने पर भी उसमें आश्रित सुप् विभक्ति की उत्पत्ति नहीं होगी।

स्व० द०—यहाँ 'प्रथमानुरागानन्तर' संभोग के विषय में कई प्रश्न उपस्थित करके उनका उत्तर दिया गया है। सर्वप्रथम जिस 'राग' पद को 'घञ्' प्रत्यय लगाकर सिद्धि की गई है, उसी 'घञ्' के 'करण' तथा 'भाव' रूप अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। यही स्पष्ट किया गया है कि संभोग राग का पालन, कौटिल्य, अभ्यवहार तथा अनुभव रूप अर्थ 'घञ्' का करणार्थक रूप लेने पर स्पष्ट होता है। इसी प्रकार संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पूर्ण तथा समृद्ध रूप अर्थ भी सिद्ध होता है। भाव परक अर्थ लेने पर प्रतिपाद्य रति नामक स्थायी भाव अथवा दीप्ति नाम की चित्त की अवस्था होती है। 'सह' के अर्थ का अन्वय, पश्चादर्थान्वय, अनुरूपार्थान्वय, तथा अनुगतार्थान्वय रूप अर्थ इसी भाव परक अर्थ से ग्रहण हो सकता है। जिस प्रकार प्रथमानुराग पद में 'घञ्' प्रत्यय का 'करण' तथा 'भाव' रूप अर्थ लिया जाता है, भोज प्रथमानुरागानन्तर में भी उसे समवेत मानते हैं। इसे प्रथमानुराग की भांति प्रथमानुरागानन्तर में भी स्वीकार करने से समस्या उठती है कि फिर यहाँ समास क्या होगा? यदि "प्रथमानुरागश्च अनन्तरश्च" अथवा "प्रथमानुरागः चासौ अनन्तरः" इस प्रकार का प्रथमा विभक्तिक विग्रह किया जाये तो सम्बन्ध में अनौचित्य होता है और अभीष्ट अर्थ की सिद्धि भी नहीं हो पाती। पदों में सामर्थ्य का अभाव हो जाता है, जब कि पाणिनि ने "समर्थः पदविधिः" ॥२।१।१॥ सूत्र के द्वारा समर्थ पदों में ही पद सम्बन्धी विधियों को स्वीकार किया है। समास पद सम्बन्धी विधि है, क्योंकि पदों का ही समसन होता है, अतः यहाँ उक्त नियम की अवहेलना नहीं की जा सकती। इसके साथ ही प्रथमा विभक्ति करने पर प्रथमानुराग का सम्बन्धाधिक्य भी सूचित होता है। यह एक विशिष्ट पद है और विशिष्ट पद की वृत्ति नहीं होती है। "सविशेषाणां वृत्तिर्न, वृत्तस्य च विशेषणयोगो न" इसका प्रतिबन्धक है। इसीलिये भोज यहाँ षष्ठी विभक्तिक तत्पुरुष समास मानते हैं जिसका विग्रह होगा—"प्रथमानुरागस्य अनन्तरः प्रथमानुरागानन्तरः"।

यह समास स्वीकार करने के बाद शब्दवृत्ति का प्रश्न उठता है। "प्रथमानुरागानन्तर" में अभिधा से तो काम चल नहीं सकता अतः वहाँ भोज अजहत्स्वार्था नाम की गौणी, अमुख्या अथवा लक्षणावृत्ति स्वीकार करते हैं। अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था यह दो प्रकार की लक्षणा होती हैं। एक में अपने प्रातिपदिकार्थ का परित्याग बिना किये हुये दूसरे अर्थ का अभिधान किया जाता है, जब कि दूसरी में परार्थ की सिद्धि के लिये अपने अर्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता हैं। प्रत्यय अथवा किसी दूसरे पद का ग्रहण करके विशिष्ट अर्थ की प्रतीति परार्थाभिधान है। अजहत्स्वार्था का उदाहरण "काकेभ्यो दधि रक्षताम्" तथा जहत्स्वार्था का "गङ्गायां घोषः" अत्यन्त समीचीन है। प्रथम मे दधि के अन्य उपघातकों के साथ 'काक' का भी ग्रहण हो जाता है, जब कि 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा का प्रवाह रूप अर्थ समाप्त हो जाता है तथा एक भिन्न तटाख्य अर्थ प्रकट हो जाता हैं। इसी प्रकार 'प्रथमानुरागान्तर' पद में जहत्स्वार्था करने

पर प्रथमानुराग का अर्थ समाप्त हो जायेगा, जिससे अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः अजहत्स्वार्था ही मानना उचित हैं, क्योंकि जब नायक और नायिका का मिलन होता है, तब उनका पहले का प्रेम समाप्त नहीं हो जाता अपितु वही और भी विशिष्ट रूप में उपस्थित होता है। जिस प्रकार धूलि के कण तथा जल परस्पर मिल कर एक मिट्टी के लोंदे का रूप ग्रहण कर लेते हैं और एक विशिष्ट रूप होता हैं, उसी प्रकार यहाँ भी 'प्रथमानुराग' तथा 'अनन्तर' दोनों पदों की एकपदता होती है, यद्यपि दोनों पृथक्-पृथक् पदों का समन्वय है, यद्यपि उनका एकत्व ही दर्शनीय विषय है। इन दोनों पदों में समास हो जाने से प्रथम पद स्वतन्त्र नहीं रहा, अतः 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' ॥२।४।०१॥ से उनकी पूर्व विभक्तियों का लोप हो जाता है। इसके पश्चात् अवयवभूत पदों में पृथक् सुप् आदि विभक्तियों की उत्पत्ति नहीं होती है। 'कृत-तद्धित-समासाश्च ॥२।३।४६॥ से पूरे पद की ही प्रातिपदिक संज्ञा होती है और अन्त में एक ही विभक्ति की उत्पत्ति होती है।

अभी तक प्रथमानुरागानन्तर संभोग का विवेचन हुआ। आगे मानानन्तर के उदाहरण दिये जायेंगे।

स्थाने इति। पेलवयापि अतिकोमलयापि पार्वत्येति शेषः अपर्णया तपसि पर्णभक्षण-मपि वर्जयन्त्येत्यर्थः तेन च तदाख्यया सत्या एतदर्थम् एतादृशमृत्युञ्जयरूपवरप्राप्त्यर्थ-मित्यर्थः दुश्चरम् अन्यैर्दुष्करमित्यर्थः तपः चान्द्रायणादिकं व्रतम् अभितप्तम् अनुष्ठित-मित्यर्थः पेलवयापि तप्तमिति पाठान्तरम्। या नारी अस्य हरस्य दास्यमपि लभेत प्राप्नु-यात् सा कृतार्था धन्या स्यात् अङ्कशय्यां किमुत? उत्सङ्गशय्यालाभे किं वक्तव्यमिति निष्कर्षः ॥ २८२ ॥

मानानन्तरे पूजार्थान्वयो यथा--

न स्पृष्टोऽपि त्रिदशसरिता दूरमीर्ष्यानुबन्धात्
नाप्युत्सृष्टो भुजगपतिना तर्जनाभिः जयायाः।
मानस्यान्ते नयनसलिलैः क्षालितः शैलपुत्र्याः
पत्युर्मौलौ नतियुजि जयत्यात्मनः पादपांसुः ॥ २८३ ॥

अत्र पादपतनादिपूजा मानसिद्धा तदनन्तरेऽप्यनुवर्त्तते ॥

मानानन्तर दशा से पूजार्थान्वय का उदाहरण—

जो ईर्ष्याभाव के कारण गङ्गा के द्वारा भी न छुआ गया, तथा जया की धमकी भरी बातों से भुजङ्गराज वासुकि के द्वारा भी न पोंछा जा सका वही मान के अन्त में पार्वती के आँसुओं से धोया गया उनके पति शिव के नीचे झुके हुए मस्तक पर पड़ा हुआ अपने ही चरणों का धूलिकण सर्वोत्कृष्ट है ॥ २८३ ॥

यहाँ चरणों पर गिरना आदि पूजा मान के कारण सिद्ध है, (वही) मानानन्तर संभोग में भी संगत होता है।

नेति। त्रिदशसरिता देवनद्या गङ्गयेत्यर्थः शिरस्थितयेति भावः ईर्ष्यानुबन्धात् सापत्न्यद्वेषसातत्यादित्यर्थः नापि नैव स्पृष्टः, भुजगपतिना शिरोवेष्टनभूतेनेति भावः

जयायाः गौरीसहचर्य्या इत्यर्थः तर्जनाभिः अङ्गुलिसङ्केतेन भर्त्सनाविशेषैः नापि उत्सृष्टः नैव गृहीत इत्यर्थः मानस्य अन्ते अवसाने शैलपुत्र्याः पार्वत्याः नयनसलिलैः नेत्राम्बुभिः क्षालितः धौतः नतियुजि पादप्रणते पत्युः हरस्य मौलौ शिरसि आत्मनः स्वस्य पादपांसुः चरणधूलिः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ॥ २८३ ॥

अत्रैव मानं प्रति प्रियत्वाभिमानान्वयो यथा,--

विहायैतन्मानव्यसनमनयोरुच्चकुचयो-
र्विधेयः प्रेयांस्ते यदि वयमनुल्लङ्घ्यवचसः ।
सखीभ्यः स्निग्धाभ्यः शिवमिति निशम्येणनयना
निवापाम्भोदत्ते नयनसलिलैर्मानसुहृदे ।। २८४ ।।

अत्र मानं प्रति प्रियत्वाभिमानो मानानन्तरेऽप्यनुवर्त्तते ।।

यहाँ अर्थात् मानानन्तर में ही मान के प्रति प्रियत्व के अभिमानान्वय का उदाहरण—

यदि तुम हमारी बातों को मानती हो तो इस मान की आसक्ति को छोड़ कर अपने प्रियतम शिव को इन दोनों ऊँचे ऊँचे उरोजों का दास बनाओ। प्रेमपूर्ण सखियों की इस मङ्गलवाणी को सुनकर मृगनयनी गौरी ने अपने मानरूप मित्र को नेत्र के अश्रुबिन्दुओं से तिलाञ्जलि दे दी ॥ २८४ ॥

यहाँ मान के प्रति होने वाला प्रियत्वाभिमान मानानन्तर में भी अनुवृत्त होता है।

विहायेति। हे सखि ! यदि वयम् अनुल्लङ्घ्यवचसः अस्माकं वचनानि यदि न लङ्घनीयानि भवत्या इति भावः तदा एतत् मानव्यसनं मानासक्तिं विहाय परित्यज्य प्रेयान् प्रियतमः हर इत्यर्थः अनयोः उच्चकुचयोः उन्नतस्तनयोः विधेयः वशवर्त्ती विधेयः करणीय इत्यध्याहार्य्यम्। स्निग्धाभ्यः प्रणयवतीभ्यः सखीभ्यः तन्मुखेभ्य इति भावः इति शिवं शुभं वचनमिति शेषः निशम्य आकर्ण्य एणनयना हरिणाक्षी गौरीति शेषः मानसुहृदे मित्रभूताय मानायेत्यर्थः नयनसलिलैः नेत्राम्बुभिः निवापाम्भः तर्पणजलं दत्ते ददावित्यर्थः भूतसामीप्ये लट्प्रयोगः। मानमलं तत्याजेति भावः ॥ २८४ ॥

अत्रैव प्रेमावरोधार्थान्वयो यथा,--

दूणन्ति जे मुहुत्तं कुविआ दासव्विअ ते पसाअन्ति ।
ते च्चिअ महिलाणं पिआ सेसा सामिच्चिअ वराआ ।। २८५ ।।

अत्र अस्यामपि प्रेमास्ति न वेति जिज्ञासुः प्रियः प्रियां केलिगोत्रस्खलनादिना दुनोति। सा च प्रेमवती अवश्यमस्मै कुप्यति स चोपलब्धप्रेमा तद्दासवदेनां प्रसादयति। अथैषात्मनि प्रेम्णोऽस्तित्वमनुबुध्यते। सोऽयं मानसिद्धोऽर्थस्तदनन्तरेऽपि अनुवर्त्तते ।।

इसी अर्थात् मानानन्तर में ही प्रेमावरोध रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

जो एक क्षण के लिए क्रुद्ध होकर संतप्त करते हैं और सेवक की भाँति अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करते हैं, वस्तुतः वे ही अपनी पत्नियों के प्रियतम हैं, शेष बेचारे तो केवल उनके पतिमात्र हैं ॥ २८५ ॥

यहाँ इस नायिका में भी प्रेम है अथवा नहीं, यह जानने की इच्छा से प्रियतम प्रियतमा को केलि, गोत्रस्खलन आदि के द्वारा पीड़ित करता है। वह भी प्रेमवती होने से अवश्य ही इस पर क्रुद्ध होती है और वह भी प्रेम प्राप्त करके उसके सेवक की भांति उन्हें प्रसन्न करता है। इसके पश्चात् वह भी अपने में प्रेम का अस्तित्व समझती है। वह उक्त लक्षणों से युक्त मान में सिद्ध होने वाला अर्थ मानानन्तर में भी अनुवृत्त होता है।

दुन्वन्ति ये मुहूर्त्तं कुपिता दासवत् ते प्रसादयन्ति।
ते एव महिलानां प्रियाः शेषाः स्वामिन एव वराकाः॥

दुन्वन्तीति। ये मुहूर्त्तम् अल्पकालं कुपिताः प्रियां प्रतीति शेषः सन्तः दुन्वन्ति तप्यन्ते, ये च ते दासवत् किङ्करवत् प्रसादयन्ति प्रियामिति शेषः, ते महिलानां रमणीनां प्रियाः प्रणयिनः भवन्तीति शेषः, शेषाः वराकाः निर्बोधा इति भावः स्वामिन एव पतय एव न तु प्रणयिन इति भावः॥ २८५॥

तत्रैव प्रेमप्रमाणार्थान्वयो यथा,--

सुरकुसुमेहिं जइ कलुसिअं जइ तेहिं चिअ पुणो पसाएमि तुमं।
तो पेम्मस्स किसोअरि! अवराहस्स अ ण मे किअं अनुरुअं॥२८६॥

अत्र रुक्मिण्याः सुरकुसुममञ्जरी दत्ता मम तु सुरतरुरेव प्रेयसा प्रतिपन्नस्तदहमस्याः सहस्रगुणेन प्रियतमेति सत्यभामा स्वप्रेमाणं प्रमिमीते। स चायमर्थो मानेन सिद्धस्तदनन्तरेऽपि समाससामर्थ्यादनुवर्त्तते। कः पुनरत्र समासः? षष्ठीतत्पुरुष एव। का वृत्तिः प्रथमानुरागानन्तरवदजहत्स्वार्थैव। युक्तं तत्र, विश्रम्भणादावपि प्रथमानुरागस्य विद्यमानत्वात्। इह तु माननिवृत्तौ मानापगमादयो जायन्ते। अन्वयाद्विशेषणं भविष्यति। तद्यथा, घृतघटस्तैलघट इति। निषक्तेऽपि घृते तैले वा अयं घृतघटः अयं तैलघटः इत्यन्वयात् पूर्वपदार्थो विशेषणं भवति। तत्र या च यावती वा अर्थमात्रा इहापि तत्तुल्यमेव॥

मानानन्तर में ही प्रेमप्रमाण रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

हे तनुमध्यमे सत्यभामे यदि (रुक्मिणी को) देवपुष्पों को देने से ही तुम रुष्ट हो गई और अब यदि मैं उन्हीं पुष्पों से तुम्हें प्रसन्न करता हूँ तो यह प्रतिदान अपराध करने वाले मुझ कृष्ण के प्रेम के अनुरूप नहीं हुआ। (अतः मैं तुम्हें पारिजात वृक्ष ही दे देता हूँ)॥ २८७॥

यहाँ 'रुक्मिणी को सुरकुसुम की मञ्जरी दी गई और प्रियतम के द्वारा मुझे तो देववृक्ष ही दिया गया है, अतः मैं इससे हजारगुना अधिक प्रिय हूँ' इस प्रकार सत्यभामा अपने प्रेम को मापती है। उक्त लक्षणों वाला अर्थ मान से सिद्ध है जो मानानन्तर में भी समास की सामर्थ्य से अनुवृत्त होता है। 'फिर यहाँ समास कौन सा है?' 'षष्ठीतत्पुरुष ही है।' 'वृत्ति कौन सी है?' 'प्रथमानुरागानन्तर की भाँति अजहत्स्वार्था ही है।' 'वहाँ पर तो वह उचित है, क्योंकि प्रथमानुराग विश्रम्भण आदि में भी विद्यमान रहता है। यहाँ तो मान की निवृत्ति हो जाने पर मानापगम आदि उत्पन्न होते हैं।' 'अन्वय करने से वह पूर्ववर्ती मान विशेषण हो जायेगा।

उसका उदाहरण है, 'घी का घड़ा', 'तेल का घड़ा' आदि का प्रयोग। यहाँ घी अथवा तेल के न रहने पर भी 'यह घी का घड़ा है' 'यह तेल का घड़ा है' इस प्रकार का अन्वय होता है। ऐसा अन्वय होने के कारण पूर्व पदार्थ विशेषण ही जाता है। वहाँ पर जो या जितनी अर्थ की मात्रा होती है, वहाँ भी उसके समान ही होती है ॥ २८६ ॥

सुरकुसुमैर्यदि कलुषितं यदि तैरेव पुनः प्रसादयामि त्वाम्।
ततः प्रेम्णः कृशोदरि ! अपराधस्य च न मे कृतमनुरूपम् ॥

सुरेति। हे कृशोदरि ! तनुमध्ये ! सत्यभामे इति शेषः यदि सुरकुसुमैः रुक्मिण्यै दत्तैरिति भावः कलुषितं कालुष्यं गतं त्वयेति शेषः अभिमानिनी जातासीति भावः। किन्तु तैरेव सुरकुसुमतरुभिरेवेति भावः यदि त्वां प्रसादयामि ततस्तदा मे मम प्रेम्णः त्वदुपरि प्रणयस्येति यावत् अपराधस्य तुच्छप्रदानेन रुक्मिण्यै प्रदानजनितस्य दोषस्येत्यर्थः अनुरूपं सदृशं न कृतं नानुष्ठितं भवेदिति शेषः। रुक्मिणीमपेक्ष्य त्वां प्रति मम प्रणयोऽधिकः तत् कतिपयकुसुमदानापेक्षया तत्तरुदानेन अपराधो मया क्षालितोऽपि न मां तथाप्यपराधित्वेन शङ्कमानं प्रीणातीति भावः ॥ २८६ ॥

तथा हि,—

सकअग्गहत्तंसुण्णा मिआणणा पिअइ पिअअमविइण्णं।
त्थोअं त्थोअं रोसोसधं व माणंसिणी मइरं ॥ २८७ ॥

सकषायैरेव वाक्यैर्नायकं निस्तुदती शयनीयं गच्छेदिति मानशेषान्वयो दृश्यते ॥ २८७ ॥

जैसे कि—

छाया—सकचग्रहत्रस्तावनतानना पिबति प्रियतमवितीर्णाम्।
स्तोकं स्तोकं रोषौषधमिव मानिनी मदिराम् ॥ गा. स. ६।५० ॥]

प्रियतम के द्वारा केश पकड़ कर खींचने से नीचे मुँह किये हुई यह मानिनी नायक द्वारा दी गई मदिरा को धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा करके रोष-निवारक औषधि के रूप में पी रही है ॥ २८७ ॥

'कटुक वाक्यों से ही नायक की निन्दा करती हुई नायिका को सेज पर जाना चाहिये' इसमें मान शेषता का अन्वय दृष्टिगोचर हो रहा है।

स्व० द०—'अपर मान' के विभिन्न अर्थों का अन्वय करके मानानन्तर के उदाहरण दिये गये हैं। उनकी वृत्तियाँ भी प्रायः स्पष्ट ही हैं। अब आगे 'प्रवास' पद के विभिन्न अर्थों की योजना करके प्रवासानन्तर संभोग के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

सकअ इति ॥ २८७ ॥

प्रवासानन्तरे प्रिया न वसते इत्यर्थस्यान्वयो यथा,—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षामतनुः धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहज्वरं बिभर्ति ॥२८८॥

अत्र दुष्यन्तेन शकुन्तलायाः प्रवासे विभूषणाद्यग्रहणं यदवगतं तदनन्तरेऽप्यनुवर्त्तमानं प्रेम प्रकर्षाय भवति ॥ २८८ ॥

प्रवासानन्तर संभोग में प्रवास के 'प्रिया न वसते'-'प्रियतमा वस्त्र धारण नहीं करती' अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

शुद्ध स्वभाव वाली यह शकुन्तला केवल दो मैले कुचैले वस्त्र धारण करती है। नियमों का पालन करने से शरीर से दुबली भी हो गई है। केवल एक ही चोटी भी धारण किये हैं। इस प्रकार यह मेरे जैसे अत्यन्त कठोर व्यक्ति के दीर्घ विरह का सन्ताप धारण कर रही है ॥ २८८ ॥

यहाँ दुष्यन्त ने प्रवास काल में जो शकुन्तला का भूषण आदि का ग्रहण न करना समझा है वह प्रवासानन्तर में भी अनुवृत्त होता हुआ प्रेम में प्रकर्ष उत्पन्न करता है।

वसने इति। **परिधूसरे सर्वतो मलिने वसने परिधानमुत्तरीयञ्चेति भावः वसाना परिदधाना नियमेन व्रतेन भाविभर्त्तृसौभाग्यप्रापकेनेति भावः क्षामा कृशा तनुः शरीरं यस्यास्तथोक्ताधृता। एका वेणिर्यया तथाविधा प्रोषितपतिकाया एकवेणीधरं शिर इत्युक्तनियमादिति भावः। कृतैकवेणिरिति पाठेऽपि स एवार्थः। अतएव शुद्धं पवित्रं निर्दोषमित्यर्थः। शीलं चरित्रं यस्याः तथाभूता इयं शकुन्तला अतिनिष्करुणस्य अतिनिर्दयस्य मम दीर्घं महान्तं विरह एव ज्वरः तं बिभर्त्ति धारयति भुनक्तीत्यर्थः ॥ २८८ ॥**

अत्रैव युवानः प्रियासन्निधौ न वसन्तीत्यर्थस्यान्वयो यथा,—

समर्थये यत् प्रथमं प्रियां प्रति क्षणेन तन्मे परिवर्त्ततेऽन्यथा ।
अतो विनिद्रे सहसा विलोचने करोमि न स्पर्शविभावितप्रियः ॥२८९॥

अत्र पुरुरवाः प्रवासान्मत्त उर्वशीबुद्ध्या लतादिकं यद्यदाससाद तत्तदनेकशोऽन्यथा बभूव । तत्तत्संस्काराच्चायं यस्या लतारूपपरिवर्त्तनं प्रत्येति सोऽयं प्रियासन्निधौ यूनामवासः प्रवासः संसिद्धस्तदनन्तरेऽपि अनुवर्त्तते ॥ २८९ ॥

यहीं (प्रवासानन्तर में ही) प्रवास के-'युवानः प्रियासन्निधौ न वसन्ति'-युवक जब प्रियतमा के पास नहीं रहते हैं—इस अर्थ के अन्वय होने का उदाहरण—

अपनी प्रियतमा उर्वशी के विषय में मैं पहले जो सम्भावनायें करता हूँ वे नेत्र खुलते ही तत्काल दूसरे ढंग से परिवर्तित हो जाती हैं। इसलिये उस प्रिया के स्पर्श के सुख का अनुभव करने वाला मैं अब एकाएक अपने नेत्रों को नहीं खोलूँगा ॥ २८९ ॥

प्रवास के कारण मत्त पुरुरवा उर्वशी समझ कर लता आदि जिस किसी भी वस्तु को पा जाता था, वे वे अनेक प्रकार से दूसरी ही हो जाया करती थीं। उन उन संस्कारों के कारण उसका लता के रूप में परिवर्तन वह समझता है, इसी से यह प्रिया की सन्निधि में युवकों का न रहना पूर्णतः सिद्ध होता है और वही प्रवासानन्तर में भी अनुवृत्त होता है।

समर्थये इति। प्रियाम् उर्वशीं प्रति प्रथमं यत् समर्थये इयमेव उर्वशीति यत् सम्भावयामीत्यर्थः तत् क्षणेन चक्षुरुन्मीलनमात्रेणेत्यर्थः मे मम अन्यथा अन्यप्रकारं परिवर्त्तते

अन्यरूपं भवतीति भावः। अतः कारणात् इदानीमित्यध्याहार्यं स्पर्शेन विभाविता अवबुद्धा प्रिया उर्वशी येन तथाभूतः सन् सहसा विलोचने नयने विनिद्रे निर्निद्रे उन्मीलिते इति यावत् न करोमि। एवं कृते प्रियास्पर्शसुखं मे न विहन्येतेति भावः ॥ २८९ ॥

अत्रैवोत्कण्ठादिभिश्चेतो वासयतीत्यर्थस्यान्वयो यथा,--

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तत्ति करेसि गमणस्म।

अज्ज वि ण होंति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥

अत्र प्रवासोद्भूतभृशोत्कण्ठादिभिः चित्तवासना प्रवासानन्तरेऽपि तस्या नोपशाम्यतीति वेणिकावर्णनादिना सूच्यते ॥ २९० ॥

यहीं (प्रवासानन्तर में ही) प्रवास के 'उत्कण्ठादिभिश्चेतो वासयति' उत्कण्ठा आदि के द्वारा चित्त को भावित करता है—अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

[छाया—हे दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः ॥ गा. स. ३।७३ ॥]

हे कठोरकर्म करने वाले, तुम फिर परदेश जाने की बात सोचने लगे। अभी तो आज तक भी मेरी चोटी के तरङ्गित होने वाले केश सीधे नहीं हो पाते हैं ॥ २९० ॥

अव्वो इति ॥ २९० ॥

अत्र एव प्रमापयतीत्यर्थस्यान्वयो यथा,--

त्वद्वियोगोद्भवे चण्डि ! मया तमसि मज्जता।
दिष्टया प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना ॥ २९१ ॥

अत्र उर्वशीविरहे पुरुरवा उत्तरां कामावस्थामापन्नः प्रियप्राप्तौ प्रेत्येव प्रत्युज्जीवितस्तदेवानुसन्धत्ते। सोऽयं प्रमापणार्थः प्रवासः सिद्धस्तदनन्तरेऽपि समाससामर्थ्यादनुवर्त्तते। कः पुनरत्र समासः ? षष्ठीतत्पुरुष एव। कात्र वृत्तिः ? न तावदनुत्सृष्टस्वार्था न हि प्रोयसमागतयोः प्रवाससम्बन्धोऽपि विद्यते। उत्सृष्टस्वार्था तदिह भवतु। युक्तं पुनर्यदुत्सृष्टस्वार्था नाम वृत्तिः स्यात्। बाढं युक्तं, एवं हि दृश्यते लोके पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रवर्तमानः स्वकर्म उत्सृजति। तद्यथा, तक्षा राजकर्मणि प्रवर्त्तमानः तक्षकर्म उत्सृजति। नन्वेवं सति राजपुरुषमानयेत्युक्ते पुरुषमात्रस्यानयनं प्राप्नोति। नैष दोषः, उत्सृजन्नथासौ स्वार्थं नात्यन्तमुत्सृजति। यः परार्थविरोधी स्वार्थस्तमेवोत्सृजति। तद्यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्त्तमानः तक्षकर्म उत्सृजति, न तु चुम्बितस्मितविहसितकम्पनादीनि। न चायमर्थः परार्थविरोधी विशेषणं नाम। तस्मात् न उत्स्रक्ष्यति ॥ २९१ ॥

यहाँ प्रवास के कारण उत्पन्न अत्यधिक उत्कण्ठा आदि के कारण चित्त की वासना हो रही है। यह नायिका के चित्त की वासना प्रवास के बाद अथवा प्रवासानन्तर सम्भोग में भी शान्त नहीं होती है। यह बात वेणी के वर्णन आदि के द्वारा सूचित की जा रही है। इसी प्रसङ्ग में 'प्रमापयति'-प्रमापण-वध-रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

हे क्रोधने, तुम्हारे वियोग से उत्पन्न अन्धकार में डूब रहे मेरे द्वारा तुम प्राणहीन व्यक्ति के द्वारा चेतना की भांति भाग्य से प्राप्त कर ली गई हो ॥ २९१ ॥

यहाँ उर्वशी के विरह में पुरुरवा काम की चरम अवस्था को प्राप्त हो गया है जो अपनी प्रियतमा के मिल जाने पर मानो मर कर जी उठा हो ऐसा सोचता है। यह उक्त लक्षणों वाला प्रमापण अर्थ में प्रवास सिद्ध हो रहा है जो प्रवासानन्तर में भी समास की सामर्थ्य से अनुवृत्त हो रहा है। 'यह कौन सा समास है?' 'षष्ठी तत्पुरुष ही है।' 'कौन सी वृत्ति है?' 'यहाँ तो अनुत्सृष्टस्वार्था-अपने अर्थ का परित्याग न करने वाली अर्थात् अजहत्स्वार्था-नहीं होगी, क्योंकि प्रवास के बाद मिले हुये प्रेमी तथा प्रेमिका में प्रवास का सम्बन्ध भी नहीं वर्तमान रहता है।' 'तो फिर यहाँ उत्सृष्टस्वार्था-अपने अर्थ का परित्याग कर देने वाली-जहत्स्वार्था हो। यह बात तो ठीक ही है कि यहाँ उत्सृष्टस्वार्था नाम की वृत्ति हो।' 'हाँ यह पूर्णतः समुचित है, क्योंकि लोक में ऐसा देखा जाता है कि यह पुरुष दूसरे के काम में प्रवृत्त होता हुआ अपने काम को छोड़ देता है। जिस प्रकार कि-एक बढ़ई राजा के काम में प्रवृत्त होकर बढ़ईगीरी को छोड़ देता है।' 'यदि ऐसा हो गया तब तो' 'राजपुरुषम् आनय'-राजा के आदमी को लाओ ऐसा कहने पर पुरुष मात्र का आनयन प्राप्त होता हैं। 'यह दोष नहीं है, क्योंकि यह अपने अर्थ का उत्सर्ग करते हुये भी उसका पूर्णतः परित्याग नहीं करता है। जैसे की बढ़ई राजा के काम में प्रवृत्त होता हुआ बढ़ई के काम का परित्याग करता हैं, न कि चुम्बन, स्मिति, विहसन, कम्प आदि का। यह अर्थ पदार्थ का विरोधी विशेषण भी नहीं हैं, अतः उसका परित्याग नहीं करेगा।

स्व० द०—यहाँ पर भोज को जहत्स्वार्था अभीष्ट है, न कि प्रथमानुरागानन्तर की भाँति अजहत्स्वार्था। वहाँ तो प्रथमानुराग का तदनन्तर में विद्यमान रहना अपेक्षित है, किन्तु प्रवासानन्तर में तो प्रवास का भाव अभीष्ट नहीं। अभीष्ट होने पर तो मिलन का आनन्द ही समाप्त हो जायेगा। वस्तुतः जहत्स्वार्था स्वीकार करने पर भी अर्थ का पूर्णतः परित्याग भी मंजूर नहीं। ऐसी दशा में वेदान्तियों की जहदजहत्स्वार्था वृत्ति-लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना उचित होता। कुछ अर्थ का त्याग और कुछ का ज्यों का त्यों ग्रहण—दोनों भावों का सम्मिश्रण-जहदजहल्लक्षणा है। किन्तु इस तीसरी वृत्ति को स्वीकार न करने पर तो उक्त कार्य जहत्स्वार्था वृत्ति से ही संभव होगा। शेष का अर्थ प्रथमानुरागानन्तर सम्भोग के प्रकरण में देखना चाहिये। वहीं समास आदि का निरूपण किया जा चुका है।

त्वदिति। हे चण्डि! कोपने! मानिनीत्यर्थः। मया तव वियोगः विरहः तस्मात् भवः जन्म यस्य तस्मिन् तमसि अन्धकारे दुःखरूपे इति भावः मज्जता निपतता मया गतासुना विगतजीवितेनेत्यर्थः जनेन चेतनेन चैतन्यमिव दिष्ट्या भाग्येन प्रत्युपलब्धासि पुनः प्राप्तासि ॥ २९१ ॥

करुणानन्तरेऽनुभूतप्रादुर्भावार्थान्वयार्थो यथा,—

जयन्ति जायाश्लिष्टस्य शम्भोरम्भोधिमन्थने ।
मग्नामृतविषास्वादमदमूर्च्छामनोमुदः ॥ २९२ ॥

दाक्षायण्या हैमवतीत्वेन करुणानन्तरत्वम् । तत्र करुणदुःखेन मूर्च्छादयः प्रादुरासन्, इह तु आनन्देन ते प्रादुर्भवन्ति ॥ २९२ ॥

करुणानन्तर संभोग में (करुण के अर्थ) अनुभूत के प्रादुर्भाव रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

अपनी प्रियतमा गौरी से आलिङ्गित भगवान् शिव की समुद्रमन्थन के अवसर पर चित्त को आनन्दित करने वाली, अमृत को भी अपने में लीन कर लेने वाले कालकूट हलाहल के पान से उत्पन्न विकार विशेष तथा मूर्च्छायें सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ २९२ ॥

यहाँ दाक्षायणी-दक्ष प्रजापति की पुत्री-के हैमवती-हिमवान्-हिमालय पर्वत की पुत्री-के रूप में आ जाने से करुणानन्तरता सिद्ध होती है । वहाँ (पहले तो) शोक तथा दुःख के कारण मूर्च्छा आदि उत्पन्न हुई थीं, और यहाँ पर तो ये आनन्द के कारण ही उत्पन्न हो रही हैं ।

जयन्तीति । जायया कान्तया गौर्य्येति भावः आश्लिष्टस्य आलिङ्गितस्य शम्भोः हरस्य अम्भोधिमन्थने समुद्रविलोडनकाले मनोमुदः चित्तानन्दकराः मग्नम् अमृतं यत्र तादृशम् अमृतेनापि अप्रतिकार्य्यमिति भावः यत् विषं कालकूटं तस्य आस्वादेन पानेन यो मदः विकारविशेषः तेन मूर्च्छाः मोहा जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्ते ॥ २९२ ॥

तत्रैव उच्चारणान्वयार्थो यथा,—

क्लाम्यन्ती यदुपेक्षितासि पुरतः कामो यदग्रे हतः
क्लिष्टं यत्तपसा वपुर्यदपि च प्रोक्ता वटुच्छद्मना ।
तत्सर्वं प्रणतस्य मेऽद्य दयिते दाक्षायणि ! क्षम्यता-
मित्युक्त्वा चरणाब्जयोर्विजयते तुष्यंश्छिवायाः शिवः ॥ १९३ ॥

अत्र करुणावस्थायां प्रियापादाब्जयोर्लुण्ठता शोकेन यो विलापः कृतः स इह प्रकर्षालापत्वेन परिणमति ॥ २९३ ॥

करुणानन्तर में ही (करुण के) उच्चारण रूप अर्थ का अन्वय होने का उदाहरण—

हे प्रियतमे, दाक्षायणि, पहले क्लान्ति का अनुभव करती हुई भी तुम जो मेरे द्वारा उपेक्षित की गई, तुम्हारे सामने ही जो मैंने कामदेव को समाप्त किया, तपस्या से तुमने जो अपने शरीर को कष्ट दिया, और जो कुछ भी मैंने ब्रह्मचारी के वेष में तुमको कहा, वह सब कुछ आज तुम मुझे क्षमा कर दो, मैं तुम्हारे पाँव पड़ता हूँ, ऐसा कह कर पार्वती के चरणकमलों में (पड़कर) सन्तोष का अनुभव करते हुये शिव सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ २९३ ॥

यहाँ पर करुण अवस्था में प्रियतमा के चरणकमलों में लोट कर शोक के कारण जो विलाप किया गया वही इस प्रसंग में प्रकृष्ट आलाप के रूप में परिणत हो रहा है ।

क्लाम्यन्तीति । हे दयिते ! प्रिये ! दाक्षायणि ! प्राग् दाक्षायणीरूपायां देव्यां गाढानु-

रागेण इह पार्वतीरूपायामपि तस्यां तथात्वेन सम्बुद्धिरिति बोध्यम् । पुरतः प्राक् क्लाम्यन्ती मत्प्राप्तौ यतमानेत्यर्थः उपेक्षिता अवमता आसीदिति यत्, अग्रे समक्षं कामः मदनः हतः भस्मीकृत इति यत् तपसा दुश्चरेण व्रतेनेत्यर्थः वपुः शरीरं क्लिष्टम् इति यत्, बटुच्छद्मना ब्रह्मचारिच्छलेन यद्यपि प्रोक्ता कथितासि च, अद्य इदानीमित्यर्थः प्रणतस्य चरणानतस्य मे मम तत्सर्वं दुष्कृतमिति भावः क्षम्यतां क्षमागुणेन सह्यतामित्यर्थः इति उक्त्वा शिवायाः गौर्याः चरणाब्जयोः पादपद्मयोः निपतित इति शेषः तुष्यन् प्रसादं गच्छन् शिवः विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ॥ २९३ ॥

अत्रैव मनोऽवस्थापनान्वयार्थो यथा,—

अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा ।
तया तु तस्यार्द्धशरीरलाभादधः कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि ॥२९४॥

अत्रैव,
यदैव पूर्वं ज्वलने शरीरं सा दक्षरोषात् सुदती ससर्ज ।
ततः प्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् ॥२९५॥

इति करुणावस्थायामतिस्नेहेन अपरिग्रहत्वसाहसे यन्मनोऽवस्थापितं तदिहार्द्धशरीरप्रदानमहासाहसमेवावतिष्ठते ॥ २९४–२९५॥

यहाँ पर मन को अवस्थापित करने रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—प्रणाम करने के लिये झुकी हुई उमा को उन बड़ी बूढ़ी स्त्रियों ने यह आशीर्वाद दिया था कि 'तुम अपने पति का अविच्छिन्न प्रेम प्राप्त करो।' किन्तु उसने तो अपने पतिदेव का आधा शरीर ही पाकर अपने प्रिय जनों के आशीर्वाद को भी दबा दिया ॥ २९४ ॥

यहां पर—

पहले जिस समय दक्ष प्रजापति के प्रति क्रोध के कारण सुन्दर दाँतों वाली पार्वती ने अपनी देह को (योग की) अग्नि में झोंक दिया, उसी समय से ही विषयों की आसक्ति छोड़ कर भगवान् शिव भी पत्नी रहित ही जीवन व्यतीत करने लगे ॥ २९५ ॥

इस प्रकार की करुणामयी दशा में अत्यन्त प्रेम के कारण अविवाह रूप साहसपूर्ण कर्म में (शिव के द्वारा) जो मन अवस्थित किया गया, वह वहाँ आधे शरीर के दान रूप महासाहस कर्म में ही अवस्थित हो रहा है।

अखण्डितमिति। ताभिः पुरन्ध्रीभिः नम्रा प्रणता उमा पत्युः स्वामिनः अखण्डितम् अविच्छिन्नमित्यर्थः प्रेम लभस्व प्राप्नुहि इति उच्यते स्म इत्थमाशिषा संवर्द्धितेति भावः। तया उमया तु तस्य पत्युः अर्द्धशरीरलाभात् अर्द्धाङ्गप्राप्तेः स्निग्धानां स्नेहवतां जनानाम् आशिषोऽपि अखण्डितं प्रेम लभस्वेत्युक्तरूपा इति भावः। अधःकृताः लघूकृता इति यावत् ततोऽप्यधिकलाभादिति भावः। अर्द्धशरीरलाभादधःकृता इत्यत्र अर्द्धशरीरभाजा पश्चात् कृता इति पाठान्तरम् ॥ २९४ ॥

यदैवेति। पूर्वं प्राक् यदैव यस्मिन्नेव काले सुदती चारुदर्शना सा देवी दक्षरोषात् स्वं पितरं प्रति कोपात् पतिनिन्दाजनितादिति भावः ज्वलने अग्नौ योगरूपे इति शेषः शरीरं

ससर्ज तत्याजेत्यर्थः। ततः प्रभृत्येव तत आरभ्यैव पशूनां पतिः शम्भुः परिग्रहः पत्नी तद्रहितः अपरिग्रहः विमुक्तः त्यक्तः सङ्गः विषयेषु आसक्तिः येन तथाभूतः अभूत्। पूर्वं ज्वलने इत्यत्र पूर्वंजनने इति पाठान्तरम् ॥ २९५ ॥

तत्रैवाभ्यञ्जनान्वयार्थो यथा,—

> भिन्ने सद्यः समाधावुपरमति परज्योतिषि स्पन्दसंज्ञे।
> संज्ञामापद्यमाने मृदुमनसि मनागुन्मिषत्स्विन्द्रियेषु।
> व्यापारे पारवश्यं विसृजति मरुति ब्रह्मसब्रह्मचारी
> वामार्द्धस्पर्शजन्मा जयति पुररिपोरन्तरानन्दपूरः ॥ २९६ ॥

वहीं पर अभ्यञ्जन-लेप-रूप अर्थ के अन्वय का उदाहरण—

तत्काल समाधि के भङ्ग हो जाने पर, 'स्पन्द' नामक परज्योति के शान्त हो जाने पर, कोमल मन के धीरे धीरे चेतना प्राप्त करने पर इन्द्रियों के भी थोड़ा थोड़ा व्यापार-विरत होने पर, जब वायु भी अपनी क्रिया में परतन्त्रता का परित्याग करने लगी उस समय ब्रह्म के आनन्द के सदृश अपने ही बायें आधे शरीर के स्पर्श से उत्पन्न होनेवाला शिव का आन्तरिक आनन्द का प्रवाह सर्वोत्कृष्ट है ॥ २९६ ॥

भिन्ने इति। सद्यः तत्क्षणं वामार्द्धभूतायाः देव्याः स्पर्शमात्रमिति भावः समाधौ एकाग्रतया परमात्मचिन्तनरूपे योगे भिन्ने भेदं गते कर्मकर्त्तरि क्तप्रत्ययः। स्पन्दते स्फुरति सर्वोपरीति भावः इति स्पन्दः चैतन्यरूप इति भावः सः संज्ञा आख्या यस्य तस्मिन् स्पन्दसंज्ञे परज्योतिषि परमतेजसि उपरमति उपरतिं गच्छति अन्तःकरणात् अपगच्छतीति शेषः। मृदु मन्दं मन्दं यथा तथा मनसि अन्तरिन्द्रिये संज्ञां चेतनां स्वव्यापाराभिमुखत्वमिति भावः आपद्यमाने प्राप्नुवतीत्यर्थः इन्द्रियेषु चक्षुरादिषु मनाक् ईषत् उन्मिषत्सु उन्मीलनं गच्छत्सु मरुति वायौ शरीरसञ्चारिणि प्राणादाविरयर्थः व्यापारे स्वकार्य्ये पारवश्यं परवशतां विसृजति त्यजति सति समाधौ कुम्भकादिना वायुनिरोधात् तत् पारवश्यमिति भावः। पुररिपोः त्रिपुरारेर्हरस्य ब्रह्मसब्रह्मचारी ब्रह्मानन्दसदृश इति यावत् वामार्द्धस्य अर्द्धांशरूपगौरीदेहस्य स्पर्शजन्मा आश्लेषजनित इति भावः अन्तरानन्दपूरः अन्तरानन्दप्रवाहः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ॥ २९६ ॥

अत्र यत्करुणावस्थायां मनः शोकप्रकर्षेणाभ्यक्तमासीत्तदिह प्रियाश्लेषजन्मना परमानन्देनाभ्यज्यते। सोऽयं करुणधर्मसमन्वयः तदनन्तरेऽपि समाससामर्थ्याद्भवति। कः पुनरत्र समासः? षष्ठीतत्पुरुष एव। का वृत्तिः? जहत्स्वार्था। न ह्यत्र करुणार्थस्य गन्धोऽपि। कथं तर्हि अन्वयः। यथा, मल्लिकापुटश्चम्पकपुट इत्यत्र निगीर्णास्वपि सुमनःसु मल्लिकादिवासनावशाद्विशेषणं भवति—अयं मल्लिकापुटोऽयं चम्पकपुट इति। एवं निवृत्तेऽपि स्वार्थे वासनावशात्करुणोऽनन्तरस्य विशेषणं भवति। अस्तु वा प्रथमानुरागादिष्वपि जहत्स्वार्थैव वृत्तिः, नन्वेवं राजपुरुषमानयेत्युक्ते पुरुषमात्रस्य आनयनं प्राप्नोति। नैष दोषः, वृत्तौ समर्थाधिकारः क्रियते। सामर्थ्यं च भेदः संसर्ग उभयं वा। तत्र राज्ञ इत्युक्ते सर्वं स्वं प्रसक्तं, पुरुष

इत्युक्ते सर्वः स्वामी प्रसक्तः। इहेदानीं राजपुरुषमानयेत्युक्ते राजा पुरुषं निवर्त्तयति अन्येभ्यः स्वामिभ्यः, पुरुषोऽपि राजानमन्येभ्यः स्वेभ्यः। एवमस्मिन्नुभयतो व्यवच्छिन्ने यदि राजार्थो निवर्त्तते, कामं निवर्त्तताम्। न जातु क्वचित् पुरुषमात्रस्यानयनं भविष्यति। प्राक्प्रवृत्तेरकृतार्थस्य निवृत्तौ सामर्थ्याभावात् वृत्तिरेव न स्यात्, वृत्तिनिमित्ता च निवृत्तिस्तस्माददोष इति। तत्र राज्ञः पुरुष इत्यत्र यदा तावदवधृतपरायत्तवृत्तिरयं पुरुषो न स्वतन्त्रस्तदा स्वामिसंसर्गस्यावगतत्वात् स्वामिविशेषज्ञानाय उपादीयमानो राजशब्दः स्वाम्यन्तरेभ्यः पुरुषं व्यावर्त्तयति। सोऽयं स्वाम्यन्तरव्यवच्छेदो भेद उच्यते। यदा पुनरवगतपरायत्तभावस्य पुरुषस्य स्वामिसम्बन्धद्योतनाय राजशब्दः प्रयुज्यते, तदा विशेषसंसर्गश्च अभिसन्धाय उपसर्जनस्य शब्दोपादानत्वाद् अनवकाशो विशेषान्तरसंपात इत्यशब्दा स्वाम्यन्तरनिवृत्तिरवसीयते। यदा तु अर्थान्तरनिवृत्तिं स्वार्थसंसर्गश्च अभिसन्धाय उपसर्जनपदानि प्रयुज्यन्ते, तदा शब्दार्थसामर्थ्ययोः प्रतिपत्तिनिबन्धनयोः अभेदापेक्षायां भेदसंसर्गसमुदायः सामर्थ्यं भवति। यथा, नीलश्च तदुत्पलञ्चेति नीलोत्पलं, प्रथमश्चासौ अनुरागश्चेति प्रथमानुराग इति। प्रथमानुरागानन्तर इत्यादिषु च भेदसामर्थ्यं यथा राज्ञो भृत्य इति। यतोऽनन्तर इत्युक्तेऽवधृतमिदं कस्याप्यवधेः अनन्तरोऽयं न स्वतन्त्र इति सर्वोऽवधिः प्रसक्तः। प्रथमानुरागस्येत्युक्ते सर्वः सम्बन्धी प्रसक्तः। इहेदानीं प्रथमानुरागानन्तर इत्युक्ते प्रथमानुरागोऽनन्तरं निवर्त्तयति अन्येभ्योऽवधिभ्यः। अनन्तरः प्रथमानुरागं निवर्त्तयति अन्येभ्यः सम्बन्धिभ्यः। तत्र योऽसौ भेदस्तत्सामर्थ्यं तन्निमित्ता च वृत्तिः। भेदनिमित्तायाञ्च वृत्तौ सत्यां वृत्त्यभिमुखस्य भेदमुपजनय्योपसर्जनस्य प्रथमानुरागस्यार्थो निवर्त्तते। यस्यापि प्रधानस्यानन्तरस्यावधिमतो निवर्त्तते सोऽप्यवधिमवच्छिनत्ति। एवमुभयतो व्यवच्छेदे निर्ज्ञातेऽनन्तरविशेषे समुदायार्थे चान्यस्मिन् प्रादुर्भवति। यदि प्रथमानुरागाद्यर्थो निवर्तते कामं निवर्त्तताम्। न जातु क्वचिदवधिमन्मात्रस्य संप्रत्ययो भविष्यति। ननु चान्वयव्यतिरेकाभ्यां जहत्स्वार्थत्वं नोपपद्यते। तथा हि। प्रथमानुरागानन्तरे इत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते। प्रथमानुरागेत्यनन्तरेति च प्रतीयमानविभागोऽर्थोऽपि कश्चिदवगम्यते—कन्याविश्रम्भणादिरवधिमत्त्वञ्च। 'मानानन्तरे' इति उक्ते कश्चिच्छब्दभागो हीयते, कश्चिदुपजायते, कश्चिदन्वयी। प्रथमानुरागेति हीयते मानेत्युपजायते। अनन्तर इत्यन्वयी। अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते कश्चित् उपजायते कश्चिदन्वयी। कन्याविश्रम्भणादिर्हीयते। मानशैथिल्यादिरुपजायते। अवधिमत्त्वमन्वयित्वेन। तेन

मन्यामहे यः शब्दभागो हीयते तस्यासावर्थः योऽर्थो हीयते। य उपजायते तस्यायमर्थः योऽर्थ उपजायते, योऽन्वयी तस्यासावर्थः योऽर्थोऽन्वयीति। मैवम्। यतोऽनन्यथासिद्धाभ्यामेव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दार्थयोः सम्बन्धावधारणमन्यथासिद्धौ चेमौ। तथा हि यत्र बृंहितं हीयते, ह्रेषितमुपजायते, रेणुचक्रम् अन्वयि, तत्र हस्तिनो हीयन्ते, अश्वा उपजायन्ते, पिपीलिका अन्वयिन्यः। न चैतावता रेणुचक्रादिपिपीलिकाः कारणं भवन्ति। यत्र वा क्षीरं हीयते, दध्युपजायते, पात्रमन्वयि, तत्र माधुर्य्यं हीयते, अम्लतोपजायते, तृप्तिरन्वयिनी। न चैतावता पात्रस्य तृप्तिः कार्य्यं भवति। अवधृतं हि सामर्थ्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रविभज्यते। यथा, लोके बधिरोऽपि चक्षुष्मानालोकयति, सत्यपि श्रोत्रे उपहतचक्षुर्नालोकयति रूपमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां चक्षुः श्रोत्रसन्निधाने रूपालोकनं चक्षुष एव व्यवस्थाप्यते न श्रोत्रस्य। यस्य केवलस्य योऽर्थोऽवधृतः पदार्थान्तरसन्निधानेऽपि तस्य स एव। न हि रसनमसन्निधौ दर्शनस्य मधुरादिव्यञ्जकं दर्शनसन्निधौ नीलादिव्यक्तिं प्रति सामर्थ्यं लभते। प्रथमानुरागशब्दस्य केवलस्य उत्कण्ठादिषु मानशब्दस्येर्ष्यायितादिष्वनन्तरशब्दस्य पुनरवधिमत्स्वेव सामर्थ्यमवधृतमतस्तेषां तावानेवार्थो भवति। यः पुनः पदयोरन्योन्योपश्लेषाद्विश्रम्भणादिभिः मानशैथिल्यादिभिः वा अवधिमद्विशेषोऽन्यावधिकः प्रतीयते, वाक्यार्थः स भवतीति। यदि च यथा अनपेक्षितावयवार्था वृक्षश्रोत्रियशक्रगोपादयः स्वसामर्थ्यनियतमर्थमाचक्षते तथा संघाता एवैते प्रथमानुरागानन्तरादयो राजपुरुषादयश्च अनपेक्षितावयवार्था यथासामर्थ्यम् अर्थेषु निविशन्ते। ननु च अव्यपदेश्यपूर्वापरविभागाभिन्नार्थाभिधायिनो वृक्षादयः, प्रतीयमानभागभेदानुयाताः सम्बन्धिपदार्थोपहितभेदवृत्त्यभिधायिनः पुनरिमे, तत् कथं प्रथमानुरागानन्तरादयो वृक्षादिवद्रूढिशब्दा भवितुमर्हन्ति। तदसत्। रूढिशब्दा यौगिका इति हि विभागोऽभेददर्शनाभ्यामभिनिविशतेऽभिनिविष्टबुद्धेः प्रतिपादनोपाय एव। अयथाभिनिविष्टो ह्ययं क्रमेण तस्मादपदार्थान्निवर्तयितव्यः। ततोऽस्याप्रत्यभिज्ञायमानप्रकृतयः श्रोत्रियक्षत्रियादयो दर्श्यन्ते। न ह्यत्र प्रकृतिरूपमवसीयते। यतः प्रकृत्यर्थावच्छिन्नः प्रत्ययार्थोऽभिधीयते, ततोऽनवसीयमानावयवविभागा रूढयः काश्चिदुपन्यस्यन्ते यत्र अत्यन्तमसम्भवोऽवयवार्थस्य यथा शक्रगोपाः, तैलपायिकाः, मण्डप इति। पुनः कदाचित् सन्निहितावयवार्था जातिविशेषाभिधायिनः सप्तपर्णकृतमालादय उदाह्रियन्ते। यतः प्रपलाशोऽप्यनुद्भिन्नपलाशोऽपि च वनस्पतिः, सप्त

पर्णान्यस्य पर्वणीति सप्तपर्ण इत्याख्यायते। तथा निष्कीर्णकुसुमस्तरुः अनारब्धकलिकाजालोऽपि कृता माला अनेनेति कृतमाल इत्यभिधीयते। अथ पञ्चाङ्गुलमिवाश्वकर्ण इव पर्णमस्येत्युपचरितार्थावयवा जातिवाचिन एव पञ्चाङ्गुलाश्वकर्णादयो वर्ण्यन्ते। तेषु हि पञ्चाङ्गुलादिव्यपदेशः प्रोद्भिद्यमानप्रवालमालमपि यावदनुवर्तते। ततः सन्निधीयमानेऽप्यनाश्रीयमाणवृत्तिपदार्थाः लोहितशालिः गौरस्वरः इत्यादयो निगद्यन्ते तत्र हि सन्नपि वर्णविशेषः समुदायस्य जातिवचनत्वाच्छब्दार्थत्वेन नावसीयते। तदेवमयं शकलीकृतवृत्तिपदार्थाभिनिवेशः प्रथमानुरागानन्तरादाविव राजपुरुषादौ अपि अवयवाभिनिवेशं शक्यते त्याजयितुम्। अतएव प्रथमानुरागादीनां विप्रलम्भसम्भोगादीनाञ्च पारिभाषिको अपि संसर्गः सन्निधीयते इति।

यहाँ जो मन करुणावस्था में शोकाधिक्य के द्वारा अभ्यक्त था, वही इस स्थल पर प्रिया के स्पर्श से उत्पन्न परम आनन्द से भी लिप्त हो रहा है। इस प्रकार यह करुणधर्म का समन्वय करुणानन्तर में भी समास के सामर्थ्य से संभव होता है। 'फिर यहाँ समास कौन सा है?' षष्ठी तत्पुरुष ही है।' 'वृत्ति कौन सी है?' 'जहत्स्वार्था है।' 'जब यहाँ करुण अर्थ की 'बू' भी नहीं है, तब उसका अन्वय कैसे होता है?' 'जिस प्रकार 'मल्लिकापुट' 'चम्पकपुट' इस उक्ति में पुष्पों का निगरण हो जाने पर भी मल्लिका आदि वासना के कारण विशेषण होते हैं (तथा इस प्रकार का अभिधान होता है) कि 'यह मल्लिका का पुट है, 'यह चम्पक का पुट है।' इसी प्रकार अपना अर्थ निकल जाने पर भी वासना के कारण करुण अनन्तर का विशेषण होता है।' अथवा प्रथमानुराग आदि में भी जहत्स्वार्था वृत्ति ही हो। इस प्रकार तो 'राजपुरुषम् आनय-ऐसा कहने पर केवल पुरुष का ही लाया जाना प्राप्त होता है।' यह दोष नहीं है, (क्योंकि) वृत्ति में समर्थ का अधिकार किया जाता है। सामर्थ्य में भेद, संसर्ग अथवा दोनों होते हैं। इसमें 'राज्ञः' इस पद को कहने पर सम्पूर्ण 'स्व' प्रसक्त हो जाता है और 'पुरुष' इस पद का उच्चारण करने पर सभी स्वामी प्रसक्त हो जाते हैं। यहाँ इस समय 'राजपुरुषं आनय' यह कहने पर 'राजा' पुरुष को अन्य स्वामियों से निवृत्त करता है, और 'पुरुष' भी राजा को अन्य अपनों से (पृथक् करता है।)

इस प्रकार इसके दोनों ओर से व्यवच्छिन्न होने पर यदि 'राजा' का अर्थ निकल जाता है, तो भले ही निकल जाये, कहीं भी केवल पुरुष का ही लाना नहीं होगा। वृत्ति के पूर्व विना अर्थ किये ही निवृत्त हो जाने से सामर्थ्य का अभाव होने से वृत्ति ही नहीं होगी। अतः वृत्ति के कारण होने वाली अर्थ की निवृत्ति दोष नहीं है। वहाँ 'राज्ञः पुरुषः' इस प्रयोग में जब दूसरे की अधीनता में कार्य करने वाला यह पुरुष है, स्वतन्त्र नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है, तब स्वामी का संसर्ग ज्ञात होने से स्वामी विशेष के ज्ञान के लिये ग्रहण किया जा रहा 'राजा' शब्द दूसरे स्वामियों से पुरुष को अलग करता है। यही दूसरे स्वामियों से पृथकता 'भेद' कहा जाता है। फिर जब दूसरे की परतन्त्रता में रहने वाले पुरुष के स्वामी का सम्बन्ध द्योतित करने के लिये 'राजा' शब्द का प्रयोग होता है, तब विशेष संसर्ग से सम्बन्ध स्थापित कर के गौणता का शब्दतः ग्रहण होने से दूसरे विशेष की प्राप्ति का अवसर ही नहीं रहता, इस प्रकार शब्दतः विना कथन

किये भी दूसरे स्वामी की निवृत्ति ज्ञात हो जाती है। और जब दूसरे अर्थ की निवृत्ति तथा अपने अर्थ के संसर्ग को कह कर सम्बन्ध वाचक अथवा गौण पदों का प्रयोग होता है, तब शब्द तथा अर्थ दोनों ही प्रतिपत्ति के निबन्धनों की सामर्थ्यों में अभेद की अपेक्षा करने से भेद तथा संसर्ग दोनों की सम्मिलित सामर्थ्य होती है। जैसे-'नीला' तथा 'उत्पल' 'नीलोत्पल' होता है और प्रथम है जो अनुराग वह 'प्रथमानुराग' है। 'प्रथमानुरागानन्तर' इत्यादि में भी भेद सामर्थ्य है जैसे कि 'राज्ञः भृत्यः' में है। क्योंकि 'अनन्तर' इस पद को कहते ही यह ज्ञान हो जाता है कि यह किसी अवधि के पश्चात् आया है, स्वतन्त्र नहीं है, इस प्रकार सभी अवधियाँ प्रसक्त है। 'प्रथमानुरागस्य' यह कहते ही सभी सम्बन्धी गृहीत हो जाते हैं। यहाँ इस समय 'प्रथमानुरागानन्तर' यह कहते ही 'प्रथमानुराग' अन्य अवधियों से 'अनन्तर' को पृथक् कर देता है। 'अनन्तर' प्रथमानुराग को अन्य सम्बन्धियों से अलग कर देता है। वहाँ पर जो यह भेद है वही सामर्थ्य है और उसी के लिये वृत्ति है। इस भेद निमित्तक वृत्ति के होने पर वृत्ति की ओर अभिमुख का भेद उत्पन्न करके उपसर्जनभूत प्रथमानुराग का अर्थ निवृत्त हो जाता है। जिस प्रधान अनन्तर की अवधि को इससे निवृत्त करता है, वह भी अवधि को अवच्छिन्न करता है। इस प्रकार दोनों ओर से व्यवच्छेद के ज्ञात होने पर 'अनन्तर' से विशिष्ट समुदाय के अर्थ तथा दूसरे में प्रादुर्भूत होता है।

यदि 'प्रथमानुराग' आदि अर्थ अलग हो जाता है तो भले ही अलग हो जाये। कहीं भी केवल अवधिमान मात्र का संप्रत्यय नहीं होता। 'अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों से वृत्ति की जहत्स्वार्थता नहीं सिद्ध होती। जैसे कि-'प्रथमानुरागानन्तर' इस पद के उक्त होते ही कोई शब्द सुनाई पड़ता है, साथ ही 'प्रथमानुराग' और 'अनन्तर' यह विभाग प्रतीत होता है, कोई अर्थ भी ज्ञात होता है—कन्याविश्रम्भण आदि तथा अवधिमत्ता। 'मानानन्तर' यह पद कहते ही कोई शब्द का भाग समाप्त होता है, कोई उत्पन्न होता है तथा कोई अन्वित करता है। वहाँ 'प्रथमानुराग' समाप्त होता है, 'मान' उत्पन्न होता है और 'अनन्तर' यह अन्वय करता है। इसी प्रकार अर्थ भी कोई समाप्त होता है, कोई उत्पन्न होता है तथा कोई अन्वय करता है। कन्या विश्रम्भण आदि समाप्त होता है। मान की शिथिलता आदि उत्पन्न होती हैं और अवधिमत्ता ही अन्वयी के रूप में है। इसी से हम यह मानते हैं कि जो शब्द का भाग समाप्त होता है उसका यह अर्थ है जो अर्थ समाप्त होता है, जो उत्पन्न होता है उसका अभिप्राय है जो अर्थ उत्पन्न होता है, जो अन्वयी है उसका अभिप्राय यह है, जो अन्वयी है वह अर्थ है।' 'ऐसी बात नहीं, क्योंकि अनन्यथा सिद्ध अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का निश्चय होता है। यहाँ ये दोनों अन्यथासिद्ध हैं। जैसे कि जहाँ चिग्घाड़ समाप्त होती है, हिनहिनाहट उत्पन्न होती है, और धूलि का चक्र अन्वयी है वहाँ हाथी समाप्त होते हैं, घोड़े उत्पन्न होते हैं और चीटियाँ अन्वयी हैं। इतने से ही रेणुचक्र आदि में चीटियाँ कारण होती हैं। जहाँ दूध समाप्त होता है, दही की उत्पत्ति होती है तथा बर्तन अन्वयी होता है वहाँ मधुरता समाप्त होती है, खट्टापन पैदा होता है और तृप्ति अन्वयी होती है। इतने से भी तृप्ति पात्र का कार्य नहीं होती। निश्चित किया गया सामर्थ्य ही अन्वय तथा व्यतिरेक से विभक्त होता है। जैसे, दुनिया में बहरा होने पर भी आँखों वाला व्यक्ति देख सकता है, कान के होने पर भी फूटी आंखों वाला व्यक्ति रूप का दर्शन नहीं कर पाता है। इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक के द्वारा आँख तथा कान की उपस्थिति में रूप का दर्शन आँखों में ही व्यवस्थित किया जाता है

कान में नहीं। जिस अकेले पद का जो अर्थ धारण किया जाता है, दूसरे पद की सन्निधि में भी उसका वही अर्थ होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि रसनेंद्रिय नेत्र की अनुपस्थिति में मधुर आदि रस का ज्ञान करायेगी और नेत्र की सन्निधि में नील आदि रूप का भी ज्ञान कराने का सामर्थ्य प्राप्त करेगी। पृथक् रूप से 'प्रथमानुराग' शब्द का उत्कण्ठा आदि के रूप में, 'मान' शब्द का ईर्ष्या आदि किये हुई के रूप में, और 'अनन्तर' शब्द का 'अवधिमान' के रूप में ही सामर्थ्य निश्चित है, अतः उनका उतना ही अर्थ होता है। और फिर जो दोनो पदों के परस्पर योग से विश्रम्भण आदि के द्वारा अथवा मानकी शिथिलता आदि के द्वारा अवधिमत की विशेषता अन्य ही अवधिवाली प्रतीत होती है। वही वाक्य का अर्थ है। यदि जिस प्रकार अवयवों के अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले वृक्ष, श्रोत्रिय,शक्र, गोप आदि अपने सामर्थ्य के अनुसार निश्चित अर्थ को प्रकट करते हैं उसी प्रकार एक में मिले हुये भी ये 'प्रथमानुरागानन्तर' आदि तथा 'राजपुरुप' आदि अपने अवयवों के अर्थों की अपेक्षा किये विना ही अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार अर्थों में सन्निविष्ट होते हैं।' 'जब पूर्व तथा अपर विभाग जिनका नहीं कहा जा सकता है वे वृक्ष आदि अभिन्न अर्थ का अभिधान करते हैं, और प्रतीत हो रहे भाग के भेद से अनुगत होकर सम्बन्धी पदार्थ से अपनी उपहित भेद वृत्ति का अभिधान करते हैं तब भला ये 'प्रथमानुरागानन्तर' आदिपद वृक्ष आदि की भाँति रूढि शब्द कैसे हो सकते हैं?' 'यह बात झूठी है। शब्द रूढ हैं, यौगिक हैं' आदि इस प्रकार का विभाग तो अभेद के देखने तथा न देखने के कारण अभिनिविष्ट बुद्धि के प्रतिपादन के उपाय ही हैं। यह भेद मानने वाला अमार्ग पर आग्रह किये हैं, अतः क्रमशः उसे अपथ से निवृत्त करना चाहिये। इसी से उसको श्रोत्रिय क्षत्रिय आदि पद ऐसे दिखाई पड़ते हैं जिनकी प्रकृति—मूलधातुयें—ही नहीं पहिचान में आ पाती हैं। यहाँ प्रकृति-मूलधातु-का रूप समाप्त नहीं होता है। चूँकि प्रत्यय का अर्थ धातु के अर्थ से अवच्छिन्न होकर ही अभिहित होता है, इसलिये समाप्त न हो रहे अवयव रूप विभाग वाली रूढ़ि नाम की कुछ चीजों का उपन्यास किया जाता है जिनमें अवयव का अर्थ पूर्णतः असम्भव होता है जैसे शक्रगोपा, तैलपायिका, मण्डप आदि। फिर जब कभी अवयव के अर्थों से समाविष्ट जाति विशेष का अभिधान करने वाले सप्तपर्ण, कृतमाल आदि के उदाहरण दिये जाते हैं। क्योंकि प्रपलाश खूब बढ़ा हुआ पलाश-तथा अनुद्भिन्न पलाश भी वनस्पति है, जिसकी पोर-पोर में सात-सात पत्ते होते हैं वह सप्तपर्ण कहा जाता है। उसी प्रकार खूब खिले हुये फूलों वाला भी वृक्ष है और कलीसमूह भी जिसमें नहीं निकली वह भी वृक्ष है, ऐसे ही 'बनाई गई है माला जिसके द्वारा' वह कृतमाल कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'पञ्चाङ्गुल' की भाँति अश्वकर्ण की भाँति है पत्ता जिसका' इस प्रकार के अवयवों के अर्थों का ग्रहण करने वाले जातिवाचक ही पञ्चाङ्गुल, अश्वकर्ण आदि वर्णित होते हैं। इनमें पञ्चाङ्गुल आदि नाम तो निकल रही कोपल समूह वालों तक में अनुवृत्त होता है। उससे सन्निहित होने पर भी वृत्ति का आश्रय न ले रहे पदार्थ लोहितशालि, गौरस्वर इत्यादि भी उक्त हो जाते हैं। वहाँ समुदाय का एक विशेष वर्ण होने पर भी जाति का निर्वचन होने से वह शब्द के अर्थ के रूप में परिणत नहीं होता। इस प्रकार का यह खण्ड-खण्ड किया गया वृत्ति पद के अर्थ का अभिनिवेश है, हठ हैं। 'प्रथमानुरागानन्तर' आदि की भाँति 'राजपुरुष' आदि प्रयोगों में भी अवयव का अभिनिवेश छुड़ाया जा सकता है। अतएव प्रथमानुराग आदि का तथा विप्रलम्भ-संभोग आदि का संसर्ग पारिभाषिक होने पर भी सन्निहित किया जा रहा है।

स्व० द०—ऊपर के पूरे गद्यखण्ड में प्रयुक्त प्रायः सभी पारिभाषिक पदों तथा मान्यताओं का निरूपण पहले 'प्रथमानुरागानन्तर' आदि विषयों के विवेचन के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। यहाँ, अन्वय, व्यतिरेक, अन्यथासिद्ध, रूढ और यौगिक पदों का अर्थ समझ लेना उचित होगा। अन्वय तथा व्यतिरेक का सामान्य लक्षण क्रमशः 'यद्भावे तद्भावः' तथा 'यदभावे तदभावः' है। किसी पदार्थ अथवा कारण के होने पर किसी कार्य का होना अन्वय सम्बन्ध है, किसी पदार्थ के न होने पर किसी पदार्थ का न होना व्यतिरेक है। इनके विशेष जिज्ञासुओं को न्यायदर्शन का 'लिङ्ग-प्रकरण' देखना चाहिये। सामान्यतः अन्नम्भट्ट के शब्दों में—'यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा-महानसमिति अन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा. महाह्रद इति व्यतिरेक-व्याप्तिः।'

'अन्यथासिद्ध' अनावश्यक कारण का नाम है। अर्थात् जिसका किसी कार्य की उत्पत्ति में सहयोग तो हो सकता है किन्तु उसके न होने पर कार्य की सिद्धि होगी ही नहीं ऐसी प्रतीति नहीं होती। यह 'कार्य' का नियतपूर्ववर्ती नहीं होता। कारण के भी जनक-कुम्हार के पिता, कारण के सहायक-गधे आदि, अदृष्ट, आकाश आदि पाँच अन्यथा सिद्ध हैं। इनके विशेषज्ञान के लिये विश्वनाथ की कारिकावली भाषापरिच्छेद के साथ देखने योग्य है।

इसी प्रकार 'रूढ' और 'यौगिक' भी हैं। किसी शब्द का परम्परा से स्वीकृत किया जा रहा अर्थ रूढ है, किन्तु उसी का प्रकृति प्रत्यय विभाग करके अर्थ निकालना यौगिक अर्थ का अनुसन्धान है। कहा भी गया है—

'व्युत्पत्तिरहिताः शब्दा रूढा आखण्डलादयः'।

शब्द के निर्वचन मूलक अर्थ को यौगिक कहते हैं।

वस्तुतः शब्द के विषय में दो पक्ष व्युत्पत्तिवादी तथा अव्युत्पत्तिवादी प्रचलित हैं। अव्युत्पत्तिपक्ष के अनुसार शब्द जिसरूप में उपलब्ध होता है, वही उसका मूल रूप है, उसकी निष्पत्ति किसी धातु और प्रत्यय आदि के संयोग से नहीं हुई। जब कि व्युत्पत्तिवादी लोग किसी भी शब्द की धातु और प्रत्यय को तोड़-फोड़ कर अलग-अलग रख देते हैं। उदाहरणार्थ-प्रथमपक्ष में 'राम' शब्द इसी रूप में निष्पन्न माना जायेगा जब कि व्युत्पत्तिवादी 'रमु क्रीडायाम्' धातु से 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र से 'घ' प्रत्यय लगाकर अधिकरण अर्थ में 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' इस अर्थ में सिद्ध करेंगे। यास्क प्रभृति विद्वानों ने तो 'अग्नि' जैसे पदों को 'अद्,' 'गम्' 'नी' इन तीन-तीन धातुओं से सिद्ध स्वीकार किया है।

अब आगे क्रमप्राप्त प्रकीर्णको का सोदाहरण निरूपण किया जायेगा।

प्रकीर्णकेषु—स्पृहयन्ती व्रतमष्टमीचन्द्रकः। स हि चैत्रचतुर्थीतोऽष्टमचतुर्थीमुपादीयमानः कामिनीभिरर्च्यते यथा—

अवसहिअजणो पइणा सलाहमाणेण एच्चिरं हसिओ।
चन्दो त्ति तुज्झ मुहदिण्णकुसुमं जातविलक्खो॥ २९७॥

प्रकीर्णकों में—कामना करने वाली स्त्रियों का व्रत 'अष्टमीचन्द्रक' कहा जाता है। चैत्र की चतुर्थी से लेकर अष्टमचतुर्थी में समाप्त होने वाला वह कामिनियों द्वारा पूजा जाता है। जैसे—

पूजित हो रहे पति के द्वारा विवश लोगों को हर लेने वाला चन्द्रमा इतनी देर तक हँसा गया कि तुम्हारे मुख के सामने पुष्प देते समय विलक्ष-लक्ष्य से दूर हो गया ॥ २९७॥

[छाया:—अवशहृतजनः पत्या श्लाध्यमानेनेयच्चिरं हसितः ।
चन्द्र इति तव मुखदत्तकुसुमम् जातविलक्षः ॥]

अवसहिअ इति ॥ २९७ ॥

यस्यां यवस्रस्तरेषु अबला लोलन्ति सा कुन्दचतुर्थी, यथा--

लुलिआ गहवइधुआदिस्म व फलं जवेहिं सविसेसं ।
गिहं अणिवारियसेवग्गेहणं चरउ च्छेत्तम्मि ॥ २९८ ॥

जिसमें स्त्रियाँ जौ की शय्या पर लोटती हैं वह कुन्द चतुर्थी होती है। जैसे-गृहस्वामी की पुत्री लोट गई है। जवों ने मानों उसे विशिष्ट फल दे दिया है। अब गोवृन्द विना रोकटोक के ही खेत में चरें ॥ २९८ ॥

[छाया—लुलिता गृहपतिसुता दत्तमिव फलं यवैः सविशेषम् ।
इदानीमनिवारितमेव गोधनं चरतु क्षेत्रे ॥]

लुलिआ इति ॥ २९८ ॥

वसन्तावतारदिवसः सुवसन्तको यथा,---

छणपिठ्ठधूसरत्थणि महुमअंतवच्छिकुवलआहरणे ।
कस्स कअ चूअमञ्जरि पुत्ति तुए मण्डिओ ग्गामो ॥ २९९ ॥

वसन्त के अवतरण का दिन सुवसन्तक है, जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ॥ स. कं. ३।३ ॥)

छणेति ॥ २९९ ॥

यत्र स्त्रियो दोलामारोहन्ति सा आन्दोलनचतुर्थी, यथा--

आन्दोलणक्खणोठ्ठिआए दिठ्ठे तुमम्मि मुद्धाए ।
आसङ्किज्जइ काओ करपेल्लणणिच्चला दोला ॥ ३०० ॥

जिसमें स्त्रियाँ झूले पर चढ़ती हैं वह आन्दोलन चतुर्थी है, जैसे—
जब तुम दिखाई पड़ जाते हो तब आन्दोलन के समय उठ खड़ी हुई मुग्धा सुन्दरी यह आशा करने लगती है कि तुम झूले को हाथ से पकड़ कर रोक दोगे ॥ ३०० ॥

[छाया--आन्दोलनक्षणोत्थितया दृष्टे त्वयि मुग्धया ।
आशास्यते कर्तुं करप्रेरणनिश्चला दोला ॥]

आन्दोलेति ॥ ३०० ॥

एकमेव सुकुसुमनिर्भरं शाल्मलिवृक्षमाश्रित्य सुनिमीलितकादिभिः खेलतां क्रीडा एकशाल्मली यथा,--

को एसो त्ति पलद्धं संबलिवलिअंपिअ परिक्खसइ ।
हलिअसुअं मुद्धबहू सेअजलोल्लेण हत्थेण ॥ ३०१ ॥

फूलों से लदे हुये एक ही सेमर के वृक्ष पर चढ़ कर छुपा-छुपी अथवा आँखमिचौनी आदि खेलने वालों की क्रीडा एकशाल्मली है। जैसे—

'यह भला कौन है ?' यह कह कर शाल्मली पर चढ़े हुये, पीछे मुड़ गये हलवाहे के पुत्र अपने पति को पसीने से भीगे हाथों से मुग्धावधू गिरा देती है ॥ ३०१ ॥

[छाया—क एष इति प्रत्यावर्तितं शाल्मलिवलितं प्रियं परिपातयति।
हालिकसुतं मुग्धवधूः स्वेदजलार्द्रेण हस्तेन ॥]

को एसो इति ॥ ३०१ ॥

त्रयोदश्यां कामदेवपूजा मदनोत्सवो यथा,—

गामतरुणीओ हिअअं हरन्ति पोढाणं त्थणहरिल्लोओ ।
मअणसवम्मि कोसुम्भकञ्चुआहरणमेत्ताओ ॥ ३०२ ॥

त्रयोदशी में कामदेव की पूजा मदनोत्सव है। जैसे—

स्तनों के भार से बोझिल ये ग्रामवालायें मदनोत्सव के अवसर पर केवल कुसुम्भी रंग की चोली भर पहने हुई भी प्रौढ़ रसिकों का चित्त हर लेती हैं ॥ ३०२ ॥

[छाया—ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति प्रौढानां स्तनभारवत्यः।
मदनोत्सवे कौसुम्भकञ्चुकाभरणमात्राः ॥]

गामतरुणीति ॥ ३०२ ॥

गन्धोदकपूर्णवंशनाडीशृङ्गकादिभिः यूनां प्रियजनाभिषेककर्दमेन क्रीडा उदकक्ष्वेडिका यथा,—

अहं धाविऊण सञ्झमएण सव्वङ्गिअं पडिच्छन्ति ।
फग्गुमहे तरुणीओ गहवइसुअहत्थ चिक्खल्लं ॥ ३०३ ॥

सुगन्धित जल से भरी हुई बाँस की नली, पिचकारी आदि से युवकों का प्रियजनों को भिगो देने वाले कीचड़ से खेलना उदक क्ष्वेडिका है, जैसे—

इसके पश्चात सन्ध्याकालीन मद के साथ दौड़ कर फल्गुमह नामक उत्सव में तरुणियाँ सारे शरीर में गृहस्वामी के पुत्र के हाथ से कीचड़ लगाने की प्रतीक्षा करती हैं ॥ ३०३ ॥

[छाया—अथ धावित्वा संध्यामदेन सर्वाङ्गिकं प्रतीक्षन्ते।
फल्गुमहे तरुण्यो गृहपतिसुतहस्तकर्दमम् ॥]

अहं धावीति ॥ ३०३ ॥

यत्रोत्तमस्त्रियः यदाभिघातेनाशोकं विकाश्य तत् कुसुममवतंसयन्ति सा अशोकोत्तंसिका यथा,—

उत्तंसिऊण दोहलविअसिआसोअमिन्दुवअणाए ।
विरहिणो णिप्फलकंकेल्लिकरणसहो समुप्पुसिओ ॥ ३०४ ॥

जहाँ उत्तमकोटि की स्त्रियाँ चरणप्रहार करके अशोक को प्रफुल्लित करती हैं और उसके फूलों से अपने को विभूषित करती हैं, वह अशोकोत्तंसिका है, जैसे—

उस चन्द्रमुखी के द्वारा पादाघात से विकसित अशोक पुष्प को आभूषण के रूप में धारण करके विधाता के कंकोल को निष्फल बनाने का कलङ्क पोंछ दिया गया ॥ ३०४ ॥

[छाया—उत्तंसयित्वा दोहदविकासिताशोकमिन्दुवदनया ।
विधेर्निष्फलकंकोलकरणशब्दः समुत्प्रोञ्छितः ॥]

उत्तंसि उण इति ॥ ३०४ ॥

यत्र अङ्गनाभिश्चूतमञ्जर्य्योऽवरुज्य अनङ्गाय बालरागत्वेनैव दायं दायमवतंस्यन्ते सा चूतभञ्जिका यथा,--

रइअं पि ताणं सोहइ रइजोग्गं कामिणोणेवच्छम् ।
कण्णे जाव ण रज्जइ कवोलघोणन्तपल्लवसहआरम् ॥ ३०५ ॥

जिसमे सुन्दरियों द्वारा आम्रमञ्जरियाँ तोड़ कर कामदेव को प्रथम राग के रूप में दे दे कर आभूषण बनायी जाती हैं, वह चूतभञ्जिका है । जैसे—

कामिनियों के द्वारा सुरति काल के योग्य किये गये समस्त अलंकरण के कृत्य किये जाने पर भी तब तक पूर्ण शोभित नहीं होते जब तक कि गालों पर लटक रही आम्रमञ्जरी कानों में नहीं रच ली जाती ॥ ३०५ ॥

[छाया—रचितमपि तावन्न शोभते रतियोग्यं कामिनीनां क्षणनेपथ्यम् ।
कर्णे यावन्न रच्यते कपोलघूर्णमानसहकारम् ॥]

रइअं इति ॥ ३०५ ॥

यत्र युवतयो मदिरागण्डूषदोहदेन बकुलं विकाश्य तत्पुष्पाणि अवचिन्वन्ति सा पुष्पावचायिका यथा,---

पीणत्थणए सुकेसरदोहलंदाणुम्मुहीअ णिवलन्तो ।
तुङ्गसिहरग्गापडणसम जं फलं तं तए पत्तम् ॥ ३०६ ॥

जिसमें युवतियाँ मधु के कुल्ले से बकुल पुष्प को विकसित करके उसके पुष्पों को चुनती हैं, वह पुष्पावचायिका है । जैसे—

हे केसर, दोहददान के लिये उन्मुख इस सुन्दरी के पृथुल उरोजों पर पड़ कर वह फल तुमने पा लिया जो किसी ऊँचे शिखर के अग्रभाग से गिरने वाले का होता है। अर्थात् जिस प्रकार किसी ऊँचे शिखर से गिरा हुआ व्यक्ति चूर-चूर हो जाता है, उसी प्रकार इसके ऊँचे स्तनों से गिर कर तुम भी चूर-चूर हो गये ॥ ३०६ ॥

[छाया—पीनस्तनेषु केसर ! दोहददानोन्मुख्या निपतन् ।
तुङ्गशिखराग्रपतनस्य यत्फलं तत्त्वया प्राप्तम् ॥]

स्व० द०—गर्भवती स्त्रियों की इच्छा की पूर्ति करना दोहद कहा जाता है । इसी प्रकार कुछ वृक्षविशेष होते हैं, जिनके साथ रमणियों के विविध संसर्गों एवं कृत्यों के होने से, उनमें

फूल खिल उठते हैं। उनके विषय में सुन्दरियों के कृत्य भी दोहद कहे जाते हैं। वृक्षों के दोहद के विषय में कवियों की ये रूढ़ियाँ है—

स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमधुहसनात् चम्पको वक्त्रवातात्
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः॥]

पीणत्थणए इति ॥ ३०६ ॥

यत्र कस्ते प्रियतम इति पृच्छद्भिः पलाशादिनवलताभिः प्रियो जनो हन्यते सा चूतलतिका यथा,—

णवलआपहरम् अङ्गे जहिं जहिं महइ देअरो दाउम्।
रोमञ्चदण्डराइ तहिं तहिं दीसइ वहुए॥ ३०७॥

जहाँ 'कौन है तुम्हारा प्रियतम' इस प्रकार पूँछते हुये पुरुषों के द्वारा पलाश आदि की नई लताओं से अपने प्रिय जन पीटे जाते हैं, वह चूतलतिका है। जैसे—

वधू के जिन-जिन अङ्गों पर देवर नवीन लता से प्रहार करना चाहता है, उसके उन-उन अङ्गों में रोमाञ्च की कण्टकराजि दिखाई पड़ती है॥ ३०७॥

[छाया—नवलताप्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम्।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः॥] गा० स० १।२८॥

णवलअ इति ॥ ३०७ ॥

पश्चात्मानुनयन्ती भूतमातृका यथा,—

विहलइ से णेवच्छं पम्माअइ मण्डणं गई खलइ।
भूअच्छणणच्चणम्मि सुहअ माणं पुलोएसु॥ ३०८॥

पश्चात्मा का अनुनय करती हुई भूतमातृका है, जैसे—

हे सुन्दर, तुम इस सुन्दरी को भूतोत्सव के नृत्य के समय मत देखना, क्योंकि उस समये इसके वस्त्र ढीले पढ़ने लगते हैं, इसकी भूषा म्लान पड़ने लगती है और चाल लड़खड़ाने लगती है॥ ३०८॥

[छाया—विह्वलयत्यस्या नेपथ्यं प्रम्लायते मण्डनं गतिः स्खलति।
भूतक्षणनृत्ये सुभग मैनां प्रलोकयेः॥]

विहलइ इति ॥ ३०८ ॥

वर्षासु कदम्बनीपहारिद्रकादिकुसुमैः प्रहरणभूतैः द्विधा बलं विभज्य कामिनीनां क्रीडा कदम्बयुद्धानि यथा,—

सहिआहिं पिअविसज्जिअकलम्बरअभरिअणिब्भरुच्छूओ।
दीसइ कलम्बत्थवओ व्व त्थणहरो हलिअसोण्हाए॥ ३०९॥

वर्षा के दिनों में कदम्ब, नीप, हारिद्रक आदि के पुष्पों को मारने का साधन बनाकर अपने समूह को दो भागों में विभक्त करके स्त्रियों का खेल 'कदम्बयुद्ध' है। जैसे—

सखियों के द्वारा प्रियतम के दिये गये कदम्ब के पराग से भर दिये जाने के कारण इस हलवाहे की पतोहू का फूल गया उरोज-विस्तार कदम्बपुष्प के गुच्छक सा दिखलाई पड़ता है ॥ ३०९ ॥

सहिआहि इति ॥ ३०९ ॥

प्रथमवर्षणप्ररूढनवतृणाङ्कुरासु स्थलीषु शाद्वलमभ्यर्च्य भुक्तपीतानां क्वचिद् विवाहादिक्रीडा नवपत्रिका।

तत्र च वरणविधानादौ तेषामेवंविधाः परिहासा भवन्ति यथा,—

ता कुणह कालहरणं तुवरं तम्मि विवरे विवाहस्स।
जावपण्डुणहवलाइं होन्ति कुमारीअ अङ्गाइम् ॥ ३१० ॥

पहली बरसात होने पर उगी हुई नई-नई घास की अङ्कुरों से युक्त स्थलियों पर घास की अर्चा करके पतियों के साथ रतिभोग की हुई प्रमदाओं का झूठ-मूठ विवाह आदि का खेल खेलना नवपत्रिका है। उसमें पति चुनने के अनन्तर उनमें इस प्रकार की हँसी मजाक होती है। जैसे—

विवाह के लिये वर के अतिशय जल्दी करने पर भी तुम लोग तब तक समय बिताओ जब तक कि इस कुमारी के पीले नाखूनों के अंग चिह्नों से युक्त नहीं हो जाते ॥ ३१० ॥[1]

ता कुणह इति ॥ ३१० ॥

अभिनवविसाङ्कुरोद्भेदाभिरामं सरः समाश्रित्य कामिमिथुनानां क्रीडा विसखादिका, यथा,—

गेण्हन्ति पिअअमा पिअमाणवअणाहि विसलआहाहिम्।
हिअआइं वि कुसुमाउहवाणकआणेअरन्धाइम् ॥ ३११ ॥

नये-नये उगे हुये बिसतन्तुओं के निकलने पर सुन्दर तालाब का आश्रय लेकर कामियों के जोड़ों का खेल बिसखादिका है। जैसे—

प्रेमी जन कामदेव के बाणों से अनेकशः छिद्रित कर दिये गये हृदयों की भाँति प्रियतमाओं के मुख से आधी-आधी बिसलतायें ग्रहण कर रहे हैं ॥ ३११ ॥

छाया—गृह्णन्ति प्रियतमाः प्रियतमानां वदनाद्बिसलतार्धानि।
हृदयानीव कुसुमायुधबाणकृतानेकरन्ध्राणि ॥

गेण्हन्तीति ॥ ३११ ॥

शक्रोत्सवदिवसः शक्रार्चा यथा,—

सच्चं विअ कट्ठमओ सुरणाहो जेण हलिअधीआए।
हत्थेहिं कमलदलकोमलेहिं छित्तो ण पल्लविओ ॥ ३१२ ॥

---

१. इस गाथा की छाया इस प्रकार है—
तावत्कुरुत कालहरणं त्वरमाणेऽपि वरे विवाहस्य।
यावत्पाण्डुनखपदानि भवन्ति कुमार्या अङ्गानि ॥

इन्द्र के उत्सव का दिन शक्रार्चा है। जैसे—

सचमुच ही देवपति इन्द्र पूरा काठ का ही है, क्योंकि वह हलवाहे की बेटी के द्वारा कमल की पंखुड़ियों की भांति कोमल हाथों से छुआ जाने पर भी पल्लवित नहीं हुआ—रोमाञ्च नहीं आया ॥ ३१२ ॥

छाया—सत्यमेव काष्ठमयः सुरनाथो येन हालिकदुहित्रा।
हस्तैः कमलदलकोमलैः स्पृष्टो न पल्लवितः ॥

सच्चमिति ॥ ३१२ ॥

आश्विने पौर्णमासी कौमुदी यथा,—

अह तइ सहत्थदिण्णे कह कह वि खलन्तमत्तजणमज्झे।
तिस्मा त्थणेसु जाओ विलेवणं कोमुईवासो ॥ ३१३ ॥

क्वारमास की पूर्णिमा कौमुदी है। जैसे—

तुम्हारे द्वारा अपने ही हाथों से लगाया गया विलेपन लड़खड़ाते हुये मदमाते लोगों के बीच उसके स्तनों पर कौमुदीवास से युक्त कैसे हो गया अथवा लड़खड़ा रहे मत्त लोगों के बीच उसके स्तनों में किसी तरह अपने ही हाथों से तुम्हारे द्वारा लगाया गया कौमुदीवास विलेपन होगया ॥ ३१३ ॥

छाया—अथ त्वया स्वहस्तदत्तः कथमिव स्खलन्मत्तजनमध्ये।
तस्याः स्तनेषु जातो विलेपनं कौमुदीवासः ॥

अह इति ॥ ३१३ ॥

दीपोत्सवो यक्षरात्रिर्यथा,—

अण्णे वि हि होन्ति छणा ण उणो दीआलिआ सरिच्छो दे।
जत्थ जहिच्छं गमइ पिअवसदी दीअवमिसेण ॥ ३१४ ॥

दीपोत्सव यक्षरात्रि है। जैसे—

दूसरे भी उत्सव होते हैं किन्तु वे दीपावली के समान नहीं होते। इसमें तो स्वेच्छानुसार दीपों के बहाने प्रियतमों के घर जाना सम्भव है ॥ ३१४ ॥

छाया—अन्येऽपि खलु भवन्ति क्षणा न पुनर्दीपालिकासदृक्षास्ते।
यत्र यथेच्छं गम्यते प्रियवसतिः दीपिकामिषेण ॥

अण्णे इति ॥ ३१४ ॥

शमीधान्यशूकधान्यानामार्द्राणामेवाग्निपक्वानामभ्यवहारोऽभ्युषखादिका, यथा—

अणग्गिणा करो मे दद्धो त्ति पुणो पुणो च्चिअ कहेइ।
हालिकसुआमलिअच्छु सदोहदा पामरजुवाणो ॥ ३१५ ॥

गीले ही गीले शमीधान्य तथा शूकधान्य को आग में पकाकर खाना अभ्यूषखादिका है। जैसे—

"बुझ रही आग से मेरा हाथ जल गया" इन शब्दों को बार बार हलवाहे की बेटी उस मूर्ख युवक से कहती है और हाथों को मलमल करके उसासें छोड़ती है ॥ ३१५ ॥

छाया—अनग्निना करो मे दग्ध इति पुनः पुनरेव कथयति।
हालिकसुता मृदितोच्छ्वासदोहदिनी पामरयूनि ॥

हअणोति ॥ ३१५ ॥

प्रथमत एवेक्षुभक्षणं नवेक्षुभक्षिका, यथा,—

दिअरस्स सरअमउअंसुमइलेण देइ हत्थेण।
पढमं हिअअं वहुआ पवट्टा गण्डं सदन्तवणम् ॥ ३१६ ॥

पहले पहल ही ईख चूसना नवेक्षुभक्षिका। जैसे—

यह नव वधू अपने देवर को आँसू से भीगे हाथ से पहले तो अपना हृदय देती है और बाद में मीठे तथा दान्त से छीले गये शरत्कालीन इक्षुदण्ड ॥ ३१६ ॥

छाया—देवरस्य शरन्मृदुकमश्रुमलिनेन ददाति हस्तेन।
प्रथमं हृदयं वधूका पश्चादिक्षु सदन्तव्रणम् ॥

दिअरस्येति ॥ ३१६ ॥

ग्रीष्मादौ जलाशयावगाहनं तोयक्रीडा, यथा,—

पिसुणेन्ति कामिणीणं जललुक्काइआवऊहहासुहेल्लिम्।
कण्टइअकवोला पप्फुल्लणिच्चलच्छोइ वअणाइम् ॥ ३१७ ॥

ग्रीष्म के प्रारम्भ में जलाशय में अवगाहन करना तोयक्रीडा हैं, जैसे—

सुन्दरियों के रोमाञ्चित कपोल, खिले तथा एकटक नयनों से समन्वित मुख जल में प्रविष्ट प्रियतम के आलिङ्गन के सुख से युक्त क्रीड़ा को प्रकट कर रहे हैं ॥ ३१७ ॥

छाया—पिशुनयन्ति कामिनीनां जलनिलीनप्रियावगूहनसुखकेलिम्।
कण्टकितकपोलोत्फुल्लनिश्चलाक्षीणि वदनानि ॥ गा. स. ६।५८ ॥

पिशुणेन्तीति ॥ ३१७ ॥

नाथादिदर्शनं प्रेक्षा यथा,—

णच्चिहिइ णडो पेच्छिहिइ जेण पओभोइओ नायकस्स।
विदूसिहिइ जररङ्गविहउणअरीगहवधुआणं पवच्चिहिइ ॥३१८॥

णच्चिहिइ इति ॥ ३१८ ॥

आलिङ्गनादिग्लहा दुरोदरादिक्रीडा द्यूतानि यथा,—

आश्लेषे प्रथमं क्रमेण विजिते हृष्टाधरस्यार्पणे
केलीद्यूतविधौ पणं प्रियतमे कान्तां पुनः पृच्छति।

सान्तर्हासनिरुद्धसम्भृतरसोद्भेदस्फुरद्गन्तया
तूष्णीं सारिविसारणाय निहितः स्वेदाम्बुगर्भः करः ॥ ३१९ ॥

आलिङ्गन आदि को भी तिरस्कृत कर देने वाली जुआ आदि का खेलना द्यूत है। जैसे—द्यूतक्रीडा के समय सर्वप्रथम दाँव पर लगे हुये आलिङ्गन को जीत लेने पर जब पुनः फड़कते हुये अधरों की बाजी लगाने पर (प्रियतम ने उसे भी जीत लिया) उसके बाद 'अब तुम दाँव पर क्या लगाओगी' इस प्रकार से प्रियतमा से प्रियतम के पूँछने पर भीतर ही भीतर हँसी को छिपाये उत्पन्न कामावेश के कारण फड़क रहे कपोलों वाली प्रियतमा ने बिना कुछ बोले चाले चुपचाप ही पाँसों को चलने के लिये पसीने के जल से भींगा हुआ हाथ रख दिया ॥ ३१९ ॥

आश्लेषे इति। केलिद्यूतं क्रीडादेवनं तदेव विधिर्व्यापारः तस्मिन् प्रथमम् आश्लेषे आलिङ्गने पणत्वेन स्थापिते इति भावः विजिते विजयेन लब्धे इत्यर्थः क्रमेण हृष्टस्य प्रस्फुरत इत्यर्थः अधरस्य यद्यत्र विजीयेय तदा ते अधरं पणत्वेन स्थापितं दास्यामीति प्रतिश्रुतस्येति भावः अर्पणे दाने विजिते विजयेन लब्धे सति तद्विजयानन्तरमित्यर्थः प्रियतमे कान्ते कान्तां पुनः पणं पृच्छति जिज्ञासमाने सति सान्तर्हासम् अन्तर्हास्यसहितं यथा तथा निरुद्धः संगोपितः सम्भृतः समुत्पन्नः यः रसः मदनावेशजनित इति भावः तस्य उद्भेदेन विकासेन स्फुरन्तौ गण्डौ कपोलौ यस्याः तथाभूतया कान्तयेति शेषः सारिविसारणाय पाशकप्रक्षेपणाय स्वेदाम्बुगर्भः सत्त्वोदयात् स्वेदसलिलप्लुत इति यावत् करः पाणिः तूष्णीं निर्वचनं यथा तथा निहितः प्रहितः। अतःपरं सुरतमेव पणः स्पष्टम-प्रकटितोऽपि प्रकटित इति भावः ॥ ३१९ ॥

रागोद्दीपनाय माध्वीकादिसेवा मधुपानं यथा,—

थोआरूढमहुमआ खणपल्हदा वराअदिस्मुल्लावा।
हसिऊण संठविज्जइ पिएण संभरिअलज्जिआ कावि पिआ ॥३२०॥

प्रेम को उद्दीप्त करने के लिये माध्वी का सेवन करना मधुपान है। जैसे—

थोड़ी थोड़ी चढ़ी हुई शराब के नशे से युक्त, एक क्षण के लिये आह्लाद से भरी हुई, असङ्गत बातें जोर जोर से करती हुई किन्तु बाद में लजा गई किसी प्रियतमा को प्रियतम ने हँस कर सेज पर लिटा दिया ॥ ३२० ॥

स्व० द०—ये ऊपर उदाहरण सहित प्रकीर्णक उल्लिखित हुये। निर्णयसागर से प्रकाशित प्रति के पृ. ५६५-६ पर पादटिप्पणी के रूप में वात्स्यायन मुनि के कामशास्त्र से क्रीड़ाओं का उद्धरण दिया गया है। वहाँ इनकी संख्या तथा स्वरूप के विषय में अन्तर है। इसे ज्यों का त्यों यहाँ दिया जा रहा है—

"वात्स्यायनीये कामशास्त्रे क्रीडा द्वैविध्यं समस्या देश्याश्चेति भेदात्। तासु काश्चिद् विहाय सर्वा अपि नैताभ्यः पृथक् तत्रोल्लिखिताष्टीकाकर्त्रा व्याख्याता इत्यत्रापि तद्व्याख्यानं समुद्धृत्य विलिखामः।—समस्याः क्रीडाः आह—यक्षरात्रिः, कौमुदी, जागरः, सुवसन्तकः। यक्षरात्रिरिति सुखरात्रिः। यक्षाणां तत्र संनिधानात्। तत्र प्रायशो लोकस्य द्यूतक्रीडा। कौमुदीजागर इति आश्वयुज्यां हि पौर्णमास्यां कौमुद्याः ज्योत्स्नायाः प्रकर्षेण प्रवृत्तेः। तत्र दोलाद्यूतप्रायाः क्रीडाः। सुवसन्तक इति। सुवसन्तो मदनोत्सवः। तत्र नृत्यगीतवाद्यप्रायाः क्रीडाः। एताः माहिमान्यः

क्रीडाः ॥ देश्या आह—सहकारभञ्जिका, अभ्यूषखादिका, बिसखादिका, नवपत्रिका, उदकक्ष्वेडिका, पाञ्चालानुयानम्, एकशाल्मली, कदम्बयुद्धानि तास्ताश्च माहिमान्यो देश्याश्च क्रीडा जनेभ्यो विशिष्टमाचरेयुः। इति संभूय क्रीडा। सहकारभञ्जिकेति। सहकारफलानां भञ्जनं यत्र क्रीडायाम्। अभ्यूषखादिका फलानां निटपस्थानामग्नौ प्लोषितानां खादनं यत्र। बिसखादिका बिसानां मृणालानां खादनं यत्र। सरःसमीपवासिनामित्येते द्वे क्वचित् क्वचिद् दृश्येते। नवपत्रिका प्रथमवर्षणेन प्ररूढनवपत्रासु वनस्थलीषु या क्रीडा सा प्रायेणाटवीसमीपवासिनामाटविकानां च। उदकक्ष्वेडिकेति। 'वंशनाडी स्मृताक्ष्वेडा सिंहनादश्च कथ्यते' इति। उदकपूर्णा क्ष्वेडा यस्यां क्रीडायां सा मध्यदेश्यानामस्याः शृङ्गक्रीडेति प्रसिद्धिः। पाञ्चालानुयानम्—भिन्नालापचेष्टितैः पाञ्चालक्रीडा यथा मिथिलायाम्। एकशाल्मली-एकमेव महान्तं कुसुमनिर्भरं शाल्मलीवृक्षमाश्रित्य तत्रत्यकुसुमाभरणानां क्रीडा, यथा वैदर्भाणाम्। यवचतुर्थी-वैशाखशुक्लचतुर्थ्यां नायकानां परस्परं सुगन्धयवचूर्णप्रक्षेप इति पाश्चात्येषु प्रसिद्धा। आलोलचतुर्थी श्रावणशुक्लतृतीयायां हिन्दोलक्रीडा। मदनोत्सवो मदनप्रतिकृतिपूजनम्। दमनभञ्जिका परस्परं सुगन्धपुष्पविशेषावतंसनम्। होलाका'''। अशोकोत्तंसिका अशोकपुष्पैः शिरोभूषणरचना। पुष्पावचायिका पुष्पक्रीडा। चूतलतिका चूतपल्लवावतंसनम्। इक्षुभञ्जिका इक्षुखण्डमण्डनम्। कदम्बयुद्धानि कदम्बकुसुमैः प्रहरणभूतैः द्विधा बलं विभज्य युद्धानि। कदम्बग्रहणं कुसुमसुकुमारप्रहरणसूचनार्थम्। यष्टीष्टकादियुद्धानि तु न कार्याणि। यथा पौण्डाणां युद्धं क्वचित् क्वचिद् दृश्यते। तास्ताश्चेति।'''
कन्दर्पचूडामणिकर्त्ता वीरभद्रोऽपि—

कुर्याच्च यक्षरात्रिं सुखरात्रिः सा च कथ्यते लोके।
ऐक्यं कोजागरया कौमुद्यास्तत्र निर्दिष्टम् ॥
सुवसन्तकोऽत्र शास्त्रे भवति वसन्तस्य वासरः प्रथमः।
बिसखादिका सरस्यां बिसभुक्तिः कीर्तिता लोकैः ॥
मदनार्थिताम्रकुसुमैरवतंसे चाम्रभंजिका प्रोक्ता।
अभ्यूषखादिकैवं ज्ञातव्या ग्रन्थतः परतः ॥
अन्योन्यं जलसेकः पानीयक्ष्वेडिकेरिता विबुधैः।
कृत्रिमविवाहलीला कथिता नवपत्रिका तज्ज्ञैः ॥
कृत्रिमपुत्रकलीला स्यादनुयानं तथा तु पाञ्चाल्याः।
शाल्मल्यामधिरुह्य क्रीडैका शाल्मली कथिता ॥
युद्धं कदम्बमुकुलैः प्रविभज्य बलं परस्परं यत्र।
स्यात्तत्कदम्बयुद्धं कुर्यास्तथा लीलाः ॥"

भोज ने जिसे 'शक्रार्चा' के नाम से उल्लिखित किया है, वह संभवतः भरत के नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त जर्जरपूजा है जिसकी चर्चा 'शक्रमह' के नाम से की गई है—

'प्रयोगे प्रस्तुते ह्येवं स्फीते शक्रमहे पुनः।" ना. शा. १।७५ ॥
इसके पूजन का विधान वहीं पर तृतीय अध्याय में दिया गया है।

स्तोकारूढमधुमदा क्षणप्रह्लादा वराकदत्तोल्लापा।
हसित्वा संस्थाप्यते प्रियेण संभरितलज्जिता कापि प्रिया ॥

स्तोकारूढेति। स्तोकमल्पम् आरूढः सञ्जातः मधुना मदिरापानेनेति यावत् मदः विकासो विकारो वा यस्याः तथोक्ता क्षणेन प्रह्लादः प्रहर्षः मधुपानजनित इति भावः

यस्याः तादृशी वराकम् असङ्गतमिति भावः दत्तः कृतः उल्लापः उच्चैरालापः यया तथाभूता निर्लज्जतया आलपन्तीति भावः अतएव सम्भरितं सञ्जनितं लज्जितं लज्जा यस्याः तथाविधा कापि प्रिया कान्ता प्रियेण कान्तेन हसित्वा संस्थाप्यते शय्यातलं नीयते इति शेषः ॥३२०॥

प्रेमप्रकारेषु विप्रियादिभिरप्यविनाशनीयो नित्यो यथा,—

दिट्ठा कुविआणुणआ पिआ सहस्सजणपेल्लणम्मि विसहिआ।
जस्स णिसस्माइ उरे सिरीए पेम्मेण लहुअइओ अप्पाणो ॥ ३२१ ॥

प्रेमप्रकार

प्रेम के प्रकारों में जो अप्रिय कृत्य आदि के द्वारा भी विनष्ट नहीं किया जा सकता वह नित्य है। जैसे—

जिसने कोप करके अनुनीत की गई प्रियतमा को देखा है, हजारों लोगों की ललकारें भी सहीं हैं, जिसके हृदय पर श्री विद्यमान है उसने तो प्रेम से अपनी आत्मा को हल्का कर लिया है ॥ ३२१ ॥

छाया—दृष्टा कुपितानुनया प्रिया सहस्रजनप्रेरणमपि विसोढम्।
यस्य निषण्णयोरसि श्रिया प्रेम्णा लघूकृत आत्मा ॥

दिट्ठा इति ॥ ३२१ ॥

तपश्चरणादिजन्मा नैमित्तिको यथा,—

इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥३२२॥

तपस्या आदि से उत्पन्न होने वाला प्रेम नैमित्तिक है। जैसे—

उस पार्वती ने चित्तकी एकाग्रता का अलम्बन लेकर कठोर नियमों से अपने रूप को सफल बनाने की अभिलाषा की। नहीं तो अर्थात् उस प्रकार की तपस्या के अभाव में उस प्रकार का प्रेम तथा उस प्रकार का पति ये दोनो चीजें कैसे मिल पातीं ॥ ३२२ ॥

इयेषेति। सा पार्वती समाधिं चित्तैकाग्रताम् आस्थाय अवलम्ब्य प्रतिज्ञां कृत्वेति भावः तपोभिः कठोरैः व्रतैरित्यर्थः आत्मनः स्वस्य अवन्ध्यरूपतां सफलरूपतां कर्तुम् इयेष अभिलषितवतीत्यर्थः। अन्यथा तादृशतपश्चरणाभावे इत्यर्थः तथाविधं तादृशं येन अर्द्धाङ्गहरत्वमस्याः जातमिति भावः। प्रेम प्रणयः तादृशः मृत्युञ्जय इति भावः पतिश्च एतत् द्वयं कथं वा केन प्रकारेण वा अवाप्यते लभ्यते ? न केनापि प्रकारेणेत्यर्थः ॥३२२॥

अनिर्द्धारितविशेषः सामान्यो यथा,—

कुविआ च पसणाओ ओणामुहीओ विसमाणीओ।
जह गहिआ तह हिअअं धारेति अणिव्वुअं बाला ॥ ३२३ ॥

जिसमें किसी प्रकार की विशिष्टता का निर्णय न हो वह सामान्य है। जैसे—

क्रुद्ध होने पर भी प्रसन्न तथा रुआँसी मुह वाली होने पर भी मान की हुई रमणियाँ जैसे ही हृदय से लगा ली जाती हैं वैसे ही प्रसन्नता भी धारण कर लेती हैं ॥ ३२३ ॥

कुविआ इति ॥ ३२३ ॥

निर्द्धारितविशेषप्रकारो विशेषवान् यथा,—

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी अहिअं।
जह दूरे वि अभिअगरूअरोसमज्जत्थभणिएइ ॥ ३२४ ॥[1]

जिसकी एक विशिष्ट रीति निर्धारित कर दी गई है वह विशेषवान् प्रेम है। जैसे—

बातें न करती हुई मानवती उतना अधिक हृदय को कष्ट नहीं देती, जितना कि अत्यन्त दूर तक बढ़े हुये भयङ्कर रोष के बीच बातें करना ॥ ३२४ ॥

ण हि इति ॥ ३२४ ॥

इङ्गितादिभिरप्यनवगम्यः प्रच्छन्नो यथा,—

दिअहे दिअहे रूसइ सङ्केअभङ्गवड्ढिआसङ्का।
आवण्डुरोवणमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ५२५ ॥

सङ्केत आदि के द्वारा भी जो जाना नहीं जा सकता वह प्रच्छन्न है। जैसे—

(धान के पक जाने पर) संकेतभङ्ग की आशङ्का बढ़ जाने पर धान की रखवाली करने वाली बाला पक रहे धान के साथ ही साथ पाण्डुवर्ण तथा अवनतमुखी हो दिन प्रतिदिन सूखती जा रही है ॥ ३२५ ॥

छाया—दिवसे दिवसे शुष्यति संकेतकभङ्गवर्धिताशङ्का।
आपाण्डुरावनतमुखी कलमेन समं कलमगोपी ॥

दिअहे इति ॥ ३२५ ॥

संख्यादिभिरवगतः प्रकाशो यथा,—

जइ होसि ण तस्स पिआ ता दिअहं णीसहेहि अङ्गेहिम्।
ण वसूअ पीअपेऊसमओ पाडिव्व किं सुअसि ॥ ३२६ ॥

संख्या आदि से अवगत हो जाने वाला प्रेम 'प्रकाश' है।

यदि तुम उसकी प्रियतमा न होती तो प्रतिदिन शिथिल अङ्गों को लेकर नवप्रसूत पीयूष पीने से मस्त भैंस की पँड़िया सी क्यों सोती ? ॥ ३२६ ॥

छाया—यदि भवसि न तस्य प्रियानुदिवसं निःसहैरङ्गैः।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥ गा. स. १ । ६५ ॥

जइ इति ॥ ३२६ ॥

---

१. छाया—नापि तथा नालपन्ती हृदयं दुनोति मानिन्यधिकम्।
यथा दूरविजृम्भितगुरुकरोषमध्यस्थभणितैः।

कारणोपाधिकः कृत्रिमो यथा,—

अदंसणेण पुत्तअ सुट्ठु वि णेहाणुबन्धगहिआइं।
हत्थउडपाणिआइ वि कालेण गलन्ति पेम्माइं॥ ३२७॥

किसी कारण से सम्पन्न होने वाला प्रेम 'कृत्रिम' है। जैसे—

हे बेटे, हाथ की अञ्जलि में विद्यमान जल जिस प्रकार समय पाकर बह जाता है, उसी प्रकार स्नेह के बन्धन से भलीभांति सम्बद्ध होने पर भी दर्शन के अभाव में प्रेम भी समाप्त हो जाता है॥ ३२७॥

छाया—अदर्शनेन पुत्रक सुष्ठ्वपि स्नेहानुबन्धघटितानि।
हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि॥ गा. स. ३।३६॥

अदंसणेण इति॥ ३२७॥

कारणनिरपेक्षोऽकृत्रिमो यथा,—

जह जह जरापरिणअं होइ पईदु गाओ विरुवं वि।
कुलपालिआए तह तह अहिअअरं वल्लहो होइ॥ ३२८॥

किसी कारण की अपेक्षा के विना भी होने वाला प्रेम 'अकृत्रिम' है। जैसे—

जैसे जैसे पति का शरीर बुढ़ापे से बदलता हुआ विपन्न तथा कुरूप भी होता जाता है, त्यों त्यों कुल मर्यादा का ध्यान रखने वाली सुन्दरी के लिये और भी अधिक प्रिय होता जाता है॥ ३२८॥

यथा यथा जरापरिणतं भवति पत्युर्गात्रं विरूपमपि।
कुलपालितायास्तथा तथा अधिकतरं वल्लभो भवति॥

यथेति। पत्युः स्वामिनः गात्रम् अङ्गं जरया वार्द्धक्येन परिणतं परिगतमित्यर्थः अतएव विरूपमपि गतश्रीकमपि यथा यथा भवति, कुलपालितायाः सद्वंशरक्षितायाः नार्य्या इति शेषः स जरापरिणतः पतिः तथा तथा अधिकतरं वल्लभः प्रियः भवति। कुलाङ्गनानां विशिष्टपरिचर्य्यां विना तादृशस्य पत्युर्विनाशाशङ्कया समधिकसेवापरत्वम-वैधव्यफलकत्वञ्च भवतीति भावः॥ ३२८॥

जन्मान्तरसंस्कारजनितः सहजो यथा,—

आणिअपुलओब्भेओ सवत्तिपणअपरिधूसरम्मि वि गरूए।
पिअदंसणे पवड्ढइ मढट्ठाणे वि रुप्पिणीअ पहरिसो॥ ३२९॥

दूसरे जन्म के संस्कार से उत्पन्न होने वाला (प्रेम) सहज है। जैसे—

सौत के प्रेम से कलुषित होने पर भी प्रवृद्ध प्रेम वाले प्रिय का दर्शन होने पर क्रोध के स्थान पर रुक्मिणी में अत्यन्त हर्ष बढ़ता है तथा उसके शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न हो जाता है॥ ३२९॥

छाया—आनीतपुलकोद्भेदः सपत्नीप्रणयपरिधूसरेऽपि गुरुके।
प्रियदर्शने प्रवर्धते मन्युस्थानेऽपि रुक्मिण्याः प्रहर्षः॥

आणिअ इति॥ ३२९॥

उपचारापेक्षप्रकर्ष आहार्यो यथा,--

घरिणीअ कइअव्वं बहुलं पिअअमे कुणन्तम्मि।
अकिअत्थाइं वि जाआइं भत्ति सिढ़िलिआइं अङ्गाइं॥ ३३० ॥

जिसका प्रकर्ष सामग्री की अपेक्षा करता है, वह आहार्य है। जैसे—

प्रियतम के द्वारा गृहिणी की निश्छल चाटुकारिता अथवा गृहकार्य करने पर, जाया के अङ्ग कृतकार्य न होते हुये शिथिल हो रहे हैं॥ ३३० ॥

घरिण्याः कर्त्तव्यं बहलं प्रियतमे कुर्वति।
अकृतार्थान्यपि जातानि झटिति शिथिलिताग्यङ्गानि॥

घरिण्या इति। घरिण्याः गृहिण्याः कर्त्तव्यं करणीयं गृहकार्य्यं रन्धनादिकमिति भावः वहलम् अधिकं प्रियतमे पत्यौ कुर्वति सम्पादयति सति अकृतार्थानि अकृतकार्य्याणि अपि अङ्गानि घरिण्या इति भावः झटिति शीघ्रं शिथिलितानि शैथिल्यं गतानि जातानि वृत्तानि स्वकर्त्तव्यस्य पत्या सम्पादनात् स्वयं केवलं शरीरव्यापारवैमुख्येन जडत्वावाप्ते-रिति भावः॥ ३३० ॥

यौवनजो यथा,--

तंत्रमुहककुआहोआ जइ जइ थणआ किलेन्ति कुमारीणं।
तह तह लद्धावासी व्व मम्महो हिअअमाविसइ॥ ३३१ ॥

यौवन के कारण उत्पन्न होने वाला प्रेम 'यौवनज' है, जैसे—

ज्यो ज्यो लाल लाल चूचुक वाले कुमारियों के विस्तृत उरोज विकसित होते जाते हैं, त्यों त्यों स्थान पाकर मानो कामदेव उनके हृदय में घुसता चला जाता है॥ ३३१॥

ताम्रमुखकुचाभोगा यथा यथा स्तना क्रीड़न्ते कुमारीणाम्।
तथा तथा लब्धावास इव मन्मथो हृदयमाविशति॥

तात्रगुखेति। कुमारीणां बालानां ताम्रमुखाः रक्तान्ता इत्यर्थः कुचाभोगाः स्तन-विस्ताराः स्तनाः यथा क्रीड़न्ते समुन्मिपन्तीत्यर्थः मन्मथः कामस्तथा तथा लब्धावकाश इव प्राप्तावसर इव हृदयं चित्तम् आसामिति शेषः आविशति अधितिष्ठतीत्यर्थः॥ ३३१ ॥

उपचारानपेक्षो विश्रम्भजो यथा,--

ण वि तह च्छेअरआइं हरन्ति पुणरुत्तराअरमिआइं।
जह जत्थ व तत्थ व जह व तह व सब्भावरमिआइं॥ ३३२॥

किसी प्रकार के उपचार की अपेक्षा न करने वाला प्रेम 'विश्रम्भज' है—

बार बार आचरित अनुराग के रस से संयुक्त पूर्ण रति भी उतना चित्त को आकृष्ट नहीं करती जितना जहाँ तहाँ, जिस-तिस भाव से सम्पन्न की गई विशेष सद्भाव तथा स्नेह से संयुक्त रति करती है॥ ३३२ ॥

छाया—नापि तथा छेकरतानि हरन्ति पुनरुक्तरागरमितानि।
यथा यत्रैव तत्रैव यथा वा तथा वा सद्भावरमितानि॥

ण वि इति ॥ ३३२ ॥

प्रेमपुष्टि

स्व० द०—अब आगे प्रेमपुष्टियों का निरूपण किया जायेगा। इसी परिच्छेद की प्रारम्भिक कारिकाओं में प्रेमपुष्टि के प्रसङ्ग में इन पर विशेष विचार किया गया है। भरत के द्वारा संख्या दे दे कर भी इनकी गणना कराई गई है। इनको ही काम की दश अवस्था के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

प्रथमे त्वभिलापः स्यात् द्वितीये चिन्तनं भवेत्।
अनुस्मृतिस्तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्तनम् ॥
उद्वेगः पञ्चमे प्रोक्तो विलापः षष्ठ उच्यते।
उन्मादः सप्तमे ज्ञेयो भवेद् व्याधिस्तथाष्टमे ॥
नवमे जडता प्रोक्ता दशमे मरणं भवेत्। ना. शा. २४।१६९–१७१ ॥

प्रेमपुष्टिषु चक्षुःप्रीतिर्यथा,—

उत्पत्तिर्देवयजनाद् ब्रह्मवादी नृपः पिता।
सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्त्तिरस्याः स्नेहं करोति मे ॥ ३३३ ॥

प्रेमपुष्टियों में से चक्षुःप्रीति का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ५।१२६ ॥) ॥ ३३३ ॥

उत्पत्तिरिति। अस्याः कुमार्याः देवयजनात् यज्ञक्षेत्रात् उत्पत्तिर्जन्म, जन्मविशुद्धिरिति भावः ब्रह्मवादी ब्रह्मतत्त्वविद् नृपः राजा जनकः पिता तथा सुप्रसन्ना सुष्ठुप्रसादगुणपूर्णेत्यर्थः तथा उज्ज्वला दीप्यमाना मूर्त्तिः अवयवः मे मम स्नेहं प्रीतिं करोति जनयति ॥ ३३३ ॥

मनःसङ्गो यथा,—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात् सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥ ३३४ ॥

मनःसङ्ग का उदाहरण—

आकाश में उड़ती हुई यह देवाङ्गना मेरे शरीर से चित्त को हठात् उसी प्रकार से खींचे लिये जा रही है, जिस प्रकार कटे हुये अग्रभाग वाले मृणाल से सूत्र को राजहंसी खींच ले जाती है ॥ ३३४ ॥

एषीति। एषा सुराङ्गना देवमहिला उर्वशीति यावत् पितुर्जनकस्य नारायणस्येत्यर्थः वामनरूपेण इति भावः मध्यमं पदम् अन्तरीक्षमित्यर्थः उत्पतन्ती उद्गच्छन्ती सती राजहंसी खण्डिताग्रात् छिन्नाग्रभागात् मृणालात् सूत्रमिव तन्तुमिव मे मम शरीरात् मनः चित्तं प्रसभं बलादित्यर्थः कर्षति आकृष्य नयति ॥ ३३४ ॥

सङ्कल्पोत्पत्तिर्यथा,—

तं पुलइआ पि पेच्छइ तं विअ णिज्झाअइ तीअ गेण्हइ गोत्तं।
घइअं तस्सा मअणे अणं पि विचितं अणिसच्चिअहिअए ॥ ३३५ ॥

सङ्कल्पोत्पत्ति का उदाहरण—

उसी रोमाञ्चित अङ्गो वाली को वह देखता है, उसी का ध्यान करता है, उसी का नाम लेता है, दूसरी स्त्री के विषय में सोचने लगने पर भी उसके कामाकुल मन में वही सुन्दरी आ विराजती है ॥ ३३५ ॥

छाया—तां पुलकितां प्रेक्षते तामेव निर्ध्यायति तस्या गृह्णाति गोत्रम् ।
तिष्ठति तस्य समदने अन्यामपि विचिन्तयति सैव हृदये ॥

तं पुलइआ इति ॥ ३३५ ॥

प्रलापो यथा,—

अमअमअगअणसेहररअणीमुहतिलअ चन्द दे च्छिवसु ।
छित्तो ते जेहि पिअअमो ममं पि तेहि विअ करेहि ॥ ३३६ ॥

प्रलाप का उदाहरण—

हे सुधामय, हे आकाशशिरोमणि, हे रात्रि के मुख के तिलक, हे चन्द्र तुमने जिन किरणों से मेरे प्रियतम को छुआ है, उन्हीं से मेरा भी स्पर्श करो ॥ ३३६ ॥

छाया—अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश ।
स्पृष्टो यैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः ॥

अमअ इति ॥ ३३६ ॥

जागरो यथा,—

तह विरज्जागरिओ सिविणे वि स देइ दंसणसुहाइं ।
वाहेण जहा लोअणविलोअणं पि से वि हअं ॥ ३३७ ॥

जागरण का उदाहरण—

तुम्हारी विरह के कारण होने वाला जागरण स्वप्न में भी दर्शन का सुख नहीं लेने देता। आँसुओं के द्वारा इसका नियमतः देखने का विनोद भी समाप्त हो गया ॥ ३३७ ॥

छाया—तव विरहोज्जागरकः स्वप्नेऽपि न ददाति दर्शनसुखानि ।
वाष्पेण यथालोकनविनोदनमप्यस्याः विहतम् ॥

तह इति ॥ ३३७ ॥

कार्श्यं यथा,—

अइ कोवणा वि सासु रूआविआ गअवईए सोह्लाए ।
पाअपड़णोणआए दोसु विगलिएसु बलएसु ॥ ३३८ ॥

कृशता का उदाहरण —

अत्यन्त क्रोधी स्वभाव की सास को भी प्रोषितपतिका पुत्रवधू ने उस समय रुला दिया व कि चरणस्पर्श के लिये झुकने पर उसके दोनों ही हाथों के कंगन गिर गये ॥ ३३८ ॥

छाया—अतिकोपनापि श्वश्रू रोदिता गतपतिकया स्नुषया।
पादपतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्वलययोः॥

आइ कोवणा इति॥ ३३८॥

अरतिः विषयान्तरे यथा,—

असमत्तो वि समप्पइ अपरिगाहिअलहुओ परगुणालावो।
तस्स पिआपड़िवद्धा ण समप्पइ रइसुहासमत्ता त्ति कहा॥ ३३९॥

दूसरे भोग्य पदार्थों में अरति का उदाहरण—

ग्रहण न करने से छोटी हो गयी दूसरों के गुणों के विषय की चर्चा समाप्त न होने पर भी समाप्त कर दी गई जब कि प्रियतमा से सम्बद्ध, रति के सदृश सुख देने वाली कहानी समाप्त हो जाने पर भी समाप्त नहीं होती॥ ३३९॥

छाया—असमाप्तोऽपि समाप्यतेऽपरिगृहीतलघुकः परगुणालापः।
तस्य प्रियाप्रतिबद्धा न समाप्यते रतिसुखासमाप्तापि कथा॥

असमत्तो इति॥ ३३९॥

लज्जाविसर्ज्जनं यथा,—

अगणिआसेसजुआणो बालअ! वोलोणलोअमज्जाआ।
अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छौ तुह किदे॥ ३४०॥

लज्जा के परित्याग का उदाहरण—

अरे बच्चे, सभी युवकों को कुछ न गिनती हुई, समस्त संसार की मर्यादाओं का उल्लंघन करके वह बेचारी केवल तुम्हारे कारण हर दिशा में आँखे फैलाये घूम रही है॥ ३४०॥

छाया—अगणिताशेषयुवका बालक! व्यतिक्रान्तलोकमर्यादा।
अथ सा भ्रमति दिशामुखप्रसारिताक्षी तव कृतेन॥

अगणितशेषयुवा बालक! अपक्रान्तलोकमर्य्यादा।
अथ सा भ्रमति दिङ्मुखप्रसारिताक्षी तव कृते॥

अगणितेति। हे बालक! निर्बोध इति भावः अथेदानीं सा अगणिताः अलक्षिताः अवज्ञाता इत्यर्थः अशेषाः त्वद्व्यतिरिक्ता इत्यर्थः युवानः यथा तथाविधा अन्यान् यूनोऽगणयन्तीत्यर्थः अपक्रान्ता अपगता लोकमर्य्यादा शिष्टाचारः यस्याः तथाभूता शिष्टाचारं पित्रादिमतग्रहणरूपमगणयन्तीति भावः तव कृते तत्प्राप्त्यर्थं दिङ्मुखेषु प्रसारिते अक्षिणी यया तादृशी सती भ्रमति इतस्ततः सञ्चरतीत्यर्थः॥ ३४०॥

व्याधिः यथा,—

असाहणतोरइ च्चिअ परिवड्ढंतुङ्गअगरुअसंलावम्।
मरणविणोएण विणा ण विरमावेउ विरहदुक्खम्॥ ३४१॥

व्याधि का उदाहरण—

अत्यन्त बढ़ रहे महान् संताप से युक्त उस विरहिणी का दुःख मृत्युरूपी उपचार के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से शान्त नहीं किया जा सकता ॥ ३४१ ॥

छाया—अन्यथा न शक्यते एव परिवृद्धतुङ्गगुरुसंलापम् ।
मरणविनोदेन विना न विरमयितुं विरहदुःखम् ॥

असाहण इति ॥ ३४१ ॥

उन्मादो यथा,—

अवलम्बह मा संकरुत सा गाहलङ्घिआ परिब्भमइ ।
अत्थक्कगज्जिअउत्तन्तहित्थहिअआ पहिअजाआ ॥ ३४२ ॥

उन्माद का उदाहरण—

इसे पकड़ लो, कोई शङ्का मत करो, यह कोई ग्रहपीडिता नहीं घूम रही है । यह तो एकाएक 'उठी गरज के कारण उद्भ्रान्त तथा पीडित हृदय वाली किसी वियोगी की पत्नी है' ॥ ३४२ ॥

छाया—अवलम्बध्वं मा शङ्कध्वं नेयं ग्रहलङ्घिता परिभ्रमति ।
आकस्मिक गर्जितोद्भ्रान्तत्रस्तहृदया पथिकजाया ॥

अवलम्बह इति ॥ ३४२ ॥

मूर्च्छा यथा,—

जं मुच्छिआणं असुओ कलम्बगन्धेण तं गुणे पड़िअं ।
इअ रहगज्जिअट्टसद्दो जीएण विणा ण वोलिन्तो ॥ ३४३ ॥

मूर्च्छा का उदाहरण—

चूँकि मूर्च्छित हो गई थी इसीलिये सुना नहीं जा सका, कदम्ब की गन्ध भी उसके लिये गुणशाली ही हुआ, अन्यथा इसबार होने वाला यह घन गर्जन का शब्द उसके प्राणों को विना लिये नहीं जाता ॥ ३४३ ॥

छाया—यन्मूर्च्छिता न च श्रुतः कदम्बगन्धेन तन्गुणे पतितम् ।
इतरथा गर्जितशब्दो जीवेन विना न व्यतिक्रामेत ॥

जं मूच्छिआणं इति ॥ ३४३ ॥

मरणं यथा,—

अज्जं पि ताव एक्कं मा मंधारे हि पिअसहि रुअन्तिं
पहि ऊण तम्मि गए जइ ण मरिस्मं ण रोइस्मं ।
ता इमा विप्रलम्भजन्मानो द्वादशापि प्रेमपुष्टिभूमयः सम्भोगेसु
स्वानुरूपामेव प्रेमप्रकर्षभूमिकामास्कन्दयन्ति ॥ ३४४ ॥

मरण का उदाहरण—

हे प्रियसखि, केवल आज एक दिन के लिये तुम हमें रोने से रोको मत । किन्तु, कल प्रिय के परदेश चले जाने पर, यदि प्राण नहीं निकले, तो फिर नहीं रोकूँगी ॥ ३४४ ॥

छाया—अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदन्तीम्।
कल्ये पुनस्तस्मिन् गते यदि न मरिष्यामि न रोष्यामि ॥ गा. स. ॥ ६।२ ॥

विप्रलम्भ से उत्पन्न होने वाली ये बारहो बातें भी प्रेमपुष्टि का आधार हैं जो संभोग में अपने समान ही प्रेम की प्रकर्षता की भूमिका अदा करती हैं।

अजस्रम् इति ॥ ३४४ ॥

नायकेषु कथाव्यापी नायको यथा,—

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः।
यो रावणशिरश्छेदकार्य्यभारेऽप्यविक्लवः ॥ ३४५ ॥

नायक

नायकों के प्रकरण में जो पूरी कथा में व्याप्त हो वह नायक है। जैसे—

जो राम रावण के सिर काटने रूप कार्य के भार से भी विकल न हुये थे, वही अपने गुरु की—पिता दशरथ की—आज्ञा का उल्लंघन करने में समर्थ न हो सके ॥ ३४५ ॥

स्व० द०—संस्कृत के नाट्यसाहित्य के तीन विशेष तत्त्व नेता, वस्तु तथा रस माने जाते हैं। नेता में केवल नायक ही नहीं अपितु उपनायक, प्रतिनायक आदि भी आते हैं। यहाँ 'नायकेषु' कहने का अभिप्राय इन सबसे हैं।

दशरूपक में नायक का लक्षण इस प्रकार है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः। २।१-२ ॥

गुरोरिति। सः राघवः रामः गुरोः पितुः शासनम् आज्ञाम् अत्येतुं अतिक्रमितुं लङ्घितुमित्यर्थः न शशाक न समर्थोऽभूत्। यः रामः रावणस्य शिरसां दशानामिति भावः छेदकार्य्यमेव भारः गुरुव्यापार इत्यर्थः तस्मिन्नपि अविप्लवः अव्याकुलः अकातर इति यावत् ॥ ३४५ ॥

प्रतिनायको यथा,—

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्च्चितेश्वरम्।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥ ३४६ ॥

प्रतिनायक का उदाहरण—

लोकपालों को भी जीतने वाले, अपने मुखों-शिरों से-शिव की अर्चना करने वाले, कैलास को भी तोल देने वाले अपने शत्रु रावण को राम ने बहुत कुछ माना अर्थात् उसकी प्रशंसा की ॥ ३४६ ॥

स्व० द०—प्रतिनायक का भोज ने कोई लक्षण बिना दिये ही, उदाहरण दे दिया है। दशरूपक में प्रतिनायक का लक्षण यह है—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः ॥ २।९ ॥

सामान्यतः यह नायक का प्रतिद्वन्द्वी होता है।

जेतारमिति। रामः लोकपालानाम् इन्द्रादीनां जेतारं जयिनमित्यर्थः स्वमुखैः निजैः शिरोभिः अर्चितः आराधितः ईश्वरः शिवः येन तं तथा तुलितः हस्ताभ्यां हस्तैर्वा उद्धृतः कैलासः तदाख्यः पर्वतः येन तथाभूतं तम् अरातिं शत्रुं रावणं बहु अमन्यत अधिकं प्रशशंसेत्यर्थः ॥ ३४६ ॥

उपनायको यथा,—

स हत्वा बालिनं वीरं तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ३४७ ॥

उपनायक का उदाहरण—

उन राम ने महापराक्रमी बालि को मार कर उसके बहुत समय से चाहे गये पद पर धातु के स्थान पर आदेश की भांति सुग्रीव को बैठाया ॥ ३४७ ॥

स्व० द०—यहाँ भी भोज ने कोई लक्षण दिये बिना ही उदाहरण दे दिया है। यह भी रामायण की रामकथा में सुग्रीव के सदृश पात्रों को माना गया है।

स इति। स रामः वीरं महाविक्रान्तं बालिनं हत्वा विनाश्य चिरं काङ्क्षिते अभिलषिते तत्पदे तस्य बालिनः पदे राज्ये सिंहासने वा धातोः स्थाने आदेशमिव यथा स्थाधातोः स्थाने तिष्ठ, गमेः स्थाने गच्छेति भावः। सुग्रीवं संन्यवेशयत् संस्थापितवान् ॥ ३४७ ॥

अनुनायको यथा,—

स मारुतसुतानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ३४८ ॥

अनुनायक का उदाहरण—

वह लक्ष्मण हनुमान् के द्वारा लाई गई ओषधि से व्यथाहीन होकर फिर से अपने बाणों से लङ्का की नारियों के विलाप का शिक्षक बना दिया ॥ ३४८ ॥

स इति। स लक्ष्मणः मरुदेव मारुतः वायुः तस्य सुतः हनूमान् तेन आनीता या महौषधिः विशल्यकरणीति भावः तया हृता अपनीता व्यथा रावणशरप्रहारजनितेति भावः यस्य तथाभूतः सन् शरैः पुनः लङ्कास्त्रीणां लङ्कावासिनीनां नारीणां हतनाथानामिति भावः विलापाचार्य्यकं परिदेवनस्य आचार्य्यकर्म शिक्षकतारूपमिति भावः चक्रे पुनरपि राक्षसान् विनाश्य तेषां महिला रोदयामासेत्यर्थः ॥ ३४८ ॥

कथाव्यापिनी नायिका यथा,—

तीए सविसेसदूनिअसवत्तिहिअआइ णिव्वरणन्तसिणेन्तम् ।
पिअगरूइआइ णिमिअं सोहग्गगुणाणं अग्गभूमीअपअम् ॥ ३४९ ॥

सम्पूर्ण कथा में व्याप्त रहने वाली स्त्री को नायिका (कहते हैं)। जैसे—

उस विशेष रूप से सौतों के हृदय को पीडित करने वाली, अपने प्रियतम को पूज्य करने वाली सुन्दरी ने स्नेहसम्पादन करते हुये सौभाग्य के गुणों की अग्रभूमि में अपना पद बना लिया ॥ ३४९ ॥

स्व० द०—नायक की ही भांति नायिका भी स्त्री पात्रों में ऐसी है जो सम्पूर्ण कथा में व्याप्त रहती है। धनञ्जय के भी शब्दों में—

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ॥ दशरू० २।१५ ॥

उक्त गाथा की छाया यह है—

तया सविशेषदूनितसपत्नीहृदयया निर्वर्त्यमानस्नेहम्।
प्रियगुरूकृतया निर्मितं सौभाग्यगुणानामग्रभूम्यां पदम् ॥

तीए इति ॥ ३४९ ॥

प्रतिनायिका यथा,—

जं तिअसकुसुमदामं हरिणा णिम्महिअसुरहिगन्धामोअम्।
अप्पण इअं पि दूमिअ पणइ पि हिअएण रुप्पिणीअ विइण्णम् ॥३५०॥

प्रतिनायिका का उदाहरण—

कृष्ण ने स्वयं लाई हुई पारिजात पुष्प की माला जिससे सुरभित पराग की गन्ध निकल रही थी अन्य प्रेयसियों के हृदय को कष्ट देते हुये रुक्मिणी को प्रदान कर दिया ॥ ३५० ॥

छाया—यत्त्रिदशकुसुमदाम हरिणा निर्गच्छत्सुरभिगन्धामोदम्।
आत्मनानीतमपि दूनितप्रणयिनीहृदयेन रुक्मिण्यै वितीर्णम् ॥

जं तिअ इति ॥ ३५० ॥

उपनायिका यथा,—

देवीस्वीकृतमानसस्य नियतं स्वप्नायमानस्य मे
तद्गोत्रग्रहणादियं सुवदना यायात् कथं न व्यथाम् ?।
इत्थं यन्त्रणया कथं कथमपि क्षीणा निशा जाग्रतो
दाक्षिण्योपहतेन सा प्रियतमा स्वप्नेऽपि नासादिता ॥ ३५१ ॥

उपनायिका का उदाहरण—

निरन्तर महारानी के द्वारा अधिष्ठित चित्त वाले स्वप्न देखने वाले मेरे द्वारा उस नायिका का नाम लेने से कहीं यह सुमुखी दुःखी न हो जाये, इस प्रकार के कष्ट के साथ जैसे तैसे जागते हुये रात बितायी गयी। इस प्रकार दाक्षिण्य के द्वारा मारे गये मेरे द्वारा यह प्रियतमा स्वप्न में भी नहीं पाई जा सकी ॥ ३५१ ॥

देवीति। नियतं सततं देव्या महिष्या स्वीकृतम् आक्रान्तं मानसं यस्य तथाभूतस्य स्वप्नायमानस्य स्वप्नमनुभवत इत्यर्थः मे मम तस्याः प्रियतमायाः गोत्रग्रहणात् नामग्रहणात् इयं सुवदना सुमुखी देवीति भावः कथं व्यथां पीडां दुःखमित्यर्थः न यायात्? न प्राप्नुयात्? अपि तु प्राप्नुयादेवेत्यर्थः। इत्थम् एवम्प्रकारयेत्यर्थः यन्त्रणया उद्वेगेन जाग्रत एव निशा कथं कथमपि अतिक्लेशेनेत्यर्थः क्षीणा क्षयं गता प्रभातेत्यर्थः किन्तु दाक्षिण्येन अनेकासु समरागत्वेन उपहतेन विप्रलब्धेनेति यावत् मयेति शेषः सा प्रियतमा सुवदना स्वप्नेऽपि न आसादिता न प्राप्ता न दृष्टा वा ॥ ३५१ ॥

अनुनायिका यथा,

श्लाघ्यानां गुणिनां धुरि स्थितवति श्रेष्ठान्ववाये त्वयि
प्रत्यस्तव्यसने महीयसि परं प्रीतोऽस्मि जामातारि।
तेनेयं मदयन्तिकाद्य भवतः प्रीत्यै भवत्प्रेयसे
मित्राय प्रथमानुरागघटिताप्यस्माभिरुत्सृज्यते ॥ ३५२ ॥

अनुनायिका का उदाहरण—

प्रशंसनीय गुणियों की धुरी के सदृश स्थित रहने वाले, अत्युच्च कुलशाली, सभी दुर्गुणों से रहित एवं महत्ता से संयुक्त तुम दामाद पर मैं प्रसन्न हूँ। इसीसे आपकी प्रसन्नता के लिए आपके मित्र को पूर्वानुराग से मिला दी जाने पर भी यह मदयन्तिका दी जा रही हैं ॥ ३५२ ॥

श्लाघ्यानामिति। श्लाघ्यानां प्रशंसनीयानां गुणिनां दाक्षिण्यादिगुणशालिनां धुरि अग्रे स्थितवति गण्यमाने इति भावः श्रेष्ठान्ववाये महाकुलीने इत्यर्थः प्रत्यस्तं परित्यक्तं व्यसनं मृगयाद्यष्टादशविधदोष इत्यर्थः येन तथाभूते अतएव महीयसि महानुभावे इत्यर्थः जामातरि त्वयि परम् अत्यर्थं प्रीतोऽस्मि। तेन हेतुना इयं मदयन्तिका प्रथमेन प्रागुत्पन्नेनेत्यर्थः अनुरागेण प्रणयेन घटितापि योजितापि अद्य भवतः तव प्रीत्यै सन्तोषाय भवतः तव प्रेयसे प्रियतमाय मित्राय सुहृदे अस्माभिः उत्सृज्यते प्रदीयते ॥ ३५२ ॥

आभासेषु नायकाभासो यथा,—

कहं ण खिज्जउ मत्तो इमीअ कन्दोट्टदलसरिच्छेहिम्।
अच्छीहिं जो ण दीसइ घणत्थणआवरुद्धपसरेहिम् ॥ ३५३ ॥

आभासों में नायकाभास का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।१५५ ॥)

कथं न खिद्यति मर्त्योऽस्याः कन्दोट्टदलसदृशैः।
अक्षिभिर्यो न दृश्यते घनस्तनकावरुद्धप्रसरैः ॥

कहमिति। यः अस्याः नायिकायाः कन्दोट्टदलसदृशैः पद्मपत्रनिभैरित्यर्थः घनाभ्यां निविडाभ्यां स्तनाभ्याम् अवरुद्धः प्रतिहतः उत्तुङ्गत्वादिति भावः प्रसरः विकास इति भावः येषां तैः अक्षिभिः नयनैः न दृश्यते नावलोक्यते, अक्षिभिरिति बहुवचनप्रयोगेन पुनः पुनर्दर्शनं प्रतीयते। स मर्त्यः मानवः कथं न खिद्यति न खेदं प्राप्नोति ? स्वस्य दुर्भाग्यत्वादिति भावः ॥ ३५३ ॥

नायिकाभासो यथा,—

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥ ३५४ ॥

नायिकाभास का उदाहरण—

सीता का परित्याग करके राजा राम ने केवल अकेली समुद्रमेखला पृथ्वी का ही भोग किया ॥ ३५४ ॥

कृतेति। कृतः सीतायाः परित्यागो येन तथोक्तः सः पृथिवीपालो भूपतिः रामः केवलाम् एकां रत्नाकरमेखलां समुद्ररशनाम् आसमुद्रामिति यावत् पृथिवीमेव न तु अन्यां कान्तामित्येवकारार्थः। बुभुजे बभारेत्यर्थः॥ ३५४॥

उभयाभासो यथा,—

अवऊहिअपुव्वदिसे समअं जोण्हाए सेविअपओसं मुहे।
माइ ण भिज्जउ अरणी वरदिसाइ तपच्छिअम्मि मिअङ्के॥ ३५५॥

उभयाभास का उदाहरण—

पूर्व दिशा का आलिङ्गन करके चन्द्रिका के साथ प्रदोष के मुख का सेवन कर यह चन्द्रमा एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर चल पड़ा है, फिर भी, हे माँ, रात समाप्त होने को ही नहीं आ रही है॥ ३५५॥

छाया—अवगूहितपूर्वदिशे समकं ज्योत्स्नया सेवितप्रदोषमुखे।
मातर्न क्षीयते रजनी अपरदिशाभिमुखप्रस्थिते मृगाङ्के॥

अवऊहिअ इति॥ ३५६॥

तिर्य्यगाभासो यथा,—

ओरन्तपङ्कअमुहिं वम्मणडिअं व सलिलसअणणिसण्णं।
अल्लिअइ तीरणलिणिं वाआइ गमेइ सहचरिं वक्काओ॥ ३५६॥

तिर्यगाभास का उदाहरण—

लाल लाल कमल रूपी मुख वाली, कामदेव के द्वारा नचा सी दी गई, जल की शय्या पर सोई हुई तट की कमलिनी का तो चक्रवाक आलिङ्गन करता है और अपनी जीवनसंगिनी चक्रवाकी को आवाज देकर खिसकाये दे रहा है॥ ३५६॥

छाया—उपरक्तपंकजमुखीं मन्मथनटितामिव सलिलशयननिषण्णाम्।
आलिंगति तीरनलिनीं वाचा गमयति सहचरीं चक्रवाकः॥

ओरन्त इति॥ ३५६॥

नायकेषु सर्वगुणसम्पद्योगादुत्तमः, स यथा,—

रामोऽयं जगतीह विक्रमगुणैर्यातः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानाति तम्।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः॥ ३५७॥

नायकों में सभीगुणसम्पत्तियों के योग से वह (नायक) उत्तम है, जैसे—

वह राम हैं जो इस पृथ्वी पर अपने पौरुष तथा गुणों से परम प्रसिद्ध हैं। यह तो हम लोगों का दुर्भाग्य ही है कि हमारे देव-महाराज-आप उन उत्कृष्ट गुणवाले को नहीं जानते हैं जिनका यशोगान यह पवन वैतालिक की भांति एक ही बाण के प्रहार से बहुत से तालवृक्षों में बन गये छिद्रों से निकलने वाले सप्त स्वरों से करता है॥ ३५७॥

स्व० द०—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में पुरुषों तथा स्त्रियों की प्रकृति को उत्तम मध्यम तथा अधम माना है। उनके अनुसार जो पुरुष की उत्तम प्रकृति के लक्षण हैं वे ही भोज की 'सर्वगुण-सम्पत्' है। भरत के अनुसार—

जितेन्द्रिया ज्ञानवती नानाशिल्पविचक्षणा।
दक्षिणाढ्य (भोग) दक्षा दीनानां परिसान्त्विनी॥
नानाशास्त्रार्थसम्पन्ना गाम्भीर्यौदार्यशालिनी।
धैर्यत्यागगुणोपेता ज्ञेया प्रकृतिरुत्तमा॥ ३४।३-४॥

राम इति। अयं रामः इहास्मिन् जगति विक्रमगुणैः वीर्य्यातिशयैरिति भावः परां महतीं प्रसिद्धिं यातः गतः प्राप्त इत्यर्थः। परं केवलं देवः महाराजः रावण इति भावः अस्माकं राक्षसानामिति भावः भाग्यस्य दैवस्य विपर्य्ययात् वैपरीत्यात् प्रातिकूल्यादिति यावत् यदि तं रामं न जानाति न गणयतीति भावः। एष मरुत् पवनः वन्दीव वैतालिक इव एकस्य वाणस्य शरस्य आहत्या प्रहारेण श्रेणीभूतानां विशालानां महतां तालानां तालवृक्षाणां ये विवराः शरवेधजनितानि रन्ध्राणि इत्यर्थः तैः उद्गीर्णाः उच्चैरुच्चरिताः तैः सप्तभिः स्वरैः निषादादिभिः "निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः" ॥ इत्यमरः। यस्य रामस्य यशांसि गायति॥ ३५७॥

पादोनगुणसम्पद्योगान्मध्यमो यथा,—

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितभुवामक्षौहिणीनां फलं?
किं द्रोणेन? किमङ्गराजविशिखैः? एवं यदि क्लाम्यसि।
जीवद्भ्रातृशतस्य मे भुजबलच्छायां सुखामाश्रिता
त्वं दुर्य्योधनकेसरीन्द्रगृहिणी शङ्कास्पदं किं तव?॥ ३५८॥

(उत्तम की अपेक्षा) एक चौथाई कम गुणराशि के योग से मध्यम होता है। जैसे—

(हे प्रिये भानुमति,) समस्त दिशाओं में व्याप्त, धरती को कँपाये दे रही मेरी अक्षौहिणी सेनाओं का क्या फल? द्रोण से भी क्या प्रयोजन? और अङ्गराज कर्ण के बाणो से भी क्या लाभ? यदि तुम इसी प्रकार कातरता का अनुभव करती रहीं। मेरे जिन्दा जीमान सौ सौ भाइयोंकी भुजाओं की सुखदायिनी छाया में रहने वाली दुर्योधन नामक सिंहराज की पत्नी हो, तुम्हारे लिये भयप्रद कौन सी वस्तु है॥ ३५८॥

स्व० द०—भरत के अनुसार मध्यमा प्रकृति का लक्षण यह है—

लोकोपचारचतुरा शिल्पशास्त्रविशारदा।
विज्ञानमाधुर्ययुता मध्यमा प्रकृतिः स्मृता॥ ना. शा. ३४।५॥

भोज के द्वारा कहा गया 'सर्वगुणसम्पत्', 'पादोनगुणसम्पत्' तथा आगे कथनीय 'अर्धगुण-सम्पत्' का अर्थ स्पष्ट नहीं है। भरत इस विषय में अधिक स्पष्ट हैं।

किमिति। हे प्रिये! इत्यध्याहार्य्यम्। यदि त्वम् एवं क्लाम्यसि कातरतामवलम्बसे तदा व्याप्तदिशां दिग्व्यापिनीनामित्यर्थः प्रकम्पिता भूः पृथिवी याभिः तथाभूतानां नः अस्माकम् अक्षौहिणीनां २१८७ एतत्संख्यका रथाः, रथसमसंख्यकाः हस्तिनः, ६५६१० एत-त्संख्यकाः अश्वाः, १०९३५० एतत्संख्यकाः पदातयः एतच्चतुर्विधबलयुक्ताः सेना अक्षौहि-णीति ख्यायते तादृशीनाम् एकादशानामिति शेषः फलं प्रयोजनं किम्? द्रोणेन

मूर्तिमता धनुर्वेदेनेति भावः किम् ? तथा अङ्गराजस्य कर्णस्य विशिखैः शरैः किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। त्वं जीवद् भ्रातॄणां शतं यस्य तथोक्तस्य मे मम दुर्योधनस्येति भावः सुखयतीति सुखा तां सुखकरोमित्यर्थः भुजबलमेव छाया अनातपमित्यर्थः ताम् आश्रिता अधिष्ठिता दुर्य्योधन एव केशरीन्द्रः सिंहराजः तस्य गृहिणी महिषी, तत्र शङ्कास्पदं भयस्थानं किम् ? न किमपीत्यर्थः दुःखप्रदर्शनेन व्यथितां भानुमतीं नाम स्वां महिषीं प्रति दुर्य्योधनस्योक्तिः ॥ ३५८ ॥

अर्द्धगुणसम्पद्योगात् कनिष्ठो यथा,—

एकस्मिन् शयने मया मयसुतामालिङ्ग्य निद्राशया-
मुन्निद्रं शयितेन मच्चरणयोः संवाहनव्यापृता।
पादाग्रेण तिलोत्तमा स्तनतटे सस्नेहमापीडिता
हर्षादेव समर्पितानि पुलकान्यद्यापि नो मुञ्चति ।। ३५९ ।।

आधी ही गुणसम्पत्ति के योग से कनिष्ठ होता है। जैसे—

एक ही सेज पर नींद से अलसाई हुई मयपुत्री मन्दोदरी का आलिङ्गन करके जागते हुये ही लेटे लेटे मेरे चरणों को दाबने में लगी हुई तिलोत्तमा के अपने चरणों के अग्रभाग से मैंने स्तनों को प्रेमपूर्वक दबा दिया था। वह उस समय अतीव प्रसन्नता के कारण निकले हुये रोमाञ्च को आज भी नहीं छोड़ पा रही है ॥ ३५९ ॥

स्व० द०—भरत ने अधम प्रकृति को गुणो से तो कम किन्तु अवगुणों से युक्त अधिक माना है। उनके शब्दों में—

रूक्षा वचसि दुःशीलाः कुसत्वाः शस्यबुद्धिकाः।
क्रोधना घातकाश्चैव मित्रघ्नाश्चित्रघातकाः ॥

वृथारम्भप्रसक्ताश्च यत्किञ्चिद्वादिनोऽल्पकाः।
पिशुना उद्धता वाक्यैरकृतज्ञास्तथालसाः ॥

मान्यामानविशेषज्ञा स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः।
सूचकाः पापकर्मणिः परद्रव्यापहारिणः ॥
एभिर्दोषैस्तु सम्बद्धा भवन्ति ह्यधमा नराः ॥ ना. शा. ३४।६९ ॥

एकस्मिन्निति। एकस्मिन् न तु द्वितीयस्मिन्निति भावः शयने शय्यायां निद्राशयां निद्रायां सत्यां शेते इति तथोक्तां निद्रितामित्यर्थः मयसुतां मयदानवकन्यां मन्दोदरीमित्यर्थः आलिङ्ग्य आश्लिष्य उन्निद्रं निर्निद्रमित्यर्थः यथा तथा शयितेन मया मम चरणयोः पादयोः संवाहने संसेवने व्यापृता व्यासक्ता तिलोत्तमा तदाख्या सुरसुन्दरीति यावत बन्दीभूतेति भावः पादाग्रेण मदीयेन चरणाग्रेण स्तनतटे सस्नेहं सप्रणयं यथा तथा आपीडिता आहता सती हर्षादेव न तु विरागादिव समर्पितानि संक्रमितानि जनितानीति यावत् स्तनतटे इति भावः पुलकानि रोमाञ्चान् अद्यापि नो मुञ्चति न त्यजति। निद्राशयामित्यत्र निद्रालसामिति पाठः समीचीनः। तत्र निद्रया अलसा विवशेत्यर्थः ताम् ॥ ३५९ ॥

सत्त्वप्रधानः सात्त्विको यथा,—

शक्त्या वक्षसि मग्नया सह मया मूढे प्लवङ्गाधिपे
निद्राणेषु च विद्रवत्सु कपिषु प्राप्तावकाशे द्विषि ।
मा भैष्टेति निरुन्धतः कपिभयं तस्योद्भटभ्रूस्थिते
र्मर्मच्छेदविसंष्ठुलाक्षरजडा वाचस्त्वया न श्रुताः ।। ३६० ।।

सत्त्वप्रधान सात्त्विक है। जैसे—

वक्षः स्थल में समा गई शक्ति से युक्त मेरे ही साथ वानरराज सुग्रीव के भी मूर्च्छित हो जाने पर, जब निद्रालस वानर भाग गये और शत्रु रावण को अवकाश मिल गया उस समय विकट भ्रुकुटियों को करके वानरों के भय को रोकते हुये उस (विभीषण की) 'डरो मत' इस प्रकार की मेरे कोमल अङ्गों के घावों को देख कर विकृतस्वर से उच्चरित किये गये अस्पष्ट वाणी को आपने नहीं सुना था ॥ ३६० ॥

शक्त्येति। वक्षसि मग्नया गाढं निपतितयेत्यर्थः शक्त्या तदाख्यास्त्रविशेषेणेत्यर्थः शत्रुप्रयुक्तयेति भावः हेतुभूतया मया सह प्लवङ्गाधिपे वानरराजे सुग्रीवे मूढे मयि सुग्रीवे च मोहं गते इत्यर्थः कपिषु वानरेषु निद्राणेषु निद्रालसेष्विति यावत् रात्रियुद्धे इति भावः अतएव विद्रवत्सु पलायमानेषु सत्सु, द्विषि शत्रौ रावणे इति भावः प्राप्तः लब्धः अवकाशः अवसरः युद्धभङ्गरूप इति भावः येन तथाभूते सति मा भैष्ट न भयं कुरुत इति वाक्येनेति शेषः कपिभयं वानराणां भीतिं निरुन्धतः अपनयतः उद्भटा उत्कटा भ्रूस्थितिः भ्रूभङ्गः यस्य तथाभूतस्य तस्य विभीषणस्येति भावः मर्मणां सन्धिस्थानविशेषाणां छेदेन वेधेनेव मन्मर्माघातदर्शनादिति भावः विसंष्ठुलानि विकृतस्वरत्वेन उच्चारितानीति भावः अक्षराणि वर्णाः तैः जडाः अनतिस्पष्टा इत्यर्थः वाचः वाक्यानि न श्रुताः, मया तु अन्तः संज्ञावलात् श्रुताः त्वया तु मद्व्यथाभिभूतेन अन्तःसंज्ञाविरहितेनेव स्थितेन न आकर्णिता इति निष्कर्षः। रामं प्रति हृतव्यथस्य लक्ष्मणस्य उक्तिः ॥ ३६० ॥

रजःप्रधानो राजसो यथा,—

सामन्तमौलिमणिरञ्जितशासनाङ्क-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम् ।
अस्याः सखे ! चरणयोरधिगम्य सम्यग्
आज्ञाकरत्वमहमद्य यथा कृतार्थः ।। ३६१ ।।

रजोगुण प्रधान राजस है, जैसे—

हे मित्र, अधीश्वरों के शिर पर स्थित मणियों से सुशोभित आदेश वाले पृथ्वी के एकच्छत्र राज्य को भी प्राप्त करके मैं उतना कृतार्थ अपने को नहीं मानता जितना कि इस सुन्दरी के दोनों चरणों का किङ्कर बन कर मानता हूँ ॥ ३६१ ॥

सामन्तेति। हे सखे! मित्र ! अहम् अद्य अस्याः कान्तायाः चरणयोः सम्यक् आज्ञाकरत्वं दासत्वम् अधिगम्य प्राप्य यथा कृतार्थः अस्मीति शेषः सामन्तानाम्

अधीश्वराणां 'सामन्तः स्यादधीश्वर' इत्यमरः अधीननृपाणामिति भावः मौलिषु किरीटेषु ये मणयः रत्नानि तैः रञ्जितम् अलंकृतम् शासनम् आज्ञा अङ्कः चिह्नं यस्य तथाभूतम् एकातपत्रम् एकच्छत्रम् एकाधिपत्यमिति भावः अवनेः पृथिव्याः प्रभुत्वं प्राप्य तथा न कृतार्थ इति शेषः ॥ ३६१ ॥

तमःप्रधानस्तामसो यथा,—

तपो वा शस्त्रं वा व्यपदिशति यः कश्चिदिह वः
स दर्पादुद्दामद्विषमसहमानः कलयतु ।
अरामां निःसीरध्वजदशरथीकृत्य वसुधा-
मतृप्तस्तत्कुल्यानपि परशुरामः शमयति ॥ ३६२ ॥

तमोगुण प्रधान तामस है, जैसे—

तुम लोगों में से जो कोई भी यहाँ तपस्या अथवा शस्त्र की बातें करता है, वह अहङ्कार के कारण उत्कट मुझ शत्रु को असहिष्णु भले कहे, किन्तु यह परशुराम तो इस पृथ्वी को रामरहित तथा जनक और दशरथ से विहीन करके भी तृप्त न होने पर उनके कुल के लोगों को भी अब शान्त ही कर देगा ॥ ३६२ ॥

तप इति । इहास्मिन् सदसीति शेषः वः युष्माकं मध्ये यः कश्चित् शतानन्दो वा जनको वेति भावः तपो वा तपश्चरणजनितं तेजो वा इत्यर्थः शस्त्रं वा शस्त्रग्रहण-सामर्थ्यं वा इत्यर्थः व्यपदिशति प्रकटयतीत्यर्थः । स दर्पात् अहङ्कारात् उद्दामम् उत्कटं अप्रतिविधेयमिति भावः द्विषं शत्रुं मामिति शेषः असहमानः अक्षममाणः कलयतु व्यपदिशतु इत्यर्थः । किन्तु परशुरामः अरामां रामरहिताम् अग्रे निहतरामामिति यावत् वसुधां पृथ्वीं सीरध्वजः जनकः दशरथः सीरध्वजदशरथौ न विद्येते सीरध्वज-दशरथौ यस्यां सा निःसीरध्वजदशरथा न निःसीरध्वजदशरथाम् अनिःसीरध्वजदशरथां निःसीरध्वजदशरथां कृत्वेति निःसीरध्वजदशरथीकृत्य अतृप्तः तथापि तृप्तिं न प्राप्तः सन् तत्कुल्यानपि तयोः सीरध्वजदशरथयोः कुलजातानपि शमयति नाशयति ॥ ३६२ ॥

अनेकजानिः साधारणो यथा,—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसुः
द्यूतैः रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥ ३६३ ॥

अनेक पत्नियों वाला साधारण है, जैसे—

कुन्तलेश्वर की पुत्री ऋतुस्नान करके विद्यमान है, किन्तु अङ्गराज की बहन के लिये निश्चित किया गया दिन भी आज ही है, कमला नाम की रानी ने आज की यह रात जुये में जीत ली है और आज ही महारानी जी को भी प्रसन्न करना है। इस प्रकार जान कर अन्तःपुर की सुन्दरियों के विषय में मेरे द्वारा सूचित किये जाने पर महाराज जी अनिश्चय के कारण किंकर्त्तव्य विमूढ होने से दो तीन घड़ी रुके रहे ॥ ३६३ ॥

अनेकजानिरिति। न एका अनेकाः बहव इत्यर्थः जायाः कान्ताः यस्य सः अनेकजानिः बहुभार्य्य इत्यर्थः।

स्नातेति। कुन्तलेश्वरस्य कुन्तलाधिपतेः सुता दुहिता स्नाता ऋताविति भावः कृतस्नाना तिष्ठति, तस्यां गमनं शास्त्रीयत्वात् अवश्यकर्त्तव्यमन्यथा प्रत्यवायः स्यादिति भावः। अद्य अङ्गराजस्य स्वसुः भगिन्याः वारः निर्दिष्टं दिनमित्यर्थः सोऽपि नातिक्रमणीय इति भावः। कमलया तदाख्यया कान्तया द्यूतैः पाशकादिक्रीडाविशेषैः इयं रात्रिः जिता यद्यहं पराजीयेय, तदा इमां रात्रिं त्वद्गृहे नयामीति पणत्वेन निरूपिता रात्रिः हारिता तदसौ पणो विजेत्र्यै अवश्यं देय इति भावः। अद्य देवी प्रधाना महिषी प्रसाद्या सान्त्वनीया। सा हि केनचित् व्यपदेशेन कलुषिता अवश्यं प्रसादनीया, अन्यथा भृशमनर्थपातः स्यादिति भावः। मया अवरोधकिङ्करेणेति भावः अन्तःपुरसुन्दरीः प्रति उद्दिश्येति भावः इति विज्ञापिते निवेदिते सति देवेन महाराजेन दक्षिणनायकभूतेनेति भावः अप्रतिपत्त्या इति कर्त्तव्यानवधारणेनेत्यर्थः मूढं जडमित्यर्थः मनः यस्य तथाभूतेन सता द्वित्राः नाडिकाः अत्यन्तसंयोगे द्वितीया स्थितम् अवस्थानं कृतमित्यर्थः॥ ३६३॥

अनन्यजानिरसाधारणो यथा,—

आ विवाहसमयाद् गृहे वने शैशवे तदनु यौवने पुनः।
स्वापहेतुरनुपासितोऽन्यया रामबाहुरुपधानमेष ते॥ ३६४॥

जिसके एक के अतिरिक्त कोई दूसरी पत्नी नहीं है, वह असाधारण है, जैसे—

विवाह के समय से लेकर घर में, वन में, बाल्यकाल में और उसके बाद युवावस्था में सोने के लिये जिसे कोई स्त्री नहीं पा सकी, वही यह राम की भुजा तुम्हारे लिये तकिया बनी है॥ ३६४॥

आ विवाहेति। आ विवाहसमयात् विवाहसमयादारभ्येत्यर्थः गृहे वने शैशवे कौमारे तदनु तदनन्तरं पुनः यौवने तारुण्ये स्वापस्य शयनस्य हेतुः शिरोऽवलम्बनाश्रय इत्यर्थः अन्यया अपरया कान्तया अनुपासितः अनधिगतः एषः रामस्य बाहुः ते तव उपधानं शिरोधानाश्रय इत्यर्थः॥ ३६४॥

अहङ्कारप्रधानो धीरोद्धतो यथा,—

चक्रं वा मधुहा कृतान्तगृहिणां दत्ताग्रपञ्चाङ्गुलं
वज्रं भूधरपक्षशोणितसुरापानोन्मदं वा वृषा।
शूलञ्चासुररक्तविन्दुनिचितं गृह्णातु शूलायुधो
धृष्टद्युम्नमहं निहन्मि समरे कश्चित् परित्रायताम्॥ ३६५॥

अहङ्कार प्रधान धीरोद्धत होता है, जैसे—

चाहे कृष्ण ही अपने उस चक्र को उठावें जिसने यमराज के घर गये लोगों को पहले ही पञ्चाङ्गुलि दी है, अथवा इन्द्र पर्वतों के पंख अथवा पक्षवालों के रक्त रूपी सुरा का पान करने से पागल वज्र को उठालें, दैत्यों के रक्त की विन्दुओं से सुशोभित अपने त्रिशूल को शिव भी क्यों न संभाल लें, मैं युद्ध में धृष्टद्युम्न को समाप्त कर रहा हूँ, कोई बचाये (तो भला)॥ ३६५॥

स्व० द०—भरत मुनि ने देवताओं को धीरोद्धत माना हैं। उनके ही शब्दों में—"देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः" ना. शा. ॥ ३४।१९ ॥

किन्तु धनञ्जय द्वारा दिया गया लक्षण अधिक स्पष्ट और व्यापक है—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ॥ दशरू २।५-६॥

चक्रमिति। मधुहा मधुसूदनः कृष्णः कृतान्तगृहिणां यमसदनगामिना 'कृतान्तो यमदैवग्रो'रित्यमरः। अहन्तु अमरत्वात् न तथेति भावः दत्तम् अग्रे यमगृहगमनात प्रागिति भावः पञ्चानां अङ्गुलीनां समाहारः पञ्चाङ्गुलं तत् येन तथोक्तं चक्रास्त्रेण कण्ठस्य पञ्चाङ्गुलमात्रस्येव दारणादिति भावः। चक्रं सुदर्शनं वा, वृषा इन्द्रः 'वासवो वृत्रहा वृषे'त्यमरः। भूधराणां पर्वतानां पक्षाः तेषां छिन्नानामिति भावः शोणितान्येव सुराः मदिराः तासां पानेन आस्वादेन उन्मदम् उत्कटगर्वमिति यावत् वज्रं वा तथा शूलायुधः शम्भुः असुराणां रक्तविन्दुभिः निचितं व्याप्तं शूलं गृह्णातु च। अहं धृष्टद्युम्नं समरे निहन्मि नाशयामि, कश्चित् उक्तानां वीराणां मध्ये इति शेषः परित्रायतां रक्षतु ॥ ३६५ ॥

रत्युपचारप्रधानः धीरललितो यथा,—

आधातुं विनयं निरागसि नरे कुप्यन्तु नामेश्वरा-
स्तेन स्वाशयशुद्धिरेव सुकरा प्रायः प्रभूणां पुरः।
मिथ्यामानिनि ! मन्यसे यदि तदा नित्यं मनोवर्त्तिनी
ध्याता तामरसाक्षि ! चित्तफलके का वा त्वदन्या मया ? ॥३६६॥

प्रेम के कामों को प्रधानता देने वाला धीरललित है, जैसे—

विनम्रता का आधान करने के लिये स्वामी लोग निरपराध लोगों पर भले ही क्रुद्ध हों, और उससे मालिकों के सामने भाव की शुद्धि अधिक आसान भी होती है। हे झूठा क्रोध करने वाली रक्तकमलनयने, यदि तुम अपने को सदा मेरे मन में सन्निविष्ट समझती हो तब भला तुम को छोड़ कर अन्य किसी नायिका का ध्यान अपने चित्तफलक पर कैसे कर सकता हूँ ॥ ३६६ ॥

स्व०द०—भरत धीरललित नायकत्व किसी राजा में ही मानते हैं। "स्युर्धीरललिता नृपाः। "ना. शा. ३४।१९॥, किन्तु दशरूपककार के अनुसार उसका लक्षण यह है—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः" २।३ ॥

आधातुमिति। ईश्वराः प्रभवः विनयं शिष्टाचारम् आधातुं शिक्षयितुं निरागसि निरपराधे नरे मानवे कुप्यन्तु नाम प्रकाश्ये, प्रभूणां कोपप्रकाशे निरपराधोऽपि नरः शिष्टाचारः स्यादिति भावः तेन हेतुना विनयाधानेनेत्यर्थः प्रभूणां पुरः अग्रतः प्रायः बाहुल्येन स्वस्य आत्मनः आशयशुद्धिः हृदयभावशोधनं सुकरा अनायासेन क्रियते इत्यर्थः। कदापि मम अविनयिता माभूदिति कोपप्रकाशकारणं मत्प्रभुत्वात् तवेति भावः। हे मिथ्यामानिनि ! अलीककोपने ! तामरसाक्षि ! रक्तोत्पलनयने ! रक्तोत्पलं तामरसमित्यमरः कोपात् नयनस्य रक्तत्वमिति भावः यदि त्वं नित्यं सततं मनोवर्त्तिनी हृदयस्थिता ममेति शेषः इति मन्यसे आत्मानमिति शेषः तदा का वा त्वदन्या त्वत्तः अपरा कान्तेति शेषः चित्तमेव फलकं काष्ठनिर्मिताधारविशेषः तत्र ध्याता चिन्तिता ? मयेति शेषः। यदि अहं कामपि

चिन्तयामि तदा नित्यं मनोवर्त्तिन्या त्वया अवश्यमेव ज्ञातव्यम्। तस्मात् वृथा मानो मयि न कर्त्तव्य इति निष्कर्षः ॥ ३६६ ॥

उपशमप्रधानो धीरप्रशान्तो यथा,—

कुलममलिनं भद्रा मूर्त्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम्।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा मदस्य च हेतवो
व्रजति पुरुषो यैरुन्मादं त एव नवाङ्कुशाः ॥ ३६७ ॥

शान्ति प्रधान नायक धीरप्रशान्त हैं, जैसे—

निष्कलंक कुल, मङ्गलमयी देह, वेद शास्त्रों का अनुशीलन करने वाली बुद्धि, सबल भुजायें विस्तृत धनसम्पत्ति, अक्षत स्वामित्व, ये सभी भाव स्वभाव से ही सुन्दर हैं और मद के कारण भी हैं। वस्तुतः जिन गुणों के कारण पुरुष पागल हो जाता है, वही नवीन अङ्कुश भी होते हैं ॥ ३६७ ॥

स्व० द०—भरत ब्राह्मण तथा वणिक् पुरुषों को धीरप्रशान्त नायक मानते हैं। उनके शब्दों में—

"धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा।" ना. शा. ३४।२० ॥

तथा दशरूपककार के अनुसार भी—

"सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।" २।४ ॥

कुलमिति। कुलं वंशः अमलिनं निर्मलं निष्कलङ्कमिति यावत् मूर्त्तिः अवयवः भद्रा शोभना। मतिः बुद्धिः श्रुत्या शास्त्रानुशीलनेन इति भावः शालते शोभते इति तथोक्ता। भुजबलं बाहुबलं वीर्य्यमित्यर्थः अलम् अत्यर्थम्। लक्ष्मीः श्रीः समृद्धिरिति भावः स्फीता प्रवृद्धा। प्रभुत्वं प्रभावः अखण्डितम् अव्याहतम्। एते पूर्वोक्ताः भावाः कुलममलिनमित्यादयः अवस्था इति यावत् प्रकृतिसुभगाः स्वभावेन रमणीयाः मदस्य मत्ततायाः हेतवः कारणानि च। यैः प्रागुक्तैः भावैः पुरुषः उन्मादम् अविनयमिति यावत् व्रजति प्राप्नोति ते एव प्रागुक्ताः भावाः नवाः नूतनाः तीक्ष्णा इति भावः अङ्कुशाः शासनहेतवः अस्त्रविशेषा इति यावत् यद्यपि अङ्कुशशब्दः केवलं हस्तिशासनास्त्रतयोच्यते तथाप्यत्र क्वचिद् विशेषस्य सामान्यपरत्वं सामान्यस्यापि विशेषपरत्वमिति न्यायात् सामान्यपरत्वमस्येति बोद्धव्यम्। शमपराणां साधूनामेते भावाः विनयं रचन्ति असाधूनान्तु अविनयमेव जनयन्तीति भावः ॥ ३६७ ॥

विश्रब्धोदारकर्मा धीरोदात्तः, स यथा,—

कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहुः पश्यन् शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥ ३६८ ॥

विश्वास युक्त तथा उदार कर्म करने वाला धीरोदात्त नायक है, जैसे—

हस्तिदन्त की छटा को भी चुरा लेने वाले जानकी के कपोल पर कामावेश के कारण

प्रफुल्लित, तथा अत्युग्र रूप से रोमाञ्चित मुख कमल बार-बार देख रहे थे, इस बीच में रघुपतिराम ने खर आदि राक्षसों की सेना का कोलाहल सुनकर अपनी जटाओं की ग्रन्थि को कसना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३६८ ॥

स्व० द०—भरत मुनि सेनापति तथा अमात्य को धीरोदात्त मानते हैं—
"सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ।" ,३४।२० ॥

तथा धनञ्जय के अनुसार—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ॥ दश. रू. २।४।५ ॥

कपोल इति । रघूणां परिवृढः पतिः रामः करिकलभस्य गजशावकस्य यद्यपि कलभशब्देन करिशावक उच्यते 'कलभः करिशावक' इत्यमरोक्तेः तथापि कर्णकुण्डलादिवत् अत्र प्रयोगो बोध्यः । दन्तः करिकलभदन्तः तस्य द्युतिं कान्तिं मुष्णाति हरतीति तथोक्तः तस्मिन् विशदोज्ज्वले इति भावः जानक्याः सीतायाः कपोले गण्डे प्रतिफलितमिति शेषः स्मरेण कामावेशेनेति भावः स्मेरं विकस्वरं गण्डे कपोले उड्डम्बराः उद्गताः पुलकाः रोमाञ्चाः सत्त्वोदयजनिता इति भावः यस्य तथोक्तं वक्त्रं वदनमेव कमलं पद्मं स्वमिति शेषः मुहुः पुनः पुनः पश्यन् अवलोकयन् तथा रजनिचराणां राक्षसानां खरादीनां याः सेनाः बलानि तासां कलकलः कोलाहलः तं शृण्वन् आकर्णयन् जटाजूटस्य जटासमूहस्य ग्रन्थिं बन्धनं दृढयति दृढीकरोति । शृङ्गारवीरयोर्मध्यवर्त्ती राम इति भावः ॥ ३६८ ॥

कैतवप्रधानः शठो यथा,—

दृष्ट्वैकासनसङ्गते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरात्
एकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम्
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति ।। ३६९ ।।

छलछद्म को प्रधानता देने वाला शठ है, जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।९९) ॥ ३६९ ॥

दृष्ट्वेति । धूर्त्तः कितवः प्रियतमे द्वे कान्ते एकासने संस्थिते आसीने दृष्ट्वा पश्चात् पृष्ठभागेन उपेत्य उपगम्य आदरात् प्रणयातिशयात् विहितः कृतः क्रीडाया अनुबन्धः अनुष्ठानमेव छलं येन तथाभूतः क्रीडाच्छलेनेति भावः एकस्याः प्रियतमायाः नयने निमील्य पिधायेत्यर्थः पिधायेति पाठान्तरम् । ईषत् अल्पं वक्रितापरावर्त्तितेत्यर्थः कन्धरा ग्रीवा येन तथोक्तः सपुलकः सरोमाञ्चः कामावेशजसत्त्वविकारादिति भावः प्रेम्णा प्रणयेन उल्लसत् मानसं यस्याः तां तथा अन्तर्हासेन गूढहसितेन लसत् विकसत् कपोल एव फलकं यस्याः तथाविधाम् अपरां द्वितीयां प्रियतमां चुम्बति ॥ ३६९ ॥

कृतापराधोऽप्यविलक्षो धृष्टो यथा,—

शतं वारानुक्तः प्रियसखि ! वचोभिः स परुषैः
सहस्रं निर्धूतः पदनिपतितः पार्ष्णिहतिभिः ।

कियत् कृत्वा बद्धाः पुनरिह न वेद्मि भ्रुकुटय-
स्तथापि विलश्यन् मां क्षणमपि न धृष्टो विरमति ॥ ३७० ॥

अपराध करने पर भी अपने लक्ष्य से न हटने वाला धृष्ट है, जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।१८०) ॥ ३७० ॥

शतमिति । हे प्रियसखि ! स धृष्टः चपलः परुषैः निष्ठुरैः वचोभिः वाक्यैः शतवारान् उक्तः निर्भर्त्सित इत्यर्थः, पदनिपतितः चरणपतितः पार्ष्णिहतिभिः पादप्रहारैरित्यर्थः सहस्रं वारानिति शेषः निधूतः निराकृतः । इहास्मिन् धृष्टे कियत् कृत्वा कतिवारानित्यर्थः पुनः भ्रुकुटयः भ्रूभङ्गाः बद्धाः कृताः, न वेद्मि न जानामि तदिति शेषः । तथापि मां क्लिश्यन् व्यथयन्नित्यर्थः क्षणमपि न विरमति न निवर्त्तते । न त्यजतीति यावत् ॥ ३७० ॥

हृदयङ्गमप्रवृत्तिरनुकूलो यथा,—

मुञ्च मानमनिमित्तकोपने ! सन्ध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यया ।
किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ? ॥ ३७१ ॥

जिसकी क्रियायें चित्त को भावें वह अनुकूल है, जैसे—

हे निष्कारण कोप करने वाली प्रिये, तुम कोप छोड़ दो, मैं संध्या के कारण झुका हुआ प्रणाम कर रहा था, किसी स्त्री के लिए नहीं । अपने सहधर्मी मुझको चक्रवाक् के सदृश आचरण वाला—एक पत्नी व्रत धारी—क्यो नहीं मानती ? ॥ ३७१ ॥

मुञ्चेति । हे अनिमित्तकोपने ! निष्कारणकोपकारिणि ! मानं कोपं मुञ्च सन्ध्यया प्रणमितः अस्मि, अन्यया कान्तया न, सन्ध्यावन्दनार्थम् अहं कृतप्रणामस्त्वया दृष्टः अन्यां नारीं नाहं वन्दे इति भावः । आत्मनः सहधर्मचारिणं मां चक्रवाकसमवृत्तिम् एकपत्नीव्रत-मिति भावः किं न वेत्सि ? न जानासि ? ॥ ३७१ ॥

औपरोधिकप्रवृत्तिः दक्षिणो यथा,—

अनेन कल्याणि ! मृणालकोमलं व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ? ॥३७२॥

स्त्रियों के अनुकुल आचरण करने वाला दक्षिण है, जैसे—

हे भद्रे, इन व्रतों से तुम अपने बिसतन्तु के सदृश कोमल शरीर को क्यों म्लान कर रही हो । जो स्वयं उत्कण्ठित होकर तुम्हारी कृपा का इच्छुक है, तुम्ही उस सेवक को क्यों प्रसन्न कर रही हो ॥ ३७२ ॥

स्व० द०—दशरूपक में भी इन चार प्रकार के भेदों का निरूपण है । धीरोदात्त आदि चारों प्रकारों में से प्रत्येक इन चारों भेदों से युक्त हो सकता है ।

धनञ्जय के शब्दों में—

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥
दक्षिणोऽस्यां सहृदयः गूढविप्रियकृच्छठः ।
व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टोऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥ २।६-७ ॥

अनेनेति। हे कल्याणि शुभङ्करि! मृणालकोमलम् अतिसुकुमारमिति भावः गात्रम् अङ्गम् अनेन व्रतेन नियमेन अकारणं हेतुं विनेत्यर्थः ग्लपयसि ग्लानिं नयसि, यः उत्सुकः उत्कण्ठितः सन् तव प्रसादम् अनुग्रहम् आकाङ्क्षति अभिलषति, स दासजनः अहमिति भावः किं कथं प्रसाद्यते सेव्यते इत्यर्थः व्रतेनेति भावः॥ ३७२॥

नायिकागुणेषु सर्वगुणसम्पद् योगादुत्तमा यथा,--

हसिआइं समंसलकोमलाइं बीसम्भकोमलं वअणं।
सब्भावकोमलं पुलाइअंव णमिमो सुमहिलाणं॥ ३७३॥

नायिका के गुणों में सभी गुणराशियों के योग से उत्तमा होती है, जैसे—

सुन्दरियों की माँसल तथा कोमल हँसी को, विश्वास पूर्ण तथा मधुर वाणी को, और सद्भावनाओं से कोमल अवलोकनों को प्रणाम करते हैं॥ ३७३॥

हसिआइं इति॥ ३७३॥

पादोनगुणसम्पद्योगात् मध्यमा यथा,--

णिअदइअदंसणुक्खित्त पहिअ अण्णेण वच्च सुपहेण।
गहवइवहूआ दुल्लङ्घिवाउदाहअपइहग्गामो॥ ३७४॥

एक चौथाई कमगुणों के योग से मध्यमा होती है—जैसे—

अपनी प्रियतमा को देखने के लिये उछल रहे हे पथिक, तुम किसी दूसरे अच्छे मार्ग से होकर चले जाओ, क्यों कि यह गांव तो कृषकवधू की दुर्लङ्घ्य वायु से जला सा जा रहा है, अथवा इस ग्राम में एक कृषकवधू है जिसके द्वारा फेंका हुआ फंदा छुड़ाया नहीं जा सकता॥ ३७४॥

[छाया—निजदयितदर्शनोक्षिप्त पाथक अन्येन व्रज सुपथेन।
गृहपतिवधूकादुर्लङ्घितवायुदाहाभ इह ग्रामः॥
(गृहपतिवधूका दुर्लंधितवागुरा इह ग्रामे॥)

णिअदइअ इति॥ ३७४॥

अर्द्धगुणसम्पद् योगात् अधमा यथा, —

तं किं खणं विरज्जसि तं किरउ व हससि सअलमहिलाओ।
एहेहि वारवालिइ अंसूमइमलं समुप्पिसिओ॥ ३७५॥

आधी गुणराशि से युक्त होने के कारण अधमा होती है—जैसे—

तू एक क्षण में विरक्त होती है और तू ही समस्त महिलाओं का उपहास भी करती है। हे वारपालिके, आओ, आओ, हम तुम्हारे मैले आँसू को पोछ दें॥ ३७५॥

[छाया—त्वं किल क्षणात् विरज्यसे त्वं किलोपहससि सकलमहिलाः।
एह्येहि वारपालिके अश्रु मलिनं समुत्प्रोञ्छामः॥]

स्व० द०—स्त्रियों की उत्तमा आदि प्रकृतियों का वर्णन भरत ने इन शब्दों में किया है—

स्त्रीणां पुनस्तु प्रकृतिं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
मृदुभाषा त्वचपला स्मितभाषिण्यनिष्ठुरा ॥
गुरूणां वचने दक्षा सलज्जा विनयान्विता ।
रूपाभिजनमाधुर्यगुणैः स्वाभाविकैर्वृता ॥
गाम्भीर्यधैर्यसम्पन्ना उत्तमा प्रकृतिः स्मृता ।
नात्युत्कृष्टैरशिथिलैरेभिरेव वृता गुणैः ॥
अल्पदोषानुविद्धा च मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ।
अधमा प्रकृतिर्या तु पुरुषाणां प्रकीर्तिता ॥
विज्ञेया सैव नारीणामधमानां समासतः ॥ ना. शा. ३४।१०-१४ ॥

त. किं खण इति ॥ ३७५ ॥

वयःकौशलाभ्यामसम्पूर्णा मुग्धा यथा,—

सहिआहिं भणममाणा त्थणए लग्गकुसुम्भपुप्फुन्ति ।
मुद्धवहूआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइम् ॥ ३७६ ॥

जिसकी आयु तथा रतिकर्म की निपुणता पूरी तरह निखरी न हो, वह मुग्धा है—जैसे—
(अर्थहेतु द्रष्टव्य ३।५ ॥) ॥ ३७६ ॥

सहि आहिं इति ॥ ३७६ ।

वयसा परिपूर्णा मध्यमा यथा,—

पड़िवक्खमण्णुउडे लावण्णउडे अणङ्गअकुम्भे ।
पुरिससअहिअअधरिए कीस त्थणन्ती त्थणे वहसि ॥ ३७७ ॥

आयु से भरी पूरी मध्यमा है । जैसे—

(सपत्नी रूप) प्रतिपक्षियों के मन को सन्ताप देने वाले, सौन्दर्य के कलश, कामदेव के हाथी के कुम्भ सदृश तथा सैकड़ों लोगों द्वारा अपने हृदय पर धारण किये जा रहे इन दोनों स्तनों को तू काँखती हुई क्यों वहन कर रही है ॥ ३७७ ॥

[छाया— प्रतिपक्षमन्युपुञ्जौ लावण्यकूटावनङ्गगजकुम्भौ ।
पुरुषशतहृदयधृतौ किमिति स्तनन्ती स्तनौ वहसि ॥] गा. स. ३।६० ॥

पडिवक्ख इति ॥ ३७७ ॥

वयःकौशलाभ्यां सम्पूर्णा प्रगल्भा यथा,—

खिण्णस्स ठवेइ उपइणो गिह्मावरणहरमिअस्स ।
ओल्लं गलन्त उप्फं ण्हाणसुअंधचिउरभारं ॥ ३७८ ॥

आयु तथा निपुणता दोनों से परिपूर्ण रमणी प्रगल्भा है । जैसे—

गर्मी की दोपहरी के बाद रमण करने से खिन्न पति के वक्षःस्थल पर वह सुन्दरी अपना

भीगा हुआ, फूलों से रहित, तथा सुगन्ध से सराबोर केशराशि ढाल रही है ॥ ३७८ ॥

[छाया—खिन्नस्योरसि पत्युः स्थापयति ग्रीष्मापराह्णरमितस्य ।
आर्द्रं गलत्कुसुमं स्नानसुगन्धं चिकुरभारम् ॥ गा. स. ३।९९ ॥]

खिण्णस्सेति ॥ ३७७ ॥

यत्नापनेयमाना धीरा यथा,—

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी हिअअं ।
जह दूरे वि अम्हिअगरूअरोसमज्जत्थभणिएहिं ॥ ३७९ ॥

यत्न से अपनीत की जा रही धीरा है—जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ५।३२५ ॥) ॥ ३७९ ॥

णवितह इति ॥ ३८० ॥

अयत्नापनेयमाना अधीरा यथा,—

अवलम्बिअमाणपरम्मु हीअ तए तस्स माणिणि पिअस्स ।
पुट्टिपुलउग्गामी तुह कहेइ समुहट्ठिअं हिअअं ॥ ३८० ॥

बिना यत्न के ही अपनीत की जा रही 'अधीरा' है । जैसे—

हे मानिनी, मान ग्रहण करके मुख फेर लेने पर भी अपनी पीठ पर निकल आये रोमाञ्च के द्वारा आरहे प्रियतम के सामने उपस्थित हृदय को निवेदित किया जा रहा है ॥ ३८० ॥

छाया—अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि प्रियस्य ।
पृष्ठपुलकोद्गमस्तव कथयति सम्मुखस्थितं हृदयम् ॥] गा. स. १।८७ ॥

स्व० द०—दशरूपक में मुग्धा, मध्या आदि तीन भेद स्त्रियों के माने गये हैं ।

धनञ्जय के ही शब्दों में—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥
मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।
मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ दशरूपक २।१५-१६ ॥

यह मध्या के ही धीरा, धीराधीरा तथा अधीरा भेद करते हैं—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ वही १७ ॥

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके ।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना ॥ वही १८ ॥

सावहित्थादरोदास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा ।
सन्तर्ज्य ताडयेत् मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ॥ वही १९ ॥

अवलम्बिअ इति ॥ ३८० ॥

आत्मीया स्वा यथा,—

घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमइलेण हत्थेण ।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गहपइणा ॥ ३८१ ॥

अपनी ही प्रियतमा स्वा (स्वकीया है)—जैसे—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।६१ ॥) । ३८१ ॥

घरिणीए इति ॥ ३८१ ॥

परकीया अन्यदीया यथा,—

वइविवरणिग्गअ दलोए रण्णो साहइ व्व तरुणाणं ।
एत्थ घरे हलिअवहू एद्दहमेत्तत्थणी वसइ ॥ ३८२ ॥

दूसरे की स्त्री अन्यदीया (परकीया) है, जैसे—
अर्थादि के लिये द्रष्टव्य (३।१६६ ॥) ॥ ३८२ ॥

वइविवर इति ॥ ३८२ ॥

पाणिगृहीता ऊढा यथा,—

वालत्तणदुल्ललिआए अज्ज अणज्जं किदं णववहूए ।
भाआमि घरे एआइणि त्ति णिणत्तो पई रुद्धो ॥ ३८३ ॥

जिसका पाणिग्रहण हो गया है वह 'ऊढा' है जैसे—

बाल्यकाल से ही दुलराई गई इस नवोढ़ा ने तो आज बड़ा ही अनुचित कार्य कर डाला । "अकेली मैं इस घर में डरती हूँ" ऐसा कह कर जाते हुये पति को उसने रोक लिया ॥ ३८३ ॥

[छाया—बालत्वदुर्ललितयाद्य अनार्यं कृतं नववध्वा ।
विभेमि गृहे एकाकिनीति निर्यन् पती रुद्धः ॥

वालत्तण इति ॥ ३८३ ॥

अनूढा कुमारी यथा,—

कस्स करो वहुपुण्णफलेक्क तरुणो तुह णिसम्मिहिइ ।
थणपरिणाहे मम्महणिहाणकलसे व्व पारोहो ॥ ३८४ ॥

जिसका विवाह नहीं हुआ है वह कुमारी है जैसे—

हे कुमारी, बहुत से पुण्य रूप फलों के एक मात्र वृक्ष स्वरूप किस सौभाग्यशाली के अङ्कुर के सदृश हाथों को कामदेव की निधि के घड़े के सदृश इन विस्तृत उरोजों पर रखोगी ॥ ३८४ ॥

कस्य करः बहुपुण्यफलैकतरोस्त्वया निधीयते ।
स्तनपरिणाहे मन्मथनिधानकलस इव प्ररोहः ॥

कस्येति । हे कुमारि ! बहूनि पुण्यान्येव फलानि यस्य सः बहुपुण्यफलः स चासौ एकोऽद्वितीयः तरुश्चेति तथोक्तः तथाभूतस्य कस्य सुकृतिनः इति भावः प्ररोहः अङ्कुरः तत्

स्वरूप इति भावः करः पाणिः त्वया स्तनपरिणाहे स्तनयोर्बिस्तारे मन्मथस्य कामस्य निधानकलस इव निधिकुम्भ इव निधीयते निवेश्यते ॥ ३८४ ॥

प्रथमोढा ज्येष्ठा यथा,—

उपणअं पणअं पढ़मपिआए रक्खिउकामो वि मधुरमधुरेहिं ।
छेअवरो वि ण लिज्जइ अहिणववहूआ विलासेहिं ॥ ३८५ ॥

पहले व्याही गई ज्येष्ठा है । जैसे—

अपनी पहली विवाहिता पत्नी के प्रेम को सुरक्षित रखने की इच्छा होने पर भी वह निपुण नायक अपनी नवविवाहिता पत्नी के मधुरमधुर विलासों से सुख का अनुभव कर रहा है ॥ ३८५ ॥

[छाया—उपनतं प्रणयं प्रथमप्रियाया रक्षितुकामोऽपि मधुरमधुरैः ।
छेकवरः सुखायतेऽभिनववधूकाविलासैः ॥]

उपणअं इति ॥ ३८५ ॥

पश्चादूढा कनीयसी यथा,—

उट्ठन्त महारम्भत्थणए दट्ठुण मुद्धवहुआए ।
ओसिण्णकवोलाए णीससिअं पढमघरिणीए ॥ ३८६ ॥

बाद में व्याही गई कनीयसी है । जैसे—

मुग्धावधू के अत्यधिक उठे हुये तथा विस्तृत उरोजों को देखकर निष्प्रभ हो गये कपोलों वाली ज्येष्ठा ने बड़ी लम्बी उसाँस ली ॥ ३८६ ॥

[छाया—उत्तिष्ठन्महारम्भौ स्तनकौ दृष्ट्वा मुग्धवध्वाः ।
अवसन्नकपोलया निःश्वसितं प्रथमगृहिण्या ॥]

उट्ठन्त इति ॥ ३८६ ॥

अहङ्कारर्द्धिरुद्धता यथा,—

अण्णमहिलापसङ्गं देव करेसु अम्ह दइअस्स ।
पुरिसा एकन्तरस्स ण हु दोसगुणे वि जाणन्ति ॥ ३८७ ॥

अहंकार से भरी हुई 'उद्धता' है—जैसे—

हे देव, मेरे प्रियतम के लिये किसी दूसरी स्त्री का प्रबन्ध कर दो, अन्यथा पुरुष एकरसास्वादी हो जायेगा एवं किसी के दोषगुण को विशेषरूप से नहीं समझ सकेगा ॥ ३८७ ॥

[छाया—अन्यमहिलाप्रसङ्गं हे देव कुर्वस्माकं दयितस्य ।
पुरुषा एकान्तरसाः न खलु दोषगुणौ विजानन्ति ॥] गा. स. १।४८ ॥

अण्णमहिलेति ॥ ३८७ ॥

गूढमानर्द्धिः उदात्ता यथा,—

जाणइ जाणावेउं अणुणअविहीणरोसमाणपरिसेसं ।
रइविक्कमम्मि विणआवलम्बणं सच्चिअं कुणन्ती ।। ३८८ ।।

जिसके मान की सम्पत्ति गूढ है, वह उदात्ता है, जैसे—

रतिकालीन पौरुषप्रदर्शन के समय विनम्रता का अवलम्बन करके प्रियतम के अनुनय को दूर हटाकर बचे मान को प्रदर्शित करना वही जानती है । ।। ३८८ ।।

[छाया—जानाति ज्ञापयितुमनुनयविद्रावितमानपरिशेषम् ।
रतिविक्रमेऽपि विनयावलम्बनं सैव कुर्वती ।।] गा. स. १।८८ ।।

जाणइ इति ।। ३८८ ।।

निर्विण्णमाना शान्ता यथा,—

जइआ पिओ ण दीसइ भणह हला कस्स कीरए माणो ।
अह दिठ्ठम्मि वि माणो ता तस्स पिअत्तणं कत्तो ।। ३८९ ।।

जिसका मान समाप्त हो गया है, वह शान्ता है, जैसे—

जब प्रिय दिखलाई ही नहीं पड़ते तब कहो भला किससे मान किया जाये, और यदि उसके दिखलाई पड़ जाने पर भी मान अवशिष्ट है, तो फिर उसमें प्रियता कहाँ ? ।। ३८९ ।।

[छाया—यदा प्रियो न दृश्यते भणत हला कस्य क्रियते मानः ।
अथ दृष्टेऽपि मानस्तत्तस्य प्रियत्वं कुतः ।।]

जइ इति ।। ३८९ ।।

श्लाघनीयमाना ललिता यथा,—

हसिएहिं उआलम्भा अच्छुवआरेहि रूसिअव्वाइ ।
असूइ मण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणं ।। ३९० ।।

जिसका मान प्रशंसनीय है वह ललिता है, जैसे—

हँस हँस के ही उलाहना देना, अत्यधिक सेवाशुश्रूषा करके रूठना प्रकट करना तथा आँसुओं से कलह व्यक्त करना, यही अच्छी स्त्रियों का मार्ग है ।। ३९० ।।

[छाया—हसितैरुपालम्भा अत्युपचारै रूषितव्यानि ।
अश्रुभिः कलहा एष मार्गः सुमहिलानाम् ।।]

स्व० द०—दशरूपककार ने नायिका का सर्वप्रथम ही स्वा, अन्या तथा साधारण स्त्री रूप में त्रिधा विभाग किया था—

"स्वान्यासाधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।।" २।१५ ।। उसके पश्चात् मुग्धा मध्या आदि तीन भेद स्वीया के किया था । मुग्धा तथा प्रगल्भा के ही धीरा, अधीरा तथा धीराधीरा प्रकारों को भी बतलाया था । उन्होंने ही मध्या तथा प्रगल्भा के सभी भेदों को भी ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा भेदों में विभाजित किया था । और कहा था—

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।
अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽगिरसे क्वचित् ॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् । दशरूपक २।२०-२१ ॥

हसिएहिं इति ॥ २९० ॥

अनियतानेकोपभोग्या सामान्या यथा,—

कडुएक्क धूमंधारे अव्भुत्तणमाग्गणो समप्पिहिइ ।
मुहकमलचुम्बणलेहलम्मि पासट्ठिए दिअरे ॥ ३९१ ॥

अनिश्चित रूप से अनेक पुरुषों की उपभोग्या सामान्या है । जैसे—

मुख कमल के चुम्बन की इच्छा से बगल में देवर के खड़े रहने पर कडुये धुयें का अँधेरा हो जाने पर भी अग्नि का प्रज्वलन कर्म समाप्त कर दिया जाता है ॥ ३९१ ॥

[छाया—कटुके धूमान्धकारेऽभ्युत्तेजनमग्नेः समाप्स्यते ।
मुखकमलचुम्बनाभिलाषिणि पार्श्वस्थिते देवरे ॥]

कडुएक्क इति ॥ ३९१ ॥

पत्यन्तरं प्राप्ता पुनर्भूः यथा,—

मयेन निर्मितां लङ्कां लब्ध्वा मन्दोदरीमपि ।
रेमे मूर्त्तां दशग्रीवलक्ष्मीमिव विभीषणः ॥ ३९२ ॥

दूसरे पति को प्राप्त हुई 'पुनर्भू' है । जैसे—

विभीषण ने साक्षात् रावण की राज्यलक्ष्मी की भांति मय दानव के द्वारा बनाई गई लङ्का तथा मन्दोदरी को प्राप्त करके रमण किया ॥ ३९२ ॥

मयेनेति । विभीषणः मूर्त्तां दशग्रीवलक्ष्मीमिव मूर्त्तिमतीं रावणलक्ष्मीमिव मयेन दानवविशेषेणेति भावः निर्मितां सृष्टाम् उत्पादिताञ्च लङ्कां मन्दोदरीमपि मन्दोदरीञ्चेत्यर्थः लब्ध्वा रावणनिधनानन्तरमिति भावः रेमे ॥ ३९२ ॥

आत्मच्छन्दा स्वैरिणी यथा,—

तह सा जाणइ जाआलोए पच्छण्णमविणअं काउम् ।
जह पढमं विअ लिक्खइ मज्झे चरित्तवतीणम् ॥ ३९३ ॥

स्वेच्छानुसार कार्य करने वाली स्वैरिणी है । जैसे—

स्त्रियों के समुदाय में वह लुके छिपे इस प्रकार की दुष्टता करना जानती है कि सतियों के बीच में वह सबसे प्रथम गिनी जाती है ॥ ३९३ ॥

तथा सा जानाति जायालोके प्रच्छन्नमविनयं कर्त्तुम् ।
यथा प्रथममिव लिख्यते मध्ये चरित्रवतीनाम् ॥

तह इति । सा जाया कान्ता लोके संसारे तथा प्रच्छन्नं गूढं यथा तथा अविनयं दुराचारमित्यर्थः कर्तुं जानाति यथा चरित्रवतीनां सुचारित्राणां सतीनामित्यर्थः मध्ये प्रथममिव लिख्यते गण्यते इति भावः सेति शेषः ॥ ३९३ ॥

कलाचतुःषष्टिविद् गणिका यथा,—

सच्छन्दरमणदंसणरसवड्ढिअगरुअवम्महविलासं ।
सुविअट्ठवेसवाणि आरमिअङ्को वण्णिउं तरइ ॥ ३९४ ॥

चौसठ कलाओं में निपुण स्त्री गणिका है, जैसे—

स्वछन्दता पूर्वक प्रियतम को देखने के आनन्द से ही बढ़े हुये उग्र काम के विलासों से परिपूर्ण, अत्यन्त सुन्दर वेष धारण किये हुई, अथवा अति चतुर वेश स्त्री के साथ की गई रति का वर्णन करने में कौन समर्थ है ॥ ३९४ ॥

सच्छन्द इति ॥ ३९४ ॥

रूपयौवनमात्रोपजीविनी रूपाजीवा यथा,—

अयमेव दह्यमानस्मरनिर्गतधूमवर्त्तिकाकारः ।
चिकुरभरस्तव सुन्दरि ! कामिजनं किङ्करीकुरुते ॥ ३९५ ॥

अपने सौन्दर्य तथा जवानी मात्र से जीविका चलाने वाली रूपाजीवा है, यथा—

हे रूपसी, प्रज्वलित हो रहे कामदेव से निकल रही वर्तुलाकार धूमराशि के सदृश यह तुम्हारा केशपाश ही कामी लोगों को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाने में समर्थ है ॥ ३९५ ॥

अयमिति । हे **सुन्दरि ! दह्यमानात्** भस्मीक्रियमाणात् स्मरात् कामात् निर्गता या **धूमवर्त्तिका** वर्त्तिकाकारधूमचय इत्यर्थः तदाकारः तत्सदृशः अयं तव **चिकुरभरः** कुन्तलनिचय एव अन्यस्य अङ्गस्य का कथेति एवकारार्थः। **कामिजनं** युववर्गं **किङ्करीकुरुते** दासीकुरुते ॥ ३९५ ॥

कुट्टमितादीनां कर्त्री विलासिनी यथा,—

सामण्णसुन्दरीणं विब्भमभावहइ अविणओ च्चेअ ।
धूम च्चिच अपज्जलिआ णवहुमओ सुरहिदारुणा ॥ ३९६ ॥

कुट्टमित आदि कार्यों को करने वाली विलासिनी है । जैसे—

सामान्य सुन्दरियों की तो अविनम्रता ही विभ्रम को धारण करती है-अच्छी लगती है । जल रही सुगन्धित लकड़ियों का तो धुआँ ही अत्यधिक अभीष्ट होता है ॥ ३९६ ॥

[छाया—सामान्यसुन्दरीणां विभ्रमभाव इति अविनय एव ।
धूम एव प्रज्वलितानां बहु मतः सुरभिदारूणाम् ॥]

सामण्ण इति ॥ ३९६ ॥

यथोक्तलक्षणासु खण्डिता यथा,—

पव्वूणागअणु रत्ताअवत्तं तइ लोअलोअणाणन्दम् ।
अण्णत्थखं विअ सव्वरिणहभूसणदिण वइ णमो दे ॥ ३९७ ॥

इन कथित लक्षणों वाली स्त्रियों में खण्डिता का उदाहरण—

बड़े सवेरे आने वाले, लाल लाल बिम्ब वाले, तीनों लोकों को आनन्दित करने वाले

दूसरी जगह पर रात बिता देने वाले, आकाश के अलङ्कार दिनपति तुमको नमस्कार है ॥ ३९७ ॥

पति के पक्ष में—

रात में न आकर सवेरे आने वाले, भुक्ता नायिका के अधर राग आदि के कारण रंगी देह वाले, दूसरी जगह की अथवा मेरे अतिरिक्त तीनों लोकों की स्त्रियों के नयनों को आनन्दित करने वाले, दूसरी जगह पर रात बिता देने वाले, दूसरी स्त्रियों के द्वारा दिये गये नखच्छेद आदि भूषणों से युक्त, हे सूर्य की भांति दूर से ही नमस्कार के पात्र, प्रिय तुमको नमस्कार है।

[छाया—प्रत्यूषागतानुरक्तदेह त्रैलोक्यलोचनानन्द ।
अन्यत्रक्षपितशर्वरीक नभोभूषण दिनपते नमस्ते ॥]

स्व० द०—भरतमुनि के अनुसार खण्डिता का लक्षण है—

व्यासङ्गादुचिते यस्याः वासके नागतः प्रियः ।
तदनागमनार्ता तु खण्डितेत्यभिधीयते ॥ ना. शा. ३४।२१६ ॥

तथा दशरूपक में इसका लक्षण है—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥ २।२५ ॥)

पच्चूणा इति ॥ ३९७ ॥

कलहान्तरिता यथा,—

अह सो विलक्खहिअओ मए अहव्वाइ अगणिअप्पणओ ।
परवज्जणच्चिरीहिं तुम्हेहिं उवेक्खिओ जंतो ॥ ३९८ ॥

कलहान्तरिता का उदाहरण—

अरे, मैं कितनी अशिष्ट रही, कि उसकी विनती स्वीकार नहीं की । खिन्न हृदय से निकलता हुआ ही वह तुम बाजा बजाकर दूसरों को नचाने वालियों के द्वारा अपेक्षित किया गया ॥३९८॥

[छाया—अथ सो विलक्षहृदयो मयाऽभव्ययाऽगणितप्रणयः ।
परवाद्यनर्तनशीलाभिर्युष्माभिरुपेक्षितो गच्छन् ॥ गा. स. ५।२० ॥]

स्व० द०—भरत के शब्दों में—

ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्तो यस्या नागच्छति प्रियः ।
अमर्षवशसंतप्ता कलहान्तरिता भवेत् ॥ ना. शा. २४।२१५ ॥

इसी से मिलती बातें धनञ्जय भी कहते हैं कि—

'कलहान्तरिताऽमर्षाद् विधूतेऽनुशयार्दिभुक् ।' दशरूपक २।२६ ॥]

अह सो इति ॥ ३९८ ॥

विप्रलब्धा यथा,—

अह सा तहिं तहिं विअ वाणीरवणम्मि चुक्कसङ्केआ ।
तुह दंसणं विमग्गइ पब्भट्ठणिहाणठाणव्व ॥ ३९९ ॥

विप्रलब्धा का उदाहरण—

इस समय वह तुम्हारी प्रिया वेतसी वन में संकेत से च्युत होकर-तुम्हारे द्वारा बताये गये स्थान पर जाकर भी तुमको न पाने पर-खोये हुये निधि के स्थान की भांति तुम्हारे दर्शन की खोज कर रही है ॥ ३९९ ॥

स्व० द०—धनञ्जय के अनुसार विप्रलब्धा का लक्षण है—
"विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता" द. रू. २।२६ ॥

है, जब कि भरत के अनुसार—

तस्माद्भूतां प्रियः प्राप्य दत्वा सङ्केतमेव वा ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा मता ॥ ना. शा. २४।२१७ ॥

अथ सा तत्र तत्रैव वाणीरवने च्युतसङ्केता ।
तव दर्शनं विमार्गति प्रभ्रष्टनिधानस्थानेव ॥

अथ सेति । अथेदानीं सा तव कान्तेति शेषः वाणीरवने वेतसवने च्युतः भ्रष्टः सङ्केतः यस्याः तथाभूता त्वत्कृतसङ्केतेन गतापि त्वामप्राप्नुवतीति भावः । भ्रष्टं निधानस्थानं निधिलाभक्षेत्रं यस्याः तादृशीव निधिलाभाशया गत्वा अप्राप्तनिधानस्थाना इव इत्यर्थः तत्र तत्रैव तव दर्शनं विमार्गति अन्विष्यति ॥ ३९९ ॥

वासकसज्जा यथा,—

एहिइ पिओ त्ति णिमिसं व जाग्गिअं जामिणीए पढ़मद्धं ।
सेसं संतावपरव्वसाए वरिसं व वोलीणं ॥ ४०० ॥

वासकसज्जा का उदाहरण—
'प्रियतम आयेंगे' यह सोच कर रात्रि के प्रथम प्रहर को एक क्षण की भांति जिसने जाग कर बिताया वही शेष रात्रि को अत्यन्त संतप्त हो कर वर्ष की भांति व्यतीत की ॥ ४०० ॥

स्व० द०—दशरूपककार वासकसज्जा का लक्षण देते हैं—
मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २।२४ ॥

भरत के भी शब्दों में यही भाव दृष्टिगोचर होता है—

उचिते वासके या तु रतिसम्भोगलालसा ।
मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥ २।४।२१२ ॥]

एष्यति प्रिय इति निमिषमिव जागृतं यामिन्याः प्रथमार्द्धम् ।
शेषं सन्तापपरवशाया वर्ष मिवापक्रान्तम् ॥

एष्यतीति । प्रियः कान्तः एष्यति आगमिष्यति इति बुद्ध्येति भावः यामिन्याः रजन्याः प्रथमार्द्धं निमिषमिव क्षणमिवेति भावः जागृतं जागरणेन नीतमित्यर्थः । शेषं यामिन्या अपरार्द्धमित्यर्थः सन्तापपरवशायाः विरहज्वरविवशायाः सत्याः वर्षमिव संवत्सर इव अतिदीर्घमिति भावः अपक्रान्तम् अपगतम् ॥ ४०० ॥

स्वाधीनपतिका यथा,—

सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥ ४०१ ॥

स्वाधीन पतिका का उदाहरण—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य ३।१३९ ॥) ॥ ४०१ ॥

सालोए इति ॥ ४०१ ॥

अभिसारिका यथा,—

गम्मिहिसि तस्स पासं मा झूरसु तरुणि वड्ढउ मिअङ्को ।
दुद्धे दुद्धम्मि व चन्दिआए को पेच्छइ मुहं ते ॥ ४०२ ॥

अभिसारिका का उदाहरण—

अरी युवति, तू उसके पास जा सकेगी । दुःख मत कर । बस चन्द्रमा को जरा बढ़ने दे । दूध में दूध की भांति ज्योत्स्ना में तुम्हारा मुख (चन्द्र) कौन देख सकेगा ? ॥ ४०२ ॥

[छाया—गमिष्यसि तस्य पार्श्वं मा खिद्यस्व तरुणि वर्धतां मृगाङ्कः ।
दुग्धे दुग्धमिव चन्द्रिकायाँ कः प्रेक्षते मुखं ते ॥]

स्व० द०—भरत के अनुसार स्वाधीनपतिका तथा अभिसारिका के लक्षण इस प्रकार हैं—

सुरतातिरसैर्बद्धो यस्याः पार्श्वगतः प्रियः ।
सा मोदगुणसंयुक्ता भवेत्स्वाधीनभर्तृका ॥
हित्वा लज्जां तु या श्लिष्टा मदेन मदनेन वा ।
अभिसारयते कान्तं सा भवेद् अभिसारिका ॥ ना. शा. २४।२१४,२१९ ॥)

गम्मिहि इति ॥ ४०२ ॥

प्रोषितभर्त्तृका यथा,—

गिम्हे दवग्गिमसिमइलिआइं दीसन्ति विज्झसिहराइं ।
आसउपउत्थपइएण होन्ति णवपाउसब्भाइं ॥ ४०३ ॥

प्रोषितभर्तृका का उदाहरण—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य ४।८० ॥) ॥ ४०३ ॥

गिम्हे इति ॥ ४०३ ॥

विरहोत्कण्ठिता यथा,—

अस्मिन् वर्षमहे न वर्त्तत इदं यत् कामदेवोत्सवे
स्थेयं पुत्रि ! निरन्नया तदधुना किञ्चिन्मुखे दीयताम् ।
इत्युक्ते जरतीजनेन कथमप्यध्वन्यवध्वा ततः
पर्य्यस्तेऽहनि कल्पितश्च कवलो धौतश्च धाराम्बुभिः ॥ ४०४ ॥

विरहोत्कण्ठिता का उदाहरण—

"हे पुत्री, इस वार्षिक कामोत्सव के दिन जो निरन्न व्रत हैं वह नहीं किया जाता है। अतः कुछ तो मुँह में डाल लो।" वृद्धाओं के इस प्रकार कहने पर पथिक की पत्नी ने किसी प्रकार दिन डूब जाने पर एक कवल बनाया किन्तु वह (अश्रु) धारा के जल से धुल गया ॥ ४०४ ॥

स्व० द०—भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रोषितभर्तृका तथा विरहोत्कण्ठिता का लक्षण इस प्रकार दिया है—

> गुरुकार्यान्तरवशाद् यस्या विप्रोषितः प्रियः।
> सा रूढालककेशान्ता भवेत्प्रोषितमर्तृका ॥
> अनेककार्यव्यासङ्गाद् यस्या नागच्छति प्रियः।
> अनागमनदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥ ना. शा. २४।२१८,२१३

धनञ्जय ने इन आठो प्रकारों को अवस्था भेद के आधार पर स्वीकार किया है।

> आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ दशरूपक २।२३ ॥

अस्मिनिति। हे पुत्रि ! अस्मिन् वर्षमहे वार्षिकोत्सवकरे इत्यर्थः कामदेवोत्सवे मदनयात्रायामित्यर्थः निरन्नया त्यक्तान्नभक्षणया स्थेयं स्थातव्यमिदं यत् तत् न वर्त्तते न भवति सर्व एव जनः सच्छन्दमन्नपानादिकं कृत्वा अत्र नन्दतीति भावः। तत्तस्मात् अधुना इदानीं किञ्चित् किमपि भक्ष्यं वस्त्विति भावः मुखे दीयताम्। जरतीजनेन वृद्धावर्गेण इति उक्ते सति ततस्तदनन्तरम् अध्वन्यवध्वा पान्थमहिलया पर्य्यस्ते अवसिते अहनि दिवसे कथं कथमपि तासामनुरोधापेक्षयेति भावः कवलः ग्रासः कल्पितश्च भक्षणार्थं रचितश्च धाराम्बुभिः वर्षाम्बुभिः धौतश्च प्रक्षालितश्च। वाष्पाम्बुभिरिति पाठः समीचीनः। पतिविरहात् भोजने वितृष्णातिशयः कामदेवोत्सवदर्शनेन नितरां पुष्टिं नीत इति भावः ॥ ४०४॥

हीनपात्रेषु शकारो यथा,—

> पलिच्चले लम्बदशाकलाअं पावालअं शुत्तशदेहिं छत्तं।
> मंशञ्च खादुं तुह तुट्ठि कादुं चकुश्चुकुश्चुक्कु चुकुश्चुकुत्ति ॥४०५॥

हीन पात्रों में शकार का उदाहरण—

अत्यन्त लम्बी, सैकड़ों सूत्रों से आच्छन्न प्रावारक को पकड़ो। दोनों ओष्ठों से तुम्हारा माँस खाने के लिये लोगों का हृदय चुक चुक कर रहा है ॥ ४०५॥

पलिच्चले इति ॥ ४०५॥

ललको यथा,—

> कम्बलवाणिएकत्ति कुठ्ठं मलदन्तिघिढि
> लुद्धिए मइवेआलसि लत्ति।
> सावरि जग्गिरि क्व तुमं सहिं खरा
> विदुपप्फुलिण लोकी सि ण आगसि ॥ ४०६ ॥

ललक का उदाहरण—

(अर्थ अस्पष्ट हैं ।)

कम्बल इति ॥ ४०६ ॥

अमात्यादिरासनार्हः पाषण्डादिर्वा पीठमर्दः । तयोरमात्येषु माल्यवान् यथा,—

हा वत्साः खरदूषणत्रिशिरसो ! बध्याः स्थ पापस्य मे
हा हा वत्स ! विभीषण ! त्वमपि मे कार्य्येण हेयः स्थितः ।
हा मद्वत्सल ! वत्स ! रावण ! महत् पश्यामि ते सङ्कटं
वत्से ! नैकषि ! हा हतासि न चिरं त्रीन् पुत्रकान् द्रक्ष्यसि ॥४०७॥

अमात्यादि वे हैं जो आसन पाने के योग्य हैं, पाषण्ड आदि पीठमर्द हैं । इन दोनों अर्थात् अमात्यादि तथा पाषण्डादि में अमात्य के प्रसङ्ग में माल्यवान् का उदाहरण—

हाय बेटे खर, दूषण तथा त्रिशिरा, मुझ पापी के कारण ही तुम मारे गये । हाय विभीषण, तुम भी कारण वश ही मेरे हेय हुये । हाय, मेरे अत्यन्त प्रिय रावण, तुम्हारे ऊपर तो मैं बहुत बड़ा कष्ट देख रहा हूँ । हाय निकषे, (रावण आदि की माता) कैसकी तू भी मर गई । अब तू अधिक समय तक अपने तीन पुत्रों रावण, कुम्भकर्ण तथा विभीषण को नहीं देख सकेगी ॥ ४०७ ॥

हा वत्सा इति । हा इति खेदे । पापस्य पापकारिणः मे मम वत्साः प्रियाः खरदूषणत्रिशिरसः ! यूयं बध्याः स्थ भवथ । मयैव दुर्मन्त्रणया जनस्थाने स्थापिताः यूयं मत्पापेनैव रामेण हता इति भावः । हाहा पुनः पुनः खेदे द्विर्भावः । विभीषण ! त्वमपि कार्य्येण हेतुना मे मम हेयः परित्याज्यः स्थितः । हा मद्वत्सल ! मत्प्रिय ! रावण ! ते तव महत् सङ्कटं विपदं पश्यामि अवलोकयामि । हे वत्से नैकषि ! रावणमातः ! हतासि मत्पापेन विनाशितासि । चिरं दीर्घकालं त्रीन् पुत्रकान् रावणकुम्भकर्णविभीषणान् न द्रक्ष्यसि ॥ ४०७ ॥

पाषण्डेषु भैरवानन्दो यथा,—

दंसेमि तं पि ससिणं वसुहावतीण्णं
थंभेमि तस्स वि रदस्स गईणहद्धे ।
आणेमि जक्खसुरसिद्धगणं गणाओ
तं णत्थि भूमिवलए सहजं ण सज्जं ॥ ४०८ ॥

पाषण्डों में भैरवानन्द का उदाहरण—

मैं चन्द्रमा को पृथ्वी पर उतार कर दिखा सकता हूँ, उस सूर्य का भी रथ आधे आकाश में रोक दे सकता हूँ । मैं यक्ष, सुर, तथा सिद्धो की स्त्रियों को भी ला सकता हूँ । इस पृथ्वी पर ऐसा कुछ भी नहीं है जो मेरे किये साध्य न हो ॥ ४०८ ॥

[छाया—दर्शयामि तमपि शशिनं वसुधावतीर्णं स्तभ्नामि तस्यापि खे रथं नभोऽर्धे ।
आनयामि यक्षसुरसिद्धगणाङ्गनास्तन्नास्ति भूमिवलये मम यन्न साध्यम् ॥]

दंसेमि इति ॥ ४०८ ॥

वैहासिकः क्रीडनको विश्वास्यश्च विदूषकः ॥ १७०अ ॥

हँसाने वाला, खिलवाड़ी तथा विश्वास का पात्र विदूषक होता है ॥ १७०अ ॥

यथा,—

फुल्लुक्करं कलमकूरसमं वहन्ति
जे सिन्दुवारविड़आ महवल्लहा दे ।
जे गालितस्समहिसीदहिणो सरिच्छा
रूचन्ति मुद्धविअइल्लपसूणपुञ्जा ॥ ४०९ ॥

जैसे—

जो धान के भात के सदृश पुष्पगुच्छों को धारण करते हैं, वे सिन्धुवार के पुष्प मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। उनके जो गालित भैस के दही के सदृश मनोहर तथा खिले हुये पुष्पगुच्छ हैं, वे भी बहुत अच्छे लगते हैं ॥ ४०९ ॥

[छाया—पुष्पोत्करं कलमभक्तसमं वहन्ति ये सिन्दुवारविटपा मम वल्लभास्ते ।
ये गालितस्य महिषीदध्नः सदृक्षा रोचन्ते मुग्धविचकिलप्रसूनपुञ्जाः ॥]

फुल्लुक्करमिति ॥ ४०९ ॥

मान्यः कलत्रवान् भुक्तविभवो गुणवान् विटः ॥ १७० ॥

लोगों में सम्मानित, सपत्नीक, वैभव को भोगे हुये, गुणी विट होता है ॥ १७० ॥

स यथा,—

शकार ! किं प्रार्थनया प्रावारेण मिषेण वा ।
अकार्य्यवर्जं मे ब्रूहि किमभीष्टं करोमि ते ॥ ४१० ॥

उसका उदाहरण—

अरे शकार, आच्छादक वस्त्र के बहाने प्रार्थना करने से क्या लाभ ? अपकर्मों के अतिरिक्त कहो मैं तुम्हारा कौन सा चाहा कार्य सम्पन्न करूँ ॥ ४१० ॥

शकारेति । शकार ! राज्ञो रक्षितायाः कान्ताया भ्राता शकार उच्यते तत्सम्बुद्धिः । उक्तञ्च साहित्यदर्पणे । मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्य्यसंयुक्तः । सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार उक्त इति । प्रावारेण गात्राच्छादनेन मिषेण व्याजेन प्रावरणच्छलेन प्रार्थनया किम् ? किं प्रयोजनमित्यर्थः । अकार्य्यवर्जम् अकर्त्तव्यं वर्जयित्वा इत्यर्थः पापं विनेति भावः ते तव किम् अभीष्टं करोमि सम्पादयामि ब्रूहि कथय ॥ ४१० ॥

धात्रेयकादिश्चेटो यथा,—

चन्द्रापीडोऽथ सञ्जातपीडः कादम्बरीं प्रति ।
प्राहिणोत् स्रस्तकेयूरः केयूरकमुपस्थितम् ॥ ४११ ॥

धाई के पुत्र आदि चेट हैं, जैसे—

अत्यधिक दुःखी तथा विरह के कारण ढीले बाजूबन्द वाले चन्द्रापीड ने आये हुये केयूर नामक व्यक्ति को कादम्बरी के पास भेजा ॥ ४११ ॥

स्व० द०—शकार आदि पात्रों के विषय में भरत मुनि के शब्द इस प्रकार हैं—

वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ।
शास्त्रार्थतत्त्ववेदी च निपुणो वैशिकेषु च ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥
उज्ज्वलवस्त्राभरणः क्रुध्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च ।
अधमो मागधीभाषी भवति शकारो बहुविकारः ॥
वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥
कलहप्रियो बहुकथो विरूपो बन्धसेवकः ।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटो ह्येवंविधः स्मृतः ॥ ना. शा. ३५।७७-८० ॥
प्रत्युत्पन्नप्रतिभो नर्मकृतैर्नर्मगर्भनिर्भेदैश्च ।
छेको विदूषितवचनो विदुषको नाम विज्ञेयः ॥ वही ९३ ॥

अमात्य के भी विषय में भरत का मत है कि—

बुद्धिमान् नीतिसम्पन्नो विक्रान्तः स्याद् प्रियंवदः ।
अर्थशास्त्रे च कुशलो ह्यनुरक्तः प्रजासु च ॥
यो धार्मिकस्तथामात्यः कर्तव्यो भूमिपैः सदा ।
व्यवहारार्थं तत्त्वज्ञाः बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ॥ ना. शा. ३४।९२-९३ ॥

साहित्यदर्पण आदि परवर्ती ग्रन्थों में शकार को "अनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार उक्तः" कहा गया है।

चन्द्रापीड इति । अथानन्तर चन्द्रपीडः सञ्जाता पीडा कादम्बरीविरहवचनश्रवणजनितेति भावः यस्य तथाभूतः स्रस्तकेयूरः विरहकार्श्यात् हस्तस्खलितकेयूराख्यालङ्कार इत्यर्थः कादम्बरीं प्रति उपस्थितं केयूरकं प्राहिणोत् प्रेषयामास ॥ ४११ ॥

पताकासु यथा,—

स्वात्मोपयोगिन्यन्योपयोगिन्यनुपयोगिनी ।
पताकेत्यापताकेति प्रकरीति प्रकीर्त्यते ॥ १७१ ॥

पताकाओं में—

स्वयं अपने लिये उपयोगिनी, दूसरे के लिये उपयोगिनी तथा अनुपयोगिनी पताकायें क्रमश पताका, आपताका तथा प्रकरी के नाम से कही जाती हैं ॥ १७१ ॥

स्वात्मोपयोगिनीति । स्वस्य आत्मनः उपयोगिनी पताका अन्योपयोगिनीआपताका, अनुपयोगिनी प्रकरी इति कीर्त्यते कथ्यते ॥ १७१ ॥

तासु पताका–हनूमान् यथा,—

दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्द्धनः ।
यस्य वीर्य्येण कृतिनो वयञ्च भुवनानि च ॥ ४१२ ॥

इनमें से पताका का उदाहरण—जैसे हनुमान के विषय में—

भाग्य से यह वही अञ्जना की प्रसन्नता को बढ़ाने वाले लम्बी भुजाओं से युक्त हनुमान् जी हैं, जिनके पौरुष से हम तथा समस्त लोक कृतार्थ हैं ॥ ४१२ ॥

दिष्ट्येति । दिष्ट्या भाग्येन सोऽयं महाबाहुः दीर्घभुजः अञ्जनानन्दवर्द्धनः अञ्जनाख्या वानरी तस्या आनन्दवर्द्धनः तनयः हनूमान् प्राप्त इति शेषः यस्य अञ्जनानन्दवर्द्धनस्य वीर्य्येण बाहुबलेन वयञ्च कृतिनः कृतकार्य्या इत्यर्थः भुवनानि जगन्ति च कृतीनि इति शेषः जगतामुपद्रवरूपराक्षसवंशध्वसनादिति भावः । अवस्वात्मोपयोगित्वात् हनूमतः पताकात्वम् ॥ ४१२ ॥

आपताकाप्रकर्य्यौ मारीचजटायुषौ यथा,—

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥ ४१३ ॥

आपताका तथा प्रकरी के उदाहरण के रूप में मारीच तथा जटायु—

वह रावण राक्षस मारीच के मृगरूप से रघुवंशी राम तथा लक्ष्मण दोनों को ठग कर खगराज जटायु के द्वारा एक क्षण बाधित हो कर सीता को हर ले गया ॥ ४१३ ॥

स्व० द०—पताका में हनुमान् उक्त शब्दों को कहने वाले राम के ही लिये विशेष उपयोगी थे । अतः वहाँ स्वात्मोपयोगिता है । दूसरे उदाहरण में मृगरूपी मारीच अन्य अर्थात् रावण के लिये उपयोगी होने से आपताकात्व है, तथा जटायु का प्रयास किसी के भी लिये उपयोगी न होने से प्रकरीत्व भी है ।

रक्षसेति । स रावणः मृगरूपेण काञ्चनहरिणरूपधारिणा रक्षसा मारीचेन राघवौ रामलक्ष्मणौ वञ्चयित्वा प्रतार्य्य आश्रमात् निःसार्य्येति भावः पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन संग्रामव्यापारेणेति यावत् क्षणं अल्पकालं विघ्नितः सञ्जातविघ्नः सन् सीतां जहार हृतवान् । अत्र मारीचस्य मृगरूपत्वं अन्यस्य रावणस्य उपयोगायेति आपताकात्वम् पक्षीन्द्रस्य प्रयासो न कस्यापि उपयोगीति प्रकरीत्वम् ॥ ४१३ ॥

सहजा पूर्वजागन्तुः सखीह त्रिविधोच्यते ॥ १७२ अ ॥

यहाँ काव्य में सहजा, पूर्वजा तथा आगन्तुक तीन प्रकार की सखी कही जाती हैं । (१७२अ)

सहजेति । इहास्मिन् काव्ये इत्यर्थः सखी त्रिविधा उच्यते सहजा, पूर्वजा, आगन्तुरिति ॥ १७२ अ ॥

तासु लवङ्गिकादिः सहजा यथा,—

उज्ज्वलालोकया स्निग्धा त्वया त्यक्त्वा न राजते ।
मलीमसमुखी वर्त्तिः प्रदीपशिखया यथा ॥ ४१४ ॥

इनमें से लवङ्गिकादि सहजा हैं, जैसे—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।५५) ॥ ४१४ ॥

उज्ज्वलेति । उज्ज्वलः आलोकः उद्द्योतः कान्तिरित्यर्थः अन्यत्र प्रभा यस्याः तथाभूतया त्वया त्यक्ता विरहिता स्निग्धा प्रेममयीत्यर्थः अन्यत्र तैलपूर्णा सा इति शेषः प्रदीपशिखया त्यक्ता मलीमसं मलिनं मुखं यस्याः तथाभूता वर्त्तिर्यथा वर्त्तिरिव न राजते न शोभते। अत्र लवङ्गिकायाः रत्नावल्याः स्वभावसहचारित्वात् सहजात्वम् ॥ ४१४ ॥

कामन्दक्यादिः पूर्वजा यथा,—

तथा विनयनम्रापि यथा मालत्युपायतः ।
नीता कतिपयाहोभिः सखीविश्रम्भसेव्यताम् ॥ ४१५ ॥

कामन्दकी आदि पूर्वजा हैं, जैसे—

उस प्रकार से विनम्र रहने पर भी मालती मेरे (कामन्दकी के) द्वारा कुछ ही दिनों में कौशलपूर्वक सखी के सदृश विश्वासपूर्ण व्यवहारों के योग्य बना दी गई है ॥ ४१५ ॥

तथेति । तथा विनयेन तादृशेन सुशीलत्वादिना नम्रापि सौम्यापीत्यर्थः कतिपयाहोभिः कतिपयैर्दिवसैः उपायतः कौशलेन मया कामन्दक्या इति भावः सखीनां विश्रम्भः विश्वासः तस्य सेव्यतां वाच्यतामित्यर्थः नीता । अत्र कामन्दक्याः मालत्या जन्मनः प्रागेव तत्पित्रा सह सौहार्दवत्त्वात् पूर्वजात्वम् ॥ ४१५ ॥

त्रिजटादिरागन्तुः यथा,—

जाणइ सिणेहभणिअं मा रअणिरित्तिमे जुउच्छसु वअणं ।
उज्जाणम्मि वणम्मिअ जं सुरहिं तं लआण घेप्पइ कुसुमं ॥ ४१६ ॥

त्रिजटा आदि आगन्तुक हैं, जैसे—

हे जानकी, राक्षसी समझ कर मेरे प्रेम पुर्वक कहे गये शब्दों से घृणा मत करो । उपवन तथा वन में सुगन्धि फैलानेवाले जो हैं, उन लताओं के फूलों को ग्रहण कर लिया जाता है ॥४१६॥

[छाया—जानकी स्नेहभणितं मा रजनीचरीति में जुगुप्सस्व वचनम् ।
उद्याने वने च यत्सुरभि तल्लतानां गृह्यते कुसुमम् ॥]

स्व० द०—लवङ्गिका का रत्नावली से स्वभाव सहचारित्व होने से प्रथम में सहजता है। द्वितीय में कामन्दकी का मालती के जन्म के पूर्व उसके पिता से मैत्री होने से पूर्वजता है। त्रिजटा कुछ ही समय के लिये जानकी की सखी बनी थी, अतः वहाँ तो आगन्तुकता स्वतः सिद्ध है ।

नायकगुणेषु महाकुलीनत्वं पुंसो यथा,—

वासिष्ठैः सुकृतोद्भवोऽध्वरशतैरस्त्यग्निकुण्डोद्भवः
भूपालः परमार इत्यधिपतिः सप्ताब्धिकाञ्चेर्भुवः ।
अद्याप्यद्भुतहर्षगद्गद्गिरो गायन्ति यस्योद्भटं
विश्वामित्रजयोर्जितस्य भुजयोर्विस्फूर्जितं गुर्जराः ॥ ४१७ ॥

नायक के गुणों में पुरुष की महाकुलीनता का उदाहरण—

वसिष्ठ मुनि द्वारा सम्पन्न कराये गये सैकड़ों यज्ञों के अग्निकुण्ड से उत्पन्न, पुण्यों के उत्पत्तिस्थल, सात समुद्रों की मेखला वाली, पृथ्वी के शासक परमार नाम के राजा हैं, विश्वामित्र के जय से अर्जित जिनकी दोनों भुजाओं के पौरुष को आज भी विचित्र हर्ष से गद्गद वाणी वाले गुजरात के रहने वाले लोग जोर जोर से गाते हैं ॥ ४१७ ॥

वासिष्ठैरिति। वासिष्ठैः वसिष्ठेन मुनिना अनुष्ठितैरित्यर्थः अध्वराणां यज्ञानां शतैः अग्निकुण्डोद्भवः यज्ञाग्निकुण्डोत्थितः सुकृतानां पुण्यानाम् उद्भवः क्षेत्रमित्यर्थः सप्ताब्धि-काञ्चेः सप्तसमुद्रमेखलायाः भुवः पृथिव्याः अधिपतिः परान् शत्रून् मारयतीति परमार इति प्रसिद्धः भूपालः अस्ति आसीदिति भूतसामीप्ये लट्प्रयोगः। गुर्जराः गुर्जरदेशवासिनः अद्भुतेन विस्मयेन राज्ञो विक्रमगुणश्रवणजनितेनेति भावः हर्षगद्गदाः आनन्दार्द्रस्फुटा गिरो वाचः येषां तथाभूताः सन्तः विश्वामित्रस्य वसिष्ठशत्रुभूतस्येति भावः जयेन ऊर्जि-तस्य उद्रिक्तवीर्य्यस्य यस्य भूपालस्य भुजयोः बाह्वोः विस्फूर्जितं विक्रान्तम् अद्यापि गायन्ति कीर्त्तयन्ति ॥ ४१७ ॥

महाभाग्यं यथा,—

> दोर्निष्पेषविशीर्णवज्रशकलप्रत्युप्तरूढव्रणः
> ग्रन्थ्युद्भासिनि भग्नमोघमघवन्मातङ्गदन्तोद्यमे।
> भर्त्तुर्नन्दनदेवताविरचितस्रग्दाम्नि भूमेः सुता
> वीरश्रीरिव तस्य वक्षसि जगद्वीरस्य विश्राम्यतु ॥ ४१८ ॥

महाभाग्य का उदाहरण—

भुजाओं के मसलने से चूर्णित वज्र के टुकड़ों के कारण उत्पन्न हो गये घाव की ग्रन्थियों से सुशोभित, टूट जाने के कारण व्यर्थ हो गया था इन्द्र के हाथी ऐरावत के दाँतो का प्रहार जिस पर तथा जिस पर नन्दनवन की देवी के द्वारा रची गई फूलों की माला से युक्त, हमारे महाराज उस जगदेकवीर रावण के वक्षःस्थल पर वीरलक्ष्मी की भांति पृथ्वीपुत्री सीता विश्राम करें ॥ ४१८ ॥

दोरिति। दोष्णां बाहूनां विंशतेरिति भावः निष्पेषेण विमर्द्देन विशीर्णं चूर्णितं यत् वज्रम् इन्द्रप्रहीतमिति भावः तस्य शकलैः खण्डैः यत् प्रत्युप्तं प्रविद्धं तेन रूढा जाताः व्रणाः क्षतानि तेषां ग्रन्थिभिः उत्तुङ्गचिह्नविशेषैरित्यर्थः उद्भासते राजते इति तथोक्ते, भग्नः खण्डितः अतएव मोघः व्यर्थतां गतः मघवत; इन्द्रस्य मातङ्गस्य ऐरावतस्य दन्तोद्यमः वेधनार्थमुद्यतदन्त इत्यर्थः यस्मिन् तथाभूते अतएव नन्दनस्य देवोद्यानस्य देवतया स्वर्गपराजयेन वशीकृतयेति भावः विरचिता विरचय्य दत्तेति यावत् स्रग्दाम कुसुममालानिचय इत्यर्थः यत्र तादृशे तस्य जगद्वीरस्य त्रिलोकैकवीरस्येत्यर्थः भर्त्तुः स्वामिनः रावणस्य वक्षसि भूमेः सुता सीता वीरश्रीरिव वीरलक्ष्मीरिव विश्राम्यतु इतस्ततश्चलबुद्धिं निरस्य विश्रामसुखमनुभवतु इत्यर्थः। जनकसभायां रावणदूतस्य उक्तिः ॥ ४१८ ॥

औदार्य्यं यथा,—

दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम्॥ ४१९॥

उदारता का उदाहरण—
(अर्थादि के लिये द्रष्टव्य १।१६०॥)॥ ४१९॥

दिङ्मातङ्गेति। दिङ्मातङ्गानां दिग्गजानां घटाभिः सङ्घैः विभक्ताः चत्वारः आघाटाः सीमानः यस्याः सा चतुर्भिर्दिग्वर्त्तिभिः गजैः परिच्छिन्नसीमेत्यर्थः मही पृथिवी साध्यते विजयेन अधिक्रियते महावीरैरिति शेषः सा मही सिद्धापि स्वायत्तापीत्यर्थः सर्वभूभृद्विजयेनेति भावः वदन्त एव कीर्त्तयन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः हृष्टरोमाणः जाता इति शेषः पश्यत अवलोकयत यूयमिति शेषः विप्राय ब्राह्मणाय कश्यपायेति यावत् प्रतिपाद्यते प्रदीयते येनेति शेषः किमपरं वक्तव्यमिति शेषः यस्या लाभार्थं लोकाः प्राणानपि परित्यजन्ति ताम् अक्लेशेन यस्मै कस्मैचित् दातुं कः शक्नोतीति भावः तस्मै रामाय भार्गवाय नमः यस्मात् रामात् इदम् उक्तप्रकारादानीयमित्यर्थः कथाद्भुतम् अद्भुता अलोकसामान्या कथेत्यर्थः आविरभूत् उदतिष्ठदित्यर्थः यत्रैव रामे एव अस्तं गतं नाशं प्राप्तं न अपरे एतत् कर्त्तुं कदापि शक्ष्यन्तीति भावः॥ ४१९॥

कृतज्ञता यथा,—

कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः
वनमसि गता यस्य प्रीत्या धृतोपि तथा त्वया।
नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना
कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये! स तव प्रियः॥ ४२०॥

कृतज्ञता का उदाहरण—

दिखावटी क्रोध तथा कातर दृष्टि के साथ आंखों में आँसू भरे हुई तुम जिसके साथ वन आई, तुम्हारे उसी प्रकार के प्रेम से सुरक्षित रहने पर भी निष्ठुर चित्त वाला मैं, तुम्हारा प्रिय राम, तुम्हारे विना भी नये मेघो के कारण काली काली दिशाओं को देखता हुआ भी जीवित ही हूँ॥ ४२०॥

कृतकेति। हे प्रिये! यस्य मम प्रीत्यै प्रीत्यर्थं कृतककुपितैः यदि मां त्वामनुयान्तीं निवारयसि तदा प्राणान् त्यक्ष्यामीत्येवं कोपप्रकाशकैरिति भावः सदैन्यविलोकितैः कातरविलोकनयुतैरित्यर्थः वाष्पाम्भोभिः अश्रुभिः उपलक्षणे तृतीया वनं गतासि प्राप्तासि येन मया सहेति शेषः, त्वया तथा प्रीत्या तादृशेनैव प्रणयेनेत्यर्थः धृतोऽपि रक्षितोऽपीत्यर्थः कठिनहृदयः निष्ठुरान्तःकरणः स तव प्रियः वल्लभः भवतीं त्वां विना त्वद्विरहेणापीत्यर्थः नवजलधरैः श्यामाः नूतनमेघोदयेन श्यामवर्णाः दिशः पश्यन् जीवत्येव प्राणान् धारयत्येव। नवजलधराणां तथा उद्दीपकत्वेऽपि त्वद्विरहे प्राणधारणमतीव कठिनहृदयत्वम् तत्वात् मया त्वां प्रति नितरां निर्दयत्वमाचरितमिति भावः। रामस्य सीताविरहिण उक्तिः॥ ४२०॥

रूपसम्पद् यथा,—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ ४२१ ॥

रूपसंपद का उदाहरण—

विस्तृतवक्षःस्थल वाला, वृषभ के सदृश कंधा वाला, शाल वृक्ष की भांति लम्बी भुजा से युक्त यह मानो अपने कार्य में समर्थ देह को धारण किये हुये क्षात्रधर्म ही हो ॥ ४२१ ॥

व्यूढ इति । व्यूढं विशालम् उरो वक्षस्थलं यस्य सः वृषस्येव स्कन्धो यस्य सः उन्नतांस इत्यर्थः शालस्तदाख्यस्तरुः तद्वत् प्रांशुः उन्नतकाय इत्यर्थः महान्तौ भुजौ यस्य स महाभुजः दीर्घबाहुरित्यर्थः अतएव आत्मनः स्वस्य कर्मणि क्षमं समर्थं देहं शरीरं आश्रितः क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः अयं क्षात्रः धर्मः दुष्टनिग्रहशिष्टप्रतिपालनरूप इवेत्यर्थः स्थित इति शेषः ॥ ४२१ ॥

यौवनसम्पद् यथा,—

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद् यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गम्भीरमनोहरं वपुः ॥ ४२२ ॥

यौवन-सम्पत्ति का उदाहरण—

पूर्णवृषभत्व को छू रहे बछड़े की भांति, गजराजता को प्राप्त कर रहे हाथी के बच्चे की भांति रघु ने भी क्रमशः जवानी प्राप्त कर रहे शैशव से सम्पन्न होकर अपने गम्भीरता से मनोरम शरीर को पुष्ट किया ॥ ४२२ ॥

महोक्षतामिति । रघुः क्रमात् उत्तरोत्तरक्रमेणेत्यर्थः यौवनेन भिन्नं निराकृतं शैशवं यस्य तथाभूतः नवयौवन इत्यर्थः सन् महोक्षतां महावृषत्वं स्पृशन् प्राप्नुवन् वत्सतर इव गोशावक इव द्विपेन्द्रभावं गजेन्द्रत्वं श्रयन् अधिकुर्वन् कलभः करिशावक इव गम्भीरं मनोहरञ्चेति गम्भीरमनोहरं गाम्भीर्य्येण रम्यमित्यर्थः वपुः शरीरं पुपोष दधार । गाम्भीर्य्यमनोहरमिति पाठान्तरम् ॥ ४२२ ॥

वैदग्ध्यसम्पद् यथा,—

कोऽयं भामिनि ! भूषणं कितव ! ते शोणः कथं ? कुङ्कुमात्
कूर्पासान्तरितः प्रिये ! विनिमयः पश्यापरं नास्ति मे ।
पश्यामीत्यभिधाय सान्द्रपुलकौ मृद्नन मृडान्याः स्तनौ
हस्तेन प्रतिनिर्जितेन्दुरवतात् द्यूते हसन् वो हरः ॥ ४२३ ॥

वैदग्ध्यसम्पद् का उदाहरण—

(अर्थादि के लिये द्रष्टव्य २।३५७ ॥) ॥ ४२३ ॥

कोऽयमिति । हे भामिनि ! कान्ते ! अयं कः ? इति प्रश्नः । हे कितव ! धूर्त ! ते तव भूषणम् अलङ्कारभूतश्चन्द्र इति भावः उत्तरमिदम् । शोणः रक्ताभ इत्यर्थः कथम् ? चन्द्रस्य शुभ्रतायां सिद्धायां कथं रक्तत्वमिति भावः, इति पुनः प्रश्नः । कुङ्कुमात् कुङ्कुमलेपनेन

रञ्जनादिति भावः इति पुनरुत्तरम् । हे प्रिये ! कूर्पासान्तरितः कूर्पासेन स्तनावरणवाससा कांचुलीतिप्रसिद्धेनेति यावत् अन्तरितः आवृतः विनिमयः परिवर्त्तः मया द्यूते यदि पराजीयते तदा मम शिरस्थितः चन्द्रः त्वया प्राप्यते त्वया तु यदि पराजीयते तदा तव स्तनरूपश्चन्द्रः मया लभ्यते इत्येवं परिवर्त्त इत्यर्थः । इति पुनः प्रश्नः । पश्य अवलोकय अपरम् अन्यत् चन्द्रसदृशमित्यर्थः वस्त्विति शेषः मे मम क्व कुत्र अस्ति ? नास्तीत्यर्थः तदयमेव मे पण इति भावः । उत्तरमिदम् । पश्यामि अवलोकयामि इत्यभिधाय कथयित्वा द्यूते पाशक्रीडायां प्रतिनिर्जितः इन्दुश्चन्द्रो येन तथाभूतो हरः शिवः हसन् हासं कुर्वन् सान्द्रपुलकौ घनरोमाञ्चौ प्रियस्पर्शजनितसत्त्वोदयादिति भावः मृडान्याः पार्वत्याः स्तनौ हस्तेन मृद्नन अवतात् रक्षतु ॥ ४२३ ॥

शीलसम्पद् यथा, –

का त्वं शुभे ! कस्य परिग्रहो वा ? किं वा मदभ्यागमकारणं ते ?
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ४२४ ॥

शीलसम्पद् का उदाहरण—

हे भद्रे, तुम कौन हो ? किसकी पत्नी हो ? मेरे पास तुम्हारे आने का कारण क्या है ? तुम यह समझ कर (पूर्ण विश्वास के साथ कहो क्योंकि) जितेन्द्रिय रघुवंशियों के मन की प्रवृत्ति दूसरे की स्त्रियों से विमुख होती है ॥ ४२४ ॥

का त्वमिति । हे शुभे ! भद्रे ! त्वं का ? कस्य जनस्य परिग्रहः पत्नी वा ? ते तव मम अभ्यागमस्य मदन्तिकागमनस्य कारणं किम् ? वशिनां विजितेन्द्रियाणां रघूणां रघुवंशीयानां मनः चित्तं परस्त्रीषु परनारीषु विमुखा प्रवृत्तिः गतिः यस्य तथाभूतं मत्वा अवधार्य्य आचक्ष्व ब्रूहि ॥ ४२४ ॥

सौभाग्यसम्पद् यथा,—

असौ विद्याधारः शिशुरपि विनिर्गत्य भवनाद्
इहायातः सम्प्रत्यविकलशरच्चन्द्रमधुरः ।
यदालोकस्थाने भवति पुरमुन्मादतरलैः
कटाक्षैर्नारीणां कुवलयितवातायनमिव ॥ ४२५ ॥

सौभाग्यसम्पद का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।२४ ॥) ॥ ४२५ ॥

असाविति । असौ पुमानिति शेषः शिशुरपि बालकोऽपि भवनात् गृहात् विनिर्गत्य स्थानान्तरं गत्वेति यावत् विद्याधारः सर्वविद्याविभूषितः तथा अविकलः सम्पूर्णकल इत्यर्थः शरच्चन्द्रः शारदीयः शशधरः तद्वत् मधुरः मनोहरः सन् सम्प्रति इह अस्मिन् नगरे आयातः उपस्थितः । यस्य पुरुषस्य आलोकस्थाने दर्शनावसरे पुरं नगरं नारीणां महिलानाम् उन्मादेन उल्लासेन तरलाः चञ्चलाः तैः कटाक्षैः अपाङ्गविलोकनैः कुवलयितानि सञ्जातनीलोत्पलानि वातायनानि गवाक्षाः यस्य यत्र वा तत् भवति ॥ ४२५ ॥

मानिता यथा,—

यदात्थ कामं भवता स याच्यतामिति क्षमं नैतदनल्पचेतसाम् ।
कथं प्रसह्याहरणैषिणां प्रियाः परानुवृत्त्या मलिनीकृताः श्रियः ? ॥४२६॥

मानिता का उदाहरण—

'आप पूर्णतः उनसे त्राण की याचना करलें' इस प्रकार की जो बात तुमने कही है, वह उदारचित्त वालों के लिये उचित नहीं है। बलात् धन का अपहरण करने के इच्छुक लोगों को दूसरों की सेवा से गंदी कर दी गई सम्पत्तियाँ कैसे प्रिय हो सकती हैं? ॥ ४२६ ॥

यदिति। भवता त्वया स मत्प्रभुः किरातराज इति भावः याच्यतां प्रार्थ्यतां शरोऽयमिति शेषः इति यत् आत्थ ब्रवीषि? एतत् याचनमित्यर्थः अनल्पचेतसां मनस्विनां न क्षमं न योग्यं न उचितमित्यर्थः। अक्षमत्वे हेतुमाह कथमिति प्रसह्य बलात् आहरणं लाभम् इच्छन्तीति तथोक्तानां बलवतामिति यावत् परस्य अनुवृत्त्या सेवया प्रार्थनारूपयेति भावः मलिनीकृताः मालिन्यं नीताः श्रियः सम्पदः कथं केन प्रकारेण प्रियाः? प्रीतिकर्य्यः? न कथमपीत्यर्थः ॥ ४२६ ॥

उदारवाक्यत्वं यथा,—

ख्याता एव वयं जगत्सु चरितैर्वाग्भिः किमाख्यायते ?
संयत्तो भव शक्तिरस्ति भवतः सत्यं मनुष्यो भवान् ।
शस्त्रैरव्यवधीयमानयशसः प्रायो वयं तेषु चेत्
प्रायस्ते ननु सन्ति तेऽपि गिरयो यैर्वानराः शस्त्रिणः ॥ ४२७ ॥

उदारवाक्यता का उदाहरण—

हम लोग तो अपने कर्मों से ही संसार में विख्यात हैं, शब्दों से क्या कहा जाये? तैयार हो जाओ, आपमें भी शक्ति है, सचमुच आप मनुष्य ही हैं। शत्रुओं के शस्त्रों से हमारे यश में कोई व्यवधान नहीं पड़ता। यदि हमी लोगों के लिये तुम्हारे प्रयास हैं तो आज भी वे पर्वत-शिलाखण्ड-मेरे पास हैं, जिनसे तुम्हारे वानर लोग शस्त्रधारी कहलाते हैं ॥ ४२७ ॥

ख्याता इति। वयं जगत्सु त्रिलोकीषु चरितैः विक्रमादिभिरिति भावः ख्याताः प्रसिद्धा एव। वाग्भिः वाक्यैः किम् आख्यायते? कथ्यते? वाचा स्वप्रशंसनं महतां न उचितमिति भावः। भवान् सत्यं यथार्थतः मनुष्यः पुरुषकारसम्पन्नो मानव इत्यर्थः भवतः तव शक्तिः सामर्थ्यं वीर्यमित्यर्थः अस्ति वर्त्तते। संयत्तः सज्जितः भव। वयं प्रायः बाहुल्येन शस्त्रैः परेषामिति शेषः न व्यवधीयमानं न तिरस्क्रियमाणं यशो येषां तथाभूताः शस्त्रबलेन कैरपि वयं न निर्जेतुं शक्या इति भावः। तेषु शस्त्रैरव्यवधीयमानयशःसु अस्मासु इति शेषः चेत् यदि ते तव प्रायः प्रयास इत्यर्थः अस्माभिः सह युद्धार्थमुद्यम इति यावत् ननु भोः! तदा यैः गिरिभिः पर्वतैः वानराः त्वदनुचरा इति भावः शस्त्रिणः शस्त्रवन्तः वानरा हिं पर्वतखण्डैर्युध्यन्ते इति भावः ते गिरयोऽपि सन्ति विद्यन्ते। अतस्तैरेव वानरवत् अस्माभिः सह युध्यस्वेति भावः ॥ ४२७ ॥

स्थिरानुरागिता यथा,—

ततः कैरप्युक्ते परिणयविधौ काष्ठमुनिभिः
पुराणैरातङ्कग्लपितहृदयेन क्षितिभृता ।
विना वाचं नैतत् क्षममिति निधायाननमधः
पतद्बाष्पाम्भोभिर्निखिलमिव दत्तं प्रतिवचः ॥ ४२८ ॥

स्थिरानुरागिता का उदाहरण—

उसके पश्चात् कुछ काष्ठ के सदृश पुराने एवं नीरस मुनियों के द्वारा विवाह के विषय में कहने पर भी कष्ट के कारण खिन्न हृदय वाले राजा राम के द्वारा मुंह नीचे करके गिरते हुये आँसुओं के साथ विना शब्दों के ही "यह उचित नहीं है।" इस प्रकार का उत्तर दे दिया ॥ ४२८ ॥

तत इति। ततः अनन्तरं कैरपि पुराणैः वृद्धैरित्यर्थः काष्ठानीव कठिना मुनयः काष्ठमुनयः तैः प्रेमम‍र्मानभिज्ञैः मुनिभिरित्यर्थः परिणयविधौ पुनर्दारग्रहणव्यापारे इत्यर्थः उक्ते कर्त्तव्यतया कथिते सति क्षितिभृता राज्ञा रामेणेति शेषः आतङ्केन आशङ्कया तत् प्रस्तावेन पूर्वानुरागव्यत्ययकारिणा जनितयेति भावः ग्लपितं ग्लानिंनीतं हृदयं यस्य तथाभूतेन सता विना वाचं वाक्योत्तरं विनेत्यर्थः आननं वदनम् अधो निधाय अधोमुखीभूयेत्यर्थः पतद्भिः क्षरद्भिः प्रियायाः स्मरणादिति भावः वाष्पाम्भोभिः अश्रुभिः न एतत् पुनर्दारग्रहणमिति भावः क्षमं युक्तम् इति निखिलं सम्यगित्यर्थः प्रतिवचः प्रत्युत्तरवचनं दत्तमिव। एतेन अस्य पूर्वप्रियायां स्थिरानुरागित्वं सूचितम् ॥ ४२८ ॥

नायिकागुणेषु स्त्रियः महाकुलीनता यथा,—

मानुषीभ्यः कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः?
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ ४२९ ॥

नायिका के गुणों में स्त्री की महाकुलीनता का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।६८ ॥) ॥ ४२९ ॥

मानुषीभ्य इति। मानुषीभ्यः मानवजातीयाभ्यः स्त्रीभ्यः अस्य रूपस्य मूर्त्तेः सौन्दर्यस्य वा सम्भवः कथं केन प्रकारेण वा स्यात्? न केनापि प्रकारेण स्यादित्यर्थः। प्रभया तरलम् उज्ज्वलं ज्योतिः वसुधातलात् पृथिवीतलात् न उदेति न उत्पद्यते ॥ ४२९ ॥

औदार्यं यथा,—

भ्रूभेदे सहसोद्गतेऽपि वदनं नीतं परां नम्रताम्
ईषत् मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम्।
अन्तर्वाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारितं
कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया मुक्तश्च न प्रश्रयः ॥ ४३० ॥

औदार्य का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।१०२ ॥) ॥ ४३० ॥

भ्रूभेदे इति। भ्रुवोर्भेदे भङ्गे सहसा उद्गतेऽपि जातेऽपि वदनं मुखं परां नम्रताम् अधोवर्त्तितामित्यर्थः नीतं प्रापितम्। उद्गते इत्यत्र कृते इति पाठान्तरम्। मां प्रति ईषत् अल्पं भेदकारि कोपप्रकाशकमिति भावः हसितं हासः कृत इत्यर्थः। निष्ठुरं परुषं वचः वाक्यं न उक्तं न कथितम्। प्रभुतया निजप्रभावेण अन्तर्वाष्पेण अन्तर्गतेन अश्रुणा जडीकृतं जाड्यं नीतं चक्षुः न विस्फारितं न उन्मीलितम्। अतएव दयितया प्रियया कोपश्च प्रकटीकृतः प्रकाशितः प्रश्रयः विनयश्च न मुक्तः न त्यक्तः ॥ ४३० ॥

महाभाग्यं यथा,—

तां नारदः कामचरः कदाचित् कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्द्धहरां हरस्य॥ ४३१॥

महाभाग्य का उदाहरण—

स्वेच्छानुसार विचरण करने वाले नारद जी ने उस कन्या पार्वती को पिता हिमालय के पास एक समय देखकर यह सूचना दी कि यह अपने पति की एक मात्र वधू होगी और प्रेम से शिव के आधे शरीर को ग्रहण करेगी॥ ४३१॥

तामिति। कदाचित् कस्मिंश्चित् समये कामचरः स्वेच्छाविहारी नारदः तां पार्वतीं पितुः हिमाद्रेः समीपे प्रेक्ष्य दृष्ट्वा किलेति प्रसिद्धौ प्रेम्णा प्रणयातिशयेन हरस्य शरीरार्द्धहरां विच्छेदाशङ्कया अर्द्धशरीरभागिनीम् एकामद्वितीयां वधूं भार्य्यां भवित्रीं भाविनीं समादिदेश समादिष्टवान् कथयामासेत्यर्थः। तदेषा महाभाग्यशालिनी इत्यस्या महाभाग्यत्वम्॥ ४३१॥

कृतज्ञता यथा,—

पुरिससरिसं तुह इमं रक्खससरिसं कअं णिसाअरवइणा।
कह ता चिन्तिआसुलहं महिलासरिसं ण संपड़इ मे मरणं॥ ४३२॥

कृतज्ञता का उदाहरण—

जब राक्षसराज ने तुम्हारी इस पुरुष के लिये अनुकूल वस्तु को राक्षसों के लिये सदृश बना दिया उस समय महिलाओं के लिये अनुकूल मरण मेरे लिये क्यों नहीं सोचने मात्र से प्राप्य हो जाता है॥ ४३२॥

पुरिस इति॥ ४३२॥

रूपसम्पद् यथा,—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे! प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः॥ ४३३॥

रूपसंपद् का उदाहरण—

(अर्थादि के लिये द्रष्टव्य २।६२॥)॥ ४३३॥

आभरणस्येति। हे सखे! तस्याः रमण्याः वपुः शरीरम् आभरणस्य अलङ्कारस्य आभरणम् अलङ्कारः प्रसाधनविधेः अलङ्करणविधानस्य प्रसाधनविशेषः अलङ्करणविशेषः। उपमानस्य चन्द्रपद्मादेः प्रत्युपमानं प्रतिरूपमुपमानम्। तस्या अङ्गम् अलङ्कारं हाराङ्गदादिकम् अलङ्करोति, प्रसाधनं प्रसाधयति उपमानं चन्द्रादिकम् उपमिमीते इत्यर्थः॥ ४३३॥

यौवनसम्पद् यथा,—

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्य्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥ ४३४॥

यौवनसम्पत्ति का उदाहरण—

तूलिका से उरेहने पर जैसे चित्र चमक उठता है, और जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल विकसित हो जाया करता है, उसी प्रकार नव यौवन से उसका शरीर चारों ओर से उद्भासित हो उठा ।। ४३४ ।।

उन्मीलितमिति । तस्याः पार्वत्याः वपुरङ्गं तूलिकया उन्मीलितं प्रकटितं चित्रमिव, सूर्य्यांशुभिः रविकिरणैः भिन्नं विकासितम् अरविन्दमिव पद्ममिव नवयौवनेन विभक्तं विभज्य यथायथं विरचितमित्यर्थः सत् चतुरस्रशोभि सर्वतः शोभमानमित्यर्थः बभूव ॥ ४३४ ॥

वैदग्ध्यसम्पद् यथा,--

एकत्रासनसङ्गतिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरतः
ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः ।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्याऽन्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ।। ४३५ ।।

वैदग्ध्यसम्पद् का उदाहरण—

दूर से ही अगवानी के लिये उठ पड़ने से एक आसन पर बैठना बचा दिया गया, पान लाने के बहाने ललक करके किया जाने वाला आलिङ्गन भी प्रतिषिद्ध कर दिया गया। समीपवर्ती सेवकों को कार्यविधान के लिये आदेश देती हुई उसने प्रियतम के बातों से अपनी बातें भी नहीं मिलाईं । इस प्रकार किसी चतुर नायिका ने अपने प्रियतम के प्रति विभिन्न बहानों से अपना क्रोध सार्थक कर दिया ।। ४३५ ।।

एकत्रेति । चतुरया निपुणया कयाचित् कान्तया उपचारतः व्याजात् कान्तं प्रियं प्रति कोपः कृतार्थीकृतः सफलीकृतः कथमपि प्रकटीकृत इति यावत् तथाहि दूरतः दूरात् प्रत्युद्गमात् उत्थायाभिनन्दनात् एकत्र एकस्मिन् आसने सङ्गतिः सम्मेलनं कान्तेनेति भावः संस्थितिरिति पाठान्तरं परिहृता परित्यक्ता । रभसेन वेगेन हर्षेण वा आश्लेषः आलिङ्गनमपि ताम्बूलस्य आनयनमेव छलं तस्मात् ताम्बूलम् आनयामीति व्याजेनेत्यर्थः संविघ्नितः सञ्जातविघ्नः कृतः व्याहत इत्यर्थः । अन्तिके समीपे कान्तस्येति भावः परिजनं दास्यादिकमित्यर्थः व्यापारयन्त्या प्रेषयन्त्या सत्या आलापोऽपि सङ्कथनमपि न मिश्रितः प्रतिवचनादिना न मिश्रीकृत इत्यर्थः ॥ ४३५ ॥

शीलसम्पद् यथा,--

चतुरघरिणी पिअदंसणाअ बाला पउत्थवइआअ ।
असरसअज्जिआ उग्गआअ णहु खण्डिअं सीलं ।। ४३६ ।।

शीलसम्पद् का उदाहरण—

यद्यपि उस नायिका का घर चौराहे पर है, वह स्वयं देखने में बड़ी अच्छी भी है, जवान भी है, उसका पति परदेश गया हुआ है, उसकी पड़ोसिन दुश्चरित्रा है, और वह स्वयं निर्धन भी है तथापि उसने अपना शील नहीं छोड़ा । ४३६ ।।

[छाया —चत्वरगृहिणी प्रियदर्शना च तरुणी प्रोषितपतिका च ।
असती प्रतिवेशिनी दुर्गता च न खलु खण्डितं शीलम् ॥] गा. स. १।३६ ॥

चतुर इति ॥ ४३६ ॥

सौभाग्यसम्पद् यथा—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ ४३७ ॥

सौभाग्य सम्पद् का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।५४ ॥) ॥ ४३७ ॥

सञ्चारिणीति । सा पतिं वृणोतीति पतिंवरा स्वयंवरा इन्दुमती रात्रौ सञ्चारिणी इतस्ततः सञ्चरणं कुर्वती दीपशिखेव यं यं भूमिपालं व्यतीयाय परिजहारेत्यर्थः सः सः भूमिपालः राजा नरेन्द्रमार्गाट्ट इव राजपथवर्त्ती हर्म्यं इव विवर्णभावं मलिनत्वं प्रपेदे प्राप ॥ ४३७ ॥

मानिता यथा—

शैलात्मजाऽपि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखं कथञ्चित् ॥ ४३८ ॥

मानिता का उदाहरण—

पार्वती भी अपने सिर ऊँचा किये हुये पिता हिमालय की आकांक्षा तथा अपने मनोहर शरीर को बेकार समझ कर अपनी दोनों सखियों जया तथा विजया के सामने (ही यह मदनदहन हुआ है) इससे अधिकतर लज्जित हो कर किसी प्रकार खोये खोये मन से घर की ओर चल पड़ी ॥ ४३८ ॥

शैलेति । शैलात्मजापि पार्वती अपि उच्छिरसः उन्नतश्रृङ्गस्य हरो मे जामाता भविष्यति इति उन्नतं शिरो मे भविता इति महान्तमाशयमास्थितस्य च इति भावः पितुः हिमालयस्य अभिलाषं सङ्कल्पम् आत्मनः स्वस्य ललितं सुन्दरं मनोहरमित्यर्थः ललितं त्रिषु सुन्दरमिति त्रिकाण्डशेषः । वपुः शरीरञ्च व्यर्थं विफलं समर्थ्य सम्भाव्य सख्योः जयाविजययोः समक्षं चक्षुःसमीपे मदर्थम् एतद् मदनदहनरूपं घटनमिति च हेतोः अधिकं यथा तथा जाता लज्जा यस्याः तथाभूता अतएव शून्या सर्वमन्धकारमिव पश्यन्ती इति भावः कथञ्चित् अतिकृच्छ्रेण भवनाभिमुखं गृहाभिमुखं जगाम भवनाभिमुखीति पाठान्तरम् ॥ ४३८ ॥

उदारवाक्यत्वं यथा—

यथा श्रुतं वेदविदां वर ! त्वया जनोऽयमुच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः ।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ ४३९ ॥

उदारवाक्यता का उदाहरण—

हे वेदज्ञों में श्रेष्ठ तुमने जैसा सुना है, वही सत्य हैं कि यह जन ऊँचे पद की प्राप्ति का इच्छुक है। यह तपस्या उसी को प्राप्त करने का साधन है। कामनाओं के लिये अगम्यता नहीं होती ॥ ४३९ ॥

यथेति। हे वेदविदां वर ! वेदज्ञप्रवर ! त्वया यथा श्रुतम् आकर्णितं तथेति शेषः अयं जनः अतिसामान्य इति भावः उच्चैः पदस्य शिवरूपस्येति भावः लङ्घने आक्रमणे प्राप्ता-विति यावत् उत्सुकः उत्कण्ठितः अभिलाषीति यावत्। इदं तपः व्रताचरणं तस्य पदस्य अवाप्तेः प्राप्तेः साध्यते अनेनेति साधनं कारणं किल इति अलीके। एतेन तपसा तत्प्राप्ति-र्वृथा सम्भाव्यते इति भावः तर्हि निवृत्त्यतामित्याशयेन दुराशा मां न मुञ्चतीत्याह मनो-रथानाम् अभिलाषाणाम् अगतिः अगम्यस्थानमित्यर्थः न विद्यते नास्ति ॥ ४३९ ॥

स्थिरानुरागिता यथा—

अलं विवादेन यथा श्रुतं त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥ ४४० ॥

स्थिरानुरागिता का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।१४८ ॥) ॥ ४४० ॥

स्व० द०—ऊपर उल्लिखित पुरुषों तथा स्त्रियों की गुणसम्पद् हैं जिनकी अपेक्षा उनमें की गई है। जैसे, नायिका के लिये 'सर्वगुणसम्पद्योगाद्' और इसी प्रकार से नायक के लिये भी प्रयोगों में इन्हीं गुणों के सामग्र्य भाव से उपस्थित रहने की चर्चा की गई हैं। इनमें से ही एक चौथाई कम होने पर अथवा किसी क्रम से कमी होने से उपनायक आदि भेद भी सिद्ध होते हैं।

अलमिति। विवादेन कलहेन आवयोरिति शेषः अलं वृथा, विवादो निरर्थक इत्यर्थः अलं व्यर्थसमर्थयोरित्यमरः। त्वया यथा श्रुतं स हरः तावत् अशेषं समग्रं यथा तथा तथाविधः तादृशः अस्तु तिष्ठतु। अत्र अस्मिन् हरे मम मनः भावैकरसं प्रेमैकप्रवणं सत् स्थितं निश्चलतया अवस्थितम्। अयोग्यवासना इयं लोकेषु गर्हणीयतामादधातीत्यत्राह नेति। कामवृत्तिः स्वेच्छाविहारी वचनीयं लोकनिन्दां न ईक्षते न पश्यति न गणयतीत्यर्थः तदहं स्वेच्छया विचरामीति न मे लोकवादाशङ्केति भावः ॥ ४४० ॥

पाकभक्तिषु आदौ अस्वादु अन्ते स्वादु मृद्वीकापाकं यथा—

प्राक् कामं दहता कृतः परिभवो येनाथ सन्ध्यानतौ
सेर्ष्या वोऽवतु चण्डिका चरणयोस्तं पातयन्ती पतिम्।
कुर्वन्त्याभ्यधिकं कृते प्रतिकृतं मुक्तेन मौलौ मुहुः
वाष्पेणाहृतकज्जलेन लिखितं लक्ष्मेव चन्द्रे यया ॥ ४४१ ॥

पाकभक्ति

पाकभक्ति के प्रकरण में जो प्रारम्भ में अस्वादिष्ट हो तथा अन्त में स्वादिष्ट हो, वह मृद्वीका पाक है, जैसे—

पहले कामदेव का दहन करके जिस शंकर ने (नारियों का) अपमान किया था, वही जब संध्या के समय नत हुये उस समय ईर्ष्या के साथ अपने पति को अपने दोनों चरणों पर गिराती हुई क्रुद्ध गौरी आप लोगों की रक्षा करें जिन्होंने शिव के प्रणिपात करने पर 'इन्होंने अपराध की अपेक्षा उसका प्रतिकार बहुत अधिक कर लिया' इस भाव से पुनः शिव के मस्तक पर गिर रहे कज्जल से काले हो गये आँसुओं से उसी तरह का चिह्न बना दिया जिस प्रकार कि चन्द्रमा में (कलङ्क) हुआ करता है ॥ ४४१ ॥

स्व० द०—यहाँ काव्य में स्वाद का अर्थ है हृदयस्पर्शी चमत्कार। यहाँ पूर्वार्ध का अर्थ चित्त को विशेष रूप से आकृष्ट नहीं करता, क्योंकि एक वस्तु का यों ही वर्णन है किन्तु उत्तरार्ध अधिक रञ्जक है।

राजशेखर ने भी मृद्वीकापाक का जो लक्षण दिया है, वह भोज के समान ही है। उनके शब्दों में—'आदावस्वादु परिणाम स्वादु मृद्वीका पाकम्'
(काव्यमीमांसा ५ अध्याय)।

भोज ने तो इस प्रसंग में पाक का कोई लक्षण नहीं दिया हैं, किन्तु राजशेखर ने अनेक विचारकों के मतों का उल्लेख करने के बाद इसके कई प्रकारों का भी निर्देश किया है।

'सततमभ्यासवशतः सुकवेः वाक्यं पाकमायाति। 'कः पुनरयं पाकः?' इत्याचार्याः। 'परिणामः' इति मङ्गलः 'कः पुनरयं परिणामः?' इत्याचार्याः। सुपां तिङं च श्रवः प्रिया व्युत्पत्तिः 'इति मङ्गलः। 'सौशब्धमेतत्। 'पदनिवेश निष्कम्पता पाकः इत्याचार्याः। तदाहुः—

'आवापोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥'

'आग्रह परिग्रहादपि पदस्थैर्य पर्यवसायस्तस्मात्पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः' इति वामनीयाः ॥ तदाहुः

'यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यायनिष्णाता शब्दपाकं प्रचक्षते ॥'

'इयमशक्तिर्न पुनः पाकः इत्यवन्तिसुन्दरी। यदेकस्मिन् वस्तुनि महाकवीनां अनेकोऽपि पाठः परिपाकवान् भवति, तस्माद्रसोचित शब्दार्थ-सूक्ति-निबन्धनः पाकः। यदाह—

गुणालंकाररीत्युक्तिः शब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति ॥'

तदुक्तम्—सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥'

कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ इति यायावरीयः।

द्रष्टव्य काव्यमीमांसा ५ म अध्याय।

पाकभक्तिषु इति पाकविभागेषु इत्यर्थः।

प्रागिति। प्राक् पूर्वं येन हरेण कामं दहता भस्मीकुर्वता सता परिभवः अवमानना नारीणामिति शेषः कृतः, सन्ध्यानतौ सन्ध्यावन्दनार्थं प्रणतौ सत्यां सेर्ष्या परनारीभूतां

सन्ध्यामेषः प्रणमतीति ईर्ष्याकलुषितेत्यर्थः अतएव चरणयोः तं परिभवकारिणमित्यर्थः पतिं हरं पातयन्ती अपराधक्षालनार्थमिति भावः चण्डिका गौरी वः युष्मान् अवतु रक्षतु। यया चण्डिकया कृते अपराधे इति शेषः अभ्यधिकम् अपराधापेक्षया बहुतरमित्यर्थः प्रतिकृतं प्रतीकारं चरणपातनादिरूपमिति भावः कुर्वन्त्या सत्या मौलौ चरणपतितस्य हरस्य धम्मिल्ले मुक्तेन त्यक्तेन पातितेनेति भावः आहतं कज्जलं यत्र तादृशेन कज्जलमलिनेनेति यावत् आततकज्जलेनेति पाठान्तरम्। वाष्पेण अश्रुणा चन्द्रे तत्सन्निहितललाटवर्त्तिनीति भावः लक्ष्मेव कलङ्क इव लिखितम् अर्पितमित्यर्थः ॥ ४४१ ॥

आद्यन्तयोः स्वादु नारिकेलीरीतिपाकं यथा--

जह इच्छा तह रमिअं जाआ पत्ता पइं गआ धूआ।
घरसामिअस्स अस्स अज्ज विसो को उहच्छाइ अच्छीइम् ॥ ४४२ ॥

आदि तथा अन्त दोनों जगह स्वादु होने वाला नारिकेली पाक है। जैसे—

जितनी इच्छा थी उतना रमण किया, पत्नी मिली और पुत्री अपने पति के पास गई। गृहस्वामी की आँखें आज भी कौतूहल से युक्त हैं ॥ ४४२ ॥

[छाया—यथेच्छा तथा रमितं जाया प्राप्ता पतिं गता दुहिता।
गृहस्वामिनी अद्यापि सकौतूहलान्यक्षीणि ॥]

स्व० द०—यहाँ दी गई भोज की परिभाषा राजशेखर की परिभाषा से अक्षरशः अभिन्न है। जह इति ॥ ४४२ ॥

आदिमध्यान्तेषु स्वादु स्वादुतरं स्वादुतममिति आम्रपाकं यथा--

शापादसि प्रतिहता स्मृतिलोपरूक्षे
भर्त्तर्य्यपेततमसि प्रभुता तवैव।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ॥ ४४३ ॥

आदि, मध्य तथा अन्त में स्वादु, स्वादुतर, तथा स्वादुतम काव्य में आम्रपाक होता है, जैसे—

शाप से स्मृति के लोप के कारण पति के रूक्ष हो जाने पर तुम निन्दित हुई हो, विस्मृति का अन्धकार दूर होने पर तो तुम्हारा ही प्रभुत्व है। मैल के द्वारा विनष्ट कर दी गई स्वच्छता वाले दर्पण पर प्रतिबिम्ब ठीक से नहीं पड़ता, किन्तु निर्मल दर्पणतल पर उसके लिये अवकाश सुलभ होता है ॥ ४४३ ॥

स्व० द०—भोज ने केवल तीन ही पाकों का उल्लेख किया है। राजशेखर ने नव उपभेद माना है। उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त का उल्लेख इस प्रकार है—

'स च कविग्रामस्य काव्यमभ्यस्यतो नवधा भवति ॥ तत्राद्यन्तयोः अस्वादु पिचमन्दुपाकम्', आदावस्वादु परिणामे मध्यममबदरपाकम् आदौ मध्यममन्ते चास्वादु वार्त्ताकपाकम् आद्यन्तयोर्मध्यमं तिन्तिडीक पाकम्, आदौ मध्यममन्ते स्वादु सहकारपाकम, आदावुत्तममन्ते चास्वादु क्रमुकपाकम्, आदावुत्तममन्ते मध्यमं त्रपुसपाकम्,' तेषां त्रिष्वपि त्रिकेषु पाकाः प्रथमे त्याज्याः।

वरमकविर्न पुनः कुकविः स्यात्। कुकविता हि सोच्छ्वासं मरणम्। मध्यमा संस्कार्याः। संस्कारो हि सर्वस्य गुणमुत्कर्षति। द्वादशवर्णमपि सुवर्णं पावकपाकेन हेमीभवति। शेषा ग्राह्याः। स्वभावशुद्धं हि न संस्कारमपेक्षते। न मुक्तामणेः शाणस्तारतायै प्रभवति।' काव्यमीमांसा ५ म अ० ॥ अनवस्थितपाकं पुनः कपित्थपाक मामनन्ति। तत्र पलालधुननेन अन्नकणलाभवत् सुभापितलाभः।

सम्यगभ्यस्यतः काव्यं नवधा परिपच्यते।
हानोपादानसूत्रेण विभजेत्तद्धि बुद्धिमान् ॥ वही

शापादिति। भर्त्तरि पत्यौ शापात् दुर्वासस इति शेषः स्मृतेः स्मरणस्य लोपेन अपगमेन रूक्षः दारुणः निराकरणादिति भावः तस्मिन् सति प्रतिहतासि निराकृतासि। इदानीम् अपेततमसि शापावसानात् विगतमोहे भर्त्तरि सति तवैव न तु अन्यस्या इत्येवकारार्थः। प्रभुता प्रभुत्वं स्वस्परायण एव भर्त्ता भवेदिति भावः मलेन पांश्वादिना उपहतः नाशितः प्रसादः वैशद्यं यस्य तथाभूते दर्पणतले आदर्शतले छाया प्रतिबिम्बं न मूर्च्छति न प्रतिभाति शुद्धे स्वच्छे तु सुलभः सुप्रापः अवकाशः स्थितिः यथा तथाभूता भवतीति शेषः विशुद्धे दर्पणतले प्रतिबिम्बं सुष्ठु प्रतिभासते एवेत्यर्थः ॥ ४४३ ॥

यत् नापैति न चातिशोभते तत् नीलीरागं यथा--

हित्वा सीतां दवमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत् क्रतूनाजहार।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्त्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥ ४४ ॥

रागभक्ति

जो दूर भी नहीं होता और बहुत अधिक सुशोभित भी नहीं होता वह नीलीराग है, जैसे—सीता का परित्याग करके जो राम ने किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया, और जो उसी की प्रतिमा के साथ यज्ञों का सम्पादन किया, अपने पति के इस वृतान्त के कान में पड़ जाने से सीता ने दुर्वारणीय होने पर भी परित्याग के दुःख को सह लिया ॥ ४४ ॥

हित्वेति। दशमुखरिपुः दशाननहन्ता रामः सीतां हित्वा परित्यज्य यत् अन्याम् अपरां कान्तां न उपयेमे न परिणीतवान्, तथा तस्याः सीतायाः एव प्रतिकृतिसखः प्रतिमूर्त्तिद्वितीय इत्यर्थः यत् क्रतून् यज्ञान् आजहार अनुष्ठितवान् 'सस्त्रीको धर्ममाचरेदि'ति श्रुतेर्यज्ञादिषु सपत्नीकत्वस्मरणात्। तेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रुतिपथं गतेन भर्त्तुः वृत्तान्तेन व्यवहारेण सा सीता दुर्वारमपि वारयितुमशक्यमपि परित्यागदुःखं विषेहे सोढवती ॥ ४४४ ॥

यदपैति च शोभते च तत् कुसुम्भरागं यथा--

बहूवल्लहस्स ण होइ वल्लहा कह पि पञ्चदिअहाइम्।
सा किं छन्दं मग्गइ कन्तो मिच्छं च बहुआ च ॥ ४४५ ॥

जो छूट भी जाता है और सुशोभित होता है, वह कुसुम्भराग है, जैसे—

अनेक प्रेयसियों वाले नायक की जो प्रिया होती है, वह केवल पांच दिन तक किसी

प्रकार उसकी प्रतीक्षा करती है, क्या वह छठे दिन भी उसके सही स्वभाव की खोज करती है। क्योंकि मीठा भी हो और अधिक भी हो, (यह कहाँ संभव ?) ॥ ४४५ ॥

[छाया—बहुवल्लभस्य या भवति वल्लभा कथमपि पञ्च दिवसानि ।
सा किं षष्ठं मृगयते कुतो मृष्टं च बहुकं च ॥] गा. स. १।७२ ॥

बहु इति ॥ ४४५ ॥

यत् नापैति अपि च शोभते तत् मञ्जिष्ठारागं यथा—

वेवइ जस्स सव्विड़िअं वलिअं महइ पुलआइअत्थणकलसं ।
पेम्मसहावविमुसिअं दुबीआवकासगमणोस्सुअं वामाद्धं ॥ ४४६ ॥

जो दूर नहीं होता तथा सुशोभित भी होता है, वह मञ्जिष्ठाराग है, जैसे—

जिस अर्धनारीश्वर का आधा बायाँ भाग त्रिवली से युक्त है, प्रचुर रोमाञ्चों से स्तन-कलश से सुशोभित है उसी का द्वितीयार्ध प्रेम के चञ्चल स्वभाव से विमोहित होकर अवसर पा कर चलने के लिये उत्सुक है और लज्जापूर्वक काँपता है ॥ ४४६ ॥

स्व० द०—यह रागभक्ति की कल्पना-रंग के आधार पर काव्य के विभाजन का भाव कहाँ से भोज को मिली, कहा नहीं जा सकता। तथापि लोक-व्यवहार में यह सुन कर कि इस छन्द का बड़ा गहरा रंग पड़ा, क्या कहना है ? और इसी से प्रेरित होकर ग्रन्थकार ने यह निरूपण किया हो, ऐसी सम्भावना की जा सकती है।

वेपते यस्य सव्रीडं वलितं महत्पुलकाचितस्तनकलसम् ।
प्रेमस्वभावविमुषितं द्वितीयावकाशगमनोत्सुकं वामार्द्धम् ॥

वेपते इति। यस्य हरगौरीरूपस्येति भावः वामार्द्धं गौर्या वामभाग इत्यर्थः महता अतिशयितेन पुलकेन कान्तदेहसङ्गजनितेनेति भावः पुलकेन वलितं त्रिवलीयुतमित्यर्थः रोमाञ्चेन आचितः व्याप्तः आपूरित इत्यर्थः स्तनः कलस इव यत्र तथोक्तं प्रेम्णः स्वभावेन चापल्येनेतिभावः विमोहितम् अतएव द्वितीयस्मिन् अवकाशे स्थाने दक्षिणभागे इति भावः गमनोत्सुकं सव्रीडं सलज्जं वेपते कम्पते ॥ ४४६ ॥

गूढव्यलीकं अन्तर्व्याजं यथा—

प्रत्यग्रोज्झितगोकुलस्य शयनादुत्स्वप्नमूढस्य मे
सा गोत्रस्खलनादपैतु च दिवा राधेति भीरोरिति ।
रात्रावस्वपतो दिवा च विजने लक्ष्मीति चाभ्यस्यतः
राधां प्रस्मरतः श्रियं रमयतः खेदो हरेः पातु वः ॥ ४४७ ॥

व्याजभक्ति

छिपे हुये छल से युक्त अन्तर्व्याज का उदाहरण—

अभी अभी गोकुल को छोड़ कर आये हुये, दिन में स्वप्न देखने से विवश तथा डरपोक मेरे 'राधा' इस प्रकार का नामव्यत्यय करने से लक्ष्मीरूपा रूक्मिणी (क्रोध के कारण) शय्या से उठ कर जा सकती हैं, इसलिये रात में जाग जाग कर तथा दिन में एकान्त मिलने पर

'लक्ष्मी' नाम का बराबर अभ्यास करके 'राधा' का विशेष स्मरण ध्यान करते हुये तथा रुक्मिणी के साथ विहार करते हुये कृष्ण का क्लेश आप लोगों की रक्षा करे ॥ ४४७ ॥

प्रत्यग्रेति । प्रत्यग्रम् अभिनवं साम्प्रतमिति भावः उज्झितं त्यक्तं गोकुलं वृन्दावनमिति भावः येन तथोक्तस्य दिवा दिवसे उत्स्वप्नेन स्वप्नदर्शनेन मूढस्य विवशस्य मे मम भीरोः अन्यः कोऽपि पश्यतीतिबुद्धयेति भावः राधा इति गोत्रस्खलनात् नामव्यत्ययकरणात् सा श्रीर्लक्ष्मीः रुक्मिणीति यावत् शयनात् शय्यातलात् अपैतु अपगच्छतु कोपादिति भावः । तथैवं राधानामकीर्त्तनेऽपि देवी विरक्ता स्यादिति विविच्येत्यध्याहार्य्यं रात्रौ अस्वपतः स्वापमकुर्वतः दिवा च विजने एकान्ते लक्ष्मीति नामधेयम् अभ्यस्यतः पुनः पुनः जपतः तथा राधां प्रस्मरतः प्रकर्षेण ध्यायतः तथा श्रियं रुक्मिणीं रमयतः विहारयतः हरेः कृष्णस्य खेदः क्लेशः एकस्यामनुरागातिशयेन सततानुध्यानम् अन्यस्यां बाह्यानुरागप्रदर्शनञ्च इति उभाभ्यां जनित इति भावः वः युष्मान् पातु रक्षतु ॥ ४४७ ॥

अगूढव्यलीकं बहिर्व्याजं यथा——

चक्षुर्यस्य तवाननादपगतं नाभूत् क्वचित् निर्वृतं
येनैषा सततं त्वदेकशयनं वक्षःस्थली कल्पिता ।
येनोक्तासि विना त्वया मम जगच्छून्यं क्षणात् जायते
सोऽयं दम्भधृतव्रतः प्रियतमः कर्त्तुं किमभ्युद्यतः ॥ ४४८ ॥

जिसमें छल का भाव छिपा नहीं होता वह बहिर्व्याज है । जैसे—

जिसकी निगाहें तुम्हारे मुख से हटने पर कहीं भी चैन नहीं पाती थीं, जिसने अपने इस वक्षःस्थल को तुम्हारा ही अद्वितीय शय्यातल बना रखा था, जिसके द्वारा तुम कही गई थीं कि तुम्हारे अभाव से एक ही क्षण में मेरा संसार सूना हो जाता है, वही तुम्हारा यह दम्भरूप व्रत को धारण करने वाला प्रियतम क्या करने के लिये उद्यत हो गया है ॥ ४४८ ॥

चक्षुरिति । यस्य चक्षुः नयनं तव आननात् मुखात् अपगतं विनिवृत्तं सत् क्वचित् कुत्रापि न निर्वृतं न सुखितम् अभूत् त्वन्मुखैकानुरक्तं यस्य चक्षुरासीदित्यर्थः । येन एषा वक्षःस्थली सततं तव एकमद्वितीयं शयनं शय्यातलं कल्पिता कृतेत्यर्थः येन वक्षसा त्वं सततं धृतेति यावत् । येन त्वया विना क्षणात् मम जगत् शून्यं जायते इति उक्ता असि कथितासि । सोऽयं तव प्रियतमः दम्भेन अहङ्कारविशेषेण धृतं व्रतं तपोविशेषः येन तथाभूतः सन् किं कर्तुम् अभ्युद्यतः ? प्रवृत्तः ? । त्वां त्यक्त्वा व्रतच्छलेन अपगच्छतीति भावः ॥ ४४८ ॥

अव्यलीकं निर्व्याजं यथा,——

किं कण्ठे शिथिलीकृतो भुजलतापाशः प्रमादात् मया ?
निद्रोच्छेदविवर्त्तनेष्वभिमुखं नाद्यासि सम्भाषिता ? ।
अन्यस्त्रीजनसङ्कथालघुरहं स्वप्ने त्वया वीक्षितः ?
दोषं पश्यसि किं प्रिये ! परिजनोपालम्भयोग्ये मयि ? ॥४४९॥

जिसमें कोई भी मिथ्या प्रदर्शन का भाव न हो, वह निर्व्याज है। जैसे—

क्या मैने असावधानी में तुम्हारे गले में पड़ा हुआ भुजाओं का बन्धन शिथिल कर दिया है ! क्या आज रात में नींद टूटने पर करवट बदल कर तुम्हारी ओर मुख करके मैने तुमसे बातें नहीं की ? क्या तुमने स्वप्न में कहीं दूसरी स्त्री के साथ बात करने से लघु हो जाने वाले मुझको देखा तो नहीं। हे प्रियतमे ! सेवकों के योग्य उपालम्भ के पात्र मुझमें तुम क्या दोष देख रही हो ॥ ४४९ ॥

स्व० द०—यहाँ अन्तर्व्याज के उदाहरण में 'लक्ष्मी' नाम के स्मरण में राधा स्मरण का भाव भीतर ही भीतर छिपा हुआ है। द्वितीय उदाहरण में क्या करने को उद्यत हो गया है। इस वाक्य के द्वारा 'व्यलीकता' बाहर स्पष्ट कर दी गई है। अन्तिम में सारे कारण स्पष्ट उल्लिखित हैं। अतः यह व्याजता के आधार पर काव्य का भक्ति-विभाजन है।

संभवतः इसका भी मूल भोज की अन्तःप्रेरणा ही है।

किमिति। मया प्रमादात् अनवधानतः कण्ठे मदीये भुजलतापाशः त्वदर्पित इति शेषः किं शिथिलीकृतः शैथिल्यं नीतः ?। निद्राया उच्छेदे विरतौ यानि विवर्त्तनानि पार्श्वपरिवर्त्तनानि तेषु सत्सु अद्य अभिमुखं यथा तथा न सम्भाषितासि नालपितासि ? त्वया अन्येन स्त्रीजनेन सङ्कथया समालपनेन लघुः क्षुद्रः अहं स्वप्ने वीक्षितः ? दृष्टः ? हे प्रिये ! परिजनस्य सामान्यभृत्यवर्गस्य उपालम्भः तिरस्कारः तस्य योग्यः तदर्हं इत्यर्थः तस्मिन् मयि किं दोषं पश्यसि ? तस्मात् निरपराधे मयि त्वं प्रसीदेति भावः ॥ ४४९ ॥

धर्मानुबन्धि धर्मोदर्कं यथा,—

> अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
> नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
> मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
> गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ४५० ॥

उदर्कभक्ति

धर्म से सम्बद्ध को धर्मोदर्क कहते हैं। जैसे—

इसके पश्चात् वह (महाराज दिलीप) भोगों से अपने को हटा कर नियमानुसार अपने तरुण पुत्र रघु को अपना राजचिह्न श्वेत छत्र देकर अर्थात् उनका राज्याभिषेक करके उस देवी सुदक्षिणा के साथ तपोवन के वृक्षों की छाया में आश्रित हुये, क्योंकि आयु परिपूर्ण होने पर इक्ष्वाकुवंशीयों का यही कुलव्रत है ॥ ४५० ॥

अथेति। अथानन्तरं स दिलीपः विषयेभ्यः स्रक्चन्दनादिभोगवस्तुभ्यः व्यावृत्तः आत्मा चित्तं यस्य तथाभूतः विगतभोगस्पृह इत्यर्थः सन् यूने तरुणाय सूनवे पुत्राय राघवे यथाविधि यथाशास्त्रं नृपतिककुदं राजचिह्नं सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं दत्त्वा पुत्रं राज्ये अभिषिच्येति भावः तया देव्या महिष्या सुदक्षिणया सह मुनिवनस्य तपोवनस्येत्यर्थः तरुच्छायां शिश्रिये आश्रितवान् तपोवनं जगामेत्यर्थः। हि यतः गलितवयसां गतायुषामिति यावत् इक्ष्वाकूणाम् इक्ष्वाकुवंशीयानाम् इदं योग्यपुत्रे राज्यभारार्पणपुरःसरतपोवनाश्रयणमिति भावः कुलव्रतं वंशनियमः ॥ ४५० ॥

अर्थानुबन्धि अर्थोदर्कं यथा,—

भूत्वा चिराय सदिगन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय।
तत्सन्निवेशितभरेण सहैव भर्त्रा
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥ ४५१ ॥

अर्थ से सम्बद्ध को अर्थोदर्क कहते है, जैसे—

दिशाओं के अन्तिम छोर तक फैली हुई पृथ्वी की बहुत दिनों तक सपत्नी हो कर, अव्याहत रथ वाले पुत्र को दुष्यन्त से उत्पन्न करके उसके ऊपर राज्य भार डालने वाले पति के साथ फिर से इस शान्त तपोवन में अपना पैर रखोगी अथवा स्थान बनाओगी ॥ ४५१ ॥

भूत्वेति। चिराय दीर्घकालं सदिगन्तमह्याः दिगन्तसहितायाः पृथिव्या इत्यर्थः सपत्नी समानपतिका भूत्वा दौष्यन्तिं दुष्यन्तस्य इमम् अप्रतिरथं अप्रतिबलमित्यर्थः तनयं पुत्रं प्रसूय उत्पाद्य तस्मिन् पुत्रे सन्निवेशितः संस्थापितः भरः राज्यभारः येन तथाभूतेन भर्त्रा स्वामिना सहैव शान्ते अस्मिन् आश्रमपदे पुनः पदं स्थानम् अवस्थितिमित्यर्थः करिष्यसि ॥ ४५१ ॥

यत् पुनः काममेवानुबध्नाति तत् कामोदर्कं यथा,—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्य्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणतेर्यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य समानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥ ४५२ ॥

और फिर जो काम से ही अनुबद्ध होता हैं वह कामोदर्क है, जैसे—

जो सुख तथा दुःख की दशाओं में बदलता नहीं, जो सभी अवस्थाओं में अनुकूल है, जिसमें हृदय को शान्ति मिलती है, तथा जिसमें वार्धक्य के द्वारा भी आनन्द कम नहीं हो पाता है, समय के कारण लज्जा आदि पर्दों के समाप्त हो जाने पर जो परिपक्व हो कर स्नेह के सार रूप में विद्यमान रहता है, वह मङ्गलमय प्रियजन का अद्वितीय प्रेम किसी प्रकार-बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है ॥ ४५२ ॥

स्व० द०—'उदर्क' का अभिधेय अर्थ फल, परिणाम अन्त आदि होता है। उक्त उदाहरणों में इन्हें स्पष्टरूप से देखा जा सकता है।

अद्वैतमिति। सुखदुःखयोः सुखावस्थायाञ्च यत् अद्वैतम् अभिन्नं तथा सर्वासु अवस्थासु यत् अनुगुणम् अनुकूलम्। यत्र हृदयस्य अन्तरिन्द्रियस्य विश्रामः शान्तिः, यस्मिन् जरसा वार्द्धकेनापि रसः प्रीतिः अहार्य्यः हर्त्तुमशक्यः कालेन दीर्घकालसहवासेनेति भावः आवरणस्य लज्जादेः अत्ययात् अपगमात् यत् परिणते परिपाकं गते स्नेहसारे स्थितं परिणतस्नेहसाररूपेण तिष्ठतीत्यर्थः वर्त्तमाने क्तप्रत्ययः। तत् एकमद्वितीयं भद्रं साधु सुमानुषस्य सुजनस्य प्रेम प्रियता कथमपि प्राप्यते लभ्यते। एतादृक् प्रेमातीव विरलमिति भावः ॥ ४५२ ॥

नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः। इत्युक्तम्, तत्र अलङ्कार-संसृष्टेः इत्येव वक्तव्ये नानालङ्कारग्रहणं गुणरसानामुपसंग्रहार्थम्, तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेन अलङ्कारत्वात्।

यदाह—

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥ ४५३ ॥

अलंकारसंसृष्टि

नानालङ्कारसंसृष्टेः प्रकाराश्च रसोक्तयः—अनेक अलङ्कारों के संकर के विभिन्न भेद भी रसोक्तियाँ हैं—यह (५।११) कहा जा चुका है। वहाँ 'अलङ्कारसंसृष्टेः' इतना ही कहना चाहिये था, किन्तु 'नानालङ्कार' शब्द का ग्रहण गुणों तथा रसों का भी सन्निवेश करने के लिये है, क्योंकि काव्य की शोभा बढ़ाने के कारण उनकी भी अलङ्कारता सिद्ध होती है। जैसा कहा भी गया है—

काव्य में शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहा जाता है। आज भी वे विकल्प के विषय हैं। कौन उनका पूरी तरह कथन कर सकेगा? पहले भी कुछ अलङ्कार (वैदर्भी, गौड़ी, आदि) मार्गों का भेद प्रदर्शित करने के लिये कहे गये हैं। अब उससे भिन्न सामान्य अलङ्कार प्रदर्शित किये जा रहे हैं ॥ ४५३ ॥

काव्येति। काव्यस्य शोभां चारुतामित्यर्थः कुर्वन्ति जनयन्ति इति तान् धर्मान् विषय-भेदान् अलङ्कारान् प्रचक्षते कथयन्ति कवय इति शेषः। अद्यापि ते अलङ्काराः विकल्प्यन्ते विभिद्यन्ते। को जनः कार्त्स्न्येन साकल्येन तान् वक्ष्यति? न कोऽपीत्यर्थः ॥ ४५३ ॥

काश्चित् मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलङ्क्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमन्यत् प्रदर्श्यते ॥

ये काव्यादर्श के द्वितीय परिच्छेद की प्रथम तथा तृतीय कारिकायें हैं। यहाँ 'साधारणम्' पद का वास्तविक अर्थ है वैदर्भी तथा गौड़ी दोनों रीतियों में सामान्य रूप से विद्यमान रहने वाला। दण्डी ने रीति को 'मार्ग' शब्द से अभिहित किया है—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥ काव्यादर्श १।४० ॥

यहाँ एक बात अवश्य खटकती है वह है 'मार्गविभाग के समय' कहे गये गुणों को ही अलङ्कार मान लेना। वस्तुतः काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में वैदर्भी रीति के दश गुणों का उल्लेख करने के बाद अनुप्रास तथा यमक का भी उपक्रम किया गया है। यह निश्चित है कि ये अलङ्कार मार्गोपयोगी होने पर भी गुणों से भिन्न हैं, क्योंकि इनकी गणना दस गुणों में नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त यमक के प्रसङ्ग में दण्डी ने स्पष्ट कहा था कि यमक आदि अधिकतर पूर्णरूप में मधुर नहीं होते, अतः बाद में इनको कहा जायेगा—

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते ॥
आवृत्ति वर्णसङ्घातगोचरां कवयोः विदुः।
तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते ॥ काव्यादर्श १।५४,६१ ॥

मार्ग विभाग के प्रसङ्ग में कहे गये अलङ्कारों को न स्वीकार कर गुणों को उपस्थित करना भोज का साहसिक कर्म है, यद्यपि दण्डी के ग्रन्थ में गुण, अलङ्कार आदि का स्पष्ट तथा पृथक्-पृथक् लक्षण नहीं उपलब्ध होता। इसी अस्पष्टता का भोज ने अनुचित लाभ उठाया है।

काश्चित् इति। काश्चित् अलङ्क्रियाः अलङ्काराः प्रागपि पूर्वमपि मार्गस्य रीतिविशेषस्य विभागार्थं भेदार्थम् उक्ताः कथिताः। अन्यत् मार्गाद्भिन्नमित्यर्थः साधारणं सामान्यम् अलङ्कारजातं प्रदर्श्यते प्रकाश्यते ॥ ४५३ ॥

तत्र काव्यशोभाकरान् इत्यनेन श्लेषोपमादिवद् गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनपि उपगृह्णाति। मार्गविभागकृद्गुणानामलङ्क्रियोपदेशेन श्लेषादीनां गुणत्वमिव अलङ्कारत्वमपि ज्ञापयति ॥

वहाँ 'काव्यशोभाकरान्' इस पद से श्लेष, उपमा आदि की भांति गुण, रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशान्ति आदि का भी ग्रहण कर लेते हैं। मार्ग (रीति) को पृथक् करने वाले गुणों की, भी अलङ्कार का उपदेश करके, श्लेष आदि की गुणता की भांति ही अलङ्कारता भी सूचित करते हैं ॥

स्व० द०—भोज ने रसोक्ति, वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति नाम से विभक्त किये गये काव्य में अनेक अलङ्कारों की संसृष्टि को भी रसोक्ति ही स्वीकार किया है, जब कि परवर्ती साहित्यशास्त्री रस, अलङ्कार आदि प्रस्थानों को भिन्न भिन्न मानते हैं। भोज ने प्रमाण के रूप में दण्डी के 'काव्यादर्श' से कारिकायें उद्धृत की है।

तत्रेति। श्लेष उपमा इत्यादयो यथा अलङ्काराः तथा गुणरसभावादयोऽपि अलङ्कारत्वेन परिगृह्यन्ते इति भावः ॥

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
तेषां विपर्य्ययः प्रायो लक्ष्यते गौडवर्त्मनि ॥

इति श्लेषादीनां दशानामेव मार्गप्रविभागकारितां ब्रुवन् काव्यशोभाकरत्वेन गुणान्तराणामपि अलङ्कारत्वमुपकल्पयति। तदाह, कस्तां कार्त्स्न्येन वक्ष्यति, युक्तमिदमुक्तम्। अयुक्तन्त्विदमुक्तं 'रसानामलङ्कारता' इति। तेषां गुणानामिव अलङ्कारव्यपदेशाभावात् नायुक्तम्। युक्तोत्कर्षणामूर्जस्विरसवत्प्रेयसामलङ्कारेषु उपदेशात् ॥

'श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति तथा समाधि ये दस गुण वैदर्भी मार्ग के प्राण रूप में याद किये गये हैं। गौडी रीति में अधिकतर इनकी विपरीतता देखी जाती है।

इस प्रकार श्लेष आदि दस की ही मार्गविभाजकता को कहते हुये काव्य में शोभा उत्पन्न करने के कारण अन्य गुणों की भी अलङ्कारता को सिद्ध करते हैं। जैसा कहा भी है कि 'उनका पूर्णतः वर्णन कौन कर सकेगा?' (दण्डी का) यह कथन तो उचित है। अनुचित तो यह

कथन है जहाँ 'रसों की अलङ्कारता' कही गई है। क्योंकि गुणों की भांति उनमें अलङ्कार संज्ञा नहीं है। (किन्तु सिद्धान्त पक्ष यह है कि) (रसों को भी अलङ्कार कहना) अनुचित नहीं है। क्योंकि युक्तोत्कर्षता' अर्थात वाच्यार्थ का शोभाकरत्व-होने से ऊर्जस्वि, रसवद तथा प्रेय का अलङ्कार के रूप में उपदेश किया गया है॥

स्व० द०—इस प्रसंग में भी भोज ने दण्डी के काव्यादर्श (१।४१-४२) से ही प्रमाण उद्धृत किया है। वस्तुतः रस को अलङ्कार मानना रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों को अभीष्ट नहीं हैं, अलङ्कार भले ही रस हो जायें। इससे काव्यात्मता के सिद्धान्त में अन्तर पड़ता है। अलङ्कार सम्प्रदाय के आचार्य रस, भाव, तदाभास, भावशान्ति, आदि को रसवद, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, उदात्त आदि अलङ्कार के रूप में स्वीकारते हैं, प्रायः पृथक् नहीं, किन्तु रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्य अलङ्कारों को पृथक् मानते हैं, किन्तु प्रधान रूप से रस तथा ध्वनि को और गौण रूप से अलङ्कारों को काव्य में उपयोगी मानते हैं। भोजराज गुणों को भी अलङ्कार मानते हैं और रस को भी क्योंकि जब रस पूर्णरूप से व्यक्त नहीं होता अपितु रति आदि स्थायी केवल 'युक्तोत्कर्ष' होते हैं, मात्र उद्बुद्ध होते हैं, तब वे अलङ्कार के सदृश ही होते हैं।

श्लेष इति। **श्लेषादयो दश वैदर्भमार्गस्य वैदर्भ्या रीतेः प्राणाः जीवनभूताः गुणाः स्मृताः कथिताः। गौडवर्त्मनि गौडीमार्गे प्रायः बाहुल्येन तेषां दशानां श्लेषादीनां विपर्ययः वैपरीत्यं लक्ष्यते दृश्यते॥**

तद् यथा,—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारं युक्तोत्कर्षञ्च तत् त्रयम्॥ १७२॥

वह इस प्रकार है—

अत्यन्त प्रीतिजनक कथन प्रेयः हैं, रस से चमत्कृत आख्यान रसवत् है तथा प्रदीप्त गर्व वाला कथन ऊर्जस्वि हैं। यह तीनों ही उत्कर्ष से समन्वित-वाच्यार्थ के पोषक-होने से कहे गये हैं॥ १७२॥

प्रेय इति। **प्रियतरं अतीव प्रीतिजनकमित्यर्थः आख्यानं कथनं प्रेयः, रसेन पेशलं समुज्ज्वलमित्यर्थः आख्यानं रसवत्, रूढः प्रदीप्तः अहङ्कारः गर्वः आख्यानम् ऊर्जस्वि, तद् उक्तमित्यर्थः त्रयं युक्त उत्कर्षो यस्मिन् तथाभूतम् उत्कर्षवदित्यर्थः॥ १७२॥**

तत्र ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारमित्यनेन आत्मविशेषनिष्ठस्य उत्कृष्टजन्मनोऽनेक-जन्मानुभवसंस्काराहितद्रढिम्नः संग्रामे गुणसम्पदुत्पादातिशय-हेतोरलङ्कारविशेषस्य उपसंग्रहादहङ्काराभिमानशृङ्गारापरनाम्नो रसस्य मानमयविकाररूपेण अभिमानिनां मनसि जाग्रतः परां कोटिमुपवर्णयति। रसवद्रसपेशलमित्यनेन विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति रत्यादिरूपेण अनेकधा आविर्भवतोऽभिवर्द्धमानस्य परप्रकर्षगामिनः शृङ्गारस्य मध्यमावस्थां सूचयति॥

वहाँ पर 'ऊर्जस्वि रूढाहंकारम्' इस कथन से अपनी विशिष्टताओं से युक्त, शुभ अदृष्ट से उत्पन्न, कई जन्मों के अनुभवों के संस्कारों से दृढता से सम्पन्न कर दिये गये, संग्राम में गुणराशियों की उत्पत्ति के आधिक्य के कारणभूत अलङ्कार विशेष का उपसंग्रह होने से अहङ्कार, अभिमान, शृङ्गार आदि भिन्न नामों वाले रस का जो कि मानयुक्तता रूप में विकार के रूप में अभिमानियों के हृदय में उद्‌बुद्ध रहता है, उसका कवि महान् उत्कर्ष निरूपित करता है। (उक्त कारिका में ही जो) 'रसवद् रसपेशलम्' कथन है इससे चूँकि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि तथा सात्त्विक भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती हैं, इस लिये रति आदि के रूप में अनेक प्रकार से आविर्भूत होने वाले, सर्वत्र फैलते हुये तथा चरम उत्कर्ष को प्राप्त करने वाले शृङ्गार की मध्यम अवस्था को सूचित करता है॥

स्व० द०—यहाँ ऊर्जस्वि तथा रसवद् का व्याख्यान किया गया है। कारिका में आये हुये सम्बद्ध शब्दों का उल्लेख करके व्याख्या उपस्थित की गई है। अन्त में जो मध्यावस्था अथवा मध्यमावस्था का कथन हैं, उसका अभिप्राय यही है कि जब ये भाव पूर्ण व्यक्त हो जाते है तब तो रसता होती है, किन्तु जब इनमें मात्र स्फुरण होता है, स्थायी पूर्णतः व्यक्त न होकर उद्‌बुद्ध मात्र होते हैं, उस समय उनमें अलङ्कारता आती है। यह 'प्रेयः प्रियतरः' आदि काव्यादर्श (२।२७५) का है।

तत्रेति। **आत्मनो विशेषः वैलक्षण्यं तद्विशिष्टस्य तद्‌वृत्तेः। उत्कृष्टात् अदृष्टात् जन्म यस्य तथाभूतस्य शुभादृष्टसमुत्पन्नस्येति यावत्। अनेकेषु जन्मसु योऽनुभवः आस्वादविशेषः तस्य संस्कारेण आहितः जनितः दृढिमा दार्ढ्यं यस्य तथोक्तस्य। अहङ्कारेति। अहङ्कारः अभिमानः शृङ्गार इति अपराणि नामानि यस्य तथाभूतस्य। परां महतीं कोटिम् उत्कर्षमिति भावः। उपवर्णयति कविरिति शेषः। रसवदिति आविर्भवतः प्रकाशमानस्य अभिवर्द्धमानस्य अभितो वृद्धिं गच्छतः परप्रकर्षगामिनः परमोत्कर्षं प्राप्तस्य॥**

प्रेयः प्रियतराख्यानमित्यनेन समस्तभावमूर्द्धाभिषिक्तायाः रतेः परप्रकर्षाधिगमाद् भावनाभिगमे भावरूपतामुल्लङ्घ्य प्रेम रूपेण परिणताया उपादानाद् भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिरिति ज्ञापयन् अलङ्कारस्य उत्तरां कोटिमुपलक्षयति। सर्वेषामपि हि रत्यादिप्रकर्षाणां रतिप्रियः, रणप्रियः, परिहासप्रियः, अमर्षप्रिय इति प्रेम्णि एव पर्य्यवसानं भवति। युक्तोत्कर्षश्च तत् त्रयमित्यनेन अयुक्तोत्कर्षाणां त्रयाणामप्यूर्जस्विप्रभृतीनां गुणत्वमेव नालङ्कारत्वमित्यवस्थापयति। तथाहि, और्जित्यं भाविकं प्रेय इति गुणेषु भण्यते, कुतः पुनरिदमेकदा ऊर्जस्विरसवत्प्रेयसामलङ्कारत्वमन्यदा गुणत्वम्, उच्यते॥

'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' इस वाक्य के द्वारा सभी भावों में शीर्षस्थ रति का चरम उत्कर्ष प्राप्त होने से जब भावना का अधिगम होता है तब भावरूपता को छोड़ कर प्रेम रूप में बदल गई उसका ग्रहण होने से दूसरे भावों की भी परमोन्नति प्राप्त होने से वह रस के रूप में परिणत हो जाती है, इस बात को बतलाते हुये आचार्य अहङ्कार की उत्कृष्ट सीमा का ज्ञान कराते हैं। सभी प्रकार के रति आदि के प्रकर्षों की यह रतिप्रिय है, यह रणप्रिय है, यह परिहासप्रिय है, यह अमर्षप्रिय है, इस रूप में प्रेम में ही परिणति होती है। (कारिका

के) 'युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम्' इस वाक्य से उत्कर्ष न प्रदान करने वाले इन तीनों ऊर्जस्वि आदि की गुणता की ही स्थापना होती है, न कि उनकी अलंकारता की। जैसे कि—और्जित्य, भाविकत्व, प्रेय ये तो गुणों में पढ़े जाते हैं, फिर यह कैसे सम्भव है कि एकबार तो ऊर्जस्वि, रसवद् तथा प्रेय की अलङ्कारता निरूपित की गई और दूसरी बार गुणता'? उत्तर कहा जा रहा है—

प्रेयः प्रियतराख्यानमिति। समस्तभावानां मूर्द्धाभिषिक्तायाः शिरसि स्थितायाः इत्यर्थः परप्रकर्षाधिगमात् परमोत्कर्षावबोधनादित्यर्थः भावनाभिगमे पर्य्यालोचनायामित्यर्थः भावरूपतां भावस्वरूपत्वम् उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य परित्यज्येत्यर्थः। भावान्तराणामपि भावविशेषाणामपि परप्रकर्षाधिगमे परमोत्कर्षबोधने। उत्तरां चरमामवस्थाम्॥

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

यथा, गोमान् देशः, वाचालो वटुः, वाग्मी विपश्चित्, क्षीरिणो वृक्षाः, बलवान् मल्लः, दण्डी, गोमती शालेति। तत्रोर्जस्विरसवतोरलङ्कारत्वविवक्षायाम् अतिशायने वा भूम्नि वा मतुबर्थीयः। गुणत्वविवक्षायान्तु प्रशंसानित्ययोगयोः इति द्रष्टव्यम्। नित्यो हि काव्ये गुणयोग इव रसादियोगः. गुणवतो रसवतश्च निश्चितैव अस्य प्रशंसा। संसर्गस्तु गुणानामवश्यमुपादानात् निन्दा पुनर्दोषहानेः न अवतरति गुणेषु। प्रेय इति रूपाभेदात् कथमलङ्कारत्वे तदुत्कर्षप्रतीतिः यथा, युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम् इति। तत्र अतिशायिगुणान्तरेण तदवगतिरिति चेत् इहापि 'युक्तोत्कर्षश्च तत् त्रयम्' इति वाक्यान्तरेण भविष्यति। न च आतिशायिकाः स्वार्थातिरिक्तं किमपि ब्रुवते, अपि तु प्रकृत्युपात्तमेव प्रकर्षादिकं गमयन्ति। स्वार्थिकेषु ह्येते विधीयन्ते। एवमवस्थापिते गुणरसानामलङ्कारत्वे षट्प्रकारो रसालङ्कारसङ्करः संभवति। गुणसङ्करः, अलङ्कारसङ्करः, गुणालङ्कारसङ्करः, रससङ्करः, रसगुणसङ्करः, रसालङ्कारसङ्करश्चेति। ननु अत्र गुणानां सङ्करव्यवहारो नोपपद्यते, बहुष्वपि गुणेषु गुणवदित्येव व्यपदेशात्। मैवम्। त्रिविधाः गुणाः शब्दगुणाः, अर्थगुणा दोषगुणाश्च। ते तु प्रत्येकं द्विधा उल्लेखवन्तः, निरुल्लेखाश्च। तत्र शब्दगुणेषु समाधिमाधुर्य्योदार्य्यगाम्भीर्य्यादयः सोल्लेखाः, श्लेषप्रसादसमतासौकुमार्य्यादयो निरुल्लेखाः। अर्थगुणेषु प्रसादरीतिकान्त्यादयः सोल्लेखाः, अर्थव्यक्तिसौक्ष्म्यगाम्भीर्य्यसम्मितत्वादयो निरुल्लेखाः। दोषगुणेषु ग्राम्यपुनरुक्तापार्थन्यार्थादयः सोल्लेखाः, शब्दहीनसम्भ्रमापक्रमविसन्ध्यादयो निरुल्लेखाः। तत्र सजातीयानां सोल्लेखानामेवम्, विजातीयानान्तु निरुल्लेखानामपि सङ्करव्यवहारः प्रवर्त्तते॥

'अस्ति'-सत्ता- के अर्थ में बाहुल्य, गर्हा, स्तुति, नित्यसम्बन्ध, आधिक्य, तथा संसर्ग प्रकट करने के लिये मतुप् आदि प्रत्ययों का प्रयोग होता है। जैसे बहुत सी गायों से युक्त देश, बहुत बोलने वाला ब्रह्मचारी, खूब बातें करने वाला विद्वान्, निरन्तर दूध से युक्त रहने वाले वृक्ष, अत्यधिक बलवाला पहलवान, दण्ड को साथ लेने वाला, बहुत सी गायों से भरा हुआ घर। वहाँ ऊर्जस्वि तथा रसवत् इन दोनों की अलंकारत्व-विवक्षा में आधिक्य अथवा बहुल अर्थ में वैकल्पिक मतुबर्थीय प्रत्यय हैं। गुणत्व की विवक्षा में तो प्रशंसा तथा नित्ययोग अर्थों में इन्हें देखना चाहिये।

क्योंकि काव्य में जिस प्रकार गुण का योग नित्य होता है उसी प्रकार रस का भी योग नित्य हो। जो काव्य गुण तथा रस से नित्ययुक्त है उसकी प्रशंसा निश्चित ही है। गुणों का अवश्य ही ग्रहण होने से संसर्ग (रूप अर्थ) तथा दोषों का (काव्य में) परित्याग होने से निन्दा (रूप अर्थ, ये दोनों अर्थ) गुणों में लागू नहीं होते। 'प्रेय' इस पद में रूप की अभिन्नता होने से उसकी अलंकारता निरूपित होने पर उसके उत्कर्ष की प्रतीति कैसे होगी? जिस प्रकार से 'युधिष्ठिर कुरुओं में सर्वश्रेष्ठ हैं', यह कहने से। 'वहाँ अन्य अतिशायी गुणों के द्वारा उसका ज्ञान होता है, यदि ऐसा कहा जाये तो, यहाँ भी 'युक्तोत्कर्षश्च तत् त्रयम्' इस दूसरे वाक्य से हो ही जायेंगे। यह बात नहीं है कि अतिशयता से युक्त पद अपने अर्थ से अतिरिक्त-धात्वर्थ से भिन्न-भी कुछ प्रकट करते हैं, बल्कि धातु से ही प्राप्त प्रकर्ष आदि का बोध कराते हैं। स्वार्थिकों अर्थात् प्रकृति धातु के अवस्थापित अर्थों में ही ये (प्रेय आदि अलंकार) कहे जाते हैं। इस प्रकार गुणों तथा रसों की अलंकारता सिद्ध हो जाने पर छह प्रकार का रस और अलंकारों का संकर सम्भव है। १-गुणसंकर २-अलंकार संकर ३-गुणालंकार संकर ४—रससङ्कर ५—रसगुणसङ्कर तथा ६—रसालंकारसङ्कर। 'यहाँ गुणों की सङ्करता कहना उपपन्न नहीं होता है क्योंकि अनेक गुणो के रहने पर भी 'यह काव्य गुणयुक्त है' ऐसा ही कहा जाता है।' 'ऐसी बात नहीं है।' गुण तीन प्रकार के हैं--शब्दों के गुण, अर्थों के गुण तथा दोषगुण। ये (तीनो) ही दो दो प्रकार के हैं—उल्लेखयुक्त तथा निरुल्लेख। वहाँ शब्दगुणों में से समाधि, माधुर्य, औदार्य, गाम्भीर्य आदि सोल्लेख हैं तथा श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य आदि निरुल्लेख हैं। अर्थगुणों में भी प्रसाद, रीतिमत्, कान्ति आदि सोल्लेख हैं और अर्थव्यक्ति, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, संमितत्व आदि निरुल्लेख हैं। दोषगुणों में ग्राम्य, पुनरुक्त, अपार्थ, अन्यार्थ आदि सोल्लेख हैं तथा शब्दविहीनत्व, संभ्रम, अपक्रम, विसन्धि आदि निरुल्लेख हैं। इनमें सजातीयों में केवल सोल्लेखों में तथा विजातीयों में तो निरुल्लेखों का भी संकरव्यवहार प्रवृत्त होता है॥

स्व० द०—जहाँ पर 'होना' अर्थ विवक्षित होता है, वहाँ बहुलता आदि छः अर्थों में मतुप् आदि मत्वर्थीय प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। पाणिनि के 'तद् अस्याऽस्ति, अस्मिन्, इति मतुप्' ॥ ५।२।९४ ॥ सूत्र से यह भाव निकलता है। 'ऊर्जस्वी' तथा 'रसवत्' पद क्रमशः मत्वर्थीय विन् (ऊर्जस्+विन्) तथा मतुप् (रस+मतुप्) प्रत्ययों के=अस्—माया—मेधा—स्रजो विनिः ॥ ५।२।१२१ ॥ तथा 'तद् अस्यास्ति अस्मिन् इति मतुप् ॥ ५।२।९४ ॥' सूत्रों से हुआ है। मतुप् तथा मतुबर्थ प्रत्यय उक्त छह अर्थों में होते हैं। उनके उदाहरण भी वृत्ति में दिये जा चुके हैं। ये दोनो पद उक्त छह अर्थों में से जब 'अतिशायिन्' तथा 'भूमा' अर्थों में प्रयुक्त होते हैं तब

तो अलंकार वाचक होते हैं और जब नित्ययोग तथा प्रशंसा के अर्थ में होते हैं तब गुण हो जाते हैं। इसप्रकार उनकी अलंकारता तथा गुणता दोनो सिद्ध हो जाती है। कारण वृत्ति में स्पष्ट है।

उक्त उदाहरणों में गोमान् में मतुप् (गो+मतुप्), वाचाल में आलच् (वाच्+आलच्), वाग्मी में ग्मिनि (वाच्+ग्मिन्), क्षीरी में इनि (क्षीर+इनि), दण्डी में भी इनि (दण्ड+इनि), तथा बलवान् में भी मतुप् (बल+मतुप्) है। इसमें 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' ॥ ८।२।९ ॥ से मकार के स्थान पर 'वकार' हुआ है। यहाँ मतुप् को छोड़कर शेष मतुबर्थीय हैं॥

केवल शृङ्गार ही नहीं अपितु अन्य रसों के भी स्थायी भावों के 'युक्तोत्कर्ष' होने पर 'रसवत' अलंकार होता है। दण्डी के शब्दों में—

इतिकारुण्यमुद्रिक्तमलंकारतया स्मृतम्।
तथापरेऽपि बीभत्सहास्याद्भुतभयानकाः॥
वाक्यस्याग्राम्यता योनिर्माधुर्ये दर्शितो रसः।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्॥ काव्यादर्श २।२८७, २९२॥

भूमेति। मतुबादयः मतुप्प्रभृतयः प्रत्ययाः अस्तिविवक्षायाम् अस्त्यर्थे इत्यर्थः भूमा बाहुल्यं निन्दा गर्हा प्रशंसा स्तुतिः तासु नित्ययोगे निरन्तरसङ्गे अतिशायने आधिक्ये तथा संसर्गे गम्यमाने इति शेषः भवन्ति जायन्ते। यथा गोमान् देश इत्युक्ते देशस्य बहुगोशालित्वं गम्यते। वाचालो वटुरित्युक्ते वटोर्निन्दा प्रतीयते। वाग्मी विपश्चिदित्युक्ते विपश्चितः प्रशंसा सूच्यते। क्षीरिणो वृक्षा इत्युक्ते वृक्षाणां नित्यं क्षीरसंयोगः प्रतीयते। बलवान् मल्ल इत्युक्ते मल्लस्य बलाधिक्यत्वं सूच्यते। दण्डीत्युक्तौ दण्डसंसर्गमात्रं प्रतीयते। मतुबर्थीयः प्रत्यय इति शेषः। तथा च ऊर्जस्वी अलङ्कार इत्युक्ते यत्रातिशयितः अधिकतरो वा ऊर्जोधर्मः स ऊर्जस्वी अलङ्कारः। रसवानलङ्कार इत्युक्ते यत्रातिशयितोऽधिकतरो वा रसः सः रसवानलङ्कार इति निष्कर्षः। ऊर्जस्वी गुण इत्युक्ते यत्र प्रशंसितः निरन्तरो वा ऊर्जोधर्मः स ऊर्जस्वी गुणः यत्र तादृशः रसः, सः रसवान् गुण इति निष्कर्षः। निश्चितैवास्य प्रशंसेति अस्य काव्यस्येत्यर्थः। संसर्गस्त्विति गुणानामवश्यमुपादानात् संसर्गः तथा दोषहानेः दोषाणां परित्यागात् निन्दा गुणेषु न अवतरति तस्मात् निन्दासंसर्गौ नैषा गुणत्वे प्रविशते इति भावः। प्रेय इति रूपस्य अभेदात अभिन्नत्वात् मत्वादिप्रत्ययवत्त्वेनेति भावः। यथेति युधिष्ठिरः कुरूणां श्रेष्ठतम इत्यत्र यथा रूपस्य कुरुवंशीयत्वस्येति भावः अभेदः। नचेति। आतिशायिकाः अतिशयवन्तः ब्रुवते बोधयन्ति। अपि तु किन्तु प्रकृत्या धातुशब्दाभ्यामिति भावः उपात्तं प्राप्तमेव नतु अन्यदित्येवकारार्थः। गमयन्ति बोधयन्ति। स्वार्थिकेषु प्रकृत्यर्थोपस्थापितेषु अर्थेषु इत्यर्थः। एते प्रेयः प्रभृतयः अलङ्काराः विधीयन्ते आख्यायन्ते। गुणसङ्करः गुणयोः गुणानां वा सङ्करः सम्मेलनम्। व्यपदेशात् कथनात्। उल्लेखवन्तः सोल्लेखा इत्यर्थः॥

सजातीयानां शब्दगुणेषु समाध्यादीनां यथा,—

णवपल्लवेसु लोलइ घोलइ विलवेसु वलइ सिहरेसु।
थवइ थवएसु अ तहा वसन्तलच्छी असोअस्स॥ ४५४॥

शब्दगुणों में सजातीय समाधि आदि का (संकर), जैसे—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य ४।२०३ ॥) ॥ ४५४ ॥

नवपल्लवेषु इति ॥ ४५४ ॥

अत्र अन्यधर्म्माणामन्यत्रारोपणं समाधिः, पृथक्पदता माधुर्य्यम्, बन्धविगूढत्वमुदारता, ध्वनिमत्ता गाम्भीर्य्यमिति सजातीयाः सङ्कीर्य्यन्ते। यतो वसन्तलक्ष्मीरशोकस्य इति पदयोः शब्दध्वनिरपि परिस्फुरति। यथा कस्यचिदशोकस्य मानिनोऽङ्गेषु प्रियाङ्गना सविलासं चेष्टते तथा अस्य इयम् इति ॥

यहाँ किसी दूसरे पदार्थ के धर्म—गुणदोष—का किसी दूसरे पदार्थ पर अध्यास करने से समाधि, पदों के स्पष्ट होने से (न कि विशेष रूप से समस्त) माधुर्य, रचना में विशेष रूप से गूढार्थता होने से उदारता, व्यंग्यार्थ से युक्त होने से गम्भीरता हैं, इस प्रकार सजातीय ही मिल रहे हैं, क्योंकि 'वसन्तलक्ष्मीरशोकस्य' इन दोनो पदों में शब्दध्वनि— शब्द से व्यङ्ग्य अर्थ— भी प्रतीत हो रहा है। जिस प्रकार किसी शोकरहित मान किये हुये प्रियतम के अङ्गों में प्रियतमा सुन्दरी विलासपूर्ण चेष्टायें करती है उसी प्रकार इसके लिये यह भी करती है। (अशोक के लिये वसन्त-लक्ष्मी भी करती है) ॥ ४५४ ॥

अत्रेति। अन्यधर्माणाम् अन्यवस्तुनिष्ठानां धर्माणां गुणदोषादीनां अन्यत्र अन्यस्मिन् वस्तुनि आरोपणम् अध्यासः समाधिः। पृथक्पदता विभिन्नपदत्वं न तु समासबाहुल्यमिति भावः माधुर्य्यम्। बन्धविगूढत्वं बन्धे रचनायां विशेषेण गूढत्वं निगूढार्थत्वमिति भावः। बन्धविकटत्वमिति पाठान्तरम् उदारता। ध्वनिमत्ता व्यङ्ग्यार्थशालित्वं गाम्भीर्य्यं दुरवगाहत्वमिति भावः। शब्दध्वनिः शब्दाभ्यां ध्वन्यते व्यज्यते इति शब्दध्वनिः शब्दव्यङ्ग्यः अर्थः इत्यर्थः परिस्फुरति प्रतिभाति ॥ ४५४ ॥

अर्थगुणेषु श्लेषादीनां यथा,—

जनः पुण्यैर्यायाज्जलधिजलभावं जलमुचः
तथावस्थं चैनं निदधतु शुभैः शुक्तिवदने।
ततस्तां श्रेयोभिः परिणतिमसौ विन्दतु यथा
रुचिं तन्वन् पीनस्तनि ! हृदि तवायं विलुठति ॥ ४५५ ॥

(सजातीय) अर्थगुणों में श्लेष आदि का (संकर), जैसे—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य १।९१ ॥) ॥ ४५५ ॥

जन इति। जनो लोकः पुण्यैः सुकृतैः स्वकृतैरिति भावः जलधिजलभावं समुद्रजलत्वं यायात् प्राप्नोतु। जलमुचः मेघाः तथावस्थं तादृगवस्थापन्नं जलधिजलत्वं गतमित्यर्थः एनं जनं शुभैः पुण्यैः शुक्तिवदने मुक्तास्फोटस्य मुखे निदधतु अर्पयन्तु। ततः असौ शुक्तिवदननिहितः जलरूपी जनः श्रेयोभिः सुकृतैः तां परिणतिं परिणामं मौक्तिकरूपतामिति भावः विन्दतु लभताम्। हे पीनस्तनि ! यथा अयं मौक्तिकरूपतां गतो जनः तव हृदि

हृदये हर्षं अनुरागं तन्वन् प्रकटयन् विलुठति विलुण्ठनं करोति। तव हृदये विलुण्ठनं मुक्ताफलानामपि समधिकपुण्यपरम्पराणां फलमिति भावः ॥ ४५५ ॥

अत्र संविधाने सुसूत्रता श्लेषः,। अर्थस्य प्राकट्यं प्रसादः, उत्पत्त्यादिक्रियाक्रमो रीतिः, दीप्तरसत्वं कान्तिरित्यर्थगुणाः सजातीयाः सङ्कीर्य्यन्ते ॥

यहाँ रचना में सुन्दर सूत्रण होने से श्लेष है, अर्थ का सरलता से प्रकट हो जाना प्रसाद है, उत्पत्ति आदि क्रिया के क्रम से रीति है, रस में विशेष स्फुरण होने से कान्ति है। इस प्रकार सजातीय अर्थगुणों का संकर है ॥ ४५५ ॥

स्व० द०—ऊपर के दोनों उदाहरणों में क्रमशः सजातीय शब्दगुण तथा अर्थ गुणों का संकर है। शब्द-गुणों का शब्द गुणो से तथा अर्थगुणों का अर्थ गुणो से संकर होना सजातीय संकरता है क्योकि दोनों ही शब्द तथा अर्थ जाति वाले हैं। सजातीयों में भी सोल्लेख का सोल्लेख के साथ तथा निरुल्लेख का निरुल्लेख के साथ संकरभाव अच्छा है।

अत्रेति। संविधाने विरचने सुसूत्रता सुष्ठु वपनमित्यर्थः श्लेषः। प्राकट्यं प्रकटता प्रस्फुटत्वमित्यर्थः प्रसादः। दीप्तरसत्वं उज्ज्वलरसवत्त्वमित्यर्थः ॥ ४५५ ॥

दोषगुणेषु ग्राम्यादीनां यथा,—

हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा।
हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी ॥ ४५६ ॥

दोषगुणो में ग्राम्य आदि के संकरों का उदाहरण—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य १।१५६ ॥) ॥ ४५६ ॥

हन्यते इति। अकाण्डवैरिणा सहसा शत्रुभूतेन स्मरेण सा वरारोहा सुन्दरी चारुसर्वाङ्गी मञ्जुभाषिणी मधुरालापिनी बाला हन्यते हन्यते हन्यते विनाश्यते विनाश्यते विनाश्यते इत्यर्थः ॥ ४५६ ॥

अत्र हन्यते इति असङ्गतार्थम्, वरारोहेत्यश्लीलार्थम्, हन्यते इति पुनरुक्तम्, चारुसर्वाङ्गीत्युक्तौ वरारोहेति व्यर्थम्, त एते सजातीयाश्चत्वारोऽपि दोषगुणाः सङ्कीर्य्यमाणाः कस्यचित् उन्मत्तभाषिणोऽनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामभ्यनुज्ञायन्ते ॥

यहाँ 'हन्यते' कहने से असङ्गतार्थता, 'वरारोहा' कहने से अश्लीलार्थता, पुनः 'हन्यते' कहने पर पुनरुक्तता, 'चारुसर्वाङ्गी' इसको कहने पर 'वरारोहा' पद में व्यर्थता, ये चारों ही सजातीय दोषगुण मिल करके किसी उन्मत्त रूप से कहने वाले व्यक्ति की दया आदि के आधिक्य की विवक्षा होने पर प्रतीत हो जाते हैं॥

हन्यते इति। असङ्गतार्थं वास्तवहननाभावादिति भावः। अमङ्गलार्थमिति पाठान्तरम्। तत्र हननरूपार्थस्य अमङ्गलजनकत्वेन काव्यार्थदूषणादिति भावः। वरारोहेति वरं आरोहतीति व्युत्पत्तेर्लज्जाजनकत्वादिति भावः। पुनरुक्तं वारत्रयकथनादिति भावः। अनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामिति अतिशयेन सा अनुकम्पनीयेति विवक्षायामित्यर्थः ॥४५६॥

यदाह,

अनुकम्पाद्यतिशयं यदि कश्चिद्विवक्षते ।
न दोषः पुनरुक्त्यादौ प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥

जैसा कहा गया है—

यदि कोई दया आदि का आधिक्य कहना चाहता है तो पुनरुक्ति आदि होने पर वहाँ दोष नहीं होता अपितु उलटे वह अलंकार हो जाता है—दूषण न होकर भूषण हो जाता है ॥

अनुकम्पेति । यदि कश्चित् कविरिति शेषः अनुकम्पादीनाम् अतिशयं आधिक्यं विवक्षते वक्तुमिच्छति तदा पुनरुक्त्यादौ न दोषः प्रत्युत वैपरीत्ये इयम् अलङ्क्रिया अलङ्कारः ॥

अथ सजातीयानां शब्दगुणानामर्थगुणानाञ्च सङ्करो यथा,

को नाम नोदयति नास्तमुपैति को वा ?
लोकोत्तरः पुनरयं सविता जगत्सु ।
यत्रोदयास्तमयभाजि रुचां निधाने
द्वेधा भवत्यहरिति क्षणदेति कालः ॥ ४५७ ॥

अब सजातीय शब्द गुणों तथा अर्थगुणों के संकर का उदाहरण है, जैसे—

कौन संसार में उदित नहीं होता और कौन अस्त नहीं होता, किन्तु यह सूर्य तो संसार में अनुपम है, जिस ज्योतिनिधि के उदय तथा अस्त होने पर यह काल ही दिन तथा रात्रि के रूप में दो भागों में बँट जाता है ॥ ४५७ ॥

क इति । को जनः नाम न उदयति नोदयं प्राप्नोति ? को वा अस्त नाशं न उपैति प्राप्नोति ? अपि तु सर्व एव उदयम् अस्तञ्च प्राप्नोतीत्यर्थः । अयं सविता सूर्यः जगत्सु लोकोत्तरः पुनः लोकातीत एव अलोकसामान्य इत्यर्थः रुचां निधाने तेजोनिधौ यत्र सवितरि सूर्य्ये उदयास्तमयभाजि उदयवति अस्तवति चेत्यर्थः सति कालः अहरिति दिवस इति क्षणदा रात्रिरिति द्वेधा द्विप्रकारो भवति ॥ ४५७ ॥

अत्र यावदर्थपदता, सम्मितत्वम्, सम्यग्बन्धविकटत्वम्, उदारता, विशेषगुणयोग उदात्तत्वम् इति शब्दगुणाः, उक्तार्थनिर्वहण प्रौढिः, अर्थ-प्राकट्यं प्रसादः, रूढाहङ्कारता और्जित्यमित्यर्थगुणाः सङ्कीर्य्यन्ते ॥४५७॥

यहाँ अपेक्षित अर्थ के व्यंजक पद होने से संमितत्व, सम्यक् रूप से बन्ध-छन्दोरचना में विकटता होने से उदारता है, श्लाघनीय विशिष्ट गुणों का योग होने से उदात्तता नामक शब्दगुण हैं, कथित अर्थ का निर्वाह हो जाने से प्रौढ़ता है, अर्थ प्रकट हो जाने से प्रसाद है, तथा अहंकारयुक्त प्रयोग होने से और्जित्य नाम के अर्थगुण हैं । (ये दोनों शब्द तथा) अर्थ के गुण संकीर्ण हो रहे हैं ॥ ४५७ ॥

स्व० द०—ऊपर कही गई कारिका 'अनुकम्पादि०' दण्डी के काव्यादर्श (३।१३७) की है। वहाँ 'हन्यते' आदि उदाहरण भी है ।

अत्रेति। यावदर्थपदता यावन्तः अर्थाः पदेषु यत्र तत् यावदर्थप्रदं तस्य भावः यावदर्थपदता प्रतिपदानामर्थवत्त्वमित्यर्थः सम्मितत्वम्। उक्तार्थनिर्वहणं कथितार्थनिर्वाहः। अर्थप्राकट्यम् अर्थवैशद्यम्। रूढाहङ्कारता साहङ्कारप्रयोज्यतेत्यर्थः॥ ४५७॥

शब्दगुणानां दोषगुणानाञ्च यथा,—

एह्येहि वत्स! रघुनन्दन! पूर्णचन्द्र!
चुम्बामि मूर्द्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम्।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते॥ ४५८॥

शब्दगुण तथा दोषगुणों के (संकर का) उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य १।९४॥)॥ ४५८॥

एहीति। हे वत्स! रघुनन्दन! रामचन्द्र! एहि एहि आगच्छ आगच्छ। मूर्द्धनि शिरसि त्वां चुम्बामि तथा चिराय दीर्घकालमिति भावः परिष्वजे आलिङ्गामि हृदि हृदये आरोप्य वा दिवानिशम् अहोरात्रम् उद्वहामि अथवा ते तव चरणपुष्परकद्वयं पादपद्मयुगलं वन्दे सेवे॥ ४५८॥

अत्र भावतो वाक्प्रतिपत्तिर्भाविकत्वम्, प्रसिद्धार्थपदतः प्रसादः प्रियार्थपदोपादानं प्रेय इति शब्दगुणाः, एह्येहीति पुनरुक्तम्, वत्सेत्युक्तौ त्वत्पादाब्जद्वयं वन्द इति विरुद्धम्, मूर्ध्नि चुम्बामि हृदि वहामि इत्यादौ वन्द इति क्रियास्वनुपयोगात्, पूर्णचन्द्रनिदर्शनादिक्रियोपयोगि व्यर्थञ्च इति दोषगुणाः परस्परं सङ्कीर्य्यन्ते। रसाक्षिप्तचित्तादौ हि पुनरुक्त्यादयो न दुष्यन्ति॥ ४५८॥

यहाँ भाव के अनुसार वाणी की प्रतिपत्ति—पदों का विन्यास-होने से भाविकत्व, प्रसिद्ध अर्थ को व्यक्त करने वाले पद होने से प्रसाद तथा प्रिय अर्थ को प्रकट करने वाले पदों का ग्रहण होने से प्रेय है, ये शब्द गुण हैं। 'एह्येहि' में पुनरुक्त, 'वत्स' यह कहकर 'त्वत्पादाब्जद्वयं वन्दे' 'मैं तुम्हारे दोनो चरण कमलों की वन्दना करता हूँ' यह कहने से 'विरुद्ध', 'मूर्ध्नि चुम्बामि हृदि वहामि'—सिर पर चुम्बन करूँ और हृदय पर धारण करूँ इनमें 'वन्दे' आदि क्रियाओं में उपयोगिता नहीं है, 'पूर्णचन्द्र' का उदाहरण आदि क्रिया में उपयोगी है तथा व्यर्थ भी है, इसप्रकार दोषगुण परस्पर मिल रहे हैं। रसाविष्ट चित्र आदि में पुनरुक्ति आदि दोष नहीं उत्पन्न करते हैं॥

अत्रेति। भावतः अनुरागात् वाक्प्रतिपत्तिः वाग्विन्यासः : प्रियार्थेति प्रियः प्रीतिकरः अर्थो येषां तेषां पदानाम् उपादानम् ग्रहणम्। अनुपयोगात् अनुपकारात्। रसेति। रसेन अनुरागेण आक्षिप्तम् आकृष्टं चित्तं यस्य तस्मिन् स रसाक्षिप्तचित्तः तद्वादौ॥ ४५८॥

अर्थगुणानां दोषगुणानां यथा,—

किं द्वारि दैवहतिके! सहकारकेण
संवर्द्धितेन विषपादप एष पापः।

अस्मिन् मनागपि विकाशविकारभाजि
भीमा भवन्ति मदनज्वरसन्निपाताः ॥ ४५९ ॥

अर्थगुण तथा दोषगुणों के (सङ्कर का) उदाहरण—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।३५ ॥) ॥ ४५९ ॥

किमिति । हे दैवहतिके ! दुर्भाग्यशालिनि ! द्वारि द्वारदेशे संवर्द्धितेन सहकारकेण चूतपादपेन किम् ? न किमपि प्रयोजनम् अस्य सम्वर्द्धने इत्यर्थः । एषः पापः विषपादपः विषवृक्षः । अस्मिन् सहकारे मनाक् अल्पं विकासविकारभाजि विकासशालिनि इत्यर्थः सति भीमाः दारुणाः मदनज्वरसन्निपाताः कामज्वरसम्पाताः तव इति शेषः भवन्ति ॥ ४५९ ॥

अत्र दीप्तरसत्वं कान्तिः, अर्थप्राकट्यं प्रसादः, उक्तार्थनिर्वहणं प्रौढिरित्यर्थगुणाः, दैवहतिके इति विषपादपोऽयं पाप इति अमङ्गलार्थं ग्राम्यं, किमनेन संवर्द्धितेन इति अत्र मदनज्वरसन्निपाता इत्यत्र च कृत्यप्रयोजनादेर्विरहिणो द्रष्टुरित्यादेश्च अध्याहारात् असम्पूर्णवाक्यतायामर्थव्यक्तिविपर्य्ययः, अस्मिन् विकाशविकारभाजि इति विकाशशब्दस्य पुष्पविषयस्य वृक्षेऽपि प्रयोगेऽवाचकत्वाद् असमर्थ इति दोषगुणा मिथः सङ्कीर्य्यन्ते । यतो रसाक्षेपात् परिहासलेशोक्त्या मङ्गलम् । प्रविश पिण्डीं द्वारं भक्षय इति न्यायात् प्रसिद्धाध्याहारः । दरी वदति, मञ्चाः क्रोशन्ति इति प्रयोगदर्शनाद् आधाराधेययोरभेदोपचारश्च विरुद्धलक्षणादिभिः प्रयुज्यमानो न दोषाय इति ॥

यहाँ रस में दीप्ति होने से कान्ति है, अर्थ में प्रकटता होने से प्रसाद है, उक्त अर्थ का निर्वाह होने से प्रौढि है, इस प्रकार के अर्थगुण हैं, 'दैवहतिके' यह पद तथा 'विषपादपोऽयं पापः' ये अमङ्गलार्थक ग्राम्य हैं, 'किमनेन संवर्धितेन' इसमें तथा 'मदनज्वरसंनिपाता' इसमें कर्तव्य प्रयोजन आदि तथा विरही द्रष्टा आदि का अध्याहार करने से वाक्य में सम्पूर्णता न होने से अर्थव्यक्ति का विपर्यय है। यहाँ 'विकाशविकारभाजि अस्मिन्' यह कहकर पुष्पविषयक 'विकाश' शब्द का वृक्ष अर्थ में भी प्रयोग होने से तथा उस शब्द के इसका वाचक न होने से असमर्थता है। इस प्रकार दोष तथा गुण परस्पर मिल रहे हैं। चूँकि रस का आक्षेप किया जा रहा है, अतः परिहासलेश से युक्त उक्ति के कारण मङ्गल है। 'प्रवेश करो' 'पिण्डी को' 'द्वार में' 'भक्षण करो' इस न्याय से प्रसिद्ध का ही अध्याहार होता है। 'गुफा बोलती है', 'मञ्च' चिल्ला रहे हैं' इस प्रकार के प्रयोगों का दर्शन होने से आधार तथा आधेय का अभेदग्रहण भी विरुद्धलक्षणा के द्वारा प्रयुक्त होने पर दोषावह नहीं होता ॥

स्व० द०—उक्त उदाहरण में 'अस्मिन् विकाशविकारभाजि' पद में वृक्ष का भी ग्रहण हो जाता है। इन पदों से 'वृक्ष' रूप वाच्य अर्थ न प्रकट होने से तथा यह अर्थ आवश्यक रूप से अपेक्षित भी होने से असमर्थत्व दोष प्रकट होता है, क्योंकि जब अपेक्षित अर्थ अभिधेय रूप से प्राप्त नहीं होता तब अर्थ की कमी होने से वहाँ असमर्थता माननी चाहिये। इस प्रकार यहाँ दोष सिद्ध होता है। किन्तु पुष्प तथा वृक्ष में आधेय-आधार सम्बन्ध होने से वृक्षरूप अर्थ प्राप्त

हो जाता है। अतः दोष नहीं होगा। जहाँ कहीं भी आधार-आधेय सम्बन्ध वाले तथा प्रसिद्ध व्यवहार वाले पदों में से एक भी नहीं होता है, वहाँ उसका स्वतः अध्याहार हो जाता है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' यह प्रयोग दर्शनग्रन्थों में लक्षणा शक्ति के निरूपण के प्रसङ्ग में खूब प्रयुक्त हुआ है। 'मञ्च' तो कहीं 'आवाज' करते नहीं, चिल्लाते हैं उस पर बैठने वाले प्राणी। किन्तु 'मञ्च' का प्रयोग होने से ही उस पर बैठने वालों का भी अर्थ ग्रहण हो जाता है। इससे इसका अर्थ निकलता है—'मञ्च पर बैठे लोग चिल्ला रहे हैं।' इसी प्रकार प्रसिद्धों का अध्याहार भी है। जहाँ 'प्रविश पिंडीम् द्वारं भक्षय' सदृश पद अक्रमता के साथ रख दिये जाते हैं, वहाँ जिसका जिससे सम्बन्ध होता है उन पदों का परस्पर योग कर दिया जाता है। इन पदों का विन्यास क्रमशः नहीं है। अतः पाठक उनकी योजना 'द्वारं प्रविश' 'पिण्डीं भक्षय' इस प्रकार करेंगे। इसी प्रकार पुष्प तथा वृक्ष का भी सम्बन्ध समझना चाहिये।

अभी तक गुणसङ्कर का उदाहरण हुआ, अब अलंकार संकर का निरूपण होगा।

अत्रेति। अर्थप्राकट्यम् अर्थानां प्रकटता प्रस्फुटतेत्यर्थः। विकासशब्दस्य पुष्पविषयस्य पुष्पमात्रप्रयोज्यस्येति यावत्। प्रविश पिण्डीं द्वारं भक्षय इति। द्वारं प्रविश, पिण्डीं भक्षयेति योजना। दरी गुहा। आधाराधेययोरिति दरीमञ्चौ आधारौ तत्र स्थिता जना आधेया इति भावः॥ ४५९॥

अथ अलङ्कारसङ्करः।

स यद्यपि व्यक्ताव्यक्तोभयात्मतया तिलतण्डुलकादिभेदैः प्रधानाङ्गभावसमकक्षताभ्यां पुरस्तादुक्तः तथापि तेषां गुणादिसङ्करासाधारणत्वात् सम्प्रति साधारणः प्रकार उच्यते। स षोढा, शब्दालङ्कारसङ्करः, अर्थालङ्कारसङ्करः, उभयालङ्कारसङ्करः, शब्दार्थालङ्कारसङ्करः, शब्दोभयालङ्कारसङ्करः, अर्थोभयालङ्कारसङ्करश्च॥

यह अलंकार संकर यद्यपि व्यक्त तथा अव्यक्त और इन दोनो रूपों से तिलतण्डुलक आदि के भेदों से प्रधान के अङ्गभाव तथा समकक्षता के द्वारा पहले (चतुर्थ परिच्छेद ८८ वीं कारिका) कह दिया गया हैं, फिर भी उन अलंकारसंकरों के गुणादि संकरों के समान न होने से उनके सामान्य भेदों का इस समय कथन किया जा रहा है। वह अलंकारसंकर छः प्रकार का है, १—शब्दालंकारसंकर, २—अर्थालंकार संकर, ३—उभयालंकारसंकर ४—शब्दार्थालंकारसंकर, ५—शब्दार्थ उभयालंकार संकर तथा ६—अर्थोभयालंकार संकर।

अथ अलङ्कारसंकर इति। व्यक्तश्च अव्यक्तश्च व्यक्ताव्यक्तौ स्फुटास्फुटौ उभौ आत्मा जीवनाधायकः यस्य तथोक्तः तस्य भावः तत्ता तया हेतुना तिलतण्डुलकादिभेदैः तिलतण्डुलप्रस्तुतलड्डुकादिविशेषैः प्रधानाङ्गभावसमकक्षताभ्याम् अङ्गाङ्गिभावेन तुल्यबलत्वेन चेत्यर्थः पुरस्तात् प्राक् उक्तः कथितः अलङ्कारसङ्कर इति पूर्वेणान्वयः। तेषाम् अलङ्कारसङ्कराणां गुणादिसङ्करैः असाधारणत्वात् अतुल्यत्वात्। साधारणः सामान्यः प्रकारः भेदः। षोढा षड्विधः॥ ४५९॥

तेषु शब्दालङ्कारसङ्करो यथा,—

हंसाली भयतरला सारासरसा सरासमारसरासा।
अम्बरमारूढा सा रासरसा सरा ससारसरासा॥ ४६०॥

अत्र संस्कृतप्राकृतभाषाश्लेषः, गतप्रत्यागतं चित्रम्, पादावृत्ति यमकम्, वर्णानुप्रासश्च इति चत्वारः शब्दालङ्काराः सङ्कीर्य्यन्ते ॥

इनमें से शब्दालंकार के संकर का उदाहरण—

भय से चञ्चल, क्रीडा में अनुरक्त, विकसित कमलों मे विहार करने वाली, सारस के सदृश शब्द करने वाली, क्रीडानुराग से संचरण करने वाली वह हंसो की श्रेणी आकाश में चली गई ॥ ४६० ॥

यहाँ संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का श्लेष है, गतप्रत्यागत नामक चित्रालंकार है, पाद की आवृत्ति वाला यमक है तथा वर्णानुप्रास है। इस प्रकार ये चार शब्द के अलंकार यहाँ मिले हैं ॥

स्व० द०—यहाँ संस्कृत भाषा तो स्पष्ट ही है, भाषाचित्र की भांति प्राकृत भी है जिसके वर्ण संस्कृत से मिलते जुलते हैं। 'हंसाली भयतरला' के बाद के पदों के वर्ण जिस प्रकार अनुलोम क्रम से रहते हैं उसी प्रकार विलोम क्रम से भी। उत्तरार्ध में भी 'अम्बरमारूढा' के आगे वर्णों में उक्त स्थिति ही है। अतः गतप्रत्यागत नाम की चित्रता है ही। द्वितीय पाद का चतुर्थ पाद के रूप में अवतरण होने से पूरापाद ही आवृत्त हैं, अतः पादावृत्ति यमक भी है। रेफ तथा सकार की अनेक आवृत्तियाँ होने से वर्णानुप्रासता भी है। इस प्रकार शब्द पर ही आश्रित चार अलङ्कारों का संकर एक साथ हो रहा है।

ऊपर ही जो गुण संकरों से अलंकार संकरों को असमान बतलाया गया है, उसका कारण यह है कि प्रथम में गुण गुण का योग है और यहाँ अलंकार अलंकार का। अतः गुण तथा अलंकार का भेद तो उपस्थित रहता ही है।

हंसालीति। भयेन तरला चञ्चला रासे क्रीडायां रसो रागो यस्याः सा रासरसा, सरासेषु उल्लसितेषु विकस्वरेष्विति यावत् सारसेषु कमलेषु रासः विहारः यस्याः तथोक्ता ससारसरासा सारससमाननिनदा रासरसेन क्रीडानुरागेण आसरति सञ्चरतीति तथाभूता सा हंसाली हंसश्रेणी अम्बरम् आकाशम् आरूढा उत्पतितेत्यर्थः ॥ ४६० ॥

अर्थालङ्कारसङ्करो यथा,—

वासावस्थितताम्रचूडवयसामायामिभिः कूजितैः
दूरादप्यनुमीयमानवसतिर्ग्रामोऽयमन्तर्वणः।
यत्रोद्दीप्तकुकूलकूटविसरद्धूम्याघनं घूर्णते
सन्ध्यान्तोल्लसदच्छभल्लपटलच्छायाजटालं तमः ॥

अत्र ताम्रचूडवयसां कूजितैरिति अनुमानम्, यत्तमो घूर्णते इति ज्ञापकहेतुः, कुकूलकूटविसरद्धूम्याघनमिति सन्ध्यान्तोल्लसदच्छभल्लपटलच्छायाजटालमिति च कारकहेतुः, जायमानपदार्थस्वरूपाभिधानं जातिः इति अर्थालङ्कारसङ्कराश्चत्वारो मिथः सङ्कीर्य्यन्ते ॥ ४६१ ॥

अर्थालंकार संकर का उदाहरण—

नीड़ों में स्थित मुर्गा पक्षियों के लम्बे कूजनों से युक्त तथा दूर से ही जिसकी बसती का अनुमान किया जा रहा है अपने भीतर वन समाहित किये हुये वह ग्राम है जहाँ प्रज्वलित भूसी की ढेर से उठ रही धूमपुञ्ज से सघन हो गया, सन्ध्या के अवसान काल में विहार करने वाले भालुओं के समूह के सदृश मिला हुआ अन्धकार फैल रहा है ॥ ४६१ ॥

यहाँ "ताम्रचूडवयसां कूजितैः' इसमें अनुमान, 'यत्तमो घूर्णते' में ज्ञापक-हेतु 'कुकूलकूट, विसरद्धूम्याघनम्' में तथा 'सन्ध्यान्तोल्लसदच्छभल्लपटलच्छायाजटालम्' में कारक हेतु है, उत्पन्न हो रहे पदार्थ के स्वरूप का कथन जाति है, इस प्रकार चार अर्थालङ्कारों का परस्पर संकर है।

वासेति । वासे कुलाये अवस्थितानां ताम्रचूडानां कुक्कुटानां वयसां पक्षिणाम् आयामिभिः दीर्घैः कूजितैः निनादैः दूरादपि अनुमीयमाना सूच्यमाना वसतिः लोकालयः यत्र तथाभूतः अन्तर्गतं वनं यस्य तादृशः अयं ग्रामः ताम्रचूडा हिं ग्राम्याः पक्षिणः ग्रामेषु यानि सामान्यवनानि सन्ति तेषु च तेषां वास इति भावः। यत्र ग्रामे उद्दीप्तात् उज्ज्वलितात् कुकूलकूटात तुषानलराशेः विसरन्ती प्रसरन्ती या धूम्या धूमसमूहः तया घनं सान्द्रं तथा सन्ध्यान्ते सन्ध्यावसाने उल्लसन्तः विहरन्तः ये अच्छभल्लाः भल्लूकाः तेषां पटलं समूहः तस्य छाया श्यामला प्रभा इत्यर्थः तया जटालं सम्मिश्रमित्यर्थ तमः अन्धकारः घूर्णते विसरति। अत्रेति। अनुमानम् अलङ्कार इति शेषः एवं ज्ञापकहेतुः जातिश्च अलङ्कार इति शेषः ॥ ४६१ ॥

उभयालङ्कारसङ्करो यथा,—

ण हु णवरं दीवसिहासरिच्छेहिं चम्पएहिं पडिवण्णं ।
कज्जलकज्जं पि किदं आभमन्तेहिं भमलेहिम् ॥ ४६२ ॥

अत्र चम्पकादीनां प्रदीपशिखाभिः आकारकान्तिभ्याम् उपमा, विरहिणीहृदयदाहप्रद्योतनार्थक्रियाभ्यां साम्यम्, कज्जलपटलानामुपरि भ्रमरपटलानां मेलनात् मेलितम् , चम्पकदीपकलिकयोरिव भ्रमरकज्जलपटलयोरौपम्यादिसम्बन्धात् समुच्चयः इति उभयालङ्काराश्चत्वारोऽपि सङ्कीर्य्यन्ते ॥

उभयालंकार संकर का उदाहरण—

चम्पा के पुष्प दीपशिखा की भांति केवल उल्लसित ही नहीं हुये अपितु उड़ते हुये भौरों ने कलंक का भी काम कर दिया ॥ ४६२ ॥

यहाँ चम्पक आदि का दीपक की शिखा के साथ आकृति तथा कान्ति के द्वारा उपमा है, वियोगिनी के हृदय की दाह तथा उत्तेजन क्रियाओं के कारण साम्य है, कज्जलपटलों के ऊपर भ्रमरपटलों का मेलन करने से मेलित है, चम्पक तथा दीपकशिखा का भ्रमर तथा कज्जलपटल से औपम्य आदि सम्बन्ध होने से समुच्चय है, इस प्रकार चारों उभयालंकारों का संकर हैं।

न खलु केवलं दीपशिखासदृशैश्चम्पकैः प्रतिपन्नम् ।
कज्जलकार्य्यमपि कृतमाभ्रमद्भिः भ्रमरैः ॥

न खलु इति। न खलु केवलं दीपशिखासदृशैः प्रदीपशिखासदृशैः चम्पकैः प्रतिपन्न

उल्लसितम् । अपि तु आभ्रमद्भिः भ्रमरैः कज्जलस्य दीपशिखोत्थितस्येति भावः कार्यमपि कृतं सम्पादितम् ॥

शब्दार्थालङ्कारसङ्करो यथा,—

सर्वाशारुधि दग्धवीरुधि सदासारङ्गबद्धक्रुधि
क्षामक्ष्मारुहि मन्दमुन्मधुलिहि स्वच्छन्दकुन्दद्रुहि ।
शुष्यत्स्रोतसि तप्तभूमिरजसि ज्वालायमानाम्भसि
ज्यैष्ठे मासि खरार्कतेजसि कथं पान्थ ! व्रजन् जीवसि ? ॥४६३॥

अत्र अवन्तिका रीतिः, पदमुद्रा, विभक्तिमुद्रा, अनुप्रासश्चेति शब्दालङ्काराः, जातिः, कारकज्ञापकौ हेतू, चित्रहेतुश्च इति अर्थालङ्कारा मिथः शब्दे सङ्कीर्य्यन्ते ॥

शब्द तथा अर्थ के अलंकारों के संकर का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।२१४ ॥) ॥

यहाँ अवन्तिका रीति है, पदमुद्रा, विभक्तिमुद्रा तथा अनुप्रास ये शब्दालंकार है, जाति, तथा कारक और ज्ञापक हेतु हैं, साथ ही चित्रहेतु भी हैं, इस प्रकार अर्थालंकार परस्पर शब्द से संकीर्ण हो रहे हैं ।

सर्वेति । हे पान्थ ! पथिक ! ज्यैष्ठे मासि सर्वाः सकलाः आशाः दिशः रुणद्धि व्याप्नोतीति तथाभूते मेघाद्यावरणशून्यत्वादिति भावः दग्धाः वीरुधः लताः येन तथोक्ते लतादहनकारिणीत्यर्थः, सदा सर्वस्मिन् समये दिवसे इति भावः सारङ्गैः मृगभेदैः बद्धाः कृताः क्रुधः क्रोधाः यत्र तादृशे उत्तापासहनतया कुपितसारङ्गे इत्यर्थः, क्षामाः विशीर्णाः क्ष्मारुहः वृक्षाः यत्र तथाविधे, मन्दाः क्षीणाः मुदः हर्षा येषां तादृशाः मधुलिहो भ्रमराः यत्र तथोक्ते, स्वच्छन्दाः सोल्लासानि कुन्दानि माध्यकुसुमानि द्रुह्यति शोषयतीति तथोक्ते, शुष्यन्ति शोषं गच्छन्ति स्रोतांसि जलप्रवाहाः यत्र तादृशे, तप्तानि भूमिरजांसि धूलयः यत्र तथाविधे चरणदहनकारिभूरजसीति भावः । तथा ज्वालायमानानि अग्निशिखासदृशानि अम्भांसि जलानि यत्र तथाभूते खरार्कतेजसि तीक्ष्णसूर्य्यकिरणे व्रजन् गच्छन् कथं जीवसि ? प्राणान् धारयसि ? ॥

शब्दोभयालङ्कारसङ्करो यथा,—

स्तोकस्तोकमम्भिरम्बरतले ताराभिरस्तं गतं
गच्छत्यस्तगिरेः शिरस्तदनु च च्छायादरिद्रः शशी ।
प्रत्यासन्नतरोदयस्य तरणेः बिम्बारुणिम्ना ततो
मञ्जिष्ठारसलोहिनी दिगपि च प्राची समुन्मीलति ॥ ४६४ ॥

अत्र समुन्मीलतीति विभक्तिमुद्रा, स्तोकस्तोकमस्तं गच्छतीत्यादिरनुप्रासश्च शब्दालङ्काराः, हेतूपमा, समाधिः, अनुक्रमः, समुच्चयोक्तिश्च इति उभयालङ्कारा मिथः सङ्कीर्य्यन्ते ॥

शब्द तथा उभयालंकार के संकर का उदाहरण—

आकाश में ये नक्षत्रगण धीरे-धीरे विलीन हो गये, उसके पश्चात् प्रभाहीन होकर चन्द्रमा अस्ताचल के शिखर पर जा रहा है। उसके बाद अत्यन्त निकट ही में उदित होने वाले सूर्य के मण्डल की लाली से मञ्जिष्ठा की लाली से युक्त सी लाल वर्ण की प्राचीदिशा भी अत्यन्त प्रकाशित हो उठी है॥

यहाँ 'समुन्मीलति' में विभक्तिमुद्रा, 'स्तोकस्तोकमस्तं गच्छति' आदि में अनुप्रास हैं, ये शब्दालंकार हैं, हेतूपमा, समाधि, अनुक्रम तथा समुच्चयोक्ति ये उभयालंकार परस्पर संकीर्ण हो रहे हैं।

स्व० द०—जिन अलंकारों का लक्षण नहीं है, उनका उनके अलंकार निरूपण के प्रसङ्ग में लक्षण देखना चाहिये।

स्तोकेति। अम्बरतले आकाशे अमूभिः परिदृश्यमानाभिः ताराभिः स्तोकं स्तोकम् अल्पाल्पं यथा तथा क्रमेणेत्यर्थः अस्तं गतं विलीनमित्यर्थः तदनु च तदनन्तरञ्च शशी, चन्द्रः छायादरिद्रः विच्छाय इत्यर्थः विगतप्रभ इति यावत् अस्तगिरेः अस्ताचलस्य शिरः शिखरं गच्छति। ततः अनन्तरं प्रत्यासन्नतरः अतिसन्निहितः उदयो यस्य तथा भूतस्य तरणेः सूर्य्यस्य 'द्युमणिस्तरणिर्मित्रश्चित्रभानुर्विभावसुरि'त्यमरः। बिम्बस्य मण्डलस्य अरुणिम्ना लौहित्येन मञ्जिष्ठारसवत् लोहिनी रक्तवर्णा प्राची पूर्वा दिगपि समुन्मीलति सम्प्रकाशते। प्रभातवर्णनमिदम्॥ ४६४॥

अथोभयालङ्कारसङ्करो यथा,—

> खं वस्ते कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलं
> चर्चां पारयतीव दर्दुरकुलं कोलाहलैरुन्मदम्।
> गन्धं मुञ्चति सिक्तजालसुरभिर्वर्षेण दग्धा स्थली
> दुर्लक्ष्योऽपि विभाव्यते कमलिनीहासेन भासां पतिः॥ ४६५॥

अत्र जातिः, अनुमानं, कारकज्ञापकहेतू च इत्यर्थालङ्काराः, रूपकोपमा हेतूपमा, उत्प्रेक्षोपमा चेति उभयालङ्काराः मिथः सङ्कीर्य्यन्ते। एतेन गुणालङ्कारसङ्करोऽपि व्याख्यातः। अतो यद्यपि गुणवत्येव वाक्ये सङ्करयोगः तथापि क्वचिद् गुणस्य प्राधान्यं क्वचिदलङ्कारस्य इति प्रधानाङ्गभावेन गुणालङ्कारयोः सङ्करव्यवहारः प्रवर्त्तते। स षोढा—शब्दगुणप्रधानः, अर्थगुणप्रधानः, दोषगुणप्रधानः, शब्दालङ्कारप्रधानः, अर्थालङ्कारप्रधानः, उभयालङ्कारप्रधानश्च इति॥

अर्थ तथा उभय अलंकारों के संकर का उदाहरण—

कलविंक नामक पक्षी के कण्ठ की भांति श्यामल मेघमाला रूप कम्बल से आकाश आच्छन्न हो रहा है, अत्यन्त प्रसन्न मेढकों का समुदाय अपनी ध्वनियों से सानन्द विहार की समाप्ति सा कर रहा है, दावानल से जली हुई स्थली अर्थात् वनभूमि वर्षा के जल से सींचे गये नवकलिका समूहों से सुरभि के सदृश गन्ध फैला रही है। सूर्य (मेघों के कारण) मुश्किल से दृष्टिगोचर होने पर भी कमलिनियों के विकास से अनुमित हो रहा है॥ ४६५॥

यहाँ जाति, अनुमान, कारक तथा ज्ञापक हेतु ये अर्थालंकार हैं, रूपकोपमा, हेतूपमा, उत्प्रेक्षोपमा ये अर्थालंकार हैं जो कि परस्पर मिल रहे हैं। इससे गुण तथा अलंकारों का भी संकर स्पष्ट हो चुका। इसलिए यद्यपि गुण से युक्त वाक्य में ही संकर का योग होता है, तथापि कहीं गुण की प्रधानता होती है, कहीं अलंकार की; इस प्रकार प्रधान तथा गौण रूप से गुण और अलंकारों का संकर-व्यवहार प्रवृत्त होता है। वह छह प्रकार का है, शब्दगुण-प्रधान, अर्थगुण-प्रधान, दोषगुण-प्रधान, शब्दालंकार-प्रधान, अर्थालंकार-प्रधान, उभयालंकार-प्रधान।

खमिति। कलविङ्कः पक्षिभेदः तस्य कण्ठवत् मलिनं श्यामलं कादम्बिनी मेघमाला एव कम्बलं मेषादिलोमनिर्मितप्रावरणविशेषः खमाकाशं वस्ते आच्छादयति। उन्मदम् उत्पन्नप्रमोदं दर्दुरकुलं भेकसमूहः कोलाहलैः कलरवैः चर्चां सानन्दविहारं पारयतीव समापयतीव। दग्धा वनाग्निना भस्मीकृता स्थली वनभूमिरित्यर्थः वर्षेण वृष्टिजलेनेत्यर्थः सिक्ताः जालाः नवकलिकासमूहाः तैः सुरभिः। लाजेति पाठे लाजाः भृष्टधान्यानि तद्वत् सुरभिः सौरभशालिनी सती गन्धं मुञ्चति त्यजति विस्तारयतीति भावः। भासां पतिः सूर्य्यः दुर्दर्शोऽपि मेघावरणादिति भावः कमलिनीनां पद्मिनीनां हासेन विकासेन विभाव्यते अनुमीयते। वर्षावर्णनमिदम् ॥ ४६५ ॥

एतेनेति। एतेन अस्य वाक्यस्य प्रसादादिगुणवत्त्वेनेत्यर्थः। सङ्करयोगः अलङ्कारसङ्कर-योग इत्यर्थः॥

तेषु शब्दगुणप्रधानो यथा,--

> प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मथितुं मन्थखेदं विदध्यात् ?
> निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नाप्यहं तर्कयामि।
> सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयातः
> त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥४६६॥

इसमें शब्दगुण प्रधान का उदाहरण—

(अर्थहेतु द्रष्टव्य ४।८९॥) ॥ ४६६ ॥

प्राप्तश्रीरिति। एषः पुमानिति शेषः। प्राप्ता श्रीः सम्पद् लक्ष्मीश्चेति प्राप्तश्रीः, अतः कस्मात् किं निमित्तं मयि पुनरपि मन्थखेदं मन्थनजनितं क्लेशं विदध्यात्? अर्पयेत्? सम्पदां रत्नादीनां लक्ष्म्याश्च लाभार्थं मम मन्थनं कर्त्तव्यम् अस्य च तदधिगमः प्रागेव सिद्धः, तत्कथं मां मन्थनेन पीडयेदिति निष्कर्षः। तथा अनलसम् आलस्यवर्जितं मनो यस्य तथाभूतस्य अस्य पुंसः पूर्वां प्रथमां निद्रां निद्राप्रारम्भमिति यावत् अपि नाहं तर्कयामि नानुभवामि निद्रावेशे आलस्यं स्यात् अस्य तु न तथा, सततमेव उद्योगशीलत्वादिति भावः। किमिति च कथं वा सकलैः समस्तैः द्वीपानां नाथैः द्वीपाधिपतिभिः सामन्तैरिति भावः अनुयातः समभिव्याहृतः सन् भूयः पुनः सेतुं बध्नाति? प्राक् वानरचमूभिः सेतुर्बद्धः, इदानीं राजन्यगणैः सेनापतिभिः सेतुं बन्धुं प्रयस्यते किमिति निष्कर्षः। त्वयि आयाते कूलमुपगते इत्यर्थः इतीत्थं वितर्कान् संशयान् दधत इव कुर्वत इव पयोधेः सागरस्य कम्पः आभाति प्रतिभासते। राजविषया रतिरत्र भाव इति बोध्यम् ॥ ४६६ ॥

अत्र हेतूत्प्रेक्षाभिधाने त्वयि इत्यादौ पदे विष्णोः स्वरूपाध्यासेन तद्भा-

वापत्तौ समाधेः प्राधान्यमिह प्रतीयते । ननु च अयमर्थस्य प्राकट्यात् प्रसादोऽर्थगुणः कस्मान्न भवति ? अस्मिन्नपि तद्व्यपदेशेन शब्दशक्तेराधिक्यात् । ननु च त्वयि इति एष इति अस्य इति युष्मदेतदिदमां न कश्चन विष्णुवाची स कथं वर्णनीये वस्तुनि तमर्थमभिदध्यात् । उच्यते, सर्वनामत्वेन एषां सर्ववाचित्वात् । सर्वनामानि हि सर्वनामाभिधायीनि अपि प्रकरणादिगम्यविशेषम् अर्थं च ब्रुवते, स च इह प्राप्तश्रीरित्येवमादिभिः अभिव्यक्त एव अभिगम्यते इति ॥ ४६६ ॥

इसमें हेतूत्प्रेक्षा का अभिधान होने पर 'त्वयि' इत्यादि पद में विष्णु के स्वरूप का अध्यास करने से उसके भाव की आपत्ति होने पर समाधि की प्रधानता यहाँ प्रतीत होती है। भला यहाँ अर्थ के प्रकट होने से प्रसाद नामक अर्थगुण कैसे नहीं होता ? इसमें भी उसका कथन होने से शब्दशक्ति का आधिक्य होने के कारण ? और भी त्वयि, एष, अस्य, युस्मद, एतद् तथा इदम् में से कोई भी विष्णुवाचक नहीं है, वह (राजा रूप) वर्णनीय विषय में उस अर्थ का अभिधान कैसे होगा ?'' उत्तर दिया जा रहा है, सर्वनाम होने से ये सर्ववाचक हैं, क्योंकि जो सर्वनाम हैं वे सभी नामों का अभिधान करते हैं, फिर भी प्रकरणवशात वह विशेष अर्थ को भी प्रकट करता है। वह विशेष अर्थ भी यहाँ 'प्राप्तश्रीः' तथा इसी प्रकार के शब्दों से अभिव्यक्त होकर ज्ञात हो जाता है।

अत्रेति । हेतूत्प्रेक्षाभिधाने दधत इवेति हेतूत्प्रेक्षायाः कथने इत्यर्थः । स्वरूपाध्यासेन स्वरूपारोपेण । युष्मदेतदिदमां शब्दानां मध्ये कश्चन शब्द इति शेषः । वस्तुनि राजरूपे । सर्वनामत्वेन सर्वेषां नामानि सर्वनामानि तेषां भावः सर्वनामत्वं तेन ।

अर्थगुणप्रधानो यथा,—

लक्ष्मीवशीकरणचूर्णसहोदराणि
त्वत्पादपङ्कजरजांसि चिरं जयन्ति ।
यानि प्रणाममिलितानि नृणां ललाटे
लिम्पन्ति दैवलिखितानि दुरक्षराणि ॥ ४६७ ॥

अत्र हेतुसाम्योभयालङ्काराभिधानेऽपि प्राधान्येन अर्थप्राकट्यमर्थगुणः प्रतीयते ॥ ४६७ ॥

अर्थगुण की प्रधानता का उदाहरण—

लक्ष्मी को वश में करने के लिये चूर्ण विशेष के सदृश तुम्हारे चरणकमल की धूलियाँ अधिक समय तक विराजमान् होती है जो चरणरज मनुष्यों के ललाट पर प्रणाम के समय लग जाने पर भाग्य के द्वारा लिखे गये दुष्ट अक्षरों को पोंछ देते हैं ॥ ४६७ ॥

यहाँ हेतु और साम्य इन उभय अलंकारों का अभिधान होने पर भी प्रधान रूप से अर्थ के प्रकट होने से अर्थगुण प्रतीत होता है।

लक्ष्मीति । लक्ष्म्या वशीकरणार्थं यत् चूर्णं चूर्णीकृतवस्तुविशेष इत्यर्थः तस्य सहोद-

राणि सदृशानि तव पादपङ्कजस्य चरणकमलस्य रजांसि धूलयः चिरं जयन्ति विराजन्ताम्। तव चरणानतानामेव लक्ष्म्याः कृपा स्यादिति भावः। यानि रजांसि नृणां मानवानां ललाटे भालदेशे प्रणामेन प्रणत्या मिलितानि संलग्नानि सन्ति दैवलिखितानि भाग्यलिखितानि दुरक्षराणि एते दुर्भाग्या भविष्यन्तीत्येवं रूपाणि दुष्टानि अक्षराणि लुम्पन्ति प्रमार्जयन्ति। राजविषया रतिरत्र भाव इति बोध्यम् ॥ ४६७ ॥

दोषगुणप्रधानो यथा,—

येनापविद्धसलिलस्फुटनागसद्मा
देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे।
व्यावर्त्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः
खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥ ४६८ ॥

अत्र व्यावर्त्तनैः अहिपतेः अयमाहिताङ्कः इति ज्ञापकहेतोः, खं व्यालिखन्निव इति उत्प्रेक्षावयवाच्च, देवासुरैरिति नित्यविवक्षायां बहुवचनम्। अमृतमम्बुनिधिः ममन्थे इति द्विकर्मकेष्वपि मथिप्रभृतीनाम् उपसंख्यानम् इति अमृतशब्दात् द्वितीया इति दोषगुणयोः प्राधान्यं प्रतीयते। ननु च अत्रापि अर्थस्य प्राधान्यं न भवति तद्विषयस्य ज्ञापकहेतुना अपहृतत्वात् सोऽपि अर्थालङ्कार एव गुणालङ्कारयोश्च तुल्यकक्षतायामलङ्कारः प्रधानं भवति न गुणः, गुणैः हि गुणभूतैरेव अलङ्काराः प्राय आरभ्यन्ते ॥४६८॥

दोषगुण-प्रधान का उदाहरण—

देव तथा दानवों के द्वारा जिससे जल को उत्क्षिप्त करने से जिसमें नाग लोक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो जाता था उस सागर से अमृत को मथ निकाला, तथा वासुकी के वेष्टन से चिह्नित हो गया यह वही मन्दराचल है जो आकाश को चित्रित करता हुआ सा प्रतीत होता है ॥४६८॥

यहाँ 'व्यावर्तनैः अहिपतेः अयमाहितांकः' इसमें ज्ञापक हेतु के कारण तथा 'खं व्यालिखन्निव' इसमें उत्प्रेक्षावयव होने से, 'देवासुरैः' में नित्य विवक्षा होने पर बहुवचन हैं। "अमृतमम्बुनिधिः ममन्थे" इसमें द्विकर्मकों में भी 'मथित' प्रभृति की गणना है, इससे अमृत शब्द से द्वितीया है। इस प्रकार यहाँ दोष-गुण की प्रधानता प्रतीत होती है। "यहाँ भी अर्थ की प्रधानता नहीं होती है, उसके विषय का ज्ञापक हेतु के द्वारा अपहरण हो जाता है। अतः वह भी अलंकार ही है। गुण तथा अलंकार के समकक्ष होने पर अलंकार प्रधान होता है, गुण नहीं। गुण तो अङ्गभूत होकर ही प्रायः अलंकारों का आरम्भ करते हैं।

येनेति। देवासुरैः सुरासुरैः येन साधनेनेत्यर्थः अपविद्धैः उत्क्षिप्तैः सलिलैः जलैः हेतुभिः स्फुटं सुव्यक्तं दृश्यमित्यर्थः नागानां सद्म पातालं यस्य यत्र वा सः अम्बुनिधिः सागरः अमृतं सुधां ममन्थे विलोडयाञ्चक्रे, अहिपतेः वासुकेः शेषनागस्य वा व्यावर्त्तनैः वेष्टनैः आहितः जनितः अङ्कः चिह्नः मध्यवर्त्तिरेखाविशेष इति भावः यस्य तथाभूतः अयं परिदृश्यमानः सः मन्दराद्रिः मन्दराख्योऽचलः खम् आकाशं व्यालिखन्निव विशेषेण आलेख्यमिव चित्रयन्निव विभाति राजते ॥ ४६८ ॥

अत्रेति। तद्विषयस्य अर्थविषयस्य अपहृतत्वात् निरस्तत्वात्। गुणभूतैरङ्गभूतैः। आरभ्यन्ते उत्थाप्यन्ते इत्यर्थः।

तद्यथा,—

अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥
समस्तात्युत्कटपदामोजःकान्तिसमन्विताम्।
गौडीयां तां विजानन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः॥
आश्लिष्टश्लथभावाञ्च पुराणच्छायमाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारीञ्च पाञ्चालीं कवयो विदुः॥
माधुर्य्यमपि वाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते॥
लाटीयावन्त्ययो रीत्योर्मागध्याञ्च क्वचित् क्वचित्।
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि॥
प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसन्धिमत्।
प्रसादि स्वभिधानञ्चाऽयमकं कृतिनां मतम्॥

मा भूद् अलङ्कारतुल्यकक्षतया अर्थस्य प्राधान्यं, गुणस्य तु श्लाघ्यविशेषगुणयोग उदात्तत्वमित्यादेः किमिति प्राधान्यं न भवति, दोषगुणानामतीवोल्लेखविधित्वेन प्राधान्यात्॥

वह इस प्रकार है—

दोष की मात्रा से भी न छुयी जाने वाली, सभी गुणों से समन्वित, वीणा के स्वर की भांति सुन्दर वैदर्भीरीति अभीष्ट है। रीति मर्मज्ञ लोग समास बहुल तथा अत्यन्त कर्णकटु पदों से युक्त, ओज तथा कान्ति गुणों से समन्वित रीति को गौडी नाम से जानते हैं। थोड़ी शिथिलता वाली, प्राचीनता की छाप ली हुई, माधुर्य से युक्त तथा कोमल वर्णों वाली रीति को विद्वानों ने पाञ्चाली के नाम से जाना है। बुद्धिमान् लोग माधुर्य तथा प्रसाद की विवक्षा होने पर अत्यधिक समासों से युक्त पदों का प्रयोग नहीं करते। लाटी तथा आवन्ती रीतियों में और कहीं कहीं मागधी में भी कुछ लोग ओज गुण का अभिधान करने के लिये अनेक पदों को भी समाप्त कर देते हैं। स्फुट शब्दों वाली, ओज से समन्वित, सुश्लिष्ट पदत्व तथा सुसन्धित्व से भरी हुई, प्रसाद गुणवाली, स्पष्ट अभिधान करने वाली तथा यमक से हीन वाणी ही अधिकतर विद्वानों को अच्छी लगती है।

अलंकार की समकोटिक होने से अर्थ की प्रधानता भले ही न हो, किन्तु शब्दगुण की तो "श्लाघ्य विशेष गुणो का योग उदात्त है" इस लक्षण से प्रधानता कैसे नहीं होगी जब कि दोष गुणों की अत्यन्त उल्लेखविधान होने से प्रधानता है।

अस्पृष्टेति। दोषमात्राभिः दोषलेशैरित्यर्थः कैरपि दोषैरिति यावत् न स्पृष्टा अस्पृष्टा सर्वथा दोषवर्जितेति यावत् समग्रैः सर्वैः गुणैः ओजः प्रसादादिभिरित्यर्थः गुम्फिता ग्रथिता

सर्वगुणसम्पन्नेति यावत् विपञ्चीस्वरः वीणास्वरः तस्येव सौभाग्यं सुखश्राव्यतेति भावः यस्याः तथाभूता रीतिः रचनाविशेषः वैदर्भी विदर्भदेशीयानां प्रियत्वादिति संज्ञेति भावः इष्यते कविभिरिति शेषः ॥

समस्तेति । रीतिविचक्षणाः रचनालक्षणविद इत्यर्थः समस्तानि समासबहुलानि अत्युत्कटानि श्रुतिकर्कशानीति यावत् पदानि सुश्लिष्टानि यस्यां तां ओजः तदाख्यगुणः कान्तिश्च गुणविशेषः प्रागुक्त इति भावः ताभ्यां समन्विता युक्ता तथोक्तां तां रीतिं गौडीयां गौडदेशीयानां प्रियत्वादिति संज्ञेति भावः विजानन्ति विदन्ति ॥

आश्लिष्टेति । आश्लिष्टः आलिङ्गितः गृहीत इत्यर्थः श्लथभावः शैथिल्यम् अदार्ढ्यमिति भावः यया तां पुराणा प्राचीना छाया पुराणच्छायं तत् आश्रिता तां प्राचीनजनादृतामिति यावत् सुकुमारां सुकोमलाम् अतएव मधुरां मनोहारिणीं रीतिं कवयः विद्वांसः पाञ्चालीं पञ्चालदेशीयानां प्रियत्वात् तथा संज्ञेति भावः विदुः जानन्ति ॥

माधुर्यमिति । सुमेधसः सुष्ठु मेधाशालिनः कवयः माधुर्य्यमपि प्रसादञ्च वाञ्छन्तः इच्छन्तः सन्तः लाटीयावन्त्ययोः रीत्योः तथा मागध्याञ्च रीत्यां क्वचित् क्वचित् समासवन्ति समस्तानि भूयांसि बहुलानि पदानि न प्रयुञ्जते न प्रयुक्तानि कुर्वन्ति । तथा च लाटी आवन्ती मागधी इति तिस्रो रीतयः माधुर्य्यप्रसादगुणशालिन्यः असमस्तबहुलाश्च प्रायेण भवन्तीति निष्कर्षः ॥

केचिदिति । केचित् कवयः ओजः तदाख्यं गुणमभिधित्सन्तः अभिधातुमिच्छन्तः बहून्यपि पदानि समस्यन्ति समस्तानि कुर्वन्ति ॥

प्रतीतेति । प्रतीताः प्रसिद्धाः शब्दा यत्र तत् ओजस्वि ओजोगुणशालि, सुश्लिष्टैः अनेकार्थैः पदैः सन्धिमत् सन्धिविशिष्टं तथा प्रसादि प्रसादगुणयुक्तं सुष्ठु अभिधानं अभिधेयमित्यर्थः यत्र तत् शोभनार्थयुक्तमित्यर्थः अयमकं यमकालङ्कारवर्जितं काव्यमिति शेषः कृतिनां निपुणानां कवीनामित्यर्थः मतम् इष्टमित्यर्थः । मा भूदिति । अलङ्कारतुल्यकक्षतया अलङ्कारस्य तुल्यबलतया । अर्थस्य वाच्यस्य प्राधान्यम् अङ्गित्वं माभूत् न भवतु ॥

यथा—

> सा वामनप्रसिद्धिर्लङ्घितनभसो बलिद्विषोऽद्यापि ।
> मत्सरिणः खलु लोकाः मर्माण्येवानुबध्नन्ति ॥ ४६९ ॥

अत्र दोषस्य यो गुणीभावः स ततोऽप्यधिकं प्रकाशते इति ॥

यहाँ जो दोष का गुणीभाव है वह तो उससे भी अधिक सुशोभित होता है ।

आकाश का अतिक्रमण करने वाले तथा बलि को छलने वाले विष्णु की वामन के रूप में ख्याति अब भी है, क्योंकि विद्वेषी लोक रहस्यों का दोष प्रदर्शन के लिए उद्घाटन करता ही है ॥ ४६९ ॥

सेति । लङ्घितम् अतिक्रान्तं नभः अन्तरीक्षं येन तथाभूतस्य बलिं द्वेष्टीति बलिद्विट् तस्य बलिं छलयत इत्यर्थः विष्णोरिति भावः सा वामनप्रसिद्धिः खर्वाकारतया हीन-

ख्यातिः अद्यापि अस्तीति शेषः। खलु यतः मत्सरिणविद्वेषिणः लोकाः मर्म्माण्येव अनुबध्नन्ति दोषप्रदर्शनाय उद्घाटयन्तीत्यर्थः ॥ ४६९ ॥

अत्रेति। दोषस्य वामनत्वरूपस्य यो गुणीभावः गुणरूपेण परिणाम इत्यर्थः नभोलङ्घनादिति भावः स गुणीभावः ततोऽपि दोषादपि अधिकं प्रकाशते राजते।

शब्दालङ्कारप्रधानो यथा,—

यच्चन्द्रकोटिकरकोरकहारभाजि
बभ्राम बभ्रुणि जटापटले हरस्य।
तद्वः पुनातु हिमशैलशिलानिकुञ्ज-
प्राकारडम्बरविरावि सुरापगाऽम्भः ॥ ४७० ॥

अत्र अर्थप्राकट्यं प्रसादः, विभवोत्कर्षः उदात्तता, मृदुप्रस्फुटोन्मिश्रवर्णानामवैषम्यं समता, बन्धगाढ़ता और्ज्जित्यम् इत्यादिभ्यो गुणेभ्यः प्राधान्येन शब्दालङ्कारानुप्रासः प्रतीयते ॥ ४७० ॥

शब्दालङ्कार की प्रधानता (वाले संकर का) उदाहरण—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य १।७७ ॥ ४७० ॥

यहाँ अर्थ की प्रकटता होने से प्रसाद, वैभव का उत्कर्ष होने से उदात्तता, मृदु, प्रस्फुट, तथा उन्मिश्र वर्णों में विषमता न होने से समता, बन्ध की गाढता, औजित्य आदि गुणों की अपेक्षा प्रधानरूप से अनुप्रास नामक शब्दालंकार प्रतीत होता है।

यदिति। यत् चन्द्रकोटेः भालस्थितायाः चन्द्ररेखाया इत्यर्थः करकोरकाः किरणकलिकाः एव हारः तं भजते इति तथोक्ते चन्द्रकोटिकरजालहारशोभिनि इत्यर्थः बभ्रुणि पिङ्गले हरस्य जटाकलापे जटाजूटे बभ्राम भ्रान्तवत् हिमशैलस्य हिमाद्रेः शिला एव निकुञ्जानां लतागृहाणां प्राकाराः सालाः तेषु डम्बरम् उत्कटं यथा तथा विरावि निनादि तत् सुरापगायाः गङ्गायाः अम्भः जलं वः युष्मान् पुनातु पवित्रीकरोतु ॥ ४७० ॥

अर्थालङ्कारप्रधानो यथा,—

आश्लेषिणः पृथुरतक्लमपीतशीतम्
आयामिनीर्घनमुदो रजनीर्युवानः।
ऊर्व्वोर्मुहुर्बलनबन्धनसन्धिलोल-
पादान्तसंवलितलीनपटाः स्वपन्ति ॥ ४७१ ॥

अत्र बन्धविकटत्वमुदारता, श्लाघ्यविशेषणयोग उदात्तता, विभवोत्कर्ष औदार्य्यम्, दीप्तरसत्वम् कान्तिरित्यादिभ्यो गुणेभ्यः प्राधान्येन जातिरर्थालङ्कारः प्रतीयते ॥ ४७१ ॥

अर्थालंकार की प्रधानता वाले (संकर का) उदाहरण—

युवक तथा युवतियाँ परस्पर आलिङ्गन किये हुये, (सुरत जनित) परम आह्लाद से

समन्वित, बार बार जघनों को सञ्चालित करके गाँठों के बीच में चञ्चल चरणों के अग्रभाग में वस्त्रों को दबाये हुये, महान् रतिखेद को दूर करने के लिये शीतल पेय का ग्रहण करके खूब लम्बी-लम्बी शीतकालीन रात्रियों में सोते हैं ॥ ४७१ ॥

यहाँ बन्ध की विकटता रूप उदारता, श्लाघ्य विशेषण का योग होने से उदात्तता, वैभव का उत्कर्ष होने से उदारता, रस की दीप्ति होने से कान्ति इत्यादि गुणों की अपेक्षा प्रधानरूप से जाति नाम का अर्थालंकार प्रतीत होता है।

आश्लेषिण इति। युवानः युवतयश्च युवानश्चेति एकशेषात् युवानः तरुणीसहिताः तरुणा इत्यर्थः आश्लेषिणः परस्परम् आलिङ्गनवन्त इत्यर्थः घनाः सान्द्रा मुदः प्रीतयः सुरतजनिता इति भावः येषां तथोक्ताः मुहुः पुनः पुनः ऊर्वोः ऊरुयुगलयोः वलनेन सञ्चालनेन यत् बन्धनं तस्य सन्धौ संयोगे लोलाः तरलाः पादान्तेषु संवलिताः सङ्क्रमिताः लीनाः संलग्नाः पटाः वसनानि येषां तथाभूताः सन्तः पृथुर्महान् रतक्लमः रमणजनित-क्लान्तिः यस्मिन् तत् तथा पीतं शीतं शीतलं वस्तु पानीयादिकं सुरतक्लमापनयनायेति भावः यस्मिन् तत् यथा तथा आयामिनीः आयताः शीतकालीना इति भावः यामिनीः रात्रीः अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स्वपन्ति निद्रान्ति ॥ ४७१ ॥

उभयालङ्कारप्रधानो यथा,—

अभ्युद्धृता वसुमती दलितं रिपूरः
क्षिप्रक्रमं कवलिता बलिराजलक्ष्मीः।
अत्रैकजन्मनि कृतं यदनेन यूना
जन्मत्रये तदकरोत् पुरुषः पुराणः ॥ ४७२ ॥

अत्र उक्तिपरिपाटिः प्रौढ़िः, बन्ध विकिटत्वमुदारता, आशयोत्कर्षः उदात्तत्वम्, अर्थप्राकट्यं प्रसादः इत्यादिभ्यो गुणेभ्यः श्लेषोपसर्जना विशेषोक्तिः उभयालङ्कारः प्राधान्येन प्रतीयते ॥

रससङ्करोऽपि च अलंकारसङ्करवदेव रसाभासप्रशमानां तिलतण्डुला-दिप्रकारेण सङ्करः षट्प्रकारो भवति ॥ ४७२ ॥

उभयालंकार की प्रधानता वाले (संकर का) उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १।९८॥) ॥ ४७२ ॥

यहाँ उक्ति परम्परा होने से प्रौढि, बन्ध की विकटता रूप उदारता, आशा के कारण उत्कर्ष रूप उदात्तता, अर्थ की प्रकटता रूप प्रसाद, आदि गुणों की अपेक्षा श्लेष से परिपुष्ट विशेषोक्ति नाम का उभयालंकार प्रधान रूप से प्रतीत होता है।

रस-संकर भी अलंकार संकर की ही भांति है। (भाव) रस, आभास, तथा प्रशमों का, तिलतण्डुल आदि की रीति से, संकर छह प्रकार का होता है।

अभ्युदधृतेति। अनेन यूना युवकेन राज्ञा युवराजेन वा वसुमती पृथ्वी अभ्युद्धृता शत्रुभ्यः कृताधिकारेभ्यः प्रत्याहृता, अथ च रसातलात् उद्धृता वराहरूपेणेति शेषः, रिपूणां शत्रूणाम् उरः वक्षस्थलं दलितं भग्नम् अथच रिपोः हिरण्यकशिपोः उरः दलितं

विदारितं नखैः नृसिंहरूपेणेति शेषः तथा क्षिप्रक्रमं झटितिक्रमेणेत्यर्थः बलिनां बलवतां राज्ञां लक्ष्मीः कवलिता ग्रस्ता आत्मसात्कृतेत्यर्थः अथच क्षिप्रः झटिति प्रकटितः क्रमः पदविक्षेपः स्वर्गादाविति भावः यस्मिन् तद् यथा तथा बलिराजस्य दैत्यपतेः वैरोचनस्य लक्ष्मीः त्रिलोकाधिपत्यश्रीः कवलिता ग्रस्ता, प्रत्याहृत्य इन्द्राय दत्तेति यावत् वामनरूपेणेति शेषः। अतः अत्र अस्मिन् एकस्मिन् जन्मनि यत कृतं, पुराणः पुरुषः आदिपुरुषः नारायण इत्यर्थः जन्मनां त्रये प्रागुक्तवराहाद्यवताररूपे तत् पृथिव्युद्धरणादिकमित्यर्थः अकरोत् कृतवान् ॥ ४७२ ॥

तत्र भावानां तिलतण्डुलप्रकारो यथा,--

न्यक्कारो हृदि वज्रकील इव मे तीव्रः परिस्पन्दते
घोरान्धे तमसीव मज्जति मनः सम्मीलितं लज्जया।
शोकस्तातविपत्तिजो दहति मां नास्त्येव यस्मिन् क्रिया
मर्माण्येव पुनश्छिनत्ति करुणा सीतां वराकीं प्रति ॥४७३॥

अत्र अमर्षलज्जाशोकानुकम्पाः समकक्षतया मिथस्तिलतण्डुलवत् सङ्कीर्य्यमाणा रामस्य बिरहिणो वागारम्भानुरागोक्तिपरतया प्रतीयन्ते ॥

भावों के तिलतण्डुल प्रकार का उदाहरण—

मेरे हृदय में वज्रकील की भांति अत्यन्त दारुण अपमान खटक रहा है। लज्जा के कारण मेरा मन घोर अन्धकार में मग्न सा हो रहा है। पितृदेव की विपत्ति अर्थात् मरण से उत्पन्न होने वाला शोक मुझे जलाये डाल रहा हैं जिसका कोई प्रतिकार नहीं है। बेचारी सीता के प्रति होने वाला दयाभाव फिर भी मेरे मर्मस्थान को छेदे डाल रहा है ॥ ४७३ ॥

यहाँ अमर्ष, लज्जा, शोक तथा दया सभी समान स्तर से परस्पर तिल तथा तण्डुल की भांति मिलकर विरही राम की वागारम्भ होनेवाले अनुभाव की उक्ति से सम्बद्ध रूप में प्रतीत हो रहे हैं।

अत्रेत्यादि। श्लेषोपसर्जना श्लेषः अर्थश्लेष इत्यर्थः उपसर्जनम् अङ्गं यस्याः तथाभूता श्लेषोत्थापितेत्यर्थः।

न्यक्कार इति। मे मम हृदि हृदये वज्रकील इव कुलिशशङ्कुरिव तीव्रः दारुणः न्यक्कारः आत्मावमानरूपः सीताहरणजनित इति भावः परिस्पन्दते परिस्फुरति। लज्जया एका भार्य्यापि रक्षितुं न पारितेति कथं लोकसमाजे मुखं दर्शयामीति भावः। सम्मीलितं मुद्रितं मनः घोरान्धे तमसीव तीव्रे गाढान्धकारे इवेत्यर्थः मज्जति निमग्नं भवति। तातस्य पितुः विपत्तिः मरणं तस्मात् जातः शोकः दुःखं मां दहति ज्वलयतीत्यर्थः यस्मिन् शोके क्रिया-प्रतीकार इत्यर्थः नास्त्येव नैव विद्यते। तथा वराकीं तपस्विनीं निर्दोषामित्यर्थः सीतां प्रति करुणा अनुकम्पा मर्माणि हृदयादिसन्धिस्थानानि एव पुनः पुनः पुनरित्यर्थः छिनत्ति निकृन्ततीत्यर्थः। तातविपत्तिज इत्यत्र तार्क्ष्यविपत्तिज इति पाठे तार्क्ष्यस्य गरुडसुतस्य जटायुषः विपत्तिज इत्यर्थः॥ ४७३ ॥

क्षीरनीरप्रकारो यथा,—

मानोन्नतेत्यसहनेत्यतिपण्डितेति
मय्येव धिक्कृतिरनेकमुखी सखीनाम् ।
दाक्षिण्यमात्रमसृणेन विचेष्टितेन
धूर्त्तस्य तस्य तु गुणा नु परं जयन्ति ? ॥ ४७४ ॥

अत्र सखीषु रोषः प्रियगुणेषु च असूया नीरक्षीरवन्मिथः सङ्कीर्य्यमाणौ मानिनीवागारम्भपरतया प्रतीयेते ॥ ४७ ॥

क्षीर-नीर-प्रकार का उदाहरण—

"तू मान से उद्धत हो गई है", "तू असहिष्णु है", "तू अपने को बड़ा ज्ञानी समझ रही है" इस प्रकार से सखियों के अनेक प्रकार के तिरस्कार मुझे ही दिये जाते हैं, उसको नहीं। उस धूर्त की केवल धूर्तता भरी चालों से ही उसके गुण अत्यन्त सर्वोत्कृष्ट हो रहे हैं ॥ ४७४ ॥

यहाँ सखियों के प्रति रोष तथा प्रियतम के गुणों के प्रति असूया नीरक्षीर की भाँति परस्पर मिलकर मानिनी की वाणी से आरम्भ प्रतीत हो रहे हैं।

मानोन्नतेति । एवं मानेन उन्नता उद्धता इति असहना असहिष्णुरिति अतिपण्डिता अतिशयेन पण्डितम्मन्येत्यर्थः इति इत्थं सखीनाम् अनेकमुखी अनेक प्रकारा धिक्कृतिः धिक्कारः तिरस्कारः इति यावत् मय्येव न तु तस्मिन्निति एव कारेण द्योत्यते अस्ति मामेव सख्यः धिगिति निन्दन्तीति भावः तस्य तु धूर्त्तस्य कितवस्य मत्कान्तस्येति भावः गुणाः दाक्षिण्यमात्रेण सारल्यमात्रेण आपाततः प्रयुक्तेन सामान्येन सारल्येन मसृणं कोमलं तेन विचेष्टितेन व्यवहारेण परम् अत्यर्थं जयन्ति नु ? उत्कर्षेण वर्त्तन्ते किम् ? ॥ ४७४ ॥

छायादर्शप्रकारो यथा,—

आः सीते ! पतिगर्वविभ्रमभरप्रान्तभ्रमद्बान्धव-
प्रध्वंसस्मितकान्तिमत् तव तदा जातं यदेतन्मुखम् ।
सम्प्रत्येव हठात् तदेव कुरुते केशोच्चयोत्कर्षण-
त्रासोत्तानितलोललोचनपतद्बाष्पप्लुतं रावणः ॥ ४७५ ॥

अत्र क्रोधाभासे छायादर्शन्यायेन रत्याभासः सङ्कीर्य्यते ॥

छायादर्श प्रकार का उदाहरण—

हे सीता, जो तुम्हारा यह मुख अपने पति के गर्व से अत्यन्त फड़क रहा है और मुझ रावण के भाई बन्धुओं के विनाश से अथवा तुम्हारे ही बन्धुभूत बन्दर आदि से राक्षसों का वध करने से अत्यधिक चमक रहा है, उसी को अभी यह रावण बलपूर्वक केशराशि को खींचने के कष्ट से ऊपर उठी हुई चञ्चल आँखों से गिर रहे आँसुओं से युक्त कर रहा है ॥ ४७५ ॥

यहाँ क्रोधाभास में छायादर्शन्याय से रति का आभास संकीर्ण हो रहा है—मिल रहा है।

आ इति । आ इत्याक्षेपे । सीते ! यत् एतत् तव मुखं पत्युः स्वामिनो गर्वेण अत्य-

त्पक्षविजयजनितेनेति भावः विभ्रमभरम् अतिस्फूर्त्तिमदित्यर्थः प्रान्ते समन्तत इत्यर्थः भ्रमद्भिः विचरद्भिः बान्धवैः वानरसैन्यैः यः प्रध्वसः अस्मत्पक्षाणाम् इति भावः सस्मित मृदुहासयुतं तथा कान्तिमत् कान्त्युज्ज्वलमित्यर्थः तदा प्रागिति भावः जातं वृत्तं हर्षातिशयादिति भावः सम्प्रत्येव इदानीमेव रावणः तदेव मुखं हठात् केशानाम् उच्चयस्य सङ्घस्य उत्कर्षणेन छेदनार्थं मत्कृतेनेतिः भावः यः त्रासः भयं तेन उत्तानिताभ्याम् उत्क्षमिताभ्यां लोलाभ्यां चञ्चलाभ्यां लोचनाभ्यां नेत्राभ्यां पतद्भिः वाष्पैः अश्रुभिः प्लुतं व्याप्तं कुरुते विदधाति ॥ ४७५ ॥

नरसिंहप्रकारो यथा,—

> किं द्वारि दैवहतिके ! सहकारकेण
> संवर्द्धितेन विषपादप एष पापः ।
> अस्मिन् मनागपि विकासविकारभाजि
> भीमा भवन्ति मदनज्वरसन्निपाताः ॥ ४७६ ॥

अत्र नरसिंहजाताविव सिंहनरशरीरभागारम्भानुसारेण सखोविषयानुकम्पा सहकारविषया च कुत्सा मिथः सङ्कीर्य्येते । तथा हि दैवहतिकेति शब्देन लब्धायां नियत्युपाधौ सर्वथैव अनुकम्प्यामानतायां सहकारसम्बर्द्धननिबन्धनत्वमेव अस्याः कना द्योत्यते । एवं नाम त्वं दैवोपहताऽसि यत् सहकारविषपादपं द्वारि सम्बर्द्धयसि । विषपादपशब्देन लब्धायां सहकारस्य सर्वथैव कुत्सायां विकासकाले कामिनीनामसह्यस्मरज्वरसन्निपातहेतुकमेव अस्याः कन्प्रत्ययेन प्रत्याय्यते ॥

तदुक्तं,—

> कुत्सितत्वेन कुत्सावान् सम्यग् वाऽपि हि कुत्सितः ।
> स्वशब्दाभिहिते केन विशिष्टोऽर्थः प्रतीयते ।
> न च साम्प्रतिकी कुत्सा शब्दाभेदे प्रतीयते ।
> पूज्यते कुत्सितत्वेऽपि प्रशस्तत्वेऽपि कुत्स्यते ॥

नरसिंह प्रकार से (संकर का उदाहरण)—
(अर्थ के लिये द्रष्टव्य २।३५ ॥) ॥ ४७६ ॥

यहाँ नरसिंह के जन्म की भांति सिंह तथा नर के शरीर के भागों के अनुसार सखी के प्रति दया तथा आम्र वृक्ष के प्रति कुत्सा का भाव परस्पर मिल रहे हैं । जैसे कि 'दैवहतिका इस शब्द से प्राप्त हो रही नित्य उपाधि में पूर्णतः 'अनुकम्पा' का भाव होने से आम्रवृक्ष के सम्वर्धन का निबन्धन ही इसके 'कन्' प्रत्यय से द्योतित हो रहा है । इसी प्रकार "तू निश्चित ही दुर्भाग्य की मारी है जो आम्रवृक्षरूपी विष के वृक्ष को द्वार पर बढ़ा रही है । 'विषपादप' शब्द से प्राप्त हो रही आम्रवृक्ष की सर्वथा कुत्सा होने पर उसके विकास के समय कामिनियों के असह्य काम ज्वर के आगमन की कारणता ही इसके 'कन्' प्रत्यय से प्रतीत कराया जा रहा है । जैसा कि कहा गया है—

अंशतः कुत्सित होने से कुत्सायुक्त अथवा पूर्णतः कुत्सित अर्थ स्वशब्द से अभिधान होने पर कन् प्रत्यय से द्वारा विशिष्ट अर्थात् अभिधेय के अतिरिक्त व्यंग्य आदि अर्थ प्रतीत होता हैं। शब्द की अभिन्नता होने पर प्राथमिक कुत्सा नहीं प्रतीत होती (अपितु पर्यालोचन से प्रतीत होती हैं।) इस दशा में कुत्सित होने पर भी पूज्य अर्थ निकलता है तथा (कहीं कहीं), प्रशस्त होने पर भी कुत्सित।

किमिति प्राग्व्याख्यातम्। अत्रेति—कना कन्प्रत्ययेनेत्यर्थः।

कुत्सितत्वेनेति। कुत्सितत्वेन कुत्सा जाता अस्येति कुत्सितः तस्य भावः तेन कुत्सावान् कियदंशे कुत्सित इत्यर्थः अपि वा अथवा सम्यक् कुत्सितः सर्वथैव कुत्सित इत्यर्थः। स्वस्य शब्दः अभिधेयार्थप्रतिपादकं पदमित्यर्थः तेन अभिहिते उक्ते वस्तुनि कना कन्प्रत्ययेन विशिष्टः अभिधेयादतिरिक्त इति यावत् अर्थः व्यङ्ग्यादिकं प्रतीयते बुध्यते। शब्दाभेदे शब्दस्य अभिन्नतायां साम्प्रतिकी प्राथमिकी प्रथममेवेत्यर्थः कुत्सा नच प्रतीयते पर्य्यालोचनेन प्रतीयते एवेत्यर्थः। कुत्सितत्वेऽपि पूज्यते आद्रियते इति यावत् तथा प्रशस्तत्वेऽपि प्रशंसायोग्यत्वेऽपि कुत्स्यते निन्द्यते क्वचिदिति शेषः॥

तद्यथा,—

एक इह जीवलोके जीवति विरूपो न रूपी।
यः प्रेममयपाशे मृगवत् न मृगीदृशां पतति॥ ४७७॥

वह इस प्रकार से है—

इस संसार में केवल निन्दितरूप वाला ही जीवित है, वस्तुतः रूपवान् नहीं, क्योंकि यह विरूप व्यक्ति मृगनयनियों के प्रेममय जाल में नहीं पड़ता॥ ४७७॥

एक इति। इह अस्मिन् जीवलोके संसारे एक एव विरूपः कुत्सितरूपः जीवति, रूपी रूपवान् न जीवतीति शेषः। यः विरूपः मृगीदृशां मृगाक्षीणां प्रेममयपाशे प्रेममयबन्धनजाले न पतति। अत्र विरूपः कुत्सितोऽपि पूज्यते, रूपी तु प्रशस्तरूपोऽपि कुत्स्यते इति बोध्यम्॥ ४७७॥

पांसूदकप्रकारो यथा,—

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।
अन्यापि किं न सखि! भाजनमीदृशीनां?
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः॥ ४७८॥

अत्र स्वसौभाग्यवर्णना मृत्पिण्डे पांसूदकयोरिव अविभागमापाद्यमानयोः असूयागर्वयोः सङ्कर उपपद्यते॥ ४७८॥

पांसूदक प्रकार का उदाहरण—
(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १।१०५॥)॥ ४७८॥

यहाँ अपने सौभाग्य के वर्णनरूप मृत्पिण्ड में मिट्टी तथा जल की भांति विभक्त न हो पा रहे असूया तथा गर्व का संकर उपलब्ध होता है।

स्व० द०—तिलतण्डुल, क्षीरनीर, छायादर्श, नरसिंह प्रकार, पांसूदक प्रकार आदि का विस्तृत व्याख्यान पहले आये हुये प्रसङ्ग में कर दिया गया है।

मा गर्वमिति। मम कपोलतले गण्डदेशे कान्तस्य प्रियस्य स्वहस्तेन लिखिता चित्रिता मञ्जरी तदाकाररचनाविशेष इत्यर्थः चकास्ति राजते इति मत्वेति शेषः गर्वम् अहङ्कारं मा वह न कुरु। हे सखि! चेत् यदि वेपथुः कम्पः प्रियस्पर्शजनितसत्त्वोदयादिति भावः अन्तरायः विघ्नो वैरी शत्रुर्न भवति, तदा अन्यापि अपरापि नारीति शेषः मद्विधेति भावः ईदृशीनाम् एतादृशीनां मञ्जरीणां भाजनं पात्रं न? अपि तु भाजनमेवेत्यर्थः। कान्तस्पर्शे अस्माकमेतादृक् कम्पः स्यात् येन तादृशमञ्जर्यादिचित्रीकरणे कान्तस्य अवसरो न स्यादिति भावः॥ ४७८॥

अत्रेत्यादि। स्वस्य सौभाग्यं प्रियवाल्लभ्यं तस्य वर्णना एव मृत्पिण्डं वर्त्तुलाकारमृद्वय इत्यर्थः तस्मिन् पांसूदकयोरिव बालुकासलिलयोरिव अविभागमापद्यमानयोः कियत्यो बालुकाः कियन्ति वा सलिलानीति विभागमप्राप्नुवतीरित्यर्थः असूयागर्वयोः विद्वेषाहङ्कारयोः सङ्करः सम्मेलनम् अविभागेनेति भावः॥ ४७८॥

चित्रवर्णप्रकारो यथा,

> विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनः
> तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम्।
> झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
> महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः?॥ ४७९॥

अत्र वीरौद्धत्यस्वातन्त्र्यरसानामानन्दप्रशमपारवश्यरसैः तिरस्क्रियमाणानां पटवर्णनीलादिभिः सितादीनाम् इव प्रशमा रामदर्शनप्रभावोद्भवे लवस्य विस्मयातिशयप्रशमजन्मनि वागारम्भानुभावोपमोद्भवे चित्रवर्णवत् सङ्कीर्य्यमाणाः समुपलभ्यन्ते॥ ४७९॥

चित्रवर्ण प्रकार का उदाहरण—

इस महापुरुष के एकाएक दिखाई पड़ जाने से विवाद शान्त हो गया। आन्तरिक आनन्द से सघन राग स्फुरित हो रहा है। वह तीक्ष्णता भी कहीं विलीन हो रही है। विनम्रता मुझे नत किये दे रही है। न जाने किस तरह से मैं पराधीन होता जा रहा हूँ। अथवा अत्यन्त पुण्यजनों के बीच में महान् जनों का कोई महाप्रभाव अथवा बड़ों में भी कोई अत्यन्त उत्कृष्ट व्यक्ति इस स्थान पर उपस्थित हुआ है॥ ४७९॥

यहाँ वीर, औद्धत्य, स्वातन्त्र्य रस आनन्द, प्रशम तथा पारवश्य के रसों से तिरस्कृत किये जा रहे हैं, वस्त्र के रङ्ग नील आदि के द्वारा श्वेत आदि की भांति प्रशम, तथा राम के दर्शन के प्रभाव से उत्पन्न लव के आश्चर्य के आधिक्य से प्रशम से उत्पन्न हो रहे वाचिक कार्यरूप अनुभाव का भी उद्भव होने पर चित्रवर्ण की भांति मिलते हुये प्राप्त होते हैं।

विरोध इति। अस्मिन् महापुरुषे इति भावः झटिति सहसा दृष्टे सति विरोधः विवादः विश्रान्तः अपगतः। निर्वृत्या अन्तरानन्देनेत्यर्थः घनः सान्द्रः रसः रागः प्रसरति प्रस्फुरति। तत् प्राक् प्रकटीकृतमिति भावः औद्धत्यं तीक्ष्णत्वं क्वापि व्रजति गच्छति

विलीयते इत्यर्थः। विनयः सदाचारनियमः मां प्रह्वयति नमयति नम्रं करोतीत्यर्थः। किमपि अनिर्वचनीयं यथा तथा परवान् पराधीनः अस्मि भवामि कथं पराधीनो भवामीति न निर्वक्तुं शक्यते इति भावः। यदि वा पक्षान्तरे तीर्थानां पुण्यनिचयवतां मध्ये महान् अर्घो मूल्यं यस्य स महार्घः महाप्रभाव इत्यर्थः वा महतां कोऽपि अतिशयः अतीव महान् वा इह अस्मिन् स्थाने उपस्थितः किम् ? अयमिति शेषः॥ ४७९॥

अत्रेत्यादि। तिरस्क्रियमाणानां व्यवधीयमानानां पटस्य वसनस्य वर्णा ये नीलादयः तैः सितादीनामिव श्वेतवर्णादीनामिवेत्यर्थः॥

रसगुणसङ्कर

अथ रसगुणसङ्करः।

ननु च दोषहानमिव गुणोपादानमपि नियमनिर्वर्त्त्यम्, अलङ्कारयोग इव रसावियोगोऽपि अवश्यं विधेयः। कदाचित् अलङ्कारयोगोऽपि त्यज्यते न तु रसावियोगो गुणयोगश्च व्यभिचरितसम्बन्धौ इति। अत्रोच्यते, यत्र चित्रवर्णवत् नरसिंहवत् पांसूदकवच्च अवयवावयविन्यायेन जातिव्यक्ति-न्यायेन च अपृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्त्यानां गुणरसानां वाक्ये सन्निवेशः तत्र संकर-व्यवहारो न प्रवर्त्तते॥

"दोष परित्याग की भांति गुणों का ग्रहण भी अवश्य ही सम्पन्न होना चाहिये, अलंकार के योग की भांति रस का अवियोग भी अवश्य करना चाहिये। कहीं कहीं अलंकार का भी योग छोड़ दिया जाता है, किन्तु रसयुक्तता तथा गुण-योग का सम्बन्ध वियुक्त नहीं हो सकता" (फिर ऐसी दशा में रसों का तो गुण से सहज सम्बन्ध होने पर उनकी उपस्थिति में संकरता का प्रश्न ही नहीं उठता।) इसका उत्तर कहा जा रहा है—जहाँ चित्रवर्ण के सदृश, नरसिंह के सदृश, तथा पांसूदक के सदृश अवयव तथा अवयवी की रीति से तथा जाति और व्यक्ति की रीति से एक ही प्रयत्न से सम्पन्न हो रहे गुणों और रसों का वाक्य में सन्निवेश होता है, वहाँ संकरता की बात नहीं प्रवृत्त होती।

अथेति। दोषहानमिव दोषपरित्याग इव। नियमनिर्वर्त्त्यं नियमेन अवश्यमित्यर्थः निर्वर्त्त्यं सम्पादनीयमित्यर्थः दोषाः त्यज्यन्ते एव गुणास्तु गृह्यन्ते एवेति निष्कर्षः। रसा-वियोगः रसैः शृङ्गारादिभिः अवियोगः वियोगाभाव इत्यर्थः। व्यभिचरितसम्बन्धौ इत्यत्र अकारप्रश्लेषः प्रामादिकः अव्यभिचरितसम्बन्धौ इत्येव पाठः तथा च न व्यभिचरितः न वियुक्तः सम्बन्धो ययोस्तौ रसावियोगगुणयोग एतौ इत्यन्वयः। अत्रोच्यते इति अवयवा-वयविन्यायेन अङ्गाङ्गिभावेनेति भावः। जातिव्यक्तिन्यायेन आधाराधेयभावेनेति भावः। अपृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्त्यानाम् एकप्रयत्नसम्पाद्यानाम्॥

तद् यथा,—

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥

कामं सर्वोऽप्यलंकारः रसमर्थे निषिञ्चति ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥

श्रृङ्गार एव मधुरः परप्रह्लादनो रसः ।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्य्यं प्रतितिष्ठति ॥

श्रृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्य्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥

रौद्रादयो रसा दीप्ता लक्ष्यन्ते काव्यर्वत्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थौ ओजोऽधिष्ठाय तिष्ठति ॥

समर्थकत्वं वाक्यस्य यत् तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥

रसयुक्त वाणी रूप वस्तु में मधुर रूप से रस की स्थिति होती है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार मस्त होते हैं जैसे मधु से भ्रमर । सम्पूर्ण अलंकार अभिधेय अर्थ रूप वस्तु में सम्यक् रूप से रस को भले सींचे, तथापि—अलंकार के रससिञ्चन करने पर भी, ग्राम्यता दोष का अभाव ही इस भार को प्रचुर मात्रा में वहन करता है । श्रृङ्गार रस ही मनोहर है, अतः अत्यन्त आनन्ददायक भी है । उस श्रृङ्गारमय काव्य का आश्रय लेकर माधुर्य प्रतिष्ठित होता है । विप्रलम्भ नामक श्रृङ्गार तथा करुण में प्रकृष्ट माधुर्यगुण आर्द्रता को प्राप्त होता है, अतः वहाँ मन अधिक रमता है । काव्य में विद्यमान रौद्र आदि रस दीप्त होने पर लक्षित होते हैं । ओज उनकी अभिव्यक्ति के कारणभूत शब्द तथा अर्थ में अधिष्ठित होकर विद्यमान रहता है । सभी रसों में जो वाक्य की परिपोषकता है वही प्रसाद नाम का गुण है जो सर्वसाधारण का मनोरञ्जक माना जाता है ।

सेयं गुणानां रसारम्भकत्वे संकराप्रसिद्धिः । एवं रसानां गुणारम्भकत्वेऽपि । तद् यथा,—रूढाहंकारतौर्जित्यं, भावयतो वाक्यवृत्तिर्भाविकत्वम्, क्रोधादावपि तीव्रता माधुर्य्यम्, आशयोत्कर्षः उदात्तत्वम्, अर्थस्याभीष्टतन्मयता प्रेयः, दीप्तरसत्वं कान्तिरिति । यत्र तु तिलतण्डुलवत् क्षीरनीरवच्छायादर्शवत् तुल्यकक्षतयैव गुणरसानां वाक्यैः पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यानां विनिवेशः तत्र संकरव्यवहारः प्रवर्त्तते एव ॥ स षोढा, गुणप्रधानः, रसप्रधानः, उभयप्रधानः, उभयाप्रधानः, गुणाधिकः, रसाधिकः इति ॥

इस प्रकार यही गुणों की रस के परिपोषण में संकर की अप्रसिद्धि है । यही बात गुणों के परितोष के लिये रसों की भी है । वह इस प्रकार है—अहंकार का उत्कर्ष और्जित्य है, भावना करने वाले की वाक्य वृत्ति भाविकत्व है, क्रोध आदि में तीव्रता माधुर्य है, आशा से उत्कर्ष का होना उदात्तता है, अर्थ की अभीष्ट में तन्मयता प्रेय है, तथा रस का दीप्त होना कान्ति है । जहाँ पर तिलतण्डुल की भांति, क्षीरनीर की भांति, छाया तथा आदर्श की भांति समान स्तर के द्वारा ही गुण तथा रसों का जिनको अलग से प्रयत्न करके सम्पन्न किया जाता है, वाक्यों के द्वारा

सन्निवेश किया जाता है, वहाँ तो संकर का व्यापार चलता ही है। वह छह प्रकार का होता है, गुणप्रधान, रसप्रधान, उभयप्रधान, उभयाप्रधान, गुणाधिक (तथा) रसाधिक।

मधुरमिति। रसवद्वाचि रसविशिष्टे वाक्ये मधुरं माधुर्य्यंगुण इत्यर्थः तथा वस्तुनि मधुरे इति भावः रसस्य स्थितिः अस्तीति शेषः। येन मधुरेण रसवता च वाक्येन धीमन्तः महामतयः कवय इति शेषः मधुना मधुव्रता इव भ्रमरा इव माद्यन्ति मत्ता भवन्ति अतीव उल्लसन्तीति यावत्॥

काममिति। सर्वोऽपि अलङ्कारः अर्थे अभिधेये वस्तुनि कामं सम्यक् रसं निषिञ्चति अर्पयति, तथापि अलङ्कारस्य रसनिषेककर्तृत्वेऽपि अग्राम्यता ग्राम्यतादोषराहित्यमेव एनं रसं भूयसा बाहुल्येन भारं भारस्वरूपमित्यर्थः वहति धत्ते॥

शृङ्गार इति। शृङ्गारः रस एव मधुरः मनोहरः अतएव परम अत्यर्थं प्रह्लादयतीति प्रह्लादनः आनन्दजनक इत्यर्थः। तन्मयं शृङ्गारमयं काव्यम् आश्रित्य माधुर्य्यं तदाख्यो गुणः प्रतितिष्ठति अवतिष्ठते॥

शृङ्गारे इति। माधुर्य्यं विप्रलम्भाख्ये शृङ्गारे करुणे च रसे इति शेषः प्रकर्षवत् प्रकृष्टं सत् आर्द्रतां द्रवीभूततां याति प्रापयतीत्यर्थः अन्तर्भूतण्यर्थोऽयं धातुः। यतः यस्मात् हेतोः तत्र माधुर्य्ये रसे वा मनः सामाजिकानामिति भावः अधिकं प्रवर्त्तते इति शेषः॥

रौद्रादय इति। रौद्रादयः रसाः काव्येषु वर्त्तन्ते इति काव्यवर्त्तिनः काव्यान्तर्गता इत्यर्थः दीप्ताः तीव्रत्वेन प्रकाशमानाः लक्ष्यन्ते अनुभूयन्ते। ओजः तदाख्यो गुणः तेषां रौद्रादीनां व्यक्तेः प्रकटस्य हेतू कारणभूतौ शब्दार्थौ अधिष्ठाय आश्रित्य तिष्ठति वर्त्तते॥

समर्थकत्वमिति। सर्वरसान् प्रति सर्वेषु रसेष्वित्यर्थः वाक्यस्य समर्थकत्वं सम्पादकत्वं परिपोषकत्वमिति यावत् यत् स प्रसादो नाम सर्वसाधारणानां प्रियः मनोरञ्जकः गुणः ज्ञेयः वेद्यः॥

सेयमिति। रसारम्भकत्वे रसपरिपोषकत्वे सतीत्यर्थः। एवम् इत्थं रसानां गुणारम्भत्वेऽपि सङ्करप्रसिद्धिरिति शेषः।

तेषु गुणप्रधानो यथा,—

> अत्रान्तरे ललितहारलतानितम्ब-
> संवाहनस्खलितवेगतरङ्गिताङ्गी।
> देवी व्यपास्य शयनं धृतमानतन्तुः
> अन्तःपुरं गतवती सह सौविदल्लैः॥ ४८०॥

अत्र अर्थप्राकट्यौदार्य्ययोः अर्थशब्दगुणयोः प्राधान्यं भवति इति गुणप्रधानः॥

इनमें से गुणप्रधान का उदाहरण—

इसी बीच में शोभन करधनी को अच्छी तरह से धारण करने पर भी अत्यन्त शीघ्रता से उसके खिसकने से पकड़ने के लिये चञ्चल अङ्गों वाली, मान के सूत्र को संभालती हुई महारानी सेज छोड़ कर कञ्चुकियों के साथ अन्तःपुर में चली गई॥ ४८०॥

यहाँ अर्थप्राकट्य तथा औदार्य इन दोनों अर्थ तथा शब्दगुणों की प्रधानता है न कि रति तथा क्रोध की। अतः यह गुणप्रधान हुआ।

अत्रेति। अत्रान्तरे अस्मिन् अवकाशे ललिता शोभना हारलता रसनाकलापः तस्या नितम्बे संवाहनेऽपि सम्यग्धारणेऽपि यत् स्खलितं द्रुतगतिवशात् च्युतिः तस्य वेगेन तरङ्गितं चञ्चलितम् अङ्गं यस्याः तथोक्ता धृतः गृहीतः मानः प्रणयकोप एव तन्तुः सूत्रं यया तादृशी मानवतीत्यर्थः देवी महिषी शयनं शय्यातलं व्यपास्य परित्यज्य सौविदल्लैः कञ्चुकिभिः सह सौविदल्लाः कञ्चुकिन इत्यमरः अन्तःपुरं गतवती जगाम ॥ ४८० ॥

रसप्रधानो यथा,--

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलीलम्
आरब्धवेपथुरधीरविलोचनायाः।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः
स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ॥ ४८१ ॥

अत्र श्लाघ्यविशेषणयोग उदात्तत्वम्, बन्धविकटत्वम् उदारता, अर्थप्राकट्यं प्रसादः, दीप्तरसत्वं कान्तिरिति गुणाः साध्वसविलासानुरागसङ्गमरसैः अतिशय्यन्ते इति रसप्रधानः ॥ ४८१ ॥

रसप्रधान का उदाहरण—

इसी स्थान पर शिव के द्वारा चञ्चल नयनों वाली पार्वती का (सत्त्वोदय के कारण) काँप रहा तथा माङ्गलिक महौषधियों से युक्त हाथ अपने सर्परूप मङ्गलसूत्र को हटाये गये हाथों से पकड़ा था ॥ ४८१ ॥

यहाँ श्लाघ्यविशेषण से युक्त उदात्तता है, बन्धों की विकटता रूप उदारता है, अर्थप्रकटता रूप प्रसाद है, दीप्तरसता रूप कान्ति है, इस प्रकार ये गुण हैं जो कम्प, विलास, अनुराग तथा मिलन रूप सुख से और भी बढ़ाए जा रहे हैं। इसप्रकार यह रसप्रधान है।

अस्मिन्निति। अस्मिन् प्रदेशे पिनाकभृता पिनाकिना हरेणेत्यर्थः अधीरे चञ्चले विलोचने यस्याः तथाभूतायाः ईश्वरायाः पार्वत्याः आरब्धः धृतः वेपथुः कम्पो येन तथोक्तः सत्त्वोदयादिति भावः विन्यस्तः निहितः मङ्गलाय महौषधिः यत्र तादृशः पाणिः करः स्रस्तः भ्रष्टः उरगः एव प्रतिसरः कौतुकसूत्रं यस्मात् तेन पार्वती बिभेतीति भियेति भावः तादृशेन करेण हस्तेम अगृह्यत गृहीतः। अत्र भगवान् हरः पार्वतीं परिणीतवान् इति निष्कर्षः ॥ ४८१ ॥

उभयप्रधानो यथा,--

आपातमात्ररसिके ! सरसीरुहस्य
किं बीजमर्पयितुमिच्छसि वापिकायाम् ?
कालः कलिर्जगदिदं न कृतज्ञम् अज्ञे !
स्थित्वा हरिष्यति तवैव मुखस्य शोभाम् ॥ ४८२ ॥

अत्र भणितविशेष उक्तिः, संविधाने सुसूत्रता श्लेष इति शब्दगुणयोः लावण्यविलासवर्णनीयरसयोश्च तुल्यकक्षतया निर्देश इति उभयप्रधानः ॥

उभयप्रधान का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।६० ॥) ॥ ४८२ ॥

यहाँ भणिति विशेष होने से उक्ति, रचना-विधान में सुन्दर सम्बन्ध होने से श्लेष है, इन दोनो शब्द गुणों का तथा वर्णनीय लावण्य और विलास रसों का समान स्तर पर निर्देश होने से उभय प्रधानता है।

आपातेति। हे आपातमात्ररसिके ! सरसीरुहस्य नामश्रवणमात्रानुरागवति ! वापिकायां सरसि सरसीरुहस्य कमलस्य बीजम् अर्पयितुम् आधातुं किं कथम् इच्छसि ? कालः अयमिति शेषः कलिः अधर्मपूर्ण इति भावः। हे अज्ञे ! निर्बोधे ! इदं जगत् अकृतज्ञं कृतमुपकारं न जानातीति तथा, इदं सरसीरुहं स्थित्वा तव वापीम् अधिष्ठाय तवैव मुखस्य शोभां श्रियं हरिष्यति चोरयिष्यति ॥ ४८२ ॥

अत्रेति। भणितिविशेषः वागविन्यासविशेषः उक्तिः तदाख्यगुणः। संविधाने सम्प्रयोगे सुसूत्रता शोभना सूचना श्लेषः तदाख्यो गुणः लावण्यमिति। लावण्यविलासाभ्यां वर्णनीययोः रसयोः शृङ्गारयोरित्यर्थः ॥

उभयाप्रधानो यथा,—

अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपात्
असरलजनाश्लेषक्रूरस्तुषारसमीरणः।
गलितविभवस्याज्ञेवाद्य द्युतिर्मसृणा रवेः
विरहिवनितावक्त्रक्लैव्यं विभर्त्ति निशाकरः ॥ ४८३ ॥

अत्र स्वादुक्रूरमसृणवक्त्रक्लैव्यमित्यन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं समाधिः, अभिनववधूरोषादीनां चतुर्णामप्यर्थानां स्वाद्वादीनाञ्च लक्षणादिलक्षितानां प्राकट्यं प्रसादः, अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपात् इति विशेषणविशेष्याणाम् उपक्रमेण निर्वहणं रीतिः, पादचतुष्टये चतुर्णामर्थानां विभज्य समत्वेन निवेशः सम्मितत्वमिति चत्वारो गुणाः चत्वारश्च रत्यमर्षविषादजुगुप्सात्मानो रसाः कालावस्थानिवेदनपरत्वेन प्रतीयन्ते इत्युभयाप्रधानः ॥

उभयाप्रधान का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १। १८३ ॥) ॥ ४८३ ॥

यहाँ स्वादु, क्रूर, मसृण, मुख का क्लैव्य इन अन्य धर्मों का अन्यत्र आरोपण होने से समाधि है, 'अभिनववधूरोष' आदि चारों अर्थों की तथा स्वादु आदि लक्षणा आदि शक्तियों से लक्षित होने वालों की प्रकटता प्रसाद है, 'अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपात्' इस विशेषण तथा विशेष्य के क्रम का प्रारम्भ करके उसका निर्वाह करने से रीति है, चारों पादों में चारों अर्थों का विभाजन करके समान रूप से निवेश होने से सम्मितत्व है। इस प्रकार चार ही गुण तथा चार ही रति, अमर्ष, विषाद् तथा जुगुप्सा रूप रस काल-अवस्था का निवेदन करते हुये प्रतीत होते हैं। इस प्रकार यहाँ उभयाप्रधानता है।

अभिनवेति। अद्य अस्मिन् शीतर्त्ताविति भावः। करीषतनूनपात् शुष्कगोमयाग्निः करीषं शुष्कगोमयमिति वध्वाःज्वलनो जातवेदास्तनूनपादिति चामरः। अभिनवायाःनवोढायाः वध्वाः रोषः प्रणयकोप इति यावत् तद्वत् स्वादुः सुखकर इत्यर्थः तुषारसमीरणः शीतवायुः असरलस्य क्रूरस्य जनस्य आश्लेषः आलिङ्गनं तद्वत् क्रूरः निष्ठुरः दुःसह इति यावत्। रवेः सूर्य्यस्य द्युतिः प्रभा गलितः गतः विभवः सम्पत् यस्य तथाभूतस्य निर्धनस्येत्यर्थः प्रभोरिति शेषः आज्ञेव आदेश इव मसृणा कोमला, मृद्वीत्यर्थः निर्धनस्य प्रभोराज्ञा प्रायेण न मान्यते तथा रवेः प्रभा मृदुतया अङ्गं न उत्तेजयतीति भावः। निशाकरः चन्द्रः विरहिण्याः वनितायाः स्त्रियाः वक्त्रस्य वदनस्य क्लैब्यं क्लीवतां दैन्यमिति भावः विभर्त्ति धत्तेः।

अत्रेति। लक्षणादिलक्षितानां लक्षणा मुख्यार्थबाधे अन्यार्थप्रतिपादिनी वृत्तिः उक्तञ्च दर्पणे। 'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणाशक्तिरर्पिते'ति। आदिपदेन व्यञ्जनादीनां ग्रहणम्। तथा च लक्षणादिभिः लक्षितानां प्रतिपादितानामित्यर्थः। रत्यमर्षेति रतिः अमर्षः विषादः जुगुप्सा ताः आत्मानः जीवनाधायकधर्मा येषां तथाविधाः रसाः शृङ्गारवीरकरुणबीभत्साख्या इति भावः। कालावस्थानिवेदनपरत्वेनेति कालावस्थानिवेदनस्यैव प्राधान्यमिति भावः। तस्माद् उभये गुणा रसाश्चेत्यर्थः अप्रधाना तादृशः अत्र अयं सन्दर्भ इति शेषः॥ ४८३ ॥॥

गुणाधिको यथा,—

> अजननिरस्तु विभूतेरपूरणिः भवतु सर्वकामानाम्।
> मा याचिषि मा सेविषि मा सहिषि पराभवं धनिनः ॥ ४८४ ॥

अत्र सुप्तिङ् व्युत्पत्तिः सौशब्द्यं वाक्यानां परिपूर्णत्वमर्थव्यक्तिः, अर्थस्य प्राकट्यं प्रसादः, विभूतेरनुत्पत्तौ कामाः न पूर्य्यन्ते, अपरिपूर्णकामो याचते, याचमानस्तदनाप्नुवन् धनिनः सेवते, सेवमानस्तु तैः परिभूयते इत्युत्पत्त्यादिक्रियाक्रमो रीतिः इति गुणाश्चत्वारः। रसस्तु निर्वेदः एवैक इति गुणाधिकः ॥ ४८४ ॥

गुणाधिक का उदाहरण—

सम्पत्ति की उत्पत्ति भले ही न हो, सभी कामनाओं की पूर्ति भी भले न हो, किन्तु इन धनिकों से याचना मत करना, इनकी सेवा मत करना और इनसे तिरस्कार भी मत सहना ॥ ४८४ ॥

यहाँ सुप् तथा तिङ् की उत्पत्ति होने से सुशब्दता, वाक्य की परिपूर्णता होने से अर्थ व्यक्ति, अर्थ की प्रकटता रूप प्रसाद, सम्पत्ति की उत्पत्ति न होने पर कामनाओं की पूर्ति नहीं हो सकती, जिसकी कामनायें पूर्ण नहीं होतीं वह याचना करता है, याचना करने वाला भी उसे न पाता हुआ धनियों की सेवा करता है, सेवा करता हुआ व्यक्ति उनके द्वारा तिरस्कृत होता है, इस प्रकार की उत्पत्ति आदि क्रिया का क्रम रीति है। यहाँ इस प्रकार गुण चार हैं। रस केवल अकेला निर्वेद ही है, इस प्रकार गुणों की अधिकता है।

अजननिरिति। विभूतेः सम्पदः अजननिः अनुत्पत्तिः अस्तु भवतु, विभूतिः नैव उत्पद्यतामित्यर्थः, सर्वे कामाः मनोरथाः तेषां अपूरणिः अपूर्णता भवतु सर्वथा कामपूरणं

न भवतु इत्यर्थः, आक्रोशे अनिप्रत्ययः धनिनः मा याचिषि धनिसमीपे याञ्चां मा कुरु, मा सेविषि धनिनां सेवां मा कुरु, धनिनः पराभवं निकारं मा सहिषि मा सहस्व। धनिन इति याचिषि सेविषि इत्येतयोः कर्मतया द्वितीयाबहुवचनान्तम्। तृतीयवाक्ये अपादानतया पञ्चम्येकवचनान्तमिति विभक्तिविपरिणामेन अन्वेतीति बोध्यम्॥ ४८४॥

अत्रेति। सुप्तिङुत्पत्तिः सुपां शाब्दीनां विभक्तीनां तिङां धातवीनां विभक्तीनाञ्च उत्पत्तिः नैपुण्येन विनियोग इत्यर्थः सौशब्द्यं सुष्ठु शब्दप्रयोगः तदाख्योगुण इति यावत्। रसस्तु निर्वेद एव निर्वेदप्रधानः शान्त इति भावः॥

रसाधिको यथा,—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥४८५॥

अत्र कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् इत्यन्यधर्माणामन्यत्र आरोपणं समाधिः, सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् इति अश्लीलामङ्गलार्थौ दोषावपि गुणौ। श्लाघ्यविशेषणगुणयोग उदात्तत्वम्, विकटबन्धत्वम् उदारता, उपक्रमाभेदो रीतिः, अर्थप्राकट्यं प्रसादः, अनिष्ठुरता सौकुमार्य्यम्, अभीष्टतमता प्रेयः, दीप्तरसत्वं कान्तिरिति गुणा दश, रसास्तु रत्युत्कर्षहर्षधृत्युत्कण्ठावेगविस्मयवितर्कचिन्ताचपलता-हासोत्साहस्तम्भगद्गदोन्माद-व्रीडाऽवहित्थाभयशङ्काः विंशतिः वागारम्भानुभवे शृङ्गारिणः प्रियाचाटुकारस्य कस्यचित् प्रतीयन्ते इति रसाधिकः। रसालङ्कारसङ्करोऽपि एतेन व्याख्यातः॥

रसाधिक का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य ४।१०१॥)॥ ४८५॥

यहाँ विना जल के ही कमल, कमल में दो नीलोत्पल तथा कनकलता में इन दोनों अन्य वस्तु के धर्मों का अन्यत्र आरोप होने से समाधि है, वह भी सुकुमार, सुभग इन पदों से तथा 'यह कौन उत्पातों की परम्परा है ?' इसमें क्रमशः अश्लीलता तथा अमङ्गलार्थ दोष भी गुण हैं। श्लाघ्यविशेषणगुण का योग होने से उदात्तता, विकट बन्धता होने से उदारता, उपक्रम का अभेद रीति, अर्थ की प्रकटता से प्रसाद, अत्यधिक अभीष्टता होने से प्रेय, तथा रस की दीप्ति होने से कान्ति है, इस प्रकार यहाँ ये गुण दस हैं, रस तो रति, उत्कर्ष, हर्ष, धृति, उत्कण्ठा, आवेग, विस्मय, वितर्क, चिन्ता, चपलता, हास, उत्साह, स्तम्भ, गद्गद, उन्माद, व्रीडा, अवहित्था, भय तथा शंका ये बीस वाचिक चेष्टाओं का अनुभव होने पर अपनी प्रियतमा के चाटुकार किसी शृङ्गारी व्यक्ति के प्रतीत होते हैं। इस प्रकार रस की संख्या में आधिक्य है। इसी से रस तथा अलंकार का भी संकर स्पष्ट हो जाता है।

कमलमिति। अनम्भसि निर्जले देशे इति शेषः कमलं पद्मम्, कमलं च कुवलये नीलोत्पले द्वे इति शेषः। तानि कमलं कुवलये चेति त्रीणि इत्यर्थः कनकलतिकायां स्वर्णलतायाम्। सा च कनकलतिका सुकुमारा सुकोमला सुभगा सुरम्या च इत्यर्थः

इति एवं रूपेत्यर्थः का उत्पातपरम्परा उत्पातराजिः का ? कामपि नायिकां दृष्ट्वा कस्यापि कामिनः तद्वदनं पद्मं, तत्र नयने नीलोत्पले, तदङ्गं कनकलता इति अध्यासादतिशयोक्तिरलङ्कार इति बोध्यम् । केवलं वदनं कमलमित्येक उत्पातः तत्र नयने कुवलये इति द्वितीय उत्पातः, तत्सर्वं कनकलतिकारूपे अङ्गे इति तृतीय उत्पातः । तच्च कनकलतिकारूपमङ्गं सुकोमलं सुभगञ्चेति चतुर्थं उत्पातः इत्यस्या उत्पातपरम्पराख्यम् । उत्पातश्च दर्शनादेव मनसो नितरां हरणेन व्यथादायकत्वधर्मादिति भावः ॥ ४८५ ॥

अत्रेत्यादि । अश्लीलामङ्गलार्थौ सुभगेत्यत्र भगशब्दोऽश्लीलार्थः उत्पातपरम्परेति शब्दः अमङ्गलार्थं इति द्वौ दोषौ अपि दोषत्वेन निर्दिष्टौ अपीत्यर्थः । गुणौ गुणरूपेण गणनीयौ इत्यर्थः । रसास्तु रसधर्मास्तु इत्यर्थः ॥

रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन विवर्त्यन्ते महाकवेः ॥ १७३ ॥
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारः प्रकृष्यते ॥ १७४ ॥
रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कारनिबन्धो यः स कविभ्यो न रोचते ॥ १७५ ॥

कुछ सरस वर्ण्यविषय अलंकारों के साथ ही महाकवि के एक ही प्रयास से सम्पन्न हो जाते हैं । रसयुक्त होने से जिस सन्दर्भ की रचना सुकर होती है, वही पृथक् रूप से विना प्रयास के ही सम्पन्न होने वाला अलङ्कार अत्यधिक प्रकृष्ट होता है । रस, भाव आदि विषयों की विवक्षा के अभाव में जो अलंकार का प्रयोग है वह कवियों को प्रिय नहीं ॥ १७३–१७५ ॥

रसेति । कानिचित् नतु सर्वाणीति भावः रसवन्ति सरसानि वस्तूनि वृत्तानि सालङ्काराणि हि अलङ्कारसहितानि एव महाकवेः एकेनैव प्रयत्नेन प्रयासेन रचनाविशेषस्येति भावः विवर्त्यन्ते सम्पाद्यन्ते विरच्यन्ते इति यावत् ॥ १७३ ॥

रसेति । रसाक्षिप्ततया रसयुक्तत्वेन यस्य सन्दर्भस्येति शेषः बन्धः विरचनं शक्या क्रिया यस्य तथाविधः सुकर इत्यर्थः भवेत्, अपृथक् यत्नेन अभिन्नेन प्रयासेन इत्यर्थः निर्वर्त्यः प्रयोज्य इति यावत् ;सः अलङ्कारः प्रकृष्यते प्रकृष्टतया ख्यायते इत्यर्थः रससंवलितोऽलङ्कारः प्रशस्त इति भावः ॥ १७४ ॥

रसेति । रसभावादीनां विषयः प्रतिपाद्यवस्तु इत्यर्थः तस्य विवक्षा वक्तुमिच्छा तस्या विरहे असद्भावे सति यः अलङ्कारनिबन्धः अलङ्कारसमावेशः, स कविभ्यः अनेकेभ्य इति भावः न रोचते न स्वदते कवीनां न प्रियतामेतीत्यर्थः ॥ १७५ ॥

तत्र रसालङ्कारसङ्करो द्विधा—रसप्रधानः, अलङ्कारप्रधानश्च । तयोर्योऽनुभवित्रैव वर्ण्यते सः रसप्रधानः । तत्र हि अलङ्कारवतो वाक्यस्य वागारम्भानुभावत्वं भवति ॥

इनमें रस तथा अलंकार का संकर दो प्रकार का है, रस-प्रधान तथा अलंकार-प्रधान । इन

दोनो में से जो अनुभवकर्ता के द्वारा ही वर्णित किया जाता है वह रसप्रधान है। इसमें अलंकार से युक्त वाक्य वाचिक आरम्भ रूप अनुभाव से समन्वित होता है।

स्प० टि०—यहाँ उद्धृत की गई कारिकाएँ ध्वन्यालोक की हैं। 'रसवन्ति'''महाकवेः' को स्वयं आनन्दवर्धन ने संग्रह श्लोक के रूप में ग्रहण किया है। उसके आगे भी दो कारिकायें हैं—

> यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।
> शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषा न विद्यते॥
>
> रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते।
> ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गतां नोपपद्यते॥ ध्वन्या० २।१७ के पूर्व०॥

'रसाक्षिप्ततया' आदि पूरी कारिका आनन्दवर्धन की ही है (द्रष्टव्य-ध्वन्या० २।१६॥)। यहाँ भोज की मान्यतायें स्पष्ट रूप से ध्वनिकार के समान है। वह भी ऐसी ही दशा में अलंकारों को रस का अङ्ग मानते हैं, अन्यथा नहीं। वृत्ति में उनके विचार इस प्रकार हैं—

'निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालंकारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत् सोऽस्मिन् अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलंकारो मतः। तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः।'''रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति। यो रसं बन्धमध्यवसितस्य कवेरलंकारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति। यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः॥—अलंकारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत् नैवम्। अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति। यथा कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे। यथा च मायारामदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ।''''॥ पृ. १०५-७॥

तत्रेति। तयोः रसप्रधानालङ्कारप्रधानयोरित्यर्थः। अनुभवित्रा अनुभवकारिणा इत्यर्थः सामाजिकेनेति यावत्। वागारम्भेति वाचाम् आरम्भे एव अनुभावः यस्य तस्य भावः तत्त्वम्॥

तत्र रतौ उपमायाः सङ्करो यथा,—

> तीए दंसणसुहए पणअक्खलणजणिओ मुहम्मि मणहरे।
> रोसो वि हरइ हिअअं मिअअङ्को व्व मिअलञ्छणम्मि णिसण्णो॥४८६॥

अत्र उपमातिरस्कारेण रसवतो हरेर्वचसि वागारम्भरूपे रुक्मिणीप्रदत्तपारिजातमञ्जरीविलोकनप्रभवं सत्यभामाया एव रोषरामणीयकं प्राधान्यतः प्रतीयते॥

इनमें रति में उपमा के संकर का उदाहरण—

उस सुन्दरी को देखने में सुन्दर, चित्ताकर्षक, मुख पर प्रणय के स्खलन से उत्पादित रोष भी चन्द्रमा में पड़े-हुये मृगरूप कलंक के सदृश हृदय हरता है॥ ४८४॥

यहाँ उपमा के तिरस्कार से रसयुक्त हरि की वाचिक चेष्टा रूप शब्दावली में रुक्मिणी को

दी गई पारिजातमञ्जरी को देखने के कारण सत्यभामा का ही कोप के कारण सौन्दर्य प्रधान रूप से प्रतीत होता है।

तस्या दर्शनसुभगे प्रणयस्खलनजनितो मुखे मनोहरे।
रोषोऽपि हरति हृदयं मृगाङ्क इव मृगलाञ्छने निषण्णः॥

तस्या इति। तस्याः कान्तायाः दर्शनसुभगे दृष्टिप्रिये मनोहरे हृदयहारिणि मुखे प्रणयस्य स्खलनेन व्यत्ययेन जनितः उत्पादितः रोषोऽपि कोपोऽपि कोपप्रकाशकभ्रूभङ्गादिकमपीत्यर्थः मृगलाञ्छने चन्द्रे निषण्णः स्थितः मृगाङ्क इव मृगरूपः कलङ्क इव हृदयं हरति प्रीणयतीत्यर्थः॥

अत्रेति। उपमायाः अलङ्कारभूतायाः तिरस्कारेण आवरणेन। रसवतः रसिकस्य हरेः कृष्णस्य। रुक्मिणीति रुक्मिण्यै प्रदत्ता या पारिजातमञ्जरी तस्या विलोकनं प्रभवः कारणं यस्य तथोक्तं रोषरामणीयकं रोषेण प्रणयकोपेन रमणीयत्वम्॥

रतावेव विपरीतोपमा यथा,—

यत् त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तद् इन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये! तव मुखच्छायानुकारी शशी।
योऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गताः
त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥४८७॥

अत्र विरहिणो रामस्य प्रियावयवसादृश्यदर्शनेन आत्मानं विनोदयतः उपायभ्रंशाद् अरतिप्रभवविषादवागारम्भस्वरूपाभिधाने प्रक्षीणशक्तिरप्राधान्येन उपमा प्रतीयते॥

रति में ही विपरीतोपमा का उदाहरण—

(अर्थ के लिये द्रष्टव्य ४।२१॥)॥ ४८७॥

यहाँ विरही राम के जो प्रेयसी सीता के अवयवों के सादृश्य को देखने से अपने को सन्तोष दे लेते थे, विनोद के साधनों का लोप हो जाने से अरति के कारण उत्पन्न विषाद रूप वाचिक प्रयत्नों के स्वरूप का अभिधान होने से क्षीण शक्ति वाली उपमा गौणरूप से प्रतीत होती है।

स्व० द०—यहाँ उपमेय को उपमान अथवा उपमान को उपमेय के रूप में निरूपित करने से विपरीतोपमा है। सामान्य उपमा में उपमेय तथा उपमान अपने पूर्वक्रम के ही अनुसार होते हैं।

यदिति। हे प्रिये! तव नेत्रस्य समाना सदृशी कान्तिर्यस्य तथोक्तं यत् इन्दीवरं नीलोत्पलं तत् सलिले जले मग्नं विलीनमित्यर्थः, तव मुखस्य छाया कान्तिः ताम् अनुकरोतीति तथाभूतः शशी चन्द्रः मेघैः जलदैः अन्तरितः तिरोहितः तव गमनम् अनुकरोतीति तथोक्ता गतिर्येषां तथोक्ताः ये राजहंसाः, ते गताः पृथिवीं विहाय मानसम् इति शेषः। मे मम तव सादृश्येन सदृशवस्तुदर्शनेनेति भावः यो विनोदः प्रीतिः स एव तन्मात्रं तदपि दैवेन दुर्विधिना न क्षम्यते न सह्यते॥ ४८७॥

रतावेव पर्य्यायो यथा,--

> किं गुरुजहणभरोत्ति भावअदो करलग्गतुलिआए।
> विहिणो खाताङ्गुलित्थाणविब्भमं वहइ से तिवली ॥ ४८८ ॥

अत्र यद्यपि रतिप्रभवेभ्यः विस्मयादिभ्यः संशयहेतूत्प्रेक्षोपमादिभ्यश्च पर्य्यायालङ्कारः प्राधान्येन प्रतीयते, तथापि असौ वागारम्भानुभाव इति रतावपि अप्राधान्यमेव अनुभूयते ॥ ४८८ ॥

रति में ही पर्याय का उदाहरण—

इस सुन्दरी की त्रिवली की तीनों रेखायें विशाल जघनों के विस्तार को देखते हुये ब्रह्मा के हाथ में स्थित तूलिका से खुदी हुई अँगुलियों के रखने की जगह की शोभा को धारण कर रही हैं ॥ ४८८ ॥

यहाँ यद्यपि रति से उत्पन्न होने वाले विस्मय आदि से तथा संशय, हेतु, उत्प्रेक्षा, उपमा आदि से पर्याय अलंकार ही प्रधानरूप से प्रतीत होता है फिर भी यह वाचिक चेष्टारूप अनुभाव ही है। इस प्रकार रति में भी अप्रधानता ही का अनुभव होता है।

> किं गुरुजघनभर इति भावयतः करलग्नतूलिकया।
> विधेः खाताङ्गुलिस्थानविभ्रमं वहति तस्याः त्रिवली ॥

किमिति। अस्याः कान्तायाः त्रिवली वलित्रयं विशिष्टा रेखास्तिस्र इति भावः गुरुः विशालः जघनस्य भरः आभोग इति भावयतः चिन्तयतः तदेकायत्तचित्तस्येति भावः विधेः विधातुः करलग्ना करस्थिता तूलिका चित्रोपकरणविशेषः तया खातस्य निहितस्य अङ्गुलिस्थानस्य विभ्रमं शोभां वहति जनयति किम्? ॥ ४८८ ॥

अत्रेति। अप्राधान्यमेव अनुभवतीति प्रामादिकः पाठः अनुभूयते इति पाठः समीचीनतया प्रतिभाति।

रतावेव समाधिर्यथा,--

> कृच्छ्रादूरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
> मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निष्पन्दतामागता।
> मद्दृष्टिस्तृषितेव सम्प्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
> साकांक्षं मुहुरीक्षते जलभरप्रस्यन्दिनी लोचने ॥ ४८९ ॥

अत्र वत्सराजेन स्वदृष्टौ प्राणिधर्माः समाधीयमानाः सागरिकादर्शनार्थे वागारम्भे न्यग्भवन्ति ॥

रति में ही समाधि का उदाहरण—

मेरी ये निगाहें इस सुन्दरी के दोनो जघनों को बड़ी कठिनाई से प्राप्त करके पुनः उनको छोड़ कर बड़ी देर तक नितम्बों पर भ्रमण करती रहीं। पुनः इसकी त्रिवली रूप लहरों से विषम कटिप्रदेश में आकर अत्यन्त शान्त हो गईं। उसके पश्चात् इस समय धीरे धीरे दोनों ऊँचे उरोजों

पर चढ़ कर एक पिपासाकुल प्राणी की भांति बड़ी उत्कण्ठा से बार बार इसके जल से परिपूर्ण झरने की भांति रसीली आंखों को देखती रहती हैं ॥ ४८९ ॥

यहाँ वत्सराज उदयन के द्वारा अपनी दृष्टि में प्राणियों के आरोपित किये जा रहे धर्म सागरिका को देखने से सम्बद्ध वाचिक चेष्टा में तिरस्कृत हो जाते हैं।

कृच्छ्रादिति। यद्दृष्टिः मदीया दृष्टिः अस्याः रमण्याः ऊरुयुगम् ऊरुद्वयं कृच्छ्रात् क्लेशात् कृच्छ्रं प्राप्येत्यर्थः ल्यब्लोपे पञ्चमी। कृच्छ्रेणेति पाठान्तरम्। व्यतीत्य व्यतिक्रम्य विहायेत्यर्थः व्यतिक्रमे इच्छाविरहेऽपि अन्येषामङ्गानां ततोऽप्युत्कृष्टानां दर्शनाभिलाषादिति भावः सुचिरम् अतिदीर्घकालं नितम्बस्थले भ्रान्त्वा भ्रमणं कृत्वा सर्वतो निरीक्ष्येति भावः त्रिवली एव तरङ्गः तेन विषमे दुष्पारे इति भावः मध्ये कटिदेशे निष्पन्दतां स्थिरताम् आगता प्राप्ता ततश्चलितुं नेच्छति स्मेति भावः। सम्प्रति शनैः मन्दं मन्दं तुङ्गौ उन्नतौ स्तनौ आरुह्य तृषितेव पिपासितेव उत्तुङ्गारोहणे श्रमातिशयात् तृषा जायत एवेति भावः। साकाङ्क्षं साभिलाषं यथा तथा जलभरेण अश्रुभरेण प्रियतमाप्राप्तिनिबन्धनेनेति भावः प्रस्यन्दिनी निर्झरिणी लोचने नयने मुहुः पुनः पुनः ईक्षते अवलोकयति ॥ ४८९ ॥

अत्रेति। प्राणिधर्माः प्राणिनः धर्माः व्यतिक्रमादयः समाधीयमानाः आरोप्यमाणाः। न्यग्भवन्ति अपकर्षेण वर्त्तन्ते इत्यर्थः।

रतावेव अर्थश्लेषस्य यथा,—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुर्लग्नः कण्ठे तरलयति वाष्पः स्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे! न तु वयम् ॥ ४९० ॥

अत्र यद्यपि आक्षेपेण वाक्योपसंहारः तथापि प्रिय इत्यादिभिः प्राधान्येन अभिधीयमानः श्लेष एव शृङ्गारिणो वागारम्भानुभावाङ्गतामङ्गीकरोति ॥

रति में ही अर्थश्लेष का उदाहरण—

हे मेरी बातों को न सुनने वाली सुन्दरि! कपोलों पर (मेरे हाथों से) रची गई पत्राली आदि हाथों के स्पर्श से पोंछ दी गई, निश्वासों से अमृत के सदृश मनोहर अधर का रस पी लिया गया। पुनः आँसू गले से लगकर स्तनों के आभोग को सींचे दे रहा है। हाय, इस प्रकार तो यह कोप ही तुम्हारा अतिशय प्रिय हो गया है, न कि हम लोग ॥ ४९० ॥

यद्यपि यहाँ आक्षेप के द्वारा वाक्य की समाप्ति हो रही है, फिर भी 'प्रिय' आदि शब्दों के द्वारा प्रधानरूप से अभिहित होकर श्लेष ही रसिक नायक के वाचिक प्रयत्न रूप अनुभाव की अङ्गता स्वीकार करता है।

कपोलेति। हे निरनुरोधे! अगणितानुरोधे! अश्रुतमद्वचने! इति भावः, कपोले गण्डतटे पत्राली मद्विरचितेति भावः करतलनिरोधेन करतलामर्शनेनेत्यर्थः मृदिता प्रोञ्छिता।

अयम् अमृतवत् हृद्यः मनोज्ञः अधररसः निःश्वासैः दुःखादायतैरुष्णैश्चेति भावः निपीतः नितरां शोषितः। मुहुः पुनः पुनः कण्ठे लग्नः गलितः वाष्पः अश्रुजलं स्तनतटीं तरलयति सिञ्चतीत्यर्थः, अतः तव मन्युः कोपः मान इत्यर्थः प्रियः प्रीतिकरः जातः, वयं न तु नैव प्रिया जाता इति शेषः ॥ ४९० ॥

रतावेव पर्य्यायोक्तेः यथा,—

मुक्ताः कन्धरया धृताः स्तनतटेनोत्तुङ्गता कुम्भयोः
ऊरुभ्यां परिणाहिता क्रमवती हस्तस्य पद्भ्यां गतिः।
एतद् वः करिघातिनस्तु कठिनं चर्मेव कोऽयं हठः
चण्डीति त्रिपुरारिकेलिवचनैरार्य्यास्मितं पातु वः ॥४९१॥

अत्र भगवतश्चाटूक्तिवागारम्भे देव्याः पर्य्यायवर्णना श्लेषभावं लभते। यत्र उदासीनेन वर्ण्यते सः अलङ्कारप्रधानः। स हि रसभावादेः सङ्कर-प्रकारमभिधित्सुः स्वभावोक्तिं वक्रोक्तिं वा अवलम्बते। तत्र स्वभावोक्ति-पक्षे जातिः ॥ ४९१ ॥

रति में ही पर्यायोक्ति का उदाहरण—

'हे क्रोधने, कन्धों से मुक्ताओं को तुमने धारण किया और स्तनों के द्वारा कुम्भों की ऊँचाई को, दोनों जघनों से शुण्ड की क्रममयी विशालता तथा चरणों से उसकी गति भी ले ली। (हाथी की) ये सारी वस्तुयें तो तुमने सिंह से (मंगा कर) प्राप्त करलीं, किन्तु (यह तो बताओ कि) उसके कठोर चमड़े की भांति भला तुम्हारा यह मान क्या है?' इस प्रकार से शिव की हँसा देने वाली चाटुकारिता की उक्तियों से उत्पन्न देवी गौरी की मन्द स्मिति आप लोगों की रक्षा करे ॥ ४९१ ॥

यहाँ भगवान् शिव की चाटुकारिता से भरे हुए वाचिक प्रयत्नों के होने पर देवी गौरी के पर्याय का वर्णन श्लेष के भाव को प्राप्त करता है।

जहाँ किसी उदासीन के द्वारा वर्णन किया जाता है वह अलंकार प्रधान होता है। वह रसभाव आदि की संकरता को कहने की इच्छा से स्वभावोक्ति अथवा वक्रोक्ति का अवलम्बन ग्रहण करता है। यहाँ स्वभावोक्ति के पक्ष में जाति (अलंकार) होता है।

मुक्ता इति। हे चण्डि ! अतिकोपने 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपन' इत्यमरः। कन्धरया ग्रीवया मुक्ता मौक्तिकहार इत्यर्थः। स्तनतटेन कुम्भयोः करिशिरस्थितगोलपिण्डयोः उत्तुङ्गता उन्नतता, ऊरुभ्यां हस्तस्य शुण्डस्य क्रमवती गोपुच्छाकारेति भावः परिणाहिता विशालता, पद्भ्यां चरणाभ्यां गतिः मन्दगमनमित्यर्थः धृताः गृहीताः त्वयेति सर्वत्र कर्तृपदमूह्यम्। वः युस्माकं गौरवे बहुत्वम्। करिघातिनः सिंहात् करिणं निहत्य आनयत इति भावः स्ववाहनादिति भावः एतत् सर्वं त्वया लब्धमिति शेषः तु किन्तु कठिनं चर्मेव तदीयमिति भावः अयं हठः बलात् मानावलम्बनमिति भावः कः? तवेति शेषः इति इत्थं त्रिपुरारेः हरस्य केलिवचनैः परिहासकरचाटुवाक्यैः आर्य्यायाः गौर्य्याः स्मितं मानापनयनात् मृदु हसितं वः युष्मान् पातु रक्षतु ॥ ४९१ ॥

यत्रेति। उदासीनेन मध्यस्थेन रसगुणयोरिति भावः रसगुणयोर्मध्यर्वात्ततया स्थिते-नेत्यर्थः। अभिधित्सुः अभिधातुमिच्छुः।

सा विधिमुखेन यथा,—

थोओसरन्तरोसं थोअपरिवड्ढमानपहरिसम्।
होइ अदूरपआसं उहअरसाअत्तविब्भम्तीअ मुहम्॥ ४९२॥

अत्र सत्यभामायाः रोषस्य अपसर्पतः प्रहर्षस्य च प्रसर्पतो येऽनुभावाः जिह्मावलोकनमुखप्रसादादयः ते इह संकीर्य्यमाणाः कविना उभयरसायत्तम् इत्यनेन यथावदवस्थिता भवन्तीति विधिमुखेन अभिधीयन्ते॥

जातिरेव निषेधमुखेन यथा,—

धीरेण माणभङ्गो माणक्खलणेण गरुअ धीरारम्भो।
उल्ललइ तुलिज्जन्ते एक्कम्मि वि से थिरं ण लग्गइ हिअअं॥४९३॥

अत्र यद्यपि हेतूपन्यासो वर्त्तते तथापि तस्य भावाख्यानपरिकरत्वेन अप्राधान्येन हृदयक्रियास्वरूपमेव इह निषेधमुखेन अभिधीयते इति इयं जातिरेव भवति॥

वह जाति ही विधिरूप से (जब होती है) उसका उदाहरण—

(सम्भोग तथा विप्रलम्भ) दोनों रसों के वशीभूत विभ्रम से संयुक्त सुन्दरी का मुख कुछ कुछ दूर हो रहे रोष से युक्त तथा कुछ कुछ लौट रहे हर्ष से समन्वित होकर उपस्थित हो रहे विकास से सुशोभित होता है॥ ४९२॥

यहाँ सत्यभामा के दूर हो रहे रोष तथा बढ़ रहे हर्ष के जो अनुभाव कुटिल दृष्टिपात तथा मुख की प्रसन्नता आदि हैं वे यहाँ सम्मिलित होकर कवि के द्वारा "उभयरसायत्तम्" इस शब्द के द्वारा नियमित रूप से अवस्थित करा दिये गये हैं, इस प्रकार ये विधिवाचक रूप में अभिहित कर दिये गये हैं।

जाति के ही निषेधात्मक रीति से (निरूपण का) उदाहरण—

धैर्य से उसका मान भङ्ग होता है तथा मान-भङ्ग से अत्यधिक धैर्य का आरम्भ। इस प्रकार एक उल्लास की तुलना होने पर भी इसका हृदय स्थिर रूप से नहीं लग रहा है॥ ४९३॥

यहाँ पर यद्यपि हेतु का उपन्यास विद्यमान है तथापि उसके स्वभाव (भाव) का परिकर के रूप में अप्रधान भाव से हृदय की क्रिया का स्वरूप ही यहाँ निषेध की रीति से अभिहित हो रहा है। इस प्रकार यह भी जाति ही होती है।

स्तोकापसरद्रोषं स्तोकपरिवर्धमानप्रहर्षम्।
भवति अदूरप्रकाशं उभयरसायत्तविभ्रमवत्या मुखम्॥ ४९२॥

[धैर्येण मानभङ्गो मानस्खलनेन गुरुकधैर्यारम्भः।
उल्लसति तोल्यमाने एकस्मिन्नप्यस्याः स्थिरं न लगति हृदयम्]॥ ४९३॥

स्तोकेति। उभौ रसौ सम्भोगविप्रलम्भाख्यावित्यर्थः तयोः आयत्तः अधीनः उभयप्रकाशक इति भावः यो विभ्रमः स विद्यतेऽस्या इति तथाभूतायाः कान्तायाः मुखं स्तोकेन अल्पेनैवेत्यर्थः अपसरन् अपगच्छन् रोषः कोपचिह्नमिति भावः यस्मात् तथोक्तं स्तोकेन अल्पेनैव परिवर्त्तमानः जायमानः प्रहर्षः प्रफुल्लता यस्य तथाविधम् अतएव अदूरः सन्निहितः प्रकाशः विकासो यस्य तथाभूतं भवति ॥ ४९२-४९३ ॥

सैव विधिनिषेधाभ्यां यथा,—

हेलोदस्तमहीधरस्य तनुतामालोक्य दोष्णो हरेः
हस्तेनांसत एव लम्बयचरणावारोप्य तत्पादयोः।
शैलोद्धारसहायतां जिगमिषोरस्पृष्टगोवर्द्धनाः,
राधायाः सुचिरं जयन्ति गगने बन्ध्याः करभ्रान्तयः ॥४९४॥

अत्र, राधायाः प्रेयसि हरौ यथावदवस्थिता अद्भुतवृत्तिस्नेहशङ्कोत्साहाः मिथः सङ्कीर्य्यमाणाः, भयावेगस्मृतिमतिवितर्कादिभिः व्यभिचारिभावैः आलम्बनचरणाक्रमणसहकृतायां करभ्रान्तौ शरीरारम्भानुभावे प्रतीयमानाः अस्पृष्टगोवर्द्धनाः बन्ध्याः इति निषेधमुखेन, जयन्ति इति विधिमुखेन च अभिधीयन्ते ॥ वक्रोक्तिपक्षे उपमादयः ॥

विधि तथा निषेध के द्वारा उसी (जाति) के निरूपण का उदाहरण—

अनायास ही गोवर्धन पर्वत को उठाने वाले कृष्ण की भुजाओं की दुर्बलता को देख कर अपने हाथों से उनके कंधों का आलम्बन करके तथा उनके चरणों से अपने चरणों को आरोपित करके पर्वत को उठाने में सहायता करने की इच्छुक राधा की गोवर्धन को न छू पाने वाली तथा निष्फल हाथों की चमक आकाश में अत्यधिक देर तक सुशोभित होती हैं ॥ ४९४ ॥

यहाँ राधा के प्रियतम कृष्ण पर यथाविधि अवस्थित आश्चर्य भाव, स्नेह, शंका तथा उत्साह एक साथ मिलकर भय, आवेग, स्मृति, मति, वितर्क आदि व्यभिचारी भावों के साथ आलम्बन तथा चरणों के आक्रमण से सहकृत करभ्रमण होने पर शारीरिक प्रयास रूप अनुभावों के होने पर प्रतीत होते हुए 'अस्पृष्टगोवर्धनाः' 'वन्ध्याः' आदि से निषेधात्मिका रीति से तथा 'जयन्ति' इस पद से विध्यात्मक रीति से अभिहित किये जा रहे हैं। वक्रोक्ति के पक्ष में उपमा आदि होते हैं।

हेलेति। हेलया अवलीलया अनायासेनेत्यर्थः उदस्तः उद्धृतः उत्थापित इत्यर्थः महीधरः गोवर्द्धनाख्यो गिरिर्येन तथाभूतस्य हरेः कृष्णस्य दोष्णः भुजस्य तनुतां क्षुद्रताम् आलोक्य दृष्ट्वा अथानन्तरं हस्तेन अंसं स्कन्धं तदीयमिति भावः आलम्ब्य धृत्वा तस्य हरेः पादयोः चरणौ पादौ निजाविति भावः आरोप्य संस्थाप्य शैलोद्धारस्य पर्वतोत्तोलनस्य सहायतां जिगमिषोः गन्तुमिच्छोः साहाय्यं कर्त्तुमिच्छोरित्यर्थः राधायाः अस्पृष्टगोवर्द्धनाः ऊर्द्धोत्तोलनात् गोवर्द्धनास्पर्शिन्य इत्यर्थः वन्ध्याः विफला विफलप्रयत्ना इति यावत् गगने आकाशे करभ्रान्तयः पाणिप्रसारा इत्यर्थः सुचिरं जयन्ति कौतुकं विदधतु इत्यर्थः ॥ ४९४ ॥

तेषु उपमा यथा,—

चोरा सभअसतह्णं पुणो पुणो पेसअन्ति दिट्ठीओ।
अहिरक्खिअणिहिकलसेव्व पोढमहिलाथणुच्छङ्गे ॥ ४९५ ॥

अत्र चौरगतभयानुरागयोः सङ्करस्वभावोक्तिमतिभूय उत्तरार्द्धगतमौपम्यं प्राधान्येन प्रतीयते ॥

इनमें से उपमा का उदाहरण—

पूर्णतः सुरक्षित अथवा सर्पों से रक्षित किये गये धन से भरे हुए घड़े की भाँति प्रौढ़ महिलाओं के उच्च उरोजों पर बार बार बड़ी भय तथा लालच के साथ अपनी निगाहें डालते हैं ॥ ४९५ ॥

यहाँ चोर में विद्यमान भय तथा प्रेम के संकरभाव की उक्ति का अतिक्रमण करके उत्तरार्धगत औपम्य प्रधानरूप से प्रतीत हो रहा है।

चोराः समयसतृष्णं पुनः पुनः प्रेषयन्ति दृष्टीः।
अहिरक्षितनिधिकलसे इव प्रौढमहिलास्तनोत्सङ्गे ॥ ४९५ ॥

चोरा इति। चौरास्तस्कराः अहिभिः भुजङ्गैः रक्षितः पालितः निधिकलसः रत्नकुम्भः तस्मिन्निव प्रौढायाः महिलायाः नार्य्याः स्तनोत्सङ्गे स्तनतटे सभयसतृष्णं यथा तथा पुनः पुनः दृष्टीः नयनानि प्रेषयन्ति निक्षिपन्ति ॥ ४९५ ॥

उपमैव रसाभाससङ्करविषया यथा,—

एकेनार्कं प्रविततरुषा पाटलेनास्तसंस्थं
पश्यत्यक्ष्णा सजलतरलेनापरेणात्मकान्तम्।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्त्तकीव प्रगल्भा ॥ ४९६ ॥

अत्र निगदेनैव व्याख्याते स्पष्टतयैव उपमायाः प्रधानत्वेन प्रतीतिः ॥

रसाभास की संकरता विषयक उपमा का ही उदाहरण—

दिन के अस्त होने के समय एक अत्यन्त क्रोध से भरी हुई लाल लाल आँख से अस्त हो रहे सूर्य को और आँसुओं से भरे होने के कारण चञ्चल दूसरी आँख से अपने प्रिय को चक्रवाकी देखती है। इस प्रकार वह अपने प्रियतम के विरह की शंका कर रही चक्रवाकी चतुर नर्तकी की भाँति मिल रहे (रौद्र तथा श्रृङ्गार) दो रसों की सृष्टि करती है ॥ ४९६ ॥

यहाँ शब्द मात्र से ही कथन हो जाने से स्पष्ट रूप से ही उपमा की प्रधानभाव से प्रतीति हो रही है ॥

एकेनेति। अह्नः दिवसस्य छेदे अवसाने दयितस्य प्रियस्य विरहम् आशङ्कते इति तथोक्ता चक्रवाकी प्रगल्भा प्रौढा नर्त्तकीव प्रवितता प्रकटिता रुट् रोषः येन तथाभूतेन अतएव पाटलेन रक्तवर्णेन एकेन अक्ष्णा चक्षुषा अस्तसंस्थम् अस्ताचलं गच्छन्तमित्यर्थः अर्कं रविं, सजलतरलेन सवाष्पचञ्चलेन अपरेण अक्ष्णा आत्मनः कान्तं प्रियं पश्यन्ती अवलोकयन्ती सती द्वौ सङ्कीर्णौ सन्मिश्रौ रसौ श्रृङ्गाररौद्राविति भावः रचयति प्रकट-

यति। रात्रौ चक्रवाकयोर्विरहः रामशापात् प्रसिद्धः। प्रौढाया नर्त्तक्या रात्रौ नर्त्तन-व्यापारप्रसङ्गात् कान्तविरह इति भावः॥ ४९६॥

अत्रेति। निगदेन शब्दमात्रेण।

रसप्रशमयोरुपमासहोक्तिः यथा,—

दृष्टे लोचनवत्मना मुकुलितं पार्श्वस्थिते चक्रवत्
न्यग्भूतं बहिरासितं पुलकवत् तत्स्पर्शमातन्वति।
नीवीबन्धवदागतं शिथिलतामाभाषमाणे ततो
मानेनापगतं ह्रियेव सुतनोरंघ्रिस्पृशि प्रेयसि॥ ४९७॥

अत्र कस्याश्चित् सखीविख्यातमानसंविधानकोपात् मानवत्याः प्रिय-संदर्शनात् आलम्बनविभावाद् उत्पन्नप्रकृष्टरतिप्रभवप्रहर्षस्थायिभावे तत्पार्श्वोपसर्पणादिभिः उद्दीपनविभावैः उद्दीप्यमानेषु पुलकादिषु समुत्पद्य-मानेषु व्यभिचारिषु नयननिमीलनाधोमुख्यनीवीविश्रंसनादिभिः अनुभावैः प्रकर्षणारोपणाद् आनन्दरसतामापाद्यमाने स्थायिनि प्रबलविरोधिभावा-न्तरोदयाद् एतेभ्यः एव कारणेभ्यः प्रतिक्षणमपचीयमानयोः लज्जारोषयोः प्रशमसङ्करावभिभूय प्राधान्येन उपमासहोक्तिः सङ्कीर्य्यते॥ श्लेषाद्य-लङ्कारसङ्करात् तु क्वचिदवास्तवमपि रसाभाससङ्करं कवयः कल्पयन्ति॥

रस तथा भावप्रशम में उपमासहोक्ति की उपस्थिति का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य ५।१५॥)॥ ४९७॥

यहाँ किसी सखी के द्वारा विशेष रूप से कहने पर मान करने के कारण हुये कोप से मान की हुई सुन्दरी का प्रियतम के दर्शन रूप आलम्बन विभाव से उत्पन्न प्रकृष्ट रति के कारण स्वरूप-प्रहर्षनाम स्थायीभाव के होने पर, उसके समीप गमन आदि उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होने पर, पुलक आदि व्यभिचारियों के सम्यक् रूप से उत्पन्न होने पर, नयन-निमीलन अधो-मुखता, नीवी का खिसकना आदि अनुभावों के द्वारा प्रकर्ष का आरोप करने से आनन्दरूप रस के रूप में स्थायीभाव के रस के रूप में निष्पन्न हो जाने से, अत्यन्त विरोधी दूसरे भाव के उत्पन्न हो जाने से इन्हीं कारणों से प्रतिक्षण क्षीण हो रहे लज्जा तथा रोष के प्रशम और संकर को अभिभूत करके उपमासहोक्ति प्रधानरूप से प्रकाशित होती है।

कवि लोग श्लेष आदि अलंकारों से तो कहीं कहीं अवास्तविक रूप से (न विद्यमान रहने वाले) रसाभास के संकर की कल्पना करते है।

दृष्टे इति। प्रेयसि प्रियतमे दृष्टे दर्शनपथं गते सति सुतनोः सुन्दर्य्याः कान्तायाः मानेन प्रणयकोपेन लोचनवत् नयनेनेव मनाक् ईषत् मुकुलितं निमीलितम्। पार्श्वस्थिते पार्श्व-वर्त्तिनि सति चक्रवत् चक्रेणेव न्यग्भूतम् एकांशतः पतितम् स्पर्शम् अङ्गस्येति शेषः समातन्वति कुर्वति सति पुलकवत् पुलकेनेव बहिरासितं बहिः स्थितम्, आभाषमाणे आलपति सति नीवीबन्धवत् नीवीबन्धेनेव शिथिलताम् आगतं प्राप्तं, ततः अनन्तरम् अङ्घ्रिस्पृशि चरणतलगते इत्यर्थः सेति ह्रियेव लज्जयेव अपगतम् पलायितम्। सर्वत्र

भावे क्तप्रत्ययः। अत्रेति। सखीति। सख्या विख्यातं कथितं यत् मानस्य संविधानं सम्यक् कौशलमिति यावत् तेन कोपः क्रोधः तस्मात्॥ ४९७॥

स रूपकश्लेषेण यथा,—

रामन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥ ४९८॥

अत्र बीभत्सो रसः श्लेषरूपकसामर्थ्यात् अविद्यमानेनापि शृङ्गाररसेन सङ्कीर्ण इव प्रतीयते॥ ४९८॥

उस रसाभास के संकर की रूपक तथा श्लेष के द्वारा (कल्पना) का उदाहरण—

राम रूपी कामदेव के असह्य बाण से हृदय पर मारी गई वह राक्षसी सुगन्धित रक्त रूपी चन्दन से लिप्त होकर यमराज के नगर को चली गई॥ ४९८॥

यहाँ बीभत्स रस श्लेष तथा रूपक की सामर्थ्य से शृङ्गार रस के विद्यमान न होने पर भी संकीर्ण सा प्रतीत होता है।

रामेति। सा निशाचरी राक्षसी ताड़का दुःसहेन सोढुमशक्येन राम एव मन्मथः कामः तस्य शरः तेन ताड़िता प्रहृता प्रविद्धेत्यर्थः गन्धवता सौरभशालिना रुधिरेण रक्तेन चन्दनेनेव उक्षिता सिक्ता प्रलिप्तेति यावत् सती जीवितेशस्य यमस्य कान्तस्य च वसतिं जगाम प्राप॥

श्लेषानुविद्धार्थान्तरन्यासेन यथा,—

दट्ठोट्ठ हो असिलअघाओ
देवि मउलावइ लोअणभउहो वे वि।
सुपओहरकुवलअपत्तलच्छि
कह मोह ण जणइ ण लग्गवच्छि॥ ४९९॥

अत्र वीरो रसः श्लेषसामर्थ्यात् अविद्यमानेनापि विप्रलम्भशृङ्गारेण सङ्कीर्य्यते॥ ४९९॥

श्लेष से अनुविद्ध अर्थान्तरन्यास के साथ (रसाभास) का उदाहरण—

अरे, ओष्ठों को दबाकर, किया गया खड्ग प्रहार, हे देवि, तुम्हारी दोनों ही आँखों की भौहों को मुकुलित कर देता है। फिर अच्छी तरह से रक्षा करने वाले योधाओं को प्रदान करने वाली पृथ्वीमण्डल की लक्ष्मी हृदय से लगकर कैसे मोह नहीं उत्पन्न करती॥ ४९९॥

(विप्रलम्भ शृङ्गार परक अर्थ)—हे अधरामृत का पान करने वाले भोगी, (तुम्हारी प्राणसमा प्रेयसी का) असि के आकार का वक्र नखच्छेद भी तुम्हारी दोनों भौहों को मुकुलित कर देता है। फिर भला सुन्दर उरोजों से संयुक्त तथा नीलोत्पल दल की भांति सुन्दर नयनों वाली वह सुन्दरी तुम्हारे सीने से न लगने पर कैसे मोह नहीं उत्पन्न करेगी?

यहाँ वीर रस श्लेष की शक्ति से विद्यमान न रहने पर भी विप्रलम्भ शृङ्गार से सम्मिलित हो रहा है।

[छाया—दष्टौष्ठ हो असिलताघातो देवि मुकुलयति लोचनभुवौ द्वे अपि ।
सुपयोधरकुवलयपत्रलक्ष्मीः कथं मोहं न जनयति न लग्ना वक्षसि] ॥ ४९९ ॥

श्लेषोपमा यथा,—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽंशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स हरतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ ५०० ॥

अत्र करुणो रसः श्लेषोपमासामर्थ्येन अविद्यमानेनापि विप्रलम्भ-शृङ्गारेण सङ्कीर्यते ॥

श्लेषोपमा का उदाहरण—

(अर्थ हेतु द्रष्टव्य १।१८९ ॥) ॥ ५०० ॥

यहाँ करुणरस श्लेष तथा उपमा की शक्ति से विद्यमान न रहने पर भी विप्रलम्भशृङ्गार के साथ संकीर्ण हो रहा है ।

क्षिप्त इति । साश्रुनेत्रोत्पलाभिः सवाष्पनयननीलोत्पलाभिः भयेन मानेन चेति भावः त्रिपुरयुवतिभिः त्रिपुराङ्गनाभिः यः आर्द्रः अभिनवः अपराधो यस्य तथाभूतः नूतन-कृतापराधः इत्यर्थः कामीव कान्त इव हस्तावलग्नः धृतहस्त इत्यर्थः क्षिप्तः निराकृतः । प्रसभं बलात् अभिहतः प्रतिहतः निर्वापयितुं चेष्टित इति यावत् ताडितश्च, अपि अंशुकान्तं वसनाञ्चलम् आददानः गृह्णन् केशेषु गृह्णन् लगन् दधानश्च अपास्तः दूरं क्षिप्तः । चरण-पतितः धृतपदतल इत्यर्थः सम्भ्रमेण भयेन गौरवेण च न ईक्षितः नावलोकितः आलिङ्गन् अङ्गेषु लगन् आश्लिष्यंश्च अवधूतः अपविद्धः, सः शम्भोरयं शाम्भवः शराग्निः बाणा-नलः त्रिपुरासुराणां विध्वंसनाय प्रयुक्त इति भावः, वः युष्माकं दुरितं पापं हरतु नाश-यतु ॥ ५०० ॥

श्लेषव्यतिरेकेण यथा,—

पद्भ्यामूरुयुगं विभज्य भुजयोर्मध्यं निपीड्योरसा
पार्श्वेषु प्रसभं प्रहृत्य नखरैर्दन्तैर्विलुप्याधरम् ।
सुप्तानप्यवबोध्य युष्मदहितान् भूयोऽपि भुंक्ते वने
किं कान्ता सुरतैषिणी ? न हि न हि व्याघ्री करालानना ॥ ५०१ ॥

इह श्लेषसामर्थ्यात् अपारमार्थिकी शृङ्गारप्रतीतिः पारमार्थिकेन बीभत्सरसेन व्यावर्त्तमाना तद्धर्माणां मिथः संसर्गबुद्धिमुत्पादयति ॥

श्लेष तथा व्यतिरेक के साथ (रसाभास का) उदाहरण—

यह वन में रमण की इच्छा वाली सुन्दरी है क्या जो सो रहे भी तुम्हारे शत्रुओं को जगा जगा कर दोनों चरणों से दोनों जाँघों को पृथक् करके, वक्षस्थल को वक्षस्थल से दबाकर, नाखूनों से बगलों पर हठात् प्रहार करके, दान्तों से अधरों को दंशित करके, बार बार भोग कर रही है ? नहीं, यह तो भयङ्कर मुख को फैलाये हुई व्याघ्री है जो अपने दोनों चरणों से दोनों जाँघों को

फाड़ कर, अपनी छाती से उनकी छाती को दबोच कर, दोनों बगलों में बलपूर्वक अपने नाखूनों से प्रहार करके, दान्तों से होठों को काट कर वन में तुम्हारे सोये हुये शत्रुओं को जगा जगाकर बार बार उनको खाती जा रही है ॥ ५०१ ॥

यहाँ श्लेष की शक्ति से अवास्तविक रूप से होने वाली शृङ्गार की प्रतीति वास्तविक रूप से विद्यमान रहने वाले बीभत्सरस से व्याहत होकर बीभत्स के धर्मों की परस्पर संसर्ग-भावना को उत्पन्न करती है।

पद्भ्यामिति। वने अरण्ये सुरतम् इच्छतीति सुरतैषिणी सुष्ठु रमणाभिलाषिणी कांता सुप्तानपि निद्रितानपि युष्माकम् अहितात् शत्रून् युष्माभिर्निर्वासितानिति भावः अवबोध्य जागरयित्वा पद्भ्यां चरणाभ्याम् ऊरुयुगम् ऊरुद्वयं विभज्य पृथक्कृत्य भग्नं कृत्वा च इत्यर्थः भुजयोर्मध्यं वक्षस्थलमित्यर्थः उरसा वक्षसा नखरेण च निपीड्य सुदृढमाश्लिष्य विदार्य्य चेत्यर्थः नखरैः पार्श्वेषु पार्श्वदेशेषु प्रसभं सबलात्कारं यथा तथा प्रहृत्य उभयत्र समानम्। दन्तैः अधरं विलुप्य विदश्य छित्त्वा चेत्यर्थः भूयोऽपि पुनः पुनरपि भुङ्क्ते रमयति किम्? नहि नहि नैव नैव। करालानना भीषणवदना व्याघ्री भुङ्क्ते खादतीत्यर्थः। अत्र राजविषया रतिर्भाव इति बोध्यम् ॥ ५०१ ॥

अत्रेति। अपारमार्थिकी अवास्तवी पारमार्थिकेन वास्तवेन। व्यावर्त्यमाना व्याहन्यमाना। तद्धर्माणां बीभत्सधर्माणाम् ॥

श्लेषरूपकेण यथा,—

> अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
> व्यक्तोत्तंसभृतः पिनह्य सहसा हृत्पुण्डरीकस्रजः।
> एताः शोणितपङ्ककुंकुमजुषः सम्भूय कान्तैः पिब-
> न्त्यस्थिस्नेहसुराः कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥५०२॥

अत्र बीभत्सो रसः शब्दसामर्थ्याक्षिप्तेन शृङ्गाराभासेन सङ्कीर्य्यते ॥

श्लेष और रूपक के कारण (रसाभास का) उदाहरण—

(अर्थादि के लिए द्रष्टव्य १।१५१ ॥) ॥ ५०२ ॥

यहाँ बीभत्स रस शब्द की सामर्थ्य से आक्षिप्त हो रहे शृङ्गाराभास के साथ संकीर्ण हो रहा है।

अन्त्रैरिति। एताः पिशाचाङ्गनाः पिशाचा देवयोनिविशेषाः तेषां अङ्गनाः स्त्रियः प्रीताः प्रहृष्टाः अन्त्रैः प्रेतानां कुक्ष्यन्तर्गतनाडीभिरित्यर्थः कल्पितः रचितः मङ्गलप्रतिसरः माङ्गलिकं हस्तसूत्रं याभिः ताः स्त्रीणां प्रेतीभूतानामिति भावः हस्ताः करा एव रक्तोत्पलानि तैः व्यक्ताः विरचिता उत्तंसाः कर्णालङ्कारविशेषतस्तान् बिभ्रतीति तथोक्ताः शोणितानां पङ्काः कर्दमीभूतानि रक्तानीति भावः ते ते एव कुङ्कुमाः तान् जुषन्ति सेवन्ते इति तथाभूताः शोणितकुङ्कुमरञ्जिताश्च इति भावः सद्यः हृत्पुण्डरीकाणां मृतहृत्पद्मानां स्रजः मालाः पिनह्य परिधाय सहसा कान्तैः प्रियैः पिशाचैः सम्भूय सङ्गत्य कपालाः प्रेतशिरोऽस्थीनि एव चषकाः पानपात्राणि तैः अस्थिस्नेहाः अस्थ्नामन्तर्गतानि मेदांसि एव सुराः मदिराः ताः पिबन्ति ॥ ५०२ ॥

समाधिरूपकेण यथा,--

> शिखण्डे खण्डेन्दुः शशिदिनकरौ कर्णयुगले
> दृशस्तारास्ताराश्चलमुडुपचक्रञ्च कुचयोः ।
> तडित् काञ्ची सन्ध्या सिचयरुचयः कालि! तदयं
> तवाकल्पः कल्पव्युपरमविधेयो विजयते ॥ ५०३ ॥

अत्र भयानको रसः समाधिरूपकाद्युपकल्पिताकल्परामणीयकाक्षिप्तेन शृङ्गाराभासेन सङ्कीर्य्यमाणः श्रोतुः प्रेयोरसाङ्गतां गच्छन् सङ्गच्छते। एवमियमनेकप्रकारसंसृष्टिः गुणालङ्कारसङ्करप्रभवा अभिमन्तव्या । तत्रापि प्रधानाङ्गभावेन समकक्षतया च व्यक्ताव्यक्तोभयात्मकरूपाः तिलतण्डुल-क्षीरजलच्छायादर्शकादयो भेदाः यथायोग्यमवगन्तव्याः । ते किं वक्तव्याः ? न वक्तव्याः, कथम् ? अनुक्ताः गम्यन्ते, उक्तेष्वेवान्तर्भावात् । तद् यथा,-- अर्थोभयालङ्काराभिधाने 'खं वस्ते' इति 'चर्चां पारयति' इति विभक्तिमुद्रा, 'कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलम्' इति पदमुद्रा च, शब्दालङ्कारावपि संकीर्य्यमाणौ प्रतीयेते । एवमन्यत्रापि--

समाधि तथा रूपक के कारण रसाभास का उदाहरण—

हे कालि, कल्प की समाप्ति होने के समय करणीय चूडा में चन्द्रकला, दोनों कानों में चन्द्रमा तथा सूर्य, नेत्रों की बड़ी बड़ी पुतलियाँ तारे, दोनों उरोजों पर चन्द्रों का समूह, करधनी के स्थान पर बिजली, वस्त्रों की कान्ति के लिये संध्या यही तुम्हारे भूषण सर्वोत्कृष्ट हैं ॥५०३॥

यहाँ भयानक रस समाधि तथा रूपक आदि से निष्पन्न कल्प पर्यन्त आभूषणों से आक्षिप्त शृङ्गाराभास से संकीर्ण होता हुआ, श्रोता के प्रेयोरस की अङ्गता को प्राप्त होता हुआ उपयुक्त बन रहा है। इस प्रकार यह अनेक प्रकार की संसृष्टि है जिसे गुण तथा अलंकार के संकर से उत्पन्न मानना चाहिए। वहाँ भी प्रधान तथा अङ्ग भाव से और समान स्तर से व्यक्त, अव्यक्त तथा उभयरूप वाले तिलतण्डुल, क्षीरनीर, छायादर्श आदि भेद नियमानुसार समझे जाने चाहिये। "क्या उनका भी अभिधान करना चाहिये?" "नहीं करना चाहिए", "कैसे?" "विना कहे ही उनका भी ज्ञान हो जाता है, (क्योंकि) पूर्वनिरूपित भेदों में ही उनका अन्तर्भाव हो जाता है। वह इस प्रकार से होगा—अर्थालंकार तथा उभयालंकार का अभिधान करने पर 'खं वस्ते' इसमें तथा 'चर्चां पारयति' में विभक्तिमुद्रा और "कलविङ्ककण्ठमलिनं कादम्बिनीकम्बलम्' यह पदमुद्रा नामक दोनों शब्दालंकार भी संकीर्ण होते हुये प्रतीत हो रहे हैं। इसी प्रकार की बात दूसरी जगह भी मिलती है—

शिखण्डे इति। हे कालि! शिखण्डे चूडायां खण्डेन्दुः अर्द्धचन्द्रः कर्णयुगले श्रोत्रयुग्मे शशिदिवाकरौ चन्द्रसूर्य्यौ, दृशः नेत्राणि ताराः महत्यः ताराः नक्षत्राणि, कुचयोः स्तनयोः चलं चञ्चलम् उडुपचक्रं चन्द्रसमूहः; काञ्ची रसना तडित् विद्युत्, सिचयरुचयः वसन-कान्तयः सन्ध्या, तत् तस्मात् कल्पस्य व्युपरमः प्रलयकालः तस्मिन् विधेयः कल्पनीयः तव अयं प्रागुक्तरूपः आकल्पः भूषणं विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते ॥ ५०३ ॥

अत्रेति। ते किं वक्तव्याः अभिधातव्याः ? अनुक्ता अकथिताः गम्यन्ते बुध्यन्ते उक्तेष्वेव भेदेष्विति यावत्।

अङ्गाङ्गिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलङ्कारसंसृष्टेः लक्षणीया द्वयी गतिः॥ १७६॥

"सभी अलंकारों की गुणप्रधानभाव से स्थिति तथा तुल्यबलता वाली स्थिति ये संसृष्टि अलंकार के दो प्रकार समझें जाने चाहिये॥ १७६॥

अङ्गेति। सर्वेषाम् अलङ्काराणाम् अङ्गाङ्गिभावेन गुणप्रधानभावेन अवस्थानं स्थितिः तथा समकक्षता तुल्यबलता इति अलङ्कारसंसृष्टेः द्वयी द्वयवयवा द्वयर्थः गतिः प्रकारः लक्षणीया अनुभवनीया॥ १७६॥

तत्र अङ्गाङ्गिभावेन अवस्थानं यथा,—

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे ! तव मुखश्रियम्।
कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम् ?॥ ५०४॥

अत्र 'अरविन्दानि मुग्धे ! तव मुखश्रियमाक्षिपन्ति' इत्युपमा, 'कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्' इति श्लेषोपसर्ज्जनार्थान्तरन्यासः, प्रभवन्ति च अरविन्दानि कोषदण्डसमग्राणि तेन तेषां न किञ्चिदशक्यमस्ति कोषदण्डयोर्विजयसाधनत्वात्। एतेन श्लेषस्य साधनमानभूतार्थसमर्थकत्वात् उपमायास्तु प्रस्तुतसाध्यवस्तुविशेषकत्वात् अर्थान्तरन्यासं प्रति अङ्गभावो विज्ञायते।

इनमें से अङ्गाङ्गिभाव से अवस्थान का उदाहरण—

(अर्थादि के लिए द्रष्टव्य १।१५२॥)॥ ५०४॥

यहाँ "हे बाले, ये कमल तुम्हारे मुख की छटा को हर ले रहे हैं", इसमें उपमा है, "कोष तथा दण्ड से सम्पूर्ण इन कमलों (तथा राजाओं) के लिये भला असाध्य क्या है ?" इसमें श्लेष से समर्पित अर्थान्तरन्यास हैं। 'कोष तथा दण्ड से संयुक्त कमल अत्यधिक प्रभावशाली हैं, उनको कोई कार्य असम्भव नहीं है, क्योंकि कोष तथा दण्ड दोनों ही विजय के साधन हैं। इससे श्लेष की साधन तथा माप रूप सिद्ध अर्थ का समर्थन करने से और उपमा की प्रस्तुत साध्य वस्तु की विशेषता बतलाने से अर्थान्तरन्यास के प्रति अङ्गभाव ज्ञात हो रहा है।

स्व० द०—यहाँ पर प्रमाणरूप से उद्धृत "अङ्गाङ्गिभाव०" आदि कारिका काव्यादर्श (२।३६०) की है। जिस उदाहरण का उल्लेख है, वह भी वहीं (काव्यादर्श २।३६१) का है। उसका रूप इस प्रकार है—

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम्।
कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्॥

यह श्लोक भोज द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण (१।१५२॥) में भी उद्धृत है।

भोज ने जिन दो अवस्थाओं में संसृष्टि को स्वीकार किया है, उनमें आधुनिक आचार्य संसृष्टि तथा संकर इन दो अलंकारों को पृथक् पृथक् रूप से स्वीकार करते हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार—

"सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥ १३९ ॥

एतेषां समनन्तरमेवोक्तस्वरूपाणां यथासम्भवमन्योन्यनिरपेक्षतया यदेकत्र शब्दभागे एव, अर्थविषये एव, उभयत्रापि वा अवस्थानं सा एकार्थसमवायस्वभावा संसृष्टिः।"......

"अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु संकरः। १४० अ)

एते एव यत्रात्मनि अनासादितस्वतन्त्रभावाः परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकतां दधति स एषां संकीर्यमाणस्वरूपत्वात् संकरः।"......

एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥ १४० ॥
स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्।
व्यवस्थितं च, तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥ १४१ ॥

तदयं (१) अनुग्राह्यानुग्राहकतया (२) सन्देहेन (३) एकपदप्रतिपाद्यतया च व्यवस्थितत्वात् त्रिप्रकार एव संकरो व्याकृतः। प्रकारान्तरेण तु न शक्यो व्याकर्तुम् आनन्त्यात् तत्प्रभेदानामिति ॥ काव्यप्रकाशः दशमउल्लासः ॥

आलंकारिक जयदेव आदि संसृष्टि तथा संकर को अलग अलंकार के रूप में मानते ही नहीं।

शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ।
एतेषामेव विन्यासालङ्कारारान्तराण्यमी ॥ चन्द्रालोक ५।११९ ॥

आक्षिपन्तीति। हे मुग्धे! सुन्दरि! बाले! इति वा, अरविन्दानि पद्मानि तव मुखस्य श्रियं कान्तिम् आक्षिपन्ति आहरन्ति। कोषा कुड्मलानि दण्डाः नालानि अन्यत्र कोषा धनागाराः धनसमृद्धय इति यावत् दण्डाः प्रतापा इति यावत् तैः समग्राणां सम्पूर्णानाम् एषाम् अरविन्दानां राज्ञां चेति ध्वनिः दुष्करम् असाध्यं किम् अस्ति? न किमपि अस्तीत्यर्थः ॥ ५०४ ॥

अत्रेति। श्लेषः उपसर्जनम् अङ्गं अस्य तथाभूतः अर्थान्तरन्यासः।

सर्वेषां समकक्षता यथा,—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥ ५०५ ॥

ननु च तमसश्च नभसश्च असतश्च सम्बन्धः समत्वात् स्यात् इति कथं सर्वेषां तुल्यकक्षतया सम्बन्धोत्पत्तिः, एवं मन्यते, यदा उत्प्रेक्षोपमादयोऽलङ्काराः विभावानुभावव्यभिचारिवर्णनापरतया रसादेरङ्गतां प्रतिपद्यन्ते, तदा भवत्येव तेषां तुल्यकक्षतेति। तत्र 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' इति द्वे उत्प्रेक्षे, 'असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता' इत्युपमा

च वर्णनीयस्य तमसः उद्दीपनविभावभूतस्य समतयैवोत्कर्षप्रतिपादकत्वेनाङ्गभावमुपगतेति नास्ति लक्षणानुपपत्तिरिति। ननूपमा इमास्तिस्रोऽपि कस्मान्नोच्यन्ते ? इवो हि वाक्यान्तरेषूपमाया एव दृश्यते। मैवम्। उपमानोपमेयशब्दप्रतिपन्नस्य सादृश्यार्थस्य द्योतनमिवेन क्रियते न च लिम्पतीत्यादावुपमानमुपमेयं वास्ति यत्सादृश्यद्योतनाय इवः प्रयुज्येत। न च तिङन्तेनोपमानमस्ति तस्य साध्यार्थाभिधायित्वेनासत्त्वार्थत्वात्।

सभी अलंकारों का तुल्यबलयुक्त अवस्थान होने का उदाहरण—

अन्धकार शरीर के अङ्गों को लीप सा रहा है। आकाश कज्जल की वर्षा सी कर रहा है। असज्जन पुरुष की सेवा की भांति दृष्टि निष्फल हो गई है॥ ५०५॥

"भला 'अन्धकार, आकाश और असज्जन इनका सम्बन्ध समानता के कारण हो सकता हैं' इसमें सभी के तुल्यबलशाली होने से सन्बन्ध की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?"

"इस प्रकार माना जाता है, जब उत्प्रेक्षा, उपमा आदि अलङ्कार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के वर्णन में संसक्त होने से रस आदि की अङ्गता को प्राप्त करते हैं, तब इनकी समकक्षता होती है। वहाँ "लिम्पतीव तमोऽङ्गानि, वर्षतीवाञ्जनं नभः' इनमें दो उत्प्रेक्षायें हैं, "असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता" इसमें एक उपमा है। इन दोनों के उद्दीपन विभाव के रूप में हो जाने वाले वर्णनीय अन्धकार का समान रूप से उत्कर्ष प्रतिपादन करने से पहले की भांति (गुण आदि की भांति) अङ्गभाव को प्राप्त होते हैं। अतः यहाँ लक्षण की अनुपपत्ति नहीं होती।" "ये तीनों ही उपमा क्यों नहीं कहे जाते, जब कि 'इव' का प्रयोग दूसरे वाक्यों में उपमा के ही प्रसङ्ग में होता है ?" "ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उपमान तथा उपमेय शब्दों के प्रति उस सादृश्य रूप अर्थ का द्योतन 'इव' पद के द्वारा किया जाता है न कि 'लिम्पति' इत्यादि में उपमान-उपमेय का भाव है, जिससे कि सादृश्य की प्रतीति कराने के लिये 'इव' का प्रयोग किया जाता। इसके अतिरिक्त तिङन्त (क्रिया पद लिम्पति आदि) आदि के साथ उपमान नहीं होता है क्योंकि तिङन्त तो साध्य रूप अर्थ का अभिधायक होने के कारण सिद्धरूप अर्थ (उपमेय) का प्रतिपादक नहीं होता।

स्व० द०—उक्त वृत्ति में दो प्रमुख बातों का विवेचन है। पूर्वपक्ष के रूप में शङ्का है कि जब अलङ्कार समान रूप से तुल्यबलशाली है तब तो उनको स्वतः स्वतन्त्र मानना चाहिये, उनको समकक्ष नहीं कहा जा सकता ? इसका उत्तर यह है कि तुल्यबलशाली होने से उनकी स्थिति तो सिद्ध है, किन्तु चूँकि ये सभी रस के अङ्ग के रूप में प्रयुक्त हुये हैं, अतः ये समकक्ष हैं। जैसे सभी व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्र है किन्तु राजसेवा करने से सभी राजपुरुषत्वेन समान होते हैं, उसी प्रकार इनकी भी समकक्षता है।

दूसरी बात यह है कि 'इव' से जब उपमेय तथा उपमान का सादृश्य प्रतिपादित होता है तब तो उपमा होती है, और जब किसी क्रिया के द्वारा उपमान की सम्भावना कराई जाती है तब उत्प्रेक्षा होती है। यही भाव 'सिद्ध' तथा 'साध्य' पदों से की गई है।[1]

---

१. उपमा में प्रधान वस्तु सादृश्य है और उत्प्रेक्षा में सम्भावना। उपमा में उपमान रूप अर्थ की वास्तविक सत्ता अभीष्ट है, किन्तु उत्प्रेक्षा में वह कल्पित किया जाता है। अर्थात् उपमान के सिद्ध होने पर उपमा और साध्य होने पर उत्प्रेक्षा होती है।

दण्डी ने भी इस 'लिम्पतीव०" आदि इलोक में अलंकारों की समकक्षता होने से संसृष्टि स्वीकार किया है।

लिम्पतीति। तमः तिमिरम् अङ्गानि लिम्पतीव लिप्तानि करोतीव, नभः आकाशम् अञ्जनं कज्जलं वर्षतीव स्रवतीव। दृष्टिः दर्शनेन्द्रियव्यापारः असतां दुष्टानां पुरुषाणां सेवेव परिचर्य्येव विफलतां व्यर्थतां गता प्राप्ता॥ ५०५॥

तदाह--

'सिद्धस्य हि समानार्थमुपमानं विधीयते।
तिङन्तार्थस्य साध्यत्वादुपमार्थो न विद्यते॥'

न चोपमायामेवेवशब्दो भवति। तद्यथा कथमिवैतद्भविष्यति। अस्तु वा लिम्पतितमसोरुपमानोपमेयभावस्तथापि तुल्यधर्मो न दृश्यते य उपमानोपमेयभावाय प्रभवति। किमन्येन लेपनमेव भवति तर्हि लिम्पतिना केन भाव्यम्? न हि लेपनं लिप्तेः पृथग्भवितुमीष्टे। ननु चेह द्वयं चकास्ति धातुर्लिम्पति तदर्थश्च लेपनम्। मैवम्। एवं सति लिम्पतिरिवेति स्यात् न तु लिम्पतीवेति। अथ यथा राहोः शिरः इति भेदाभावेऽप्यवयवावयविभावस्तथेह धर्मधर्मिभावो भविष्यति। मैवम्। उपमानोपमेयभावस्य भेदसादृश्यप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वात् तदभावेऽपि यस्तन्मनुते स कथं नोन्मत्तः स्यात्।

जैसा कहा गया है—

"सिद्ध के ही समान अर्थवाला उपमान विहित होता है। तिङ् प्रत्ययान्त पद का अर्थ साध्य होने से उपमा के लिए नहीं होता॥"

यह बात नहीं है कि उपमा में ही 'इव' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे कि—'कथमिव एतद् भविष्यति'—'यह भला कैसे होगा?'—(सदृश प्रयोगों में भी वह 'इव' का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।)

'लिम्पति' तथा 'तमस्' इन दोनों में उपमान तथा उपमेय भाव भले ही हो, फिर भी वह समानधर्मता नहीं दिखाई पड़ती जो कि उपमानोपमेय भाव के लिए उपयुक्त होती है। किसी दूसरे समानधर्म से क्या प्रयोजन? लेपन ही (तुल्य धर्म) होगा। तो फिर 'लिम्पति' क्या होगा? लेपन कर्म 'लिम्प' धातु से पृथक् रहने में समर्थ नहीं। यहाँ तो दोनों ही वस्तुयें विद्यमान हैं—"लिम्पति धातु तथा उसका अर्थ लेपन।" "ऐसी बात नहीं। यदि ऐसा होता तो (प्रयोग) "लिम्पतिः इव" होता न कि "लिम्पतीव"—"लिम्पति" के सदृश न कि "लीप सा रहा है॥" फिर भी जैसे "राहु का शिर है" सदृश प्रयोगों में भेद का अभाव होने पर भी अवयवावयवीभाव है उसी प्रकार से यह भी धर्मधर्मी भाव होगा।" "ऐसा नहीं है।" उपमान तथा उपमेय भाव के भेद और सादृश्य की उत्पत्ति का हेतु होने से, वैसा न होने पर भी जो उसे वैसा मानता है यह भला पागल कैसे नहीं होगा? (अर्थात् अवश्य होगा?)

स्व० द०—पूर्व विषय के सन्दर्भ में ही यह कहा गया है कि तिङन्त का अर्थ साध्य होने से उपमा का विषय नहीं बन सकता। पूर्वपक्ष के रूप में 'लिम्प' धातु का अर्थ 'लेपन' रूप

भाव मान लेने पर सिद्धता स्पष्ट हो जाती है, ऐसा मानने पर दोष होता है। वस्तुतः लिम्पति धातु का भावरूप अर्थ लेपन है। यदि इसी को उपमान मान लिया जाये तो उपमान क्या होगा ? अतः धर्म तथा धर्मी दोनों की पृथक् पृथक् स्थिति मानने पर ही औपम्यभाव शुद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं। जब कि प्रस्तुत प्रसङ्ग में लिम्पति के लेपन रूप अर्थ को केवल एक ही—धर्म अथवा धर्मी—के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यदि एक ही पदार्थ को धर्म तथा धर्मी दोनों मान लिया जाये, तो यह तो मात्र पागलपन होगा। उपमानोपमेयभाव वहीं सिद्ध हो सकता है जब दो भिन्न पदार्थों में सादृश्य का भाव प्रदर्शित किया जाये। इसी अर्थ का विश्लेषण भेद "सादृश्य०" आदि वृत्ति के शब्दों में किया गया है।

नन्विति। गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यादिति गुणानां धर्माणां परार्थत्वात् धर्मिनिष्ठत्वादित्यर्थः असम्बन्धः परस्परमिति भावः। स्यात् भवेत् समत्वात् तुल्यत्वात् नहि तुल्यरूपौ द्वौ धर्मौ सङ्गच्छेते इति भावः। सर्वेषाम् अलङ्काराणां तुल्यकक्षतया तुल्यबलतया सम्बन्धोत्पत्तिः संसर्गसङ्गतिः इत्यर्थः। एवं मन्यते इत्थं विचार्यते इत्यर्थः। रसादेः आदिपदेन भावतदाभासादयो गृह्यन्ते। अङ्गतां पोषकताम् तदा तेषाम् अलङ्काराणां तुल्यकक्षता तुल्यकक्षतया रसादिभिः सह सम्बन्धः न तु तेषां परस्परसम्बन्ध इति भावः। लक्षणेति। लक्षणस्य गुणानाञ्चेति प्रागुक्तस्येति भावः। इमास्तिस्त्रः लिम्पतीव वर्षतीव असत्पुरुषसेवेति संख्यका इत्यर्थः। उपमानेति इवेन इवशब्देन लिम्पतीव वर्षतीवेत्यत्र स्थितेनेति भावः। तिङन्तेनेति। तिङन्तेन लिम्पति वर्षतीत्यनेनेत्यर्थः। साध्येति। साध्यार्थस्य सम्पाद्यस्य नतु सिद्धस्येति भावः। अर्थस्य अभिधायित्वेन प्रतिपादकत्वेन असत्त्वार्थत्वात् अविद्यमानत्वार्थत्वात्। अस्तु वेति। तुल्यधर्मः साधर्म्यमित्यर्थः। यस्तुल्यधर्म इत्यर्थः। किमन्येनेति। अन्येन तुल्यधर्मेण किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, लेपनमेव तुल्यधर्म इति भावः। भवति अस्ति लिम्पतिना केन भाव्यमिति लिम्पतिः को भविष्यतीत्यर्थः ! नहीति। लिम्पेः लिम्पतेरित्यर्थः पृथक् भिन्नम्। ईष्टे प्रभवति। नन्विति। चकास्ति राजते विद्यते इति भावः। उपमानोपमेयभावस्येति भेदे सति सादृश्यं साधर्म्यं प्रवृत्तिनिबन्धनम् उत्पत्तिहेतुः यस्य तथोक्तः तस्य भावः तत्त्वं तस्मात्। तदभावेऽपि उपमानोपमेयभावस्य भेदसादृश्यप्रवृत्तिनिबन्धनत्वाभावेऽपीत्यर्थः। यः कश्चिदिति शेषः तम् उपमानोपमेयभावं मनुते स्वीकरोति इत्यर्थः ॥

स एव धर्मो धर्मी चेत्युन्मत्तोऽपि न भाषते।

अस्तु तर्हि तिङ्वाच्यः कर्ता उपमानमिति चेत् न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे। कथं पुनरसौ क्रियापदे न्यग्भूतो भवति ? श्रूयतां, षडर्थास्तिङन्तेन प्रतीयन्ते क्रिया कालः उपग्रहः साधनं सङ्ख्या पुरुषश्चेति। तेषु क्रियाकालात्मनेपदपरस्मैपदनिमित्तानि प्रकृतिरभिधत्ते, प्रत्ययः साधनं, सङ्ख्यां पुरुषं च। एतेषां तु क्रियार्थत्वात्क्रिया प्रधानं, कालात्मनेपदनिमित्तं क्रियाविशेषणत्वेन, सङ्ख्यापुरुषौ साधनविशेषणत्वेन तयोरेव न्यग्भवतः। साधनं पुनः 'प्रकृतिप्रत्ययौ स्वार्थं सह ब्रूतः' इति न्यायात् 'प्रधानभूतमपि भूतं' 'प्रधानभूतमपि भूतं भव्यायोपदिश्यत' इति न्यायेन क्रियासिद्धावुत्पन्नव्यापारं परार्थं तस्यां क्रियायां न्यग्भवति। तेनायं कर्ता स्वक्रियासिद्धावाकुलः कथमुपमानत्वेनो-

प्रमेयत्वेन वान्यदपेक्षितुं क्षमते। एवं तर्हि योऽङ्गानि लिम्पति तेन क्रियोपलक्षितेन कर्त्रा तुल्यं तम इत्यर्थः प्रतिपत्स्यते। मैवम्। क्रियोपलक्षितस्य कर्तुरुपमानभूतस्य शब्दन्यायबला प्रतिपत्तिः। शब्दो हि मुख्यागौणीलक्षणाभिरर्थप्रकरणादिसम्पादितसाचिव्यादिभिस्तिसृभिरेव वृत्तिभिरर्थविशेषप्रतिपत्तिनिमित्तं भवति। तद्यथा--गौरित्ययं शब्दो मुख्यया वृत्त्या सास्नादिमन्तमर्थं प्रतिपादयति स एव तिष्ठन्मूत्रत्वादिगुणसम्पदमपेक्ष्य वाहीकादौ प्रयुज्यमानो गौणीं वृत्तिमनुभवति। यदा तु मुख्यया गौण्या वोपात्तक्रियासिद्धौ साधनभावं गन्तुमसमर्थस्तदा लक्षणया स्वार्थाविनाभूतमर्थान्तरं लक्षयति यथा गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति गङ्गाशब्दो विशिष्टोदकप्रवाहे निरूढाभिधानशक्तिर्घोषकर्तृकायाः प्रतिवसनक्रियाया अधिकरणभावं गन्तुमसमर्थः स्वार्थाविनाभूतं तटं लक्षयतीति। न च, एतासाम् इह अन्यतमाऽपि वृत्तिः सङ्गच्छते। तथाहि-लिम्पतेः क्रियावचनत्वात् न मुख्या नापि क्रियाकर्त्रोः असादृश्येन शुक्तिकादौ रजतादिवत् तद्भावापत्तिः, क्रियागुणानां कर्त्तरि असम्भवात् साक्षादिव प्रयोगाच्च न गौणी। क्रियायाश्च स्वयमेव धर्मरूपत्वात् 'बुद्धिः पश्यति' इतिवत् अन्यधर्माणामन्यत्र अधिरोपणम् उपचार इति न गौणो भेद उपचरितः। इवशब्दस्य च असादृश्येऽपि दर्शनात् न लक्ष्यते। यदि हि इवशब्दः सादृश्यमेव विद्योतयति तदा लिम्पतिक्रियायाः सत्त्वभूतेन तमसा सादृश्यं न सम्भवतीति स्वार्थाविनाभूतं कर्त्तारमाक्षिपति। न च इह लक्षितलक्षणाविरुद्धलक्षणादयोऽपि वर्त्तन्ते। यथा प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्, स्वल्पैरसावपि न दृश्यत एव कालैरिति। न च शब्दान्यविलम्बिनी पदार्थव्युत्पत्तिः प्रेक्षावद्भिः आद्रियते। यद्यपि अध्याहारादिभिः इदमपि स्यात्, तथापि तुल्यधर्मो मार्गणीयः तद्वदेव विप्रतिपत्तेः। न चेन्दुमुखादिवद् अनभिधीयमानस्यापि तुल्यगुणस्य प्रत्ययो भवतीति वाच्यम्।

"एक ही वस्तु धर्म है तथा वही धर्मी भी है", इस प्रकार से तो कोई पागल भी नहीं कहता। "तो फिर, तिङ् से वाक्य-प्रतिपाद्य कर्त्ता ही उपमान हो" ऐसा कहने पर (समझना चाहिये कि) कर्त्ता तो क्रियापद में ही अन्तर्भूत हो जाता है—अङ्गता को प्राप्त कर लेता है।" कैसे वह क्रिया के अङ्ग रूप में समाहित हो जाता है? ऐसा सुना जाता है कि लिम्पति पद से छह अर्थ प्रतीत कराये जाते हैं—१. क्रिया २. काल ३. उपग्रह–आत्मनेपद तथा परस्मैपद का कारण ४. साधन ५. संख्या तथा ६. पुरुष। इनमें से क्रिया, काल तथा आत्मनेपद और परस्मैपद के निमित्त को प्रकृति धातु प्रकट करती है और प्रत्यय-साधन, संख्या तथा पुरुष को। इन सब के क्रिया परक होने से क्रिया ही प्रमुख है। काल तथा आत्मनेपद के निमित्त क्रिया के विशेषण होने से और संख्या तथा पुरुष साधन के विशेषण होने से उन्हीं दोनों—क्रिया तथा साधन—में समाहित हो जाते हैं। इस पर भी साधन फिर से "प्रकृति तथा प्रत्यय अपने अर्थों

को एक साथ ही कहते है" इस न्याय से क्रिया की सिद्धि हो जाने पर उत्पन्न व्यापार वाला साधन परार्थ भूत इस क्रिया में ही अन्तर्हित हो जाता है। इससे यह कर्त्ता अपनी क्रिया की सिद्धि में ही व्यापृत है अतः कैसे वह उपमान के रूप में अथवा उपमेय के रूप में अन्य अपेक्षाओं के पूर्ण करने में समर्थ हो सकता है ?" फिर इस प्रकार तो, 'जो अङ्गों को लीपता है उसी क्रिया से उपलक्षित कर्ता के तुल्य तम है, इस प्रकार का अर्थ निष्पन्न होने लगेगा।" ऐसी बात नहीं है। क्रिया से उपलक्षित उपमानभूत कर्ता की शब्द-न्याय के प्रभाव से प्रतिपत्ति नहीं होती। शब्द मुख्या, गौणी तथा लक्षणा यह तीन ही अर्थ, प्रकरण आदि के द्वारा सहायता प्राप्त वृत्तियों के द्वारा अर्थ विशेष को प्रकट कराने का हेतु बनता है। वह इस प्रकार है। "गौः" यह शब्द मुख्या वृत्ति द्वारा 'खुर आदि से युक्त' अर्थ (पिण्ड) का बोध कराता है।' यहाँ शब्द खड़े खड़े मूतना आदि गुण समूहों को देखकर 'वाहीक'—हलवाहा अथवा चरवाहा आदि अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ गौणीवृत्ति का अनुभव करता है। जब मुख्या अथवा गौणी वृत्ति से गृहीत क्रिया की सिद्धि में साधनभाव—हेतुता—को प्राप्त होने में असमर्थ होता है, तब अपने अर्थ से सम्बद्ध दूसरे अर्थ का ज्ञान लक्षणा से कराता है। जैसे—"गङ्गायां घोषः प्रतिवसति" गंगा में अहीरों की बस्ती रहती है—इस प्रयोग में गङ्गा शब्द एक विशिष्ट जल प्रवाह के अर्थ में अभिधाशक्ति प्रसिद्ध, घोष रूप कर्ता वाली प्रतिवसद् क्रिया का अधिकरण भाव (बतलाने में) समर्थ है (अतः) अपने अर्थ से सम्बद्ध तट को लक्षित करता है। यह बात नहीं है कि यहाँ इन (तीनों) वृत्तियों में से कोई एक ही संयुक्त होती है। इसी प्रकार—'लिम्पति' के क्रिया वाचक होने से मुख्या वृत्ति नहीं है। क्रिया तथा कर्ता दोनों में असाध्य होने से शुक्तिका आदि में रजत आदि की भांति उस (रजत आदि) के भाव का आरोप भी नहीं होगा। क्रिया के गुणों के कर्ता में संभव न होने से तथा साक्षात् 'इव' का भी प्रयोग होने से गौणी भी नहीं है, क्योंकि क्रिया स्वयं ही धर्म रूप है। 'बुद्धिः पश्यति'—बुद्धि देखती है—इस प्रकार दूसरे के धर्मों का अन्यत्र अधिरोपण उपचार है, इससे गौणी का भेद भी नहीं संगत होता। 'इव' शब्द का असाध्य में भी दर्शन होने से, उससे लक्ष्य अर्थ लक्षणा द्वारा नहीं प्रतीत होता। यदि 'इव' शब्द साध्य का ही बोध कराता है तो 'लिम्पति' क्रिया का सत्त्वभूत अन्धकार के साथ साध्यत्व संभव नहीं होता। इस प्रकार वह अपने अर्थ से सम्बद्ध कर्ता का आक्षेप करता है। यह भी बात नहीं है कि यहाँ लक्षित-लक्षणा के विरुद्ध भी लक्षणा आदि विद्यमान रहती हैं। जैसे कि—'प्रियजन के लिये पुनरुक्ति नहीं होती।' 'कुछ ही समय से यह भी नहीं दिखाई पड़ता' आदि में। शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ से भिन्न किसी दूसरे अर्थ का आश्रय लेने वाली पदार्थ की व्युत्पत्ति पण्डितों के द्वारा आदर नहीं पाती। यद्यपि अध्याहार आदि से यह भी संभव हो सकता है फिर भी समानधर्म उसी प्रकार विप्रतिपत्ति से खोजा जाना चाहिये।

यह भी बात नहीं है कि 'इन्दुमुख' आदि प्रयोगों के समान अभिधा से वाच्य न होने पर भी उसके समान गुण का ही बोध हो जाये। यही कहना है कि—

स एवेति। स एव धर्मः स एव धर्मी च इति उन्मत्तोऽपि वातुलोऽपि न भाषते न वक्ति, धर्मिधर्मयोरतिशयेन पार्थक्यादिति भावः। तिङ्वाच्यः तिङा प्रतिपाद्यः। असौ कर्ता क्रियापदे न्यग्भूतः अन्तर्भूतः अङ्गतां गत इत्यर्थः। क्रियेत्यादि। उपग्रहः आत्मनेपदपरस्मैपदनिमित्तमित्यर्थः। प्रकृतिः धातुः अभिधत्ते प्रतिपादयति। क्रियार्थत्वात् क्रियाप्रयोजनकत्वात्। तयोरेव क्रियासाधनयोरेव न्यग्भवतः अन्तर्निविशतः इत्यर्थः। प्रधानभूतमपि साधनमित्यनेन अन्वयः। क्रियासिद्धौ क्रियासिद्धिविषये उत्पन्नः व्यापारः प्रयत्नः

यस्य तथाभूतं सत् परार्थे परार्थभूतायामित्यर्थः न्यग्भवति अन्तर्निविशते। आकुलः व्यापृत इत्यर्थः। अपेक्षितुं पर्य्यवेक्षितुं क्षमते शक्नोति। प्रतिपत्स्यते पर्य्यवसितो भविष्यतीत्यर्थः। क्रियोपलक्षितस्य क्रियया लक्षीकृतस्य शब्दन्यायबलात् शब्दसामर्थ्य-वशात् अप्रतिपत्तिः अबोधः अलाभ इति यावत् शब्द इति। मुख्या गौणी लक्षणा ताभिः। 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य्यं विरोधिता। अर्थः प्रकरणम्' आदिना लिङ्गादिपरिग्रहः उक्तञ्च दर्पणे। 'अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति। तैः सम्पादितं साचिव्यं सहाय-भावः यासां तादृशीभिः वृत्तिभिः शक्तिभिः। अर्थविशेषस्य प्रवृत्तिनिमित्तबोधहेतुरित्यर्थः। मुख्यया वृत्त्या अभिधया शक्त्या इत्यर्थः स एव गौरित्ययं शब्दः तिष्ठन्मूत्रत्वादिगुण-सम्पदम् अवेक्ष्य अवलोक्य मत्वेति यावत् गौणीवृत्तिं गौणीं नाम शक्तिम्। उपात्तक्रिया-सिद्धौ गृहीतक्रियासम्पादने साधनभावं हेतुतां गन्तुं प्राप्तुम् असमर्थः अक्षमः शब्दः इति पूर्वेणान्वयः। स्वार्थस्य स्वप्रतिपाद्यस्य अविनाभूतं सम्बन्धमित्यर्थः। अर्थान्त-रम् अर्थविशेषं लक्षयति गमयति। विशिष्टोदकप्रवाहे भगीरथखातावच्छिन्नजलप्रवा-हरूपे इत्यर्थः निरूढा प्रसिद्धा अभिधानशक्तिर्यस्य तथाभूतः। स्वार्थस्य तादृश-जलप्रवाहरूपस्य अविनाभूतं सम्बन्धशालिनमित्यर्थः। न वेति। एतासां मुख्या-गौणी–लक्षणानां मध्ये अन्यतमा काचिदेकापीत्यर्थः। क्रियावचनात् क्रियावाचि-त्वात् न मुख्या नाभिधा वृत्तिः सम्भवतीति भावः। क्रियाकर्त्रोः असादृश्येन असाधर्म्येण शुक्तिकादौ रजतादिवत् शुक्तिकादौ सादृश्येन यथा रजतादिवत् शुक्तिकादौ सादृश्येन यथा रजतादिभावापत्तिः तथा तद्भावापत्तिः सादृश्यप्रतीतिर्नापीत्यर्थः। क्रियागुणानां क्रियाधर्माणां कर्त्तरि असम्भवात् असत्त्वादित्यर्थः। यदि क्रियायाः गुणाः कर्त्तरि सम्भवन्ति तथा सादृश्यं प्रतीयते अत्र तु न तथेति भावः। न गौणीति। यत्र इवादिप्रयोगो नास्ति तत्रैव गौणी वृत्तिः यथा गौर्वाहीक इत्यादि। अन्यधर्माणा-मिति अन्येषां धर्मिणां ये धर्माः तेषाम् अन्यत्र धर्मिणि आरोपः उपचारः अस्य तु क्रियाया धर्मरूपत्वात् न तथा उपचारसम्भव इति भावः, तस्मात् गौणीभेदः गौण्या वृत्तेर्विशेषः न उपचरितः नारोपितः। इवशब्दस्यापीति। असादृश्यसम्बन्धविरहेऽपि यथा 'किमिव न दृश्यते' इत्यादिषु। न लक्ष्येत लक्षणया वृत्त्या न प्रतीयेत सादृश्यमिति भावः। विद्योतयति बोधयति। सत्त्वभूतेन प्राणभूतेन आश्रयभूतेनेति यावत्। स्वार्थाविनाभूतं मुख्यार्थसम्बद्धमित्यर्थः कर्त्तारम् अन्यमिति शेषः आक्षिपति बोधयतीति यावत् लक्षित-लक्षणयेति भावः। लक्षितलक्षणेति। लक्षिते लक्षणया बोधिते अर्थे पुनर्लक्षणा लक्षित-लक्षणा सा च विरुद्धलक्षणा तदादयः अपि वृत्तयः नापि वर्त्तन्ते न सम्भवन्तीत्यर्थः। न चेति। शब्दान्यविलम्बिनीशब्दात् शब्दप्रतिपाद्यात् अन्यस्मिन् शब्दाप्रतिपाद्ये इत्यर्थः विलम्बते चिरेण अन्यत् प्रतिपादयतीति भावः तथाभूता पदार्थस्यव्युत्पत्तिः प्रतीतिः। प्रेक्षावद्भिः पण्डितैः। यद्यपीति। अध्याहारादिना ऊहादिना इदमपि अन्यार्थज्ञानम-पीत्यर्थः तुल्यधर्मः साधर्म्यं मार्गणीयः अन्वेषणीयः आवश्यकत्वेनेति भावः। तद्वदेव पूर्ववदेव विप्रतिपत्तिः विरोधादित्यर्थः। न चेति इन्दुमुखादिवत् चन्द्रमुखादाविवेत्यर्थः अनभिधीयमानस्य अकथ्यमानस्य। तुल्यगुणस्य साधर्म्यस्येत्यर्थः।

यथेन्दुरिव ते वक्त्रमिति कान्तिः प्रतीयते।

न तथा लिम्पतेर्लेपादन्यदत्र प्रतीयते ॥ १७७ ॥
तदुपश्लेषणार्थोऽयं लिम्पतिर्ध्वान्तकर्तृकः ।
वर्षणार्थश्च विद्वद्भिरुत्प्रेक्ष्यत इतीक्ष्यताम् ॥ १७८ ॥
मन्ये शङ्के ध्रुवम्प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥ १७९ ॥

जिस प्रकार 'इन्दुरिव ते वक्त्रम्'—चन्द्रमा के सदृश तुम्हारा मुख है—इस उक्ति में (साधारणधर्म के रूप में) कान्ति-चमक-की प्रतीति हो जाती है, उस प्रकार का (साधारण धर्म) 'लिम्पति' शब्द से 'लेप' के अतिरिक्त यहाँ नहीं प्रतीत होता है इसलिये यहाँ लिम्पति का अर्थ है व्याप्त होना और इसका कर्ता है ध्वान्त—अन्धकार। इसकी विद्वानों के द्वारा वर्षण अर्थ में उत्प्रेक्षा की जाती है। यही यहाँ मान्य होनी चाहिये। 'मन्ये', 'शङ्के' 'ध्रुवं', 'प्रायः', 'नूनम्' इत्यादि वाचक पदों से उत्प्रेक्षा व्यक्त की जाती है। 'इव' शब्द भी उसी प्रकार (से व्यञ्जक) है ॥ १७७ १७९ ॥

स्व० द०—भोज इस विवेचन में दण्डी के उत्प्रेक्षानिरूपण के प्रसङ्ग में 'लिम्पतीव०' आदि उदाहरण में उत्प्रेक्षा की सिद्धि के विचारों से अत्यन्त प्रभावित हैं। जिन विषयों को अत्यन्त संक्षेप में दण्डी ने केवल कुछ कारिकाओं में कहा था, उसी का उन्होंने विस्तार किया है और जहाँ तहाँ विषय को सुगम करने के लिये अपने भी विचार दिये हैं। उक्त कारिकायें (१७७-१७९) काव्यादर्श (२।२३२-४) से उद्धृत हैं। इनकी पूर्ववर्ती वे कारिकायें जिनका अर्थ भोज ने ग्रहण किया है, ये हैं—

केषाञ्चिदुपमाभ्रान्तिरिवश्रुत्येह जायते ।
नोपमानं तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याप्तभाषितम् ॥
उपमानोपमेयत्वं तुल्यधर्मव्यपेक्षया ।
लिम्पतेस्तमसश्चासौ धर्मः कोऽत्र समीक्ष्यते ॥
यदि लेपनमेवेष्टं लिम्पतिर्नाम कोऽपरः ।
स एव धर्मो धर्मी चेत्यनुन्मत्तो न भाषते ॥
कर्ता यद्युपमानं स्याद् न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे ।
स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यदपेक्षितुम् ॥
या लिम्पत्यमुना तुल्यं तम इत्यपि शंसतः ।
अङ्गानीति न सम्बद्धं सोऽपि मृग्यः समो गुणः ॥ काव्यादर्श २।२२७-२३१ ॥

यथेति। इन्दुरिव ते तव वक्त्रं वदनमिति उक्ते इति शेषः कान्तिः साधारणधर्म इति भावः लेपात् अन्यत् अपरोऽर्थः इत्यर्थः ॥ १७७ ॥

तदिति। तत् तस्मात् उपश्लेषार्थः लेपनार्थः। ध्वान्तकर्तृकः तमःकर्तृकवर्षणार्थः वर्षति इति शेषः। उत्प्रेक्ष्यते उत्कटकोटिना सम्भाव्यते। इति ईक्ष्यतां दृश्यतां विवेच्यतामित्यर्थः। मन्ये इति स्पष्टम्।

वाक्यवदेव प्रबन्धेषु अनौचित्यपरिहारेण गुणालङ्कारसङ्करनिवेशो

भवति। तत्र अनौचित्यपरिहारो यथा। मायया कैकेयीदशरथाभ्यां रामः प्रलम्भितो न मातापितृभ्याम् इति निर्दोषदशरथे, राममेव योधयन् रामेण बाली निहतो न सुग्रीवमिति महावीरचरिते, रुधिरप्रियराक्षसेन दुःशासनस्य रुधिरं पीतं न भीमसेनेनेति वेणीसंहारे, दुर्वाससोऽपध्यानाद् दुष्यन्तः शकुन्तलास्वीकारं विसस्मार न अनवस्थितानुरागतयेति शाकुन्तले, लवणप्रयुक्तराक्षसाभ्यां वा सोपस्करेण सीता परित्याजिता, न कैकेयीमन्थराभ्यामिति च्छलितरामे। किञ्च दग्धायामपि वासवदत्तायां वैरप्रतिचिकीर्षया पद्मावती मयोढा, अवसिते च समीहिते तया विना क्षणमपि न जीवामीत्यविज्ञातवासवदत्तासन्निधेः वत्सराजस्य अग्निप्रवेशाध्यवसायः प्रियाहृदयतो व्यलीकशल्यम् उच्चखानेति तापसवत्सराजे, मरीचाक्षः स्वामिकार्य्यं साधयामीति प्रभुभक्त्या निरपराधामपि प्रेयसीं हित्वा स्वामिकार्य्यापेक्षया अहमेवं एतावन्ति दिनानि जीवितः, अद्य अनुकृतस्वामिकार्य्यः तामेवानुगच्छामीति शिवगणः शूद्रकनिमित्तां मायामयीं चितां प्रियासमक्षं प्रविवेश, सापि तत् प्रेमावदानदर्शनापहृतप्रियव्यलीकात् तद्वियोगकातरा तत्रैवात्मानं प्रतिचिक्षेप इति विक्रान्तशूद्रके इति। तदेतत् दोषहानम्।

गुणोपादानन्तु सम्यग्गुणयोगेन संविधाने सुसूत्रता। अपि च चतुर्वृत्त्यङ्गसम्पन्नमिति। चतस्रो वृत्तयो भारती आरभटी कैशिकी सात्त्वती चेति॥

वाक्यों की भांति ही प्रबन्धों में भी अनौचित्य का परित्याग करके गुण तथा अलङ्कार के सङ्कर का सन्निवेश होता है। वहाँ अनौचित्य का परिहार इस प्रकार होगा, जैसे—दैवी छलना से कल्पित कैकेयी तथा दशरथ के द्वारा राम ठगे गये—निर्वासित किये गये, न कि माता तथा पिता के द्वारा। इस प्रकार का उल्लेख 'निर्दोष दशरथ' में हैं। राम को ही लड़ाते हुये राम के ही द्वारा बाली मारा गया न कि सुग्रीव को लड़ाते हुये। ऐसा 'महावीर-चरितम्' में हैं। रक्त के प्रेमी राक्षस के द्वारा दुःशासन का रक्त पिया गया न कि भीमसेन के द्वारा ऐसा 'वेणीसंहार' में है। दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त शकुन्तला का ग्रहण भूल गये थे न कि वास्तविक प्रेम के न रहने के कारण, इस प्रकार 'शाकुन्तल' में हैं। लवण के द्वारा नियोजित किये गये राक्षसों के द्वारा वास का उपस्करण करके सीता का परित्याग कराया गया न कि कैकेयी तथा मन्थरा के द्वारा, ऐसा 'छलितराम' नामक काव्य में है। यहाँ तक कि वासवदत्ता के जलजाने पर 'वैर' का प्रतिकार करने की इच्छा से मैंने पद्मावती को स्वीकार किया है, और अभीष्ट की सिद्धि हो जाने पर उसके विना मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता' इस प्रकार वासवदत्ता की उपस्थिति का पता न पाने वाले वत्सराज उदयन के अग्नि में प्रवेश करने के प्रयत्नों ने प्रियतमा वासवदत्ता के हृदय से बञ्चना--पद्मावती के विवाहरूपी-शल्य को निकाल फेंका, इस प्रकार की कथा 'तापसवत्सराज' में है। मरीचाक्ष नामक पात्र 'अपने स्वामी के कार्य को सिद्ध करूँगा' इस प्रभुभक्ति के कारण विना किसी अपराध के ही अपनी प्रियतमा को छोड़

कर अपने मालिक के कार्य के उद्देश्य से 'मैं ही इतने दिनों तक जीवित रहा आज अपने स्वामी के कार्यों को सम्पन्न करके उसी का अनुगमन कर रहा हूँ' इस प्रकार कह कर शिवगण माया की शूद्रक के लिये बनी हुई चिता में अपनी प्रियतमा के सामने ही प्रविष्ट हो गया। वह भी उस प्रेम को देखने से प्रिय के दुःख को दूर करती हुई उसके वियोग से व्याकुल होकर उसी चिता में अपने को डाल दी थी। इस प्रकार का वर्णन 'विक्रान्तशूद्रक' में है। तो यह सब दोषपरित्याग का उदाहरण है।

गुण का ग्रहण तो भली प्रकार गुणयोग के साथ रचना करने पर सुसम्बद्धता में है, और चारों वृत्ति रूपी अङ्गों से संयुक्त काव्य की रचना करनी चाहिये। इस प्रकार की उल्लिखित चारों वृत्तियाँ हैं—(१) भारती (२) आरभटी (३) कैशिकी (४) सात्वती।

वाक्येनि। **वाक्ये यथा गुणालङ्कारसन्निवेशः तथा प्रबन्धेषु महावाक्यभूतेषु सन्दर्भेष्विति भावः। यथेति मायया देव्या छलनयेत्यर्थः कैकेयीदशरथाभ्यां कल्पिताभ्यामिति भावः प्रलम्भितः प्रवञ्चितः निर्वासित इति यावत्। मातापितृभ्यां कैकेयीदशरथाभ्यां नेत्यर्थः। निर्दोषदशरथे तदाख्ये सन्दर्भे इति भावः। सुग्रीवं योधयन्निति पूर्वेणान्वयः। अनवस्थितानुरागतयेति अस्थिरप्रणयतयेत्यर्थः। लवणेति। लवणेन राक्षसेन मधुवनवासिना प्रयुक्तौ प्रहितौ राक्षसौ ताभ्यां कैकेयीमन्थरारूपधराभ्यामिति भावः। छलितरामे तदाख्ये सन्दर्भे इत्यर्थः। प्रियाहृदयतः प्रियायाः वासवदत्तायाः हृदयात्। व्यलीकशल्यं पद्मावतीविवाहजनितं शल्यवेधनरूपं दुःखमित्यर्थः। उच्चखान उत्खातवानित्यर्थः। तापसवत्सराजे तदाख्यग्रन्थ इति भावः! अद्येति अनुकृतस्वामिकार्य्यः अनुष्ठितस्वामिकार्य इत्यर्थः। मायामयीं मायाकल्पिताम् असत्यरूपामिति यावत्। तदिति। तस्य शिवगणस्य प्रेम प्रणयः तस्य अवदानं कर्मप्रेमोचितं कर्म अग्निप्रवेशरूपमिति भावः तस्य दर्शनात् अवलोकनात् अपहृतम् अपगतं प्रियस्य पत्युः व्यलीकम् अप्रियकार्य्यकरणसम्भूतं दुःखं यस्याः तथाभूता तत्रैव चितायामेव। विक्रान्तशूद्रके तदाख्यग्रन्थे। दोषहानं दोषपरित्यागः अनौचित्यपरिहार इति यावत्। संविधाने सम्प्रयोगे सुसूत्रता सुष्ठु निपुणतया विरचनमित्यर्थः। चतुर्वृत्त्यङ्गसम्पन्नमिति चतसृभिः वृत्तिभिरेव अङ्गैः सम्पन्नं समन्वितं काव्यं कर्त्तव्यमिति प्रागुक्तमिति भावः॥**

तत्,—

या वाक्प्रधाना नृपतिप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतया प्रयुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतप्रयोज्या सा भारती नाम भवेत् तु वृत्तिः॥

यत्रावपातप्लुतलङ्घितानि छेद्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युद्धानि च तत्र वृत्तिमेतादृशीमारभटीं वदन्ति॥
या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषयुक्ता स्त्रीसङ्कुता या बहुगीतवृत्ता।
कामोपभोगप्रचुरोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥

या सात्त्विकेनात्मगुणेन युक्ता त्यागेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभारा सा सात्वतीति प्रथितेह वृत्तिः॥
आसाम् अङ्गानि षोडश। तेषु प्ररोचना, प्रस्तावना, वीथी, प्रहसन-

मिति चत्वारि भारत्यङ्गानि। तत्र वक्तव्यार्थप्रशंसापरं वचः प्ररोचना, यथा,--

जो वृत्ति शब्दप्रधान होती है, राजाओं के व्यवहार के योग्य होती है, जिसका प्रयोग स्त्रियाँ नहीं करतीं, जो संस्कृत भाषा से युक्त होती है तथा जिसका प्रयोग अपना-अपना नाम संकीर्तन पूर्वक नर लोग करते हैं वह भारती नाम की वृत्ति—रचनाविशेष—होती हैं। जिस रचना में कूदना, उछलना तथा अतिक्रमण के कार्य होते हैं, जिसमें छेदन भेदन होता है, जहाँ माया से जादूगरी आदि का काम होता है, जिसमें विभिन्न चित्रों और युद्धों का अथवा आश्चर्यकारी युद्ध आदि प्रदर्शित होते हैं, वहाँ जो वृत्ति होती है, इस प्रकार की वृत्ति को आरभटी कहते हैं। जो विशद नेपथ्य विशेषों से युक्त, स्त्रियों से सम्मिलित, बहुत अधिक गीतों से भरी हुई तथा जहाँ कामोपभोग सम्बन्धी अनेक उपकरण होते हैं उसको कैशिकीवृत्ति कहते हैं।

जो विशेष सात्त्विक आत्मगुणों से युक्त तथा त्याग और सदाचरण से संयुक्त होती है, जो आनन्द से चमकती तथा शोक आदि भावों से रहित होती है, यहाँ काव्यशास्त्र में वह सात्वती वृत्ति के नाम से विख्यात है।

इन वृत्तियों के अङ्ग सोलह हैं। इनमें प्ररोचना, प्रस्तावना, वीथी तथा प्रहसन ये चार भारती के अङ्ग हैं। इनमें से कथनीय विषय की प्रशंसा के लिये कही गई वाणी प्ररोचना है। जैसे—

या वागिति। या वाक् वाक्यं प्रधाना उत्कृष्टा यत्र तथोक्ता नृपतिप्रयोज्या राजप्रयोगयोग्या; स्त्रीवर्जिता स्त्रीभिः प्रयोक्तुमनर्हेत्यर्थः संस्कृतया भाषया प्रयुक्ता समन्विता, स्वनामधेयैः स्वैः स्वैः नामभिः संकीर्त्तितैरिति भावः भरतेन नटेन नाट्याचार्य्येण वा प्रयोज्या कारणीया सा भारती नाम वृत्तिः रचनाविशेषः स्यात्॥

यत्रेति। यत्र ग्रन्थे अवपातः उच्चदेशतः अधःपतनं प्लुतं लङ्घनलङ्घितम् अतिक्रमणं तानि, छेद्यानि छेदनव्यापाराः मायया कृतम् इन्द्रजालं मेलिक इति प्रसिद्धं चित्राणि आलेख्यकर्माणि तथा युद्धानि वर्ण्यन्ते इति शेषः तत्र एतादृशीम् एवं रूपां वृत्तिम् आरभटीं वदन्ति कवय इति शेषः॥

येति। श्लक्ष्णेन समुज्ज्वलेन विशदेनेति यावत नेपथ्यविशेषेण परिच्छदविशेषेण युक्ता समन्विता स्त्रीभिः सङ्गता सम्मिलिता, या वहु प्रभूतं गीतवृत्तं गानव्यापारः यस्यां तथाविधा तथा कामोपभोगस्य मन्मथविहारस्य प्रचुरः प्रभूतः उपचारः उपकरणं यस्यां तादृशी, तां कैशिकीं वृत्तिम् उदाहरन्ति कीर्त्तयन्ति॥

येति। या सात्त्विकेन सत्त्वगुणोद्रिक्तेन आत्मगुणेन स्वधर्मेण युक्ता त्यागेन दानेन वृत्तेन सच्चरितेनेत्यर्थः समन्विता सङ्गता हर्षेण आनन्देन उत्कटा उज्ज्वला तथा संहृतः अपनीतः शोकभावः स्वजनवियोगदुःखं यया तयोक्ता वियोगदुःखहारिणीत्यर्थः सा इह काव्यसन्दर्भे सात्वती नाम वृत्तिः प्रसिद्धा॥

जयति भुवनकारणं स्वयम्भूर्जयति पुरन्दरनन्दनो मुरारिः।
जयति गिरिसुता निरुद्धदेहो दुरितभयापहरो हरश्च देवः॥ ५०६॥

समस्त संसार के निर्माण के कारण-भूत ब्रह्मा की जय हो, इन्द्र को प्रसन्न करने वाले विष्णु की जय हो, और पार्वती से आलिङ्गित शरीर वाले, पाप तथा भय को दूर करने वाले भगवान् शिव की भी जय हो॥ ५०६॥

जयतीति। भुवनस्य जगतः कारणं हेतुः स्रष्टेत्यर्थः स्वयम्भूः ब्रह्मा जयति, पुरन्दरं देवराजं नन्दयतीति तथाभूतः असुराणां विनाशेनेति भावः मुरारिः विष्णुः जयति। गिरिसुतया पार्वत्या निरुद्धः आक्रान्तः आलिङ्गित इति यावत् देहो यस्य तथाविधो दुरितभयं पापभयम् अपहरतीति तादृशः देवो हरश्च शम्भुश्च जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। अत्र विशेषणवशात् वक्तव्यार्थस्य प्रशंसनमिति प्ररोचना ॥ ५०६ ॥

प्रस्तुतवस्तूपपादनावसरसूचकं वचः प्रस्तावना, रत्नावल्याम् यथा—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥ ५०७ ॥

प्रस्तुत वस्तु के ग्रहण के अवसर की सूचना देने वाली वाणी प्रस्तावना है, जैसे रत्नावली में-अनुकूल रहने पर विधाता दूसरे द्वीप से भी, महासिन्धु के भीतर से भी तथा दिशाओं की अन्तिम छोर से भी प्रियजनों को एकाएक लाकर मिला देता है ॥ ५०७ ॥

स्व० द०—यहाँ समुद्र में यानभङ्ग हो जाने पर डूब रही अभीष्ट सागरिका के सहसा मिल जाने की सूचना से प्रस्तावना है।

द्वीपादिति। अभिमुखीभूतः अनुकूलतां गतो विधिः दैवं 'विधिर्विधाने दैवे' चेत्यमरः। अन्यस्मात् अपरस्मात् स्वावासव्यतिरिक्तादित्यर्थः द्वीपात् अपि, जलनिधेः समुद्रस्य मध्यादपि दिशः अन्तात् शेषसीम्नः अपि, अभिमतम् इष्टं वस्तु आनीय झटिति सहसा घटयति सङ्गमयति। अत्र समुद्रे यानभङ्गनिमग्नायाः सागरिकाया अभीष्टभूतायाः सहसाधिगमसूचनात् प्रस्तावना। प्रस्तावनालक्षणं दर्पणकारेण उक्तं यथा। 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते। चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्य्योत्थैर्नाम्ना प्रस्तावना हि सेति ॥ ५०७ ॥

उद्घात्यकादीनामङ्गानां प्रवृत्तिर्वीथी ॥

उद्घात्यकः, कथोद्घातः, प्रयोगातिशयः, प्रवर्त्तकः अवलगितमिति। तत्र उद्घात्यको यथा,—

को जयति जयति शर्वः केन जितं जितमनङ्गदहनेन।
त्रिपुरारिणा भगवता बालशशाङ्काङ्कितजटेन ॥ ५०८ ॥

उद्घात्यक आदि अङ्गों की प्रवृत्ति वीथी है। (ये सभी अङ्ग हैं) उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक तथा अवलगित। इनमें से उद्घात्यक का उदाहरण—

'कौन व्यक्ति सर्वोत्कृष्ट है? अथवा जीतता है?' 'भगवान् शिव'। 'किसने जीता'? 'जीता है कामदेव को जलाने वाले, त्रिपुरासुर के शत्रु, नवचन्द्र के चिह्न से सुशोभित जटाओं वाले भगवान् शिव ने' ॥ ५०८ ॥

क इति। को जनः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते? । शर्वः शिवः जयतीति उत्तरम् केन जनेन जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितमित्यर्थः। अनङ्गदहनेन मन्मथदाहिना भगवता त्रिपुरारिणा त्रिपुरासुरसंहारिणा बालः नवः शशाङ्कः तेन अङ्किता चिह्निता राजितेति भावः जटा यस्य तथाभूतेन शर्वेण जितमित्युत्तरम् ॥ ५०८ ॥

कथोद्घातो यथा,—

साकं पङ्कजजन्मना सुरपतेरभ्यर्थनाया वशा-
दिक्ष्वाकोः शरदिन्दुबिम्बविमले वंशेऽवतीर्य्यं स्वयम् ।
निःशेषात्तपदं त्रयीपदजुषां विद्वेषिणं राक्षसं
यः पौलस्त्यमहन् स पातु भवतो रामाभिधानो हरिः ॥ ५०९ ॥

कथोद्घात का उदाहरण—

जिन्होंने ब्रह्मा के साथ की गई इन्द्र की प्रार्थनाओं के कारण इक्ष्वाकु के शरत्कालीन चन्द्रमा के बिम्ब की भांति निर्मल कुल में स्वयं अवतार ले कर, सम्पूर्ण पदों को प्राप्त कर, वेदमार्गानुसारियों के द्वेषी, पुलस्त्य के कुल में उत्पन्न राक्षस रावण को मारा वही राम नाम वाले प्रभु आपकी रक्षा करें ॥ ५०९ ॥

साकमिति । यः पङ्कजजन्मना कमलयोनिना ब्रह्मणेत्यर्थः साकं सह सुरपतेः इन्द्रस्य अभ्यर्थना प्रार्थना तस्याः वशात् हेतोः इक्ष्वाकोः शरदिन्दुः शरच्चन्द्रः तस्य बिम्बमिव विमलं निर्मलं समुज्ज्वलमिति यावत् तस्मिन् वंशे कुले स्वयम् आत्मना अवतीर्य निःशेषं यथा तथा आत्तं गृहीतं पदम् आधिपत्यं जगतामिति भावः येन तथाविधं त्रयीपदजुषां वेदमार्गयायिनां विद्वेषिणं शत्रुं पुलस्त्यस्य अपत्यं पुमान् पौलस्त्यः तं पुलस्त्यपौत्रमित्यर्थः राक्षसं रावणम् अहन् जघान, स रामाभिधानः रामनामा हरिः भवतः युष्मान् पातु रक्षतु ॥ ५०९ ॥

प्रयोगातिशयो यथा,—

अत्याहितमवतु हरेः क्ष्मामुद्धरतो वराहवपुषो वः ।
शेषफणारत्नदर्पणसहस्रसंक्रान्तबिम्बस्य ॥ ५१० ॥

प्रयोगातिशय का उदाहरण—

पृथ्वी का उद्धार कर रहे, शूकरमूर्तिधारी, शेषनाग की हजार फनों पर विद्यमान मणि रूपी दर्पण-सहस्रों में प्रतिबिम्बित छाया वाले हरि का अतिप्रयास आप लोगों की रक्षा करें ॥ ५१० ॥

अत्याहितमिति । क्ष्मां पृथ्वीम् उद्धरतः रसातलात् उत्तोलयतः वराहवपुषः शूकरमूर्त्तेः शेषस्य अनन्तनागस्य फणासु सहस्रसंख्यकास्विति भावः यानि रत्नानि मणयः तान्येव दर्पणानां सहस्राणि तेषु संक्रान्तं बिम्बं छाया यस्य तथाभूतस्य हरेः नारायणस्य अत्याहितम् अतिप्रयत्नः रसातलात् क्ष्मोद्धरणे इति भावः वः युष्मान् अवतु रक्षतु । उत्थापितमिति पाठान्तरम् ॥ ५१० ॥

प्रवर्त्तको यथा,—

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकीर्त्तिः ।
उत्साद्य गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥ ५११ ॥

प्रवर्तक का उदाहरण—

अत्यन्त निर्मल चन्द्र की ज्योत्स्ना से समन्वित, निर्मल कीर्ति वाला, बन्धुजीव नामक पुष्पों को विकसित करने वाला शरद्-काल गहन अन्धकार से युक्त, भयङ्कर वर्षाकाल को समाप्त कर उसी प्रकार प्राप्त हो गया जिस प्रकार अपनी निर्मल तलवार (चन्द्रहास) को लिये हुये, उज्ज्वल यश वाले अपने भाई-बन्धुओं को प्रसन्न करने वाले राम महातामसी तथा मेघ के सदृश काले रावण को समाप्त कर उपस्थित हुये थे। ५११ ॥

स्व० द०—भारती आदि वृत्तियों के लक्षण नाट्यशास्त्र (२२।२५, ३८, ४७, ५६) से उद्धृत हैं। वहीं पर भारती के चारों भेद दिये गये हैं—

भेदास्तस्यास्तु विज्ञेयाश्चत्वारोऽङ्गत्वमागताः।
प्ररोचना मुखं चैव वीथी प्रहसनं तथा ॥
जयन्यदायिनी चैव मङ्गल्या विजयावहा।
सर्वपापप्रशमनी पूर्वरङ्गे प्ररोचना ॥
नटीविदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैरन्यथापि वा।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनापि सा।
आमुखाङ्गान्यतो वक्ष्ये यथावदनुपूर्वशः ॥
उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवृत्तकावलगिते आमुखाङ्गानि पञ्च वै ॥ ना. शा. २२।२६–३० ॥

इसी प्रकार कथोद्घात आदि के भी लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

सूत्रधारस्य वाक्यं वा यत्र वाक्यार्थमेव वा।
गृहीत्वा प्रविशेत् पात्रं कथोद्घातः स कीर्तितः ॥
प्रयोगेऽत्र प्रयोगं तु सूत्रधारः प्रयोजयेत्।
ततश्च प्रविशेत् पात्रं प्रयोगातिशयो हि सः ॥
प्रवृत्तं कार्यमाश्रित्य सूत्रभृद् यत्र वर्णयेत्।
तदाश्रयाच्च पात्रस्य प्रवेशस्तत् प्रवृत्तकम् ॥ वही २२।३२–३४ ॥

आसादितेति। आसादितः प्राप्तः प्रकटः उज्ज्वलः निर्मलः विशदः चन्द्रस्य हासः विकासः चन्द्रहासोऽसिश्च येन तथाभूतः विशुद्धा निर्मला कीर्त्तिः ख्यातिः यशश्च यस्य तथोक्तः तथा सम्भृतानि विकसितानि बन्धुजीवानि तदाख्यकुसुमानि यत्र तादृशः अन्यच्च सम्भृताः सम्पालिताः बन्धूनां जीवा जीवनानि येन तथोक्तः एष शरत्समयः रामो दशास्यं दशाननमिव गाढं तमः तिमिरं मोहस्य यत्र तम् उग्रं दारुणं घनकालं मेघसमयं वर्षाकालमित्यर्थः अन्यत्र अतिकृष्णकायम् उत्साद्य निरस्य व्यापाद्य च प्राप्तः उपस्थितः ॥ ५११ ॥

अवलगितं यथा,—अमुमेव शरत्समयमाश्रित्य गीयताम्, तथा ह्यस्याम्

सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्त्तराष्ट्राः कालवशात् मेदिनीपृष्ठे ॥ ५१२ ॥

अवलगित का उदाहरण—'इसी शरत् काल का आश्रय लेकर गाइये, क्योंकि इस ऋतु में—
(अर्थादि हेतु द्रष्टव्य १।१४५ ॥) ॥ ५१२ ॥

सत्पक्षा इति। सन्तौ शोभनौ पक्षौ येषाम् अन्यत्र सन्तः विद्यमानाः साधवश्च पक्षाः सहायाः येषां तथोक्ताः। 'पक्षः पत्रं सहायोऽस्त्रीत्यमरः'। मधुरा मनोहारिण्यः गिरः वाचः येषां तथाभूताः मधुरभाषिण इत्यर्थः प्रसाधिताः रञ्जिताः आशा दिशः अन्यत्र प्रसाधिताः पूरिताः आशा अभिलाषः अर्थिनामिति भावः यैः तादृशाः मदेन उल्लासेन उद्धताः उत्कटाः आरम्भाः चेष्टितानि अन्यत्र मदेन गर्वेण उद्धता दारुणा आरम्भाः कर्माणि द्रौपद्याः सभायां केशाम्बराकर्षणादीनि येषां तादृशाः धार्त्तराष्ट्राः हंसविशेषाः धृतराष्ट्रतनयाश्च कालवशात् समयवशात् मेदिनीपृष्ठे महीतले रणभूमौ च निपतन्ति विचरन्ति-व्यापादिताः पतन्ति च ॥ ५१२ ॥

स्वधर्मात्प्रचलितानां तापसादीनाम् उपहासपरं वचः प्रहसनम्, यथा—

श्रमणः श्रावकवध्वाः सुरतविधौ दंशति नाधरं दत्तम्।
मदिराक्षि ! मांसभक्षणमस्मत्समये निषिद्धमिति ॥ ५१३ ॥

अपने धर्म से विचलित तपस्वी आदि के विषय में उपहास करने वाली वाणी प्रहसन है। जैसे—

कोई बौद्ध भिक्षु अपने धर्मशील शिष्य की पत्नी के साथ मैथुन व्यापार में दन्तक्षत के लिये दिये गये अधरों का दंशन नहीं करता और कहता है कि 'मतवाले नयनों वाली, हमारे लिये अपेक्षित नियमों में मांस का भक्षण वर्जित है' ॥ ५१३ ॥

स्वधर्मवदिति। स्वस्य धर्मः आमिषभक्षणवर्जनरूपः तं विदन्ति जानन्तीति तथाभूतानां प्रचलितानां चापल्यवताम् इन्द्रियपरतन्त्राणामिति भावः तापसादीनां तपस्विप्रभृतीनाम् ॥

श्रमण इति। श्रमणो बौद्धसंन्यासी कश्चित् श्रावकस्य धर्मश्रवणशीलस्य सेवकभूतस्य शिष्यस्य वध्वाः सुरतविधौ रमणव्यापारे, हे मदिराक्षि ! मत्तखञ्जननयने ! मदिरो मत्तखञ्जन इति कोषः यद्वा मदिरे उन्मादकारिणी अक्षिणी यस्यास्तत्सम्बुद्धौ। अस्माकं समये शास्त्रनियमे मांसभक्षणं निषिद्धम् इति उक्तेति शेषः दत्तं दंशनार्थमुपनीतम् अधरं न दंशति न दंशनक्षतं करोतीत्यर्थः। दंशने आमिषास्वादः स्यादिति भावः। दत्तमित्यत्र दन्तैरिति पाठान्तरं वस्तुसंक्षेपः संक्षेपेण वस्तुनः उक्तिरित्यर्थः ॥ ५१३ ॥

संक्षिप्तिका, अवपातः, वस्तूत्थापनं, संस्फोटः इति चत्वारि आरभट्यङ्गानि ॥

तेषु माहेन्द्रजालनेपथ्यादिभिः वस्तुसंक्षेपः संक्षिप्तिका यथा,

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥ ५१४ ॥

संक्षिप्तिका, अवपात, वस्तूत्थापन तथा संस्फोट ये चार आरभटी के अङ्ग हैं। इनमें से इन्द्रजाल, नेपथ्य आदि के द्वारा वस्तु का संक्षेप संक्षिप्तिका है। जैसे—
(अर्थादि के लिये द्रष्टव्य ५।४१४ ॥) ॥ ५१४ ॥

रक्षसेति। स रावणः मृगरूपेण स्वर्णमृगरूपधारिणा रक्षसा मारीचेन राघवौ रामलक्ष्मणौ वञ्चयित्वा प्रतार्य्य आश्रमात् निष्कास्येति यावत् पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन प्रयत्नेन आक्रमणेनेत्यर्थः क्षणम् अल्पकालं विघ्नितः सञ्जातविघ्नः सन् सीतां जहार हृतवान् ॥ ५१४ ॥

भयादिभिः विद्रवादिमर्मानुप्रवेशनिर्गमनमवपातो यथा,—

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः।
नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥ ५१५ ॥

भय आदि के कारण भागने आदि कामों में प्रवेश तथा निर्गमन अवपात है। जैसे—मृगरूप को छोड़कर, भयङ्कर रूप धारण करके, राम से युद्ध के समय राक्षस मारीच के द्वारा लक्ष्मण संदेह में डाल दिये ॥ ५१५ ॥

मृगरूपमिति। तेन रक्षसा मारीचेन युधि युद्धे रामेणेति शेषः मृगरूपं परित्यज्य विहाय विकटं भीषणं वपुः शरीरं विधाय लक्ष्मणः संशयं कथमेतत् मृगरूपत्यागेन राक्षसरूपधारणं कस्यचित् छलनेन वा मम आश्रमात् निष्कासनं देव्याः सीतायाः का प्रवृत्तिरिति विविधवितर्कं प्राप्यते स्मेत्यध्याहार्य्यम् ॥ ५१५ ॥

अविद्रवः सविद्रवो वा सर्वरसभावसमासो वस्तूत्थापनं, यथा—

राहोश्चन्द्रकलामिवाननचरीं दैवात् समासाद्य मे
दस्योरस्य कृपाणपातविषयादाच्छिन्दतः प्रेयसीम्।
आतङ्काद् विकलं द्रुतं करुणया विक्षोभितं विस्मयात्
क्रोधेन ज्वलितं मुदा विकसितं चेतः कथं वर्त्तताम्? ॥ ५१६ ॥

उपद्रव रहित अथवा उपद्रव सहित सभी भावों और रसों का सम्मेलन वस्तूत्थापन है, जैसे—

(अर्थ आदि के लिये द्रष्टव्य ३।४०० ॥) ॥ ५१६ ॥

अविद्रव इति। अविद्रवः उपद्रवरहितः, सविद्रवः सोपद्रवः, सर्वेषां रसानां भावानाञ्च समासः संमेलनम्।

राहोरिति। राहोः आननचरीं मुखवर्त्तिनीं चन्द्रकलामिव प्रेयसीं प्रियतमां मालतीं दैवात् सहसा भाग्येन वा समासाद्य प्राप्य दृष्ट्वा वा अस्य दस्योः तस्करस्य कृपाणपातः खड्गपातः एव विषयः तस्मात् आच्छिन्दतः आकृष्य नयत इत्यर्थः मे मम चेतः चित्तम् आतङ्कात् भयात् विकलं विवशीकृतं करुणया कृपया द्रुतं द्रवीभावं प्राप्तं विस्मयात् विस्मयं प्राप्येत्यर्थः विक्षोभितं विलोडितं, क्रोधेन ज्वलितं दीपितं मुदा आनन्देन प्रेयसीरक्षणजनितयेति भावः विकसितम् उल्लसितं सत् कथं केन प्रकारेण वर्त्ततां? स्थिरीभूय तिष्ठतु? ॥ ५१६ ॥

नानास्त्रयुद्धनियुद्धादिभिः ससंरम्भसम्प्रहारः संस्फोटो, यथा—

कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा
येनास्याः परिधानमप्यपहृतं राज्ञां गुरूणां पुरः।

यस्योरःस्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्
सोऽयं मद्भुजपञ्जरे निपतितः संरक्ष्यतां कौरवाः ! ॥ ५१७ ॥

अनेक अस्त्रों से युद्ध तथा बाहुयुद्ध आदि से बड़े क्रोधपूर्वक कस कर की गई मार संस्फोट है, जैसे—

जिस (नर) पशु ने द्रौपदी को केशों में पकड़कर खींचा, और जिसने इसके ही वस्त्रों का बड़े बूढ़े राजाओं के सामने ही अपहरण किया, मैंने (भीम ने) जिसके वक्षःस्थल के रक्त को पीने की प्रतिज्ञा की थी वही दुःशासन इस समय मेरी भुजाओं के पिंजड़े में आ गया है, अब कौरव लोग उसकी रक्षा तो करें ॥ ५१७ ॥

नानेति। नानास्त्राणि विविधायुधानि तैः युद्धं तथा नियुद्धं बाहुयुद्धं तदेवमादिभिः ससंरम्भं सावेगं सक्रोधं वा यथा तथा सम्प्रहारः अन्योन्यप्रतीघातः।

कृष्टेति। येन पशुना चतुष्पदत्वं गतेनेति यावत् पाञ्चालराजस्य आत्मजा तनया द्रौपदीत्यर्थः शिरोरुहेषु केशेषु अवच्छेदे सप्तमी कृष्टा आकृष्य राजसभां नीतेत्यर्थः, येन राज्ञां गुरूणां भीष्मद्रोणादीनाञ्च पुरोऽग्रतः अस्याः द्रौपद्याः परिधानं परिधेयं वसनमपि अपहृतं, यस्य उरःस्थलस्य वक्षसः शोणितमेव आसवः मदिरा तं पातुम् अहं प्रतिज्ञातवान् कृतप्रतिज्ञः अस्मीत्यर्थः सोऽयं पशुः दुःशासनः मम भुजावेव पञ्जरः पक्ष्यादिरोधनस्थानमित्यर्थः तस्मिन् निपतितः समुपस्थित इत्यर्थः, हे कौरवाः! कुरुप्रवीराः! संरक्ष्यतां परित्रायताम् ॥ ५१७ ॥

नर्म, नर्मस्फिजः, नर्मस्फोटः, नर्मगर्भ इति चत्वारि कैशिक्यङ्गानि ॥

तेषु स्थापितशृङ्गारं वचः विचेष्टितं वा सपरिहासं नर्म, यथा—

वयं तथा नाम यथात्थ किं वदा-
म्ययं त्वकस्माद् विकलः कथान्तरे ।
कदम्बगोलाकृतिमाश्रितः कथं
विशुद्धमुग्धः कुलकन्यकाजनः ? ॥ ५१८ ॥

नर्म, नर्मस्फिज, नर्मस्फोट, नर्मगर्भ ये चार कैशिकी के अङ्ग हैं। इनमें से शृङ्गार की रक्षा करने वाली वाणी अथवा चेष्टायें जो उपहासपूर्वक हों, नर्म हैं, जैसे—

हम निश्चित ही वैसे ही हैं, जैसा कि तुमने कहा है। मैं क्या कहूँ ? यह निर्दोष तथा मनोहर कुलीन कन्या कथा के बीच में ही सहसा विवश होकर कदम्ब के पुष्प के आकार (रोमाञ्चभाव) को कैसे प्राप्त हो गयी ? ५१८ ॥

स्थापितेति। स्थापितः रचितः योजित इति यावत् शृङ्गारो यत्र तादृशम्।

वयमिति। वयं तथा तादृशा दुरभिसन्धिवर्जिता इति भावः नाम प्राकाश्ये, प्रकाशं ब्रूम इत्यर्थः, यथा आत्थ ब्रवीषि अस्य कुलकन्यकाजनविषयिणीं वार्त्तामिति भावः किं वदामि किं कथयामि तवेति शेषः। अयन्तु विशुद्धः निर्दोषः मुग्धः सरलः कुलकन्यकाजनः कुलजा कन्येत्यर्थः कथान्तरे कथाप्रसङ्गावसरे अकस्मात् सहसा विकलः विवशः सन् कथं कदम्बगोलस्य कदम्बपुष्पस्य गोलः वर्त्तुलाकारः सर्वावयवः तस्य आकृतिम्

आकारं सादृश्यमित्यर्थः आश्रितः प्राप्तः यथा कदम्बगोले एकदैव सर्वे केशराः समुत्पद्यन्ते तथा अस्य कन्याजनस्य सर्वाणि गात्राणि रोमाञ्चपूर्णानि जातानीति भावः ॥ ५१८ ॥

प्रथमसम्भोगे नवावस्थानं सम्भोगाश्रयवाक्यादिकर्म नर्मस्फिजः यथा–

प्राप्तासौ वृषपर्वणः प्रियसुता सङ्केतखण्डे नवे
वृष्टिः सेयमनम्बुदाऽमृतमयी गात्राणि मे सिञ्चति ।
किं जानामि विनोदयिष्यति मनः सन्तप्तमेवाद्य मे
दुर्वात्येव निवर्त्तयिष्यति न भोस्तां देवयानीं प्रति ।। ५१९ ।।

पहले ही सम्भोग में नई-नई प्रवृत्तियों से युक्त संभोगविषयक चर्चा अथवा कर्म नर्मस्फिज है। जैसे—

यह दैत्यराज वृषपर्वा की प्रिय पुत्री शर्मिष्ठा नये सम्भोगगृह में उपस्थिति हुई है। यह शर्मिष्ठा बिना बादल के ही सुधामयी वृष्टि की भांति मेरे अङ्गों को सरस किये दे रही है। मुझे तो ऐसा लगता है कि यदि शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी प्रचण्ड झंझावात की तरह आकर उस अमृतमयी वृष्टि की भांति शर्मिष्ठा को प्रताडित कर दूर नहीं कर देती है, तो अरे, आज ही वह मेरे (कामावेश के कारण) सन्तप्त मन को अवश्य ही आनन्दित कर देगी ॥ ५१९ ॥

प्रथमेति। प्रथमसम्भोगे नवम् अवस्थानं प्रवर्त्तनं तत्र सम्भोगाश्रयवाक्यादिना सम्भोगविषयककथादिना नर्म परिहासवचनं नर्मस्फिजः।

प्राप्तेति। असौ वृषपर्वणः दैत्यराजस्य प्रियसुता। प्रिया दुहिता शर्मिष्ठेत्यर्थः नवे नूतने सङ्केतखण्डे सम्भोगनिकेतने इति यावत् प्राप्ता उपस्थिता। सा इयं शर्मिष्ठेति भावः अनम्बुदा अनभ्रा अमृतमयी सुधामयी वृष्टिः तद्रूपेति भावः मे मम गात्राणि अङ्गानि सिञ्चति आर्द्रीकरोतीत्यर्थः। किं जानामि, यदि देवयानी शुक्रदुहिता दुर्वात्येव कर्कशा वायुराशिरिव ताम् अमृतमयीं वृष्टिरूपां शर्मिष्ठामिति भावः न निवर्त्तयिष्यति न निवारयिष्यति न सन्ताडयिष्यतीत्यर्थः भोः। तदा अद्य मे मम सन्तप्तं मदनावेशेनेति भावः मनः चित्तं विनोदयिष्यति एव अवश्यं प्रीणयिष्यतीत्यर्थः ॥ ५१९ ॥

आविर्भूताभिलाषानुभावयोः अकाण्डसम्भोगभङ्गः नर्मस्फोटः, यथा––

इतः परानर्भकहार्य्यशस्त्रान् वैदर्भि ! पश्यानुमता मयाऽसि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ।। ५२० ।।

प्रकट हुई अभिलाषा तथा चेष्टा वालों के सम्भोग का एकाएक भङ्ग हो जाना नर्मस्फोट है। जैसे—

हे विदर्भदेशोत्पन्न इन्दुमती, तू मेरे द्वारा अनुज्ञात है, तू इस स्थान से जिनके शस्त्रों को बच्चे भी ले जा सकते हैं, उन शत्रुओं को देख। ये शत्रु राजा मेरे हाथ में आई हुई तुमको इसी प्रकार की युद्ध की क्रिया के द्वारा हर लेने की इच्छा करते हैं ॥ ५२० ॥

इत इति। हे वैदर्भि ! विदर्भनन्दिनि इन्दुमति ! मया अनुमता अनुज्ञातासि, इतः अस्मात् प्रदेशात् परान् शत्रून् अर्भकैः बालकैः हार्य्याणि हर्त्तुं शक्यानि शस्त्राणि येषां तथाविधान् प्रस्वापनास्त्रप्रयोगेण अचेतनपतितानिति भावः पश्य अवलोकय। एभिः

शत्रुभिः राजभिः मम हस्तगता त्वम् एवंविधेन एवम्प्रकारेण आहवचेष्टितेन युद्धव्यापारेण प्रार्थ्यसे हर्त्तुम् अभिलष्यते इत्यर्थः ॥ ५२० ॥

कार्य्यहेतोः स्वरूपविज्ञानादिप्रच्छादनं नर्मगर्भः, यथा--
अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाक् ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥५२१॥

कार्य तथा कारण के रूपज्ञान आदि को छिपाना नर्मगर्भ है। जैसे इसके पश्चात् पालाश दण्ड धारण किये हुये, चतुरवाणी वाला, ब्रह्मतेज से दमकता हुआ सा कोई जटाधारी उस तपोवन में प्रविष्ट हुआ जो साक्षात् शरीर धारी ब्रह्मचर्याश्रम जैसा लगता था ॥ ५२१ ॥

स्व० द०—कैशिकी के चारों अङ्गों का निरूपण भरत ने इन शब्दों में किया है—

नर्म च नर्मस्फुजो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च ।
कैशिक्याश्चत्वारो भेदा ह्येते समाख्याताः ॥
आस्थापितशृङ्गारं विशुद्धकरणं निवृत्तिवीररसम् ।
हास्यप्रवचनबहुलं नर्म त्रिविधं विजानीयात् ॥
ईर्ष्याक्रोधप्रायं सोपालम्भवचनविद्धं च ।
आत्मोपक्षेप कृतं सविप्रलम्भं स्मृतं नर्म ॥
नवसङ्गमसम्भोगो रतिसमुदयवाक्यवेषसंयुक्तैः ।
ज्ञेयो नर्मस्फुजो ह्यवसानमयात्मकश्चैव ॥
विविधानां भावानां लवैर्लवैर्भूषितो बहुविशेषः ।
असमग्राक्षिप्तरसो नर्मस्फोटस्तु विज्ञेयः ॥
विज्ञानरूपशोभाधनादिभिर्नायको गुणैर्यत्र ।
प्रच्छन्नं व्यवहरते कार्यवशान्नर्मगर्भोऽसौ ॥ ना. शा. २२।४८-५३ ॥

अथेति। अथ पार्वत्याः तपसः परमोत्कर्षदर्शनानन्तरमित्यर्थः अजिनं कृष्णमृगत्वक् आषाढः पालाशो दण्डः तयोः धरतीति धरः पचाद्यच्। प्रगल्भा धृष्टा वाक् यस्य तथोक्तः वाचाल इत्यर्थः ब्रह्ममयेन वेदानुशीलनजनितेनेति भावः तेजसा ज्योतिषा ब्रह्मवर्चस्वेनेत्यर्थः ज्वलन्निव दीप्यमान इव कश्चित् जटिलः जटाधारी पुरुषः शरीरबद्धः मूर्त्तिमान् प्रथमाश्रमो यथा ब्रह्मचर्य्यमिव तपोवनं पार्वत्या इति शेषः विवेश आजगाम ॥ ५२१ ॥

उत्थापकः, परिवर्त्तकः, संलापकः, संघात्यक इति चत्वारि सात्वत्यङ्गानि ॥

तेषु परम्परीभूयार्थेषु उत्थापनं उत्थापकः, यथा---

प्रहर मम तु कायं प्राक्प्रहारप्रियोऽहं
अपि तु कृतविघाते किं विदध्याः परस्मात् ? ।
झटिति विततबहुङ्कारभास्वत्कुठार-
प्रविघटितकठोरस्कन्धबन्धः कबन्धः ॥ ५२२ ॥

उत्थापक, परिवर्तक, संलापक तथा संघात्यक ये चार सात्वती के अङ्ग हैं। इनमें परम्परा बन कर अर्थों में उत्थापना करना उत्थापक है, जैसे—

तुम पहले मेरे शरीर पर प्रहार करो, अपने शत्रु से ही प्रथम प्रहार चाहता हूँ, क्योंकि मेरे ही सर्वप्रथम प्रहार कर देने पर तत्काल बाद एकाएक बहुत सी चिनगारियों को निकालने से चमक उठे परशु से गर्दन काट देने पर केवल धड़ मात्र शेष रह कर तुम क्या कर सकोगे ? ॥ ५२२ ॥

प्रहरेति। तु इति अवज्ञासूचकमव्ययम्। मम कायं मच्छरीरं प्रहर मम शरीरे अस्त्रं प्रयुङ्क्ष्वेत्यर्थः प्रागिति शेषः। अहं प्रहारः पूर्वप्रहारः प्रतिवीरकर्तृक इति भावः प्रियो यस्य तथोक्तः। नाहं प्रतिवीरे पूर्वं प्रहरामि अहमेव पूर्वं प्रहारं प्राप्तुमिच्छामीति भावः। तु यत इत्यर्थः मयि कृतविघाते कृतप्रहारे प्राक् प्रहृतवतीत्यर्थः सति परस्तात् समनन्तरमेवेत्यर्थः झटिति विततैः विस्तृतैः बहुभिः प्रभूतैः अङ्गारैः अग्निशिखाभिरित्यर्थः भास्वान् यः कुठारः तेन प्रविघटितः प्रकर्षेण विच्छिन्नः कठोरः कठिनः स्कन्धबन्धः कण्ठदेशः यस्य तथाभूतः कबन्धः क्रियाशून्यम् अशिरः कलेवरं तद्भूत इत्यर्थः 'कबन्धोऽस्त्री क्रियाशून्यमपमूर्द्धकलेवरमि'त्यमरः। त्वं किं विदध्याः ? किं कुर्य्याः ? न किमपि कर्त्तुं शक्ष्यामीति भावः। विदध्यादिति पाठे तादृशः कबन्धः किं विदध्यादित्यर्थः। रामं प्रति परशुरामस्य उक्तिः ॥ ५२२ ॥

प्रस्तुतार्थत्यागादन्यार्थभजनं परिवर्त्तकः, यथा—

मुनिमभिमुखतां निनीषवो याः
समुपययुः कमनीयतां गुणेन।
मदनमुपदधे स एव ताभ्यो
दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम् ॥ ५२३ ॥

विद्यमान अर्थ का परित्याग करके दूसरे अर्थ को प्राप्त करना परिवर्तक है, जैसे—

जो अप्सरायें सौन्दर्य के प्रभाव से उस मुनि को अपनी ओर आकृष्ट करने की इच्छा से समीप आईं उस मुनि ने ही उन देवाङ्गनाओं में काम को प्रेरित कर दिया, क्योंकि कार्यों का प्रसार दुर्ज्ञेय होता है अर्थात् क्या करने पर क्या हो जायगा इसे कोई जान नहीं सकता ॥ ५२३ ॥

मुनिमिति। याः सुराङ्गना इति भावः कमनीयतागुणेन सौन्दर्य्यप्रभावेण तापसम् अभिमुखतां वश्यतां निनीषवः नेतुमिच्छवः सत्यः समुपययुः समुपागमन् स मुनिः ताभ्य एव सुराङ्गनाभ्यः मदनं कामम् उपदधे मनसि उत्तेजितवान् मुनेः कामवश्यता दूरे तिष्ठतु, ता एव तद्दर्शनेन कामार्त्ता आसन्निति निष्कर्षः हि तथाहि प्रयोजनानां कार्य्याणां गतिः प्रसरः दुरधिगमा दुर्ज्ञेया किं कृते किं स्यादिति न केनापि ज्ञातुं शक्यते इति भावः। अत्र प्रस्तुतार्थस्य मुनितपोभङ्गरूपस्य असामर्थ्येन परित्यागेन स्वीयकामवश्यताभजनमिति परिवर्त्तकत्वम् ॥ ५२३ ॥

सदसि नानावाक्यैः मिथोऽधिक्षेपः संलापकः, यथा—

कथमपि न निषिद्धो दुःखिना भीरुणा वा
द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य।
तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः
शिरसि चरण एष न्यस्यते वारयैनम् ॥ ५२४ ॥

सभा में अनेक प्रकार के वाक्यों से परस्पर एक दूसरे पर आक्षेप करना संलापक है। जैसे—

मेरे पिता द्रोण ने पता नहीं क्यों दुःखी होने से अथवा भीरु होने से द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न के हाथ को नहीं रोका। किन्तु आज मैं अश्वत्थामा बाहु के बल के घमण्ड से भर रहे तुम्हारे शिर पर यह बायां चरण रखने जा रहा हूँ, अब तू इसे ही धारण कर, अथवा अब तुम इसको रोक तो देखूँ॥ ५२४॥

सदसीति। सदसि सभायां मिथः परस्परम् अधिक्षेपः आक्रोशः।

कथमिति। तेन मम पित्रा द्रोणेनेति यावत् अद्य दुःखिना युधिष्ठिरवाक्यविश्वासात् मद्विनाशस्य निश्चयेनेति भावः भीरुणा भयशीलेन वा सता द्रुपदतनयस्य धृष्टद्युम्नस्य पाणिः खड्गप्रहाराय उद्यत इति भावः कथमपि कथञ्चिदपि केनापि अनिर्वचनीयेन कारणेनेति भावः न निषिद्धः न निवारितः न प्रतिहत इति भावः। भुजबलस्य बाहुवीर्य्यस्य दर्पेण अहङ्कारेण आध्मायमानस्य आपूर्य्यमाणस्य तव शिरसि मस्तके एषः वामश्चरणः न्यस्यते निधीयते एनं वामचरणं धारय निवारयेति यावत्। कर्णं प्रति अश्वत्थाम्नोऽधिक्षेपः॥ ५२४॥

कार्य्यमन्त्रानुभावदैवादिभिः सङ्घातभेदः सङ्घात्यकः, यथा——

अपश्यद्भिरिवेशानं रणात् निववृते गणैः।
मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमाधिगतं मनः॥ ५२५॥

कार्य, मन्त्रणा, अनुभाव, दैव आदि के कारण संघातभेद होना संघात्यक है, जैसे—

प्रमथगणों ने शिव के दिखाई न देने पर युद्धभूमि से पलायन कर दिया, क्योंकि भय से अभिभूत मन संकटकाल में मोहित—किंकर्त्तव्यविमूढ—हो ही जाया करता है॥ ५२५॥

कार्य्येति। सङ्घातभेदः दलभङ्गः॥

अपश्यद्भिरिति। गणैः प्रमथवर्गैः स्कन्दादिभिः ईशानं हरम् अपश्यद्भिरिव तापसस्य अर्ज्जुनस्य शस्त्राघातेन दिग्विदिग्ज्ञानशून्यैरिवेति भावः रणात् संग्रामात् निववृते निवृत्तं पलायितमित्यर्थः। हि यतः कृच्छ्रेषु सङ्कटेषु सम्भ्रमेण भयेन अधिगतं युक्तं भयार्त्तमित्यर्थः मनः चित्तं मुह्यत्येव मोहं गच्छत्येव कार्य्याकार्य्यविमूढतां प्राप्नोत्येवेत्यर्थः॥ ५२५॥

चतुर इत्यनेन शास्त्रीयलौकिकव्यवहारवेदिनो नायकस्य धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यमुच्यते। उदात्त इत्यनेन आशयविभूत्योः आभिजात्ययौवनादीनां च उत्कर्षः प्रकाश्यते। चतुर्वर्गफलं प्रबन्धे को वा न बान्धवीयति इत्यनेन श्रोतॄणां रामादिवद् वर्त्तितव्यं, न रावणादिवदिति विधिनिषेधनिबन्धनस्य प्रबन्धस्य अभीष्टतमत्वमाख्यायते। मुखं प्रतिमुखमित्यादिना तु पञ्चाङ्गं प्रबन्धशरीरमभिधीयते। तदङ्गानि च उपक्षेपपरिकरादीनि चतुःषष्टिरपि मुखादिषु एव अन्तर्भवन्ति। यतः तद्वदेव पञ्चसन्ध्येकमपि वाक्यं प्रबन्धव्यपदेशमासादयति। तद्यथा,——'कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये' इति मुखं, 'स्खलितोत्तरे' इति प्रतिमुखं, 'विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रजल्पितमश्रुतम्' इति गर्भः, 'असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिप्रसादससम्भ्रमं-विगलितदृशा इति विमर्षः, शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं

इति निर्वहणम्। एतेन प्राचीनप्रबन्धार्थेऽपि एकवाक्योक्तेन प्रबन्धत्व-मित्याख्यातं भवति ॥

(नायक के लिये प्रयुक्त) 'चतुर' इस पद से शास्त्र तथा लोकव्यवहार को जानने वाले नायक की धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष में निपुणता भी कह दी जाती है। 'उदात्त' इस पद के प्रयोग से अभिप्राय तथा सम्पत्ति इन दोनों, तथा सत्कुलीनता और जवानी आदि का उत्कर्ष भी प्रकाशित होता है। (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष उस) चारों पुरुषार्थ रूपी फल वाले प्रबन्ध को कौन भला अपना बन्धु नहीं बना लेगा, इससे श्रोताओं को 'राम आदि के समान व्यवहार करना चाहिये, न कि रावण के समान' इस प्रकार के विधि तथा निषेध से निबद्ध प्रबन्ध काव्य की अत्यधिक अभीष्टता कही जाती है। 'मुख, प्रतिमुख' आदि के निर्देश द्वारा यह प्रकट किया जाता है कि प्रबन्ध काव्य का शरीर पाँच अङ्गों से युक्त है। उपक्षेप, परिकर आदि उसके चौसठों अङ्गों का 'मुख' आदि सन्धियों में 'अन्तर्भाव' हो जाता है, क्योंकि उस उपक्षेप, परिकर आदि से युक्त ही की भाँति-पाँचों सन्धियों से युक्त एक भी वाक्य 'प्रबन्ध' नाम को प्राप्त कर लेता है। जैसे कि—'कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये'—किसी प्रकार से प्रिय के समीप आने पर—इसमें मुखसन्धिता, 'स्खलितोत्तरे'—ठीक से जवाब न दे पाने पर-इसमें प्रतिमुख, 'विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रजल्पितमश्रुतम्'—विरह के कारण दुबली पड़ गई नायिका ने बहाना बना कर उसकी बात को नहीं सुना—इसमें गर्भसन्धि, 'असहनसखी श्रोत्रप्राप्तिप्रसादससम्भ्रमं, विगलितदृशा क्रुद्धसखी के पास से सुने गये प्रियप्राप्तिरूप प्रसाद के कारण गौरव से युक्त आँखों में आँसू भर कर—इससे विमर्श तथा 'शून्ये गेहे समुच्छ्वसितम्'—सूने घर में लम्बी उसासे लीं।' इससे निर्वहण की प्रतीति हो जाती है। इससे एक वाक्य से उक्त पुराने प्रबन्धों के अर्थ में भी प्रबन्धत्व होता है, यह (स्वतः) सिद्ध हो जाता है।

स्व० द०—सात्वती के भेदों के विषय में भरत ने भी कहा था। कि—

उत्थापकश्च परिवर्तकश्च संलापकः ससंघातः।
चत्वारोऽस्या भेदा विज्ञेया नाट्यतत्त्वज्ञैः ॥
अहमप्युत्थास्यामि त्वं तावद् दर्शयात्मनः शक्तिम्।
इतिसङ्घर्षसमाश्रयमुत्थितमुत्थापको ज्ञेयः ॥
उत्थानसमारब्धानर्थानुत्सृज्य योऽर्थयोगवशात्।
अन्यानर्थान् भजते स चापि परिवर्तको ज्ञेयः ॥
साधर्षजो निराधर्षजो वापि विविधवचनसंयुक्तः।
साधिक्षेपालापो ज्ञेयः संलापकः सोऽपि ॥
मित्रार्थकार्ययुक्त्या दैववशादात्मदोषयोगाद् वा।
संघातभेदजननस्तज्ज्ञैः संघातको ज्ञेयः ॥ ना. शा. २२।४१-४५ ॥

इसके अतिरिक्त 'चतुर इत्यनेन०' आदि वृत्ति में नायक के गुण तथा प्रबन्ध के गुणों की चर्चा की गई है। अन्त में भोज ने यह भी प्रतिपादित किया है कि यदि एक ही श्लोक में मुख, प्रतिमुख आदि सन्धियों का भाव हो तो, उसको भी प्रबन्धस्थानीय मानना चाहिये। जिस श्लोक के विभिन्न शब्दों में विभिन्न सन्धियों को दिखलाया गया है वह यह है—

कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रजल्पितमश्रुतम्।

असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिप्रसादससम्भ्रमं
विगलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं तदा ॥

चतुर इति। चतुरो नायक इत्यर्थः। उदात्त इति उदात्तः महान्। आशयविभूत्योः अभिप्रायसम्पदोः। आभिजात्येति। आभिजात्यं कौलीन्यमित्यर्थः। चतुर्वर्गेति। चतुर्णां वर्गाणां धर्मार्थकाममोक्षाणामित्यर्थः समाहारः चतुर्वर्गस्तत्फलं प्रयोजनं यस्य तथोक्तं प्रबन्धं सन्दर्भं को जनः न बान्धवमिच्छति बान्धवत्वेन न आद्रियते इति यावत्, अपि तु सर्व एव बान्धवीयतीत्यर्थः सुखमित्यादि। पञ्चाङ्गं पञ्चावयवम्। यत इति। तद्वदेव उपक्षेपपरिकरादिमदेव तैरन्तर्भावेन परिपुष्टमिति भावः। पञ्चानां सन्धीनां समाहारः पञ्चसन्धि मुखादिपञ्चकमित्यर्थः प्रबन्धव्यपदेशं प्रबन्धाभिधानम् आसादयति प्रापयति। तद्यथेति ॥

कथमपि कृतप्रत्यासत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याजं प्रजल्पितमश्रुतम्।
असहनसखीश्रोत्रप्राप्तिप्रसादससम्भ्रम-
विगलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं तदा ॥

कथमपि अतिकष्टेन अत्यायासेन सख्या कृतेनेति भावः कृता प्रत्यासत्तिः समुपस्थितिः यस्य तादृशे सखीप्रयत्नेन कथञ्चित् गृहमानीते इत्यर्थः प्रिये कान्ते स्खलितम् असम्बद्धमिति भावः उत्तरं कथमेतावन्तं कालं त्वया नायातमिति प्रश्नस्य प्रतिवचनं यस्य तथाभूते सति विरहेण कृशया शीर्णया कान्तया व्याजं छलं कृत्वा प्रजल्पितं कान्तस्य भाषितम् अश्रुतं नाकर्णितमित्यर्थः। तदा शून्ये प्रियरहिते इत्यर्थः गृहे गतवेति शेषः तया असहना कोपना मया एतावता प्रयत्नेन आनीतस्ते पतिस्तत्रापि विराग इति धियेति भावः या सखी तस्याः सकाशात् श्रोत्रप्राप्तः श्रुतिपथं गतः श्रुत इत्यर्थः यः प्रसादः कान्तस्य आत्मानं प्रति अनुग्रह इति यावत् तेन ससम्भ्रमं सगौरवं यथा तथा विगलितदृशा गलदश्रुनेत्रया सत्या समुच्छ्वसितं जीवितं ययेति कृत्वा निश्वसितमित्यर्थः ॥

तद्यथा,--

तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे
कपिलमहसा रोषात् प्लुष्टानपि प्रपितामहान्।
अगणिततनूपातस्तप्त्वा तपांसि भगीरथः
भगवति! तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुददीधरत् ॥ ५२६ ॥

हे देवि गङ्गे, महाराज सगर का यज्ञ होने पर घोड़े की खोज में परेशान, पृथ्वी को ही खोदने वाले, तथा कपिल ऋषि के क्रोध के कारण तेज से जला दिये गये पूर्वजों का, अपने शरीर के नाश की विना चिन्ता किये खूब तपस्या करके महाराज भगीरथ ने, तुम्हारे ही जल से स्पर्श कराकर बहुत दिन हुये उद्धार किया था ॥ ५२६ ॥

तुरगेति। हे भगवति! देवि गङ्गे! भगीरथः अस्मत् पूर्वपुरुष इति भावः अगणितः तनूपातः शरीरविध्वंसो यस्मिन् तत् यथा तथा तपांसि तप्त्वा कृत्वेत्यर्थः सगरस्य अध्वरे

अश्वमेधयज्ञे तुरगस्य अश्वमेधीयस्य अश्वस्य इन्द्रेण हृत्वा कपिलाश्रमे रचितस्येति भावः विचये अन्वेषणे व्यग्रान् व्यापृतान् उर्वीभिदः उर्वीं पृथ्वीं भित्वा पातालवर्त्तिनं कपिलाश्रमं प्रविष्टानिति भावः रोषात् तेषामवमाननाजनितादिति भावः कपिलस्य महसा तेजसा प्लुष्टान् दग्धान् पितुर्दिलीपस्य प्रपितामहान् सगरसुतान् षष्टिसहस्रसङ्ख्याकानिति भावः तव अद्भिः सलिलैः स्पृष्टान् सिक्तान् चिरात् सुदीर्घकालादनन्तरमित्यर्थः उददीधरत् उद्धारयामास। तनूतापमिति पाठे आपतितः तन्वाः शरीरस्य तापः क्लेशः यस्मिन् तद्यथा तथेत्यर्थः ॥ ५२६ ॥

अविस्तृतमसंक्षिप्तम् इत्यनेन विस्तारभीरूणां कथारसविच्छेदशङ्किनाञ्च चित्तमावर्ज्यते। श्रव्यान्तरैः इत्यनेन वृत्तान्तरैः आश्वासकादिपरिसमाप्तिरिति परिश्रान्ताः श्रोतार आश्वास्यन्ते, स्रगादिसन्निवेशादिवत् सन्दर्भे च आश्वासादयो विभाव्यन्ते।

पुरोपवनेत्यादिना च देशकालपात्रसम्पदुपवर्णनात् आलम्बनोद्दीपनविभावाः कथ्यन्ते। उद्यानसलिलक्रीडाद्युपलक्षणेन कामिनीनां दिवाचेष्टाः, मधुपानं रतोत्सव इत्यनेन च रात्रिचेष्टा उच्यन्ते, विप्रलम्भा इत्यनेन चत्वारोऽपि प्रथमानुरागादयः परामृश्यन्ते। विवाहा इत्युपलक्षणेन प्रथमानुरागो, विवाहान्तो मानः, प्रेमान्तः प्रवासः, सङ्गमान्तः करुणः, प्रत्युज्जीवनान्तः प्रबन्धः कर्त्तव्यः इत्युपदिश्यते। मन्त्रदूतेत्यादिपुरुषकारायत्तसिद्धिसूचनेन आद्यूनादिनिरासात् नायकस्य सत्वोत्कर्षः प्रकाश्यते। नावर्णनं नगर्य्यादेर्दोषाय इत्यादिना तु पुरुषार्थासन्नोपकारित्वेन शैलर्त्तूद्यानचन्द्रोदयमधुपानरतोत्सवादीनां मन्त्रदूतप्रयोगादिनायकाभ्युदयादीनाञ्च नियमेन प्रयोगः, शेषाणान्तु प्रबन्धशरीरानुरोधेन इति प्रतिपाद्यते। गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्। निराकरणम् इत्यनेन गुणवता भाव्यं न गुणद्वेषिणेति ज्ञाप्यते। वंशवीर्य्यश्रुतादीनि इत्यादिना पुराभिजात्यौद्धत्यशौर्य्यवीर्य्यादय एव शत्रोः वर्णनीयाः न त्ववच्छेदहेतवोऽन्याय्याचरणाविनयादय इति प्रत्याय्यते। धिनोति न इति तु अयमेव पक्षः श्रेयानिति ग्रन्थकारेण स्वाभिप्रायः प्रकाश्यते॥

इति निगदितभङ्ग्यानङ्गसर्वस्वमेतद्
विविधमपि मनोभिर्भावयन्तोऽस्य भेदम्।
तदनुभवसमुत्थानन्दसम्मीलिताक्षाः
परिषदि परितोषं हन्त सन्तः प्रयान्तु॥ ५२७॥

यावन् मूर्ध्नि हिमांशुकन्दलभृति स्वर्वाहिनी धूर्जटेः
यावद् वक्षसि कौस्तुभस्तबकिते लक्ष्मीर्मुरद्वेषिणः।

यावच्चित्तभुवस्त्रिलोकविजयप्रौढं धनुः कौसुमं
भूयात् तावदियं कृतिः कृतधियां कर्णावतंसोत्पलम् ॥ ५२८ ॥

इति महाराजाधिराजश्रीभोजदेवविरचिते सरस्वतीकण्ठा-
भरणालङ्कारे रसविवेचनो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।
॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

(कथानक के विषय में जो कहा गया है कि) 'अविस्तृतमसंक्षिप्तम्'—न बहुत विस्तार में ही हो और न बहुत संक्षेप में ही,' इस उक्ति से विस्तार से डरने वाले कथा के रस की समाप्ति की शङ्का करने वाले लोगों का मन वश में किया जा रहा है। ('श्रव्यवृत्तम्' अथवा) 'श्रव्यान्तरैः' इस पद से तथा 'वृत्तान्तरैः आश्वासकादि-परिसमाप्तिः'—दूसरे छन्दों से सर्ग आदि का अन्त करना चाहिये—इस उक्ति से थके हुये श्रोताओं को आश्वासन दिया जाता है। माला आदि की रचना में लगा दिये गये विभिन्न पदार्थों की भांति कथानक में आश्वास (सर्ग) आदि सुशोभित होते हैं। 'पुरोपवन' इत्यादि कहने से देश, काल, तथा पात्र की सम्पत्तियों का वर्णन होने से आलम्बन, उद्दीपन विभाव आदि भी कहे जाते हैं। उद्यान, सलिल क्रीडा आदि के माध्यम से सुन्दरियों की दिन में होने वाली चेष्टाओं का तथा मधुपान, सुरतोत्सव आदि से रात्रि की चेष्टायें कही जा रही हैं। 'विप्रलम्भाः' कहने से चारों ही प्रथमानुराग आदि का विवेचन हो जाता है। 'विवाह' इस शब्द के बहाने—प्रथमानुराग को विवाह में समाप्त हुआ, मान को प्रेम में अन्त हुआ, प्रवास को मिलन में अन्त हुआ, करुण का सङ्गम में अन्त पुनः जी उठने में अन्त हुआ प्रबन्ध काव्य में चित्रित करना चाहिये, यह कह दिया जाता है। 'मन्त्रदूत' इत्यादि पौरुष के अधीन सिद्धियों की सूचना के द्वारा तथा 'आदि' पद से अन्य कमियों को दूर करने से नायक का सर्वोत्कर्ष प्रकाशित होता है। 'नावर्णनं नगर्यादेर्दोषाय'—नगरी आदि का वर्णन न करना दोषोत्पत्ति नहीं करता—आदि पदों से यह बतलाया गया है कि पुरुषार्थ के निकटवर्ती उपकारक होने से पर्वत, ऋतु, उद्यान, चन्द्रोदय, मधुपान, रतोत्सव आदि का तथा मन्त्र, दूत के प्रयोग आदि से होने वाले नायक के अभ्युदय आदि का नियमतः प्रयोग होता है। शेष का—इनके अतिरिक्त विषयों का—ग्रहण तो काव्य के कलेवर की दृष्टि से होता है। 'गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्। निराकरणम्'—अर्थात पहले गुणों से नायक की स्थापना करके पुनः उन्हीं से शत्रुओं का निराकरण दिखलाना चाहिये—इस मान्यता से यह प्रदर्शित किया गया है कि नायक को गुणवान् होना चाहिये न कि गुणों का द्वेषी। 'वंशवीर्य्यश्रुतादीनि' इससे पूर्वकालिक कुलीनता, औद्धत्य, शौर्य, वीर्य आदि ही शत्रुओं के वर्णित होने चाहिये, न कि अवरोध पैदा कर देने वाले कदाचार अविनय आदि, यह प्रतीत कराया जाता है। 'धिनोति नः' इससे 'यही पक्ष श्रेयस्कर है' इस प्रकार की ग्रन्थकार की अपनी मान्यता भी प्रकट हो जाती है।

इस प्रकार कही गई रीति से इस काम के सर्वस्वभूत ग्रन्थ अथवा काव्य की तथा इसके समस्त भेदों की भी अपने मन से भावना करते हुये सज्जन सहृदय लोग इस काव्य के आस्वादन से प्राप्त आनन्द के कारण अपनी आँखें मूँद कर सभा में अत्यन्त सन्तोष प्राप्त करें ॥ ५२७ ॥

जब तक चन्द्रकला को धारण करने वाले भगवान् शिव के मस्तक पर गंगा रहें, जब तक कौस्तुभ मणि से सटी हुई भगवती लक्ष्मी विष्णु के वक्षःस्थल पर विद्यमान रहें तथा जब तक मनोभव कामदेव की तीनों लोकों को जीतने में सक्षम पुष्पमयी धनुष रहे, तब तक यह कृति—सरस्वतीकण्ठाभरण नाम की रचना—विद्वानों के कानों में कर्णभूषण बने हुये कमल की भाँति सुशोभित होती रहे ॥ ५२८ ॥

इस प्रकार श्री महाराजाधिराज श्री भोजदेव के द्वारा लिखे गये सरस्वतीकण्ठाभरण नामक अलंकार शास्त्र में रसविवेचन नाम का पञ्चम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

॥ यह ग्रन्थ भी पूर्ण हुआ ॥
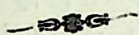
अविस्तृतमिति । आवर्ज्यते आयत्तीक्रियते । श्रव्यवृत्तमिति । वृत्तान्तरैः छन्दोभेदैः आश्वासकादिभिः प्रागुक्तलक्षणैरिति भावः परिसमाप्तिः सर्गशेषः । विप्रलम्भा इति परामृश्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते । विवाहा इति उपलक्षणेन स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम् उपलक्षणं तेन तथा च विवाहा इत्यनेनादौ पाणिग्रहणप्रतिपत्तिः । ततः तदनन्तरभाविरन्यः प्रथमानुरागादयो व्यापारादयोऽपि प्रतिपाद्यन्ते इति भावः । मन्त्रेति आद्यूनतादिनिरासात् आद्यूनः औदरिकः विजिगीषाविवर्जितो वा तस्य भावः आद्यूनता तदादीनां निरासात् परिहारात् आद्यूनःस्यादौदरिके विजिगीषाविवर्जिते इत्यमरः । सत्त्वोत्कर्षः महानुभावता, वंशेति । शौटीर्यं गर्वः । अवच्छेदेति अवच्छेदहेतवः परिमितताकरणानि क्षुद्रत्वहेतव इति यावत् ॥

इति पण्डितकुलपतिना बी, ए, उपाधिधारिणा श्रीजीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्य्येण विरचिता पञ्चमपरिच्छेद-व्याख्या समाप्ता ।

परिशिष्ट—१

(कारिका-सूची)

प्रतीक	परि.सं.	का.सं.
अङ्गाङ्गिभावा	५	१७६
अतस्ते न ।	३	३६
अतत्स्वरूपा	३	३७
अत्रोपमान	४	४६
अथ सङ्कीर्ण	४	३२
तथैवोभय	४	३३
असामर्च्च प्रति	५	५७
अनिष्टाभ्या	५	१५७अ
अनेको यत्र	३	११
अनौपम्यवती	४	४३
अन्तर्व्याज	५	१२५
अन्यतः परु	५	३७
अन्यथावस्थितं	४	५०
अन्ये सुवनि	४	५५
अन्योन्यचूलि	३	२८
अन्योन्यसु	३	२७
अपह्नुतिर	४	४१
अप्रस्तुतप्रशंसा	४	५२
अभावः प्रागभा	३	१५
अभिप्रायानु	३	४३
अभीष्टार्थस्य	५	१५०
अभूतोत्पादना	५	७४
अर्थभूयिष्ठ	४	२६
अर्थयोरति	४	४१
अर्थव्यक्तेरियं	३	५
अर्थालङ्कृतयो	३	५५
अर्थावृत्तिः	४	७८
अलङ्कारान्तर	४	८४
अलमर्थम	३	१
अवहित्थं तु	५	१५१
अविस्तृत	५	१२९
असत्ता या पदा	३	५४
असूयाऽन्य	५	१५४अ
अश्रुनेत्रोद्गतं	५	१४५
अहेतुः पत्त	५	१६७
अहेतुरनि	५	१५०अ
अहेरिव गतिः	५	४८
अष्टमीचन्द्रकः	५	९३
आजीवतस्तु	५	११३
आत्मप्रकाश	५	१४८
आदरातिशया	५	१५९अ
आद्या पूर्णा च	४	१४
आधारवन्नि	४	३१
आलम्बनविभा	५	१३
आलम्बनविभा	५	३६
आश्रयात् प्रकृते	५	३२
आश्रयो यस्य	५	३५
इङ्गिताकार	३	२१
इतरेतरयोगो	४	६१
इतीमारता	४	२२
इवार्थान्तर्गं	४	९
ईर्ष्यामाहु	५	१५४
उक्ता भावादि	५	१६३
उत्कण्ठाहर्षं	५	१५८
उत्कण्ठेष्टा	५	१४१
उत्प्रेक्षावयवो	४	१०७
उदकचन्द्रेडिका	५	९४
उद्दीपनविभा	५	२५
उद्दीपनविभा	५	३८
उद्यानसलिल	५	१३३
उद्धतो ललितः	५	१०९
उपमा रूपकं	४	२
उपमारूपका	४	७५
उपसंख्यान	५	४३
ऊहो वितर्क	३	३९
ऊहो वितर्क	५	१४७अ
ऋतुरात्रिन्दि	५	१३१
एकाभिधीय	४	६
एकावलीति	४	७३
एकोऽभिधीय	३	२०

—००:०:००—

परिशिष्ट—२

(उदाहरण श्लोक-गाथा सूची)

परिशिष्ट–३

(बिना संख्या के उद्धृत श्लोकों की सूची)

प्रतीक	पृ. सं.	पं. सं.	प्रतीक	पृ. सं.	पं. सं.
अद्य स्फुरतु	१३७	१२	यत्र मातङ्ग	४९	२०
अनुकम्पाद्यति	६१७	२	यत्रात्वपातप्लुत	६६८	२९
अपाङ्गे दक्षिणां	५	१७	या वाक्प्रधाना	६६८	२७
अवनिरुदकं	३१	३२	या सात्विकेना	६६८	३१
अव्यवस्थाभि	४९	२३	या श्लक्ष्णनेपथ्य	६६८	३१
आश्चर्यकारि	४९	२४	रसानुगुणशब्दार्थं	३	३८
अस्पृष्टा दोष	६२८	४	रत्नेश्वरो नाम	१३७	११
आश्लिष्टश्लथ	६२८	८	रागायतन	१८४	२९
इति वैदर्भमार्गं	६०९	२२	रौद्रादयो रसा	६३८	७
कामं सर्वोऽप्यलं	६३८	१	लाटीयावन्त्ययो	६२८	१२
काव्यशोभा	६०८	५	विरुद्धकार्यं	४९	२२
काश्चित् मार्गं	६०८	२०	विविच्यमान	१	७
कुत्सितत्वेन	६३४	२१	स एव चोभया	११५	६
चोभस्फुरित	१	५	स एव धर्मो धर्मी	६६२	२७
न च साम्प्रतिकी	६३४	२३	समर्थकत्वं	६३८	९
न विद्यते यद्यपि	३१	३५	समस्तात्युत्क	६२८	६
प्रतीतशब्द	६२८	१४	सा हि चक्षुर्भंग	४	१
प्रवासगमनेऽदेया	१८४	२८	सिद्धस्य हि	६६१	७
भूमनिन्दाप्रशं	६१२	१०	श्रीरामसिंह	१३७	९
मधुरं रसवद्	६३७	३२	शृङ्गार एव	६३८	३
माधुर्यमपि	६२८	१०	शृङ्गारे विपुल	६३८	५
य एते यज्वानः	३	३४	श्लेषः प्रसादः	६०९	२०